भक्तिप्रियो माधवः
कल्याण
भक्ति-अङ्क
वर्ष ३२
अङ्क १

श्रीहरिः

कल्याणके प्रेमी पाठकों एवं ग्राहक महानुभावोंसे नम्र निवेदन

१. इस अङ्कमें भक्तिका स्वरूप एवं महिमा, शक्ति एवं फल, भक्तिका ज्ञान, कर्म एवं योग आदिसे सम्बन्ध, भक्तिकी सुलभता एवं दुर्लभता, भक्तिके लक्षण, प्रकार एवं विशेषताएँ, भक्तिकी अनादिता, भक्तिका वेद आदि विविध शास्त्रोंमें स्थान, भक्तिकी आस्वाद्यता, भक्तिके महान् आचार्य, भक्तिके साधन, भक्तिका मनोविज्ञान, भक्तिके सम्बन्धमें कुछ बेतुकी आलोचनाएँ और उनका उत्तर, भक्तिके विविध भाव, भक्तिके विभिन्न सम्प्रदायोंकी उपासना-पद्धति, शिवभक्ति, विष्णुभक्ति, शक्तिभक्ति, सूर्यभक्ति, विश्वभक्ति, देशभक्ति, समाज-सेवा, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, ब्राह्मणभक्ति आदि भक्तिके विविध रूप, विभिन्न धर्मोंमें भक्तिका स्थान, भारतके विभिन्न प्रान्तोंकी भक्ति-धारा, प्रार्थनाका स्वरूप एवं महत्त्व, भगवन्नाम-महिमा, वैष्णवका स्वरूप आदि-आदि भक्ति-सम्बन्धी प्रायः सभी विषयोंपर आचार्यों, संत-महात्माओं तथा अधिकारी विद्वानोंद्वारा सरल, विशद एवं रोचक ढंगसे प्रकाश डाला गया है। कविताओंका संग्रह भी इस बार सुन्दर हुआ है। इसके अतिरिक्त एक सुनहरा, चौदह तिरंगे चित्र तथा छियालीस सादे चित्र एवं भक्तिविषयक मार्मिक सूक्तियोंसे इस अङ्ककी उपादेयता और भी बढ़ गयी है। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यह अङ्क सबके लिये संग्रहणीय बन गया है। भक्ति ही जगत्‌को दुःख, कलह, अशान्ति एवं संकटोंसे बचाकर सुख-शान्तिका संचार कर सकती है। इस दृष्टिसे इस अङ्कका जितना ही अधिक प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही विश्वका एवं देशका मङ्गल होगा। अतएव प्रत्येक कल्याण-प्रेमी महोदय विशेष प्रयत्न करके 'कल्याण'के दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी कृपा करें।

२. जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें, ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

३. मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नये ग्राहक बनते हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

४. ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'भक्ति-अङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक'

बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५. आपके विशेषाङ्कके लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये।

६. 'भक्ति-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग एक-डेढ़ महीना तो लग ही सकता है; इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' नंबरवार जायगा। यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

७. 'कल्याण'-व्यवस्था-विभाग, 'कल्याण'-सम्पादन-विभाग, गीताप्रेस, महाभारत-विभाग, साधक-सङ्घ और गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८. सजिल्द विशेषाङ्क वी० पी० द्वारा नहीं भेजे जायँगे। सजिल्द अङ्क चाहनेवाले ग्राहक १।) जिल्दखर्चसहित ८।।।) मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें। सजिल्द अङ्क देरसे जायँगे।

९. किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल इस विशेषाङ्कका ही मूल्य अलग ७।।) है।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरे, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≈), सजिल्द ७।≈) मात्र।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६।।), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन चित्र १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७।।), सजिल्द ८।।।)।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७।।), सजिल्द ८।।।)।

३१ वें वर्षका तीर्थाङ्क—जनवरी १९५७ का विशेषाङ्क, मूल्य ७।।)।

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

|| श्रीहरिः ||

भक्ति-अङ्ककी विषय-सूची

पद्य-सूची

संकलित पद्य

संकलित गद्य

चित्र-सूची

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर कुल २०० केन्द्र हैं। विशेष जानकारीके लिये नीचेके पतेपर कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० ऋषिकेश (देहरादून)

The Kalyana-Kalpataru

(English Edition of the 'Kalyan')

After a suspended existence of five months the "Kalyana-Kalpataru" has resumed its publication, by the grace of God, from this month. The first number, which is an ordinary issue, is appearing along with this and will soon reach the hands of its erstwhile subscribe by V. P. P. for Rs. 4/8/- (its annual subscription). It is hoped the lovers of the "Kalyana-Kalpataru", who have sorely missed it all these months and have been pressing us to renew its publication ever since it was stopped, will gladly welcome its reappearance and honour the V. P. P. Bhagavata Number—V, which will contain an English rendering of Book Ten (Part II) of Śrimad Bhāgavata, is expected to come out in December as it did in July last year.

The Manager,—"Kalyana-Kalpataru", (P. O.) Gita Press (Gorakhpur)

सचित्र महाभारत (मासिकरूपमें)

गत दो वर्षोंसे सचित्र महाभारत मूल, सरल हिंदी अनुवादसहित, मासिकरूपमें गीताप्रेससे छप रहा है। प्रत्येक अङ्कमें दो रंगीन एवं छः सादे चित्रोंके साथ कम-से-कम दो सौ पृष्ठकी ठोस सामग्री रहती है। वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित केवल २०) (बीस रुपये मात्र) है। दो वर्षोंके चौबीस अङ्क निकल चुके हैं। गत नवम्बरसे तीसरा वर्ष प्रारम्भ हुआ है, जिसके दो अङ्क प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरा (जनवरीका अङ्क) शीघ्र ही निकलने जा रहा है। संस्कृत जाननेवालोंके लिये केवल मूलमात्र भी क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है, जिसकी दो जिल्दें निकल चुकी हैं। प्रत्येक जिल्दका (जिसमें लगभग आठ सौ पृष्ठ हैं) मूल्य केवल ६) (छः रुपये मात्र) रखा गया है। हिंदीमें मूलसहित अथवा केवल मूलका इतना सुन्दर एवं सस्ता संस्करण अबतक कहींसे नहीं निकला है। खरीदनेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

व्यवस्थापक—महाभारत (मासिक), पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श, सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रचार हो—इसके लिये 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' नौ वर्षोंसे चलाया जा रहा है। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या करीब ३२,००० हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सदस्योंको नियमितरूपसे गीता-रामचरितमानसका पठन, अध्ययन और विचार करना पड़ता है। इसके नियम और आवेदनपत्र मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

साधक-संघ

देशके नर-नारियोंका जीवनस्तर यथार्थरूपमें ऊँचा हो, इसके लिये साधक-संघकी स्थापना की गयी है। इसमें भी सदस्योंको कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक डायरी दी जाती है, जिसमें वे अपने नियमपालनका ब्यौरा लिखते हैं। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको स्वयं इसका सदस्य बनना चाहिये। और अपने बन्धु-बान्धवों, इष्ट-मित्रों एवं साथी-सङ्गियोंको भी प्रयत्न करके सदस्य बनाना चाहिये। नियमावली इस पतेपर पत्र लिखकर मँगवाइये डायरीके लिये बीस नये पैसेके टिकट भेजें—संयोजक 'साधक-संघ', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—सम्पादक 'कल्याण'

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसम्बन्धी लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७ रुपया ५० नया पैसा और भारत-वर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) **इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।**

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती-पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जाने-की अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) सात आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।≈) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देने चाहिये।

(१२) **ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये।** वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) **प्रेस-विभाग, कल्याण-विभाग तथा महाभारत-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।** 'कल्याण' के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) **मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका प्रयोजन, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें) पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।**

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **सम्पादक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे** भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

व्यवस्थापक—**'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

भक्तोंके सर्वस्व—श्रीराधा-गोविन्द

नवजलधरविद्युद्द्योतवर्णौ प्रसन्नौ वदननयनपद्मौ चारुचन्द्रावतंसौ ।
अलकतिलकभालौ केशवेशप्रफुल्लौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
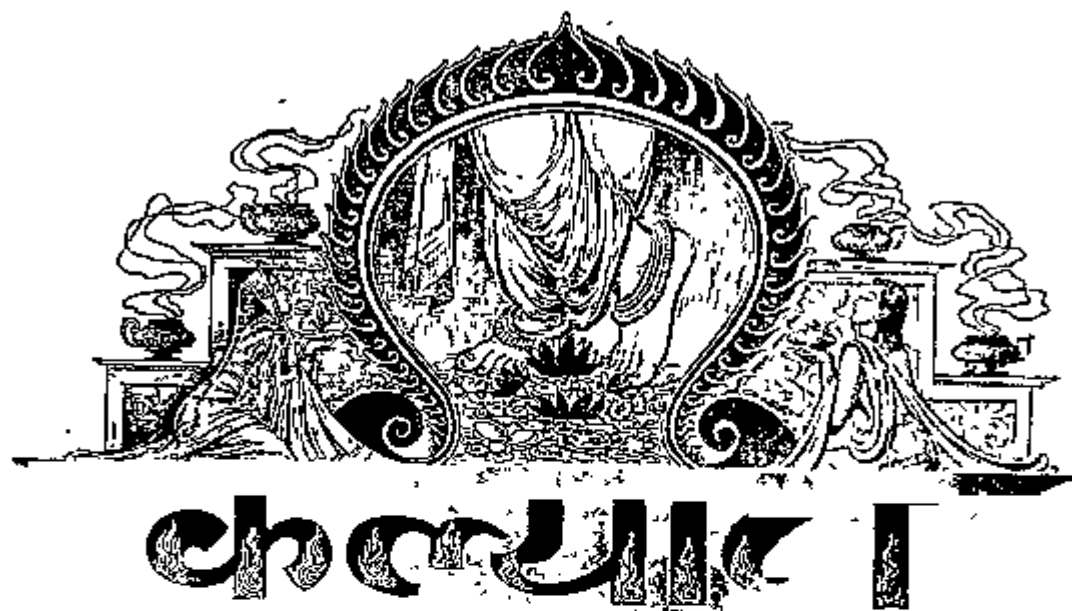
ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ | गोरखपुर, सौर माघ २०१४, जनवरी १९५८ | संख्या १ पूर्ण संख्या ३७४

भक्तकी भावना

बसौ मेरे नैननिमें दोउ चंद ।
गौर बरनि वृषभानु नंदनी स्याम बरन नँद नंद ॥
गोलक रहे लुभाय रूपमें, निरखत आनँद कंद ।
जै 'श्रीभट्ट' प्रेम रस बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद ॥

भावित चित्तका नाम उन्हीं-उन्हीं शब्दोंद्वारा कहा जाता है। जैसे द्वेषकी सामग्री उपस्थित होनेसे चित्तकी तदाकारता-वृत्तिका नाम द्वेष होगा, उसी प्रकार भगवान्‌के दिव्य-मङ्गल-विग्रहके दर्शनसे, उनकी लोकातीत लीलाओंके श्रवणसे तथा परम-प्रेमास्पद भक्त-जनाह्लादिनी उनकी कथाओंके कथोपकथनसे द्रवीकृत चित्तवृत्तिका नाम 'भक्ति' है। पुनः-पुनः भगवद्दर्शन, श्रवण और मननसे द्रुत चित्तवृत्ति ही भक्तिका आविर्भाव है।

पुण्यसे भक्तिका आविर्भाव

यह ध्रुव सत्य है कि कोई भी प्राणी अपनी हानि और तिरस्कृति नहीं चाहता। सभी उत्कर्षकी ओर अनवरत प्रयत्न करते देखे गये हैं। इसपर भी कभी-कभी अपकर्षका सामना करना पड़ता है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि पुण्यवान् व्यक्तिके पुण्योंका प्रभाव उसे उत्कर्षकी ओर ले जाता है। भगवत्-प्रसादसे पहले पुण्यार्जनमें प्रवृत्ति होती है। पश्चात् भक्त-वत्सल भगवान् स्वयं दयार्द्रभावसे भक्तपर अनुग्रह करते हैं। अतएव—

एषु ह्येवैनं साधु कर्म कारयति यमधो निनीषति तमसाधु कर्म कारयति। (उपनिषद्)

—भगवान् जिसको उन्नतिके मार्गपर ले जाना चाहते हैं, उसे उत्तम शास्त्रीय कर्मोंमें प्रेरित करते हैं तथा जिसकी अधोगति करना चाहते हैं, उसे निन्दित अशास्त्रीय कर्मोंकी ओर प्रेरित करते हैं। इसलिये सन्मार्गकी ओर जानेके लिये पहले भगवान्‌की कृपाकी आवश्यकता है और वह कृपा सत्कर्मानुष्ठान-जन्य पुण्यद्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

श्रीशंकराचार्यजी

जब भारतवर्षमें धार्मिक अन्तर्द्वन्द्व हो रहा था, बौद्ध तथा अन्य अवैदिक मतावलम्बियोंने वैदिक कर्म और उपासनापर प्रहार किया। चारों ओर देहात्मवादका ही प्रचण्ड वातावरण फैल गया। 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यादि शास्त्रीय अबाध्य सिद्धान्तोंको भी जनताके सामने अनाचार और आडम्बरका पुट देकर लाया गया। वेदके सिद्धान्तोंको हेय और अनुपादेय समझा जाने लगा। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सुस्पष्ट वेदान्तवाक्योंको शून्यवादकी ओर लगाया जाने लगा। जब सौत्रान्तिक, योगाचार एवं वैभाषिक मत अपने-अपने सिद्धान्तोंका चारों ओर बहुत सफलतापूर्वक प्रचार कर रहे थे, वैदिक सिद्धान्त इनकी घनघोर घटाओंमें आच्छादित हो रहा था, ठीक उसी समय श्रीशंकराचार्यजीका प्रादुर्भाव हुआ। आप भगवान् शंकरके अवतार थे। एकमात्र वैदिक-धर्मका प्रतिष्ठापन करना आपके अवतारका प्रयोजन था। वैसा ही हुआ भी। सात वर्षकी आयुमें आपने घरका परित्याग करके बौद्धोंके तर्कोंको खोखलाकर धराशायी कर दिया और सनातन वैदिक धर्मके प्रतिष्ठापनके साथ-साथ भक्ति-ज्ञान-वैराग्यका विजयस्तम्भ पृथ्वीपर स्थापित कर दिया।

भक्ति और शंकराचार्य

भगवान् शंकराचार्यने अपनी अद्भुत प्रतिभाद्वारा भारतीय दर्शनशास्त्रके चरम सिद्धान्त वेदान्तके अद्वैतवादका विजय-स्तम्भ आरोपण किया तथा 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्मेति'—इन चार महावाक्योंका अर्थ प्रत्यक्ष कर दिखाया। अन्तःकरणके मलापकर्षणके लिये कर्मकाण्डको और उसकी स्थिरताके लिये उपासनाकाण्डको भी आपने उतना ही आवश्यक और उपादेय बताया जितना कि वेदान्तवाक्योंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

पूज्यवर्गमें अनुराग करना भक्ति है, यहाँसे आरम्भ-कर देवादिविषयिणी रतिरूपा भक्तिका प्रतिपादन करते हुए स्वरूपानुसंधान भक्ति है—यों कहकर अधिकारी-भेदसे भक्ति-निरूपणको चरम सीमातक पहुँचा दिया गया। परब्रह्म परमात्मामें मन निश्चलरूपसे न लगे तो उसके लिये उपायान्तर बताते हैं—

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर॥
श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन्जन्म कर्म चाभिनयन् मुहुः॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥

—परब्रह्म परमात्मामें निश्चलरूपसे चित्त न लगे तो साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण कर्मोंको भगवदर्पणके भावसे करता हुआ भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्मोंका श्रवण करे। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये धर्म, अर्थ और कामकी उपासना करे। इससे भगवान्‌में निश्चल भक्ति होती है। इससे आगे—

इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः।
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च॥

—भगवदर्थ निष्काम कर्म करना चाहिये तथा अपने

भोग और सुख भी भगवत्तुष्ट्यर्थ उन्हींके समर्पण कर देने चाहिये। यों करनेपर परमात्माके चरणारविन्दोंमें अनुराग उत्पन्न होता है। श्रीभगवान्‌के चरणारविन्दोंमें रति होनेपर—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

वेदरूप शब्दब्रह्म एवं परब्रह्ममें निष्णात गुरुके चरणारविन्दोंमें बैठकर आत्मश्रेयका श्रवण करे। भागवतधर्मोंका श्रवण अत्यन्त भक्तिसे करता हुआ, अमायासे गुरुकी सेवा करता हुआ मनको सांसारिक पुरुषोंके सङ्गसे बचाते हुए आत्मनिष्ठ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें लगाना चाहिये। शनैः-शनैः दया, मित्रता, शौच, तप, तितिक्षा, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, अहिंसा एवं सत्यका अभ्यास करता हुआ सर्वप्राणिमात्रमें आत्मदर्शनका अभ्यास करे। साथ ही एकान्त-सेवन तथा थोड़ेसे निर्वाह करनेका अभ्यास करता हुआ अद्वैत-भाव-निष्ठाकी ओर प्रगति करे। इस प्रकार भगवत्-प्रेमोत्थित भक्तिसे भागवतधर्मोंका श्रवण करता हुआ नारायण-परायण पुरुष अनायास ही मायासे पार हो जाता है।

माया-प्रपञ्चसे पार होकर अपने स्वरूपमें अवस्थित होना ही परम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ-चतुष्टयकी क्रमिक प्राप्ति करते हुए पुनः-पुनः जननी-जठरानलसे दग्ध न होनेका उपाय भक्ति है। इस भक्ति-रसका पान करता हुआ—

साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम्

—यह एकतान प्रत्यय होने लगना ही भक्तिकी चरम सीमा है। अतएव—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

—अर्थात् मोक्षकी कारण-सामग्रीमें भक्तिको सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। वह भक्ति कौन-सी है? इसके उत्तरमें—

स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।

—अपने स्वरूपका अनुसंधान (खोज) ही भक्ति है, यह श्रीशंकराचार्यजीका डिण्डिमघोष है। इसीको भक्तलोग 'पराभक्ति' कहते हैं। देवादिविषयक भक्ति अपरा भक्ति है। यद्यपि अपरा भक्ति भी अधिकारीकी अपेक्षासे अपना स्थान उच्च ही रखती है, फिर भी कुछ कालमें देवाराधनसे शुद्धान्त होकर 'परा-भक्ति'—स्वरूपानुसंधानकी ओर अवश्य आना होगा। स्वरूपावगति ही अन्ततोगत्वा 'भक्ति' का चरम फल है। इसीलिये वेदमें 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (अयनाय मोक्षाय अन्यः पन्था, स्वरूपानुसंधानातिरिक्तः न विद्यते)—यह कहा गया है। मोक्षके लिये स्वरूपानुसंधान-रूप भक्ति ही एकमात्र मार्ग है।

इस प्रकार दृढनिष्ठ तत्त्ववेत्ता सर्वत्र आत्मदर्शन करता है। उसे मैं-मेरा, तू और तेरा कहीं नहीं दीखता। वह सर्वत्र आत्मदर्शन करता है। अतएव भगवान् शंकराचार्यने देवी, विष्णु, गङ्गा आदिके सुन्दर स्तोत्रोंमें एकात्म-ब्रह्म-निष्ठाका ही गान किया है। वे आत्मातिरिक्त किसी भी देवता अथवा चराचर पदार्थोंमें प्रत्यय नहीं करते थे। सर्वत्र आत्म-दर्शन ही उनकी एकतान निष्ठा थी। यही भक्तिका परम-प्रयोजन है और इसीसे जीवनकी सार्थकता है।

रामका भजन क्यों नहीं करते ?

नीकी मति लेहु, रमनी की मति लेहु मति
'सेनापति' चेत कछू, पाहन अचेत है।
करम करम करि करम न कर, पाप-
करम न कर मूढ़, सिस भयो सेत है॥
आवै वनि जतन ज्यों, रहै वनि जतमन,
पुत के वनिज तन मन किन देत है।
आवत विराम! वैस बीती अभिराम, तातें
करि विसराम भजि रामै किन लेत है॥

—महाकवि 'सेनापति'

द्वारकापीठके श्रीशंकराचार्यजीकी शुभ-कामना

श्रीद्वारका-शारदापीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीमदभिनवसच्चिदानन्दतीर्थस्वामिचरणोंके शुभाशीर्वाद ।

'कल्याण'का नया विशेषाङ्क 'भक्ति-अङ्क' प्रकट हो रहा है, यह सुनकर बड़ा आनन्द होता है ।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

अर्थात् मनुष्यकी कल्याण-प्राप्तिके लिये ये तीन साधन भगवान्ने बताये हैं—कर्म, भक्ति और ज्ञान । दूसरा कोई साधन नहीं है ।

इन तीनोंमें भक्तिमार्ग सरल है तथा सर्वोपयोगी है । अतः इस भक्तिको अपनाकर मनुष्य आत्मकल्याण प्राप्त करे ।

इस भक्तिका सर्वविध विवरण प्रस्तुत करनेवाले इस विशेषाङ्कका भगवान्की कृपासे सर्वत्र प्रचार हो, उससे देशमें भक्तिका विशिष्ट प्रसार हो एवं तद्द्वारा सात्त्विक भावनाकी वृद्धि हो—यही हमारी शुभ-कामना है ।

भक्ति-रसामृतास्वादन

(लेखक—अनन्त श्रीस्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

श्रीभगवद्धर्मसे द्रुत शुद्ध हृदयमें अभिव्यक्त निरुपम सुखसंविद्रूप, दुःखकी छायासे विनिर्मुक्त श्रीभक्तिका सर्वातिशायी माहात्म्य शास्त्रोंमें तत्तत् स्थानोंमें स्पष्ट ही है । सर्वाधिष्ठान, परमानन्दस्वरूप, औपनिषद परम पुरुषकी रसस्वरूपता 'रसो वै सः' (तै० उप० २ । ७) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है । लौकिक आनन्दोंमें भी उन्हीं रसस्वरूप भगवान्की आंशिक अभिव्यक्ति होती है । रसके विषय एवं आश्रयकी मलिनतासे शुद्ध रसमें भी मालिन्यकी प्रतीति होती है । 'भक्तिरसायन'कारने (१ । १३ में) कहा है—

किंचिन्न्यूनां च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात् ।

अर्थात् विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रवावस्थापन्न अन्तःकरणकी वृत्तिपर उपारूढ़ होकर भावरूपताको प्राप्तकर पीछे रसस्वरूप हो जाता है । लौकिक रस परमानन्दस्वरूप नहीं हो सकता; किंतु भक्तिरसमें अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान्की स्फूर्ति होती है, अतः वह परमानन्दस्वरूप है । इसलिये जो लोग श्रीकृष्णविषयक रतिको रसरूप न मानकर भावरूप ही मानते हैं (क्योंकि देवताविषयक रति भावस्वरूपा ही होती है), उनका मत ठीक नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्ण-भिन्न-देवताविषयक रति भावरूपा होती है । भगवान् श्रीकृष्ण परमानन्दस्वरूप हैं; अतः कृष्णविषयक रति रसरूपा ही होगी, भावरूपा नहीं । बल्कि कान्तादिविषयक रतिकी रसता वैसी पुष्ट नहीं होती, जैसी भगवद्विषयक रतिकी होती है । श्रीमधुसूदनसरस्वतीने कहा है कि भगवद्विषयिणी रति परिपूर्ण रसस्वरूप होनेके कारण क्षुद्र कान्तादिविषयक रतिसे उसी प्रकार बलवती है, जैसे खद्योतोंसे आदित्यप्रभा—

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥ (२ । ७६)

विषय और आश्रय दोनों या दोनोंमेंसे एक यदि रसात्मक हो तो रति भी विशुद्ध-रसस्वरूपा होती है । विशेषतः समुद्वेलित एवं उद्बुद्ध सम्प्रयोग-विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार-रसके सार-सर्वस्व भगवान् ही मनोवृत्तिमें विशिष्ट रसभावको प्राप्त करते हैं । जैसे रसमें रसोद्रेककी कल्पना होती है, वैसे ही यहाँ भी कल्पना की गयी है । भगवद्-हृदयस्थ पूर्णानुराग-रस-सार-सागरसे समुद्भूत निर्मल निष्कलङ्क चन्द्रस्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी एवं श्रीराधारानीके हृदयमें विराजमान श्रीकृष्णविषयक प्रेम-रस-सार-सागर-समुद्भूत चन्द्ररूप व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं । अतः यहाँ प्रेम सदानन्दैकरसस्वरूप है; क्योंकि विषय-आश्रय दोनों ही रसस्वरूप हैं, जब कि अन्यत्र विषयाश्रयादि विजातीय होते हैं, रसस्वरूप नहीं । इसी तरह भगवान्की लीला, लीलाका स्थान, लीला-परिकर और उद्दीपनादि-सामग्री भी रसस्वरूप ही होते हैं । सच्चिदानन्द-रस-सार-सरोवर-समुद्भूत सरोज, केसर, पराग एवं मकरन्दस्वरूप व्रज, व्रज-सीमन्तिनी-वृन्द, श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी—सभी रसात्मक ही सिद्ध होते हैं ।

'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुरानन्दसच्चिद्घनतामुपैति ।'
'सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः'—इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं ।

भक्तिरसके रसिकोंका कहना है कि मुक्त मुनि जिस फलको ढूँढ़नेमें व्यग्र रहते हैं, उसीको देवकीरूप वृक्षने प्रकट किया, यशोदाने पकाया तथा गोपियोंने उसका यथेष्ट उपभोग किया । यशोदाकी मङ्गलमयी गोदमें चिदानन्द-सरोवरसे नीलकमलके समान श्याम तेज प्रकट हुआ । अन्य भक्त कहते हैं—यह ऐसा फल था, जिसका भक्तोंने आघ्राण नहीं किया,

वायुने जिसका सौरभ नहीं उड़ाया, जो जलमें उत्पन्न नहीं हुआ, लहरियोंके कणोंसे जो टकराया नहीं और कभी किसीने जिसे कहीं देखा नहीं । एक भक्त कहता है—निगमवनमें फल ढूँढते-ढूँढते यदि नितान्त खेदयुक्त—श्रान्त हो गये हों तो इस उपदेशको सुनें—उपनिषदोंके परम तात्पर्यका विषय प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म गोपियोंके घरमें उलूखलसे बँधा पड़ा है । दूसरा भक्त कहता है—सखि ! एक कौतुककी बात सुनो, वेदान्त-सिद्धान्तको मूर्तरूप धारण किये श्रीनन्दरायके प्राङ्गणमें धूलि-धूसरित होकर थेई-थेई करके नृत्य करते हुए मैंने देखा है । एक अन्य भक्तकविने कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण श्यामरूपमें प्रकट साक्षात् ब्रह्म ही तो हैं; ऐसा लगता है मानो गोपाङ्गनाओंका प्रेम ही एकत्र पुञ्जीभूत हो गया हो या श्रुतियोंका गुप्तवित्त ही प्रकाशमें आ गया हो अथवा यदुवंशियोंका सौभाग्य ही मूर्ति धारणकर सामने आ गया हो—

> 'मुमुक्षुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति ।
> तत् पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः ॥'
> 'अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
> रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः ।
> अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
> यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत् ॥'
> 'परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
> निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः ।
> विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
> मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥'
> 'शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम् ।
> गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥'
> 'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानामेकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनाम् ।
> मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे संनिधत्ताम् ॥'

निखिलरसामृतमूर्ति भगवान्‌की अलंकारादि-सामग्री भी सब रसस्वरूप ही है । सौरभ्यसे उनका उद्वर्तन (उबटन), स्नेहसे अभ्यञ्जन (मालिश), माधुर्य अथवा स्वाङ्गतेजसे स्नान, लावण्यसे मार्जन, सौन्दर्यसे अनुलेपन और त्रैलोक्यलक्ष्मी (शोभा) से शृङ्गार होता है । श्रीवृषभानुनन्दिनी भी महाभावस्वरूपा हैं । सखियोंके प्रणयरूप सद्‌गन्धसे उनका उबटन, तथा कारुण्यामृतधारा-लावण्यामृतधारा-तारुण्यामृत-धारासे स्नान होता है; लज्जारूप श्याम पट्टवस्त्र वे परिधान किये रहती हैं; और उज्ज्वल-कस्तूरीविरचित उनकी देह है एवं कम्प-अश्रु-पुलक-स्तम्भादि उनके अलंकारस्वरूप रत्न हैं । श्रीकृष्ण और राधारानीके वसन, भूषण, अलंकारादि भी परस्परात्मक ही हैं । श्रीकृष्णका परिधानरूप पीताम्बर श्रीराधारानी एवं श्रीराधारानीके कज्जल, मृगमद, कर्णोत्पल, नीलाम्बर आदि श्रीकृष्ण ही हैं—

> श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
> वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥

श्रीव्रज-सीमन्तिनियोंकी श्रीकृष्णविषयक स्पृहा भी अद्भुत है । इनमें मुख्या श्रीराधाके उद्गार हैं—

> दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी
> गुरुक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीवदौस्थ्यं गता ।
> वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये
> न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः ॥

श्रीकृष्णकी निष्ठुरतासे उनके विरहमें मरनेकी आशङ्का होनेपर वे श्रीकृष्णके ही धाम वृन्दावनमें श्रीकृष्णके तुल्य-वर्ण तमालसे ही अपने शरीरको लटका देनेकी सम्मति देती हैं—

> अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
> मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम् ।
> तमालस्य स्कन्धे विनिहितभुजावल्लरिरियं
> यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठतु तनुः ॥

शृङ्गार-रसकी अङ्गिता और उज्ज्वलता अनौपचारिकरूपसे राधा-कृष्णमें ही बनती है । कृष्णविषयक काम-क्रोध-भयादिका भी पर्यवसान कृष्णप्राप्तिमें ही होता है । जैसे कोई दीप-बुद्धिसे चिन्तामणि ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होता है, तो उसे चिन्तामणिकी ही प्राप्ति होती है, वैसे ही जारादि-भावनासे भी जो भगवान् श्रीकृष्णमें प्रवृत्ति होती है, उससे भगवत्प्राप्ति ही होती है । लौकिक जार-धर्म परलोकादिको नष्ट करता है और भगवान् पञ्चकोश, अविद्या एवं काम कर्मादिको नष्ट करते हैं—इस रूपमें वे 'जार' हैं । श्रीमद्भागवतके—

> तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः ।
> जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥
> कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ।
> नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

—इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं । वस्तुतः तो अनिमित्ता भक्ति ही कोशको जीर्ण करती है, परंतु सनिमित्ता भक्तिका पर्यवसान भी अनिमित्ता भक्तिमें ही होता है । यद्यपि अनिमित्ता पराभक्ति स्वतःसिद्ध है, तो भी जैसे कच्चा आम पके हुए आमका कारण होता है, वैसे ही अपराभक्ति पराभक्तिका कारण होती है । ऐसा माननेपर ही भागवतके—

> 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।'
> 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
> जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥'
> 'भक्त्या संजातया भक्त्या.................'

—इत्यादि वचनोंकी संगति लगती है । स्वात्मक प्रेम

रसस्वरूप ही है। कहा भी गया है कि प्रादुर्भावके समय जिसने जरा भी हेतुकी अपेक्षा नहीं की, जिसके स्वरूपमें अपराध-परम्परासे हानि एवं प्रणाम-परम्परासे वृद्धि नहीं होती, अपने रसास्वादके सामने अमृतस्वादको भी तुच्छ करनेवाले, तीनों लोकोंके दुःखका विनाश करनेवाले उस महान् प्रेमको वाणीका विषय बनाकर ओछा क्यों किया जाय—

प्रादुर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥

वाणीका विषय बनाते ही प्रेम या तो हल्का हो जाता है या अस्त हो जाता है। दो रसिकोंका प्रेम एक दीपकके समान है, जो उनके हृदयरूप गृहोंको निश्चलरूपसे प्रकाशित करता रहता है। यदि इसे वाणीरूप द्वारसे बाहर कर दिया जाय, तो या तो वह बुझ जाता है या मन्द हो जाता है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

मुक्ति चाहनेवाले परमविरक्त भी इस भक्तिकी कामना करते हैं—

'न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।'
'कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत।'

इसीलिये भक्ति स्वतन्त्ररूपसे पञ्चम पुरुषार्थ मानी गयी है। भक्ति-रसायनकारके सिद्धान्तमें सगुण ब्रह्मके समान निर्गुण ब्रह्मकी भी भक्ति मानी गयी है। इसमें—

'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥'
'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।'

—श्रीमद्भागवतके ये वचन प्रमाण हैं। यद्यपि वेद एवं तदनुकूल शास्त्रोंने भगवान्के राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि जिन स्वरूपोंकी उपासना बतलायी है, उन सबकी भक्ति रसस्वरूप ही है, तथापि सभी रस सरलतासे साक्षात् श्रीकृष्णमें ही संगत होते हैं। इसीलिये भक्ति-रसायनकारने (भक्ति-रसायन १।१ में) विशेषतया 'मुकुन्द' पद ग्रहण किया है—

परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।

भक्ति-रसके आलम्बन-विभाव सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर भगवान् ही हैं—यह आगे स्पष्ट किया जायगा। प्रेम-निरूपणके प्रसङ्गमें वहीं (२।१ में) बताया गया है कि भगवद्धर्मसे द्रुत चित्तमें प्रविष्ट स्थिर गोविन्दाकारता ही भक्ति है—

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा।
सा भक्तिरित्यभिहिता················ ॥

कर्म, उपासना, ज्ञानका अवगम करानेवाले सभी शास्त्रोंका तात्पर्य मल-निवारणपूर्वक अन्तःकरणको शुद्ध करने और विक्षेप दूर करनेके लिये भगवदुपासना एवं भगवत्स्वरूप-ज्ञान-द्वारा परम पुरुषार्थरूप भक्तिमें ही है। भक्ति-रसायनकारने कहा भी है कि यदि द्रवावस्थापन्न चित्त नित्यबोधसुखात्मा विभु भगवान्को ग्रहण कर ले तो क्या अवशेष रह जायगा?—

भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥

विषयके प्रति चित्तकी कठोरता एवं भगवान्के लिये द्रवता होनी चाहिये—

काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे।

आनन्दसे ही अखिल भूतनिकायका प्रादुर्भाव, आनन्दसे ही जीवन एवं आनन्दमें ही लय होता है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तै० उ०)

अतः समस्त प्रपञ्च परमानन्द रसस्वरूप ही है, किंतु स्वप्नादि प्रपञ्चके समान बाध्य होनेके कारण भगवत्स्फूर्ति होनेपर जब प्रपञ्च निवृत्त होता है, तब भगवद्रूप ही अवशेष रहता है। अध्यस्त पदार्थकी अधिष्ठान-ज्ञानसे निवृत्ति होती है।

भगवत्-प्रेम प्राप्त करनेके लिये साधकको क्रमशः महापुरुषोंकी सेवा, उनके धर्ममें श्रद्धा, भगवद्गुण-श्रवणमें रति, स्वरूपप्राप्ति, प्रेमवृद्धि, भगवत्-स्फूर्ति, भगवद्धर्मनिष्ठा अपेक्षित होती है। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम महामुनीन्द्र भी भगवान्को भजते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

कहा जा सकता है कि 'सर्वाधिष्ठान प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मके साक्षात्कारद्वारा सभी प्रकारके भेदोंके मिट जानेपर जिनका चित्त आत्मानन्दसे ही परिपूर्ण है, उन्हें अपनेसे भिन्न भगवान्की स्फूर्ति नहीं हो सकती। रागकी तो उनमें सम्भावना ही नहीं, फिर भक्ति तो अत्यन्त ही असम्भव है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि उन्हें स्वारसिक प्रेमसे भेदका आहार्य ज्ञान होता है। (बाधकालिक इच्छाजन्य ज्ञान आहार्य ज्ञान कहा जाता है।) आहार्य ज्ञानद्वारा राग एवं भक्ति हो सकती है। 'त्रिपुरसुन्दरी-रहस्य' (ज्ञानखण्ड) में बतलाया गया है कि भक्तलोग प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मको जानकर अतिशय प्रीतिसे अभिसन्धिविहीन होकर आहार्य ज्ञानद्वारा भेदभावकी कल्पना करके अत्यन्त तत्परतासे स्वभावतः भगवान्में स्वारसिकी भक्ति करते हैं—

यत्तु भक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात् ।
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम् ।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः ॥

आहार्य ज्ञानद्वारा व्यामोहप्रसक्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि भगवान् सत्यके भी सत्य हैं। जैसे अराजाको राजा बनानेवाला राजराज कहा जाता है, वैसे ही भगवान् असत्यको सत्य बनाते हैं। अर्थात् पारमार्थिक सत्यकी अपेक्षा किंचिन्न्यून सत्ताका एक और सत्य माना जाता है, जो भजनोपयोगी है। अतः पारमार्थिक अद्वैत-सिद्धान्त ज्यों-का-त्यों रहता है। कहा भी गया है कि पारमार्थिक अद्वैतज्ञान होनेपर यदि भजनोपयोगी द्वैत मानकर भगवान्में भक्ति की जाती है तो ऐसी भक्ति सैकड़ों मुक्तियोंसे भी कहीं बढ़कर है। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मका विज्ञान होनेके पहले द्वैत बन्धन-का कारण होता है; किंतु विज्ञानके बाद भेद-मोहके निवृत्त हो जानेपर भक्तिके लिये भावित द्वैत अद्वैतसे भी उत्तम है—

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे ।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका ॥
द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् जाते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥

चित्तद्रुतिके कारण अनेक हैं। उन्हींके भेदसे भक्तिमें भेद होता है—

चित्तद्रुतेः कारणानां भेदाद्भक्तिस्तु भिद्यते ।

शरीरसम्बन्धविशेषकी स्पृहा होनेपर सन्निधान-असन्निधान-भेदसे काम दो प्रकारका होता है। उससे द्रुतचित्तमें श्रीकृष्ण-निष्ठता ही सम्भोग-विप्रलम्भाख्य रति है। इसी तरह क्रोध-स्नेह-हर्षादिजन्य चित्तद्रुतिमें भी रति जाननी चाहिये—

कामजे द्वे रती शोकहासभीविस्मयास्तथा ।
उत्साहो शुचि दाने च भगवद्विषया असी ॥

शृङ्गार, करुण, हास्य, प्रीति, भयानक, अद्भुत, युद्ध-वीर, दानवीर—ये सब व्यामिश्रणमें होते हैं। राजसी, तामसी, भक्ति अदृष्ट फलमात्रवाली होती है। मिश्रित भक्ति दृष्टादृष्ट उभय फलवाली होती है। इसी तरह साधकोंकी विशेषवाले भक्ति शुद्धसत्त्वोद्भवा भी होती है।

सनकादि सिद्धोंमें भक्ति दृष्टफल होती है। जैसे ग्रीष्म-संतप्त पुरुषका गङ्गास्नान दृष्टादृष्टफलक होता है, वैसे ही वैधी भक्तिमें भी सुखव्यक्ति होती है, अतः वह दृष्टादृष्टफलक है। शीत-वातातुर पुरुष यदि गङ्गास्नान करे तो उससे केवल अदृष्ट-मात्र ही फल होता है, उसका दृष्टांश प्रतिबद्ध हो जाता है, वैसे ही राजसी, तामसी भक्तिका सुखरूप दृष्टांश प्रतिबद्ध हो जाता है। गङ्गास्नान कर लेनेपर पुनः गङ्गामें क्रीडा करनेवालोंको जैसे दृष्टमात्र फल होता है, वैसे ही जीवन्मुक्तोंकी भक्ति दृष्टमात्र-फलपर्यवसायिनी होती है—

राजसी तामसी भक्तिरदृष्टफलमात्रभाक् ।
दृष्टादृष्टोभयफला मिश्रिता भक्तिरिष्यते ॥
शुद्धसत्त्वोद्भवाप्येवं साधकेष्वसदादिषु ।
दृष्टमात्रफला सा तु सिद्धेषु सनकादिषु ॥
दृष्टादृष्टफला भक्तिः सुखव्यक्तेर्विधेरपि ।
निदाघवून्नदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा ॥
रजस्तमोऽभिभूतस्य दृष्टांशः प्रतिबध्यते ।
शीतवातातुरस्येव स्नादृष्टांशस्तु दीप्यते ॥
तथैव जीवन्मुक्तानामदृष्टांशो न विद्यते ।
स्नात्वा मुक्तवतां भूयो गङ्गायां क्रीडतां यथा ॥

तीव्र वातस्थित प्रदीपज्वालाके समान रजस्तमोऽभिभूत शिशुपाल आदिकी स्वप्रकाशमन्दाकार भी गलितरति सुख-व्यक्ति करानेवाली न हुई। प्रतिबन्धके नष्ट होनेपर सुखाभि-व्यक्ति होती है। चित्तद्रुति होनेपर ही भक्ति होती है। उसमें न होनेके कारण ही वेन न तो भक्त ही ठहरा, न उसे सुख फल ही प्राप्त हुआ। शिशुपाल भगवान्की सत्ता मानता था, परंतु वेन भगवान्की सत्ता ही नहीं मानता था। वह नास्तिक था, इसलिये उसका भगवत्सम्बन्ध ही नहीं हुआ, फिर चित्तद्रवता और भक्ति तो बहुत दूरकी बात है। सुखाभिव्यञ्जक होनेसे रजस्तमोविहीन भगवद्विषयक मति ही रति है। भगवद्विषयक मतिकी रजस्तमोविहीनताके तारतम्यसे ही रति-तारतम्य होता है—

विरहे यादृशं दुःखं तादृशी दृश्यते रतिः ।

मृदु, मध्य और अधिमात्रभेदसे इसके भी अनेक भेद होते हैं। उसमें भी वैकुण्ठ, मथुरा, द्वारका, वृन्दावन आदिके भेदसे तथा व्रज-वन-निकुञ्जादिके भेदसे प्रकाशभेद भी माना जाता है। पुनः शुद्ध, मिश्रित आदि भेदसे अनेक भेद होते हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि आदिमें ये विस्तारसे कहे गये हैं।

आत्मासे भिन्न पदार्थकी सिद्धि प्रमाणके अधीन ही होती है। स्वतः भासमान स्वारसिक आनन्दमय प्रत्यक्स्वरूप ही भगवान् हैं; इसीलिये श्रीशुकाचार्यने भगवान् श्रीकृष्णको सबका अन्तरात्मा बतलाया है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

इसीलिये मसविदग्धोंके भी चित्तमें सहसा उनकी स्फूर्ति होती है—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
सञ्चिन्तयामि सकलं द्युतिमद्भुतं च ।
तावद् बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ॥

श्रीमधुसूदनसरस्वतीके भी निम्नलिखित वचन हैं—

क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयं गते
　　यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम्।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
　　श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते ॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
　　पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
　　कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
　　ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
　　कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति ॥
अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

इसी तरह श्रीशुक, सनकादि, शंकर, सुरेश्वर, पद्मपाद, चित्सुख, सर्वज्ञात्म, श्रीधरस्वामी आदि सहस्रों ब्रह्मविद्वरिष्ठोंका भी वैसा ही अकैतव प्रेम था। भगवान्ने स्वयं ही श्रीमुखसे 'एकभक्तिर्विशिष्यते' इन शब्दोंसे उपर्युक्त अर्थोंका समर्थन किया है—

सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद ।

—इत्यादि श्रुतियोंने किसीको भी अनात्मा समझना अनर्थकारक माना है, फिर भगवान्‌को अनात्मा समझनेकी तो बात ही क्या है। प्रेममें व्यवधान-सहनकी क्षमता नहीं होती, इसीलिये दूरस्थितमें या व्यवहितमें स्वाभाविक स्वारसिक अकैतव प्रेम नहीं होता। इसीलिये भगवान्‌को सर्वान्तर परमसन्निहित या प्रत्यगात्मा कहा गया है।

कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके ।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥

—यह प्रसिद्ध ही है।

इसी तरह कहा जाता है कि 'भगवान् निर्गुण हैं।' इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌में प्राकृत गुणगण नहीं हैं। जैसे 'अकाय' का अभिप्राय प्राकृत-काय-राहित्यमात्र है, अप्राकृत काय तो उनके है ही, वैसे ही 'निर्गुण' शब्द अप्राकृत गुणगणका निषेधक नहीं है।' यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि फिर तो निष्क्रियत्व, अव्रणत्व आदि शब्दोंका भी ऐसा ही अर्थ किया जायगा। फिर तो भगवान्‌में अप्राकृत क्रिया एवं अप्राकृत व्रण मानना पड़ेगा। इसलिये सिद्धान्त तो यह है कि वस्तुतः निर्गुण ही भगवान् अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे अप्राकृत गुणगणोंको स्वीकार करते हैं, अतः वे सगुण कहे जाते हैं—

निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम् ।

सर्वशास्त्र-तात्पर्य-विषय कर्म-उपासना-तत्त्वज्ञानादि-समाराध्य भगवान् ही मुक्तोपसृप्य हैं, यह तत्तत्स्थलोंमें कहा ही गया है। 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेताश्व०), 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (मुण्डक०), 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' (गीता), 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' (बृहदा०) इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्योंसे मुमुक्षु और मुक्तोंके लिये भगवच्छरणागति ही बतलायी गयी है। उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक षड्विध लिङ्गोंद्वारा 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य रसात्मक, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परब्रह्ममें ही पर्यवसित होता है। अन्यविषयक-अनुरागाधीनविषयता प्रेमकी गौणता तथा अन्यविषयक-अनुरागानधीनविषयता ही प्रेमकी मुख्यता है। ऐसी मुख्यता आत्मामें ही हो सकती है; क्योंकि वहाँ प्रेम अन्यार्थ नहीं है, अतः आत्मा सुखरूप है। 'सुख आत्मासे भिन्न दूसरी वस्तु है, इसीलिये आत्मसम्बन्धसे ही सुखकी कामना होती है' यह कहना ठीक नहीं। भ्रान्तिवशात् वैषयिक सुख ऐसा प्रतीत भी हो, तो भी परमार्थतया सुख आत्मरूप ही है। वैषयिक सुखको ही लक्ष्य करके 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (यो० द० २ । १५) यह श्रीमहर्षि पतञ्जलिका और 'विषमिश्रित, मधुर, मनोहर पक्वान्नके समान दुःखमिश्रित सुख हेय है' यह नैयायिकोंका कहना है। 'एष ह्येवानन्दयाति', 'मात्रामुपजीवन्ति', 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादि श्रुतियाँ लौकिक वैषयिक सुखको उसी सुखस्वरूप आत्माका अंश बतला रही हैं। स्वानुकूल विषयकी प्राप्तिमें अन्तःकरणकी वृत्ति अन्तर्मुख, शान्त, अचञ्चल होती है। सत्त्वोद्रेक होनेसे प्रतिबिम्बतया वहाँ स्वात्मानन्द ही अभिव्यक्त होता है। विषय-निबन्धन एवं वृत्तिरोधके क्षणिक होनेसे उस सुखको वैषयिक, क्षणिक आदि कहा जाता है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा तत्त्व-साक्षात्कार-मूलक परिणामके कारण दुःखसे अमिश्रित सुख होनेसे ब्रह्मात्म-सुखप्राप्ति कही गयी है। इसीलिये 'आत्मा ही रस है' ऐसा सिद्धान्त है। यहाँपर आत्मशब्दसे प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परब्रह्मका ही लक्ष्य कराया जाना अभिप्रेत है; क्योंकि उसीमें उपक्रमोपसंहारादि-द्वारा रसात्मबोधक वचनोंका तात्पर्य निश्चय होता है। अग्निके अंश विस्फुलिङ्गके समान या सिन्धुके अंश बिन्दुके समान विशिष्ट, सोपाधिक, चिदाभास, चित्प्रतिबिम्ब, चित्कण या समवच्छिन्न जीव निरतिशय रसरूप नहीं; क्योंकि वहाँ पूर्णानन्दता तिरोहित है। तटस्थ परब्रह्म परमात्मा भी निरतिशय सुखरूप नहीं; क्योंकि यदि वह प्रत्यक्‌चैतन्यस्वरूप न हुआ तो साक्षादपरोक्ष भी न रहेगा, फिर उसकी स्वप्रकाशानन्द-रसरूपता तो अत्यन्त दूर है। इसलिये न चाहनेपर भी प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परब्रह्मकी ही रसरूपता माननी पड़ेगी।

वेदान्तवेद्य, निर्विशेष भगवद्रूप ही रस है; वही रसशास्त्रमें स्थायिभावसे विशिष्ट रूपमें वर्णित होता है। भगवद्-गुण-गण-श्रवण-जन्य मानस वृत्तिकी द्रवतामें भगवदाकारता प्रविष्ट होनेपर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीके संयोगसे रस-रूपता होती है। यहाँ भगवान् ही आलम्बन-विभाव, तुलसी-चन्दनादि उद्दीपन-विभाव, नेत्र-विक्रियादि अनुभाव और निर्वेदादि व्यभिचारी भावसे व्यज्यमान भगवदाकारतारूप रस ही स्थायी है। भाव तथा परमानन्द-साक्षात्कारात्मक दुःखासंस्पृष्ट-सुखरूप भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ है। यदि स्वभावतः कठिन लाक्षा तापक अग्नि आदि द्रव्यके सम्बन्धसे जलके समान द्रुत हो जाय और सैकड़ों पर्तके चीनांशुकसे छान ली जाय, फिर उसमें हिंगुल आदि कोई रंग छोड़ दिया जाय, तो वह रंग उस लाक्षाके सर्वांगमें प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाता है। फिर कठोर या द्रुत होनेपर कभी भी रंग लाक्षासे पृथक् नहीं होता, भले ही लाख या रंग पृथक् होना चाहे। यदि पुनः अन्तःकरणकी द्रवावस्था हुई और दूसरी वस्तु उसमें प्रवेश पाने लगी, तो भी पहली वस्तु उसमेंसे नहीं निकलती। इसी प्रकार भगवद्भावनासे भावित द्रवावस्था अन्तःकरणमें भगवान्‌के प्रविष्ट होनेपर अन्यवस्तुग्रहणकालमें भी भगवान्‌का ही भान होता है।

प्रपञ्च-भानसहित भगवद्भानका उदाहरण है—

> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
> यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

प्रपञ्च मिथ्यात्व-भानसहित भगवद्भानके उदाहरण 'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्' आदि हैं। प्रपञ्च-भान-रहित भगवद्भानका उदाहरण है—

> प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
> आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥

विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गारमें द्रवावस्थाप्रविष्ट आलम्बनमय ही समस्त वस्तुओंका भान होता है। इसका उदाहरण है—

> प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
> पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
> हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
> सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

इसी तरह भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि तापक भावोंमेंसे किसीके भी सम्पर्कसे चित्तरूप लाक्षा गङ्गा-जल प्रवाहके समान द्रुत हो और सैकड़ों पर्तके चीनांशुकसे वह छालित हो (छान ली जाय), फिर उसमें सर्वांशप्रविष्ट परमानन्दस्वरूप भगवान् स्थायीभाव बनकर रसस्वरूप हो जाते हैं। द्रवावस्था प्रविष्ट चित्ताकारता (भगवदाकारता) के कभी पृथक् न होनेके कारण यहाँ मुख्य स्थायी शब्दका प्रयोग होता है। ऐसा होनेपर ही कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं-समर्थ भगवान् भी यदि स्वयं वहाँसे हटना चाहें तो नहीं हट सकते, उनकी सर्वशक्तिमत्ता भी कुण्ठित हो जाती है। इसीलिये कहा गया है—

> विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
> द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
> प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
> स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

यहाँ 'प्रणय' शब्दसे द्रवावस्था ही विवक्षित है। ऐसे अन्तःकरणसे चाहनेपर भी भगवान् नहीं निकल सकते। इसीको लक्ष्य करके भक्त उनसे कहता है कि यदि हृदयसे निकल जायँ तो आपका पुरुषार्थ जानूँ—

> हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते।

व्रज-सीमन्तिनीजन अपने हृदयसे भगवान्‌को निकालना चाहती हैं, पर सफल नहीं होतीं। निश्चित करती हैं कि अब उनसे सख्य नहीं करेंगी, फिर भी उनकी चर्चाको दुःखद समझती हैं। किसी सखीने भगवान्‌की चर्चा छेड़ दी, तो दूसरी सखीने तत्काल रोककर कहा—

> संत्यज सखि तदुदन्तं
> यदि सुखलवमपि समीहसे मत्तः।
> स्मारय किमपि तदितरद्
> विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥

अर्थात् 'यदि हमारी प्यारी सखी (राधा) को क्षणभर भी सुखी देखना चाहती हो तो मोहनकी चर्चा न करके कोई और बात सुनाओ।' यह देखकर किसी मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि योगीन्द्र-मुनीन्द्र अपने मनको धारणा ध्यानादिके द्वारा विषयोंसे हटाकर भगवान्‌में लगाना चाहते हैं किंतु फिर भी उनका मन हट-हटकर विषयोंमें चला जाता है, किंतु यह मुग्धा मनको भगवान्‌से हटाकर विषयोंमें लगाना चाहती है। जिनकी क्षणिक स्फूर्तिके लिये योगी सदा उत्कण्ठित रहा करते हैं, यह मुग्धा उसको हृदयसे निकाल बाहर करना चाहती है—

> प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति
> बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
> यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
> मुग्धेयं बत पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

यदि कहा जाय कि फिर तो अन्तःकरण और भगवान् एक ही हो गया, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि [illegible] ईश-जीवके भेदके समान ही [illegible]-भक्तका भेद

यहाँ भी है। बिम्ब ही मनकी द्रवावस्थामें पड़कर प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तै० उ०)

—इत्यादि श्रुतियोंसे प्रपञ्चके प्रति आनन्दात्मक ब्रह्मकी ही अभिन्न-निमित्तोपादानता सिद्ध होती है। कान्तादि विषय भी कारणानन्द-रूप ही हैं; मायाकृत आवरण और विक्षेपके कारण उनकी अखण्डानन्दरूपसे प्रतीति नहीं होती। अकार्योंका भी कार्याकाररूपसे भान होता है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो तथा तमः॥

अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रमाणोंका प्रामाण्य है। स्वप्रकाश-स्वरूपसे भासमान चैतन्य ही अज्ञात है, जड नहीं; क्योंकि जडके स्वतः अभासमान होनेसे वहाँ आवरणकी कोई अपेक्षा ही नहीं है। कान्तादिविषयक भानोंके प्रामाण्यके लिये अज्ञात कान्ताद्यवच्छिन्न चैतन्यपरसे आवरणके हट जानेपर कान्ताद्यवच्छिन्नरूपसे परमानन्दरूप उपादानचैतन्यका ही भान होता है, किंतु अनवच्छिन्न स्वरूपका भान नहीं हुआ; इसीलिये सद्योमुक्ति या स्वप्रकाशलभङ्गकी प्रसक्ति नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रुत अन्तःकरण-की वृत्तिमें उपारूढ होकर स्थायीभाव और रसस्वरूप हो जाता है। कान्तादि विषयक लौकिक रस भी परमानन्दरूप ही है। फिर भी जडके सम्पर्कसे उसमें न्यूनता है। भक्तिमें अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान्‌का स्फुरण होनेसे उसकी परमानन्द-रूपता स्फुट ही है। —'सिद्धान्त'से

वैष्णव-सदाचार

(लेखक—आचार्यपीठाधिपति स्वामीजी श्रीराघवाचार्यजी महाराज)

भगवती श्रुतिने 'विष्णुर्वै यज्ञः' तथा 'यज्ञो वै विष्णुः' कहकर यज्ञको विष्णु और विष्णुको यज्ञ बताया है। महर्षि जैमिनिकी कर्म-मीमांसाके बाद जब महर्षि काशकृत्स्नने दैवत-मीमांसाकी रचना की, तब उन्होंने 'स विष्णुराह हि' लिखकर विष्णुको परमदेवता बताया। अनन्त अपौरुषेय वेद-वाङ्मय-के आधारपर यज्ञकी साधना करते हुए वैदिक ऋषियोंने जब परम तत्त्वका अनुशीलन किया, तब उन्होंने देखा कि विश्वके कण-कणमें परम तत्त्व समाया हुआ है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि परम तत्त्वका प्रकाश सर्वत्र है तथा उसका संकल्प महान् है। परम तत्त्वका यह सम्पूर्ण वैशिष्ट्य 'विष्णु' शब्दसे प्रकट होता है। अहिर्बुध्न्यसंहितामें कहा गया है—

व्याप्तिकान्तिप्रवेशेच्छासत्तद्धातुनिबन्धनाः।
परत्वेऽभ्यधिका विष्णोर्देवस्य परमात्मनः॥ (५२।१८)

आशय यह है कि 'विष्लृ व्याप्तौ', 'वश कान्तौ', 'विश प्रवेशने' तथा 'इषु इच्छायाम्' इन धातुओंसे निष्पन्न हुआ 'विष्णु' शब्द तत्तद्धातुके अनुसार परम तत्त्वकी व्याप्ति, कमनीयता, प्रवेश तथा इच्छाको प्रमाणित करता है।

धर्मशास्त्रकारोंने यज्ञको धर्मके अन्तर्गत माना है। महाभारतका वचन है—

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।

अर्थात् 'धर्म आचारमूलक है और इस धर्मके प्रभु विष्णु हैं।' पुराणोंने भगवान् विष्णुके अवतारोंका वर्णन करते हुए उनके द्वारा किये गये धर्म-संस्थापनकी चर्चा की है। अवतार-पुरुष भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

अर्थात् 'धर्म-संस्थापनके लिये मैं युग-युगमें अवतार लेता हूँ।' यही कारण है कि विष्णु-तत्त्वके साक्षात्कारके निमित्त अग्रसर होनेवाला साधक निरन्तर धर्मका अनुष्ठान करता है।

महर्षि याज्ञवल्क्यने धर्मके प्रमाणोंकी गणना करते समय श्रुति और स्मृतिके साथ 'सदाचार'का नाम लिया है। धर्म-शास्त्रकार मनुने 'आचारश्चैव साधूनाम्' कहकर इसका उल्लेख किया है। 'वैष्णव' विशेषण लगनेपर यह आचार 'विष्णु'से सम्बद्ध हो जाता है। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' के अनुसार विष्णुभगवान् सृष्टिके आरम्भमें पितामह ब्रह्माको प्रकटकर उन्हें वेदका उपदेश देते हैं। वेदोपदेशके द्वारा प्रवृत्ति-धर्मका प्रवर्तन करनेके पश्चात् विष्णु भगवान् स्वयमेव निवृत्तिधर्मका भी प्रवर्तन करते हैं। महाभारतके शान्तिपर्व (३४८ वें अध्याय) में सात कल्पोंकी जो सात परम्पराएँ मिलती हैं, उनका प्रवर्तन विष्णुभगवान्‌के द्वारा ही हुआ है। ये निवृत्तिधर्मकी परम्पराएँ हैं। शान्तिपर्वमें इनका उल्लेख नारायणीयधर्मके नामसे हुआ है, जो वैष्णव-धर्मका ही दूसरा नाम है। इसके अतिरिक्त पाञ्चरात्र-आगमका भी प्रवर्तन विष्णुभगवान्‌के ही द्वारा हुआ है। पाञ्चरात्रकी संहिताएँ वैष्णवधर्मका ही प्रतिपादन करती हैं। वैष्णव-सदाचार इसी वैष्णवधर्मके अन्तर्गत आता है।

प्रवर्तक होनेके साथ-ही-साथ श्रीविष्णुभगवान् वैष्णवधर्मके आराध्य एवं उपास्य भी हैं। वैष्णवधर्मके अनुसार उनकी उपासना अथवा शरणागति ही परमपुरुषार्थभूत मोक्षका साधन

है। वैष्णवधर्मके अनुसार मुक्ति प्राप्त होनेपर विष्णुका परम पद प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रवर्तन, साधन एवं लक्ष्य—तीनों ही दृष्टियोंसे वैष्णवधर्मका जो विष्णुसम्बन्ध प्रकट होता है, वह वैष्णव-सदाचारमें ओतप्रोत है। ध्यान रहे कि आचार-शास्त्रकी वैष्णवता ही वैष्णव-सदाचारमें अभिप्रेत है। इसीका यहाँ अनुशीलन करना है।

वैष्णव-आचारशास्त्रके अनुसार वैष्णव कहलानेके लिये वैष्णव-संस्कार चाहिये। वृद्धहारीतस्मृतिका वचन है—

तापादिपञ्चसंस्कारी मन्त्ररत्नार्थतत्त्ववित्।
वैष्णवः स जगत्पूज्यो याति विष्णोः परं पदम्॥
(८।२६)

आशय यह है कि 'जो ताप आदि पाँच संस्कारोंसे संस्कृत है तथा मन्त्ररत्नके तत्त्वका ज्ञाता है, वह वैष्णव है। वह जगत्‌में पूजनीय है। वह विष्णुके परमपदको प्राप्त करता है।'

ताप आदि संस्कारोंको महर्षि भरद्वाजने इस प्रकार गिनाया है—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी परमसंस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः॥
(भारद्वाजसंहिता, परिशिष्ट २।२)

अर्थात् ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग—ये पाँच वे परम संस्कार हैं, जिनसे परम ऐकान्तिक भाव प्राप्त होता है।

ताप-संस्कारके द्वारा सुदर्शन-चक्र और पाञ्चजन्य-शङ्खको धारण किया जाता है। पुण्ड्र-संस्कारसे ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण किया जाता है। नाम-संस्कार होनेपर भगवद्दास्य-सूचक नाम प्राप्त होता है। मन्त्र-संस्कारमें मन्त्रका उपदेश मिलता है। याग-संस्कारके द्वारा यजनकी योग्यता प्राप्त होती है। इन संस्कारोंकी महनीयता बताते हुए महर्षि भरद्वाजने कहा है—

तापस्तपांसि तीर्थानि पुण्ड्रं नाम नमस्क्रिया।
आम्नायाः सकला मन्त्राः क्रतवः पूजनं हरेः॥
(भारद्वाजसंहिता, परिशिष्ट २।५७)

इस कथनके अनुसार ताप-संस्कार सम्पूर्ण तपस्याओंका प्रतीक है। ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारणमें समस्त तीर्थोंका सेवन आ जाता है। भगवान्‌का दास्य-सूचक नाम मिला कि नमस्कारकी प्रक्रिया सर्वाङ्गपूर्ण हो जाती है। अनन्त अपौरुषेय वेद-वाङ्मय मन्त्रोंमें विद्यमान है तथा समस्त यज्ञ यागमें समा जाते हैं।

इन संस्कारोंका विधान पाञ्चरात्र-आगमकी संहिताओं तथा वैष्णव-स्मृतियोंने किया है। वेद-वाङ्मयमें इनका निर्देश मिलता है तथा पुराण-वाङ्मयमें इनका वर्णन है। वैष्णवाचार्योंने अपने निबन्धोंमें इन प्रमाणोंका संकलन किया है।

वैष्णवका लक्ष्य त्रिवर्गपर नहीं होता। अर्थ और कामके साथ-साथ पुण्य-प्रदाता धर्मसे भी ऊपर उठकर उसकी दृष्टि परमपुरुषार्थ मोक्षपर होती है। मोक्षका भाव उसके लिये प्रकृतिके बन्धनसे छुटकारामात्र नहीं होता। मोक्षको वह परिपूर्ण ब्रह्मानन्दानुभवकी स्थिति मानता है। कर्मकाण्डके परमदेवता विष्णु ही परब्रह्म हैं, यह उसकी मान्यता होती है। आत्मदर्शनको सम्पन्न करनेवाले कर्म और ज्ञानके आगे वह उपासनामें प्रवृत्त होकर परमात्मदर्शनकी साधना करता है।

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्।
नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥

—के अनुसार वह 'विष्णु'शब्दवाच्य नारायणको परब्रह्म, परम तत्त्व, परम ज्योति एवं परमात्मा मानता है। उपनिषदोंमें वर्णित किसी एक ब्रह्मविद्याके सहारे उसकी साधना चलती है। वह आहार-शुद्धिका ध्यान रखता है। मानसिक दोषोंमें आसक्ति नहीं रखता। अभ्यास करता है। पञ्चमहायज्ञ आदि शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है। दया, नम्रता आदि गुणोंका व्यवहार करता है। दुःखोंसे विचलित नहीं होता। सुखमें आपेसे बाहर नहीं हो जाता। इस प्रकार साधन करते हुए वह अपनी भक्ति-भावनाको दृढ करता है।

किंतु यदि वह अपने-आपको उन ब्रह्मविद्याओंके योग्य नहीं पाता, जिनके लिये विशेष वैदिक नियमोंकी आवश्यकता होती है, तो वह न्यास-विद्याका आश्रय ग्रहण करता है। जिस प्रकार उपासनाका दूसरा नाम भक्ति है, उसी प्रकार न्यास-विद्याका दूसरा नाम 'शरणागति' है। इसकी साधनाके निमित्त वह शरण्य भगवान्‌के अनुकूल रहनेका संकल्प करता है, प्रतिकूल न चलनेकी प्रतिज्ञा करता है। विश्वास करता है कि भगवान् ही मेरे रक्षक हैं, उनको ही अपने सर्वस्वके रूपमें वरण करता है, कार्पण्य (दैन्य) भावको ग्रहण कर वह शरण्यके चरणोंमें अपना आत्म-समर्पण कर देता है।

वैष्णव चाहे भक्तिकी साधना करनेवाला हो अथवा शरणागतिकी साधना करनेवाला श्रुति-स्मृतिके आदेशोंके पालन करनेका उत्तरदायित्व रखता है। स्वयं भगवान्‌ने कहा भी है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्तामुल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अर्थात् 'श्रुति-स्मृति मेरी आज्ञाएँ हैं, जो उनका उल्लङ्घन करता है, वह मेरी आज्ञाको भङ्ग करनेवाला द्रोही होता है। मेरी भक्ति करनेपर भी वह वैष्णव नहीं हो सकता।'

वैष्णव जो कुछ धर्मानुष्ठान करता है, सबका सब भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, धर्मको भगवान्‌की आज्ञा मानकर।

भगवान्‌को प्रसन्न करना, भगवान्‌का आज्ञा-पालन करना, भगवान्‌का कैंकर्य करना उसकी साधना होती है। प्रत्येक धार्मिक कृत्यके आरम्भमें वह संकल्प करता है—

श्रीभगवदाज्ञया भगवत्प्रीत्यर्थं भगवत्कैंकर्यरूपम्।

अर्थात् भगवान्‌की आज्ञासे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवत्कैंकर्यरूप (यह कृत्य करता हूँ)।

वैष्णवकी मान्यता होती है कि परब्रह्म चराचर विश्वके आधार, नियन्ता और शेषी हैं; अन्य समस्त पदार्थ उन परब्रह्मके आधेय, नियाम्य और शेषभूत हैं। फिर भला, भगवान्‌का सहारा लिये बिना वह कर्मानुष्ठान कैसे कर सकता है? इसलिये वह जो कुछ करता है, भगवान्‌के बलपर करता है। संकल्पके साथ-साथ वह इस बल-मन्त्रका भी चिन्तन करता है—

भगवतो बलेन, भगवतो वीर्येण, भगवतस्तेजसा भगवतः कर्म करिष्यामि।

अर्थात् मैं भगवान्‌के ही बल, वीर्य एवं तेजकी सहायतासे भगवान्‌का कर्म करूँगा।

वैष्णव कर्मका त्याग नहीं करता, सात्त्विक त्यागका चिन्तन अवश्य करता है। कर्मानुष्ठानके पहले वह सोचता है—

भगवानेव स्वस्मै स्वप्रीतये स्वयमेव कारयति।

अर्थात् भगवान् ही अपने लिये, अपनी प्रसन्नताके लिये स्वयमेव इस कर्मको करा रहे हैं। और कर्मकी पूर्ति हो जानेपर वह सोचता है—

भगवानेव स्वस्मै स्वप्रीतये स्वयमेव कारितवान्।

अर्थात् भगवान्‌ने ही अपने लिये, अपनी प्रसन्नताके लिये स्वयं ही यह कर्म करा लिया।

वैष्णव वर्णाश्रमधर्मका अनुष्ठान करता है—इसलिये नहीं कि उसको अपने वर्ण या आश्रमका अभिमान है। वह तो मानता है कि वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादा उसके इष्टदेवने ही बनायी है। अतः जिस प्रकार एक पतिव्रता नारी अपने सौभाग्य-सूत्रकी रक्षा करती है, उसी प्रकार वैष्णव वैदिक मर्यादाकी रक्षा करता है। वह जानता है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

अर्थात् वर्णाश्रमके आचारका पालन करनेवाले पुरुषको ही परमपुरुष विष्णुके आराधनका अधिकार है। अन्य कोई मार्ग विष्णुको प्रसन्न करनेका नहीं है।

नित्य-कर्म वैष्णव करता है भगवान्‌की आराधना समझकर। उसकी दिनचर्याके पाँच विभाग होते हैं—अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग—

अभिगच्छन् हरिं प्रातः पश्चाद् द्रव्याणि चार्जयन्।
अर्चयंश्च ततो देवं ततो मन्त्राञ्जपन्नपि॥
ध्यायन्नपि परं देवं कालेष्वेतेषु पञ्चसु।
वर्तमानः सदा चैवं पाञ्चकालिकधर्मणा॥

आशय यह है कि प्रातःकालमें भगवान्‌का अभिगमन करे। दोपहरतक उपादान अर्थात् भगवदाराधनके लिये उपयोगी सामग्रीका संग्रह करे। इसके बाद इज्या अर्थात् भगवान्‌का आराधन करे। तीसरे पहर स्वाध्याय अर्थात् मन्त्रजप आदि करे। रात्रिको योग अर्थात् भगवान्‌का ध्यान करे। यह पाञ्चकालिक पूजाका क्रम है। प्रातः-स्मरणसे लेकर ब्रह्मयज्ञपर्यन्त अनुष्ठान अभिगमनके अन्तर्गत आ जाता है। मध्याह्नस्नानसे लेकर वैश्वदेव-पञ्चमहायज्ञ-भोजनपर्यन्त इज्यामें आ जाता है। सायं-संध्यासे लेकर शयनपर्यन्त सारा विधान योगके अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार धर्मशास्त्रीय विधानकी पाञ्चकालिक पद्धतिके साथ इसकी संगति बैठ जाती है।

भगवान्‌की पूजा वैष्णवकी अपनी विशेषता है। पूजाके प्रसङ्गमें वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंको पार करता हुआ तुरीय-अवस्थातक पहुँच जाता है। भूतशुद्धिमें जाग्रत्-अवस्था, मन्त्रजपमें स्वप्नावस्था तथा मानसिक आराधनमें सुषुप्ति-अवस्थाका अनुभव करते हुए भगवान्‌के उपचारोंमें वह तुरीयावस्थाका अनुभव करता है। गुरु-परम्पराके सोपानके द्वारा वैष्णव अपने ध्यानको भगवान्-तक ले जाता है, धर्म-वाङ्मयद्वारा उनको पुष्पाञ्जलि समर्पित करता है तथा अन्तमें विजयगान एवं मङ्गलाशासन करता है।

भगवदाराधन और पुष्पाञ्जलिके सम्बन्धमें वैष्णवकी मान्यता यह भी है—

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनं त्रयम्॥

× × × ×

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानं ज्ञानं विशेषतः।
सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः॥

आशय यह है कि राग आदिसे रहित हृदय, असत्य आदिरहित वाणी तथा हिंसा आदिसे रहित शरीर—ये भगवान्‌के तीन आराधन हैं। अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूत-दया, क्षमा, मनका संयम, ध्यान, ज्ञान, और सत्य—ऐसे पुष्प हैं, जिनको समर्पित करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं।

यहाँपर यह बता देना अनुचित न होगा कि आत्म-दर्शनका साधक जिन नैतिक गुणोंसे अपनी साधना आरम्भ करता है, वे नैतिक गुण परमात्मदर्शनके साधकके लिये अपेक्षित अवश्य होते हैं; किंतु आत्मदर्शनके साधकके लिये कठिनाई यह है कि जबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता, नैतिक गुणों-की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पाती और जबतक नैतिक गुणोंकी परिपूर्ण प्रतिष्ठा नहीं होती, आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। परमात्म-दर्शनके पथिक वैष्णवके सामने यह कठिनाई नहीं होती। वह अपने कर्मोंका न्यास भगवान्‌में कर देता है तथा अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं शरीर भगवान्‌की सेवामें लगा देता है। साधनाकी दृष्टिसे वह भगवान्‌को कर्ता और कारयिता मान लेता है। इस मान्यताके साथ जहाँ उसके आत्मसमर्पणकी प्रक्रिया आरम्भ हुई, सच्चिदानन्द भगवान् अपने सङ्कल्पका बल उसको प्रदान करने लगते हैं। फल-स्वरूप उसके नैतिक गुण विकसित हो जाते हैं- यहाँतक कि उसका जीवन नैतिकताका आदर्श बन जाता है। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुणोंके लिये उसे कोई यत्न नहीं करना पड़ता।

वैष्णवका जीवन भगवदीय होता है। उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते और सोते-जागते वह भगवान्‌का स्मरण करता है। उसके प्रत्येक कार्यमें भगवदाराधना चलती रहती है। उसके हर श्वासमें भगवान्‌का विश्वास बढ़ता है। वह भगवान्‌से कुछ याचना नहीं करता। प्रारब्धको वह भोगता है भगवान्‌का प्रसाद समझकर। विषयोंमें उसे राग नहीं होता। अनुराग होता है भगवान्‌से और भागवतोंसे। मृत्युको वह अपना प्रिय अतिथि मानता है। भगवान् उसका योग-क्षेम वहन करते हैं, उसका स्मरण रखते हैं और उसको परम पद प्रदान करते हैं।

भक्ति

(लेखक—त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिविलासतीर्थजी महाराज)

कविराज कृष्णदासजीके 'श्रीचैतन्यचरितामृत' में श्रीचैतन्यमहाप्रभुके जीवनके द्वितीय और तृतीय भागपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। वास्तवमें यह ग्रन्थ श्री-महाप्रभुके जीवनके अत्याकर्षक युगका, दार्शनिक एवं शैक्षणिक दृष्टिकोणसे, श्रेष्ठ प्रतिपादन प्रस्तुत करता है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मतमें वेद आध्यात्मिक ज्ञानके एक-मात्र मूल स्रोत हैं। वैसे तो वेदोंमें यथार्थरूपसे सब प्रकारके कर्म, अकर्म और विकर्मकी परिभाषा दी गयी है; किंतु हैं वे भगवद्भक्तिपरक ही। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्मोंकी तत्तद्-विषयक प्ररोचक फलश्रुतियाँ भी हैं, किंतु वे फलश्रुतियाँ केवल बाल-बुद्धिवाले व्यक्तियोंको ही लुभा सकती हैं। वेदोंका सच्चा उपदेश तो यह है कि मानव ईश्वरीय आराधनाके द्वारा कर्मोंके फलसे सर्वथा अनासक्त रहकर नैष्कर्म्यकी स्थितिको प्राप्त कर ले—यही भक्ति है।

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने स्वतः अपने मुखारविन्द-से जिस गीताका गान किया है, वह भी यही कहती है कि शरणागतिमें ही उसका तात्पर्य है। इस शरणागति-का अर्थ है—सम्पूर्ण परिच्छिन्न व्यक्तित्वका, अपनी प्रत्येक प्रिय वस्तुका, अपने सामान्य-असामान्य गुण-दोषों एवं न्यूनताओं और निपुणताओंका, उस अपरिच्छिन्न प्रभुके प्रति सर्वात्मना सर्वाङ्गीण समर्पण। यह सर्वातिशायी मनोरम सिद्धान्त है; और इस प्रकारका आत्मसमर्पण आत्मोत्सर्गका अत्यन्त विशुद्ध रूप है।

अपनेको असहाय जानकर परिच्छिन्न जीव जब प्रेम और दयाके सिन्धु अपरिच्छिन्न ईश्वरके पाद-पद्मोंमें सर्वभावेन अपने व्यक्तित्वका समर्पण करके भगवत्स्वरूपानुगामी बन जाता है, तब वह स्थिति भक्ति कहलाती है। शरणागति स्वतः भक्तिका पूर्वरूप है।

'भक्ति' पद संस्कृतके 'भज' धातु में 'क्तिन्' प्रत्ययके योगसे बना है। प्रत्ययका अर्थ प्रेम है और धातुका अर्थ है सेवा करना। सामान्य नियम यह है कि धातु और प्रत्ययके योगसे एक सम्पूर्ण अर्थकी अभिव्यक्ति होती है और उस अर्थमें प्रत्ययका अर्थ ही प्रधान रहता है। अतः भक्तिका अर्थ हुआ सेवा करना। सेवा शारीरिक क्रिया है। उसकी सेवामें प्रेमका भाव निहित रहता है और बिना प्रेम भावके सेवा-कार्य क्लेशप्रद हो जाता है तथा स्थायी भी नहीं रहता। प्रेमकी पूर्णता सेवा-भावमें ही है। नारदीय पञ्चरात्र-के अनुसार सम्पूर्ण इन्द्रियोंको सभी उपाधियोंसे मुक्त करके अनन्यमनसा हृषीकेश भगवान्‌का अनुशीलन करना ही भक्ति है। भक्तिके साम्राज्यमें भोक्ता और भोग्य—दोनों ही पारस्परिक साहचर्य-जन्य आनन्दका उपभोग करनेके लिये चिन्मयदेहेन्द्रियविशिष्ट होते हैं।

शाण्डिल्यसूत्रमें ईश्वरके प्रति परानुरक्तिको ही भक्ति कहा गया है। अनुरक्ति और अनुराग पर्याय हैं। अतः 'परानुरक्तिरीश्वरे' इस सूत्रका अर्थ हुआ कि भगवान्‌में ही अनन्य अनुराग ही भक्ति है। यह राग आनन्दसे परिपूर्ण है।

श्रीरूपगोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिकी व्याख्या इस प्रकार की है—अध्यात्म-ज्ञानकी प्राप्तिकी अभिलाषा न करते हुए, कर्म अथवा वैराग्यका भी मोह न रखते हुए और अपने भी किसी स्वार्थकी भावनाको स्थान न देते हुए, केवल श्रीकृष्णकी संतुष्टिके लिये उनका प्रेम-भावसे चिन्तन करना ही उत्तम भक्ति है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

भक्ति स्वतः ही पूर्ण है। वह कर्म, ज्ञान अथवा अन्य किसी प्रकारकी साधनकी अपेक्षा नहीं रखती। कर्मका उद्देश्य वैयक्तिक सुख है और ज्ञानका लक्ष्य है उस निर्विशेष ब्रह्मकी प्राप्ति, जो द्वैत-भावनासे रहित है, अर्थात् जहाँ उपास्य-उपासकका भेद ही नहीं है। अतः भक्ति मूलतः उन दोनोंसे भिन्न है। सम्पूर्ण गौडीय वैष्णव-साहित्यमें कर्म और ज्ञानका अत्यन्त ही तीव्र विरोध किया गया है। श्रीरूपगोस्वामीने इस विषयपर अपने विचार बड़ी ही दृढ़तासे व्यक्त किये हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जबतक साधकके हृदयमें कर्मसे प्राप्य भोगोंके प्रति और ज्ञानसे प्राप्य मोक्षके प्रति अंशतः भी रुचि बनी रहेगी, तबतक उसमें भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकेगा—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वलहरी २ । ११)

श्रीकविराज कृष्णदासने कर्म और ज्ञानकी तुलना घास-फूससे की है और अपने पाठकोंको स्पष्ट आदेश दिया है कि वे उन्हें अपने हृदयसे सर्वथा निर्मूल कर दें, जिससे कि भक्ति-वल्लरीके लहलहानेमें कोई बाधा न पड़े।

श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिके प्रभावकी चर्चा करते हुए उसके छः लक्षण बताये हैं—

१. भक्ति सब प्रकारके दुःखोंका नाश करती है।
२. यह सम्पूर्ण कल्याणको देनेवाली है।
३. यह मोक्षको भी हेय समझती है।
४. यह अत्यन्त ही दुर्लभ है।
५. यह घनीभूत आनन्द है।
६. यह श्रीकृष्ण भगवान्‌को आकर्षित करनेवाली है।

शास्त्रका वचन है—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

शुद्ध भक्तिपर आत्मज्ञानका कोई विरोधी प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। ज्ञान और शुष्क वैराग्य भक्तिके विकासमें बाधा डालते हैं। ईश्वरका क्या स्वरूप है और जीवका ईश्वरके साथ कैसा निकट सम्बन्ध है, इस विषयकी जानकारी भक्ति-विरोधी नहीं है। भक्ति स्वतः साधन भी है और साध्य भी। भक्ति अपनी चरमावस्थामें मुक्तिका भी अतिक्रमण कर जाती है और प्रेम-नामसे अभिहित होती है। किंतु इस अवस्थामें भी भक्तिके क्रिया-कलापोंका विराम नहीं होता। ईश्वरके प्रति मनुष्यकी स्वतःस्फूर्त एवं स्वाभाविक अनुरक्तिका नाम ही भक्ति है।

भक्तिको स्वयंमोक्षरूपा कहा गया है। सच्चा अध्यात्म-ज्ञान भी भक्तिका आनुषङ्गिक फल है। स्वरूपा-शक्ति, तटस्था-शक्ति और माया-शक्तिसे उपलक्षित ईश्वरके तीनों रूपों—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌का साक्षात्कार ही सच्चा तत्त्व-ज्ञान है। ईश्वर इन शक्तियोंसे भिन्न और अभिन्न दोनों है। भक्तिद्वारा ही ईश्वरके इस स्वरूपकी अनुभूति और साक्षात्कार सम्भव है। केवल ज्ञानसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता जब कि भक्तिद्वारा केवल ज्ञान ही नहीं अपितु साक्षात्कार भी हो जाता है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मतसे भक्ति दो प्रकारकी है—वैधी और रागानुगा। पहले प्रकारको वैधी इसलिये कहा गया है कि इसमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा शास्त्रसे प्राप्त होती है, जिसे विधि भी कहते हैं। जिसकी बुद्धि तर्कशील है, जिसे शास्त्रका ज्ञान है, जिसका विश्वास दृढ़ है और जिसकी वैष्णवधर्ममें परम निष्ठा है, केवल वही साधक वैधी-भक्तिका अधिकारी है। रागानुगा-भक्ति वैधी-भक्तिसे भिन्न है। राधाजीका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम इस दूसरे प्रकारकी भक्तिके सर्वोत्कृष्ट एवं गाढ़तम रूपका निदर्शन है। भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थके रचयिता श्रीरूपगोस्वामीने तीन प्रकारकी भक्ति बतायी है—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति। भाव-भक्ति अथवा साध्य-भक्ति, जो नैसर्गिक और भावावेशकी अवस्था है, किसी प्रकारके साधन अथवा प्रयत्नके द्वारा साध्य नहीं है। सच्चा भावावेश उत्पन्न नहीं किया जा सकता। वह तो पहलेसे ही हृदयमें विद्यमान रहता है। आवश्यकता होती है उसे व्यक्त करनेकी।

रागात्मिका भक्ति स्वाभाविक आसक्तिका नाम है। उसे आदर्श मानकर जो भक्ति की जाती है, उसीका नाम रागानुगा है। रागका अर्थ ही है आसक्ति। भाव गाढ़ हो जानेपर प्रेम

कहलाता है। भक्तिद्वारा भक्त किसी भी बाह्य उद्देश्यको न रखकर ईश्वरोन्मुख हो जाता है। भक्ति वह शक्ति मानी गयी है, जो ईश्वरका हमारे साथ गठबन्धन कर देती है।

भक्ति कर्म और ज्ञानसे मूलतः भिन्न है। प्रेमके शाश्वत बन्धनद्वारा भक्त आदिसे अन्ततक अपने व्यक्तित्वको स्थायीरूपसे स्वतन्त्र बनाये रखता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह ईश्वरको आराध्यरूपमें अपनेसे सदा भिन्नरूपमें देखता है और फलस्वरूप अपने आराध्यके साथ एकात्मताकी कल्पनासे ही काँप उठता है। प्राकृत गुण-धर्मोंसे छुटकारा पा लेनेपर तो उसकी भक्ति उलटे विशुद्धरूपमें अनन्त कालतक प्रवाहित होती रहती है।

ईश्वरके प्रति हमारे मनकी अविच्छेद्य स्वाभाविक अनुरक्ति ही प्रेम-भक्ति कहलाती है। यह पाँच प्रकारकी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। वृन्दावनकी गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम इस प्रेम-भक्तिका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। सच्ची भक्ति-भावनाका उदय होनेपर भक्त सब प्रकारकी इच्छाओं और कामनाओंको, सब प्रकारकी बाह्य पूजाको तथा सारे ज्ञान और कर्मको त्यागकर बस, एकमात्र श्रीकृष्णमें ही अनुरक्त हो जाता है। भक्तिकी पूर्णताके लिये यह आवश्यक नहीं कि किसी प्रकारके विधि-विधानका अनुष्ठान किया जाय। भक्ति-मार्गमें तो भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण और संकीर्तन ही एकमात्र कर्तव्य बताया गया है। भक्ति तो स्पष्टतः अतीन्द्रिय व्यापार है। ईश्वरके शाश्वत साहचर्यमें रहना ही भक्ति है, क्योंकि ईश्वर स्वयं गुण-धर्मोंसे परे है, अतः ईश्वरके साहचर्य अथवा ईश्वरमें स्थितिका अर्थ भी अनिवार्यतः गुणातीत स्थिति ही है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके धार्मिक जीवनमें भक्तिके ये असाधारण लक्षण प्रकट हुए, जिनका प्राकट्य, जहाँतक हमें ज्ञात है, अन्य किसी भी सन्तमें नहीं हुआ। अपने जीवनके अन्तिम बारह वर्षोंमें नीलाचलपर निवास करते हुए श्रीमहाप्रभुने जिस प्रेमोन्मादका परिचय दिया, उसका कोई दूसरा उदाहरण पौराणिक साहित्य, गीता अथवा भारतके किसी भी अन्य धर्मग्रन्थमें अप्राप्य है।

भक्ति-मार्गमें प्रवृत्ति और गुरु-तत्त्व

(लेखक—परम सम्मान्य श्री १०८ श्रीहरिबाबाजी महाराज)

भक्ति-मार्गमें प्रवृत्ति कैसे हुई ?

पूर्णं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
कर्तव्यार पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ॥

कुछ बड़ा होनेपर अपनी माके मुखसे सुना कि 'तुम्हारे जन्मपर आँगनमें आकाशसे कोई खड़खड़ाती हुई वस्तु गिरी। बाहर देखनेपर ज्ञात हुआ कि श्रीरामजीकी मूर्ति है।' विद्याध्ययन-समयतक इसकी स्मृति नहीं हुई। घर छोड़नेपर इसके अर्थकी ओर ध्यान हुआ। उन दिनों वेदान्त-संस्कार विशेष होनेसे निजात्म-स्वरूपकी ओर ही लक्ष्य प्रतीत हुआ। अतः इससे प्रसन्नता और शान्ति हुई।

श्रीगङ्गातटपर परमपूज्य श्रीअच्युतमुनिजीके दर्शन हुए। वे कृपया वेदान्त-शास्त्र पढ़ानेके लिये अपने साथ वर्षा ले गये। वहाँ बस्तीके बाहर श्रीपराजपेजी महाराजका हनुमानगढ़ी नामक आश्रम था। अवकाशके समय सायंकाल वहाँ जाने लगा। श्रीपराजपेजी मौन थे। हरिकीर्तनके समय बोलते और नाचते थे। मैं चुपचाप आसनपर बैठा सुनता रहता। एकादशीकी रात आयी। उस रात आश्रममें सबका जागरण और कीर्तन होता था। मैं भी सम्मिलित हुआ। श्रीहरि-संकीर्तन आरम्भ हुआ। पहला पद श्रीगुरु-महिमा-सम्बन्धी था। सुनकर श्रीगुरुस्मृति जागरित हुई। श्रीगुरुदेवकी पूर्ण सामर्थ्य और कृपाके होते हुए भी अपनेमें अभावकी प्रतीति हुई। वह अभाव कैसे जाय ? उस समय श्रीगुरुदेव परमपद प्राप्त कर चुके थे। किसी भी दूसरेमें वह गुरु-बुद्धि असम्भव मालूम हुई। इससे परम व्याकुलता हुई। अब क्या किया जाय ? हृदयमें उत्तर मिला—'प्राणिमात्रमें गुरुबुद्धि करो।' व्याकुलता बढ़ती ही गयी। पद-संकीर्तन चल रहा था। दूसरा पद भगवान् श्रीरामजीके सम्बन्धका आरम्भ हुआ। जन्मकी घटना याद आयी। 'कहाँ समस्त विश्वमें परम श्रेष्ठ श्रीराम ! और कहाँ सर्वनिकृष्ट तुम !' व्याकुलता अत्यन्त बढ़ गयी। धैर्य जाता रहा, पाँवोंसे धरती पीटते-पीटते गाढ़ मूर्च्छा हो गयी। मन, अहंभावका अभाव ! सबका अत्यन्त अभाव। कबतक ऐसा रहा कुछ पता नहीं। जब होश हुआ, तब श्रीपराजपेजी आँखोंके अश्रु पोंछ रहे थे। अपूर्व असीम आनन्द और मस्तीका प्रवाह बह निकला, जिसका सँभालना शक्तिके बाहर था। उन्मत्त इधर-उधर भागता हुआ श्रीभगवद्विग्रहोंके सामने उनरको ही पाँव किये गिर पड़ा। बाहरकी कुछ भी खबर नहीं थी। उसी समय श्रीपराजपेजी मण्डलीसहित—

राधा-कृष्ण जय कुञ्जविहारी। मुरलीधर गोवर्धनधारी॥

—की ध्वनि करते हुए इस शरीरकी परिक्रमा देने लगे और प्रेममें मत्त हो नाचते रहे। उस समय प्रतीत हुआ कि 'सारा विश्व कृष्णमय है और कृष्ण-आराधनमें तत्पर है।' इस शरीरने भी पड़े-पड़े ही हाथसे ताली देते हुए किसीके चरण पकड़ लिये। वे पराजपेजी ही थे। होश आनेपर वे मुझे अपनी एकान्त कुटियामें ले गये। कारण पूछनेपर जन्मके समयकी घटना कहते हुए सब बात कही। जन्मकी घटनाका अर्थ पूछनेपर उन्होंने कहा—'इसका यही अर्थ है—राम-भक्तका जन्म हुआ है।' सुनकर दिलमें कुछ दुःखकी छाया प्रतीत हुई। कारण, उस समयतक अपनेमें ब्रह्म-भावना ही थी। मस्ती और परम आनन्दका विचित्र भाव बना ही रहता था, केवल वेदान्त-शास्त्र पढ़नेके समय दब जाता था।

एक दिन अनध्यायको मुझे नियत पाठमें जाना नहीं था। इससे एकान्त जंगलमें नदीस्नानके लिये चला गया। नहाते-नहाते अत्यन्त आश्चर्य और आनन्दभरा अनुभव हुआ कि 'दास्यभाव तो ब्रह्मभावसे उच्च है।' विशेष आनन्द और मस्तीसे जल उछालने लगा। इसके बाद कितने महीनोंतक यही भाव बना रहा और भक्तिमार्गमें प्रवृत्ति आरम्भ हुई।

(२)

गुरुभक्तकी श्रद्धाका चमत्कार

परमहंससंहिता श्रीमद्भागवतमें जहाँ एक-एक दोष जीतनेका एक-एक साधन बताया है, उसी प्रसङ्गमें सर्वदोष-विजयका केवल एक साधन भी कहा है। वह है श्रीगुरुचरणोंमें दृढभक्ति—

एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।

(श्रीमद्भा० ७। १५। २५)

परम पूज्य श्रीउड़ियास्वामीजीसे सुनी घटना

किसी नगरमें एक बड़े धनी साहूकार रहते थे। उनके यहाँ एक बार एक महात्मा पधारे। सेठजीकी महात्माजीमें श्रद्धा हुई और उन्होंने उनका गुरुरूपमें वरण किया। महात्माजी वहीं उनके मकानके ऊपर चौबारेमें रहने लगे। एक दिन सेठजीका एक बालक खेलता हुआ महात्माजीके पास पहुँच गया। उसके बहुमूल्य वस्त्राभूषण देखकर महात्माजीका मन ललचा गया। लालचका कारण उस दिन प्रमादसे मात्र दूषित अन्न ही था। अन्ततः उन्होंने अपने कर्कश कराङ्गुलसे उस सुकुमार अङ्कुरका अन्त करके, उसके भूषण उतार, उसे संदूकमें बंद कर दिया। मध्याह्न-भोजनके समय जब सेठजीका बालक नहीं आया, तब लोगोंने उसे पास-पड़ोसमें खोजा; पर वह मिला नहीं। किसीके कहनेसे सेठजीके साथ दो-चार पुरुष महात्माजीके पास भी गये। पूछनेपर महात्माने कहा—'यहीं तुम्हारा लड़का आया था, मैंने तो उसे मार डाला।' सेठ बोले—'महाराज! आप क्या कह रहे हैं? वह तो आपका ही था; भला, आप उसे क्यों मारने लगे?' महात्माने कहा—'भाई! तुम्हें विश्वास न हो तो वह संदूकमें पड़ा है, देख लो।' सेठने कहा—'महाराज! आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं? आप कभी नहीं मार सकते। ज्ञात होता है आपने उसे मेरी परीक्षाके लिये अपनी शक्तिसे मूर्च्छित कर दिया है।' संदूक खोलकर सेठने देखा और कहा—'यदि यह मर भी गया है, तो भी आपकी चरण-रजमें तो मृत-संजीवनी शक्ति है।' यों कहकर सेठजीने महात्माजीकी चरण-रज ज्यों ही बालकके सिरपर छोड़ी त्यों ही वह उठ बैठा। सेठजीके मनमें कोई विस्मय अथवा मान नहीं हुआ। परंतु महात्माजीको अपनी छिपी हुई सिद्धिका चमत्कार जानकर बड़ा अहंकार हुआ।

कुछ दिन बाद किसी अन्य सेठका लड़का भी खेलता हुआ वहीं पहुँचा। उसके भी बहुमूल्य आभूषण थे। उस दिन भी महात्माजीकी बुद्धि पलटी। वही करतूत उसके साथ की। दूषित अन्नका विपाक कितना भयंकर होता है! दूसरे सेठ भी तलाश करते वहीं आये। वे बड़े अश्रद्धालु नास्तिक थे। पूछनेपर महात्माने वही उत्तर दिया। सेठ बोले—'महाराज! कहीं महात्मा भी ऐसा घोर कर्म करते हैं?' महात्माने कहा—'भाई! विश्वास न हो तो संदूक खोलकर देख लो।' सेठने देखा तो बालक सचमुच प्राणहीन पड़ा था। उसने क्रोधसे आँखें लालकर डाँटते हुए कहा—'अरे! तू महात्मा है या राक्षस? अभी तुझे इसका फल चखाता हूँ। पुलिसके हवाले कर फाँसी दिलाऊँगा।' महात्मा बोले—'अरे! तुझे हमारी चरण-रजका प्रभाव नहीं ज्ञात है, जो मुर्देको जिला सकती है?' 'तुम महात्मा ही नहीं तो चरण-रजमें क्या पड़ा है।'—सेठने कहा। 'अरे, तू देख तो सही, पता चल जायगा, क्या पड़ा है।' सेठके मनमें तो लेशमात्र भी विश्वास न था। कई बार कहनेसे बालकके शरीरपर रज छोड़ी तो क्या होना था उससे। झल्लाकर बोला—'देख ले, तेरी रजमें क्या है।' इतनेमें हल्ला सुनकर वे गुरुभक्त सेठ भी आ गये। देखते ही महात्माजी उछलकर फिर बोले—

'क्यों भाई ! क्या हमारी चरण-रज मृतकको नहीं जिला सकती ?' हाथ जोड़कर सेठ बोले—'कौन कहता है ?' महात्मा बोले—'यही सेठ कह रहा है !' उन्होंने कहा—'महाराज ! आपकी चरण-रजमें तो विश्वको जिलानेकी शक्ति है, एक बालककी तो बात ही क्या !' यह कहकर उसने श्रद्धासे प्रणाम करके चरण-रज ली और बालकके भालपर डालते हुए कहा—'हे गुरु-चरण-रज ! तुममें अनन्त शक्ति है, तू इस बालकको प्राण-दान कर !' यों कहते ही बालक जी उठा । सबने यह देख उसकी भक्तिकी प्रशंसा की और 'धन्य-धन्य' कहकर श्रद्धासे उसके सम्मुख अवनत हुए ।

नामप्रेमी भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥*
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३९)

छप्पय

कृष्ण कलित कल करीं ललित लीला भयहारी ।
अति अनुपम सब सरस सदय सुंदर सुखकारी ॥
तिन जे गावैं, सुनैं, मुदित मन में अति हर्षें ।
लै लै सुखप्रद नाम हँसैं गावैं नित रोवैं ॥
ते छिन छिन अनुभव करहिं, जाहिं लाप छन नाम बिनु ।
बिरहैं बिलपैं सिर धुनैं, गिरैं परैं छत होहिं तनु ॥

'कल्याण' के सुयोग्य सम्पादकने मुझे आदेश दिया है कि 'नामप्रेमी भक्तोंके भाव' पर एक लेख लिखकर भेजो । उन्होंने यह भी लिखा है कि आप इस विषयपर साधिकार सुन्दर लेख लिख सकते हैं । लिख सकते हैं, यह बात तो उनकी सर्वथा सत्य है; क्योंकि लिखनेका मुझे व्यसन है । सुन्दर लिख सकते हैं, यह संदेहास्पद बात है; क्योंकि सुन्दरताका कोई नाप-तौल नहीं । एक लेख मुझे सुन्दर लगता है, दूसरेको वही असुन्दर प्रतीत होता है । किंतु साधिकार लिख सकता हूँ, यह सत्य नहीं ।

नाम-प्रेमी भक्तोंके भावोंपर साधिकार वही लिख सकता है, जिसका नाममें पूर्ण अनुराग हो, जो नामामृत-सागरमें निमग्न न भी हो, किंतु जिसे उसका रस मिल गया हो—एक बार ही सही, उसके मधुरातिमधुर रसका जिसने आस्वादन किया हो । जीवनमें मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । कभी जीवनमें एक बार—प्रतिबिम्ब भी कहना उचित नहीं, झलक-सी दिखायी दी थी । शीशेमें मुगल बादशाहने एक बार चित्तौड़की महारानी पद्मावतीका प्रतिबिम्बमात्र देखा था । वह कामी नरपति उस ललना-ललामके प्रतिबिम्बको ही देखकर इतना पागल हो गया कि उसे पानेके लिये उसने अपनी समस्त सेना, राजकोष तथा सर्वस्व उसके लिये निछावर कर दिया । जब संसारी अनित्य नाशवान् तुच्छ वस्तुके प्रतिबिम्बमें इतना आकर्षण है, तब कहीं मुझे चैतन्य अविनाशी नाम-नरेशका प्रतिबिम्ब दीख जाता तो ऐसे व्यापारमें थोड़े ही प्रवृत्त बना रहता । इस प्रकार सफेद कागजोंको काला थोड़े ही करता रहता । आज मेरी दशा उस चित्रकारकी-सी है, जो भगवान्‌के चित्र तो एक-से-एक सुन्दर बनाता है, किंतु स्वयं उसके हृदयमें अनुराग नहीं । अथवा उस स्टेशनमास्टरकी-सी है, जो निरन्तर टिकट तो बंबई, कलकत्तेके बाँटता रहता है; किंतु स्वयं जिसने बंबई, कलकत्तेको देखा नहीं । अथवा उस वैद्यकी-सी है, जो साधिकार नीरोगताकी ओषधियाँ तो बेचता रहता है, किंतु स्वयं सदा रोगी बना रहता है ।

नामका रस जिसने एक बार भी चख लिया, वह भला फिर उसे कभी छोड़ सकता है ? एक दृष्टान्त देता हूँ; उसका पूर्ण स्वारस्य हृदयंगम वे ही कर सकेंगे, जिन्हें कभी संग्रहणीका रोग हुआ हो । संग्रहणी रोगमें जिह्वा अपने अधिकारमें नहीं रहती । यह भी रोगका ही एक लक्षण है । जिस रोगीने एक बार जलेबीका स्वाद ले लिया, उसकी जिह्वाने उसके स्वादको आत्मसात् कर लिया । अब वैद्यने मना कर दिया—'देखो, जलेबी मत खाना !' उसने भी निश्चय कर लिया—'इस संग्रहणी रोगने मेरा सारा सुख नष्ट कर दिया, अब संयमसे

* नौ योगीश्वरोंमेंसे कवि नामक योगीश्वर भक्तके भावोंका वर्णन करते हुए कह रहे हैं—'चक्रपाणि भगवान् वासुदेवके जो कल्याणकारी जन्म और कर्म लोकमें प्रसिद्ध हैं और उन लीलाओंके अनुसार रखे गये उनके गिरिधारी, वंशीविहारी आदि नाम प्रसिद्ध हैं, उन्हें सुनता हुआ तथा निस्संकोच गाता हुआ नामप्रेमी भक्त संसारमें असङ्ग होकर स्वच्छन्द विचरण करे ।'

रहूँगा, जलेबी नहीं खाऊँगा।' किंतु जब किसी कामसे दुकानकी ओरसे निकले, उस समय विशुद्ध घीकी सुन्दर लाल-लाल कुरकुरी जलेबियोंको देखा। नाकमें उनकी गन्ध गयी तो पैर चिपक जाते हैं, आगे बढ़ते ही नहीं। मन मानता नहीं, जिह्वामें बार-बार पानी भर आता है; मनको समझाते हैं—'अच्छा छटाँक-भर क्या हानि करेगी, अधिक न खायेंगे।' कब छटाँकभरका दोना हाथमें आ गया, कुछ पता ही नहीं चला। खरी सिकी हुई गरमागरम लाल-लाल जलेबी जब दाँतोंके बीच दबकर कुर-से बोलती है और जिह्वा उसमें भरे सरस रससे संसिक्त हो जाती है, उस समय अन्तःकरणकी क्या दशा होती है, इसे तो अनुभवी ही अनुभव करता है। दोना रिक्त हो गया। 'आध पाव और ले लो।' वह भी समाप्त। बुद्धि बार-बार कहती है—'अपथ्य कर रहे हो।' किंतु मन कहता है—'आज भरपेट खा ही लो। होगा सो देखा जायगा। मरना तो एक दिन है ही।' ऐसा एक बार नहीं, बार-बार होता है। बार-बार पश्चात्ताप भी होता है, किंतु रहा नहीं जाता। जिह्वाको उसका स्वाद जो लग गया है।

दृष्टान्त अधूरा है। वह वस्तु हानिकारक है; किंतु स्वादके पीछे उसे खाये बिना रहा नहीं जाता। उससे रोग बढ़ता है, रुचि बिगड़ती है; किंतु इस नामामृतसे तो सब रोग नाश होते हैं, किसी भी दशामें यह हानि नहीं करता और दिनोदिन रुचि बढ़ती ही जाती है। एक बार जिसने उस रसको चख लिया, फिर वह लोकबाह्य हो ही जाता है। फिर वह लोक-चातुरीसे सर्वथा शून्य बन जाता है। ऐसी स्थितिमें लेख कौन लिखे। नमककी पुतरी समुद्रमें थाह लेने गयी। भीतर जाते-जाते गल गयी, घुल-मिलकर एकाकार हो गयी। फिर बाहर आकर कौन बताये कि समुद्र इतना गहरा है।

नामप्रेमी भक्तोंके शास्त्रीय भावोंकी विवेचना तो मैंने 'चैतन्यचरितावली' तथा 'भागवती कथा'के विविध खण्डोंमें विस्तारसे की ही है। इस छोटे-से लेखमें उनका वर्णन हो नहीं सकता, आवश्यक भी नहीं है। यहाँ तो मैं अत्यन्त ही संक्षेपमें यह बतानेका प्रयत्न करूँगा कि भक्तोंके ऐसे भाव हो क्यों जाते हैं, वे इस प्रकार लोकबाह्य बन कैसे जाते हैं।

भगवन्नाम एक प्रकारका अत्यन्त सुस्वादु सुमधुर रस है। वह रस भीतर न भी जाय, केवल ओठोंसे स्पर्श ही हो जाय तो फिर उसके प्रति इतना आकर्षण बढ़ जाता है कि प्राणी छोड़ना भी चाहे तो उसे नहीं छोड़ सकता। वृन्दावनमें मुझे एक भक्त मिले। उन्होंने अपना अनुभव इस प्रकार बताया कि 'महाराज! पहले हम सुना करते थे—

ऐसो राम नाम रस खान।
ब्रह्माने पीयो, विष्णुने पीयो, सिव ने पियो वाकूँ छान॥

—उस समय हम सोचते थे राम-नाममें ऐसा क्या स्वाद है। एक बार कुछ दिन निरन्तर भगवान्‌का नाम लेते रहे। लेते-लेते जिह्वामें इतना अपूर्व स्वाद आया कि संसारमें उसकी किसी स्वादसे तुलना ही नहीं की जा सकती। कई दिनोंतक न भूख लगी न प्यास; वह स्वाद निरन्तर बना ही रहा। एक अपूर्व मादकता-सी छायी रहती। कई दिनोंके पश्चात् प्रकृतिस्थ हुए। अब भी उस स्थितिका स्मरण करके रोमाञ्च हो आता है।'

बात यह है कि हमारा मन सदा प्राकृत वस्तुओंमें फँसा रहता है। माता-पिता, भाई-बन्धु, स्वजन-परिजन, स्त्री-बच्चे, शत्रु-मित्र, धन-धाम, वाहन, भोग-पदार्थ—ये ही सब हमारे अन्तःकरणमें बैठे रहते हैं। मन तो एक क्षणको भी विराम नहीं लेता, उसकी मशीन तो सदा चालू रहती है। घड़ी तो कभी-कभी बिगड़ भी जाती है; उसमें चाभी न दें, तो बंद भी हो जाती है। किंतु मैंने एक ऐसी भी हाथकी घड़ी देखी है, जिसमें चाभी दी ही नहीं जाती। वह हाथमें बँधी रहती है; हाथ इधर-उधर हिलता-डुलता है तो उसी हिलन-डुलनसे उसमें चाभी अपने-आप लग जाती है। फिर भी वह कभी तो रुकती ही होगी; किंतु यह मनकी मशीन तो गाढ़ निद्राकी स्थितिको छोड़कर निरन्तर चालू रहती है। ग्रामोफोनके रेकर्डमें जैसे गीत भरे हुए होंगे, मशीन चलनेपर उसमेंसे वे ही गीत निकलेंगे। रेकर्ड तो हों गजलों और ठुमरी-दादरोंके; किंतु आप चाहें कि उसमेंसे भक्तिभावपूर्ण शास्त्रीय संगीतयुक्त पद बजें तो यह असम्भव है। इसी प्रकार हमारे अन्तःकरणमें तो भरे हों संसारी सम्बन्ध एवं विषय-भोगकी वस्तुएँ और हम चाहें कि हम चिन्तन करें, प्रकृतिसे परे परमात्माका भाव हमारे भक्ति-मय हों—यह असम्भव है। माला जपने बैठेंगे तो बाजार, रुपया-पैसा, सगे-सम्बन्धी, मामला-मुकदमा, प्रेस-प्रूफ—ये ही स्मरण होंगे। वैसे चाहे ये सब इतय कम याद आयें; किंतु माला लेकर जहाँ भजन करने बैठे कि वह मशीन जोरोंसे चालू हो जाती है। मेरे एक बड़े व्यापारी स्नेही बन्धु हैं। उनका नियम है कि वे अपने व्यवसायसे घंटे-आध-घंटेका समय निकालकर माला लेकर जप करने अवश्य बैठते हैं। वे उस दिन बता रहे थे—'महाराज! क्या बतायें, भजनके ही समय दुनियाभरकी याद आती है। जो हिसाब हम दिनमें नहीं जोड़ पाते, जपके समय उसे ठीक जोड़ लेते हैं। इसलिये दिनमें यदि भूल-चूक रही, हिसाब ठीक न बैठा, तो सोच लेते हैं, जपके समय यह

ठीक हो जायगा। और आश्चर्यकी बात है, जहाँ कोठरी बंद करके माला लेकर बैठे कि मन उसी हिसाबको लगाने लगता है और वह ठीक बैठ जाता है।'

बात यह है कि दिनमें काम-काजके समय तो मन पचास कामोंमें फँसा रहता है, इसलिये कुछ पता नहीं चलता। माला लेकर जप करने बैठते हैं, उस समय उसका स्वरूप प्रकट होता है—जितना ही उसे रोकते हैं, उतना ही भागता है; जिसमें अधिक लगाव होता है, एकाग्रताके समय उसीमें तन्मय हो जाता है। इसीलिये दिनमें जिस हिसाबकी चिन्ता रहती है, उसीको याद करने लगता है; जिस स्त्री या पुरुषसे हमारा अधिक प्रेम होता है, जपके समय वही अधिक याद आता या आती है, उसीकी स्मृति हमें अधिक विह्वल बनाती है। दिनके भूले काम याद आने लगते हैं; जिस बातको बार-बार कहते हैं, बार-बार जिसका स्मरण-चिन्तन-मनन करते हैं, उसमें मन एकाग्रताके समय फँस जाता है। जब मनमें संसारी जंजाल फँसे हों, तब भगवान् कैसे याद आयें ? इसीलिये महात्मा कबीरदासजीने गाया है—

> माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
> मनुआ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

अब नाम-स्मरण-साधनपर विचार कीजिये। नाम-स्मरण-साधन पठित-अपठित, स्त्री, बालक, वृद्ध—सबके लिये समान है। इसमें विद्या, बुद्धि, पात्रता, जाति, वर्ण, कुल, आश्रम तथा अन्य किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं; कहना चाहिये यह सर्व-साधारणके लिये समानरूपसे सरल-सुगम साधन है। एक ही पात्रता चाहिये। मनसे-बेमनसे, इच्छासे-अनिच्छासे, श्रद्धासे-अश्रद्धासे, भावसे-कुभावसे, सोते-जागते, उठते-बैठते, जिह्वासे नामका उच्चारण होता रहे। बस, इतना ही पर्याप्त है।

आप कहेंगे—'अश्रद्धासे, बेमनसे, अनिच्छासे नाम लेनेसे लाभ क्या ? चीनी-चीनी कहते रहनेसे मुख मीठा थोड़े ही होता है।' इसपर मेरा कहना यह है कि चीनी तो जड है, भगवान् तो चैतन्य हैं। नाममें और नामीमें कोई भेद नहीं। देवदत्त और देवदत्तके नाममें क्या आप एकसे दूसरेको पृथक् कर सकते हैं। आप अनिच्छासे भी देवदत्त पुकार दें, तो पासमें बैठा देवदत्त मुड़कर आपकी ओर देखेगा ही, चाहे आपने उसे न भी बुलाया हो। फिर भगवान् तो घट-घटव्यापी हैं, उनके नामकी आप जड चीनीसे तुलना क्यों करते हैं ? जडका भी नाम पुकारनेसे आकर्षण होता है। आप नीबू-नीबू कहिये, देखिये, आपकी जिह्वामें पानी आता है या नहीं। जडका नाम अनिच्छासे लेनेपर भी आकर्षण होता है, फिर भगवन्नाम तो चैतन्यघन है।

अब रही अनिच्छा और अश्रद्धाकी बात। सो, भैया, पहले-पहल तो सभी काम अनिच्छासे ही होते हैं। लड़का पढ़ने पहले अपनी इच्छासे थोड़े ही जाता है। वहाँ जाते-जाते पढ़ने लगता है। पहले-पहले माँ बच्चेको अन्न खिलाने लगती है, तो बच्चा इच्छासे नहीं खाता; माता बलपूर्वक उसके मुँहमें ठूँस देती है। वह मुँह बनाता है, उगल देता है; किंतु माँ देना बंद नहीं करती, देती ही जाती है। थोड़ा अपने स्तनोंका दूध—जो उसे बहुत ही प्रिय है—पिलाती है बीचमें एक-दो ग्रास दाल-भात देती है। अब वह निगलने लगता है। कुछ कालमें उसकी रुचि होने लगती है। रुचि होनेसे आसक्ति बढ़ती जाती है; अब माता नहीं देती तो 'अम्मा! हप्पा' कहकर माँगता भी है। आसक्ति होनेसे बलवती इच्छा होती है; माँ नहीं खिलाती तो स्वयं ही खाने लगता है, फिर तन्मयता हो जाती है। माताका दुग्ध, जो पहले उसे अमृतके समान लगता था, जिसके छोड़नेकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता था, अब उसे विषवत् लगता है। कोई पिला दे तो वमन हो जाय। जिस अन्नके दिये जानेपर पहले वह मुँह बनाता था, अनिच्छासे कण्ठके नीचे उतारता था, अब उसके बिना वह रह नहीं सकता। स्वयं थाली लेकर चौकेमें बैठ जाता है। तनिक भी भोजनमें देरी हुई तो घरको सिरपर उठा लेता है—सबपर क्रोध करने लगता है।

यही दशा नाम-स्मरणकी है। पहले अनिच्छासे नाम लिया जाता है, लेते-लेते उसमें रुचि होती है; फिर आसक्ति, तब श्रद्धा, तदनन्तर तन्मयता। 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति।' पहले जो संसारी विषय अमृतके समान लगते थे, सोते-जागते, जपमें, पूजामें भी जिनका चिन्तन होता था, अब वे विषवत् प्रतीत होने लगते हैं। पहले मन लोकमें रहता था, अब लोकसे बाहर हो गया। अर्थात् मनमें संसारी विषयोंकी शृङ्खला बाँधनेकी शक्ति ही नहीं, जैसी पागलोंकी—विक्षिप्तों-की दशा होती है।

मेरे यहाँ पागल बहुत आते हैं। मुझे कुछ पागलोंसे प्रेम भी है। मुझे कोई पागल मिल जाय तो मैं बड़ी देर-तक उससे बेसिर-पैरकी बातें करता रहूँगा। लोग कहते भी हैं, 'महाराज तो पागलोंको देखते ही स्वयं पागल हो जाते हैं।' मैंने पागलोंकी स्थितिका अध्ययन किया है। उनमें अनेक प्रकारके होते हैं। वे बातोंकी शृङ्खला नहीं बाँध सकते।

एक बात कह दी, उसे भूल गये; अब थोड़ी देरमें उनसे पूछो तो वे बता नहीं सकते। जो बात उनके मनमें बैठी होगी, जिसे लेकर वे पागल हुए होंगे, उस बातको बार-बार कहेंगे। यही दशा नाम-स्मरणवालोंकी अन्तमें हो जाती है; क्योंकि नाम लेते-लेते उनके अन्तःकरणपर उसकी उसी प्रकार रेखा-सी खिंचती जाती है, जैसे रेकर्ड भरते समय तवेपर गानेकी रेखाकृति उभरती रहती है। मनमें जाने कितने जन्मोंका कचरा भरा है। पहले तो नामका प्रभाव उस कचरेको दूर करता है।

जैसे समझिये—दो घर हैं। एक घर तो टूटा-फूटा ऐसा पड़ा है कि उसमें वर्षोंसे कोई नहीं रहा, कभी झाड़ू नहीं लगी; दूसरा ऐसा है जो लिपा-पुता एवं स्वच्छ है। एक आदमी उसमें रहने जाता है, जो लिपा-पुता एवं स्वच्छ है। उसमें तो जाते ही वह अपना सामान जमा लेता और आनन्दसे रहने लगता है। दूसरेमें, जो वर्षोंसे उपेक्षित पड़ा है, उसमें रहने जाओगे तो महीनों तो उसे रहनेयोग्य बनानेमें लग जायँगे। पहले राज लगाकर टूटे-फूटेको जोड़ना होगा, फिर लिपाई-पुताई करके उसे स्वच्छ करना होगा; इसप्रकार बहुत दिनोंमें वह रहनेयोग्य बनेगा। रहने लग जानेपर तो अधिकाधिक नित्य-नित्य उसकी स्वच्छता होती जायगी। इसी प्रकार जिनका अन्तःकरण स्वच्छ है, उनपर तो नामस्मरणका प्रभाव तत्काल पड़ता है; किंतु जो मलिन हृदयके लोग हैं, नाम पहले उनके मलको धोता है, तब अपना आसन जमाता है; नाम-स्मरण कभी व्यर्थ तो जाता ही नहीं, आप चाहे जैसे लें, चाहे जैसे सेवन करें। इसका जहाँ रस मिल गया, चसका लग गया, फिर यह छोड़नेसे भी नहीं छूटता। ठीक उसी प्रकार, जैसे भँगेड़ी-गँजेड़ीका व्यसन नहीं छूटता। आप सुनकर आश्चर्य करेंगे, एक महात्मा मैंने ऐसे देखे, जो छः मासे संखिया नित्य खाते थे। कोई भी छः मासे संखिया खा ले तो तुरंत मर जाय, किंतु वे डेढ़ सौ वर्षके थे। मैंने अपनी आँखों उन्हें देखा है। केदारनाथके पास जहाँ ऊखीमठ है, वहीं मन्दाकिनी-के उस पार शोणितपुर गाँव है, जिसे बाणासुरकी राजधानी बताते हैं। उसीके समीप वे रहते थे। मैं वहाँ गया। मैंने कहा—'महाराज! मेरे योग्य सेवा बताइये।' वे बोले—'हमें आधा सेर मिठा (संखिया) भेज देना। उधर संखिया-के बहुत पेड़ होते हैं।' मैंने कहा—'महाराज! मेरे वशकी यह बात नहीं, कोई दूसरी सेवा बताइये।'

उनसे मैंने पूछा—'आप कैसे इतना संखिया पचा लेते हैं?' उन्होंने कहा—'भाई! इसमें कोई विशेष बात नहीं। अभ्यासके ऊपर निर्भर है, नित्यके अभ्याससे सब सम्भव है। पहले हम लोहेकी एक सलाईको संखियेमें डालकर उसकी पत्थरपर लकीर खींचते और उसे चाटते, फिर दो लकीर चाटने लगे। फिर थोड़ा-थोड़ा खाने लगे। अब हमपर छः मासेका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। हमारी प्रकृतिने उसे आत्मसात् कर लिया है।

जब नाम साधकको आत्मसात् कर ले, जब नामके बिना एक क्षण भी उससे रहा न जाय, तभी समझना चाहिये कि नामनरेशने उसके अन्तःकरणमें अपना प्रभाव जमा लिया, वे हृदयदेशमें आकर जमकर बैठ गये। उस समय दो प्रकारकी स्थिति होती है—या तो उसका शरीर छूट जायगा या वह लोकबाह्य बन जायगा। शरीर छूटनेका कारण तो यह होता है कि वह एक लव भी नाम-स्मरणके बिना रह नहीं सकता। अन्न-जलको भीतर ले जानेके लिये मुँह चलाना पड़ता है, इतनी देर उसे नाम-स्मरणसे वञ्चित रहना पड़ता है, इससे वह खाता नहीं। अच्छा, यदि वह न भी खाय तो दूध आदि ही पी ले; किंतु दूधको भी तो निगलना होता है, इतने समयतक वह नाम-स्मरणसे विमुख कैसे रहे। इससे प्रारब्धवश जबतक शरीर चलनेको होता है, चलता रहता है; अन्ततोगत्वा अन्न-जलके अभावमें गिर जाता है। श्रीमद्भागवतने ऐसे भक्तको 'वैष्णवाग्र्य' कहा है। उनका लक्षण बताते हुए भागवतकार कहते हैं—कोई उनसे आकर कहे कि 'हम आपको त्रिभुवनका राज्य देते हैं अर्थात् इन्द्र बनाये देते हैं, आप एक काम कीजिये—आधे क्षणके लिये, आधे पलके लिये भी भगवत्-चिन्तन—नाम-स्मरणसे चित्तको हटाकर यह केसर-इलायचीसे युक्त मिश्रीमिश्रित दूध पी लीजिये, इसका स्वाद चख लीजिये,' तथापि जो आधे लवके लिये भी अपने मनको भगवान्‌की ओरसे हटा नहीं सकता, उन्हींके स्मरण-चिन्तनमें तैलधारावत् विभोर रहता है, वही वैष्णवाग्र्य है।*

ऐसे वैष्णवाग्र्यके लक्षण और भाव तो कहे ही नहीं जा सकते। इनसे भिन्न एक दूसरे प्रकारके भी नामानुरागी होते हैं। उन्हें लोकबाह्य कहना चाहिये। वे साधारणतया शरीर-सम्बन्धी सभी कार्य करते हैं। खिलानेपर खा लेते हैं, बात पूछनेपर बातका उत्तर भी दे देते हैं; किंतु उनकी वृत्ति संसारसे—लौकिक व्यापारोंसे सदा ऊँची उठी रहती है।

---

* त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ५३)

इनका कहना-सुनना, लिखना-पढ़ना—सब कुछ भगवान्के सम्बन्धमें होता है, जैसे देखनेमें वे विक्षिप्त-से दिखायी देते हैं। महात्मा कबीरदासने ऐसे ही दो प्रकारके नामानुरागियोंके सम्बन्धमें कहा है—

बिरह भुवंगम तन डसा, मंत्र न लागै कोय।
नाम बियोगी ना जिये, जिये तो बाउर होय॥

नाम-वियोगी या तो जीवित नहीं रहता; यदि जीवित रहता भी है, तो उसकी सारी चेष्टाएँ पागल-विक्षिप्तोंकी-सी हो जाती हैं।

अपने बाल्यकालमें हम वृन्दावनके सम्बन्धमें सुना करते थे कि वहाँ सेवाकुञ्जमें नित्य रात्रिमें दिव्य रास होता है; जो रात्रिमें वहाँ रह जाता है, उसे भगवान्की रासलीलाके दर्शन हो जाते हैं; तदनन्तर या तो वह मर जाता है या पागल अथवा गूँगा हो जाता है। यह निरी जनश्रुति नहीं थी। बहुत-से आदमी वास्तवमें मर गये, कुछ पागल भी हो गये। तब इसका रहस्य समझमें नहीं आता था। अब भी इसे पूरा समझ गये हों ऐसी बात तो नहीं है; किंतु कुछ पढ़ने-लिखनेसे, साधु-महात्माओंके सत्सङ्गसे अब कुछ-कुछ समझमें आने लगा है कि यह बात सोलहो आने सत्य है।

सबने ही अपने जीवनमें अनुभव किया होगा कि जो कोई अपना अत्यन्त स्नेही होता है, जिसके प्रति अपना अत्यन्त अनुराग होता है, उसका यदि वियोग हो जाय तो मन कैसा खोया-खोया-सा रहता है, सब शून्य-सा दिखायी देने लगता है, निरन्तर उसीकी स्मृति हृदय-पटलपर खेलती रहती है। अन्न-पानीमें रुचि नहीं रह जाती। जी चाहता है, दौड़कर उसके पास पहुँच जायँ; उस समय हम सोचते हैं कि यदि हमारे पंख लग जाते तो हम उड़कर उसे पकड़ लेते। जिनका हृदय बहुत कठोर हो, उनकी बात तो मैं कहता नहीं; किंतु न्यूनाधिकरूपसे अपने स्नेहीके वियोगमें सभीकी ऐसी दशा होती है। हृदय गीला-गीला-सा हो जाता है, उसमें इस प्रकार ऐंठन होने लगती है, जैसे कोई गीले कपड़ेको निचोड़ रहा हो।

जिसे एक बार भगवान्की रूप-माधुरीके दर्शन हो गये, अथवा जिसे एक बार भगवन्नाम-स्मरणका स्वाद मिल गया, फिर किसी कारणवश दर्शन या नामस्मरण छूट गया तो उसके मनमें जो टीस होती है, उसीको भाव कहते हैं। उस भाव-वेशमें भक्त नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करने लगता है। उन्मत्त स्थिति हो जानेसे उसे बाह्य प्रकृतिका तो ध्यान रहता नहीं।

दर्शन या नाममें अत्यधिक अनुराग हो [illegible] लोभ बढ़ता जाता है। [illegible] पति लोग होते हैं, करोड़ रुपये [illegible] उन्हें खाने-पहननेमें ही हमारी अपेक्षा अधिक सुख मिलता है। उन्हें सुख इसी भावनामें मिलता है कि हमारा धन और बढ़े, और बढ़े, बैंकमें हमारा द्रव्य और अधिक हो। बैंकमें करोड़ों रुपये पहलेसे ही जमा रहते ही हैं; किंतु धनका प्रेमी चाहता है कि सारा रुपया मेरे नामसे ही जमा हो, मेरा ही हिसाब सबसे बढ़े। धन चाहे कितना ही बढ़ता जाय, उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती, दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ती जाती है।

यही दशा नामप्रेमीकी है; वह चाहता है मुझसे नाम-स्मरण छूटे ही नहीं—निरन्तर नाम-स्मरण होता रहे। वह भविष्यकी बात नहीं सोचता। भूतकालकी भी सारी बातें भूल जाता है, याद तो तब आये, जब उसमें आसक्ति हो। आप नित्य ही स्वप्न देखते हैं, किंतु बता नहीं सकते चार दिन पहले आपने क्या स्वप्न देखा था; क्योंकि सामान्यतया नित्य देखे हुए स्वप्नोंको हम उसी दिन भूल जाते हैं। हाँ, कोई विलक्षण स्वप्न हुआ तो उसकी स्मृति सदा बनी रहती है। इसी प्रकार नामानुरागीको जो एक बार भगवत्-दर्शन हुआ हो या नाम-स्मरणमें रस आया हो, उसकी स्मृति तो उसे निरन्तर बनी रहेगी; किंतु अन्य सभी बातोंको वह दूसरे-तीसरे दिन नहीं, क्षण-क्षणपर भूलता जाता है। उसने भोजन कर लिया है या नहीं, इसकी भी उसे स्मृति नहीं रहती। उसका यह आग्रह दृढ़तर होता जाता है कि नाम-स्मरणके बिना हमारा एक क्षण भी व्यर्थ न जाय। यद्यपि वह निरन्तर नाम-स्मरण करता रहता है, फिर भी निरन्तर उसे यह भ्रम होने लगता है कि हाय! मेरा यह क्षण व्यर्थ बीत गया, यह मेरा पल बिना स्मरणके चला गया, इसके लिये वह रोता है, चिल्लाता है, बिलबिलाता है और जोर-जोरसे कहता है—'इन अधन्य क्षणोंको हे प्रभो! तुम्हारे देखे बिना मैं कैसे बिताऊँ? हे अनाथबन्धो! करुणैकसिन्धो! मैं इस इतने भारी समयको कैसे काटूँ!'* कभी उस समयकी उसकी चेष्टाएँ विलक्षण होती हैं। कभी स्वेद, पुलक, अश्रु, गद्गद स्वर आदि अष्ट सात्त्विक [illegible]

---

* अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि हरे त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो! करुणैकसिन्धो! हा हन्त हा हन्त कथं नयामि॥

उसके शरीरमें प्रकट होते हैं; कभी वह रोता है, कभी नाचता है, कभी गाता है, कभी पूरी शक्ति लगाकर भगवन्नामोंका उच्चारण करने लगता है, कभी सोत्साह हुंकार करने लगता है, कभी-कभी भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करने लगता है। जबतक उसकी दृष्टि बाह्य रहती है, तबतक वह लोक-विरुद्ध कोई कार्य नहीं करता, सबके साथ शिष्टाचारपूर्ण व्यवहार करता है, सचेष्ट रहता है कि कोई ऐसा कार्य उसके द्वारा न हो जाय, जिसके कारण लोग उसे असभ्य, दुःशील, अशिष्ट अथवा पागल कहने लगें। किंतु जब उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है, मन भगवान्‌के नाममें या रूपमें फँस जाता है, तब फिर लोक-लाजकी उसे परवा नहीं होती। लोग कुछ कहते रहें, कुछ सोचते रहें, उस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता; वह अपनी ही धुनमें मस्त रहता है।

स्तम्भ, कम्प, स्वेद, अश्रु, स्वरभङ्ग, वैवर्ण्य, पुलक और प्रलय—ये अष्ट सात्त्विक भाव तो केवल अपने प्रिय विषय नामके स्मरणमात्रसे ही होते हैं। स्मरण करते-करते विरह होता है। प्रेमरूप दूधका विरह मक्खन है, प्रेमका परिपाक विरह ही है। विरहकी चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये दस दशाएँ हैं। इन दशाओंमें पड़नेपर ही भक्तके द्वारा नाना लोकबाह्य चेष्टाएँ होती हैं।

वह रोनेका, गानेका, नाचनेका अथवा चिल्लानेका प्रयत्न नहीं करता; आप-से-आप ये चेष्टाएँ उससे होने लगती हैं। नाम-स्मरण उसका अबाधितरूपमें सोते-जागते चलता ही रहता है; उस नामकी रेखाकृति शरीरमें पहले तो अप्रत्यक्ष और पीछे प्रत्यक्ष बनने लगती है। श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें कथा है कि जब उन्हें माता जानकीकी ओरसे बहुमूल्य मणियोंका हार पारितोषिकरूपमें दिया गया, तब वे मणियोंको दाँतोंसे फोड़कर देखने लगे। किसीने पूछा—क्या देखते हो? सरलतासे वे बोले—'देख रहा हूँ इनमें राम-नाम लिखा है या नहीं।' उसने हँसकर कहा—'तुम इतने भारी शरीरको लिये फिरते हो, इसमें राम-नाम कहाँ है?' हनुमान्‌जीने कहा—'यदि मेरे इस शरीरमें राम-नाम न होता तो मैं इसे एक क्षण भी न रखता।' यह कहकर उन्होंने अपने नखोंसे हृदय चीरकर दिखा दिया। सभीने देखा हनुमान्‌जीके शरीरमें सर्वत्र दिव्य तेजसे राम-नाम लिखा है।

हनुमान्‌जीकी बात तो बहुत पुरानी है, अभी-अभी तेरह-चौदह वर्ष पूर्व ही काशीमें एक सिद्धिमाता नामकी भक्त-महिला हो गयी हैं, जिनके सम्पूर्ण शरीरपर दिव्यतेजयुक्त ॐ प्रत्यक्ष दिखायी देता और फिर विलीन हो जाता था। जो लोग निरन्तर नाम जपते रहते हैं, उनका सोते समय भी नाम-जप निरन्तर चलता ही रहता है; क्योंकि मन तो सोता नहीं, प्राण सोते नहीं, इन्द्रियाँ भी पूरी सोतीं नहीं। यदि इन्द्रियाँ पूर्णरूपसे सो जायँ तब तो आदमी कभी सुने ही नहीं, कभी जगे ही नहीं। सोते समय भी हम सुनते हैं, किंतु ऊँचा सुनते हैं। यदि सर्वथा न सुनें तो आदमी बोलनेसे जगे ही नहीं। हमें कोई जोरसे पुकारता है, हम झट उठकर खड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार सोते समय जब हम स्वप्न देखते हैं, तब स्वप्न-जगत्‌के सुख-दुःखका अनुभव हमारा मन करता है, कभी-कभी इन्द्रियाँ भी करती हैं; स्वप्न-दोष होनेपर प्रत्यक्ष वीर्यपात हो जाता है, स्वप्नमें दुर्घटना होनेसे प्रत्यक्ष आँखोंसे अश्रु बहने लगते हैं। इसी प्रकार जिसे निरन्तर जपका अभ्यास हो गया है, उसका स्वप्नावस्थामें भी जप अपने-आप चलता रहता है।

रोना, हँसना, गाना, चिल्लाना, हुंकार देना—सब बातें सबमें नहीं होतीं। जो गम्भीर हैं, वे अपने भावोंका संवरण कर लेते हैं। संवरण करनेमें भी यत्किंचित् अभिमान तो रहता ही है। यह कारक पुरुषोंके लिये लोक-संग्रहके निमित्त आवश्यक होता है।

एक बार श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे कुलीन ग्रामके एक भक्तने वैष्णवके लक्षण पूछे। श्रीचैतन्यने कहा—'जिसके मुखसे एक बार भी भगवन्नाम निकल जाय, वही वैष्णव है।' द्वितीय वर्ष उन्होंने ही पुनः वैष्णवके लक्षण पूछे, तब महाप्रभुने कहा—'जो अहर्निश निरन्तर भगवन्नाम लेता रहे, वही वैष्णव है।' तीसरे वर्ष पूछनेपर उन्होंने कहा—'जिसे देखते ही लोगोंके मुखोंसे स्वतः ही भगवन्नामोंका उच्चारण होने लगे, वही वैष्णव है।' वास्तवमें नाम-प्रेमी वही है, जिसके संसर्गमें आनेवाले सभी नाम-प्रेमी बन जायँ। ऐसे नाम-निष्ठ संतोंके दर्शन बड़े दुर्लभ हैं। उनके चरणोंमें हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है। ऐसे संतोंके सम्बन्धमें महात्मा कबीरदास लिखते हैं—

> जो जन बिरही नामका, झीना पिंजर तासु।
> नैन न आवै नींदड़ी, अंग न जामै मासु॥
> नाम बियोगी बिकल तन, ताहि न चीन्है कोय।
> तंबोलीका पान ज्यों, दिन-दिन पीला होय॥

नाम-वियोगीकी तो बहुत उच्च दशा है, नाम-प्रेमी भी आज-कल नहीं मिलते—समयकी बलिहारी है। इतने सरल, सुगम

वेणुधर

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ४२)

नटवर-नागर

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २१ । ५)

गोपियोंके ध्येय श्याम-बलराम

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । २१ । ८)

सखाका सहारा लिये हुए श्यामसुन्दर

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २३ । २२)
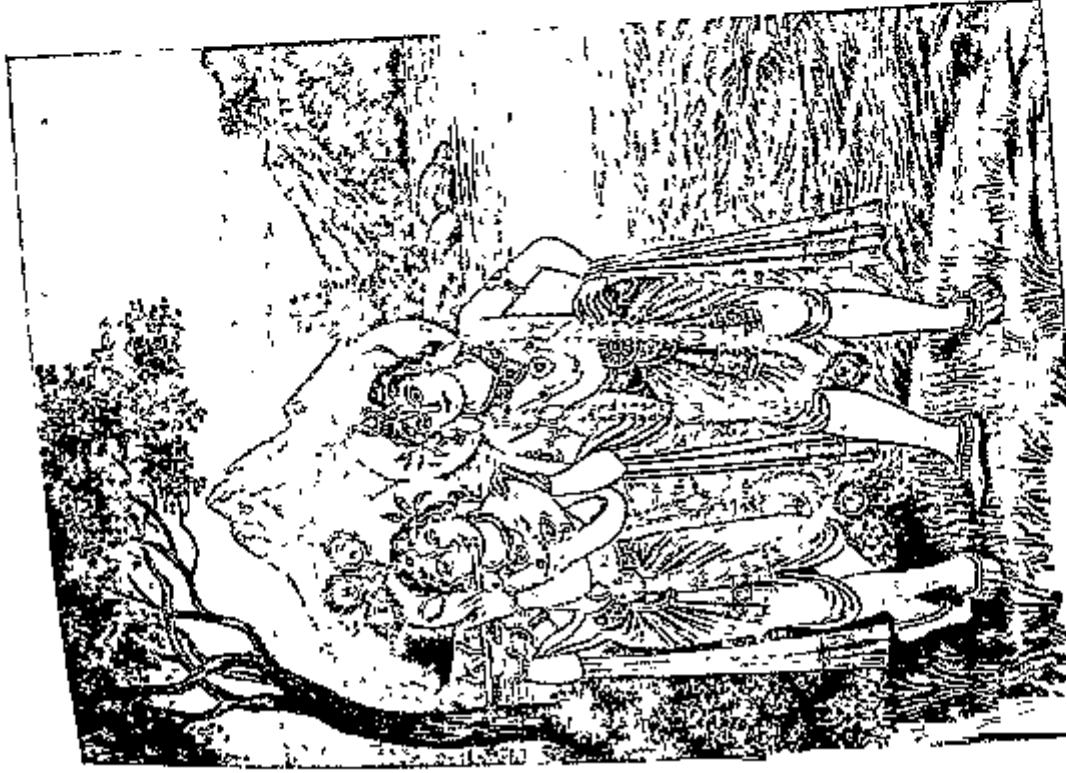
साधनमें लोगोंकी अभिरुचि नहीं होती। उन नामी श्रीहरिके पादपद्मोंमें हमारी यही प्रार्थना है कि उनके कलि-कल्मष-हारी, सर्वसुखकारी, त्रितापहारी नामोंमें हमारा अनुराग हो। लेख लिखना दूसरी बात है, नाममें प्रेम होना दूसरी बात है। वास्तविक बात तो यह है कि जिसका नाममें अनुराग हो गया हो, वह लेख लिखने-छपाने-जैसा संसारी कार्य कर ही नहीं सकता। उसे इतना अवसर ही कहाँ, यह तो हम-जैसे व्यवहारी-व्यवसायी व्यक्तियोंका काम है। कबीरदासजीने मानो हम-जैसोंको ही लक्ष्य करके यह लिखा हो—

> कागद लिखै सो कागदी, कै व्यौहारी जीव।
> आतम अच्छर का लिखै जित देखूँ तित पीव॥

अहा! इधर-उधर—जहाँ दृष्टि जाय वहीं 'पीव' दिखायी देने लगे, उसीकी माधुरी मूर्ति संसारमें सर्वत्र दृष्टिगोचर हो, मन नाम-संकीर्तनमें निरत रहे, तन विह्वल होकर तालपर थिरकता रहे, लोक-लाज, संसारी व्यवहारकी तनिक भी परवा न हो—ऐसी लोकबाह्य वृत्ति हमारी कब होगी? हे नन्दनन्दन! ऐसा वरदान दे क्यों नहीं देते?

> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
> जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
> हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
> त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

मुखसे अहर्निश निरन्तर ये ही नाम स्वतः निकलते रहें, यही गान सोते-जागते होता रहे—

> श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे
> हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

छप्पय

> कबहूँ नाचै झुमकि कबहुँ हँसि ध्यान लगावैं।
> कृष्ण! मुरारे! श्याम! नाथ! नामनि नित गावैं॥
> कबहूँ करि हुंकार प्रानप्रिय पकरन धावैं।
> करि लीला अनुकरन भाव अद्भुत दरसावैं॥
> इत चित चितचोरहि लखहि, कबहि दडवत सबनि हूँ।
> नामप्रेम भावुक भगत करत कृतारथ धरनि हूँ॥

अभक्त कोई नहीं

(लेखक—स्वामीजी श्री १०८ श्रीमदखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

पहली बात—सभी जीव सहज स्वभावसे बिना किसी विकार-संस्कारके सुख चाहते हैं—वह भी ऐसा, जो हमेशा रहे, हर जगह मिले और वही-वही हो। अर्थात् सुखमें देश, काल और वस्तुका परिच्छेद किसीको सह्य नहीं है। उसकी उपलब्धि किसी दूसरेके अधीन न हो—न व्यक्तिके न साधनके। उसका स्फुरण भी होता रहे; क्योंकि सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती। यही सम्पूर्ण जीवोंका इष्ट है। चाहे कोई आस्तिक हो, नास्तिक हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, कीट-पतंग हो, देवता हो—उसकी इच्छाका विषय यही सुख है। इसी सुखको कोई सच्चिदानन्दघन ब्रह्म कहते हैं; कोई ईश्वर, राम, कृष्ण। नाम कोई भी क्यों न हो, उससे लक्ष्यमें भेद नहीं होता। इस दृष्टिसे देखें तो संसारके सभी प्राणी ईश्वरकी प्राप्तिके इच्छुक हैं, इसलिये किसीको नवीनरूपसे इष्टका निश्चय करनेकी आवश्यकता नहीं है। इष्ट तो स्वतः सिद्ध ही है। अतः सब भक्त-ही-भक्त हैं।

दूसरी बात—कोई भी परमाणु, वह आज भले ही जडरूपसे भास रहा हो, अपनी सूक्ष्मदशामें चिदणु ही है और कभी-न-कभी उसको अपने चित्स्वरूपका अनुभव करना है। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् जीवमय ही है। क्या चर, क्या अचर, क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी—सब अपने प्रतीयमान परिच्छिन्नरूपमें जीव ही हैं। बिना उपाधिके व्यवहार सम्भव नहीं है। उपाधियाँ सब-की-सब व्यक्त हैं और वे एक अव्यक्त सत्तामें अव्यक्त ज्ञानके द्वारा प्रकाशित और संचालित हो रही हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि सब-के-सब उपाधिसे तादात्म्यापन्न जीव एक ही ईश्वरकी गोदमें स्थित हैं। उसीके ज्ञानसे आभासित हैं और उसीसे नियन्त्रित भी। उसीमें सबका सोना और जागना होता है। चलना एवं बैठना भी। उसीकी आँखसे सब देखते हैं, उसीके कानसे सुनते हैं और उसीकी बुद्धिसे विचार करते हैं। उसके बिना वे जी नहीं सकते। उसके बिना जान नहीं सकते। उस परम प्रेमास्पद रसके बिना रह नहीं सकते। इसमें भी आस्तिक-नास्तिक, ज्ञानी-अज्ञानीका कोई भेद नहीं है। स्थितिकी दृष्टिसे सब ईश्वरमें, ईश्वरसे, ईश्वरके लिये और ईश्वररूप ही हैं। जिसके द्वारा भक्त प्रेरित, धारित, चालित एवं नियन्त्रित होते हैं, उसीके द्वारा अभक्त भी। जो स्फूर्ति देता है, वही विस्मृति भी। जो सुख देता है, वही दुःख भी।

क्या किसी व्यक्तिकी स्थिति-गति इस वस्तुस्थितिका अतिक्रमण कर सकती है ?

पचीस वर्ष पूर्वकी बात है—मैं गङ्गातटवर्ती एक प्रसिद्ध सिद्ध महापुरुषके पास गया। उनसे प्रार्थना की—'गुरुदेव, आप मुझे भगवान्‌का शरणागत बना दीजिये।' महात्माजीने कहा—'बाबदु, तुम कल आना और पूर्णरूपसे विचार कर आना। ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और सूर्य-चन्द्रमा क्या भगवान्‌की शरणमें नहीं हैं ? ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्या उसीके जिलाये नहीं जी रहे हैं ? क्या ऐसी कोई कणिका है, जो उसीसे सत्ता-स्फूर्ति नहीं प्राप्त कर रही है ? तुम कल आकर बताना कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है; मैं उसीको शरणागत कर दूँगा।' ईश्वर और जीवकी चाल अलग-अलग नहीं हो सकती। ईश्वरका स्वरूप और जीवका स्वरूप, उसकी शक्ति और प्रकृति, महत्तत्त्व और बुद्धि—ये क्या भिन्न-भिन्न होने सम्भव हैं ? जिसके पञ्चभूत हैं, उसीके शरीर हैं। यह शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार—हम जो कुछ अपनेको मानते-जानते हैं, वह सब, तथा जीव जो कुछ पहले था, अब है और आगे होगा, ईश्वरका है और उसीकी शरणमें है। क्या कोई भी अनन्त सत्ता, ज्ञान और आनन्दसे पृथक् अपनेको स्थापित कर सकता है ? अशरणपना एक भ्रमजन्य भाव है। स्थितिकी दृष्टिसे भी समाधि और व्यवहार, सुषुप्ति और जाग्रत्, ज्ञान और अज्ञान—सब-के-सब एक ही कक्षामें निक्षिप्त हैं। इस दृष्टिसे विचार करनेपर भी कोई असङ्गति नहीं है।

तीसरी बात—वर्तमानमें ही हमारा इष्ट उपस्थित है और उसीमें हमारी स्थिति है। गम्भीरतासे विचार करके देखें तो हम जिस इष्टको चाहते हैं और जिस स्थितिमें पहुँचना चाहते हैं, उस इष्ट और स्थिति दोनोंको ही हम अप्राप्त मानकर चाहते हैं; परंतु अनजानमें ही अपनी गहरी अन्तश्चेतनामें उन्हें अविनाशी, पूर्ण और सर्वात्मक भी मानते हैं। यह एक विचित्र बात है। किसी भी वस्तुको सदाके लिये चाहना और उसे वर्तमान कालमें न मानना, सर्वत्र मिले—यह चाहना और विद्यमान देशमें न मानना, सर्वरूपमें पानेकी इच्छा करना और प्रतीयमान विषयमें न मानना एक बौद्धिक असङ्गति है। वर्तमानसे पृथक् कर देनेपर तो हमारा इष्ट ही देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न न रहेगा। न वह पूर्ण होगा और न तो सम्पूर्ण जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण ही। फिर तो उसे एक अतीतकी वस्तु समझकर रोयें या भविष्यकी कोई मनःकल्पित वस्तु मानकर बार-बार उसके बारेमें मानसिक कल्पना करते रहें। केवल अतीतकी स्मृति और भविष्यकी कल्पना करना वस्तुस्थितिसे आँख मूँदना है। हमारा प्यारा-प्यारा इष्ट अभी है, यहीं है और यही है। पहले भी यही और भविष्यमें भी यही। जन्म और मृत्युकी परम्पराने, जाति और भावके परिवर्तनोंने उसमें कोई अन्तर नहीं डाला है। वह अविनाशी है और ज्यों-का-त्यों है। साथ ही हम अभी, यहीं और उसीमें स्थित हैं। देवर्षि नारदने भक्तिका लक्षण करते हुए 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' इस सूत्रमें 'अस्मिन्' शब्दका प्रयोग करके यही अभिप्राय व्यक्त किया है। 'इस' शब्दके द्वारा सामने विद्यमान वर्तमान भगवान्‌की ओर ही सङ्केत है। अन्यथा बादके सूत्रमें—

यज्ज्ञात्वा स्तब्धो भवति मत्तो भवति आत्मारामो भवति।

—जिसके ज्ञानसे ही जीव स्तब्ध, मत्त और आत्माराम हो जाता है—यह न कहते।

अबतककी बातोंका निष्कर्ष यह निकला कि हमारा इष्ट दूर नहीं है और उसमें स्थिति भी अप्राप्त नहीं है। भक्तिके आचार्योंने यह नहीं माना है कि भक्ति किसी नवीन भावका उन्मेष है और इष्ट कोई सर्वथा अप्राप्त वस्तु। वे अपने इष्टको 'जन्माद्यस्य यतः' आदिके द्वारा जगत्‌का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ही मानते हैं और भक्तिको भी स्वतःसिद्ध भावका प्रादुर्भावमात्र। जीवमात्रको भगवान्‌का नित्य दास अथवा नित्य कान्ता ही वे स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थितिमें वह कौन-सी वस्तु है, जिससे रहित मानकर हम जीवको अभक्त मानें ? भक्तिसिद्धान्तमें भी नित्यप्राप्तकी प्राप्ति और नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति ही इष्ट है। जैसे देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न प्राकृत पदार्थ अप्राप्त होते हैं, भगवान् और भक्ति वैसे अप्राप्त नहीं हैं। क्या भगवान् और भक्तिकी प्रतीयमान अप्राप्ति भगवान्, उनकी कृपा और भक्तिका ही कोई विशेष भाव और आकार नहीं है ? अवश्य है; क्योंकि यही तो भगवत्प्राप्ति, प्रेम और कृपाकी प्यास अथवा लालसाकी जननी है।

चौथी बात—यह प्रत्यक्ष है कि मृत्तिका, स्वर्ण, लौह आदि धातुएँ एक होनेपर भी अनेक नाम-रूपोंसे व्यवहारका विषय बनती हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी उन नाम-रूपोंमें अपनी प्रियता और रुचिकी पृथक्ता भी देखनेमें आती है; परंतु केवल इसी

कारणसे धातुभेद कोई स्वीकार नहीं करता । यदि रुचि और प्रियताके भेदसे ही अपने अन्तःकरणमें संघर्षकी सृष्टि कर ली जाय तो वही घाव दुःखका कारण बन जाती है । एक ही भगवान् मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि आकारोंमें प्रकट होते हैं । ऐसी स्थितिमें एक आकारसे प्रेम करके क्या उनके दूसरे आकारोंसे द्वेष किया जाय ? नहीं-नहीं, वे सभी परस्पर विलक्षण होनेपर भी अपने इष्टके ही आकार हैं । इसी प्रकार हमारे हृदयमें स्थित प्रीति भी समय-समयपर परस्पर विलक्षण आकारोंमें प्रकट होती है । बच्चेको दुलारना-चूमना और चपत लगाना क्या दोनों ही मोंके वात्सल्यकी अभिव्यक्ति नहीं हैं ? पति-पत्नीका परस्पर मान करना भी तो प्रेम ही है । इसी प्रकार भक्तिके भी अनन्त रूप और अनन्त नाम हैं । हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुसे अधिक भगवान्‌का विरोधी और कौन होगा? परन्तु वे दोनों भी जय-विजयके ही, जो कि भगवान्‌के नित्य पार्षद हैं, मूर्तरूप थे । कथा है कि एक बार भगवान्‌के मनमें किसीसे द्वन्द्वयुद्ध करनेकी इच्छा हुई; परंतु उनसे युद्ध कर सके, ऐसा संसारमें कोई नहीं था । जय-विजयने अपने स्वामीका संकल्प देखा और अनुभव किया कि हमारे सर्वशक्तिमान् प्रभुमें अपनी इस इच्छाको पूर्ण करनेकी सामर्थ्य नहीं है । अपने प्रभुकी इस शक्ति-न्यूनतासे उन्हें दुःख हुआ । इसीलिये वे भगवान्‌का संकल्प पूर्ण करनेके लिये और उनकी प्रतीयमान अपूर्णताका कलङ्क-मार्जन करनेके लिये तथा इस रूपमें एक विशेष प्रकारकी सेवा करनेके लिये प्रेमसे ही असुरके रूपमें प्रकट हुए । भक्तिका यह उत्कृष्ट रूप अपनी प्रियता और रुचिका त्याग करके प्रभुकी प्रियता और रुचिके प्रति आत्मबलिके बिना किसीको प्राप्त नहीं हो सकता । यह बात भी तो प्रसिद्ध है कि कैकेयीने रामकी प्रसन्नता और सुखके लिये ही दशरथसे उनके वनवासका वरदान माँगा था । श्रीमद्भागवतमें ही भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय आदिको भी तन्मयता और कल्याणका हेतु बताया गया है । किस जीवके हृदयमें भगवान्‌ने अपना कौन-सा आकार प्रकट कर रखा है और स्वयंप्रकाश, स्वच्छन्द-प्रकृति भक्ति-महारानी कौन-सी वेष-भूषा धारण करके किस भाव, आकार और क्रियाके रूपमें अपनी उच्छृङ्खल लीला कर रही हैं—इसको पहचाननेका कौन दावा कर सकता है ?

पाँचवीं बात—सत्ययुग आदि कालभेद, पूर्व-पश्चिम, बाहर-भीतर आदि देशभेद, भिन्न-भिन्न आचार्योंके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायभेद भी भक्तिको छिन्न-भिन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि भक्ति सर्वकालमें, सर्वदेशमें और सर्वसम्प्रदायमें केवल मनुष्योंके ही नहीं, सम्पूर्ण जीवोंके हृदयमें उनके अभीष्ट परमानन्दकी प्रकट अभिव्यक्ति है । वह महाविश्वास, परम-प्रेममय दिव्यरसके रूपमें अव्याहत अमृतस्वरूपसे प्रवाहित रहती है । कभी कहीं किन्हीं लोगोंमें अभक्तके रूपमें तो कहीं बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग पूजा-उपासनाके रूपमें तो दूसरी जगह योगाभ्यास एवं गौरवमयी, सम्बन्धमयी भावधाराके रूपमें, अन्यत्र व्याकुलता, तत्त्वजिज्ञासा और तत्त्वानुभूतिके रूपमें भी वही अपना मधुर-मधुर नृत्य-संगीतमय पाद-विन्यास कर रही है । समाधि और विक्षेपका भेद होनेपर भी वह दोनोंमें ही एकरस अनुस्यूत रहती है । उसे ज्ञानी और अज्ञानी भी पहचान नहीं है । सृष्टि और प्रलय दोनों ही उसके विलास हैं । जो बालक अपने पिताकी गोदमें बैठकर स्वीकार करता है कि तुम मेरे पिता हो, वह तो पुत्र है ही; जो उसकी दाढ़ी मूँछ पकड़कर खींचता है, नाकमें अँगुली डालता है, अपने पिताको पिता न मानकर उसके मित्रको पिता बतलाता है या भोलेपनसे किसीको पिता स्वीकार ही नहीं करता, वह भी पुत्र ही है । इसमें देश-विदेश, जाति, कुल-परम्परा आदिके भेद क्या बिगाड़ सकते हैं !

जैसे भिन्न-भिन्न बीज अथवा शरीर पञ्चभूतोंसे अन्न, रस, उष्णता, प्रकाश, प्राण और अवकाश लेकर जीवन धारण करते हैं, बिना समष्टिकी सत्ता और शक्तिके कोई व्यष्टि जीवित रह ही नहीं सकती, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके रूपमें व्यवहार करनेवाले जीव भी अनन्त सत्ता, शक्ति, चेतन और आनन्दसे सम्बद्ध हुए बिना—उससे जीवन, प्रेम और प्रकाश प्राप्त किये बिना रह ही नहीं सकते । यह जो उपजीव्य-उपजीवक अथवा आश्रय-आश्रित भाव है, इतना प्रत्यक्ष है कि खुली आँखसे और बिना आँखके भी देखा जा सकता है । इसलिये भगवान्‌से कोई विभक्त है अथवा वस्तुतः उनका कोई अभक्त है, यह कल्पना मूलसे ही है और यही अन्तःकरणमें राग-द्वेषकी सृष्टि करके दुःख देती रहती है । अवश्य ही यह दुःख भी, यह दोष-दर्शन भी एक दिन वैराग्यका हेतु बनकर ऐसा अनुभव करायेगा जिसमें नहीं रहेगा कि मैं भी भक्तिकी ही एक अनिर्वचनीय लीला हूँ ।

छठी बात—जीवके मनमें विषयभोग, कर्म और अभिमानकी वृद्धिके लिये अनेकों इच्छाएँ होती रहती हैं । कभी-कभी उनसे बचनेकी भी इच्छा होती है; परंतु संसारमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो अपनी सब इच्छाओंको युगपत्

या क्रमसे पूर्ण कर सके। उसमें उचित-अनुचित, आवश्यक-अनावश्यक, पहले-पीछे आदिका भेद करके काट-छाँट करनी पड़ती है। विवेकपूर्वक की हुई इच्छापूर्तिमें त्याग उपस्थित रहता है, इसलिये सुख भी। अविवेकपूर्वक की हुई इच्छा-पूर्तिमें नियन्त्रणका अभाव उपस्थित रहता है, अतएव दुःख भी। जीवको कभी आत्मतुष्टि होती है और कभी आत्मग्लानि। भूल सहजरूपसे जीवके मनको अभिभूत कर देती है। वह दुखी होता है अपनी वर्तमान रहनीको देखकर। यह ठीक भी है; परंतु ईश्वर उसकी भूल नहीं, उसके इष्ट और भावको देखता है। ईश्वर जानता है कि यह सच्चे सुखकी अर्थात् मेरी प्राप्तिके लिये ही व्याकुल हो रहा है और पथभ्रष्ट हो गया है। यदि प्रेमसे अपने पास आनेवाला कोई व्यक्ति मार्ग भूल जाता है, उद्देश्य और अभिप्राय पवित्र होनेपर भी कोई ग़लत कदम उठा लेता है, तो क्या केवल इसी अपराधसे ईश्वर रुष्ट हो जायगा? जीवोंके अपराधसे यदि इस प्रकार ईश्वर रुष्ट होने लगे तो ईश्वर केवल रोषमय-ही-रोषमय रहेगा। अनन्त जीव, एक-एक जीवके अनन्त-अनन्त अपराध। प्रेममय ईश्वर अपनेको उनकी स्मृतियोंमें उलझाकर कौन-सी सुख-समाधि उपलब्ध करेगा? एक सज्जनने किसी महात्मासे पूछा—'ईश्वर मुझपर रुष्ट है या तुष्ट?' महात्माने कहा—'तुम स्वयं अपने ऊपर रुष्ट हो या तुष्ट?' वस्तुतः ईश्वर कहीं अलग बैठकर रोष-तोष नहीं करता। वह तो जीवकी आत्मानुभूतिके साथ ही एक हो रहा है। जब मयूर अपने रूप-सौन्दर्यसे आह्लादित न होकर शारिकाकी वाङ्माधुरीके लिये लालायित होता है और शारिका अपनी कोमल वाणीसे आह्लादित न होकर मयूरके रूप-सौन्दर्यके लिये अभिलाषा करती है, तब ईश्वर दोनोंके मनोभावको ही देखता और समझता है कि ये दोनों ही अपने-अपनेमें अपूर्णता अनुभव करके मेरी पूर्णता प्राप्त करनेके इच्छुक हैं और मेरे भक्त हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि ईश्वरकी दृष्टिसे भी सब जीव उसीके स्वरूप तथा उसीके प्रेमी भक्त हैं। वे किसी भी अवस्थामें उसके वात्सल्यभरे उत्सङ्ग और प्रेममयी कृपासे वञ्चित नहीं हैं। वह अपने ही प्राणोंसे इन्हें प्राण देता है और अपनी ही आँखोंकी रोशनी। अपने ही रससे तृप्त करता है और अपनी ही आत्माके रूपमें अनुभव करता है। कहीं किसीको अपने ही अङ्गोंमें पक्षपात या निर्दयताका भाव होता है? आजतक ईश्वरने किसीको अभक्त समझकर अपनी दी हुई सुख-सुविधाओंसे वञ्चित किया है?

सातवीं बात—यह देखनेमें आता है कि भक्तोंके साधन, अभ्यास, मन्त्र, नाम, रूप, भाव आदि अलग-अलग होते हैं। परंतु इस भेदसे भक्तिभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। किसी एक महाराजाके अनेक सेवक हों तो यह आग्रह करना कि सब एक ही पद्धतिसे एक ही प्रकारकी सेवा करें—व्यर्थ ही नहीं अनुचित भी है; क्योंकि समय, स्थान, रुचि, वस्तु, शक्ति, व्यक्ति, अवस्था आदिके भेदसे सेवाके अनेकों रूप अपेक्षित होते हैं। भोजनकी सेवा अलग और चरणकी सेवा अलग। यदि सभी सेवक यह आग्रह करने लग जायँ कि जिस भावकी जैसी सेवा मैं करता हूँ, वैसी ही सेवा सब करें तो केवल सेवकोंको ही नहीं, सेव्यको भी उद्वेग होगा। कर्ता, करण, उपकरण, सम्बन्ध, भावना, बुद्धि और स्थिति—ये सब सबके एक-से नहीं हो सकते। वेष-भूषा, माला-चन्दन सबके एक-से हों, सब प्रभु-प्रभु या प्यारे-प्यारे ही पुकारते रहें, सब राम-राम या श्याम-श्याम अथवा शिवोऽहम्, शिवोऽहम् ही रटा करें—इन सब छोटे-मोटे आग्रहोंसे भक्ति-भाव आबद्ध नहीं है। वह तो विदूषक या उद्धत वेषकी, जटी या मुण्डीकी, स्तुति या जनकपुर-बरसानेवालोंकी अटपटी गालीकी, चरणोंमें पड़ने या श्रीदामाकी भाँति अपना वाहन बनानेकी विलक्षण क्रियाओंकी परवा किये बिना सर्वत्र अपने अखण्ड साम्राज्यपदपर ही आरूढ़ रहता है। हम किसीको अभक्त तो तब मान बैठते हैं जब हमारा चित्त पूर्वाग्रहके भारसे जर्जर, कुछ सीमित संस्कारोंसे आक्रान्त अथवा सूक्ष्मग्राहिणी बुद्धिसे परित्यक्त होता है; परंतु इस दशामें भी अपनी निष्ठामें अनन्यताका रूप ग्रहण करके भक्ति विद्यमान रहती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सिद्धान्तरूपसे भगवान्‌को सर्वात्मा स्वीकार करनेके बाद भी कोई भगवान्‌का विरोधी या अभक्त कैसे मालूम पड़ता है?

आठवीं बात—मूर्च्छा-सुषुप्ति, मृत्यु-प्रलय, निःसंकल्पता, समाधि—इनमेंसे कोई भी अवस्था भक्तिरहित नहीं होती। एक तो इनमें जाग्रत् और स्वप्नके प्रपञ्चका भान न होनेपर भी अनजानमें ही चित्तवृत्ति अपने आश्रयभूत सत्स्वरूप परमात्माका आलिङ्गन करके उसीमें स्थित रहती है, दूसरे इन स्थितियोंसे किसी भी बीजका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। जैसे बटके नन्हे-से बीजमें विशाल वृक्षकी छोटी-मोटी शाखाएँ, पल्लव, पुष्प, फल आदि सभी विशेषताएँ समायी रहती हैं, उसी प्रकार इन अवस्थाओंमें भी सभी पदार्थ बीजरूपसे विद्यमान रहते हैं। न केवल इसी जन्मके संस्कार प्रत्युत अनादि कालसे अबतक सभी अतीत जन्मोंके संस्कार और आगामी

असंख्य जन्मोंके बीज-संस्कार भी उनमें ही सिमटे रहते हैं; क्योंकि वे सभी अवस्थाएँ कारणरूप ही हैं। न ऐसा कह सकते हैं कि किसी जीवके अन्तःकरणमें अनादि कालसे अनुवृत्त जन्म-मृत्यु-परम्परामें कभी भक्तिभावका आविर्भाव नहीं हुआ और न तो ऐसा ही कह सकते हैं कि आगे भी नहीं होगा। इसलिये वर्तमानमें किसीको भी भक्ति-संस्कारसे शून्य कहना या समझना कैसे उचित हो सकता है? यह बात दूसरी है कि किसी व्यक्तिके वर्तमान जीवनमें अपनी निष्ठा, मान्यता, रुचि एवं ग्रन्थविशेषके अनुसार भक्तिकी वेष-भूषा और रंग-रूप प्रकट करनेके लिये वैसा कह रहे हों। अपनेमें भक्तिके अभावका अनुभव करना भक्तिकी प्यास है और दूसरोंमें भक्तिके अभावका अनुभव करना उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार भक्तिसे युक्त देखनेका संकल्प है। इस दृष्टिसे भी संसारका कोई भी जीव वस्तुतः अभक्त नहीं है।

नवीं बात—ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानसे भी भक्तिकी कोई हानि नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे केवल अविद्याकी ही निवृत्ति होती है, भान अथवा व्यवहारकी नहीं। जिस उपाधिके कारण भेदकी प्रतीति अथवा व्यवहार हो रहे हैं, वह उपाधि जबतक प्रतीत होती रहेगी, जबतक रहेगी, तबतक उसके गुणधर्म भी रहेंगे ही। उपाधि जब निस्संकल्प होकर अपने आश्रयमें स्थित रहती है, तब शान्त-रस है। जब वह कर्म-परायण है, तब दास्य-रस है। जब वह सम्पूर्ण जीवोंके प्रति सद्भावसे युक्त है, तब सख्य-रस है। जब वह ध्येयरूपसे अपने उत्सङ्गमें ही केवल चेतनको विषय करती है, तब वात्सल्य-रस होता है और जब वह आश्रय और विषयके रूपमें स्थित अद्वितीय चैतन्यका आलिङ्गन करती और उससे आलिङ्गित होती है, तब मधुर-रस होता है। उपाधि चाहे ज्ञानीकी हो या अज्ञानीकी, उसके सारे खेल ही परब्रह्म परमात्मामें हो रहे हैं। वह जिस अधिष्ठानमें अध्यस्त है और जिस स्वयंप्रकाश सर्वावभासक चेतनके द्वारा प्रकाशित हो रही है, वे दोनों अधिष्ठान और प्रकाशक वस्तुतः दो नहीं हैं, अद्वितीय ब्रह्म ही हैं। यह अद्वितीयता भी विलक्षण है। एक-एकका योग दो हो जाता है, परंतु अद्वितीय-अद्वितीय मिलकर दो नहीं होते। भाव-अभाव आदिके द्वन्द्वमें प्रतियोगी रहता है, परंतु ब्रह्मका कोई प्रतियोगी नहीं है। ऐसी वस्तु-स्थितिमें द्रष्टा और अधिष्ठानमें भेद-बुद्धि रहनेतक ही उपाधि सत्य जान पड़ती है। भेद-बुद्धिके निवृत्त होते ही उपाधि भी ब्रह्म-रूप ही है; क्योंकि अधिष्ठानसे अध्यस्त और प्रकाशकसे प्रकाश्य भिन्न नहीं होता। फिर तो यही कहना पड़ेगा कि भक्ति ब्रह्मरूप ही है।

अद्वैत-वेदान्तमें साधनका विचार करते समय यह स्पष्ट-रूपसे स्वीकार किया गया है कि ईश्वर-कृपासे ही अद्वैतमें रुचि होती है। ईश्वरमें रागात्मिका भक्तिका उदय होनेसे संसारके राग-द्वेष निवृत्त हो जाते हैं। राग होनेसे वस्तुके दोषका पता नहीं चलता, द्वेष होनेसे गुणका ज्ञान नहीं होता। इसलिये अन्तःकरण-को राग-द्वेषशून्य करनेके लिये भगवद्भक्तिकी आवश्यकता सर्वमान्य है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जब पदार्थका तात्त्विक अनुसंधान प्रारम्भ होता है, तब तत्-पदार्थके शोधनमें जो विशेष रुचि है, उसे ही भगवद्भक्ति कहते हैं। त्वं-पदार्थके अनुसंधानमें जो रुचि है, उसे आत्मरति कहते हैं। प्रधान-तया उपाधिके विवेकमें न्याय-मीमांसा, तत्-पदार्थके विवेकमें भक्तिशास्त्र और त्वं-पदार्थके विवेकमें सांख्य-योग अत्यन्त उपयोगी हैं। किसी-न-किसी कक्षामें सभी सम्प्रदाय और शास्त्रोंका उपयोग है। जिनके विचारसे तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थ अलग-अलग रहते हैं, उनके लिये भगवद्भक्ति और आत्मरतिमें भेद रहता है। जब दोनों पदार्थोंके ऐक्यका बोध होता है, तब आत्मा और परमात्माके एक होनेके कारण आत्मरति और भगवद्भक्ति भी एक ही स्थितिकी वाचक हो जाती हैं। उसे ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। इस प्रकार बहिरङ्ग साधनसे लेकर ब्राह्मी स्थितिपर्यन्त एक ही भक्तिदेवी अपनी साज-सज्जा, आकार-प्रकार बदल-बदलकर अनेक नाम-रूपोंमें प्रकट होती रहती हैं और भिन्न-भिन्न स्थितियोंके रूपमें विवर्तमान होती रहती है। चित्त-वृत्तिका सत्य, ज्ञान-मान, सुखरूप तत्त्वमें जो सहज पक्षपात है, उसीका नाम भक्ति है और वह किसी भी जीवको किसी भी अवस्थामें कभी प्रकट और कभी गुप्त रहकर अपनी उपस्थितिसे वञ्चित नहीं करती। और तत्त्व-दृष्टिसे तो सब ब्रह्म ही है। इसलिये भक्ति भी असंदिग्ध और अविनश्वररूपसे ब्रह्म ही है।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रामचरित॰ बाल॰)

प्रार्थनाका महत्त्व

(लेखक—श्री १०८ श्रीस्वामी नारदानन्दजी सरस्वती महाराज)

सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्।
(ऋग्वेद)

प्रार्थनासे बुद्धि शुद्ध होती है। देवताओंकी प्रार्थनासे दैवीशक्ति प्राप्त होती है। द्रौपदीकी प्रार्थनासे सूर्य-भगवान्ने दिव्य बटलोई दी थी। नल-नीलको प्रार्थनासे पत्थर तैरानेकी शक्ति प्राप्त हुई थी। महात्मा तुलसीदासजीको श्रीपवन-सुत हनुमान्जीसे प्रार्थना करनेपर भगवान् रामके दर्शन हुए, भगवान्से प्रार्थना करनेपर डाकू रत्नाकरकी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध हो गयी। वे वाल्मीकि ऋषिके नामसे प्रसिद्ध हुए और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उनको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। वर्तमान समयमें भी प्रार्थनासे लाभ उठानेवाले बहुत लोग हो चुके हैं और अब भी हैं।

प्रार्थना करनेसे शारीरिक क्लेशोंका भी शमन होता है। प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीकी बाँहमें असहनीय पीड़ा हो रही थी, श्रीहनुमान्जीसे प्रार्थना करनेपर अर्थात् उन्हें 'हनुमान-बाहुक' सुनाते ही सारी पीड़ा शान्त हो गयी। प्रार्थनासे कामनाकी पूर्ति होती है। राजा मनुकी प्रार्थनापर भगवान्ने पुत्ररूपसे उनके गृहमें अवतार लेनेकी स्वीकृति दी। सत्यनारायणकी कथामें लिखा है कि दरिद्र लकड़-हारेकी प्रार्थनापर भगवान्ने उसे सम्पत्तिशाली बना दिया। प्रार्थनाके द्वारा मनुष्योंमें परस्पर प्रेम उत्पन्न होता है। प्रार्थना एकताके लिये सुदृढ़ सूत्र है। ईंटके टुकड़ों तथा बालूसे मन्दिर बनाना असम्भव-सा है। पर यदि उसमें सीमेंट मिला दी जाय तो सभी बालूके कण एवं ईंटें एक शिलाके समान जुड़ जाती हैं। वर्तमान समयमें देखा गया है कि मनुष्योंके जिन समुदायोंमें निश्चित प्रार्थना निश्चित समय और निश्चित स्थानपर होती है, ऐसे समुदायोंको तोड़नेके लिये बड़ी-बड़ी प्रबल शक्तियाँ जुटीं, परंतु उन्हें भिन्न करनेमें असमर्थ सिद्ध हुईं। वर्तमान युगमें भी ऐसी घटनाएँ हो चुकी हैं, प्राचीन-कालमें भी हुई हैं।

एक समय रावणादि राक्षसोंके घोर उपद्रवसे त्रस्त होकर देवी स्वभावके प्राणी—सुर, मुनि, गन्धर्व आदि हिमालयकी कन्दराओंमें छिप रहे थे—

रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥

रावणकी योजना थी—'हमरे बैरी बिबुध बरूथा। तिन्ह कर मरन एक बिधि होई।'

'द्विजभोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥'

'छुधा छीन बलहीन सुर सहजेहिं मिलिहहिं आइ।
तब मारिहउँ कि छाड़िहउँ भली भाँति अपनाइ॥'

इस श्रुति-सत-विरोधी योजनाको सुनकर ऋषि, मुनि, देवता घबराये और उन्होंने एक सभाका आयोजन किया, जिसमें आशुतोष भगवान् शंकर भी पधारे थे।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥

वे सोचने लगे—'आसुरी समुदाय दैवी समुदायको विनष्ट करनेपर तुला हुआ है। उससे त्राण पानेके लिये किस साधन-को अपनाया जाय? हम सब दीन, हीन, असहाय दीनबन्धु भगवान्को कहाँ ढूँढ़ें?'

पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

परिणाम यह हुआ कि सभामें कई भिन्न मत हो गये। इस विघटनकी दशाको देखकर अहैतुकी कृपा करने-वाले भगवान् शंकर बोले—

तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

शंकरजीने बताया कि 'ऐसे विकट समयमें भगवान्को ढूँढ़ने कोई कहीं न जाय। सब सम्मिलित होकर आर्त हृदय-से भाव-पूर्ण एक ही प्रार्थना एक साथ करें। भक्तवत्सल भगवान् तुरत ही आश्वासन देंगे।' यह मत सभीको अच्छा लगा और सभी नेत्रोंमें जल भरे हुए तथा अश्रुबिन्दु गिराते हुए गद्गद कण्ठसे करबद्ध होकर 'जय जय सुरनायक' आदि प्रार्थना करने लगे—

'जय जय सुरनायक जनसुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई॥
जय जय अबिनासी सब घट बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंदा॥

जेहिं लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा ।
निसि बासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानंदा ॥
जेहिं सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा ।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिअ भगति न पूजा ॥
जो भव भय भंजन मुनिमन रंजन गंजन बिपति बरूथा ।
मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर जूथा ॥
सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना ।
जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना ॥
भव बारिधि मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुख पुंजा ।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा ॥'

वह शक्ति हमें दो दयानिधे ! कर्तव्य-मार्गपर डट जावें ।
पर-सेवा पर-उपकारमें हम जग जीवन सफल बना जावें ॥
हम दीन-दुखी, निबलों-विकलोंके सेवक बन संताप हरें ।
जो हैं अटके, भूले-भटके, उनको तारें, हम तर जावें ॥
छल-दम्भ, द्वेष-पाखण्ड, झूठ, अन्यायसे निशदिन दूर रहें ।
जीवन हो शुद्ध-सरल अपना, शुचि प्रेम-सुधा-रस बरसावें ॥
निज आन-बान-मर्यादाका प्रभु! ध्यान रहे, अभिमान रहे ।
जिस देश-जातिमें जन्म लिया बलिदान उसी पर हो जावें ॥

प्रार्थना समाप्त हुई कि तुरत आकाशवाणी हुई :

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ॥

ब्रह्माजी सबको शिक्षा तथा आश्वासन देकर तथा देवताओंसे यह कहकर ब्रह्मलोकको चले गये कि 'तुमलोग वानररूप धारणकर सुसंगठित हो भगवान्‌का भजन करते हुए पृथ्वीपर रहो।' प्रार्थना सफल हुई, मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अवतार हुआ। देवता, गौएँ, ऋषि, मुनि, पृथ्वी, भक्त-समाज—सब सुखी और परमधामके अधिकारी हुए—

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥

और ऐसे समयमें जब-जब देव-समाजने भगवान्‌से प्रार्थना की, तब-तब भगवान्‌ने अवतार लेकर विश्वमें शान्ति स्थापित की। भूतकालके इतिहासमें प्रार्थना सफल हुई, तब वर्तमानमें भी सफल हो सकती है—ऐसा विश्वास सबको रखना चाहिये।

प्रार्थनासे कितना लाभ हो सकता है, प्रार्थनाका कितना महत्त्व है—यह लिखा नहीं जा सकता। प्रार्थनाके द्वारा मृत आत्माओंको शान्ति मिलती है; जिसकी प्रथा आज भी बड़ी-बड़ी सभाओंमें देख पड़ती है। किसी महापुरुषके देहावसान हो जानेपर दो-चार मिनट मृतात्माकी शान्तिके लिये सभाओंमें सामूहिक प्रार्थना की जाती है। प्रार्थनाके उपासक महात्मा गांधी, महामना मालवीयजी आदि धार्मिक-राजनीतिक नेताओंका अधिक स्वास्थ्य बिगड़नेपर जब-जब समाजमें प्रार्थना की गयी, तब-तब लाभ प्रतीत हुआ। और भी अनेकों उदाहरण हैं। प्रार्थनामें विश्वासकी प्रधानता है। प्रार्थना हृदयसे होनी चाहिये। निरन्तर, आदरपूर्वक, दीर्घकालतक होनेसे वह सफल होती है—

दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।

इष्टदेवको सुनानेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये, जनताको सुनानेकी दृष्टिसे नहीं। प्रार्थनासे आस्तिकता बढ़ती है। आस्तिकतासे मनुष्योंकी पापमें प्रवृत्ति नहीं होती। दुराचारके नाश और सदाचारकी वृद्धिसे समाजमें दरिद्रता, कलह, शारीरिक रोग, चरित्र-पतनकी निवृत्ति होकर परस्पर प्रेम, आरोग्य, सुख-सम्पत्तिकी वृद्धि होती है।

ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि समुदायोंमें प्रार्थनाका प्रमुख स्थान है। वे किसी भी दलमें हों, किसी भी देश या स्थानमें हों, उन लोगोंकी प्रार्थना एक है। यही कारण है कि वे धार्मिक सूत्रमें आबद्ध होनेके कारण सुव्यवस्थित हैं। हमारे यहाँ त्रिकाल संध्याका नियम था।

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥

लगातार तीन दिनोंतक संध्या न करनेवाला अपने वर्णसे च्युत कर दिया जाता था। परंतु आजकल दो प्रतिशत द्विजाति भी संध्या नहीं करते, कितने खेदका विषय है! संध्या कामधेनु गौ है, तो प्रार्थना उसकी बछिया है। यदि गौ कहीं चली जाय और आप बछियाको ही अपने पास बाँध लें तो गौ भी इधर-उधर घूमकर उस स्थानपर आ जायगी। स्वार्थके कारण विघटित हुए समाजके अनेकों दल क्यों न हों उनको संगठित बनानेके लिये प्रार्थना एक सूत्र है। अतएव समाजको सुव्यवस्थित बनानेके लिये प्रार्थनाको मुख्य स्थान देना ही चाहिये। प्रार्थनाकी महिमाका कहाँतक वर्णन किया जाय—

सब पर्वत स्याही करूँ, घोरूँ सागर माहिं ।
पृथ्वी का कागज करूँ, महिमा लिखी न जाहिं ॥

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम ।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ॥

बोझ प्रभुके कंधेपर

(संत विनोबा)

प्रभुको चिन्ता सबकी रहती है, पर विशेष चिन्ता उसे दीनोंकी होती है। और लोग भी प्रभुके हैं, पर दीन तो प्रभुके ही हैं। औरोंका आधार और भी होता है, पर दीनोंका आधार तो दीनदयाल ही होता है। समुद्रके बीच जहाजके मस्तूलसे उड़े हुए पंछीको मस्तूलके सिवा और ठिकाना कहाँ हो सकता है? उससे हटकर वह कहाँ रह सकता है? दीनका चित्त प्रभुसे छूटे भी तो किससे लगे? इसीलिये दीन प्रभुके कहलाते हैं, प्रभु दीनोंका कहलाता है। दीनताका यही वैशिष्ट्य देखकर कुन्तीने उस समय, जब उसे प्रभुने वर माँगनेको कहा, दीनता माँगी। कोई कह सकता है कि प्रभु तो देता था कटोरीमें, पर अभागिनीने माँगा दोनेमें! फूटी कटोरीसे साबित दोना सौ दर्जे अच्छा।

कदाचित् कोई तार्किक बीचमें ही पूछ बैठे—'तो फूटी कटोरीकी बात ही क्यों?' मैं स्पष्ट कहूँगा—'नहीं, पानी पीनेकी दृष्टिसे तो साबित दोने और साबित कटोरीका मूल्य समान है; पर अंदर पैठकर देखें तो वह धातकी कटोरी घातकी वस्तु बन जाती है। कटोरीकी छातीमें एक बड़ी धुकधुकी लगी रहती है—'मुझे कोई चुरा तो नहीं ले जायगा?' दोनेके लिये यह भय असम्भव है, अतः वह निर्भय है।''

फिर कटोरी और साबितका योग ही मुश्किलसे मिलता है। रामदासके शब्दोंमें—'जो बड़ा, सो चोर।' ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े हैं कि आदमी बड़ा हो और प्रभु उसपर न्योछावर हों। ऐसे उदाहरणोंका प्रायः अभाव ही है; और जो कहीं और कभी दीख पड़ा, तो इस रूपमें कि जन्मका बड़ा, किंतु बड़प्पन खोकर—अत्यन्त दीन होकर—भगवान्के शरण आया, उसी दिन प्रभुने उसे अपने निकट खींच लिया। राजा बलिने जब राजत्वका साज हटाकर मस्तक झुकाया, तब प्रभुने उसके आँगनमें खड़े रहना अङ्गीकार किया। गजेन्द्रको जबतक अपने बलका घमंड रहा, तबतक उसने सब कुछ करके देख लिया और जब गर्व गला, तब उसे दीनबन्धुकी याद आयी। उसी दिनकी घटनाका नाम तो 'गजेन्द्रमोक्ष' है। और अर्जुन? जिस दिन वह अपनी जानकारीके ज्वरसे जीवित छूटा, प्रभुने उसे गीता सुनायी। पार्थका प्रभुसे ही मतभेद हो गया। बड़ा आदमी जो ठहरा! प्रभुके मतसे उसके मतका सौतियाडाह क्यों न हो? किंतु बारह वर्षके वनवासने उसे 'महत्ता' से उतारकर 'लघुता' की सेवा करनेका अवसर दिया। जब जानकारीपर अधिष्ठित मतके पाँव डगमगाने लगे, तब उसने निकटस्थ प्रभुके पाँव पकड़े। "मैं तो इन्द्रियोंका गुलाम हूँ, और मेरा 'मत' क्या? मेरी तो इन्द्रियाँ चाहे जैसा निश्चय करती हैं और मनरूपी मल उसपर अपनी सही कर देता है। वहाँ धर्मको देख सकनेवाली दृष्टिका गुजर कहाँ! प्यारे, मैं तुम्हारे द्वारका सेवक हूँ! मुझे तुम्हीं बचाओ!" तब भगवान्की वाणी प्रस्फुटित हुई। गीता कही जाने लगी। परंतु गीता कहते-कहते भी श्रीकृष्णने एक बात तो कह ही डाली—'बड़प्पनकी बात तो खूब करते हो!' गर्ज यह कि बड़े लोगोंमें यदि किसीके प्रभुका प्यारा होनेकी बात सुनी जाती है तो वह उसीकी, जो अपना बड़प्पन खोकर, अपनी महत्ता एक ओर रखकर छोटे-से-छोटा, दीन, निराधार बन गया। तब वह प्रभुका आत्मीय कहलाया। जिसे जगत्का आधार है, उसकी जगदाधारसे कैसी रिश्तेदारी? जिसके खातेमें जगत्का आधार जमा नहीं रह गया, उसीका बोझ प्रभु अपने कंधोंपर ढोते हैं।

(प्रेषक—श्रीप्यारेलाल साह)

भगवान्के बन्धनका सरल साधन

भगवान् राम कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(रामचरित० सुन्दर०)

वेदोंकी संहिताओंमें भक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पूज्य स्वामीजी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर)

मङ्गलाचरणम्

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शंकराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥

(शु० यजुर्वेदसंहिता १६।४१)

ॐ शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु,
शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु,
शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा॥

(ऋ० सं० ७।३५।१३, अथर्व० सं० १९।११।६)

'जिससे मोक्ष-सुख प्राप्त होता है एवं जिससे इस लोक तथा परलोकके विविध सुख प्राप्त होते हैं, उस भगवान्‌को नमस्कार है। जो पारमार्थिक अनन्त सुखको प्राप्त कराता है तथा जो सर्व प्रकारके सुखोंका दाता है, उस परमात्माको नमस्कार है। जो परमेश्वर कल्याणस्वरूप है तथा स्वभक्तोंका भी कल्याणकर होनेसे परमकल्याणरूप है, उसे नमस्कार है। (इस मन्त्रमें 'मयः' सुखका नाम है।) विश्वरूप अविनाशी देव हमारे 'शम्' (शाश्वतशान्ति-सुख) के लिये प्रसन्न हो। प्राणोंका प्रेरक एवं शरीरोंका अन्तर्यामी महादेव हमारे 'शम्'के लिये अनुकूल हो। समस्त विश्वका उत्पादक, संरक्षक एवं उपसंहारक विश्वाधिष्ठान परमात्मा हमारे 'शम्'के लिये सहायक हो। क्षीरसमुद्रशायी विश्वप्रणम्य भगवान् श्रीनारायणदेव—जो भक्तोंको संसारके समस्त दुःखोंसे पार कर देता है—हमारे 'शम्'के लिये प्रसन्न हो। देवोंकी रक्षा करनेवाली विश्वव्यापिनी भगवान्‌की चिति-शक्ति हमारे 'शम्'-लाभके लिये तत्पर हो।'

वेदोंका महत्त्व

यद्यपि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्नामधेयं वेदः' अर्थात् मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग दोनोंका नाम वेद है, यों वैदिक सनातन धर्मानुयायी विद्वान् मानते हैं, तथापि मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभागका मूल-मूलीभाव तथा व्याख्येय-व्याख्यानभाव होनेके कारण अर्थात् मन्त्रभाग (संहिताएँ) मूल एवं व्याख्येय तथा ब्राह्मणभाग मूली एवं व्याख्यान होनेके कारण ब्राह्मणभागकी अपेक्षा मन्त्रभागमें मुख्य निरपेक्ष वेदत्व है। अतः उसकी संहिताओंमें ही अभिवर्णित भक्तितत्त्वका यहाँ कल्याण-प्रेमियोंके लिये यथामति प्रदर्शन किया जाता है। मनुमहाराजने भी कहा है—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

(मनुस्मृति २।१३)

अर्थात् धार्यमाण भक्ति, ज्ञान आदि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवालोंके लिये मुख्य—स्वतःप्रमाण एकमात्र श्रुति है। अतः श्रुतिके अनुकूल ही इतर स्मृति-पुराणादिके वचन प्रामाणिक एवं ग्राह्य माने जाते हैं। श्रुतिविरुद्ध कोई भी वचन प्रामाणिक नहीं माना जाता। अतएव वेदोंके महत्त्वके विषयमें महाभारतमें यह कहा गया है—

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे निष्ठा हि सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च॥

(म० भा० शा० २७० । ४३)

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

(म० भा० १२।२३३।२४)

अर्थात् वेदोंके ज्ञाता सब कुछ जानते हैं; क्योंकि वेदमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जो ज्ञातव्य अर्थ अस्तित्व है या नहीं है, उस साध्य-साधनादि समस्त वर्णनीय अर्थोंकी निष्ठा वेदोंमें है। अतः वेदवाणी दिव्य है, नित्य है एवं आदि-अन्त-रहित है; सृष्टिके आदिमें स्वयम्भू परमेश्वरद्वारा उसका प्रादुर्भाव हुआ है तथा उसके द्वारा धर्म, भक्ति आदिकी समस्त प्रवृत्तियाँ सिद्ध हो रही हैं। इसलिये—

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम।

—कहकर हमारे पूज्य महर्षियोंने वेदोंकी अपार महिमा अभिव्यक्त की है।

भक्तिका स्वरूप

जिसके अनन्त महत्त्वका हम श्रवण करते हैं, जो हमारा वास्तविक सम्बन्धी होता है, जिसके द्वारा हमारा हित सम्पादित

होता है एवं शाश्वत शान्ति तथा अनन्त सुखका लाभ होता है, उसमें विवेकीकी अविचल प्रीति स्वभावतः हो ही जाती है। इसलिये भगवत्प्रार्थनाके रूपमें अथर्वसंहितामें कहा गया है—

देव ! संस्फान ! सहस्रापोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व, तस्य नो धेहि, तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥

(अथर्व० सं० ६ । ७९ । ३)

'हे अभ्युदय-निःश्रेयसप्रदाता देव ! तू आध्यात्मिकादि असंख्य शाश्वत पुष्टियोंका स्वामी है, इसलिये हमें उन पुष्टियोंका तू दान कर, उनको हमारेमें स्थापन कर। अतः उस महान् अनन्त पुष्टिपति प्रभुकी भक्तिसे युक्त हम हों, अर्थात् तेरी पावन भक्तिद्वारा ही हमें अभीष्ट पुष्टियोंका लाभ होगा—ऐसा विश्वास हम करें।'

श्रीभगवान्‌के दिव्यतम गुणोंके श्रवणसे द्रवीभूत हुए चित्तकी वृत्तियाँ उस सर्वेश्वर प्रभुकी ओर जब धाराप्रवाहरूपसे सतत बहने लग जाती हैं, तब वही भक्तिका स्वरूप बन जाता है। अतएव ऋग्वेदसंहितामें कहा है—

अभि विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते,
समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः ॥

(ऋ० १ । ७१ । ७)

'जैसे गङ्गा आदि बड़ी सात नदियाँ समुद्रकी ओर ही दौड़ती हुई उसीमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही भगवद्भक्तोंके मनकी सभी वृत्तियाँ अनन्त दिव्यगुणकर्मवान् परमेश्वरकी ओर जाती हुई—तदाकार होती हुई—उसीमें विलीन हो जाती हैं।' (इस मन्त्रमें पृक्ष अन्नका नाम है, वह अन्नमय मनको लक्षित करता है।)*

इसलिये हे प्रभो !—

यस्य ते स्वादु सख्यं, स्वाद्वी प्रणीतिः ।

(ऋ० ८ । ६८ । ११)

'तुझ परमात्माका सख्य (मित्रता) स्वादु है, अर्थात् मधुर आह्लादक आनन्दकर है; और तुझ परमेश्वरकी प्रणीति (अनन्यभक्ति) स्वाद्वी है, समस्त संतापोंका निवारण करके परमानन्द प्रदान करनेवाली है, अर्थात् 'भक्ति स्वतन्त्र सकल सुख-खानि', है। प्रणीति, प्रणय, प्रेम, प्रीति, भक्ति—ये सब पर्याय-वाचक हैं—एकार्थके बोधक हैं।

वास्तविक सम्बन्धी भगवान्

जिसके साथ हमारा कोई-न-कोई सम्बन्ध होता है, उसे देखकर या उसका नाम सुनकर उसके प्रति स्नेहका प्रादुर्भाव हो ही जाता है। संसारके माता-पिता आदि सम्बन्धी आगन्तुक हैं—आज हैं और कल सम्बन्धी नहीं रहते; इसलिये वे कच्चे नकली स्वार्थी सम्बन्धी माने गये हैं। परंतु परमात्मा सर्वेश्वर भगवान् हम सब जीवात्माओंका माता-पिता आदि वास्तविक शाश्वत निःस्वार्थ दुःख-निवारक एवं हित-सुखकर सम्बन्धी हैं। इसलिये हमारे अतिधन्य वेदोंने उस परमात्मामें परम प्रीति उत्पन्न करनेके लिये कहा है—

त्वं त्राता तरणे ! चेत्यो भूः, पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ।

(ऋ० ६ । १ । ५)

'हे तरणे—तारनहार यानी संसारके त्रिविध दुःखोंसे तारनेवाले भगवन् ! तू हमारा त्राता रक्षक है, इसलिये तू चेत्य यानी जानने योग्य है कि तू हमारा कौन है। तू हम मनुष्योंका सदा रहनेवाला सच्चा माता एवं पिता है।'

पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।

(ऋ० ६ । ३६ । ४)

'हे प्रभो ! हम (सब) जनोंका तू ही एकमात्र उपमारहित—असाधारण पति—स्वामी है तथा समस्त भुवनोंका राजा—ईश्वर है।'

स न इन्द्रः शिवः सखा । (ऋ० ८ । ९३ । ३)

'वह इन्द्र परमात्मा हमारा कल्याणकारी सखा है।' इसलिये हे भगवन् !

त्वमस्माकं तव स्मसि । (ऋ० ८ । ९२ । ३२)

'तू हमारा है और हम तेरे हैं।' यह भाव भगवच्छरणागतिका भी है।

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्।

(ऋ० १० । ७ । ३)

'अर्थात् अग्नि परमात्माको ही मैं सदैव अपना पिता मानता हूँ, अग्निको ही आपि यानी अपना बन्धु मानता हूँ एवं अग्निको ही मैं भाई तथा सखा मानता हूँ।' यहाँ यह

---

* श्रीमद्भागवतमें भी इसी मन्त्रका छायानुवाद इस प्रकार किया गया है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २९ । ११)

याद रखना चाहिये कि वेदोंमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि अनेक नामोंके द्वारा एक परमात्माका ही वर्णन किया गया है।

भजनीय परमेश्वरका स्तुत्य महत्त्व

संहिताओंमें परमेश्वरके भक्ति-वर्धक स्तुत्य महत्त्वका अनेक प्रकारसे वर्णन मिलता है। जैसे—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि
त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते
त्वं विधर्तः सचसे पुरंध्या॥
(ऋ० २।१।३)

'हे अग्ने! परमात्मन्! तू इन्द्र अर्थात् अनन्त ऐश्वर्यों-से सम्पन्न है; इसलिये तू सज्जनोंके लिये वृषभ अर्थात् उनकी समस्त कामनाओंका पूरक है। तू विष्णु है—विभु, व्यापक है; इसलिये तू उरुगाय है—बहुतोंसे गानेके द्वारा स्तुति करने योग्य है एवं नमस्कार्य है। हे ब्रह्म अर्थात् वेदके पति! तू ब्रह्मा है और रयि अर्थात् समस्त कर्मफलोंका ज्ञाता एवं दाता है। हे विधारक—सर्वाधार! तू पुरन्धि अर्थात् पवित्र एकाग्र बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होता है।'

ॐ अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥
(ऋ० ७।३२।२२; यजु० २७।३५; साम० २३३।६८०; अथर्व० २०।१२१।१)

'हे शूर—अनन्त-बल-पराक्रमनिधे! हे इन्द्र—परमात्मन्! जिस प्रकार पय:पानके इच्छुक क्षुधार्त बछड़े अपनी माताका चिन्तन करते हुए उसे पुकारते हैं, उसी प्रकार हम स्थावर एवं जङ्गम समग्र विश्वके नियामक निरतिशय-सुखपूर्ण एवं सौन्दर्यनिधि दर्शनीय तुझ परमेश्वरकी स्तुति एवं चिन्तन करते हुए भक्तिपूर्ण हृदयसे तुझे पुकारते हैं।'

ॐ इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या
इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणा-
मिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥
(ऋ० १०।८९।१०)

'इन्द्र परमात्मा स्वर्गलोक तथा पृथिवी-लोकका भी नियन्ता है तथा इन्द्र भगवान् जलोंका या पाताल-लोकका तथा पर्वतोंका भी नियन्ता है। इन्द्र परमेश्वर स्थावर जगत्‌का तथा मेधा (बुद्धि) वाले चेतन जगत्‌का भी नियन्ता—शासक है। वह सर्वेश्वर इन्द्र हमारे योग एवं क्षेमके सम्पादन-में समर्थ है, इसलिये वही हमारे द्वारा आह्वान या आराधना करने योग्य है।'

भगवान्‌की कृपालुता

श्रीभगवान्‌की भक्तवत्सलताका अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इस प्रकार वर्णन मिलता है—

ॐ गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्
वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता
दिवः सविता विश्ववारः॥
(ऋ० १०।१४९।४)

'जैसे गायें ग्रामके प्रति शीघ्र ही जाती हैं, जैसे शूरवीर योद्धा अपने प्रिय अश्वपर बैठनेके लिये जाता है, जैसे स्नेह-पूरित मनवाली बहुत दूध देनेवाली हम्भारव करती हुई गाय अपने प्रिय बछड़ेके प्रति शीघ्रतासे जाती है एवं जैसे पति अपनी प्रियतमा सुन्दरी पत्नीसे मिलनेके लिये शीघ्र जाता है, वैसे ही समस्त विश्वद्वारा वरण करने योग्य निरतिशय-शाश्वत-आनन्दनिधि सविता भगवान् इन शरणागत भक्तोंके समीपमें आता है।' इस मन्त्रमें यह रहस्य बतलाया गया है कि गौकी भाँति मातारूप परमस्नेहामृतका भंडार श्रीभगवान् ग्रामकी तरह भक्तके गृहमें या उसके हृदयमें निवास करनेके लिये, वत्सस्थानापन्न अपने स्नेह एवं कृपाके भाजन भक्तको स्तना-मृत पिलानेके लिये, या योद्धा वीरकी भाँति निरतिशय बल पराक्रमनिधि महाप्रभु भक्तके अन्तःकरण एवं बाह्य-करणरूप अश्वोंका नियमन करनेके लिये, या उन्हें उनके वशमें स्थापन करनेके लिये तथा पतिकी भाँति विश्वपति सर्वेश्वर प्रभु प्रियतम जायाके स्थानापन्न भक्तका परिरम्भण (आलिङ्गन) करनेके लिये, या उसके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये, या उसे सर्वप्रकारसे संतृप्त करनेके लिये, या अपने अलौकिक मिलनानन्द-द्वारा कृतार्थ—धन्य बनानेके लिये शीघ्र ही भक्तकी प्रार्थनामात्र-से आ जाता है। यह भगवान्‌की भक्त-वत्सलताकी पराकाष्ठा है। ऐसे कृपालु भगवान्‌के प्रति भक्तिका उद्रेक स्वभावतः हो ही जाता है।

एकेश्वरवाद

वह सर्वेश्वर भगवान् एक ही है, वह एक ही अनेक

नामोंके द्वारा स्तूयमान होता है एवं विविध साकार विग्रहोंके द्वारा समुपास्य बनता है। उस एकके अनेक नाम एवं भक्त-भावना-समुद्भासित विविध विग्रह होनेपर भी उसकी एकता अक्षुण्ण ही रहती है। यह सिद्धान्त हमारी अति-धन्य संहिताओंमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित है। जैसे—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः ....

(ऋ० १।१६४।४६)

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

(अथर्व० ९।१०।२८)

अर्थात् तत्त्वदर्शी मेधावी विद्वान् उस एक सर्वेश्वरको ही इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि आदि विविध नामोंसे पुकारते हैं। एक ही सद्ब्रह्मको साकार-निराकारादि अनेक प्रकारसे कहते हैं।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

(ऋ० १०।११४।५)

'तत्त्वविद् विद्वान् शोभन—पूर्ण लक्षणोंसे युक्त उस एक सत्य ब्रह्मकी अनेक वचनोंके द्वारा बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं।'

सर्वदेवमय इन्द्र परमात्मा

यो देवानां नामधा एक एव। (ऋ० १०।८२।३; शु० य० १७।२७)

यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। (ऋ० १०।८२।६)

'जो एक ही परमात्मा देवोंके अनेक नामोंको धारण करता है, जिस एक परब्रह्ममें सभी देव आत्मभावसे संगत हो जाते हैं।' अतएव शुक्ल यजुर्वेदसंहितामें भी एक इन्द्र-परमात्मा ही सर्वदेवमय है एवं समस्त देव एक—इन्द्रस्वरूप ही हैं, इसका स्पष्टतः इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे, सोमश्च म इन्द्रश्च मे, सविता च म इन्द्रश्च मे, सरस्वती च म इन्द्रश्च मे, पूषा च म इन्द्रश्च मे, बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ मित्रश्च म इन्द्रश्च मे, वरुणश्च म इन्द्रश्च मे, धाता च म इन्द्रश्च मे, त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे, मरुतश्च म इन्द्रश्च मे, विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ पृथिवी च म इन्द्रश्च मे, अन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे, द्यौश्च म इन्द्रश्च मे, समाश्च म इन्द्रश्च मे, नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे, दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

(शु० य० १८।१६–१८)

'अग्नि भी इन्द्र है, सोम भी इन्द्र है, सविता भी इन्द्र है, सरस्वती भी इन्द्र है, पूषा भी इन्द्र है, बृहस्पति भी इन्द्र है; ये सब इन्द्र-परमात्मस्वरूप अग्नि आदि देव जपादि विविध यज्ञोंके द्वारा मेरे अनुकूल—सहायक हों। मित्र भी इन्द्र है, वरुण भी इन्द्र है, धाता भी इन्द्र है, त्वष्टा भी इन्द्र है, मरुत् भी इन्द्र हैं, विश्वेदेव भी इन्द्र हैं; ये सब इन्द्रस्वरूप देव यज्ञके द्वारा हमपर प्रसन्न हों। पृथिवी भी इन्द्र है, अन्तरिक्ष भी इन्द्र है, द्यौ—स्वर्ग भी इन्द्र है, समा—संवत्सरकी अधिष्ठात्री देवता भी इन्द्र हैं, नक्षत्र भी इन्द्र हैं, दिशाएँ भी इन्द्र हैं; ये सब इन्द्राभिन्न देव यज्ञके द्वारा मेरे रक्षक हों।'

समस्त देवता उस एक इन्द्र-परमात्माकी ही शक्ति एवं विभूतिविशेषरूप हैं। अतः वे उससे वस्तुतः पृथक् नहीं हो सकते। इसलिये इस देवसमुदायमें सर्वात्मत्व-ब्रह्मत्वरूप लक्षण-वाले इन्द्रत्वका प्रतिपादन करनेके लिये अग्नि आदि प्रत्येक पदके साथ इन्द्रपदका प्रयोग किया गया है और 'तदभिन्ना-भिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' इस न्यायसे अर्थात् जैसे घटसे अभिन्न मृत्तिकासे अभिन्न शरावका घटसे भी अभिन्नत्व हो जाता है, वैसे ही अग्निसे अभिन्न इन्द्र परमात्मासे अभिन्न सोमका भी अग्निसे अभिन्नत्व हो जाता है—इस न्यायसे अग्नि, सोम आदि देवोंमें भी परस्पर भेदका अभाव ज्ञापित होता है और इन्द्र-परमात्माका अनन्यत्व सिद्ध हो जाता है, जो भक्तिका खास विशेषण है।

नामभक्ति और रूपभक्ति

यह जीव अनादिकालसे संसारके कल्पित नाम-रूपोंमें आसक्त होकर विविध प्रकारके दुःखोंको भोग रहा है। अतः इस दुःखजनक आसक्तिसे छूटनेके लिये हमारे स्वतःप्रमाण वेदोंने 'विषस्यौषधं विषम्,' 'कण्टकस्य निवृत्तिः कण्टकेन' की भाँति श्रीभगवान्‌के पावन मधुरतम मङ्गलमय नामोंकी एवं दिव्यतम साकार रूपोंकी भक्तिका उपदेश दिया है। जैसे—

नामानि ते शतक्रतो! विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।

(ऋ० ३।३७।३; अथर्व० २०।१९।३)

'हे अनन्तज्ञाननिधि भगवन्! आपके पावन नामोंका वैखरी आदि चार वाणियोंके द्वारा भक्तिके साथ हम उच्चारण करते रहते हैं।'

भर्तो अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।

(ऋ० ८।११।५)

'अमर्त्य-अविनाशी आप भगवान्के महिमाशाली नामका हम श्रद्धाके साथ जप एवं संकीर्तन करते हैं।'

इसी प्रकार उपासनाके लिये दिव्यरूपवान् साकार विग्रहोंका भी वर्णन किया गया है। जैसे—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक् अपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।

(ऋ० २।३५।१०)

'हिरण्य यानी सुवर्ण-जैसा हित-रमणीय जिसका रूप है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी जिसकी हिरण्यवत् दिव्य हैं, वर्ण यानी वर्णनीय साकार विग्रह भी जिसका हिरण्यवत् अतिरमणीय सौन्दर्यसारसर्वस्व है, ऐसा वह क्षीरोदधि-जलशायी भगवान् नारायण अतिशय भक्तिद्वारा प्रणाम करने योग्य है।'

अर्हन् ! बिभर्षि सायकानि,
धन्वार्हन् ! निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वम्,
न वा ओजीयो रुद्र ! त्वदस्ति॥

(ऋ० २।३३।१०)

'हे अर्हन्—सर्व प्रकारकी योग्यताओंसे सम्पन्न! विश्वमान्य! परमपूज्य! तू दुष्टोंके निग्रहके लिये धनुष एवं बाणोंको धारण करता है। हे अर्हन्—सौन्दर्यनिधि प्रभो! भक्तोंको संतुष्ट करनेके लिये तू अपने साकार विग्रहमें दिव्यविविधरूपवान् रत्नोंका हार धारण करता है। हे अर्हन्—विश्वस्तुत्य! तू इस अतिविस्तृत विश्वकी अपनी अमोघ एवं अचिन्त्य शक्तिद्वारा रक्षा करता है। हे रुद्र—दुःखद्रावक देव! तुझसे अन्य कोई भी पदार्थ अत्यन्त ओजस्वी अर्थात् अनन्त-वीर्यवान् एवं अमित-पराक्रमवान् नहीं है।'

अजायमानो बहुधा विजायते।

(शु० यजु० ३१।१८)

'वह प्रजापति परमेश्वर निराकाररूपसे वस्तुतः अजायमान है और अपनी अचिन्त्य दिव्य शक्तिद्वारा भक्तोंकी भावनाके अनुसार उपासनाकी सिद्धिके लिये दिव्य साकार विग्रहोंसे बहुधा जायमान होता है।'

पूर्वोक्त मन्त्रोंमे वर्णित हिरण्यवत् रूपवाला तथा धनुष-बाण एवं हार धारण करनेवाला हस्तपादकण्ठादिमान् साकार भगवान् ही हो सकता है, निराकार ब्रह्म नहीं; क्योंकि उसमें पूर्वोक्त वर्णन कभी संगत नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्त-रूपसे यह माना गया है कि सगुण साकार ब्रह्म उपास्य होता है एवं निर्गुण-निराकार ब्रह्म ज्ञेय।

परम प्रेमास्पद एवं परमानन्दनिधि भगवान्

वेदभगवान् कहते हैं कि वह सर्वात्मा भगवान्—

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुहि। (ऋ० ८।१०३।१०)

—धन-स्त्री आदि समस्त प्रिय पदार्थोंसे भी निरतिशय प्रेमका आस्पद है, इसलिये तू उसकी स्तुति कर यानी आत्मा-रूपसे—परमप्रिय रूपसे उसका निरन्तर अनुसंधान करता रह।

प्रियाणां त्वां प्रियपतिं हवामहे। (शु० य० २३।१९)

'अन्यान्य समस्त प्रिय पदार्थोंके मध्यमें एकमात्र तू ही परमप्रिय पतिदेव है, यह मानकर हम सब भक्तजन तुझे ही पुकारते हैं एवं तेरी ही चाहना रखते हुए आराधना करते रहते हैं।'

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥

(ऋ० १०।४३।१)

'हे प्रभो! एकमात्र तू ही निरतिशय-अखण्ड-आनन्द-निधि है, यह मैं जानता हूँ; इसलिये मेरी ये सभी बुद्धि-वृत्तियाँ तुझ आनन्दनिधि स्वात्मभूत भगवान्से सम्बद्ध हुई तेरी ही निश्चल अभिलाषा रखती हुई—जैसे युवती पत्नियाँ अपने प्रियतम सुन्दर पतिदेवका समालिङ्गन करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं, वैसे तेरा ही ध्यान करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं। या जैसे स्वरक्षणके लिये दरिद्रजन दयालु धनवान्का अवलम्बन करके दरिद्रताके दुःखसे मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही मेरी ये बुद्धिवृत्तियाँ भी तुझ नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव अनन्त-सुखनिधि सर्वात्मा भगवान्का ध्यान करती हुई समस्त दुःखोंसे विमुक्त हो जाती हैं।' इसलिये हे भगवन्! तू—

यच्छा नः शर्म सप्रथः। (ऋ० १।२२।१५)

सुम्नमस्मे ते अस्तु। (ऋ० १।११४।१०)

'हमें अनन्त अखण्डैकरसपूर्ण सुखका प्रदान कर। हे परमात्मन्! हमारे अंदर तेरा ही महान् सुख अभिव्यक्त हो।' ('शर्म' एवं 'सुम्न' सुखके पर्याय हैं।)

इसलिये भावुक भक्त यह मङ्गलमयी प्रतीक्षा करते हुए अपने परम प्रेमास्पद भगवान्से कहते हैं—

कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।......

कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ।

(ऋ० ७ । ८६ । २)

'हे विभो ! कब मैं पवित्र एवं एकाग्र मनवाला होकर सत्य आनन्दमय आपका साक्षात् दर्शन करूँगा ? और कब मैं सर्वजन-वरणीय अनन्तानन्दनिधिरूप आप वरुण-देवमें अन्तर्भूत—तदात्मभूत हो जाऊँगा ।' हे भगवन् ! तेरे पावन अनुग्रहसे ही मेरी यह अभिलाषा पूर्ण सफल हो सकती है, इसलिये मैं तेरी ही भक्तिमयी प्रार्थना करता हूँ ।'

एकात्मभाव

वह एक ही सर्वेश्वर भगवान् समस्त विश्वके अन्तर्बहिः पूर्ण है; व्याप्त है, अतएव वह निखिल चराचर विश्वका आत्मा है; अभिन्नस्वरूप है । इस एकात्मभावका वेदमन्त्र स्पष्टतः प्रतिपादन करते हैं—

आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

(ऋ० १ । ११५ । १, शु० य० ७ । ४२; अथर्व० १ । ३२ । ५)

'वह परमेश्वर स्वर्ग, पृथिवी एवं अन्तरिक्षरूप निखिल विश्वमें पूर्णरूपसे व्याप्त है; वह सम्पूर्ण जगत्का सूर्य यानी प्रकाशक है तथा वह स्थावर-जङ्गमका आत्मा है ।'

पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश

तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।

(शु० य० २३ । ५२)

'शरीरादिरूपसे परिणत पाँच पृथिव्यादि भूतोंके भीतर पुरुष यानी पूर्ण परमात्मा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेके लिये प्रविष्ट हुआ है तथा उस अधिष्ठान-पुरुषके भीतर वह भूत-भौतिक जगत् अर्पित है यानी अध्यारोपित है ।' जैसे आभूषणोंमें सुवर्ण प्रविष्ट है एवं सुवर्णमें आभूषण आरोपित हैं, वैसे ही वह सर्वेश्वर भगवान् सबसे अनन्य है, सबका अभिन्न-स्वरूप आत्मा है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं है ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(शु० य० ४० । ७)

'जिस ज्ञानके समय समस्त भूतप्राणी एक आत्मा ही हो जाते हैं, अर्थात् नाम-रूपात्मक आरोपित जगत्का अधिष्ठान आत्मामें बाध हो जाता है, केवल आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है, ऐसे विज्ञानवाले एवं सर्वत्र एक आत्मभावका ही अनुदर्शन करनेवालेको उस समय मोह क्या एवं शोक क्या । अर्थात् अद्वय-आत्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानके शक्ति-द्वयरूप आवरणात्मक मोह एवं विक्षेपात्मक शोककी भी तुरंत निवृत्ति हो जाती है ।'

ज्ञानवान् भक्तकी यही एकभक्ति है, वह उस एकको ही सर्वत्र देखता है और तदन्यभावका बाध करके उस एकमें ही वह तन्मय बना रहता है । वह एक अपना अभिन्नस्वरूप आत्मा ही है । अतएव जो यथार्थमें ज्ञानवान् है, वह भक्ति-शून्य भी नहीं रह सकता । एवं जो सच्चा भक्त है, वह अज्ञानी भी नहीं हो सकता । ज्ञानीके हृदयमें अनन्य भक्तिकी निर्मल मधुर गङ्गा प्रवाहित रहती है और भक्तका हृदय अद्वय-ज्ञानके विमल प्रकाशसे देदीप्यमान रहता है । इस प्रकार ज्ञान एवं भक्तिका सामञ्जस्य ही साधक—कल्याण-पथिकको निःश्रेयसके शिखरपर पहुँचा देता है ।

पराभक्ति

पराभक्तिके ही पर्याय हैं—अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तभक्ति एवं फलभक्ति । अतएव भजनीय भगवान्के अनन्य—अभिन्न स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।

(शु० य० ४० । ५)

'वह समस्त प्राणियोंके भीतर परमप्रिय आत्मारूपसे अवस्थित है एवं सबके बाहर भी अधिष्ठानरूपसे अनुगत है ।'

अतएव वह मुझसे भी अन्य नहीं है—अनन्य है, अभिन्न है, इस भावको दिखलानेके लिये श्रुति भावुक भक्तकी प्रार्थनाके रूपमें कहती है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ० ८ । ४४ । २३)

'हे अग्ने ! परमात्मन् ! मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय—इस प्रकार तेरा एवं मेरा अभेदभाव हो जाय तो बड़ा अच्छा रहे । ऐसे अनन्य-प्रेम विषयके तेरे सदुपदेश मेरे लिये सत्य अनुभवके सम्पादक हों । या तेरे शुभाशीर्वाद सत्य—इष्ट सिद्धिके समर्पक हों, यही मेरी प्रेममयी प्रार्थना है ।' जीवात्माके साथ ईश्वरात्माका अभेदभाव हो जानेपर ईश्वरात्मामें

परोक्षत्वकी निवृत्ति होती है और ईश्वरात्माके साथ जीवात्मा-का अभेदभाव हो जानेपर जीवात्मामें संसारित्वकी एवं सद्वितीयत्वकी निवृत्ति होती है ।

उस प्रियतम आत्मस्वरूप इष्टदेवसे भिन्न बाहर एवं भीतर अन्य कोई भी पदार्थ द्रष्टव्य एवं चिन्तनीय न रहे, यही भक्तिमें अनन्यत्व है । आँखें सर्वत्र उसे ही देखती रहें, परमप्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् ही सदा आँखोंके सामने रहें । वे आँखें ही न रहें, जो तदन्यको देखना चाहें; वह हृदय ही टूक-टूक हो जाय, जिसमें तदन्यका भाव हो, चिन्तन हो । अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण हृदय वह है, जो भीतरसे आप-ही-आप बोल उठता है—हे आराध्यदेव ! मुझे केवल तेरी ही अपेक्षा है, अन्य की नहीं ! ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर तुमसे अन्य कुछ भी तो नहीं है । अतः—

विश्वरूपमुपह्वये, अस्माकमस्तु केवलः ।

(ऋ० १ । १४ । १०)

'मैं सर्वत्र विश्वरूप तुम सर्वात्माका ही अनन्यभावसे अनुसंधान करता रहता हूँ, हमारे लिये तू ही एकमात्र द्रष्टव्य बना रहे ।' तू ही एकमात्र सत्यं शिवं सुन्दरम् है, अन्य नहीं; इसलिये मैं तुझे ही चाहता एवं रटता हुआ तुझमें ही लीन होना चाहता हूँ । मुझमें तेरी तन्मयता इतनी अधिक बढ़ जाय कि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं बन जाय । तुझसे मैं अन्य न रहूँ एवं तू मुझसे अन्य न रहे । तुझमें एवं मुझमें अभेदभावकी प्रतिष्ठा हो जाय । मेरा यह तुच्छ 'मैं' उस महान् 'तू'में जलमें बरफकी भाँति' गल-मिल जाय । यही अनन्य पराभक्तिका स्वरूप है । अन्तमें एकमात्र वही रह जानेसे यह एकान्त भक्ति भी कहलाती है ।

अतएव उस प्रियतम परमात्माके साथ अभेदभावके बोधक इस प्रकारके अनेक वेदमन्त्र उपलब्ध हैं । जैसे—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनम्, न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन ।

(ऋ० १० । ४८ । ५)

'मैं स्वयं इन्द्र-परमात्मा हूँ, अतः मैं किसीसे भी पराजित नहीं हो सकता । परमानन्दनिधिरूप मेरे धनको कोई भी अभिभूत नहीं कर सकता । अतः मैं कभी भी मृत्युके समक्ष अवस्थित नहीं रह सकता; क्योंकि मैं स्वयं अमृत—अभयरूप इन्द्र हूँ ।'

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।

(ऋ० ३ । २६ । ७)

'मैं स्वभावसे ही अनन्तज्ञाननिधि अग्नि-परमात्मा हूँ, मेरा चैतन्यप्रकाश सर्वत्र विभासित है, मेरे मुखमें सदा कल्याण-मय अमृत अवस्थित है ।'

इस प्रकार ज्ञान अद्वैतरूप है तो भक्ति अनन्यरूपा है । दोनोंका लक्ष्य एक ही है । अतएव सिद्धान्तमें दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है । अतः ज्ञानके बिना भक्तिकी सिद्धि नहीं और भक्तिके बिना ज्ञानकी निष्ठा नहीं । भक्ति तथा ज्ञान एक ही कल्याण प्रेमी साधकमें मिश्री और दूधकी भाँति घुले-मिले हैं ।

भक्तिके साधन

वेदोंकी संहिताओंमें सत्सङ्ग, श्रद्धा, अद्रोह, दान, ब्रह्मचर्य, कामादि-दोष-निवारण आदि अनेक भक्तिके साधनोंका वर्णन मिलता है । उन्हें यहाँ क्रमशः संक्षेपमें प्रदर्शित किया जाता है—

(१) सत्सङ्ग

पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि ।

(ऋ० ५ । ५१ । १५)

'दानशील—उदारस्वभाववाले, विश्वासघातादि-दोषरहित, विवेक-विचारशील ज्ञानी भक्तकी हम बार-बार संगति करते रहें ।' इस मन्त्रमें भक्तिके हेतुभूत सत्सङ्गका स्पष्ट वर्णन है ।

(२) श्रद्धा

श्रद्धया सत्यमाप्यते ।

(शु० यजु० १९ । ३०)

श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ।

(ऋ० १० । १५१ । ५)

'श्रद्धा-विश्वासद्वारा सत्य-परमात्माकी प्राप्ति होती है ।' 'हे श्रद्धादेवी ! हमारे हृदयमें रहकर तू हमें श्रद्धालु—आस्तिक बना ।'

(३) अद्रोह

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।

(शु० यजु० ३६ । १८)

'मित्रभावकी (हितकर, मधुर) दृष्टिसे मैं समस्त भूत प्राणियोंको देखता हूँ, अर्थात् मैं किसीसे कभी भी वैर एवं द्रोह नहीं करूँगा ।' किंतु शक्तिके अनुसार सबकी भलाई ही करता रहूँगा । भला चाहूँगा, भला कहूँगा एवं भला ही

करूँगा। (इस मन्त्रमें सर्वभूतहितैरतत्वका स्पष्ट उपदेश दिया गया है।)

(४) दान—उदारता

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर।

(अथर्व० ३। २४। ५)

'सौ हाथके उत्साह एवं प्रयत्नद्वारा तू हे मानव! धन-धान्यादिको सम्पादन कर और हजार हाथकी उदारताद्वारा तू उसका दान कर—योग्य अधिकारियोंमें वितरण कर।'

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्।

(ऋ० १०। ११७। ५)

'धनवान् सत्कार्यके लिये याचना करनेवाले सत्पात्रको धनादिका अवश्य दान करे।'

केवलाघो भवति केवलादी।

(ऋ० १०। ११७। ६)

'अतिथि, बन्धुवर्ग, दरिद्र आदिको न देकर केवल आप अकेला ही जो अन्नादि खाता है, वह अन्न नहीं, किंतु पाप ही खाता है।' इसलिये शक्तिके अनुसार अन्योंको कुछ देकर ही पुण्यमय अन्न खाना चाहिये।

(५) ब्रह्मचर्य—संयम

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(अथर्व० ११। ७। १९)

'ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ तप है, उसके लाभद्वारा ही मानव दैवीसम्पत्तिसम्पन्न देव हो जाते हैं और वे अनायास ब्रह्मविद्या एवं अनन्य भक्तिका सम्पादन करके अविद्यारूप मृत्युका विध्वंस कर देते हैं।'

माध्वीर्गावो भवन्तु नः।

(ऋ० १। ९०। ६; शु० य० १३। २७)

हे प्रभो! मेरी इन्द्रियाँ मधुर अर्थात् संयम-सदाचारद्वारा प्रसन्नतायुक्त बनी रहें—इनमें असंयमरूपी कटुता—विक्षेप न रहे, ऐसी कृपा करें।

(६) मोहादि षड् दोष-निवारणका उपदेश

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥

(ऋ० ७। १०४। २२; अथर्व० ८। ४। २२)

'हे इन्द्रस्वरूप जीवात्मन्! दिवान्ध उलूकके समान आचरण करनेवाले मोहरूपी राक्षसका, शुशुलूक (भेड़िये) के समान आचरण करनेवाले क्रोधरूपी राक्षसका, श्वा (कुत्ता) के समान आचरण करनेवाले मत्सररूपी राक्षसका तथा कोक (चकवा-चकवी) पक्षीके समान आचरण करनेवाले कामरूपी राक्षसका, सुपर्ण (गरुड़) के समान आचरण करनेवाले मदरूपी राक्षसका तथा गृध्र (गीध) के समान आचरण करनेवाले लोभरूपी राक्षसका सदुपायोंके द्वारा विध्वंस कर और जैसे पत्थरसे मिट्टीके ढेलेको पीस दिया जाता है, वैसे ही उन छः मोहादि दोषरूपी राक्षस शत्रुओंको पीस डाल।'

इस प्रकार वेदोंकी परम प्रामाणिक संहिताओंमें भगवद्भक्तिके अनेक साधनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है। इन साधनोंमें सत्सङ्ग नन्दनवन है, संयम कल्पवृक्ष है और श्रद्धा कामधेनु है। जब साधक इस दिव्य नन्दनवनके कल्पवृक्षकी शीतल मधुमयी छायामें बैठकर कामधेनुका अनुग्रह प्राप्त करता है, तब उसी समय आनन्दमयी, अमृतमयी, शान्तिमयी भक्तिमाताका प्राकट्य हो जाता है और साधकका जीवन कल्याणमय, धन्य एवं कृतार्थ हो जाता है।

उपसंहार

अन्तमें वैदिक स्तुति-प्रार्थना-नमस्कारादि—जो भक्तिके खास अङ्ग हैं—मन्त्रोंद्वारा प्रदर्शन करके अपने लेखका उपसंहार करता हूँ—

ॐ यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

(अथर्व० १०। ८। १)

ॐ नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥

(अथर्व० ११। २। १६)

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव॥

(ऋ० ५। ८२। ५; शु० य० ३०। ३)

'जो भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकालिक समस्त जगत्का अधिष्ठाता—नियन्ता है एवं केवल स्वः (विशुद्ध अनन्त आनन्द) ही जिसका स्वरूप है, उस ज्येष्ठ (अतिप्रशस्त—महान्) ब्रह्मको नमस्कार है। उसे सायंकाल नमस्कार हो, प्रातःकाल नमस्कार हो। रात्रिमें नमस्कार हो एवं दिवसमें नमस्कार हो। अर्थात् सर्वदा उसीकी ओर हमारी भक्ति-भावसे भरी बुद्धिवृत्तियाँ झुकी रहा करें उस विश्व-उत्पादक एवं

विश्व-उपसंहारक भगवान्‌को मैं दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ। हे सविता देव! 'भगवन्! हमारे समस्त दुःख-प्रद कल्मषोंको तू दूर कर और जो कल्याणकर सुखप्रद भद्र है, उसे हमें समर्पण कर। (यहाँ नास्तिकता, अश्रद्धा, अविवेक, दारिद्र्य, कार्पण्य, असंयम, दुराचार आदि अनेक दोषोंका नाम दुरित है और तद्विपरीत आस्तिकता, श्रद्धा, विवेक, उदारता, नम्रता, संयम, सदाचार आदि सद्गुणोंका नाम भद्र है। हरिः ॐ तत्सत्, शिवं भूयात् सर्वेषाम्।)

वेदोंमें भक्ति

(लेखक—याज्ञिक-सम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़ वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

'भज सेवायाम्' धातुसे 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० सू० ३।३।९४) इस सूत्रके अनुसार 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर 'भक्ति' शब्द बनता है। वस्तुतः 'क्तिन्' प्रत्यय भाव-अर्थमें होता है—'भजनं भक्तिः।' परंतु वैयाकरणोंके यहाँ कृदन्तीय प्रत्ययोंके अर्थ-परिवर्तन एक प्रक्रियाके अङ्ग हैं। अतः वही 'क्तिन्' प्रत्यय अर्थान्तरमें भी हो सकता है।

'भजनं भक्तिः', 'भज्यते अनया इति भक्तिः', 'भजन्ति अनया इति भक्तिः'—इत्यादि 'भक्ति' शब्दकी व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं।

'भक्ति' शब्दका वास्तविक अर्थ 'सेवा' है। वह सेवा अनेक प्रकारसे सम्पन्न होती है। जिसमें किसी भी प्रकारकी भक्ति है, उसे 'भक्त' कहते हैं। भक्ति तथा भक्तके अनेक भेदोपभेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं।

भक्तिके बिना किसी भी मनोरथकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह सर्वानुभवसिद्ध है। भगवत्प्राप्ति-जैसा परम कल्याणकारक विषय भी भक्तिके बिना सम्भव नहीं। विशेषता यह है कि भगवान् भी अपने भक्तका भजन करते हैं और भक्त भगवान्‌का।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४।११)

—के अनुसार भगवान् भी भक्तका भजन करते हैं।

न मे भक्तः प्रणश्यति।　(गीता ९।३१)

—इस वचनके अनुसार भगवान् स्वयं अपने भक्तका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं।

भगवति मनःस्थिरीकरणं भक्तिः।

अर्थात् भगवान्‌में चित्तकी स्थिरताको भक्ति कहते हैं।

अद्वैतसिद्धिकार परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्प-वृत्तिर्भक्तिः।

"भगवद्भावसे द्रवित होकर भगवान्‌के साथ चित्तके सविकल्प तदाकारभावको 'भक्ति' कहते हैं।"

भक्तिरसायन (१।३) में श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'भक्ति'का लक्षण यों किया है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

सारांश यह है कि भगवद्गुणके श्रवणसे द्रवीभूत होनेवाली भगवद्विषयिणी धारावाहिक वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं।

देवर्षि नारदने भक्तिका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।
(नारदभक्तिसूत्र २)

'परमेश्वरके प्रति होनेवाले परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं।'

महर्षि शाण्डिल्यने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र १।१।२)

'ईश्वरके प्रति परमानुरागको ही भक्ति कहते हैं।'

साधारणतया वेदके कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन

* इस लेखके लेखक पूज्य महामण्डलेश्वर महाराजद्वारा संस्कृतमें लिखित तथा 'अध्यात्मज्योत्स्नाविवृति' समन्वित 'ऋग्वेद-संहितोपनिषच्छतकम्', 'यजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतकम्' तथा 'अथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतकम्'—ये तीन पुस्तकें [illegible] एवं वेद-संहिताओंके आध्यात्मिक ज्ञानरहस्यके जिज्ञासुओंको केवल डाकव्यय भेजनेपर बिना मूल्य दी जाती हैं। पता—स्वामी [illegible] कोठारीजी महाराज, ठि० सुरतगिरिका बंगला, मु० कनखल (हरिद्वार), जि० सहारनपुर, उ० प्र०।

काण्ड माने जाते हैं। इनमें कर्मकाण्डका सम्बन्ध संहिता-ब्राह्मणभागसे और उपासना तथा ज्ञानकाण्डका सम्बन्ध आरण्यक-उपनिषद्भागसे है। फिर भी—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति (कठोपनिषद् १।२।१५)

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (गीता १५।१५)

—आदि वचनोंके आधारपर यह निश्चित होता है कि समस्त वेदोंका परम तात्पर्य परमेश्वरके ही प्रतिपादनमें है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम, सोम आदि विभिन्न नाम-रूपोंसे एक ही परमेश्वर समस्त विश्वकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयका कार्य कर रहे हैं; क्योंकि—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव………………।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते॥
(ऋग्वेद ६।४७।१८)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

—इत्यादि मन्त्रोंसे यह स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि एक ही परमेश्वर इन्द्रादि विविध नामोंसे कहा गया है। इससे साराश यह निकला कि वेदोंमें इन्द्रादि विविध नामोंसे जो भी स्तुति आदि की गयी है, वह वस्तुतः परमेश्वरकी ही है।

'भक्ति' शब्दका अर्थ परमेश्वर-विषयक अनुराग है। उस अनुरागको* भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि विविध शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओंसे चरितार्थ करता है। इसीलिये भक्तिके अवान्तर अनेक भेदोंका वर्णन समय-समयपर महापुरुषोंने किया है।

वेदोंमें भी अनेक स्थलोंमें 'नवधा-भक्ति'का निरूपण है।

अब हम कतिपय उन वेदमन्त्रोंको उद्धृत करते हैं, जिनमें नवधा-भक्तिका वर्णन मिलता है; किंतु यह ध्यान रहे कि वेदोंमें भक्तिका स्वरूप बीजरूपमें ही मिलता है। इतिहास-पुराणादिमें इसीका महर्षियोंने उपबृंहण किया है।

१—श्रवण

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा। (शु० यजुर्वेद २५।२१)

यह मन्त्र वेदत्रयीमें मिलता है। इसमें देवताओंसे प्रार्थना की गयी है कि 'हम भद्रपदवाच्य परमेश्वरके नाम, गुण, चरित्रोंका श्रवण करें।' 'भद्र' शब्दका अर्थ कल्याण, मङ्गल आदि है। 'कल्याणानां निधानम्', 'मङ्गलानां च मङ्गलम्' आदि वचनोंसे परमेश्वर ही परम मङ्गलस्वरूप हैं। भक्त उन्हीं मङ्गलमय परमेश्वरके (नाम-गुण-कथा-) श्रवणकी प्रार्थना करके अपनी 'श्रवण-भक्ति' व्यक्त करता है। उपर्युक्त 'भद्रं कर्णेभिः' इस मन्त्रके अन्तमें भक्त यहाँतक प्रार्थना करता है कि 'मैं दृढ़ अवयवयुक्त शरीरसे उसी प्रभुका स्तवन करता हुआ उस देव (परमेश्वर) के हितार्थ—प्रसन्नतार्थ—अपनी समस्त आयु व्यतीत करूँ'—

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।

२—कीर्तन

सुष्टुतिमीरयामि। (ऋग्वेद २।३३।८)

प्र सम्राजम्। (ऋग्वेद ८।१६।१; सामवेद पूर्वा० २।१।५।१०; अथर्ववेद २०।४४।१)

'इमा उ त्वा' (सामवेद पूर्वार्चिक २।२।१।२)

—इन मन्त्रोंमें कीर्तनरूप भक्तिका सकेत है।

३—स्मरण

स्वाम त्वा स्वाध्यः। (ऋग्वेद १।१६।९)

भर्गो देवस्य धीमहि। (ऋग्वेद ३।६२।१०; शुक्ल-यजुर्वेद ३।३५)

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु (सामवेदीय मैत्रेय्युपनिषद् १।४।८)

—इन मन्त्रोंमें परमेश्वरकी स्मरणरूपा भक्ति तथा भजनीय तत्त्वके स्वरूपका वर्णन है।

४—पादसेवन

पदं देवस्य। (ऋग्वेद ८।१०२।१५; सामवेद उत्त० ७।२।१४।२)

इदं विष्णुः। (ऋग्वेद १।२२।१७; शुक्लयजुर्वेद ५।१५; सामवेद पूर्वा० ३।१।३।९)

—इन मन्त्रोंमें पादसेवनात्मिका भक्तिका सकेत मिलता है।

---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भागवत ७।५)

५—अर्चन

इन्द्राय सद्मने। (ऋग्वेद ८ । ९२ । १९; सामवेद पूर्वा० २ । २ । २ । ४)

अर्चत प्रार्चत। (सामवेद पूर्वा० ४ । २ । ३ । ३)

—इन मन्त्रोंमें अर्चन-भक्तिका उल्लेख मिलता है।

६—वन्दन

अभि त्वा शूर नोनुमः। (ऋग्वेद ७ । ३२ । २२; शुक्लयजुर्वेद २७ । ३५; सामवेद पूर्वा० ३ । १ । ५ । १; अथर्ववेद २० । १२१ । १)

नमस्य मन्यवे। (सामवेद पूर्वा० २ । १ । ५ । ३)

—इन मन्त्रोंमें वन्दनात्मक भक्ति दिखलायी गयी है।

७—दास्य

भद्रम् कृध। (ऋग्वेद ८ । ९३ । ४; शुक्लयजुर्वेद ३३ । ३५; सामवेद पूर्वा० २ । १ । ४ । २; अथर्ववेद २० । ११२ । १)

आ घा ये। (शुक्लयजुर्वेद ७ । ३२; सामवेद पूर्वा० २ । १ । ४ । ९)

—इन मन्त्रोंमें दास्य-भक्ति प्रदर्शित की गयी है।

८—सख्य

स नः पितेव सूनवे। (ऋग्वेद १ । १ । ९)

अस्य प्रियासः सख्ये स्याम। (ऋग्वेद ४ । १७ । ९)

देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम् (ऋग्वेद १ । ८९ । २; शुक्लयजुर्वेद २५ । १५)

य आनयत् परावतः। (साम० पूर्वा० २ । १ । ४ । ३)

—इन मन्त्रोंमें सख्य-भक्तिका बोधन कराया गया है।

९—आत्मनिवेदन

उत वात पितासि नः। (ऋग्वेद १० । १८६ । २; सामवेद उत्त० ९ । २ । ११ । २)

यं रक्षन्ति। (सामवेद पूर्वा० ७ । २ । १० । १)

मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। (श्वेता० उ० ६ । १८)

—इन मन्त्रोंमें आत्मनिवेदनका भाव अभिव्यक्त होता है।

छान्दोग्योपनिषद्में सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत्में परम पुरुष परमेश्वरकी उपासनाके प्रकरणमें बतलाया गया है कि जो व्यक्ति यह जानता हुआ कि सूर्य आदिमें विद्यमान जो परमेश्वर है, वह मैं ही हूँ, इस प्रकार अभेद-भावनासे उन्हीं परमेश्वरकी उपासना करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वह इहलोकमें सम्मानित होता है तथा दीर्घायुको प्राप्त करता है और उसके वंशका कभी क्षय नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि परमेश्वरकी भक्ति (उपासना) ही मनुष्यके कल्याणका एकमात्र मार्ग है। अतः मनुष्यके लिये सर्वात्मना भक्तिका अवलम्बन करना परमावश्यक है; क्योंकि भक्तिका अन्तिम फल भगवत्स्वरूप-ज्ञान है। भगवत्स्वरूप (ब्रह्म) के ज्ञानसे ही प्राणी मुक्त होता है अर्थात् वह बारबार जन्म-मृत्युरूप महाभयंकर बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पा जाता है, जिससे मुक्त होनेका अन्य कोई भी उपाय नहीं है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
(शुक्लयजुर्वेद ३१ । १८)

य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः। (ऋग्वेद १ । १६४ । २३; अथर्ववेद ९ । १० । १)

'जो उस प्रभु (ब्रह्म) को जान लेते हैं, वे मोक्ष-पदको प्राप्त करते हैं।'

वेदोंमें माधुर्य-भक्तिका भी सफल निर्देश है। वेदने ब्रह्म-को 'रस' कहा है—'रसो वै सः' (तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ७)। भक्तोंके लिये स्थाणु ब्रह्म 'मधु ब्रह्म' बन जाता है—

'मधु क्षरति तद् ब्रह्म।'

सर्वविध रसोंके उज्ज्वल प्रस्रवणके रूपमें भी उसका वर्णन आता है—'सर्वगन्धः सर्वरसः' (छान्दो० उ० ३ । १४ । २)।

अन्तमें हम अथर्ववेद (६ । ७९ । ३) के—

'तस्य ते भक्तिवांसः स्याम।'

(हे प्रभो! हम तेरे भक्त बनें) इस मन्त्रांशका स्मरण करते हुए लेख समाप्त करते हैं।

लेख-विस्तारके भयसे इस लेखमें नवधा भक्तिविषयक चारों वेदोंके मन्त्र पूर्ण न लिखकर केवल मन्त्रोंका प्रतीक मात्र दिया गया है और उनका अर्थ भी नहीं दिया गया है। अतः विशेष जिज्ञासुओंको ऋग्वेदादिके पूरे मन्त्रों-के परिज्ञानार्थ निर्दिष्ट मन्त्र-संकेतानुसार मन्त्र और ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेदके मन्त्रोंका अर्थ जाननेके लिये 'सायण-भाष्य' और शुक्लयजुर्वेदके मन्त्रोंका अर्थ जाननेके लिये 'महीधर-भाष्य' देखना चाहिये।

वेदोंमें भक्तिका स्वरूप

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार)

वेदोंके सम्बन्धमें कई प्रकारकी मिथ्या और भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इनमें एक यह भी है कि वेदोंमें भक्तिप्रेरक भावनाएँ उतनी विशद नहीं हैं, जितनी अन्य ग्रन्थोंमें—विशेषतः मध्यकालीन भक्तोंकी वाणीमें हैं। एक धारणा यह भी है कि वेदमन्त्र इतने क्लिष्ट हैं कि सामान्य जनके लिये उनका समझना कठिन होता है। इस सम्बन्धमें हमारा निवेदन यह है कि यदि संस्कृत भाषाका और विशेषतः वैदिक संस्कृतका तनिक भी ज्ञान हो तो वेदके अधिकांश मन्त्र सहज ही समझमें आ जाते हैं। वास्तविक तथ्य यह है कि वेद स्वयं इतने कठिन नहीं हैं, जितना भाष्यकारोंने उन्हें कठिन बना दिया है। वेदोंकी संस्कृत भाषा उस संस्कृतसे कई अंशोंमें भिन्न है, जिसे हम वाल्मीकि रामायण, महाभारत और गीतामें पढ़ते हैं। उदाहरणके लिये 'देव' शब्दका तृतीया विभक्तिका बहुवचन प्रचलित संस्कृतमें 'देवैः' होता है; पर वेदमें प्रायः 'देवेभिः' का प्रयोग आता है। वेदको वेदसे समझनेका और पूर्ण श्रद्धाके साथ उसका अध्ययन करनेका यदि प्रयत्न किया जाय तो निज अनुभवके आधारपर हम कह सकते हैं कि सारी दिक्कतें दूर हो जाती हैं। गुरुजनों और विद्वत्पुरुषोंसे नम्रतापूर्वक शङ्का-निवारण तो करते ही रहना चाहिये।

भक्तिका स्वरूप

वेद वस्तुतः भक्तिके आदिस्रोत हैं। यदि हम भक्तिका स्वरूप समझ लें तो वेदोंमें वर्णित भक्तितत्त्वको समझनेमें सुगमता होगी। भक्तिका लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार किया गया है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् परमेश्वरसे अविचल और ऐकान्तिक भावना और आत्मसमर्पणकी उत्कट आकाङ्क्षा-को 'भक्ति' कहा गया है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि 'भक्ति' शब्द 'भज्-सेवायाम्' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर सिद्ध होता है। अर्थात् भक्ति हृदयकी उस भावनाका नाम है, जिसमें साधक जहाँ एक ओर पूर्णभावसे ब्रह्ममें अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपनेको ब्रह्मार्पण करनेवाला हो, वहाँ साथ ही ब्रह्मद्वारा रचित इस सारी सृष्टिके प्रति सेवाकी भावना रखनेवाला भी हो। ऋग्वेदके शब्दोंमें—

> मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
> मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्॥

वेदका भक्त कहता है—'मैं सब प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ और सब प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखनेवाले हों।'

भक्ति और शक्तिका अटूट सम्बन्ध

वैदिक भक्तिकी एक और विशेषता है, आगे चलकर जिसका मध्यकालमें लोप हो गया। वह यह कि वेदमें आपको ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलेगा, जिसमें उपासक, साधक अथवा भक्त अपने-को अधम, नीच, पापी, खल, दुष्ट, पतित इत्यादि कहे अथवा प्रभुको किसी प्रकारका उपालम्भ दे। इसका कारण यह है कि वेदमें 'भक्ति'के साथ 'शक्ति'का सतत और अविच्छिन्न सम्बन्ध माना गया है। वेदके द्वारा प्रभु यह आदेश देते हैं कि निर्बल और अशक्त आत्मा सच्चा भक्त नहीं बन सकता। इसलिये वेदमें भक्त—

> तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ (यजुर्वेद)

प्रभुको तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहन-शक्तिका अजस्र भंडार मानता हुआ उससे तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहनशक्तिकी कामना करता है। वेदका भक्त कितना सशक्त और कितना आत्मविश्वासी है—यह इस मन्त्रके एक अंशमें देखिये—

> कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः॥
> (अथर्व० ७। ४०। ८)

'मेरे दायें हाथमें कार्यशक्ति है और बायें हाथमें विजय है।'

प्रभुके प्रति प्रणमनकी भावना

पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वेदमें ब्रह्मके प्रति साधककी प्रणमन, विनम्रता और आत्मलघुताकी भावनाका निराकरण है। निम्नलिखित उदाहरणस्वरूप मन्त्रोंमें भक्त कितनी तन्मयताके साथ विशाल प्रभु-चरणोंमें अपनेको नत-मस्तक हो उपस्थित करता है—

> (१) यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
> स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
> (अथर्व० १०। ८। १)

भूत-भविष्यत-वर्तमानका जो प्रभु है अन्तर्यामी।
विश्व व्योममें व्याप्त हो रहा जो त्रिकालका है स्वामी॥
निर्विकार आनन्द-कन्द है जो कैवल्यस्वरूप सुखधाम।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

(२)यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व १० । ७ । ३२)

सत्य ज्ञानकी परिचायक यह पृथ्वी जिसके चरण महान।
जो इस विस्तृत अन्तरिक्षको रखता है निज उदर समान॥
शीर्षतुल्य है जिसके शोभित यह नक्षत्रलोक द्युतिमान।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

प्रभुसे हम क्या माँगें, यह निम्न मन्त्रमें देखिये—

गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥
(ऋग्० १ । ८६ । १०)

'हे प्रियतम! हृदय-गुहाके अन्धकारको विलीन कर दो, नाशक पापको भगा दो और हे ज्योतिर्मय! हम जिस ज्योतिको चाहते हैं वह हमें दो।'

शरणागतकी भावना

भगवान् अशरणोंके शरण हैं। उन्हींकी कृपासे मेरा उद्धार हो सकता है—

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः॥

(ऋग्० ८ । ११ । १; यजु० ४ । १६; अथर्व १९ । ५९ । १)

चतुर्दिक् तुम्हीं नाथ छाये हुए हो,
मधुर रूप अपना दिखाये हुए हो।
तुम्हीं व्रत-विधाता, नियन्ता जगतके,
स्वयं भी नियम सब निभाये हुए हो।
प्रभो! शक्तियाँ दिव्य अनुपम तुम्हारी,
तुम्हीं दूर, तुम पास आये हुए हो।
करें हम यजन, पुण्य शुभकर्म जितने,
सभीमें प्रथम स्थान पाये हुए हो।
तुम्हारी करें वन्दना देव! निशिदिन,
तुम्हीं इस हृदयमें समाये हुए हो॥

निराश मत हो, मानव!

जिस समय मानवकी जीवन-नैया इस भवसागरमें डाँवाडोल होती है और वह निराश हो जाता है, उस समय करुणागार भगवान् आशाकी प्रेरणा देते हैं—

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं
ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथम्
अथ जिर्विर्विदथ्मा वदासि॥
(अथर्व ८ । १ । ६)

किसलिये नैराश्य छाया?
किसलिये कुम्हला रहा यह फूल-सा चेहरा तुम्हारा।
तुम स्वयं आदित्य! दुर्दिनका न गाओ गान रोकर।
हे सुदिव्य महारथी! संकल्प एक महान होकर।
फिर बढ़ो, फिर-फिर बढ़ो, चिरतक बढ़ो, अभिमान खोकर।
फिर तुम्हारी हार भी विख्यात होगी जीत बनकर।
फिर तुम्हारी मृत्यु गूँजेगी अमर संगीत होकर।
काल यह संदेश लाया, किसलिये नैराश्य छाया॥

प्रभुका यह विश्व रमणीक है

वेदका भक्त इस विश्वको दुःखदायक और भ्रमपूर्ण नहीं समझता। वह इसे 'रमणीय' समझता है और वास्तविक समझता है। वह प्रभुसे प्रार्थना करता है—

वसन्त इन्नु रन्त्यः, ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनुशरदो हेमन्तः, शिशिर इन्नु रन्त्यः॥
(साम ६ । ३ । १४ । २)

वसन्त रमणीय सखे, ग्रीष्म रमणीय है।
वर्षा रमणीय सखे, शरद रमणीय है।
हेमन्त रमणीय सखे, शिशिर रमणीय है।
मन स्वयं भक्त बने, विश्व तो रमणीय है।

वेदोंमें भक्तिके उदात्त और पुनीत उद्गार अनेक स्थलोंपर अङ्कित हैं। हमने यहाँपर कुछ उदाहरण ही उपस्थित किये हैं। इन्हें पढ़कर यदि हमारी वेदोंमें श्रद्धा बढ़े, उनके स्वाध्यायकी ओर प्रवृत्ति हो और वेदोंकी रक्षा और उनके प्रचारकी ओर हम लग सकें तो निश्चय ही हमारा अपने देशका और विश्वका कल्याण होगा। मङ्गलमय भगवान् ऐसी कृपा करें।

वेदोंमें ईश्वर-भक्ति

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसाद सिंह)

कुछ लोगोंका कहना है कि वेदोंमें ईश्वर-भक्तिका समावेश नहीं, परंतु विचार करनेसे पता लगता है कि वेदोंमें ईश्वर-भक्तिके विषयमें जो मन्त्र विद्यमान हैं, वे इतने सारगर्भित तथा रससे भरे पड़े हैं कि उनसे बढ़कर भक्तिका सोपान अन्यत्र मिलना कठिन है। ईश्वर-भक्तिके सुगन्धित पुष्प वेदके प्रत्येक मन्त्रमें विराजमान हैं, जो अपने प्राणकी सुगन्धसे स्वाध्यायशील व्यक्तियोंके हृदयोंको सुवासित कर देते हैं। वेदमें एक मन्त्र आता है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमा दिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु० २५। १२)

'जिसकी महिमाका गान हिमसे ढके हुए पहाड़ कर रहे हैं, जिसकी भक्तिका राग समुद्र अपनी सहायक नदियोंके साथ सुना रहा है और ये विशाल दिशाएँ जिसके बाहुओंके सदृश हैं, उस आनन्दस्वरूप प्रभुको मेरा नमस्कार है।'

प्रभुकी महिमा महान् है। अणु-अणुमें उसकी सत्ता विद्यमान है। ये सूर्य, चन्द्र, तारे तथा संसारके सारे पदार्थ उसकी सर्वव्यापकताके साक्षी हैं। उषाकी लालिमा जब चहुँदिक् छा जाती है, भाँति-भाँतिके पक्षी अपने विविध कलरवोंसे उसीकी भक्तिके गीत गाते हैं। पहाड़ी झरनोंमें उसीका संगीत है। जिस प्रकार समाधिकी अवस्थामें एक योगी बिल्कुल निश्चेष्ट होकर ईश्वरके ध्यानमें लवलीन हो जाता है, उसी प्रकार ये ऊँचे-ऊँचे पहाड़ अपने सिरोंको हिमकी सफेद चादरसे ढककर ध्यानावस्थित होकर अपने निर्माताकी भक्तिमें मौन भावसे खड़े हैं। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि भक्तिके आवेशमें ईश्वर-भक्तकी आँखोंसे प्रेमके अश्रु छलक पड़ते हैं। उसी प्रकार पर्वतोंके अंदरसे जो नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं, वे ऐसी लगती हैं मानो उन पर्वतोंके हृदयसे जल-धाराएँ भक्तिके रूपमें निकल पड़ी हैं। जैसे ईश्वर-भक्तके हृदयमें लहराते हुए परमात्मप्रेमके अगाध सिन्धुमें नाना प्रकारकी तरङ्गें उठती हैं, उसी प्रकार आकर्षण-शक्तिके द्वारा जिसे प्रभुने समुद्रके हृदयमें डाल रखा है, उस प्रेमकी ज्वार-भाटाके रूपमें विशाल लहरें समुद्रमें पैदा होती हैं। यह प्रेम समुद्रके हृदयमें किसने पैदा किया? समुद्र और चन्द्रमाके बीच जो आकर्षण-शक्ति है, यह कहाँसे आयी? किस महान् शक्तिकी प्रेरणासे पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाके पूर्ण विकसित चेहरेको देखकर समुद्र अपने प्राणप्रिय चन्द्रदेवसे मिलनेके लिये बाँसों उछलता है? ठीक इसी प्रकार जब ईश्वर-भक्त परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, उसका हृदय भी गद्‌गद होकर उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। यह सच है कि प्रकृति देवी धानी साड़ी पहने हुए अपने पतिदेव परमात्माकी भक्तिमें दिन-रात लगी रहती है। एक वाटिकाके खिले फूल अपनी आकर्षक सुरभिके साथ मूक स्वरसे अपने निर्माताका स्तवन करते रहते हैं। सूर्यकी प्रचण्डता, चन्द्रकी शीतल ज्योत्स्ना, ताराओंका झिलमिल प्रकाश, अरोरा बोरियालिसका उत्तरी ध्रुवमें प्रकाशित होना तथा ऑस्ट्रेलिसका दक्षिणी ध्रुवमें उदय होना, हिमाच्छादित पर्वत-मालाएँ, कलकल करती हुई सरिताएँ, झरझर झरते हुए झरने मानो अपने निर्माताकी भक्तिके गीत सदा गाते रहते हैं। वेद-भगवान् हमें आदेश देते हैं कि वह ईश्वर जिसकी महिमाका वर्णन ये सब पदार्थ कर रहे हैं, जिसकी भक्तिका राग यह सकल ब्रह्माण्ड गा रहा है—हे मनुष्य! यदि दुःखोंसे छूटना चाहता है तो तू भी उसीकी भक्ति कर। इसके अतिरिक्त दुःखोंसे छूटनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥

दर्शनोंमें भक्ति

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीउमेशजी मिश्र, एम्० ए०, डी०लिट्)

भारतीय दर्शनोंका एकमात्र लक्ष्य है 'आत्मदर्शन'। जितने दर्शन हैं, वे सब इसी आत्मदर्शनके लिये हमें उपाय दिखाते हैं। यही बात श्रुतिमें भी कही गयी है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।' ये तीनों प्रक्रियाएँ प्रत्येक अवस्थामें प्रत्येक अनुभवके लिये एवं आत्मसाक्षात्कारके निमित्त अत्यावश्यक हैं।

यह सभी जानते हैं कि 'दर्शन' (देखना) 'ज्ञान' की एक विशेष अवस्था है।

यही बात गीतामें भगवान्‌ने कही है—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

(१३ । ११)

उसके लिये 'निदिध्यासन' की आवश्यकता होती है। एकाग्रचित्तसे तन्मय होकर 'आत्मा' को या किसी भी वस्तुको देखना, अर्थात् चित्तका दृश्य वस्तुके आकारका हो जाना ही 'निदिध्यासन' है। इस एकाग्रताके लिये 'अभ्यास' और 'वैराग्य'की सहायतासे चित्तकी चञ्चल वृत्तियोंको रोककर समाधिमें स्थिर हो जाना पड़ता है।

यह ध्यानमें रखना चाहिये कि किसी वस्तुके साथ तन्मय होनेके लिये उस वस्तुमें अनन्यभक्ति रखना तथा उस वस्तुको छोड़कर अन्य सभी वस्तुओंके प्रति सर्वथा वैराग्य प्राप्त करना आवश्यक है। अतएव 'आत्मदर्शन' के लिये आत्माके प्रति अनन्यभक्ति एवं आत्मासे इतर वस्तुओंके प्रति वैराग्यका होना आवश्यक है। यद्यपि प्रत्येक भारतीय दर्शन उसी 'आत्मदर्शन' का साधन है, तथापि सर्वतोभावेन 'आत्म-साक्षात्कार' प्रत्येक स्तरपर नहीं होता। प्रत्येक 'दर्शन' तो आत्म-दर्शनमार्गकी एक-एक सीढ़ी है, अतएव हरेक सीढ़ीपर आंशिकरूपमें आत्मदर्शनके आभासका केवल भानमात्र होता है। सर्वतोभावेन साक्षात्कार तो 'काश्मीर-शैव-दर्शन' के द्वारा ही प्राप्त होता है; परंतु भक्ति और वैराग्यकी आवश्यकता हरेक स्तरपर रहती है।

'भक्ति' शब्द सेवा करनेके अर्थमें 'भज्' धातुसे बना है। परमतत्त्व 'आत्मा' या भगवान्‌के साक्षात्कारके लिये 'भक्ति' का स्थान बहुत ही ऊँचा है। नारदने 'भक्तिसूत्र' में इसीलिये कहा है—

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।

'देवीभागवत' में भी कहा गया है—

मत्सेवातोऽधिकं किंचित् नैव जानाति कर्हिचित्।

'नारदपाञ्चरात्र' में तो 'मुक्ति' से भी अधिक महत्त्व 'भक्ति' को दिया गया है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥
तस्मात् सैव प्राप्या मुमुक्षुभिः।

श्रीरामानुजाचार्यने अपने गीताभाष्यमें कहा है—

पाण्डुतनययुद्धप्रोत्साहनव्याजेन परमपुरुषार्थलक्षण-मोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगम् अवतारयामास।

न केवल भगवान्‌का साक्षात्कार करनेके लिये ही 'भक्ति' की आवश्यकता है; अपितु किसी भी वस्तुके यथार्थ ज्ञानके लिये उस वस्तुके प्रति जबतक अनन्यभक्ति न होगी, तबतक उसका पूर्ण ज्ञान कभी नहीं हो सकता। इसीलिये प्रत्येक 'दर्शन' में निदिध्यासन आवश्यक माना गया है।

साधारणरूपसे आत्मदर्शन या ईश्वरदर्शनके लिये दो भिन्न मार्ग हैं—ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य आदि द्वारा प्रचारित दर्शन तो भक्तिप्रधान मार्ग हैं और न्याय आदि दर्शन ज्ञानप्रधान शास्त्र हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियाँ दोनों मार्गोंका समर्थन करती हैं। रामानुजके मतमें भगवान्‌की उपासना ही निदिध्यासन या भक्ति है। ध्यान आदिके द्वारा साधक भक्तिमार्गमें अग्रसर होता है, इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। इनका 'प्रसाद' ही मोक्षका श्रेष्ठ द्वार है। भक्तिका पूर्ण स्वरूप 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' में ही दीख पड़ता है। प्रपत्तिके द्वारा ही ज्ञान तथा कर्म भी मोक्ष-की प्राप्तिमें सहायक होते हैं। ईश्वरकी उपासनाके द्वारा प्रसन्न करनेसे ही 'जीव' मुक्त होता है। यह निम्बार्कका भी मत है। मध्व तथा वल्लभ आदि सभी वैष्णव दर्शनोंका इसमें मतैक्य है।

यह सभीको ज्ञात है कि उपनिषदोंके आधारपर ही सभी भारतीय दर्शन रचे गये हैं। उपनिषदोंमें 'उपासना' का एक विशेष स्थान है। वास्तवमें 'उपासना'के द्वारा ही आत्मदर्शन

हो सकता है। अतएव भारतीय दर्शनोंमें भी 'उपासना' का एक प्रमुख स्थान है। श्रीशंकराचार्यने भी ब्रह्मसूत्रभाष्यमें तथा अन्यत्र भी उपासनाको ज्ञानकी प्राप्तिके लिये बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते।' (शांकरभाष्य १।१।२४) बौद्धदर्शनमें भी 'शमथ' अर्थात् चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिकी 'प्रज्ञा' के उदयके लिये आवश्यकता मानी गयी है। 'ध्यान' पारमिताके अनन्तर ही 'प्रज्ञा' का उदय तथा उसीसे परम तत्त्वकी अनुभूति होती है। 'शमथ' तथा 'ध्यान' में तो 'प्रपत्ति' रूप भक्ति ही प्रधान है। इसी प्रकार अन्य सभी दर्शनोंमें भक्तिका बहुत बड़ा महत्त्व है।

वस्तुतः परम तत्त्वको जाननेके लिये जिज्ञासुको आत्म-समर्पण करना पड़ता है। आत्मसमर्पणके विना ज्ञानका उदय नहीं हो सकता। जबतक अन्तःकरणसे 'अभिमान' का नाश नहीं होगा, तबतक ज्ञानका उदय किसी प्रकार न होगा और अभिमानका नाश केवल आत्मसमर्पण अर्थात् प्रपत्तिरूपा भक्तिसे ही होता है। दर्शनोंका परम लक्ष्य तो आत्म-साक्षात्कार ही है। इसकी प्राप्तिके लिये अभिमानका नाश होना परमावश्यक है। यही बात—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इस कथनसे स्पष्ट होती है। तभी तो भगवान्ने उसी क्षण एवं उसी अवस्थामें अर्जुनको तत्त्व-ज्ञानका उपदेश दिया और अर्जुनका मोह दूर हो गया। यही तो अहंकारकी पराजय तथा पराभक्तिकी महिमा है। इसके बिना दर्शनोंके क्षेत्रमें परमतत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यही बात गीतामें भिन्न शब्दोंके द्वारा भी कही गयी है—

'श्रद्धावाल्लँभते ज्ञानम्।'

'श्रद्धा' भी तो 'भक्ति' का ही एक स्वरूप है।

उपनिषद्में भक्ति

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

बहुतोंकी यह धारणा है कि उपनिषद्में केवल ज्ञानकी चर्चा है, भक्ति या कर्मकी चर्चा नहीं है; परंतु यह यथार्थ नहीं है। उपनिषद्में ज्ञान, भक्ति और कर्म—सबकी चर्चा है। यह तो सभी जानते हैं कि गीतामें ज्ञान, भक्ति और कर्म—तीनोंकी चर्चा है और यह भी सब लोग जानते हैं कि गीता उपनिषदोंका सार है। उपनिषद् गौके समान है और गीता दुग्धके समान। अतएव यदि उपनिषद्में ज्ञान, भक्ति और कर्मकी चर्चा न हो तो गीतामें किस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्मकी चर्चा हो सकती है। इस प्रबन्धमें हम यह विचार करेंगे कि उपनिषद्में भक्तिकी चर्चा किस रूपमें है।

उपनिषद्में कहा गया है कि ब्रह्मकी उपासना करना उचित है तथा ब्रह्मकी कृपा होनेपर उसको प्राप्त कर सकते हैं। 'केन' उपनिषद्में कहा है—

तद्वनमित्युपासितव्यम्॥ (४।६)

तद् (ब्रह्म) वनम् (भजनीयम्) इति उपासितव्यम्। 'भजनीय वस्तु होनेके कारण ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये।'

कठोपनिषद् कहता है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥

(२।२।३)

'ब्रह्म प्राणवायुको ऊर्ध्व दिशामें प्रेरित करता है, अपान वायुको निम्न दिशामें प्रेरित करता है। वह स्वयं भजनीयरूपमें हृदयके भीतर अवस्थान करता है, उसकी सारे देवता उपासना करते हैं।'

यदि देवतागण ब्रह्मकी उपासना करते हैं तो मनुष्योंको उसकी उपासना करनी चाहिये, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

मुण्डकोपनिषद् कहता है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

(२।२।३)

'उपनिषदुक्त धनुष ग्रहण करके उसपर शरको योजित करे। पहलेसे ही उपासनाके द्वारा उस शरको तेज धारवाला बना ले। ब्रह्ममें तन्मयतायुक्त अन्तःकरणके द्वारा उस धनुष-को आकर्षित करे और उसका लक्ष्य अक्षर ब्रह्मको ही जाने।'

यह धनुष क्या है? यह बात अगले श्लोकमें कही गयी है। प्रणव (ॐकार) ही वह धनुष है, आत्मा (जीवात्मा) शर है तथा ब्रह्म उसका लक्ष्य है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

(मुण्डक० २ । २ । ४)

'प्रणव (ॐकार) धनुष है, आत्मा शर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है । यत्नपूर्वक लक्ष्य-भेद करे । शरके समान तन्मय हो जाय ।'

कठोपनिषद्में निम्नाङ्कित श्लोक पाया जाता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

(१ । २ । २३)

इसका सरल अर्थ इस प्रकार है—

'यह आत्मा उत्कृष्ट शास्त्रीय व्याख्यानके द्वारा उपलब्ध नहीं किया जाता, मेधाके द्वारा नहीं प्राप्त होता, बहुत पाण्डित्यके द्वारा (भी) नहीं प्राप्त होता । यह जिसको वरण करता है, उसीको प्राप्त होता है । उसके सामने यह आत्मा अपने स्वरूपको व्यक्त करता है ।'

यह भक्तिकी चर्चा है । ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मकी कृपा अर्जन करनी पड़ती है । जो मनुष्य ब्रह्मकी उपासना करता है, उसीपर ब्रह्मकी कृपा होती है । बहुत विद्या-बुद्धि होनेसे ही ब्रह्मकी कृपा होगी, ऐसी बात नहीं है । इसके लिये भक्तिका होना आवश्यक है ।

श्रीरामानुज-मतके अनुयायी श्रीरङ्ग रामानुजने उपर्युक्त मन्त्रकी इस प्रकारसे व्याख्या की है । परंतु श्रीशंकराचार्य इस प्रकारकी व्याख्या नहीं करते । ऐसी व्याख्या करनेमें उनको दो आपत्तियाँ हो सकती हैं । पहले तो उनके मतसे ज्ञानके द्वारा मोक्ष होता है, मोक्षकी प्राप्ति ब्रह्मकी कृपाकी अपेक्षा नहीं करती । दूसरी बात यह है कि उनके मतसे ब्रह्म और जीवात्मा अभिन्न हैं । इसलिये वे यह नहीं कहते कि जीवात्मा ब्रह्मको प्राप्त करेगा । अतएव उन्होंने दूसरे प्रकारसे व्याख्या की है । वे कहते हैं—

यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैषात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत् । निष्कामस्यात्मानमेव प्रार्थयत । आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः ॥

इसका अर्थ यह है कि 'वह साधक जो अपने आत्माको वरण करता है, वही वरणकारी है । उस वरणकारी आत्माके द्वारा स्वयं आत्मा ज्ञात होता है । जो निष्काम है, वह केवल आत्माकी ही प्रार्थना करता है । आत्मा ही आत्माको जानता है ।' यह व्याख्या अस्पष्ट तथा क्लिष्ट कल्पनासी जान पड़ती है । मूलमें है कि आत्मा जिसको वरण करता है, वही उसे प्राप्त करता है । परंतु इस व्याख्यामें कहा गया है कि जो आत्मा वरण करता है, वह प्राप्त करता है । यह श्लोक मुण्डक उपनिषद् (३ । २ । ३) में भी है । वहाँ शंकरने कुछ भिन्न प्रकारसे व्याख्या की है । जैसे—

यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान् वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो नान्येन साधनान्तरेण नित्यलब्धस्वभावत्वात् ॥

इसका अर्थ यह है कि 'यह विद्वान् जिस परमात्माको वरण करता है, उसी वरणद्वारा उस परमात्माकी प्राप्ति होती है, किसी दूसरे साधनका प्रयोजन नहीं रहता; क्योंकि वह नित्य निज स्वभावको प्राप्त हुआ रहता है ।'

जान पड़ता है कि मुण्डकोपनिषद्के इस श्लोककी व्याख्या करते समय आचार्य शंकरने यह व्यक्त कर दिया है कि पहले कठोपनिषद्में इसकी जैसी व्याख्या हुई है, वह ठीक नहीं हुई है । इसी कारण यहाँ और ही ढंगसे व्याख्या की गयी है । परंतु इस व्याख्यामें भी 'यम्' तथा 'तेन' इन दो शब्दोंके बीच संगतिकी रक्षा नहीं हुई है । रामानुज-मतके अनुसार जो व्याख्या की गयी है, वह खूब सरल और संतोषजनक है—इसमें संदेह नहीं ।

कठोपनिषद्में एक और श्लोकमें भक्तिकी चर्चा है—

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

(१ । २ । २०)

'आत्मा अणुसे भी अणु है, महान्से भी महान् है । यह प्राणीकी हृदय-गुहामें अवस्थान करता है । निष्काम साधक ईश्वरकी कृपासे उसका दर्शन करता है । उसका दर्शन करनेपर साधकमें सर्वज्ञता आदि महिमाका आविर्भाव होता है तथा वह शोकसे उत्तीर्ण हो जाता है ।'

यह व्याख्या रामानुजके मतके अनुसार की गयी है । परंतु आचार्य शंकरने इस श्लोकमें 'धातुः प्रसादात्' के स्थानमें

'धातुप्रसादात्' पाठ ग्रहण करके इसकी व्याख्या की है। धातु अर्थात् मन आदि इन्द्रियाँ, उनके प्रसाद अर्थात् निर्मलताके प्राप्त होनेपर आत्मदर्शन होता है। इस प्रकार व्याख्या करनेसे यहाँ भक्तिका प्रसङ्ग नहीं रह जाता। 'धातुः प्रसादात्'—यह पाठ मध्वाचार्यने भी ग्रहण किया है।

इस प्रबन्धके अन्तिम भागमें हमने श्वेताश्वतर-उपनिषद्से एक श्लोक उद्धृत किया है। उसमें कहा गया है कि श्वेताश्वतर ऋषिने तपस्याके प्रभावसे तथा 'देवप्रसादात्' अर्थात् ईश्वरकी कृपासे ईश्वरको प्राप्त किया था। कठोपनिषद्के इस श्लोकमें 'धातुः प्रसादात्' पाठ लेनेपर श्वेताश्वतर-उपनिषद्की उक्तिके साथ उसकी एकवाक्यता हो जाती है।

श्रीचैतन्यके द्वारा प्रचारित वैष्णव धर्ममें पाँच प्रकारकी भक्तिकी बात कही गयी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। ऋषि-मुनि लोग चित्त स्थिर करके भगवान्का चिन्तन करते हैं; इसको शान्तभावकी उपासना कहा है। ईश्वरको प्रभु तथा अपनेको उसका दास मानकर साधक जो उपासना करता है, वह दास्यभावकी उपासना है। ईश्वरको सखाके रूपमें चिन्तन करनेपर सख्यभावकी उपासना होती है। पुत्रके रूपमें चिन्तन करनेपर वात्सल्य-भावकी उपासना होती है तथा पतिके रूपमें चिन्तन करनेपर मधुरभावकी उपासना होती है। इन पाँचों भावोंमें पूर्वकी अपेक्षा परभाव उज्ज्वल होते हैं। पहले जो उपनिषद्वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उन स्थानोंमें किस भावकी उपासना है—इसका स्पष्ट उल्लेख न होनेपर भी इतना कह सकते हैं कि उक्त सभी स्थलोंमें शान्त और दास्यभावकी उपासनाकी चर्चा की गयी है। सख्य-भावकी उपासनाका उल्लेख उपनिषद्में एक जगह पाया जाता है। मुण्डक-उपनिषद् कहता है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
> समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
> नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
> (३।१।१)

'एक वृक्षपर दो पक्षी सखाके समान एकत्र रहते हैं। उनमेंसे एक पक्षी स्वादु फल (कर्मफल) खाता है। दूसरा पक्षी आहार नहीं करता, केवल देखता रहता है।'

ऋग्वेद-संहिता १।१६४।२५ में भी यह मन्त्र पाया जाता है।

मधुर और वात्सल्यभावकी उपासना दस प्रधान उपनिषदोंमें नहीं प्राप्त होती। कृष्णोपनिषद्, गोपालपूर्वतापनी-उपनिषद् आदिमें देखी जाती है।

कुछ लोगोंकी मान्यता है कि उपनिषद् जब ब्रह्मको निराकार कहते हैं, तब आकारयुक्त किसी वस्तुकी ब्रह्मरूपमें उपासना उपनिषद्-मतके विरुद्ध है। केनोपनिषद्में कहा गया है कि 'चक्षु जिसको देख नहीं सकता, जिसकी शक्तिसे चक्षुको देखा जाता है, उसको ब्रह्म जानो। जिसकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं।' जो लोग साकार पूजाके विरोधी हैं, वे इस वाक्यको अपने मतका समर्थक मानते हैं। परंतु इस वाक्यका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी भी आकारयुक्त वस्तुकी ब्रह्मरूपमें उपासना करना उचित नहीं। जिस प्रकार ब्रह्मको चक्षुके द्वारा नहीं देख सकते, उसी प्रकार मनके द्वारा भी उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता। अतएव यदि कोई मनसे निराकार ब्रह्मका चिन्तन करनेकी चेष्टा करता हुआ उपासना करता है तो वह जिसकी उपासना करेगा, वह वस्तु ब्रह्मसे भिन्न होगी। साकार या निराकार जिस किसी भी वस्तुकी उपासना की जायगी, वह ब्रह्मसे भिन्न वस्तु ही होगी। अतएव जिस प्रकार किसी निराकार वस्तुकी (जो ब्रह्म नहीं है) उपासना की जाती है, उसी प्रकार किसी साकार वस्तुकी भी (जो ब्रह्म नहीं है) उपासना की जाती है। उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें ब्रह्म-भिन्न वस्तुकी ब्रह्मके रूपमें उपासना करनेकी बात आती है। इस प्रकारकी उपासनाको प्रतीक-उपासना कहते हैं। यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि सारे पदार्थ ब्रह्मके ही अंश हैं, अतएव वस्तुतः ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

तैत्तिरीय-उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्लीके दूसरे, तीसरे और चौथे अनुवाकोंमें अन्न, प्राण, मन और विज्ञानकी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेकी बात आती है। तैत्तिरीय-उपनिषद् ३।१० में दूसरे ही प्रकारसे प्रतीक-उपासनाका उल्लेख है। छान्दोग्य-उपनिषद्में ब्रह्मोपासनाकी चर्चा है।

> सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।
> (३।१४।१)

अर्थात् जगत्की सभी वस्तुएँ ब्रह्म हैं; क्योंकि सभी वस्तुएँ ब्रह्मसे ही उत्पन्न होती हैं, ब्रह्ममें ही अवस्थान करती हैं तथा ब्रह्ममें ही विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार चिन्तन करते हुए मनको शान्त रखकर उपासना करनी चाहिये।

हम यह भूल गये हैं कि सारी वस्तुएँ ब्रह्मका अंश हैं। समझते हैं कि कोई मेरा मित्र है, कोई मेरा शत्रु है; किसीके प्रति प्रेम होता है, किसीके प्रति द्वेष होता है, मन अशान्त हो उठता है। परंतु यदि हम विचार करें कि सारी वस्तुएँ ही ब्रह्मका अंश हैं, तो इससे मन शान्त हो जाय और उपासना करनेकी सुविधा मिले। यह है वैष्णवधर्मोक्त शान्त-भावकी उपासना।

छान्दोग्य-उपनिषद्में प्रतीक-उपासनाका भी उल्लेख मिलता है—मनो ब्रह्मेत्युपासीत। (छा० ३। १८। १) 'मनकी ब्रह्मरूपमें उपासना करे।' जैसे ब्रह्मको इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मन भी इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत नहीं होता। इसी सादृश्यके कारण मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेकी बात कही गयी है। सूर्य जैसे ज्योतिर्मय है, ब्रह्म भी उसी प्रकार ज्योतिर्मय है। इस सादृश्यको लेकर सूर्यकी भी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेके लिये कहा गया है—

आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत। (छा० उ० ३। १९। १)

छान्दोग्य-उपनिषद्में निम्नलिखित वस्तुओंकी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेकी बात आयी है—(१) पूर्व, पश्चिम आदि चारों दिशाएँ; (२) पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा समुद्र; (३) अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत्; (४) प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन। (देखिये ४। ५-८)

कठोपनिषद्के निम्नलिखित वाक्यमें ॐकारकी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेकी बात कही गयी है। यह भी प्रतीक-उपासना ही है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(१। २। १६)

'यह प्रणव (ॐकार) ही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है, इसकी अक्षररूपमें उपासना करनेपर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसको वह प्राप्त होती है।'

शंकर और रामानुज दोनोंके ही मतसे एतद् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा—इसका अर्थ प्रणवकी ब्रह्मरूपमें उपासना करना है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद्में ब्रह्मके प्रति सम्पूर्ण भावसे आत्म-समर्पण करनेकी बात आती है—

मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। (६। १८)

'हे भगवन्! मैं मोक्षकी प्राप्तिके लिये आपकी शरण लेता हूँ।' श्वेताश्वतर ऋषिने तपस्याके प्रभावसे तथा 'ईश्वरके अनुग्रह'से ब्रह्मको जान लिया था—

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च
ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
(६। २१)

पूर्व-उद्धृत कठोपनिषद्के वाक्य (१। २। २०) में 'धातुः प्रसादात्' पद है और यहाँ श्वेताश्वतर-उपनिषद्में 'देवप्रसादात्' पद आया है। दोनोंका अर्थ एक ही है। पूर्वोद्धृत कठोपनिषद्के (१। २। २३) मन्त्रकी भक्ति-मार्गानुसारी व्याख्या ही समीचीन है, यह श्वेताश्वतर उपनिषद्के इन वाक्योंद्वारा स्पष्ट हो जाता है। पुनः श्वेताश्वतर-उपनिषद्में कहा है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(६। २३)

'जिसकी ईश्वरमें परा भक्ति है और ईश्वरमें जैसी भक्ति है, वैसी ही गुरुमें भी है, उसके सामने ये बातें कहनेपर वह सब कुछ उपलब्ध कर सकता है।'

भक्तिमार्गकी साधनामें गुरुभक्तिकी जो उच्च महत्ता है, उसका भी मूल उपनिषद्में है। अतएव देखा जाता है कि उपनिषद्में भक्तिकी चर्चा अनेक स्थलोंपर की गयी है। यह भी कहा गया है कि ब्रह्मकी कृपाके बिना ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ब्रह्मकी भक्ति करना ही ब्रह्मकी कृपा-प्राप्तिका उपाय है। उपनिषद्में जहाँ कहा गया है कि ज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वहाँ भी समझना चाहिये कि उपनिषद्का उद्देश्य भक्तिके द्वारा ज्ञानकी तथा ज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति करना ही है। यदि ऐसी व्याख्या न करें तो 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठ० १। २। २३ तथा मुण्डक ३। २। ३) अर्थात् जिसपर ब्रह्मकी कृपा होती है, केवल वही उसको पा सकता है—इस वाक्यकी संगति नहीं लगेगी। गीतामें भी स्पष्टरूपसे कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
(१८। ५५)

अर्थात् भक्तिके द्वारा मनुष्य मुझको जान सकता है कि मैं क्या वस्तु (सच्चिदानन्दस्वरूप) हूँ तथा मेरा परिमाण क्या है (मैं सर्वव्यापी हूँ)।

एकादश अध्यायमें भी भगवान्ने कहा है कि वेद पाठ

करके अथवा वेदोंका अर्थ ग्रहण करके मुझे कोई नहीं जान सकता—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः—(गीता ११ । ४८)

—केवल अनन्य भक्तिके द्वारा ही मुझको प्राप्त किया जा सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

अर्थात् अनन्य भक्तिके द्वारा मुझको इस प्रकार जाना जा सकता है, मेरा दर्शन किया जा सकता है तथा मेरे भीतर प्रवेश किया जा सकता है । यहाँ याद रखनेकी बात है कि गीता उपनिषदोंका सार है । अतएव जो गीतामें कहा गया है, वह उपनिषद्की ही बात है । गीतामें जब कहा गया है कि भक्तिहीन ज्ञानके द्वारा भगवान्की प्राप्ति नहीं होती, भक्तिके द्वारा ही उसको जान सकते हैं (ब्रह्मज्ञान होता है)—तभी उसकी प्राप्ति होती है, तब समझना चाहिये कि उपनिषदोंका भी यही तात्पर्य है कि भक्तिके द्वारा ज्ञान होता है और ज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ।

उपनिषदोंमें ईश्वर-भक्ति

(लेखिका—श्रीरामकिशोरी देवी)

उपनिषद् वह विद्या है, जो मनुष्यको प्रभुके निकट बिठला देती है । उपनिषदोंके कण-कणसे प्रभु-भक्तिका रस टपकता रहता है । उपनिषद्रूपी मानसरोवरमें भक्तिरूपी कमल चारों ओर खिले पड़े हैं । उपनिषदोंके अनुसार परमात्मा तर्कका विषय नहीं, वह केवल भक्तिके द्वारा ही जाना जाता है । परमात्माको कोई बहुश्रुत होने, अधिक प्रवचन करने अथवा मेधा-बुद्धिसे नहीं जान सकता । जो मनुष्य अपने मनको शुद्ध और पवित्र करके प्रभुकी भक्ति करता है, उसीपर प्रभु अपने-आपको प्रकट कर देते हैं । उपनिषद् परमात्माको हमसे कहीं दूर नहीं बिठलाता । वे हमारे हृदयके अंदर विराजमान हैं । वे स्थिर होनेपर भी दूर-से-दूर चले जाते हैं । वे हमारी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं । वे सोये हुओंमें सदा जागते रहते हैं । हमारी इन्द्रियाँ उन्हींसे शक्ति प्राप्त करके अपना कार्य करती हैं । वे आँखकी आँख, कानका कान और मनका मन हैं । सूर्यमें जो हम तेज देखते हैं, वह उन प्रभुका दिया हुआ है । यदि वे अपना तेज हटा लें तो सूर्यकी हस्ती एक मुट्ठी राखसे अधिक नहीं । उपनिषद् भक्ति-रससे सराबोर हैं । जैसे शीतसे आतुर मनुष्यका अग्निके पास जानेसे शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रभुकी भक्ति करनेसे सब दोष-दुःख दूर होकर परमेश्वरके गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार जीवात्माके गुण, कर्म और स्वभाव हो जाते हैं । प्रभुकी भक्ति करनेसे हमारे आत्माका बल इतना अधिक बढ़ जायगा कि हमारा मन पर्वतके समान दुःख प्राप्त होनेपर भी नहीं घबरायेगा । जैसे गर्मीके दिनोंमें हिमालयके निकट जानेपर शरीरको ठंडी वायु आनन्द देने लगती है, उसी प्रकार ईश्वरकी भक्ति करनेसे ब्रह्मानन्द और शान्तिकी शीतल वायु हृदयको स्पर्श करने लगती है । प्रभुकी भक्तिमें बड़ा रस है । छान्दोग्य-उपनिषद्में आया है—

स एव रसानां रसतमः परमः परार्ध्यः ।

अर्थात् प्रभु-भक्ति सबसे उत्कृष्ट और सर्वोत्तम रस है । यह वह रस है, जो अपने माधुर्यसे मनरूपी चातकको मतवाला कर देता है ।

उपनिषदोंके अनुसार हमारा शरीर ही भगवान्का मन्दिर है । यही वह स्थान है, जहाँ हमारे देवताके दर्शन होते हैं । यों तो परमात्मा जर्रे-जर्रेमें रमा हुआ है । सभी जगहोंमें वह अग्निके समान विद्यमान है, किंतु परमात्माका दर्शन केवल इसी देव-मन्दिरमें होता है । यही वह मन्दिर है, जिसके बाहरके सब दरवाजे बंद हो जानेपर जब भक्तिका भीतरी पट खुल जाता है, तब वह ज्योति अपने-आप प्रकट होती है, जिसे देखनेके लिये आत्माकी हार्दिक इच्छा होती है ।

जिस प्रकार एक बालक अपने माता-पिताकी गोदमें बैठता है, उनसे मीठी-मीठी बातें करता है, उसी प्रकार हम अनुभव करें कि हम परमात्माकी अमृतमयी गोदमें बैठे हैं, उनकी दयाका हाथ हमारे सिरके ऊपर है । भक्त सोचता है कि चाहे मैं हिंसक पशुओंके बीच निर्जन वनमें होऊँ अथवा महासागरके अगम्य जलके ऊपर, जब मेरे पिता मेरे साथ हैं और उनका पावन हाथ मेरे सिरके ऊपर है, तब भय किस बातका । मेरे प्रभु किसी ऐसे स्थानमें नहीं हैं, जो मुझसे दूर हो और वहाँसे वे मुझे देख न रहे हों । मेरे प्रभु तो मेरे

रोम-रोममें समाये हुए हैं और इतने महान् हैं कि मैं जहाँ जाता हूँ, उनकी उज्ज्वल ज्योति वहीं छिटकी हुई पाता हूँ। उनकी दयाका हाथ सदा मेरे सिरपर है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

हमारे प्रभु निराश्रयोंके आश्रय हैं, वे बहुत बड़े अवलम्ब हैं, उन्हींका सहारा पाकर हम भवसागरसे पार उतर सकते हैं। उपनिषदोंमें प्रभुको 'भूमा' कहा गया है। जिस प्रकार समुद्रमें गोता लगानेसे सारे शरीरका मैल धुल जाता है, उसी प्रकार भक्तिरूपी मानसरोवरमें गोता लगानेसे मनके समस्त कल्मष दूर हो जाते हैं।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

वे परमात्मा एक हैं और सारे संसारको वशमें रखते हैं। वे एक जड प्रकृतिसे नाना प्रकारके रूपोंको रचते हैं। आत्माके अंदर रहनेवाले उन प्रभुको जो धीर पुरुष ज्ञान-रूपी नेत्रसे देखता है, केवल उसीको शाश्वत सुख मिलता है, दूसरोंको नहीं। जिस शक्तिने सारे ब्रह्माण्डको एक नियममें बाँध रखा है, वह अति महान् और चैतन्य शक्ति है। उन महान् प्रभुकी कीर्ति यह सकल ब्रह्माण्ड गा रहा है, पृथिवी विनम्र-भावसे उनके चरणोंमें लवलीन है, सूर्य अपने तेजोमय रूपसे उनकी महानताको प्रकट कर रहा है और चन्द्रमा अपनी शीतल ज्योत्स्नासे उन सौम्य परमेश्वरका स्तवन कर रहा है। हमें भी उसीकी भक्ति करनी चाहिये। यही उपनिषदोंकी शिक्षा है।

पुराणोंमें भक्ति

(लेखक—श्रीराजमोहन चक्रवर्ती एम्० ए०, पुराणरत्न, विद्याविनोद)

(१)

हिंदूधर्मके क्रमविकासका इतिहास स्थूलरूपसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) कर्मप्रधान वैदिक युग, (२) ज्ञानप्रधान औपनिषद युग तथा (३) भक्तिप्रधान पौराणिक युग।

वैदिक साहित्य चार भागोंमें विभक्त है—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकमें कर्ममार्ग तथा उपनिषद्में ज्ञानमार्गकी विवेचना की गयी है। वेदोंके संहिताभागके मन्त्रसमूह इन्द्र, अग्नि, वरुण, सविता, रुद्र आदि देवताओंके स्तोत्र-स्तुतिसे पूर्ण हैं। इन सब मन्त्रोंके द्वारा प्राचीन आर्यलोग देवताओंके उद्देश्यसे याग-यज्ञ करके अभीष्ट-प्रार्थना करते थे। एक ही मूल, ऐशी शक्ति विभिन्न देवताओंके नामसे अभिव्यक्त है। परमेश्वर एक और अद्वितीय हैं—यह रहस्य वैदिक आर्योंको ज्ञात था। ऋग्वेदने अनेकों मन्त्रोंमें इस तत्त्वको घोषित किया है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

'तत्त्वदर्शीलोग एक ही सद् वस्तुका विभिन्न नामोंसे निर्देश करते हैं; वे उस एक ही सत्ताको अग्नि, यम और मातरिश्वाके नामसे पुकारते हैं।'

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति॥
(ऋग्वेद १०।११४।५)

'सुपर्ण या परमात्मा एक सत्तामात्र है। इस एक ही सत्ताकी तत्त्वदर्शीलोग अनेक नामोंसे कल्पना करते हैं।'

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः
सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
(ऋग्वेद० ८।५८।१)

'बुद्धिमान् ऋत्विक्गण एक ही वस्तुको अनेक प्रकारसे बहुत-से नामोंद्वारा कल्पना करके यज्ञ-सम्पादन किया करते हैं।'

उसी एक अद्वितीय सत्ताको ऋग्वेदमें स्थान-स्थानपर हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष इत्यादि नामोंसे अभिहित किया गया है। इस सम्बन्धमें ऋग्वेदके हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) तथा पुरुषसूक्त (१०।९०) आदि प्रसङ्ग आलोचनीय हैं। प्राचीन आर्योंका प्रधान अनुष्ठेय धर्म था 'यज्ञ'। अभीष्ट देवताके उद्देश्यसे वे यज्ञादि कर्म श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित होते थे तथा इनमें अर्चना, वन्दना, नमस्कार आदि भक्तिके अङ्ग सन्निविष्ट थे। वेदोंमें

संहिताभागमें 'भक्ति' शब्दका सुस्पष्ट प्रयोग न दीखनेपर भी इस अर्थमें 'श्रद्धा' शब्दका प्रयोग प्रायः देखनेमें आता है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि ॥
(ऋग्वेद १० । १५१ । १)

'श्रद्धाके द्वारा ही यज्ञकी अग्नि प्रज्वलित की जाती है, श्रद्धा-द्वारा ही हविकी आहुति दी जाती है । समस्त आराध्यकी प्रधानभूता श्रद्धाका हम स्तवन करते हैं ।'

वेदोंके संहिता-युगमें देव-विषयक भक्तिमूलक जो सहज सरल धर्म देखनेमें आता है, वह वेदोंके ब्राह्मणयुगमें आकर जटिल, क्रियाविशेषबहुल यज्ञानुष्ठानमें पर्यवसित होता है । कालक्रमसे एक ऐसा मत प्रबल हो उठा कि 'यज्ञकर्म ही एकमात्र धर्म है; उसीके द्वारा जीव स्वर्ग प्राप्त करता है, इसके सिवा और कुछ नहीं है ।' यद्यपि यज्ञका अनुष्ठान इन्द्रादि देवताओंके उद्देश्यसे किया जाता है, फिर भी मुख्यता यज्ञकी ही है । देवता गौण हैं, प्रयोजक नहीं हैं । अतएव यजेत स्वर्गकामः—स्वर्ग-कामनासे यज्ञ करे, इसीका नाम 'वेदवाद' है ।

उपनिषद्-युगमें इस प्राणहीन वाह्यिकताके विरुद्ध प्रतिवादकी सूचना मिलती है । उपनिषदोंमें वेदोंके कर्म-काण्डको संसार-सागरसे पार उतारनेके लिये 'अदृढ प्लव (बेड़ा)' कहकर उसकी निन्दा की गयी है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः । (मुण्डक उप० १ । २ । ७)

उपनिषद्-युगमें साधककी दृष्टि बहिर्जगत्‌से लौटकर अन्तर्जगत्‌में केन्द्रीभूत हो जाती है । चरमतत्त्वका स्वरूप-निर्णय करनेके लिये उपनिषदोंके ऋषियोंने समाहित होकर यह उपलब्धि की कि इस नाम-रूपात्मक दृश्य-प्रपञ्चके अन्तरालमें एक नित्य, शाश्वत, सत् पदार्थ है; ज्ञानयोगसे उसको जानना चाहिये; वही 'ब्रह्म' है । तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म । यह ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् या वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय है । उपनिषद् कहते हैं कि 'वेदवाद' स्वर्गसाधक होनेपर भी मोक्षसाधक नहीं है, एकमात्र ब्रह्मवादके अवलम्बनसे ही निःश्रेयसकी प्राप्ति हो सकती है ।

उपनिषदोंके निर्गुण ब्रह्मवादमें भक्तिका स्थान नहीं है । जो निर्गुण, निर्विशेष, 'अवाङ्मनसगोचर' है, उसके साथ भाव-भक्तिका कोई सम्बन्ध स्थापित करना नहीं बनता, वह आत्मबोधरूप है । सगुण ब्रह्मके बिना भक्तिमूलक उपासना सम्भव नहीं । उपनिषदोंमें ब्रह्मके सगुण-निर्गुण, सविशेष-निर्विशेष दोनों प्रकारके विभावोंका विवरण दृष्टिगोचर होता है । ब्रह्मस्वरूपके सगुण-सविशेष विभावके वर्णनके प्रसङ्गमें उपनिषदोंमें अनेकों स्थलोंपर देव, ईश्वर, महेश्वर आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं तथा उसी प्रसङ्गमें 'भक्ति' शब्दका उल्लेख भी श्वेताश्वतर-उपनिषद्‌में दृष्ट होता है—यस्य देवे परा भक्तिः (६ । २३) । केनोपनिषद्‌में कहा है—तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् (४ । ६) । ब्रह्म सम्यक् रूपसे भजने योग्य है, इस दृष्टिसे उसकी उपासना करनी चाहिये । कठोपनिषद्‌में कृपावादका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥
(१ । २ । २३)

'इस आत्माको शास्त्रकी व्याख्याके द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते, मेधाके द्वारा भी नहीं, अनेक प्रकारके पाण्डित्यके द्वारा भी नहीं । यह जिसको वरण अर्थात् जिसपर कृपा करता है, केवल वही इसको प्राप्त कर सकता है । उसीके सामने यह आत्मा अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है ।'

भक्तिसाधनाके आश्रय हैं प्रेमस्वरूप, करुणामय भगवान् । बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में परमात्माके सम्बन्धमें कहा गया है—

एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पद् एषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः । (४ । ३ । ३२)

'ये ही परम गति, ये ही परम सम्पद्, ये ही परम धाम तथा ये ही परम आनन्द हैं ।' तैत्तिरीय-उपनिषद्‌में घोषित हुआ है—

रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति । (२ । ७ । १)

'वही रस (प्रेम) स्वरूप है । यह जीव रसस्वरूपको प्राप्त करके सुखी होता है । यदि हृदयाकाशमें यह आनन्द-स्वरूप न होता तो कौन अपान-चेष्टा करता, कौन प्राण-कार्य करता ? अर्थात् कोई निश्वास-प्रश्वासद्वारा प्राण धारण नहीं कर सकता । एकमात्र यही जीवको आनन्ददान करता है ।'

अतएव देखा जाता है कि भक्तिसाधनाका जो बीज

वेदोंके संहिता-भागमें ही निहित है, वही क्रमविकासके पथमें उपनिषद्में आकर अङ्कुरित और पल्लवित हुआ है। पुराणोंमें वह किस प्रकार शाखा-प्रशाखायुक्त, फूल-फलसे समृद्ध महावृक्षके रूपमें परिणत होता है—इस विषयकी आलोचना की जाती है।

(२)

'पुराण' पञ्चम वेदके नामसे शास्त्रोंमें कीर्तित हुए हैं। वेदोंके निगूढ़ अर्थको समझनेके लिये पुराणोंकी सहायता लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी कारण शास्त्रकारोंने पुराणोंके अध्ययनके ऊपर विशेष जोर दिया है और कहा है कि पुराणोंका अनुशीलन किये बिना विद्या कभी पूर्णताको प्राप्त नहीं होती। वायुपुराणमें लिखा है—

> यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
> न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः॥
> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
> बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

'यदि कोई छः वेदाङ्गों एवं समस्त उपनिषदोंसहित चारों वेदोंसे अवगत हो और पुराण-शास्त्रमें पारदर्शी न हो तो वह विचक्षण नहीं कहला सकता। इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराणोंके पाठके द्वारा वेदज्ञानकी पूर्ति करनी चाहिये। जो मनुष्य पुराण-शास्त्रका पण्डित न होकर वेदोंकी चर्चा करता है, उसको देखकर वेद मानो भयभीत हो सोचता है कि यह मुझपर प्रहार करेगा।'

दुर्गम वेद-शास्त्रके तात्पर्यको ग्रहण करके उसीके आदर्शपर जीवनका गठन करना जनसाधारणके लिये सम्भव नहीं।

> स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

'स्त्री, शूद्र और वर्णाधम लोगोंका वेद-श्रवणमें अधिकार नहीं है।' इसी कारण महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने जनताके कल्याण-साधनके लिये वेदमें निहित आध्यात्मिक निगूढ़ तत्त्वराशिको पुराणोंमें विस्तृतरूपसे नाना प्रकारके आख्यान-उपाख्यानोंकी सहायतासे प्रकाशित किया है। पद्मपुराणमें यही बात कही गयी है—

> वेदेभ्य उद्धृत्य समस्तधर्मान्
> योऽयं पुराणेषु जगाद देवः।
> व्यासस्वरूपेण जगद्धिताय
> वन्दे तमेनं कमलासनेशम्॥
> (पद्मपुराण, क्रियायोगसार १।२)

'जिन्होंने व्यासरूपमें वेदोंसे समस्त धर्मोंको उद्धृत करके जगत्‌के कल्याणके निमित्त निखिल पुराणोंमें परिव्यक्त किया है, कमलासनसहित उस नारायणकी हम वन्दना करते हैं।'

पुराणमें भक्तिकी महिमा

भारतीय आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें कर्म, ज्ञान और भक्ति मुक्तिके त्रिविध साधनके रूपमें स्वीकृत होते चले आ रहे हैं। साधकगण अपनी-अपनी रुचि और अधिकारके भेदसे इनमेंसे किसी एक या इनके समन्वित साधनाका अवलम्बन करके निःश्रेयसके पथपर अग्रसर होते हैं। पुराण-शास्त्रमें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों विषयोंकी शिक्षा होनेपर भी भक्तियोगके ऊपर विशेष जोर दिया गया है; क्योंकि यह मनुष्यके लिये तत्काल कल्याणकारक है तथा भक्तिमार्गका अनुसरण ब्राह्मण-शूद्र, नर-नारी सभी निर्विरोध रूपसे सहज ही कर सकते हैं।

> मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप।
> कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥
> त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं शक्योऽस्ति सर्वथा।
> सुलभत्वान्मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीडनात्॥
> (देवीभागवत ७।३७।३-४)

देवी भगवती कहती हैं—'हे नगेन्द्र! मोक्षप्राप्तिके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीनों ही मार्ग विख्यात हैं। इन तीनों प्रकारके योगोंमें भक्तियोग ही अनायास प्राप्त होनेवाला है; क्योंकि यह योग काय-चित्त आदिको पीड़ा दिये बिना ही केवल मनोवृत्तिके द्वारा सम्पादित हो सकता है। अतः इस योगको ही सुलभ जानना चाहिये।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णने परम भागवत उद्धवजीको उपदेश देते हुए कहा है—

> यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
> योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।
> सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा॥
> (११।२०।३२-३३)

'कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा तीर्थयात्रा, व्रत आदि अन्य साधनोंके द्वारा जो प्राप्त होता है, मेरा भक्त भक्तियोगके द्वारा वह सब अनायास प्राप्त कर लेता है।'

पुराणशास्त्रने भक्तिमार्गको सबके लिये खोलकर पूर्ण गणतान्त्रिक धर्म (Democratic Religion)का प्रचार किया है। पुराणोंमें पुनः-पुनः घोषित किया गया है कि

ईश्वरके प्रति ऐकान्तिक भक्तिके द्वारा चाण्डाल भी ब्राह्मणसे बढ़कर हो सकता है और ईश्वरभक्तिविहीन होनेपर ब्राह्मण भी चाण्डालाधम हो सकता है।

> चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
> विष्णुभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः॥
> (बृहन्नारदीयपुराण ३२। ३९)

श्रीमद्भागवत उच्च स्वरसे घोषित करता है—

> अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
> यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
> तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
> ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
> (३। ३३। ७)

'जिनके जिह्वाग्रपर तुम्हारा नाम रहता है, वे चाण्डाल होनेपर भी श्रेष्ठ हो जाते हैं। जो तुम्हारा नाम लेते हैं, उन्होंने यथार्थ तपस्या कर ली, अग्निमें यथार्थ हवन कर लिया। उन्होंने तीर्थमें स्नान कर लिया, वे ही आर्य (सदाचारी) हैं, उन्होंने ही यथार्थतः वेदाध्ययन किया है।'

वेदका ब्रह्म और पुराणोंके भगवान्

पुराणशास्त्रका प्रधान गौरव यही है कि वेदने 'नेति नेति' कहकर तथा—

> यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

—कहकर जिस परतत्त्वको इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगम्य देशमें रख दिया है तथा जो केवल उच्चाधिकारी ज्ञानी साधकोंके ही ध्यानगम्य है, पुराणने उसी दुर्विज्ञेय परम तत्त्वको भक्तिमार्गकी साधनाके द्वारा भक्तजनोंकी सारी इन्द्रियोंके गोचरीभूत कर दिया है। पुराणोंके भगवान् केवल ज्ञेय ब्रह्म ही नहीं हैं, केवल निर्गुण निर्विकार अद्वितीय चित्स्वरूप ही नहीं हैं, वे केवल जीव-जगत्के मूल कारण और अधिष्ठान ही नहीं हैं; सुतरां वे प्रत्यक्ष उपास्य, भक्तके आराध्य, प्रेमघनमूर्ति, सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन तथा अशेष कल्याणगुणोंके आकर हैं। वे परमेश्वर होते हुए भी करुणावरुणालय, पतितपावन तथा शरणागत, दीन और आर्तजनोंके परित्राणपरायण हैं। पुराण घोषणा करते हैं कि ज्ञानमार्गमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना, अक्षर अव्यक्तकी आराधना देहाभिमानी जीवके लिये अत्यन्त कष्टसाध्य है। जबतक देहात्मबोध दूर नहीं हो जाता, निर्गुण ब्रह्ममें स्थिति प्राप्त नहीं होती। भक्तियोगमें सगुण ईश्वरकी उपासना साधारण जीवके लिये सहजसाध्य है। इसी कारण पुराण इस प्रकारकी उपासनाके ऊपर ही विशेष जोर देते हैं। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें कही गयी शिवगीतामें यही तत्त्व परिस्फुरित हुआ है।

भगवान् श्रीराम शंकरजीसे कहते हैं—'भगवन् शंकर! आप यदि सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, अवयवरहित हैं, निर्विकार हैं, निस्तरङ्ग समुद्रके समान प्रशान्त हैं, निर्दोष, निःशङ्क, सर्वधर्मविहीन, मन-वाणीसे अगोचर, सर्वत्र अनुस्यूत होकर प्रकाशमान रूपमें अवस्थित, आत्मविद्या और तपस्याके द्वारा गम्य, उपनिषद्वाक्योंके तात्पर्यविषयीभूत, अपरिच्छिन्न, सर्वभूतात्मस्वरूप, अदृश्य तथा दुर्विज्ञेयस्वरूप हैं तो आप किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं—यह निश्चय न होनेके कारण मैं व्याकुल हो रहा हूँ।' भगवान् शंकरने उत्तर दिया—

> शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि तत्रोपायं महाभुज।
> सगुणोपासनाभिस्तु चित्तैकाग्र्यं विधाय च।
> स्थूलसौराम्भिकान्यायात् तत्र चित्तं प्रवर्तयेत्॥
> (पद्मपुराण, शिवगीता १४। ५)

'हे महाबाहो! राम! तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित विषयका उपाय कहता हूँ, सुनो। पहले सगुण उपासनाके द्वारा चित्तकी एकाग्रताका साधन करके स्थूलसौराम्भिका-न्यायके अनुसार मेरे निर्गुण स्वरूपमें चित्तको लगावे।'

जलाशयतक जानेमें असमर्थ प्यासे आदमीको मरीचिका खींचकर दूर ले जाती है, तत्पश्चात् जलाशय निकट होनेपर प्रकृत जलका दर्शन और आस्वादन करा सकती है। इसको 'स्थूलसौराम्भिका-न्याय' कहते हैं। इसी प्रकार मुमुक्षु साधकको पहले सगुण-उपासनामें आरूढ़ कराके चित्त-शुद्धि होनेपर निर्गुणोपासनामें प्रवृत्त करावे। अग्निपुराणमें आता है—

> साधूनामप्रमत्तानां भक्तानां भक्तवत्सलः।
> उपकर्ता निराकारस्तदाकारेण जायते।
> कार्यार्थं साधकानां च चतुर्वर्गफलप्रदः॥

'भक्तवत्सल भगवान् साधु और भक्त साधकोंकी उपासनाके निमित्त निराकार होकर भी उनके उपास्य देवताके आकारमें आविर्भूत होते हैं तथा उनके लिये उपकारक होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्गरूप फलको प्रदान करते हैं।'

पुराणमें प्रतीकोपासना और क्रियायोग

वैदिक युगके याग-यज्ञ और उपनिषद्के अरूपकी

प्रणवस्वरूप भगवान् गजानन

ध्यान-धारणाके स्थानमें पौराणिक युगमें सर्वसाधारणके लिये उपयोगी एक नवीन उपासना-पद्धति प्रचलित हुई। मृत्तिका, प्रस्तर या धातुसे निर्मित प्रतिमामें देवताके आविर्भावकी भावना करके उस विग्रहको पाद्य, अर्घ्य, धूप, दीप, गन्ध, पुष्प और नैवेद्य आदिके द्वारा अर्चना करनेकी विधि प्रवर्तित हुई।

> य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
> विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥
> लब्ध्वानुग्रह आचार्यात् तेन संदर्शितागमः।
> महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११ । ३ । ४७-४८)

'जो साधक जीवात्माकी हृदयग्रन्थिका शीघ्र छेदन करनेकी इच्छा करते हैं, वे वैदिक और तान्त्रिक विधिके अनुसार अभीष्ट देवताकी पूजा करें। आचार्यसे दीक्षा ग्रहण करके तथा उनके द्वारा प्रदर्शित अर्चना-विधिको जानकर अपनी अभिमत मूर्तिके द्वारा परम पुरुषकी पूजा करें।'

पुराण-शास्त्रमें भक्तिमार्गकी साधनाके अन्तर्गत अभीष्ट देवताके उपासनामूलक जो 'क्रियायोग' प्रवर्तित हुआ है, तदनुसार भक्त प्रतिमाके माध्यमसे भगवान्‌की सेवा कर सकता है उनको स्पर्श कर सकता है, उनको भोग लगा सकता है, उनका प्रसाद ग्रहण कर सकता है, उनके साथ वार्तालाप कर सकता है तथा सब प्रकारकी आपद्-विपद्‌में उनके ऊपर निर्भर रह सकता है। इस क्रियायोगके विधानके अनुसार देवताका मन्दिर-निर्माण, विग्रह-स्थापना, पूजा-अर्चना आदि करनेपर साधक भुक्ति-मुक्ति दोनोंको ही प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है।

> प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
> पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्॥
> मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
> भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ११ । २७ । ५२-५३)

'मेरा भक्त विग्रह-प्रतिष्ठाके द्वारा सार्वभौमपद, मन्दिर-निर्माणके द्वारा त्रिभुवनका स्वामित्व, पूजा आदिके द्वारा ब्रह्मलोक तथा उपर्युक्त तीनों कार्योंके द्वारा मेरी समता प्राप्त करता है और निष्काम भक्तियोगके द्वारा मुझको ही प्राप्त करता है। जो उपर्युक्त रीतिसे मेरी पूजा करता है, वह भक्तियोगको प्राप्त करता है।'

पुराणमें अवतारवाद

अवतारवाद पुराणोंका एक प्रधान अङ्ग है। इस अवतारवादको केन्द्र बनाकर भक्तिधर्म और भक्तिसाधनाने विशेष परिपुष्टि प्राप्त की है। पुराण विश्वातीत ब्रह्मको मर्त्यलोककी भूमिकापर खींच लाये हैं और सच्चिदानन्दमय भगवान्‌को उन्होंने मनुष्योंके बीचमें पुत्र, भ्राता, सखा, प्रभु और गुरुरूपमें अवतारित कर भगवान् और मनुष्यके बीचके दुर्लङ्घ्य व्यवधानको अद्भुत कौशलके साथ दूर कर दिया है और इनके द्वारा मनुष्यके भीतर भगवत्ता-बोधको जाग्रत् करके मानव-संस्कृतिको एक उच्चतर भूमिकामें प्रतिष्ठित कर दिया है। यह विश्वमानव-संस्कृतिमें पुराणोंकी एक चिरस्थायी और अविस्मरणीय देन है।

अवतारवादकी सूचना वैदिक ग्रन्थोंमें ही दीख पड़ती है। पुराणोंमें विष्णुके वामन-अवतारका वृत्तान्त है। ऋग्वेदमें भी देखा जाता है कि विष्णुने तीन पद प्रक्षेप करके पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको परिव्याप्त कर लिया।

> इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
>
> (ऋग्वेद १ । २२ । १७)

इसके सिवा शतपथब्राह्मण (१ । २ । ५ । १—७) में भी वामन-अवतारका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। शतपथब्राह्मण (१ । ८ । १ । २—१०) में मत्स्यावतार, तैत्तिरीय आरण्यक (१ । २३ । १) और शतपथब्राह्मण (७ । ४ । ३ । ५) में कूर्मावतारका प्रसङ्ग तथा तैत्तिरीयसंहिता (७ । १ । ५ । १), तैत्तिरीयब्राह्मण (१ । १ । ३ । ५) और शतपथब्राह्मण (१४ । १ । २ । ११) में वराह-अवतारका उल्लेख है।

पुराण-शास्त्रके मतसे भगवान् भक्तोंके प्रति अनुग्रह प्रकट करनेके लिये ही मनुष्यके रूपमें अवतीर्ण होते हैं तथा इस प्रकारकी लीलाएँ करते हैं, जिनका श्रवण और कीर्तन करके जीव सहज ही भगवत्परायण हो सकता है। यह लीलाका आस्वादन ही भक्तिका प्रकृष्ट साधन है।

> अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
> भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३७)

इस प्रसङ्गमें भागवतमें कुन्तीदेवीकी उक्ति विशेषरूपसे स्मरणीय है—

> शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
> स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
> त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
> भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥
>
> (१ । ८ । ३६)

'हे श्रीकृष्ण ! जो भक्तजन तुम्हारे चरित्रका श्रवण, गान, उच्चारण या सदा स्मरण करते हैं तथा दूसरोंके कीर्तन करनेपर जिनको आनन्द प्राप्त होता है, वे शीघ्र ही तुम्हारे चरणारविन्दका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं, जिसके द्वारा शीघ्र उनकी जन्म-परम्परा सदाके लिये समाप्त हो जाती है।'

पुराणोंमें देवतत्त्व और एकेश्वरवाद

पुराण शिक्षा देते हैं कि एक अद्वितीय परिपूर्ण भगवान् विभिन्न विचित्र लीलाओंके कारण तथा विभिन्न रुचि, स्वभाव और अधिकार-सम्पन्न साधकोंके कल्याणके लिये अनेकों विचित्र रूपोंमें प्रकट हैं। अपनी-अपनी रुचि और निष्ठाके अनुसार जो साधक जिस नाम और रूपको इष्ट मानकर भजन करता है, वह उसी दिव्य नाम और रूपका अवलम्बन करके समस्तरूपमय एकमात्र भगवान्‌को प्राप्त होता है। एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व ही गुण और क्रियाभेदसे अनन्त नाम और अनन्त रूप धारण करके विराजित हो रहा है। यही तत्त्व देवीपुराणमें दृष्टान्तकी सहायतासे इस प्रकार समझाया गया है—

> यथा तु व्यज्यते वर्णैर्विचित्रैः स्फटिको मणिः।
> तथा गुणवशाद् देवी नानाभावेषु वर्ण्यते॥
> एको भूत्वा यथा मेघः पृथक्त्वेनावतिष्ठते।
> वर्णतो रूपतश्चैव तथा गुणवशात्त्वयं॥
>
> (देवीपुराण ३७। ९४-९५)

'एक स्फटिक मणि जैसे नाना प्रकारके वर्णोंमें प्रकाशित होता है, उसी प्रकार देवी भगवती भी सत्त्वादि गुणोंके तारतम्यके कारण नाना भावोंमें वर्णित होती हैं। एक ही मेघ जिस प्रकार वर्ण और आकृतिके अनुसार पृथक्-पृथक् रूपोंमें अवस्थित होता है, उसी प्रकार देवी एक होकर भी गुणोंके कारण पृथक्-पृथक् रूपोंमें अवस्थित होती हैं।'

विभिन्न पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी महिमाका वर्णन है; परंतु पुराणशास्त्रमें यह भी पुनः-पुनः घोषित किया गया है कि वे एक ही परमतत्त्वके त्रिविध प्रकाश हैं तथा स्वरूपतः अभिन्न हैं।

> रजः सत्त्वं तमश्चेति पुरुषं त्रिगुणात्मकम्।
> वदन्ति केचिद् ब्रह्माणं विष्णुं केचिच्च शंकरम्॥
> एको विष्णुस्त्रिधा भूत्वा सृजत्यत्ति च पाति च।
> तस्माद् भेदो न कर्तव्यस्त्रिषु देवेषु सत्तमैः॥
>
> (पद्म० क्रिया० २। ५-६)

'सत्त्व, रज और तम—इन त्रिगुणोंको ही शरीररूपमें धारण करनेवाले पुरुषको कोई ब्रह्मा, कोई विष्णु तथा कोई-कोई शंकरके नामसे निर्देश करते हैं। फलतः एक ही सर्वव्यापी पुरुष त्रिविधरूपमें सृष्टि, स्थिति और संहार करता है। अतएव ज्ञानी पुरुष उपर्युक्त देवत्रयमें भेदबुद्धि नहीं करते।'

विष्णुपुराणमें लिखा है—

> सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
> स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
>
> (१। २। ६२)

'एकमात्र भगवान् जनार्दन ही सृष्टि, स्थिति और संहाररूप क्रियाके भेदसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव संज्ञाको प्राप्त होते हैं।'

पौराणिक भक्तिसाधनामें सम्प्रदाय-भेद

औपनिषद ब्रह्मवादमें देवताओंका कोई स्थान न था। ज्ञानमार्गकी साधनामें एक अद्वितीय ब्रह्मका ध्यान और धारणा ही विहित थी। पौराणिक युगमें भक्तिमार्गका प्रवर्तन होनेसे प्राचीन वैदिक देवताओंका पुनरभ्युदय हुआ तथा विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपतिको केन्द्र करके क्रमशः वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य—ये पाँच उपासक-सम्प्रदाय गठित हुए तथा उनके मतोंके परिपोषणके लिये विभिन्न पुराण, उपपुराण आदि प्रणीत हुए। इन पाँच उपासक-सम्प्रदायोंमें वैष्णव, शैव और शाक्त—इन तीन सम्प्रदायोंने विशेष प्राधान्य प्राप्त किया तथा प्रत्येकने भक्ति-मार्गकी साधनाके ऊपर जोर दिया और अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार भक्तिमार्गकी साधनाकी विशेष-विशेष प्रणाली और पद्धति बनायी। पुराणशास्त्रने साधकोंकी उपासनामें सुविधाके लिये इष्टमें निष्ठा तथा साम्प्रदायिक साधन-पद्धतिके ऊपर विशेष जोर देते हुए भी सब सम्प्रदायोंकी मौलिक एकता और उपास्य देवताओंकी स्वरूपतः अभिन्नताके विषयमें दृढ़ताकी शिक्षा दी है। स्कन्दपुराणकी गणना शैव पुराणोंमें की जाती है। इसमें शिवजीने अपने श्रीमुखसे घोषणा की है कि शिव और विष्णु स्वरूपतः अभिन्न हैं—

> यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः।
> अन्तरं शिवविष्णोश्च मनागपि न विद्यते॥
>
> (काशीखण्ड २३। ४१)

(क) वैष्णव भक्तिमार्ग

ऋग्वेदमें विष्णुसम्बन्धी सूक्तोंकी संख्या पाँच-छःसे अधिक न होगी। समस्त ऋग्वेदमें प्रायः एक सौ विभिन्न स्थलोंमें

विष्णुदेवताका उल्लेख मिलता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि अन्यान्य प्रधान देवताओंसे सम्बद्ध मन्त्रोंकी अपेक्षा विष्णुकी मन्त्र-संख्या कम होनेपर भी भावगाम्भीर्य और तात्त्विक दृष्टिसे ये सब मन्त्र विशेष गुरुत्वपूर्ण हैं। वेदोंके संहिता-युगमें इन्द्रदेवताकी विशेष प्रधानता थी, परंतु कालक्रमसे इन्द्रकी प्रधानता घटती गयी और विष्णुकी प्रधानता बढ़ गयी। ऋग्वेदके किसी-किसी मन्त्रमें विष्णुको इन्द्रका योग्य सखा बतलाया है—इन्द्रस्य युज्यः सखा (१।२२।१९)। पुराणमें इन्द्रके स्थानमें विष्णु ही सुप्रतिष्ठित होते हैं तथा वैष्णव पुराणोंमें परमेश्वररूपमें पूजित होते हैं। विष्णुपुराण, नारदीय, गरुड, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवत आदि पुराणोंमें विष्णुकी महिमा विशेषरूपसे व्यक्त हुई है। इन सब पुराणोंमें विष्णु ही परतत्त्वके रूपमें ग्रहण किये गये हैं तथा राम-कृष्णादि विष्णुके अवतारके रूपमें पूजित हैं। श्रीराम और श्रीकृष्णको अवलम्बन करके भक्ति-साधनाकी धारा विशेष परिपुष्ट हुई है तथा प्राचीन कालसे आजतक यह साधनाकी धारा अव्याहत भावसे प्रवाहित होती हुई चली आ रही है। श्रीमद्भागवतमें भक्ति-साधनाके चरमोत्कर्षका परिचय प्राप्त होता है। इसमें भक्ति केवल मुक्तिकी प्राप्तिका साधनमात्र नहीं है, बल्कि भक्तिके चरम परिणामस्वरूप प्रेमको ही भक्तके परम साध्यके रूपमें निर्णीत किया गया है। जिस भक्तके जीवनमें इस प्रेमका विकास हुआ है, वह कभी मुक्तिकी इच्छा नहीं करता, सदा भगवत्सेवाके परमानन्दमें रत रहनेकी ही प्रार्थना करता है।

न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
दकिंचनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।
(श्रीमद्भा० १०।५१।५६)

'हे विभो! अकिंचन भक्तका उच्चतम प्रार्थ्य तुम्हारे श्रीचरणोंकी सेवा है, मैं वही चाहता हूँ, उसके सिवा अन्य वरकी प्रार्थना नहीं करता।'

भक्तिका स्वरूप

भक्तिके स्वरूपका वर्णन करते समय महामुनि शाण्डिल्य कहते हैं—सा परानुरक्तिरीश्वरे, ईश्वरमें निरतिशय अनुरागका नाम ही 'भक्ति' है। देवर्षि नारदने भी अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी इसी प्रकारकी परिभाषा की है—सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। भगवान्‌के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही 'भक्ति' है। भक्ति अमृतस्वरूपा है। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।' इस (भक्ति) को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध होता है, अमर होता है और परितृप्त हो जाता है।

ईश्वरमें यह 'परानुरक्ति' कैसी होती है, इसको भलीभाँति विष्णुपुराणमें प्रह्लादकी प्रार्थनामें व्यक्त किया गया है—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
(१।२०।१९-२०)

'हे नाथ! मैं कर्मफलके वश होकर भिन्न-भिन्न सहस्रों योनियोंमें परिभ्रमण करूँ, उन सभी योनियोंमें तुम्हारे प्रति मेरी सदा निश्चल भक्ति बनी रहे। अविवेकी मनुष्यकी विषयोंमें जैसी अविचल आसक्ति रहती है, तुम्हारा अनुस्मरण करते हुए तुम्हारे प्रति मेरी भी वैसी ही अविचल प्रीति रहे, वह मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

विषयीकी विषयोंके प्रति जो निरतिशय आसक्ति होती है, उसीको लौटाकर यदि ईश्वरमें लगा दिया जाय तो वह अहैतुकी या शुद्ध भक्ति हो जाती है। उपर्युक्त दोनों श्लोकोंका उल्लेख करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि 'भक्तगण प्रह्लादने भक्तिकी जो परिभाषा की है, वही सर्वापेक्षा समीचीन जान पड़ती है।'

भक्तिमार्गका साधन

भागवतमें भक्तिके नौ प्रकारके साधनोंका उल्लेख है—(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चना, (६) वन्दना, (७) दास्य, (८) सख्य तथा (९) आत्मनिवेदन या शरणागति।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा॥
(श्रीमद्भा० ७।५।२३-२४)

भागवतमें ज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्तिका प्रसंग भी आता है। भक्ति ज्ञानके द्वारा दीप्त होती है और वैराग्यसे भक्ति आत्मप्रकाश करती है।

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥
(श्रीमद्भा० १।२।१२)

'श्रद्धाशील मुनिलोग वेद-शास्त्रसे उत्पन्न ज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्ति प्राप्तकर उसके द्वारा अपने भीतर ही आत्माका दर्शन करते हैं।' भक्ति-धर्मका आचरण करते समय साधकको शास्त्रविहित धर्मानुष्ठान, नैतिक अनुशासन और सामाजिक कर्तव्योंका यथावत् पालन करना चाहिये। वैष्णवके लक्षणके प्रसङ्गमें पद्मपुराणमें लिखा है—

> अभयं ये च यच्छन्ति भीरुभ्यश्चतुराननम्।
> विद्यादानं च विप्रेभ्यो विज्ञेयास्ते च वैष्णवाः॥
> क्षुत्तृट् प्रपीडितेभ्यश्च ये यच्छन्त्यन्नसम्बु च।
> कुर्वते रोगिशुश्रूषां ज्ञेयास्ते वैष्णवा जनाः॥
> आरामकारिणो ये च पिप्पलारोपिणोऽपि ये।
> गोसेवां ये च कुर्वन्ति ज्ञेयास्ते वैष्णवा जनाः॥
>
> (पद्म० क्रिया० अध्याय २)

'जो भीरु मनुष्यको अभय देते हैं तथा विप्रों (विद्यार्थियों) को विद्यादान करते हैं, उन्हें 'वैष्णव' समझना चाहिये। जो भूख-प्याससे पीड़ित मनुष्योंको अन्न-जल प्रदान करते हैं तथा रोगियोंकी शुश्रूषा करते हैं, उनको 'वैष्णव' जानना चाहिये। जो जनसेवाके लिये उद्यान-निर्माण करते हैं तथा अश्वत्थ आदि वृक्ष लगाते हैं और गो-सेवा करते हैं, उनको 'वैष्णव' कहना चाहिये।'

भक्तिके प्रकार-भेद

भागवतमें सगुणा और निर्गुणा भेदसे भक्तिके दो विभाग किये गये हैं। सगुणा भक्ति तामस, राजस और सात्त्विक भेदसे तीन प्रकारकी होती है। दूसरेकी हिंसा करनेके अभिप्रायसे अथवा दम्भवश, मात्सर्यवश या क्रोधवश भेददर्शी लोग जो ईश्वरकी पूजा-अर्चना करते हैं, वह 'तामसी' भक्ति है। विषय-भोग, यश या धन-ऐश्वर्यादिकी कामना करके भेददर्शी लोग प्रतिमा आदिमें जो ईश्वरकी अर्चना करते हैं, वह 'राजसी' भक्ति है। पापक्षयकी इच्छासे या भगवान्‌के प्रति कर्म-समर्पणके उद्देश्यसे अथवा यज्ञादि अनुष्ठानमें कर्तव्यबुद्धिसे भेददर्शी लोग जो पूजा-अर्चना आदि करते हैं, वह 'सात्त्विकी' भक्ति है। (भागवत ३। २९। ७—१०) उपर्युक्त तीनों प्रकारकी भक्ति गौणी भक्ति है; क्योंकि ये तीनों ही प्रकार भेदज्ञानद्वारा प्रभावित तथा स्वभावज प्रवृत्तिद्वारा अनुप्राणित हैं। सात्त्विकी भक्ति उत्तमा होनेपर भी सर्वोत्तमा नहीं होती। इसमें भी मोक्ष आदिकी इच्छा रह सकती है और भेददर्शन भी रह सकता है। मोक्षकी कामना भी जब त्याग दी जाती है और केवल भगवान् ही जब साधककी एकमात्र काम्य वस्तु बन जाते हैं, तब उस अवस्थामें भक्तिको 'निर्गुणा' या 'अहैतुकी भक्ति' अथवा 'प्रेम' कहते हैं।

निर्गुणा या अहैतुकी भक्ति (प्रेम)

भागवत निर्गुण भक्तियोगका वर्णन इस प्रकार करता है—

> मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
> मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
> लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
>
> (३। २९। ११-१२)

'सागरमें स्वतः प्रवाहित गङ्गाके जलकी धाराके समान जो मनोगति मेरे गुण-श्रवणमात्रसे फलानुसंधानरहित तथा भेददर्शन-विहीन होकर सर्वान्तर्यामी मुझ पुरुषोत्तममें अविच्छिन्नभावसे निहित होती है, वह मनोगतिरूपा भक्ति ही निर्गुण भक्तियोगका स्वरूप है।'

यह अहैतुकी निष्कामा भक्ति ही 'प्रेम' है। इसको प्राप्त करनेपर साधक भगवत्सेवा छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता। यहाँतक कि मुक्तिकी भी प्रार्थना नहीं करता—

> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
>
> (३। २९। १३)

'जिनको इस प्रकारकी निर्गुणा भक्ति प्राप्त हो गयी है, उनको सालोक्य, सार्ष्टि (ईश्वरके समान ऐश्वर्यसम्पन्नता), सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य—यह पाँच प्रकारकी मुक्ति देनेपर भी वे मेरी सेवाके सिवा और कुछ भी नहीं ग्रहण करते।'

जब साधक भक्तिके इस उच्चतर सोपानमें आरोहण करता है, तब वह सर्वभूतोंके साथ एकात्मताका अनुभव करता है। भगवान् ही सब जीवोंके आत्मस्वरूप होकर विराजमान हैं, अतएव वह साधक अपना-पराया, शत्रु-मित्र आदि किसी प्रकारका भेद-भाव किसीके साथ नहीं रखता। सर्वोत्तम भक्तका लक्षण वर्णन करते हुए भागवत कहता है—

> सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
> भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
>
> (११। २। ४५)

'जो सर्वभूतोंमें आत्मारूपी भगवान्‌का दर्शन करता है तथा आत्मारूपी भगवान्‌के भीतर सर्वभूतोंको देखता है, वही श्रेष्ठ भागवत है।'

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥
(११ । २ । ५२)

'जिसका धन आदिके विषयमें अपने-परायेका भेद-भाव नहीं है, समस्त भूतोंमें जिसका समान भाव है, जिसकी इन्द्रियाँ और मन संयत हैं, वही श्रेष्ठ भागवत है ।'

(ख) शैव भक्तिमार्ग

वेदोंमें रुद्र देवताका विशेष प्रभाव था । यजुर्वेदके रुद्रसूक्तमें रुद्र पशुपति परमेश्वररूपमें वर्णित हुए हैं—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥
(यजु० १६ । २)

'हे रुद्र ! हे गिरिशन्त ! तुम्हारा जो मङ्गलमय, प्रसन्न और पापविनाशक तनु है, उस सुखमय तनुके साथ हमारे सामने प्रकट हो जाओ ।'

रुद्रका जो यह मङ्गलमय, अभय, पुण्यप्रकाशक, सुखतम स्वरूप है, वही 'शिव' नामसे प्रसिद्ध है । श्वेताश्वतर-उपनिषद्में रुद्र या शिवकी प्रधानता सुप्रतिष्ठित हुई है तथा परतत्त्वके रूपमें उसीकी स्तुति की गयी है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥
(श्वेताश्वतर० ३ । २)

'रुद्र एक है, जो लोकोंको अपनी शक्तियोंके द्वारा नियमित कर रहा है; अतएव ब्रह्मवेत्ता लोग दूसरे किसी तत्त्वको नहीं मानते । वे सभी जनोंके पीछे स्थित हैं, वे सारे भुवनोंकी सृष्टि करके उनका पालन करते हैं और अन्तकालमें संहार करते हैं ।'

वेद और उपनिषदोंके इन सारे भावोंका अवलम्बन करके ही शैवपुराणमें शिवको स्रष्टा, पाता और संहर्ता परमेश्वरके रूपमें स्थापित किया गया है । वायु, शिव, लिङ्ग, स्कन्द, ब्रह्माण्ड, कूर्म आदि पुराणोंमें विशेषरूपसे शिव-का माहात्म्य वर्णित है । पद्मपुराणके उत्तरखण्डके अन्तर्गत 'शिव-गीता' में तथा कूर्मपुराणके अन्तर्गत 'ईश्वर-गीता' में शैव-भक्तिमार्गके सम्बन्धमें बहुमूल्य तथ्य प्राप्त होते हैं ।

शिवपुराणके मतसे ज्ञान ही मुक्ति-प्राप्तिका मुख्य साधन है । भक्ति ज्ञानकी प्राप्तिका साधन है । शिव-सादात्म्यकी प्राप्ति ही मुक्ति है ।

अज्ञानाद् दूरतो भूत्वा ज्ञानवाञ्जायते यदा ।
तदहंकारनिर्मुक्तो याति सांस्रतो नु स ॥

'जीव जब अज्ञानसे मुक्त होकर उत्तम ज्ञानी बनता है, तब वह तत्काल ही अहंकारसे मुक्त होकर शिव-सादात्म्यरूप मुक्ति प्राप्त करता है ।'

मुक्तिकी साधन-परम्परा

मुक्तिकी साधन-परम्पराके सम्बन्धमें कहा गया है—

ज्ञानमूलं तथाध्यात्मं तस्य भक्तिः शिवस्य च ।
भक्तेश्च प्रेम सम्प्रोक्तं प्रेम्णस्तु श्रवणं मतम् ॥
श्रवणस्य सतां सङ्गः सङ्गस्य सद्गुरुः स्मृतः ।
सम्पन्ने च तथा ज्ञाने मुक्तिर्भवति निश्चितम् ॥
(शिवपुराण, ज्ञानसंहिता ७८ । २०-२१)

'आत्मयोग ही शिव-तत्त्व ज्ञानका मूल है । शिवभक्ति आत्मयोगका मूल है । भक्तिका मूल प्रेम है, प्रेमका मूल शिव-महिमा-श्रवण, श्रवणका मूल सत्सङ्ग और सत्सङ्गका मूल है सद्गुरु । साधक जब ज्ञानसम्पन्न होता है, तब उसकी निश्चय ही मुक्ति हो जाती है ।'

कूर्मपुराणके अन्तर्गत ईश्वर-गीतामें ज्ञानी भक्तको ही सर्वोत्तम कहा गया है—

सर्वेषामेव भक्तानामिष्टः प्रियतमो मम ।
यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा ॥
(कूर्मपुराण, उत्तरार्द्ध ४ । २५)

'सारे भक्तोंमें वही मेरा प्रियतम भक्त है, जो सदा ज्ञानके द्वारा मेरी आराधना करता है; अन्य प्रकारसे नहीं ।'

शिव-भक्तिके त्रिविध साधन

शैव-भक्ति-योगके साधन तीन हैं—श्रवण, कीर्तन और मनन ।

श्रोत्रेण तस्य श्रवणं वचसा कीर्तनं तथा ।
मनसा मननं तस्य महासाधनमुच्यते ॥
(शिवपुराण, विद्येश्वरसंहिता ३ । २४)

'श्रोत्रके द्वारा शिवकी महिमाका श्रवण, वाणीके द्वारा उनका गुण-कीर्तन तथा मनके द्वारा उनका निरन्तर चिन्तन—यह महासाधन कहलाता है ।' विद्येश्वर-संहिताके

दूसरे अध्यायमें श्रवण, कीर्तन और मनन—इस त्रिविध साधनका विस्तृत वर्णन मिलता है—

> येनापि केन करणेन च शब्दपुञ्जं
> यत्र क्वचिच्छिवपरं श्रवणेन्द्रियेण ।
> स्त्रीकेलिवद् दृढतरं प्रणिधीयते यद्
> तद् वै बुधाः श्रवणमत्र जगत्प्रसिद्धम् ॥

'स्त्री-केलिमें जिस प्रकार मनकी स्वाभाविक आसक्ति होती है, वैसी ही दृढ़ आसक्ति जिस किसी कारणसे जिस किसी स्थानमें उद्धृत शिवविषयक वचनोंमें श्रवणेन्द्रियकी होती है, उसीको ही शैव-साधनामें 'श्रवण' कहते हैं।'

> गीतात्मना श्रुतिपदेन च भाषया वा
> शम्भुप्रतापगुणरूपविलासनाम्नाम् ।
> वाचा स्फुटं तु रसवत् स्तवनं यदस्य
> तत्कीर्तनं भवति साधनमत्र मध्यम् ॥

"शंकरके प्रताप, गुण, रूप, विलास (लीला) और नामके प्रकाशक संगीत, वेद-मन्त्र या भाषाद्वारा मधुर रागमें उनकी स्तुति ही मध्यम साधन 'कीर्तन' के नामसे प्रसिद्ध है।"

> पूजाजपेशगुणरूपविलासनाम्नां
> युक्तिप्रियेण मनसा परिशोधनं यत् ।
> तत् संततं मननमीश्वरदृष्टिलभ्यं
> सर्वेषु साधनवरेष्वपि मुख्यमुख्यम् ॥

'युक्तियुक्त मनके द्वारा शंकरकी पूजा, जप, गुण, रूप, विलास और नामोंके तात्पर्यको सदा गम्भीरभावसे चिन्तन करना ही साधनोंमें श्रेष्ठ साधन 'मनन' नामसे प्रसिद्ध है। यह शिवकी कृपासे ही प्राप्त होता है।'

> एवं मननपर्यन्ते साधनेऽस्मिन् सुसाधिते ।
> शिवयोगो भवेत् तेन सालोक्यादिक्रमाच्छनैः ॥
> (शि० पु०, वि० सं० ३।२६)

'इस प्रकार क्रमशः मननपर्यन्त साधन सुसाधित होनेपर शिवयोग निष्पन्न होता है। पश्चात् क्रमशः उसी शिवयोगके बलसे साधक सालोक्य आदि मुक्ति-पदको प्राप्त होता है।'

शिवदृष्टि या कृपावाद

शैवभक्ति-साधनामें शिवदृष्टि या शिवकी कृपाके ऊपर विशेष जोर दिया गया है। शिवकी कृपासे ही भक्ति प्राप्त होती है तथा उस भक्तिके द्वारा ही वे प्रसन्न होते हैं।

> प्रसादाद् देवताभक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः ।
> यथेहाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः ॥
> (शि० पु०, वि० सं० १।१४)

'जिस प्रकार अङ्कुरसे बीज तथा बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार देवताके प्रसादसे देवभक्ति तथा देवभक्तिके द्वारा देवताकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।'

शिवकी कृपादृष्टि असाध्य-साधनमें समर्थ है। उनकी करुणासे महापापी भी पुण्यात्मा होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है—

> पतितो वापि धर्मात्मा पण्डितो मूढ एव वा ।
> प्रसादे तत्क्षणादेव मुच्यते नात्र संशयः ॥
> अयोग्यानां च कारुण्याद् भक्तानां परमेश्वरः ।
> प्रसीदति न संदेहो निगृह्य विविधान् मलान् ॥
> (शिवपुराण, वायवीयसंहिता, उत्तरभाग ८।२५, २६)

'पतित हो या धर्मात्मा, पण्डित हो या मूर्ख—सभी उनके प्रसादसे तत्क्षण मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। शिवभक्तोंके अयोग्य होनेपर भी करुणावश परमेश्वर उनके विविध पापोंका नाश करके प्रसन्न होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है।'

(ग) शाक्त भक्तिमार्ग

परतत्त्वकी मातृरूपमें उपासना करनेकी पद्धति वैदिक-युगमें ही बीजाकारमें प्रचलित थी। शाक्त-पुराणोंमें मातृ-ब्रह्मकी उपासनाने प्रधानता प्राप्तकर पौराणिक भक्ति-मार्गकी साधना-धारामें विशेष वेग-संचार कर दिया। ऋग्वेदमें मातृ-ब्रह्मका सुस्पष्ट परिचय मिलता है 'अदिति' नामसे। 'अदिति' है सर्वलोकजननी, विश्वधात्री, मुक्तिप्रदायिनी, आत्मस्वरूपिणी इत्यादि। ऋग्वेदके वाक्सूक्त या देवीसूक्त (१०।१२५) में आद्याशक्ति जगज्जननी देवी भगवतीके स्वरूप और महिमाका वर्णन है। इसमें देवी स्वमुखसे कह रही है—'ब्रह्मस्वरूपा मैं ही रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेवाके रूपमें विचरण करती हूँ। मैं ही मित्र-वरुण, इन्द्र-अग्नि तथा अश्विनीकुमारद्वयको धारण करती हूँ।' यही देवी जनकल्याणके लिये असुरोंके दलनमें निरत रहती है (अहं जनाय समदं कृणोमि), यही जगत्की एकमात्र अधीश्वरी है (अहं राष्ट्री) तथा भक्तोंको भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली है (संगमनी वसूनाम्)। जीवके अभ्युदय और निःश्रेयस—सब उनकी कृपापर निर्भर करते हैं।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।
(ऋग्वेद १० । १२५ । ५)

'मैं जिसको-जिसको चाहती हूँ, उसको-उसको श्रेष्ठ बना देती हूँ। उसको ब्रह्मा, ऋषि या उत्तम प्रज्ञाशाली बना डालती हूँ।'

कृष्णयजुर्वेदके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यकमें जगज्जननी भगवती दुर्गाके स्वरूप और महिमाको प्रकाशित करनेवाला निम्नाङ्कित स्तुति-मन्त्र दृष्टिगोचर होता है—

तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं
वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम् ।
दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये
सुतरसि तरसे नमः ॥
(तैत्तिरीय आरण्यक १० । १)

'जिनका वर्ण अग्निके समान है, जो तपःशक्तिके द्वारा जाज्वल्यमान हो रही हैं, जो स्वयं प्रकाशमाना हैं, जो ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलकी प्राप्तिके लिये साधकोंके द्वारा उपासित होती हैं, मैं उन्हीं दुर्गादेवीकी शरण ग्रहण करता हूँ। हे देवि ! तुम संसार-सागरको पार करनेवालोंके लिये श्रेष्ठ सेतु-रूपा हो, तुम्हीं परित्राणकारिणी हो, मैं तुमको प्रणाम करता हूँ।'

केनोपनिषद्में ब्रह्मविद्या और ब्रह्मशक्तिस्वरूपिणी हैमवती उमाका प्रसङ्ग है। उससे ज्ञात होता है कि आद्याशक्ति ही सर्वभूतोंमें शक्तिरूपसे अवस्थित हैं। उनकी शक्तिके बिना अग्नि एक तृणको भी नहीं जला सकता, वायु एक छोटे-से तृणको भी स्थानसे हटा नहीं सकता।

वेद और उपनिषदोंमें निहित आद्याशक्तिके इन सब तत्त्वोंका आश्रय लेकर शाक्त पुराणोंमें देवीके स्वरूप, महिमा और उपासना-प्रणालीका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। देवीभागवत, मार्कण्डेयपुराण, कालिकापुराण, देवीपुराण, महाभागवत आदि पुराणों तथा उपपुराणोंमें देवीका माहात्म्य वर्णित है। मार्कण्डेयपुराणके अन्तर्गत 'सप्तशती' 'चण्डी' देवीमाहात्म्यसे सम्बन्ध रखनेवाले श्रेष्ठ और नित्य पाठ्य-ग्रन्थके रूपमें हिंदू-समाजमें प्रचलित है। ब्रह्मवैवर्त-पुराणके अन्तर्गत प्रकृतिखण्डमें, शिवपुराणके अन्तर्गत उमासंहिता-प्रकरणमें तथा ब्रह्माण्डपुराणके अन्तर्गत ललितोपाख्यान-प्रकरणमें भी शक्तिके माहात्म्य और साधन-पद्धतिका वर्णन पाया जाता है।

महाभागवतके अन्तर्गत भगवती-गीतामें देवीके परमेश्वरीत्व-भावका वर्णन प्राप्त होता है—

सृजामि ब्रह्मरूपेण जगदेतच्चराचरम् ।
संहरामि महारुद्ररूपेणान्ते निजेच्छया ॥
दुर्वृत्तशमनार्थाय विष्णुः परमपूरुषः ।
भूत्वा जगदिदं कृत्स्नं पालयामि महामते ॥
(भगवती-गीता ४ । १०-१२)

देवी हिमालयसे कहती हैं—'मैं ही ब्रह्मारूपसे जगत्‌की सृष्टि करती हूँ तथा अपनी इच्छाके वश महारुद्ररूपसे अन्तमें संहार करती हूँ। हे महामते ! मैं ही पुरुषोत्तम विष्णुरूप धारण करके दुष्टोंका नाश करते हुए समस्त जगत्‌का पालन करती हूँ।'

सप्तशती चण्डीमें ब्रह्माकृत देवी-स्तुतिमें कहा गया है—

विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च ।
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत् ॥
(चण्डी १ । ८४)

'हे जगन्मातः ! तुमने मुझ (ब्रह्मा) को, विष्णु और रुद्रको शरीर ग्रहण कराया है। अतः तुम्हारी स्तुति करनेमें कौन समर्थ हो सकता है।'

शाक्तपुराणोंमें मातृभाव अवलम्बन करके पराशक्ति भगवतीकी आराधनाके द्वारा होनेवाली विशिष्ट फल-प्राप्तिका पुनः-पुनः उद्घोष किया गया है। शैव श्रीनीलकण्ठजीने अपनी देवी-भागवतकी टीकाकी उपक्रमणिकामें इस प्रकारके बहुत-से प्रमाण उद्धृत किये हैं—

आराध्या परमा शक्तिः सर्वैरपि सुरासुरैः ।
मातुः परतरं किंचिदधिकं भुवनत्रये ॥

'यह परमाशक्ति भगवती सभी देव-दानवोंके द्वारा आराधनीया हैं। त्रिभुवनमें क्या माताके भी बढ़कर पूजनीय और कोई है ?'

धिग् धिग् धिग् धिक् च तज्जन्म यो न पूजयते शिवाम् ।
जननीं सर्वजगतः करुणारसनागराम् ॥

'जो सारे जगत्‌की जननी हैं, करुणा-रसके समुद्रके समान हैं, उन मङ्गलमयी जननीकी जो पूजा नहीं करता, उसके जन्मको सौ बार धिक्कार है।'

शरणागति

पौराणिक शाक्त उपासना-प्रणालीमें भक्तिमार्गकी महिमा विशेषरूपसे घोषित की गयी है तथा अनन्यशरणागतिका

ही जगज्जननीकी कृपा-प्राप्तिका श्रेष्ठ मार्ग निर्देश किया गया है। देवीभागवतके अन्तर्गत 'देवीगीता' में कहा गया है—

अपराधो भवत्येव तनयस्य पदे पदे।
कोऽपरः सहते लोके केवलं मातरं विना॥
तस्माद् यूयं पराम्बां तां शरणं यात मातरम्।
निर्व्याजया चित्तवृत्त्या सा वः कार्यं विधास्यति॥

(देवीभागवत ७। ३१। १८-१९)

'संतानसे पद-पदपर अपराध हो जाता है, त्रिलोकमें एकमात्र जननीके सिवा दूसरा कौन उसे सहन कर सकता है। अतएव तुमलोग तत्काल ही ऐकान्तिक भक्तिके साथ उस परम जननीके शरणापन्न हो जाओ, वही तुम्हारे कार्यको पूरा करेगी।'

सप्तशती चण्डीमें महर्षि मेधसने महाराज सुरथको ऐसा ही उपदेश दिया है—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा॥

(चण्डी १३। ५)

'हे महाराज! उसी भगवती परमेश्वरीकी शरणमें जाओ। उसकी आराधना करनेसे ही वह मनुष्योंको भोग, स्वर्ग और अपवर्ग प्रदान करती है।'

गुण-भेदसे भक्तिके तीन प्रकार

देवीभागवतके अन्तर्गत देवीगीतामें शाक्त-भक्तिमार्गके साधन-तत्त्वपर विस्तृतरूपसे आलोचना की गयी है (देवीभागवत ७। ३७)। गुणभेदसे भक्ति तामसी, राजसी और सात्त्विकी—तीन प्रकारकी है। तामसी भक्तिसे क्रमशः राजसी भक्तिका और राजसी भक्तिसे सात्त्विकी भक्तिका उदय होता है। अन्तमें सात्त्विकी भक्ति पराभक्तिमें परिणत हो जाती है।

पराभक्तिका लक्षण

सात्त्विकी भक्तिकी साधना करते-करते साधक क्रमसे परम प्रेमरूपा पराभक्तिको प्राप्त करता है। जो उस पराभक्तिको प्राप्त करके धन्य हो गया है, देवीभागवतमें उसके लक्षणका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

अधुना तु परांभक्तिं प्रोच्यमानां निबोध मे।
मद्गुणश्रवणं नित्यं मम नामानुकीर्तनम्॥
कल्याणगुणरत्नानामाकरायां मयि स्थिरम्।
चेतसो वर्तनं चैव तैलधारासमं सदा॥

(देवीभागवत ७। ३७। ११-१२)

देवी हिमालयसे कहती हैं—'हे नगेन्द्र! अब मैं पराभक्तिके विषयमें कह रही हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो। जिसको पराभक्ति प्राप्त हो जाती है, वह साधक सदा-सर्वदा मेरा गुण-श्रवण तथा मेरा नाम-कीर्तन करता है। कल्याणरूप गुणरत्नोंकी खानि-सदृश मुझमें ही उसका मन तैलधाराके समान सदा अविच्छिन्नभावसे स्थित रहता है।'

पराभक्ति और अद्वैतज्ञान

भक्ति-भूमिकामें द्वैतरूपमें उपास्य-उपासकभाव विद्यमान रहता है; इसीसे अद्वैतज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। परंतु यह पराभक्ति अद्वैत-ज्ञानकी जननी है। पराभक्तिकी परिणतिमें उपास्य-उपासकभाव दूर हो जाता है, सर्वत्र अद्वैत-अनुभूति होती है। देवीगीतामें भगवती कहती हैं—

भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः॥

(देवीभागवत ७। ३७। २८)

'पण्डितलोग भक्ति और वैराग्यकी चरम सीमाको 'ज्ञान' कहते हैं; क्योंकि ज्ञानके उदय होनेपर भक्ति और वैराग्यकी सम्पूर्णता सिद्ध हो जाती है।'

परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥

(७। ३७। १५)

स्वाभेदेनैवेति। अहमेव सच्चिदानन्दरूपिणी भगवती अस्मीति भावनया इत्यर्थः। (श्रीनीलकण्ठः)

'जिसको पराभक्ति प्राप्त हो गयी है, वह साधक अतन्द्रित होकर परम अनुरागपूर्वक मेरा ही चिन्तन करता रहता है और इस प्रकार चिन्तन करते-करते अन्तमें मुझको अपनेसे भिन्न न समझकर 'मैं ही सच्चिदानन्दरूपिणी भगवती हूँ'— इस प्रकारका अभिन्न ज्ञान प्राप्त करता है।'

इत्थं जाता पराभक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः।
तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत्॥

(७। ३७। २७)

'हे भूधर! जिसमें यथार्थरूपसे इस प्रकारकी पराभक्तिका उदय हो गया है, वह मनुष्य तत्काल ही मेरे चिन्मात्ररूपमें विलीन हो जाता है।'

प्रश्न हो सकता है कि 'चरमावस्थामें यदि अद्वैतानुभूति होती है तो श्रीरामप्रसाद आदि भक्तगण जो यह प्रार्थना करते हैं कि 'चिनि हते चाइ ना मा, चिनि खेते भालबासि' (अर्थात् माँ! मैं चीनी बनना नहीं चाहता, चीनीका आस्वाद लेना

मुझे पसंद है)—इसकी संगति कैसे लगेगी ?' वस्तुतः 'चीनी बनने' और 'चीनी खाने' का विवाद 'वाचारम्भण' मात्र है। शब्दगत पार्थक्यको छोड़कर दोनोंमें तात्पर्यगत पार्थक्य नहीं है। विचारदृष्टिसे या ज्ञानकी दृष्टिसे मोक्ष है—'चीनी हो जाना' और भावदृष्टिसे या भक्तिकी दृष्टिसे मोक्ष है—'चीनी खाना'। दृष्टिभेदसे शब्दगत पार्थक्य दीख पड़नेपर भी परमार्थतः दोनों अवस्थाएँ एक और अभिन्न हैं। व्यावहारिक जगत्‌में 'होने' तथा 'खाने' में जो पार्थक्य दीख पड़ता है, पारमार्थिक क्षेत्रमें वह पार्थक्य नहीं है। जैसे एक ही ब्रह्मरूप वस्तु एक साथ ही सविशेष-निर्विशेष तथा सगुण और निर्गुण दोनों ही है, उसी प्रकार मुक्तिकी अवस्थामें 'होना' और 'खाना' दोनों एक साथ ही सम्पादित होते हैं। जिनको मुक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, उनके लिये ब्रह्म होना या भजनरस आस्वादन करना एक ही बात है। भेद-बोध यदि लेशमात्र भी रहे तो परिपूर्ण आस्वादन सम्भव नहीं है। रस-स्वरूपसे तनिक भी विच्छिन्न होनेपर, उसमें एकबारगी निविड़भावमें डूबे बिना परिपूर्ण आस्वादन सम्भव नहीं है। विद्वद्वर श्रीनरहरिने 'बोधसार' ग्रन्थमें इस सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है—

अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता।
प्रेमलक्षणभक्तेस्तु परिणामः स एव हि॥
(बोधसार ३ । १०)

"वेदान्तमें जो अपरोक्षानुभूतिके नामसे निरूपित हुआ है, वही 'प्रेम-लक्षणा भक्ति' या 'पराभक्ति' की परिणति है।"

श्रीमद्भागवतमें प्रतिपाद्य भक्ति

(लेखक—ह० भ० प० श्रीचातुर्मास्ये महाराज)

श्रीमद्भागवत भक्तिशास्त्रका अद्वितीय ग्रन्थ है, यह समस्त विद्वानोंको मान्य है। इस ग्रन्थराजका मुख्य सिद्धान्त यह है कि भक्तिप्राप्त पुरुषके लिये कोई भी साधन और साध्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। यह बात भक्तप्रिय श्रीउद्धवजीके प्रति स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही श्रीमुखसे कही है—

भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते।

'हे साधो! जिसको भक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, उसके लिये क्या अवशिष्ट रह जाता है?' साधनकालमें भी भक्तियोग स्वतन्त्र होनेके कारण भक्तियोगीके लिये अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं होती, न उससे अधिक किसी साधनसे लाभ ही मिलता है।

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥

अर्थात् भक्तियोगीके लिये ज्ञान-वैराग्यादि श्रेयस्कर नहीं होते। भक्तियोगी अन्य-निरपेक्ष होता है और अन्य योगी भक्तिसापेक्ष होते हैं। इस श्लोकमें जो 'प्रायः' शब्द है, वह 'प्रायोऽधिकेऽवधारणे' इस कोष-वाक्यके अनुसार निश्चयताका ही बोधक है। भक्ति स्वतन्त्र होनेके कारण ज्ञानकी चरम भूमिकासे अपना पृथक् स्वरूप रखती है। इसी कारणसे ज्ञानी और भक्तकी भूमिका विभिन्न होती है। 'भक्तिरसायन' ग्रन्थमें श्रीमधुसूदन सरस्वती स्वामीजीने स्वरूप, साधन, फल और अधिकारके भेदसे ज्ञानी और भक्तकी विभिन्नताका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है; परंतु विस्तारभयसे यहाँ वह नहीं दिया गया। श्रीभागवत, एकादश स्कन्ध २। ६५ में यह महत्त्वपूर्ण विषय आया है।

उपर्युक्त श्लोकमें 'आत्मा' शब्दका 'हरि' अर्थ करके श्रीधरस्वामीने श्लोकके भावका पूर्णतया भक्तिमें पर्यवसान कर दिया है। शास्त्रीय ग्रन्थोंमें प्रायः प्रथम अर्थके प्रति अरुचि होनेसे ही 'यद्वा'से प्रारम्भ करके दूसरा अर्थ लिखनेकी प्रथा रूढ़ है। यहाँ भी ऐसा होना सम्भाव्य है। पर वह कौन-सा कारण है, जिससे श्रीधर स्वामीको प्रथम अर्थसे संतोष नहीं हुआ? इस असंतोषका कारण बतलाते हुए एक टीकाकार कहते हैं—

समन्वयं व्याहि एतत् त्वद्वैतनिष्ठानां भवति। भक्तास्तु सगुणनिष्ठामेवाद्रियन्त इत्यत आह॥

'यद्वेति' अर्थात् यह समन्वय अद्वैत-निष्ठाका बोधक है। पर भक्त तो सगुण-निष्ठाका ही आदर करते हैं। अतः इसी अरुचिके कारण 'यद्वा' इत्यादि आगेका प्रकरण लिखा गया। इस अरुचिका महत्त्वपूर्ण कारण बतलाते हुए दूसरे टीकाकार लिखते हैं—'यद्वा' पर्यन्त जो व्याख्यान है,

एतत्तु ज्ञानिनां लक्षणं न तु भागवतलक्षणमिति आम्र-निम्बोत्तरन्यायापतितमित्यत आह यद्वेति।

अर्थात् यह तो ज्ञानियोंका लक्षण है, नहीं कि भागवतोंका। इसमें 'आम्रनिम्बोत्तरन्याय' की प्राप्ति हुई। इस न्यायका स्वरूप यह है। किसीने पूछा कि 'आपके यहाँ कितने आमके

वृक्ष हैं ?' इसके उत्तरमें कहा गया कि 'हमारे यहाँ सौ नीमके पेड़ हैं।' यह जैसे प्रश्नके अनुरूप उत्तर नहीं है; वैसे ही यहाँ पूछे गये थे भागवतोंके लक्षण और बतलाया गया ज्ञानीका लक्षण। अतएव प्रश्नानुरूप उत्तर न होनेके कारण प्रथम अर्थसे अरुचि हुई। इसीलिये 'यद्वा'से प्रारम्भ करके भागवतोंके लक्षण बतलानेवाला दूसरा यथार्थ अर्थ लिखा। निष्कर्ष यह कि ज्ञानी और भक्तके स्वरूपमें भिन्नता है और द्वितीय अर्थका भाव ही भगवद्भक्तोंकी भक्ति है और 'भक्ति' का अर्थ है 'भागवत'-प्रतिपाद्य भक्ति।

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः॥

योगेश्वर हरिने भागवतका स्वरूप जाननेकी इच्छासे राजाके द्वारा उपर्युक्त प्रश्न किये जानेपर उत्तर दिया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

इसका साधारणतया भाव बतलानेवाला एक श्लोक श्री गीतामें भी मिलता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

इस श्लोकमें आत्माका और सर्वभूतोंका आधार-आधेय-भाव प्रतिपादन किया गया है। सामान्यतया आधार-आधेय-भावकी प्रतीति जड वस्तुमें ही होती है, अतः इससे आत्मामें जडत्वकी कल्पना हो सकती है। परंतु यहाँका आधार-आधेय-भाव जड वस्तुओंके आधाराधेय-भावसे सर्वथा विलक्षण है, यही दिखलानेके लिये 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' श्लोकके आरम्भमें ही यह प्रतिपादन किया गया है। यहाँ आधारभूत आत्माकी आधेय वस्तुमें जैसी व्याप्ति दिखायी, वैसी जड आधारकी नहीं होती। फलतः 'योगयुक्तात्मा' दोनोंकी एकता देखता है, यही भाव उपरिनिर्दिष्ट भागवतके श्लोकमें भी है।

भक्ति-भागीरथीकी अजस्र भावधारा

(लेखक—पण्डित श्रीदेवदत्तजी शास्त्री)

वेदोंमें भक्ति

भक्तिका उद्भव और विकास अधिकारी चिन्तकोंकी दृष्टिसे विवादास्पद है। उनका मत है कि वेदोंमें 'भक्ति' का कोई उल्लेख नहीं है। ज्ञान, कर्म और उपासना—इन तीन काण्डोंसे युक्त वेदमें 'भज्' धातुसे निष्पन्न 'भक्त' या 'भक्ति' शब्दको ढूँढ़ना भाषा-प्रवाह या भाषा-शास्त्रके सिद्धान्तोंकी अवहेलना करना है। वेदोंके अध्ययनसे पता चलता है कि उपनिषद्-कालके बाद उपासनाका जो भावार्थ 'भक्ति' निर्धारित किया गया, उसका मूल स्रोत वेद है।

ऋग्वेदका एक मन्त्र है—

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।
कुवित् सोमस्यापामिति।

अर्थात् मेरे मनमें तो यह आता है कि अपनी गौओं और घोड़ोंको उनको दे डालूँ, जिन्हें इनकी आवश्यकता है; क्योंकि मैंने बहुत बार सोमका पान किया है।

यहाँ 'सोम' शब्दका अर्थ सोमलता नहीं बल्कि आनन्द-रससे परिपूर्ण भगवान् है। वेद स्वयं इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहता है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत्सम्पिंषन्त्योषधिम्, सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन।'

अर्थात् कोई पिसी हुई सोम ओषधिको ही पीकर यह न समझ ले कि मैंने सोमपान किया है। जिस 'सोम' का पान ब्राह्मणलोग करते हैं, उसे सांसारिक भोगोंमें आसक्त आदमी नहीं पी सकता।

यह 'सोम' कौन-सा है, जिसे ब्राह्मणलोग पीते हैं—इस प्रश्नके उत्तरमें बताया गया है—

उदीचीदिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता।

अर्थात् वह 'सोम' सबकी रक्षा करनेवाला भगवान् है, जो 'स्वजः'—अपने भक्तके हृदयमें प्रकट होता है। इस प्रकार सोमका भावार्थ हुआ प्रभुके भक्तका भक्तिरसमें भीग जाना—डूब जाना। तात्पर्य यह कि वेदोंमें भक्तिका 'सोम' वाचक शब्द है।

और 'भक्त' शब्दके वाचक 'अथर्वा,' 'स्तोता,' 'वसिष्ठ', 'तुग्रुवासः' आदि अनेक शब्द मिलते हैं—

१—आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्।

(ऋग्वेद)

२—न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया।

(ऋग्वेद)

३—एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः।

(ऋग्वेद)

४—प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः।

यही नहीं, बल्कि पौराणिक कालसे प्रचलित मानी जानेवाली 'स्मरणं कीर्तनं' आदि नवधा भक्तिका मूल उद्गम वेद ही है।

वेदका ऋषि भगवान्का स्मरण करता है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

अर्थात् हे प्रजापते! (त्वत्) तुझसे (अन्यः) भिन्न कोई दूसरा (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सम्पूर्ण (जातानि) उत्पन्न पदार्थोंमें (न) नहीं (परि बभूव) अंदर-बाहर व्याप्त हो सकता। इसलिये तेरे समान शक्ति किसीमें नहीं है। (यत्कामाः) जिस-जिस कामनाके लिये हम (ते) तुझे (जुहुमः) बुलायें, (नः) हमारी (तत्) वह कामना (अस्तु) पूरी हो जाय। (वयं) हम सब (रयीणाम्) भौतिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्योंके (पतयः) स्वामी हो जायँ।

आजकलकी भाँति सामूहिक कीर्तनद्वारा भगवद्भक्तिकी पद्धति वेदोंमें भी पायी जाती है। वैदिककालके 'तुष्टुवासः' के लिये सामूहिक कीर्तनका विधान निम्नाङ्कित मन्त्रमें मिलता है—

सखाय आ नि षीदत सविता स्तोम्यो नु नः।
दाता राधांसि शुम्भति।

(ऋग्वेद)

अर्थात् (सखायः) मित्रो! (आ नि षीदत) आओ, मिलकर बैठो। (सविता) सबको उत्पन्न करनेवाले—सबको गति देनेवाले भगवान्की (नः) हमको (नु) निश्चयपूर्वक (स्तोम्यः) सामूहिक कीर्तनद्वारा उपासना करनी है। वह भगवान् (राधांसि दाता) सब सिद्धियोंको देनेवाले पदार्थोंका दाता है। (शुम्भति) वह भगवान् हमें पवित्र बनाता है।

सख्यभावकी भक्ति वेदोंमें बहुत ही मार्मिक है। एक भक्त भगवान्की उपासना करता है, उसे प्रभुका साक्षात्कार नहीं होता; वह निराश होकर भगवान्से मन-ही-मन कहता है—'प्रभो! मुझे दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो? मेरी भक्तिसे तुम प्रसन्न क्यों नहीं होते? तुम किसे अपना बन्धु बनाते हो? तुम किसके अक्षयदानसे प्रसन्न होते हो? किसके हृदयमें तुम अपना निवास बनाते हो?'

भक्तके इन भावोंसे भगवान् संतुष्ट होते हैं, उसे अपनी कृपाका साक्षात्कार कराते हुए भगवान् भक्तसे कहते हैं—

'भक्त! तुम्हीं मेरे बन्धु हो। अपने ब्रह्मयज्ञसे तुम्हीं मुझे प्राप्त करते हो। मैं तुम्हारा ही सखा हूँ और सखाओंके हृदयमें मैं सहायक होकर बैठता हूँ। मित्र! निराश मत हो। चलते चलो, जिस राहपर चल रहे हो। वह दिन दूर नहीं, जब तुम मुझे प्रतिक्षण देखा करोगे।'

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः।
को ह कस्मिन्नसि श्रितः॥

(ऋग्वेद १।७५।३)

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।
सखा सखिभ्य ईड्यः।

(ऋग्वेद १।७५।४)

इसी प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल नित्य भगवद्भक्ति करनेका जो विधान आजकल प्रचलित है, वह वेदोंमें भी है। ऋग्वेदके सातवें मण्डलके ४१ वें सूक्तमें जो ऋचाएँ हैं, उनमें प्रातःकालकी उपासना है—

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥

अथर्ववेदके १९।५५ सूक्तमें ६ मन्त्र हैं, जिनमें भक्त भगवान्की प्रार्थना सोते समय और जागते समय करता है। उसकी इस प्रार्थनामें मङ्गलदाता भगवान्के प्रति जो भावनाएँ व्यक्त की गयी हैं, वे सजीव और साकार हैं—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥

देवता-विज्ञान

वेदोंमें ईश्वरके अतिरिक्त देवताओंकी भक्ति प्रचुर मात्रामें उपलब्ध है। निरुक्तकार यास्कमुनिने निरुक्त (७।४।८-९) में लिखा है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

अर्थात् एक परमात्माकी विभिन्न शक्तियाँ ही देवता हैं। दूसरे शब्दोंमें परमात्माकी मुख्य-मुख्य शक्तियोंके प्रतीक देवगण हैं।

वेदोंके युगमें अग्नि, वायु, सूर्य मुख्य देवता थे। निरुक्तकारने देवताका अर्थ 'प्राण-शक्ति-सम्पन्न' लिखा है। अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र, सूर्य आदि जितने देवता हैं, सब बलरूप हैं। इन सभी देवताओंके कार्योंके अन्तरमें ऋत (कारणसत्ता) विद्यमान रहता है। ईश्वर ऋत-सत्यमय है। ऋत और सत्य—ये सूक्ष्म तत्त्व हैं। इन्हीं सूक्ष्म तत्त्वोंको (मूर्तिपूजाका) स्थूल रूप देकर भारतीय संस्कृतिमें देवताओंकी पूजा, भक्ति, उपासनाका विकास हुआ है।

वेदान्तकी दृष्टिसे विश्व ब्रह्माण्डकी परम शक्तिको ब्रह्म, चैतन्य, आत्मा, सत्-चित्-आनन्द आदि कहा जाता है; किंतु इन सबके अन्तरमें जो मूल वस्तु है, वह शक्ति है। उसी शक्तिको देवी-देवताके रूपमें पूजा जाता है। यही परम शक्ति सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कार्य करती है। इन तीन कार्योंके लिये उस परम शक्तिकी तीन शक्तियाँ हैं, जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा जाता है। वेदोंमें आकाशको ब्रह्म (ख ब्रह्म) कहा गया है। उस आकाशमें स्थित उसकी अवान्तर शक्तियोंको पुराणोंमें इन्द्र (मेघशक्ति), वरुण (जलशक्ति), अग्नि (विद्युत्-शक्ति) और वायु (पवनशक्ति) कहा गया है।

शिव-विष्णुप्रभृति देवताओंकी भक्ति और पूजा वैदिक-कालसे ही चली आ रही है। तैत्तिरीय-उपनिषद्में मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथि-देवो भव। कहकर शिक्षा दी गयी है कि जिस तरह शिव, विष्णु आदि देवोंकी उपासना की जाती है, उसी प्रकार माता-पिता, आचार्य और अतिथिकी भी उपासना करनी चाहिये। भगवान् शंकराचार्यने अर्थको स्पष्ट करते हुए लिखा है—देवतावदुपास्या एत इत्यर्थः। तात्पर्य यह कि पितृदेव, श्रद्धादेव, शिश्नदेव आदि देवान्त शब्द प्रसङ्गतः भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं; किंतु कतिपय विद्वान् इनका अर्थ करनेमें भूल करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और तैत्तरीयसंहितामें 'श्रद्धादेव' शब्दका उल्लेख है। जर्मन भाषामें प्रकाशित संस्कृतकोषके सम्पादकोंने 'श्रद्धादेव' का अर्थ देवविश्वासी किया है। एग्गेलिंग महोदयने अपने शतपथ-ब्राह्मणके अंग्रेजी अनुवादमें इसका अर्थ 'देवभीरु' किया है। हमारे यहाँके भाष्यकारोंने 'श्रद्धावान्' अर्थ किया है, जिसका तात्पर्यार्थ होता है—जिस प्रकार देवतामें आदर होता है, उसी प्रकार श्रद्धामें हो।

किंतु शिश्नदेव, स्त्रीदेव-जैसे शब्दोंका अर्थ देवता कभी नहीं हो सकता। तथापि कतिपय विद्वान् शिवलिङ्ग-पूजाका उदाहरण देकर शिश्न (पुरुष-जननेन्द्रिय) को देवता मानकर सनातनधर्मकी आलोचना करते हैं।

ब्रह्माण्डपुराण (उत्तरखण्ड १।९।११) में घोर कलियुगके व्याप्त होनेपर बढ़ते हुए पापाचारका वर्णन करते हुए अन्तमें लिखा गया है—

मातृपितृकृतद्वेषाः स्त्रीदेवाः कामकिंकराः।

यहाँ 'स्त्रीदेव'का अर्थ कामुक है, न कि स्त्रीदेवता। इसी तरह शिश्नदेवका अर्थ भी कामुक ही अभिप्रेत है। कहीं-कहीं कामुकोंको शिश्नपरायण भी लिखा हुआ है, जिसका अर्थ न समझनेवाले आलोचक शिश्नभक्त करते हैं।

भक्तिका उद्भव और विकास

भक्तिका उद्भव और उसका इतिहास इतना पुराना है कि इतिहास इसके प्रारम्भकी देहलीतक भी नहीं पहुँच पाता। इसकी असीम व्यापकताको कालकी सीमा—अवधि सीमित नहीं कर सकी। उपलब्ध ग्रन्थों और पुरातात्त्विक सामग्रीसे यह निश्चित अनुमान किया जा सकता है कि परमात्माकी विश्व-शक्तिकी भक्ति (साकार-उपासना) उपनिषद्-कालसे पाँच हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी। उस समयका जनसमाज 'महामायी' पर विश्वास रखता था। यह कहना भूल है कि वृक्षों और नदियोंकी पूजा अनार्य-पद्धति है और आर्योंने अनार्योंसे सीखी है। वस्तुतः वृक्षों और नदियोंकी पूजा-भक्ति उस समय भी थी, जिसे आजकलके ऐतिहासिक प्रागैतिहासिककाल कहते हैं। यजुर्वेदमें वृक्षों, नदियों और विभिन्न वनाञ्चलोंतककी स्तुतियाँ मिलती हैं। वृक्षों और नदियोंकी पूजा प्रकृतिमूलक है। यह भक्ति अन्धपरम्परा या अन्धविश्वासपर आधारित नहीं है। यह सौन्दर्यशक्तिकी भावानुभूतिका प्रतीक है। यही प्रकृतिमूलक उपासना देवी—शक्तिकी उपासनामें परिवर्तित हुई है।

वेदों, उपनिषदों और पुराणोंने ब्रह्मकी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको शक्ति माना है। श्वेताश्वतर-उपनिषद्का कहना है कि सत्त्व, रज, तम—यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही शक्ति कहलाती है। इसीका मूल स्रोत हमें ऋग्वेदमें मिलता है—

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥

इसके अतिरिक्त ऋग्वेदके रात्रिसूक्त, देवीसूक्त तथा श्रीसूक्तमें एवं अथर्ववेदके देव्यथर्वशीर्षमें भगवतीकी भक्ति और पूजाका विकसित रूप स्पष्ट लक्षित होता है।

दुर्गोपनिषद् शक्तिको दुर्गादेवी—कालरात्रि स्वीकार करता है। मार्कण्डेय, पद्म, कूर्म, भागवत, नारद आदि पुराणों तथा बुद्धचरित, रामायण, महाभारत आदि इतिहासमें एवं योगवासिष्ठ, पातञ्जलयोगदर्शन, पूर्वमीमांसा, उत्तर-मीमांसा, न्यायकुसुमाञ्जलि, वाक्यपदीय आदि दर्शन-ग्रन्थोंमें एवं मालतीमाधव, कुमारसम्भव, दशकुमारचरित, नागानन्द, कर्पूरमञ्जरी, कादम्बरी आदि काव्योंमें शक्ति-उपासनाके अनेक बीज और विधान हैं।

हिंदू-धर्मग्रन्थोंके अतिरिक्त जैन, बौद्ध सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें भी शक्ति-उपासनाके अनेक विधान और प्रमाण उल्लिखित हैं। जैनधर्मके ज्ञानधर्मकथाकोष-जैसे प्रबन्धात्मक साहित्यमें प्रकृति (शक्ति) सम्बन्धी प्रचुर लेख-सामग्री है। बौद्ध-साहित्यमें शक्तिके रूपमें 'तारा', 'भारिणी' और 'मणिमेखला' का विशद वर्णन है। बौद्धोंकी महायान शाखाद्वारा ज्ञानमद और सहजयान शाखाद्वारा वैष्णवमतको प्रशस्त कर दिया है। उनकी वज्रयान शाखामें विभिन्न मन्त्रों, तन्त्रों, देवि-देवताओंका आविर्भाव हुआ है। उपलब्ध पुरातत्त्व-सामग्री और साहित्यसे स्पष्ट बोध होता है कि भारतीय देवी-देवताओंकी उपासनाका क्षेत्र क्रमशः बढ़ते-बढ़ते भारतकी सीमा पार करके तिब्बत और समस्त पूर्वी एशियाई देशोंतक विस्तृत हो गया था।

इस तरह भक्ति-भागीरथीका अजस्र प्रवाह आदिकालसे जन-मनको आप्लावित करता हुआ प्रवाहित है, जिसके अनेक स्रोत सम्प्रदाय, मतके नामसे प्रवहमाण हैं।

भक्ति और ज्ञान

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी)

बहुधा न समझनेके कारण ज्ञान और भक्ति विभिन्न-से दीख पड़ते हैं; और कभी-कभी तो दोनोंको परस्पर-विरोधी मानकर, एकको माननेवाले मनुष्य दूसरेकी निन्दा तक करते देखे जाते हैं।

तात्त्विक दृष्टिसे भक्ति और ज्ञान उसी प्रकार परस्पर उपकारक हैं, जैसे वैराग्य और तत्त्वज्ञान। तत्त्वज्ञानसे वैराग्य प्रबल होता है तथा प्रखर वैराग्यसे ज्ञान-निष्ठा बढ़ती है। इसी प्रकार जैसे-जैसे भगवान्में भक्तिभाव बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे ज्ञानमें निष्ठा बढ़ती जाती है; और जैसे-जैसे ज्ञान परिपक्व होता जाता है, वैसे-वैसे भगवत्प्रेम उमड़ता जाता है।

एक लौकिक दृष्टान्त लीजिये। जिस मनुष्यके विषयमें आप कुछ नहीं जानते, केवल उसका नाम आपने सुना है, उसके प्रति आपके हृदयमें भक्ति या भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है। यदि आप उसका भाषण सुनें या लेख पढ़ें और उससे यदि आप प्रभावित हों, तभी उसके प्रति आपके हृदयमें भाव जाग्रत् होगा; और एक बार भाव जाग्रत् होनेपर उसके विषयमें अधिकाधिक जाननेकी इच्छा उत्पन्न होगी तथा उसके दर्शनकी भी इच्छा होगी। इसी प्रकार ज्ञानसे भक्तिका उदय होता है और भक्तिसे पीछे जिज्ञासा बढ़ती है तथा ज्ञान होता है। इस प्रकार दोनों ही परस्पर उपकारक हैं; एक दूसरेके विरोधी हैं ही नहीं।

अब इस विषयमें आगे विचार करनेसे पहले एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातपर ध्यान दीजिये। साधक भक्तियोग, ज्ञान-योग या अष्टाङ्गयोगमेंसे किसीकी भी साधना करता हो, तीनोंका लक्ष्य तो एक ही है—भले ही वह विभिन्न नामोंसे पुकारा जाता हो। साधन-प्रणालीकी विभिन्नताके कारण तीनों मार्गोंमें विभिन्न पारिभाषिक शब्दोंका होना स्वाभाविक है—एक ही फलको जैसे कोई 'अमरूद' कहता है तो कोई 'जाम-फल' और कोई 'प्यारा'।

> भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
> ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

तात्पर्य यह है कि जिस चेतन सत्ताको भक्त 'भगवान्' कहता है, उसी चेतन सत्ताको अष्टाङ्गयोगी 'परमात्मा' कहते हैं और उसी परम सत्ताको वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं और सांख्ययोगवाले अर्थात् ज्ञानी 'ज्ञान' या 'ज्ञानस्वरूप' कहते हैं। भक्त जिसको 'भगवत्प्राप्ति' कहता है, उसको योगी 'आत्मा-परमात्माका मिलन' कहते हैं, वेदान्ती उसी स्थितिको ब्राह्मी स्थिति या 'ब्रह्मभूत' होना कहते हैं और ज्ञानी 'स्वरूपमें स्थिति' कहते हैं। जब साधन-कालमें भक्त 'दासोऽहम्' कहता है और जब पराभक्तिका उदय होता है, तब उसमेंसे 'दा' उड़ जाता है, केवल 'सोऽहम्' रह जाता है। तब भक्त भगवान्के साथ एकीभावको प्राप्त होता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

> इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
> (गीता १४।२)

'तत्त्वज्ञानका आश्रय लेकर साधक मेरे समान धर्मवाला बन जाता है अर्थात् मेरे साथ उसका अभेद हो जाता है—मैं और वह भिन्न नहीं रह जाते।'

गीता भी कहती है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर उपकारक हैं और एकके बिना दूसरा नहीं रह सकता। परन्तु परिपाकके समय दोनों अभिन्न हो जाते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५४)

'हे शत्रुको तपानेवाले अर्जुन! केवल अनन्यभक्तिके द्वारा—मुझमें एक निष्ठावाली भक्तिके द्वारा मेरा तत्त्वज्ञान—मेरे सम्पूर्ण स्वरूपका ज्ञान होता है, मेरे सगुण स्वरूपका दर्शन भी हो जाता है तथा भक्त मुझमें सर्वतोभावेन मिलकर मेरा रूप बन जाता है।' *इस प्रकार यहाँ यह बतलाया गया कि भक्तिसे ज्ञान और ज्ञानसे मुक्ति होती है। पुनः गीताका उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५४-५५)

'इस प्रकार ब्रह्मरूप हुए ज्ञानीका चित्त निरन्तर प्रसन्न रहता है और इस कारणसे वह किसी भी सांसारिक घटनासे उद्विग्न नहीं होता अर्थात् वह किसीके लिये शोक नहीं करता, न किसी पदार्थकी इच्छा ही करता है।† वह सब भूतोंमें समभाववाला होकर मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है अर्थात् मेरे साथ उसका अभेद हो जाता है। बल्कि ऐसा भक्त मेरे समग्र स्वरूपको यथार्थतः जान लेता है और इस तत्त्वज्ञानके द्वारा वह अविलम्ब मुझमें प्रवेश कर जाता है, 'मद्रूप' बन जाता है।' यहाँ 'विशते तदनन्तरम्'का भाव यह है कि ज्ञान और मुक्ति अथवा पराभक्ति और भगवत्प्राप्ति दोनों एककालमें होते हैं।* बल्कि यहाँतक कह सकते हैं कि पराभक्तिका ही दूसरा नाम मुक्ति है अथवा ज्ञानका ही दूसरा नाम मुक्ति है; क्योंकि पराभक्तिके उदयके बाद, अथवा तत्त्वज्ञानके उदयके बाद मुक्तिके लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता, दोनों साथ ही होते हैं।

बिजलीके दीपमें जैसे बटन दबाते ही प्रकाश तत्क्षण होता है, उसी प्रकार ज्ञान और मुक्ति एक ही साथ होते हैं। इसलिये यहाँ बहुत ही विस्तारपूर्वक और स्पष्टरूपसे भगवान्ने कह दिया कि भक्ति और ज्ञान परस्पर उपकारक हैं और दोनोंका एक ही फल है—'मेरी प्राप्ति'।

दूसरी रीतिसे देखिये तो ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनों ही भक्तिके ही विभिन्न प्रकार हैं। साधन-प्रणालीमें भेद होनेके कारण दोनों विभिन्न नामोंसे बोले जाते हैं। जिसको हम 'ज्ञानयोग' कहते हैं, वह 'अभेद-भक्ति' कहलाती है; और जिसको हम 'भक्तियोग' कहते हैं, वह 'भेद-भक्ति' कहलाती है। भेद-भक्तिमें साधक आरम्भमें अपनेको भगवान्से पृथक् मानता है और तीन सीढ़ियाँ पार करके एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

प्रारम्भमें जब उसको भगवान्के सम्बन्धमें कोई ज्ञान नहीं रहता, तब वह ऐसा निश्चय करता है कि मैं भगवान्का हूँ—'तस्यैवाहम्।' उसके बाद जब वह अनुभव करता है कि भगवान् तो सर्वव्यापक हैं और चराचर भूतमात्रमें उनका निवास है, तब वह भगवान्को अपने सम्मुख मानता है और कहता है—'हे भगवन्! मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो'—'तवैवाहम्'। तत्पश्चात् भाव-परिपाकके समय जब पराभक्तिका उदय होता है, तब तो वह भगवद्-रूप ही हो जाता है और कहता है—'त्वमेवाहम्'। हे भगवन्! मैं तुमसे पृथक् कहाँसे होऊँ?

* श्रुति भी कहती है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।' जो साधक ईश्वरके प्रति सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण कर देता है, उसके ऊपर ईश्वर प्रसन्न होते हैं और अपने समग्र स्वरूपको उसके सामने प्रकट कर देते हैं।

† श्रुति भी कहती है—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।' जिसकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो गयी है, उसको किसका मोह हो और किसका शोक हो तथा किस वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा हो।

* ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। (गीता ४। ३९) ज्ञान हो जानेपर साधक तत्काल परम शान्तिको—मुक्तिको प्राप्त करता है। यहाँ भगवान्ने 'अचिरेण' शब्दका प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान और मुक्ति साथ-साथ होते हैं। अतएव ज्ञान होनेके बाद मुक्तिके लिये कोई दूसरा कर्तव्य नहीं रह जाता।

क्योंकि तुम्हीं सर्वरूप हो ।*' इस प्रकार भेद-भक्तिकी साधनासे भक्त भगवान्‌के साथ अपना अभेद अनुभव करने लगता है ।

ज्ञानमार्गमें तो प्रारम्भ ही अभेदसे होता है । इस कारण इस साधनाको अभेद-भक्ति कहते हैं । इस मार्गमें साधक पहले, 'सब ब्रह्मरूप है' यह निश्चय करता है, तत्पश्चात् 'स्वयं भी ब्रह्मरूप हूँ'—ऐसा निश्चय होता है । इसको 'स्वस्वरूपस्थिति' या 'ब्रह्मनिष्ठा' कहते हैं । श्रुतिमें अभेद-भक्तिका एक दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है—

> जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादौ प्रपञ्चो यः प्रकाशते ।
> तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वपाशैः प्रमुच्यते ॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें जो प्रपञ्चका अनुभव होता है, वह सभी ब्रह्मरूप है । पहले साधकको इतना निश्चय करना चाहिये । यह निश्चय परिपक्व होनेपर वह अपने-आपको ब्रह्मरूप ही देखता है; क्योंकि जहाँ सब ब्रह्मरूप हो गया, वहाँ वह स्वयं ब्रह्मसे पृथक् कैसे रह सकता है । इस प्रकार इस अभेद-भक्तिका फल भी ब्रह्मकी प्राप्ति या मुक्ति अथवा ईश्वरके साथ अभेद—जो भी कहो, वह है ।

अब भक्ति और ज्ञानका स्वरूप समझिये । अभेद-भक्तिकी साधनामें अर्थात् ज्ञानयोगकी साधनामें साधक विचारका आश्रय लेता है और विचारसे अपने-आपको परमात्मासे अभिन्न निश्चय करता है । वह विचार करता है कि मैं सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा हूँ । मैं सत् हूँ, इसलिये त्रिकालाबाधित होनेके कारण मेरा जन्म-मरण नहीं होता । मैं चित् हूँ, इसलिये चैतन्यस्वरूप होनेके कारण मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और इस कारण ज्ञान-प्राप्तिके लिये मुझे यत्न नहीं करना है । फिर मैं आनन्दस्वरूप हूँ, अतः सुख पानेके लिये मुझको जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है ।'

पुनः, मैं शरीर नहीं हूँ । इसलिये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि शरीरके धर्म मुझको पीड़ा नहीं दे सकते । मैं प्राण नहीं, इसलिये भूख-प्यास आदि प्राणके धर्म मुझको व्याकुल नहीं कर सकते । इसी प्रकार मैं इन्द्रिय नहीं हूँ, इसलिये इन्द्रियाँ तथा उनके विषयोंके संयोग-वियोगमें उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख मुझको स्पर्श भी नहीं कर सकते । फिर, मैं अन्तःकरण नहीं हूँ; इसलिये शोक, मोह, राग, द्वेष, कर्ता-भोक्ता आदि अन्तःकरणके धर्म मेरे पास पहुँच नहीं सकते ।

जैसे सूर्यके प्रकाशके द्वारा प्राणिमात्र अपने अपने शुभा-शुभ व्यवहारोंमें लग जाते हैं, परंतु इससे सूर्यनारायणको कोई सुख-दुःख या हर्ष-शोक नहीं होता, उसी प्रकार मेरे [illegible] प्रकाशके द्वारा देह, इन्द्रियाँ, प्राण तथा अन्तःकरण अपने अपने शुभाशुभ व्यवहारमें लग जाते हैं । परंतु इन व्यवहारोंसे प्राप्त होनेवाले उनके सुख-दुःख मुझमें कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते ।

इस प्रकार दीर्घ समयतक शान्त चित्तसे, भाव और प्रेमसे विचार करते-करते साधक कृतकृत्य हो जाता है ।

भेदभक्तिकी साधनामें अर्थात् भक्तियोगकी साधनामें भक्त इस प्रकार विचार करता है—इस जगत्‌में जो जो रूप दीखते हैं, वे सब भगवान्‌ने ही धारण कर रखे हैं अर्थात् एक ही भगवान् अनन्त रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं। जो-जो शब्द सुननेमें आते हैं, वे सभी भगवान्‌के नाम हैं । और जो कुछ अनुकूल या प्रतिकूल अथवा शुभाशुभ [illegible] होता दीखता है, वह सब भगवान्‌की ही लीला है । [illegible] भगवान्‌के प्रति अनुराग बढ़ता [illegible] 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।' का अनुभव होने लगता है । इस प्रकार साधन करते करते भक्त [illegible] भगवान्‌के साथ अपना अभेद अनुभव करता है ।

यहाँ इन दोनों साधनोंमें ही [illegible] यह है कि साधक साधन-चतुष्टयसम्पन्न [illegible] इसके बिना कोई भी साधना सिद्ध नहीं हो सकती ।

---

* अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ (गीता ११ । ४०)

'हे अनन्त सामर्थ्य एवं अतुल पराक्रमवाले भगवान् ! आप सबमें व्याप्त हो रहे हैं, [illegible]'

श्रुति भी कहती है—

'एकं रूपं बहुधा यः करोति ।'

'परमात्मा स्वरूपसे तो एक है, परंतु वही अनन्तरूपोंको धारण किये हुए है ।

भक्तिका स्वरूप

(लेखक—पूज्य स्वामीजी श्री १०८ श्रीशरणानन्दजी महाराज)

भक्त स्वभावसे ही रसरूप, दिव्य एवं चिन्मय है। अथवा यों कहो कि वह तत्त्वज्ञानरूपी फलका अनुपम रस है। रसकी माँग प्राणिमात्रमें स्वाभाविक है। रसकी प्राप्तिमें ही कामका अत्यन्त अभाव है; क्योंकि नीरसतामें ही कामकी उत्पत्ति होती है। भक्ति-रसके समान अन्य कोई रस नहीं है। यदि यह कहा जाय कि भक्तिमें ही रस है तो कोई अत्युक्ति नहीं है। रस उसे नहीं कहते, जिसमें क्षति हो अथवा क्षति हो। जो तत्त्व क्षति और तृप्तिसे रहित है, वह स्वरूपसे ही अगाध तथा अनन्त है। पर यह रहस्य तभी खुलता है, जब साधक अपनी रसकी स्वाभाविक माँगसे निराश नहीं होता, अपितु उसके लिये नित्य नव-उत्कण्ठापूर्वक लालायित रहता है। भक्ति वह प्यास है, जो कभी बुझती नहीं और न कभी उसका नाश ही होता है, अपितु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

भक्ति जिसके प्रति होती है, उसे भी नित्य-नव रस मिलता है और जिसको होती है, उसे भी रस मिलता है; क्योंकि भक्ति 'भक्तका जीवन' और 'उनका स्वभाव' है, जिनकी वह भक्ति है। इतना ही नहीं, भक्तका अस्तित्व भक्ति होकर ही उनसे अभिन्न होता है, जिनके प्रति भक्ति उदय होती है।

भक्ति उन्हींके प्रति होती है, जिनके होनेमें संदेह नहीं है। यह नियम है कि निस्संदेहतापूर्वक जिसकी सत्ता स्वीकार कर ली जाती है, उसमें विश्वास अपने-आप हो जाता है। जिसमें विश्वास हो जाता है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वाभाविक है। नित्य सम्बन्ध होते ही सभी अनित्य सम्बन्ध स्वतः मिट जाते हैं और उनके मिटते ही अखण्ड स्मृति अपने-आप होती है।

स्मृति स्वभावसे ही दूरी, भेद और विस्मृतिके नाश करनेमें समर्थ है। दूरीके नाश होनेमें योग, भेदके नाश होनेमें बोध तथा विस्मृतिके नाशमें आत्मीयता स्वतःसिद्ध है। आत्मीयता अखण्ड, अनन्तप्रियताकी जननी है। प्रियता स्वभावसे ही रसरूप है। इस दृष्टिसे भक्ति अनन्त रसकी प्रतीक है। आत्मीयता अभ्यास नहीं है, अपितु जीवन है। इसी कारण आत्मीयतासे उदित रस कभी नाश नहीं होता और न उसकी कभी पूर्ति होती है। वह रस अविनाशी होनेसे अखण्ड और कभी उसकी पूर्ति न होनेके कारण अनन्त है।

आत्मीयता वर्तमानकी वस्तु है। जो वर्तमानकी वस्तु है, उसके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है; जिसके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है, वह सभीके लिये साध्य है। जो सभीके लिये साध्य है, वही अनन्त है। अतः भक्तिरस अनन्तका ही स्वभाव है, और कुछ नहीं। भक्ति-रससे शून्य जीवन जीवन ही नहीं है; क्योंकि भक्ति-रसके बिना नीरसताका अन्त नहीं हो सकता। उसका अन्त हुए बिना कामका नाश नहीं हो सकता। कामके रहते हुए जीवन ही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि काम समस्त विकारों तथा पराधीनताका प्रतीक है। पराधीनता जडता तथा अभावकी जननी है। जडता तथा अभावके रहते हुए भी यदि जीवन है तो मृत्यु क्या है? इतना ही नहीं, ऐसा कोई प्राणी है ही नहीं, जो किसी-न-किसीका भक्त न हो; क्योंकि सम्बन्धशून्य कोई व्यक्ति नहीं है। जिसका किसीसे सम्बन्ध नहीं है, उसका सभीसे सम्बन्ध है। जिसका सभीसे सम्बन्ध है, वह किसीसे विभक्त नहीं हो सकता। जो विभक्त नहीं हो सकता, वह भक्त है और उसीका जीवन भक्ति है।

जबतक साधकके जीवनमें एकसे अधिककी स्वीकृति रहती है, तबतक उसे विकल्परहित विश्वास प्राप्त नहीं होता। उसके प्राप्त हुए बिना शरणागत होना सम्भव नहीं है। शरणागत हुए बिना 'अहं' और 'मम' का नाश नहीं हो सकता और उसके हुए बिना भक्ति-रसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। अतः अनेक अस्वीकृतियोंमें ही एक स्वीकृति निहित है। एक स्वीकृतिमें ही अविचल विश्वास तथा श्रद्धा विद्यमान है। विद्यमान विश्वास तथा श्रद्धाकी जागृतिमें ही शरणागति सजीव होती है।

शरणागतिकी सजीवतामें ही निश्चिन्तता, निर्भयता और आत्मीयता निहित है। निश्चिन्तता सामर्थ्यकी, निर्भयता स्वाधीनताकी तथा आत्मीयता प्रीतिकी प्रतीक है। सामर्थ्यकी अभिव्यक्तिमें ही अकर्तव्यका अभाव और कर्तव्यपरायणता निहित है अर्थात् जो नहीं करना चाहिये, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिये, वह स्वतः होने लगता है। यह नियम है कि दोषोंका अभाव होते ही गुणोंका अभिमान स्वतः गल जाता है। गुण-दोषरहित जीवनमें अहंकी गन्ध भी नहीं है। अहंके नाशमें ही भेद तथा भिन्नताका नाश है, जो ज्ञान तथा प्रेमका प्रतीक है। इस दृष्टिसे शरणागति कामनाओंकी निवृत्ति, जिज्ञासाकी पूर्ति और प्रेमकी प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट साधन है। पर शरणागत वही हो सकता है, जो अपनी निर्बलताओंसे अपरिचित नहीं है और अनन्तकी अहैतुकी कृपामें जिसकी अविचल श्रद्धा है।

भक्ति और ज्ञानकी एकता

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीस्वरूपानन्दजी सरस्वती महाराज)

भक्ति और ज्ञानको लेकर प्रायः बहुत चर्चा चलती है, शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर ज्ञान और भक्तिकी महिमा वर्णित है। कहीं तो ज्ञानकी सर्वाधिक प्रशंसा की गयी है और कहीं भक्तिकी। महात्माओंके सत्सङ्गमें भी कभी भक्तिको ही सर्वोपरि बताया जाता है और कभी ज्ञानको ही कल्याणका अन्तिम साधन। इन दोनोंमेंसे किसी एकमें बिना निष्ठा हुए साधक अपनी साधनाको यथेष्ट विकसित करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। किंतु जबतक यह निश्चय न हो जाय कि इन दोनोंका यथार्थ स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्ध क्या है, तबतक किसीमें भी निष्ठा होना कठिन है।

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें भक्ति माता और ज्ञान-वैराग्य पुत्र बतलाये गये हैं। यह भी कहा गया है कि ज्ञान-वैराग्यके अचेत होनेपर भक्ति भी दुर्बल और दुःख-विह्वल हो गयी थी। श्रीमद्भागवतके भी अनेक स्थल ज्ञान-वैराग्यकी उत्पत्तिके हेतुरूपमें भक्तिका प्रतिपादन करते हैं—

> वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
> जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम्॥
> अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
> जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥
> विशुद्धय भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्।
> —इत्यादि।

रामचरितमानसमें श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने काकभुशुण्डि-गरुड़-संवादके द्वारा इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। काकभुशुण्डि अपने पूर्व जन्मोंकी कथा सुनाते हुए कहते हैं कि "मैंने एक बार अवधपुरीमें जन्म लिया और वहाँ अकाल पड़ जानेके कारण मैं उज्जैन चला गया। मेरे पास बहुत धन हो गया, जिससे मेरा अभिमान बढ़ गया। मेरे एक शिव-भक्तिपरायण वैदिक द्विजवर गुरु थे। मैं उनकी सकपट सेवा किया करता था। फिर भी वे मुझे पुत्रके समान पढ़ाते थे। उन्होंने मुझे शम्भु-मन्त्र दिया और विविध प्रकारसे शुभ उपदेश किया। मैं शिवमन्दिर जाकर अत्यधिक अहंकार और दम्भ-युक्त हृदयसे मन्त्र-जप करता था। मैं मोहवश विष्णुभक्तोंसे मात्सर्य और भगवान् विष्णुसे द्रोह करने लगा। गुरु मुझे बहुत समझाते थे, वे मेरे आचरणोंको देखकर दुःखित थे; पर उससे मेरा क्रोध ही बढ़ता था। एक बार जब उन्होंने कहा—

> सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥

—तब मेरा हृदय जल गया, मैं उनकी भी उपेक्षा करने लगा। एक बार मैं शिवमन्दिरमें बैठकर नाम-जप कर रहा था। मन अहंकारसे भरपूर तो था ही, गुरुके आनेपर भी उठकर प्रणाम नहीं किया। गुरु दयालु थे, उनमें रोषका लवलेश भी नहीं था। वे तो कुछ न बोले, पर भगवान् शंकर गुरुका अपमान-रूप पाप न सह सके। उन्होंने रुष्ट होकर सहस्र जन्मोंतक अजगर हो जानेका शाप दे दिया। गुरुकी प्रार्थनापर भगवान् शंकरका अनुग्रह हुआ। उन्होंने कहा, 'द्विज! यद्यपि मेरा शाप व्यर्थ नहीं होगा, इसे सहस्र जन्म लेना ही पड़ेगा, फिर भी मेरे अनुग्रहसे इसे जन्म-मरणमें जो दुःसह दुःख होता है, वह न होगा।' फिर मुझसे कहा—'तेरा जन्म भगवान्‌की पुरीमें हुआ है, साथ ही तूने मेरी सेवामें भी मन दिया है; इसलिये पुरीके प्रभाव और मेरे अनुग्रहसे तेरे हृदयमें रामभक्ति उपजेगी।' थोड़े ही कालमें शापकी अवधि समाप्त हो गयी, तदनन्तर मुझे द्विजकी चरम देह प्राप्त हुई। पूर्व जन्मकी शिव-सेवाके फलस्वरूप भगवान् रामके चरणोंमें रुचि उत्पन्न हुई—

> मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥

'मेरी अप्रतिहत गति तो थी ही, इससे निरन्तर मैं अनेकों मुनियोंके आश्रमोंमें गया और उनसे मैंने रामोपासनाका मार्ग पूछा; पर सभीने निर्गुण ब्रह्मका ही उपदेश दिया—

> 'जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्ब भूतमय अहई॥'

'मुझे निर्गुण-मत सुहाता नहीं था, सगुण ब्रह्ममें ही विशेष रति थी। गुरुके वचनोंका स्मरण करके मन रामचरणोंमें लग गया और मैं क्षण-क्षण नवानुरागमें युक्त होकर रघुपति नामोंका गान करता भ्रमण करने लगा। अन्तमें मुझे सुमेरु पर्वतके शिखरपर एक दिव्य वटकी छायामें आसीन लोमशजीके दर्शन हुए। उनसे भी मैंने सगुण ब्रह्मकी आराधनाका मार्ग पूछा। मुनिवरने आदरपूर्वक कुछ रघुनाथजीकी गुणगाथा सुनायी और मुझे परम अधिकारी समझकर वे ब्रह्मका उपदेश करने

लगे। ब्रह्म अज, अद्वैत, निर्गुण, हृदयेश, अकल, अनीह, अनाम, अरूप, अनुभवगम्य, अखण्ड, अनुपमेय, अवाङ्मनसगोचर, अमल, अविनाशी, निर्विकार, निरवधि सुखराशि है। वही तू है; तुझसे और उसमें उसी प्रकार भेद नहीं, जैसे जल-तरङ्गमें।

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

"यद्यपि मुनि लोमशजीने मुझे अनेक प्रकारसे समझाया, किंतु निर्गुण मत मेरे हृदयमें उतरा नहीं। मैंने पुनः उनके चरणोंमें मस्तक रखकर सगुणोपासनका ही उपदेश देनेके लिये अनुरोध किया और कहा—

राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥
सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥

"इसपर फिर उन्होंने भगवान्‌की कुछ अनुपम कथाएँ सुनाकर सगुण मतका खण्डन करके निर्गुणका ही निरूपण किया। तब मैंने भी निर्गुण मतका निराकरण करते हुए अत्यधिक हठके साथ सगुणका निरूपण करना प्रारम्भ कर दिया। बहुत उत्तर-प्रत्युत्तरसे लोमशजीको रोष आ गया और उन्होंने मुझे तुरंत काक-पक्षी हो जानेका शाप दे दिया। मैं तत्क्षण काकके रूपमें परिवर्तित हो गया। फिर भी मैं अपने सिद्धान्तपर अटल रहा।

लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥

"मेरा शील और श्रीरामचरणोंमें विश्वास देखकर लोमशजीके हृदयमें परिवर्तन हुआ। उन्होंने पश्चात्तापयुक्त होकर मुझे बुलाया, मेरा परितोष किया और हर्षित हृदयसे राममन्त्र प्रदान किया। मुनिने बालकरूप भगवान् रामका ध्यान बताया। वह मुझे बहुत अच्छा लगा। कुछ काल अपने समीप रखकर रामचरितमानस भी सुनाया और आशीर्वाद दिया—

सदा राम प्रिय होहु तुम्ह सुभ गुन भवन अमान।
कामरूप इच्छामरन ग्यान बिराग निधान॥

"तत्पश्चात् मैं इस शैलपर निवास करने लगा। यहाँ रहते मुझे सत्ताईस कल्प बीत गये। जब-जब भगवान् रामका अवधपुरीमें जन्म होता, मैं जाकर जन्म-महोत्सव देखता और पाँच वर्षतक भगवान्‌की बाललीलाके दर्शनके लोभसे वहीं रहता। एक बार भगवान्‌की बालोचित लीलाओंको देखकर कुछ संशय होने लगा। इतना मनमें आते ही प्रभुने अपनी मायाका प्रसार किया। उन्होंने मुझे पकड़नेके लिये हाथ बढ़ाया, मैं भागा; भागते हुए मैंने सात आवरणों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्वको पार किया। पर मुझमें और रामकी भुजामें सर्वत्र दो ही अंगुलका अन्तर रहा। विवश होकर मैं लौटकर अवधपुरी आया और भगवान्‌के मुखमें प्रविष्ट हो गया। मैंने अनेकों ब्रह्माण्ड उनके उदरमें देखे। वहाँ सब कुछ विलक्षण-विलक्षण दिखलायी पड़ा; किंतु राम सर्वत्र एकरस ही रहे—

राम न देखेउँ आन।

"सब कुछ देखनेके पश्चात् भगवत्प्रेरणासे मैं बाहर आया। भगवान् रामका यह ऐश्वर्य देखकर मेरा हृदय प्रेममग्न हो गया। प्रभु मुझे प्रेमाकुल देखकर प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझसे वरदान माँगनेको कहा—

काकभसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

"मैं मनमें विचार करने लगा कि भगवान् सब कुछ देनेके लिये कह रहे हैं, पर अपनी भक्ति देनेकी बात नहीं कहते। सभी सुखोंका मूल भक्ति समझकर मैंने भगवान्‌से भक्तिकी याचना की। भगवान्‌ने भक्ति तो दी ही, साथ ही ज्ञान-वैराग्य आदि भी दे दिये।"

आगे चलकर वे कहते हैं—"अब मैं बिना पक्षपातके वेद, पुराण और संतोंका मत बतलाता हूँ। जीवके बन्धनका हेतु माया है, माया एक सुन्दरी स्त्री है। कोई मतिधीर पुरुष ही ऐसी स्त्रीका त्याग कर सकता है। साधारणतः जो श्रीरघुवीरपदसे विमुख हैं, वे कामी तो विषयवश रहते ही हैं; परंतु स्त्रीके रूपपर स्त्री मोहित नहीं होती। माया और भक्ति नारिवर्गमें हैं, इस कारण भक्तिके लिये मायामें मोहकता नहीं है और फिर 'भक्ति' भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। माया बेचारी उनकी नर्तकी है, इसलिये भक्तिको देखकर माया सकुचाती है। भक्तके सम्मुख मायाका ऐश्वर्य प्रतिहत हो जाता है। किंतु ज्ञानरूपी पुरुषकी ऐसी स्थिति नहीं है।

"जो लोग ऐसी भक्तिको जानकर भी छोड़ देते हैं और श्रम करते हैं केवल ज्ञानके लिये, वे उसी प्रकार जड हैं, जैसे वह दुग्धार्थी, जो दुग्धकी प्राप्तिके एकमात्र स्थान घरकी कामधेनुको छोड़कर आककी खोज करने चले।"

तात्पर्य यह कि यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति भक्तिसे ही हो सकती है। भक्तिहीनके लिये ज्ञान-प्राप्तिकी आशा आकसे दुग्ध

प्राप्त करनेकी आशाके समान है और जैसे आकसे दुग्धके रगका विष निकलता है, उसी प्रकार भक्तिहीन यदि श्रम करके यथा-कथंचित् वाक्य-ज्ञान प्राप्त भी कर ले तो वह मुमुक्षुके लिये विषवत् ही होता है।

इसके पश्चात् उन्होंने क्रमशः 'ज्ञानदीपक' और 'भक्ति-मणि' के उपायोंका निदर्शन कराके दोनोंमें भगवत्-कृपाकी अनिवार्यता बतलायी और भक्तिमणिकी सुलभता एवं अन्यर्थताका प्रतिपादन किया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आकके दुग्ध और ज्ञानदीपकके ज्ञानमें वैलक्षण्य है। आकका दुग्ध नेत्र-ज्योतिका नाशक है, किंतु हरिकृपासे हृदयमें बसनेवाली सात्त्विक श्रद्धारूपी गौका परमधर्ममय दुग्ध आत्मानुभवरूप प्रकाश प्रदान करनेवाले दीपकके लिये विज्ञान-निरूपिणी बुद्धिरूप घृतका कारण है।

यद्यपि आपाततः इस प्रसङ्गको देखनेपर ज्ञानकी अन-पेक्ष्यता और भक्तिकी उपादेयता प्रतीत होती है, तथापि सूक्ष्म विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी श्रीतुलसीदास-जी भगवद्भक्तिसे ही सरलतापूर्वक यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव मानते हैं। औपनिषद ज्ञानके स्वरूप एवं फलके विषयमें उन्हें कोई विवाद नहीं।

उन्होंने स्थान-स्थानपर ज्ञान और ज्ञानीकी महत्ता स्वीकार की है—

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥
भएँ ग्यान बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
जासु ग्यान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥
—आदि।

काकजीकी कथामें भी हम इसी तत्त्वको पाते हैं। वे कोरा ज्ञान लेना अस्वीकार करके भक्तिनिष्ठ हो जाते हैं। उस निष्ठाके प्रभावसे ही उन्हें मुनिका आशीर्वाद, भगवल्लीलाका दर्शन और लीलाके द्वारा ही भगवान्‌की सर्वव्यापकता और सर्वाधिष्ठानरूपताका अनुभव एवं दृढ़ ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

इस कथासे यह भी विदित हो जाता है कि लोमशजी अभेदवादी होते हुए भी परमभगवद्भक्त और शिवप्रोक्त रामचरितमानसके ज्ञाता थे।

श्रीमद्भागवतकी ब्रह्मस्तुतिमें इस विषयका सुन्दर विवेचन है—

पानेन ते देव कथासुधायाः
　प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
　यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
　बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
　तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥

तात्पर्य यह कि भक्त और ज्ञानी दोनों भगवान्‌को प्राप्त करते हैं; पर ज्ञानीको श्रम होता है, सेवकको नहीं। यहाँ भगवत्प्राप्ति और भगवत्तत्त्व-विज्ञान साध्यरूपमें एक हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भक्तिसे ज्ञानप्राप्तिके द्योतक बहुत-से वचन हैं—

'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥'
'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'
'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी॥'
'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।'

यही नहीं,

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—इस प्रकारकी श्रुतियोंका भी यही आशय है।

इसी प्रकार ज्ञानसे भक्तिकी प्राप्तिके भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। रामचरितमानस-सरका वर्णन करते समय—

संत सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥
संजम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥

—यहाँपर संयम-नियमको फूल, ज्ञानको फल और हरि-पद-रतिको उस ज्ञानरूपी फलका रस बतलाया गया है।

भगवान् शङ्करके मुखसे भगवान् रामकी सम्पूर्ण लीला सुननेके अनन्तर भगवती पार्वतीका कथन—

मम रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥

—भी इसका एक उदाहरण है।

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

इसमें ज्ञानसे प्रतीति, प्रतीतिसे प्रीति और प्रीतिसे भक्ति-की दृढ़ताका कारण-कार्यभाव दिखलाया गया है। भक्ति-मणिकी प्राप्तिके लिये यत्न करते समय—

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥

—में रामकथारूपी रुचिराकरसे भक्तिमणि निकालनेके लिये ज्ञान-वैराग्यरूप दो नेत्रोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है।

गीतामें भी कहा है—

'भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।'

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥'

'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥'

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतमें तत्त्वबोधद्वारा भक्तिके अनुष्ठानके भी अनेक उदाहरण हैं। कुन्तीने भगवान्‌के अवतारोंके अनेक प्रयोजनोंमें एक मुख्य प्रयोजन अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंके लिये भक्तियोगका विधान करना बतलाया है। एक प्रसङ्गमें कहा गया है कि—

'भगवान् उरुक्रममें ऐसे गुण ही हैं, जिनसे आकृष्ट होकर आत्माराम निर्ग्रन्थ महामुनि भी उनमें अहैतुकी भक्ति करते हैं।' श्रीशुकदेवजीने पारमहंस्य-संहिताके अध्ययनमें प्रवृत्तिका हेतु बतलाते हुए कहा—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।

गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥

अर्थात् निर्गुण ब्रह्ममें परिनिष्ठित होनेपर भी उत्तमश्लोक श्रीकृष्णकी लीलासे चित्तके आकृष्ट हो जानेके कारण हमने इस महान् आख्यानका अध्ययन किया।

इन स्थलोंसे ज्ञानके द्वारा भक्तिकी उत्कृष्टता पूर्णता और दृढ़ता सूचित होती है।

कहीं-कहीं ज्ञानमिश्रा, कर्ममिश्रा भक्तिसे विलक्षण भक्तिका एक स्वतन्त्र ही रूप दृष्टिगोचर होता है—

सर्वाभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् सर्वेशके प्रति सर्वाभिलाषशून्य ज्ञान-कर्मसे अनावृत मनोवृत्ति भक्ति है। यहाँ ज्ञानकर्माद्यनावृतम् से भक्तिकी स्वतन्त्रता और ज्ञान-कर्म-निरपेक्षता प्रतीत होती है; किंतु चित्तमें सर्वाभिलाषिता-शून्य भावके अनुकूल संस्कार निष्कामभावसे अनुष्ठित श्रौत-स्मार्त कर्म एवं वैधी भक्तिसे होते हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार भजनीयका स्वरूप-बोध जो भक्तिका मुख्य आधार एवं अङ्ग है, उसकी भी आवश्यकता माननी ही पड़ेगी। अतएव ज्ञानकर्माद्यनावृतम् का अर्थ भक्तिके ऊपर ज्ञान-कर्म छा न जायँ—इतना ही हो सकता है, सर्वथा असम्बद्धता नहीं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'ज्ञान' और 'भक्ति' में विरोध और असम्बद्धता नहीं, प्रत्युत अविरोध और पूरकता है। कहा जा सकता है कि भक्तिके लिये उपास्य-उपासकका भेद अपेक्षित है और ज्ञानमें अभेद; फिर विरोध क्यों नहीं ! किंतु यह विरोधका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि व्यावहारिक भेद और तात्त्विक अभेदसे उपासना सम्भव है। परस्पर विलक्षण नाम-रूप-लीला-धामकी सच्चिदानन्दरूपता इसी प्रकार है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीशंकराचार्यकी षट्पदीका निम्न पद्य कितना हृदयाकर्षक है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।

सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

अर्थात् भेद न होनेपर भी नाथ ! मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं; क्योंकि तरङ्ग समुद्रका होता है, तरङ्गका समुद्र नहीं।

ज्ञानिनामग्रगण्य श्रीहनुमान्‌जीका यह वचन—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।

वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चला मतिः ॥

—भी इसका एक सुन्दर प्रमाण है।

विचार करनेपर यही निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान और भक्तिके अनुष्ठान-प्रकारमें भेद होनेपर भी दोनों ही भगवत्प्राप्तिके उत्तम साधन हैं। हृदय-प्रधान अधिकारीके लिये भक्ति और मस्तिष्क-प्रधान अधिकारीके लिये ज्ञान मुख्यरूपमें अनुकूल होता है; यद्यपि दोनोंका दोनोंमें किसी-न-किसी रूपमें समावेश रहता ही है।

ज्ञान-कर्मके स्वाभाविक विरोधके समान ज्ञान और भक्तिका विरोध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि गीताके अनुसार ज्ञानी एक विशिष्ट भक्त ही है—

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

उपासना और ज्ञानमें क्या वैलक्षण्य है, इसपर यही कहा जाता है—

वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्।

अर्थात् बोध वस्तुतन्त्र होता है और उपासना कर्तृतन्त्र। उपासना उपासकके अधीन रहती है, वह उसे करे-न-करे या अन्यथा करे। किंतु बोध तो प्रमाणद्वारा जैसा अनुभूत होता है, योद्धा उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता; क्योंकि बोध वस्तुतन्त्र है।

ऐसी स्थितिमें विरोध तब हो सकता है, जब 'ज्ञेय' और 'उपास्य' में भेद हो—ज्ञेय परब्रह्म परमात्मा हो और उपास्य कोई अपर देवता। किंतु यदि दोनोंका विषय परब्रह्म ही हो तो इसमें कोई विरोध नहीं बन सकता।

निर्गुणोपासनामें उपासनाका अधिकारी उपनिषदोंके तात्पर्यभूत प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वको ही अपना लक्ष्य

भक्तोंके परम आदर्श—श्रीमारुति

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि ॥

बनाता है। उसमें निर्गुण ब्रह्मविचार उपासनाका उपोद्बलक ही होता है, विरोधी नहीं। वैसे ही सगुणोपासनामें भी लक्ष्यैक्य होनेसे अविरोध है।

विरोध तब प्रतीत होने लगता है, जब उपनिषद्वाक्यवर्णगोचर ब्रह्मसे सगुण साकारका तत्त्व भिन्न समझा जाता है। इसी कारण सगुण-निर्गुणको तात्त्विक दृष्टिसे एक जानना आवश्यक समझा गया है। उपनिषदोंसे लेकर तुलसीकृत रामायणतक सर्वत्र इस एकताका प्रतिपादन है। श्रीमद्भागवतके इन वचनोंको इस विषयमें उद्धृत किया जा सकता है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

गीताकी भाष्यभूमिकामें भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य अवतार-तत्त्वका निदर्शन कराते हुए कहते हैं—

भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य च रक्षणार्थं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि भगवान् वसुदेवाद् देवक्यामवततार।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका रामचरितमानस तो, ऐसा प्रतीत होता है, इसी विषयका प्रतिपादन करनेके लिये लिखा गया है। मानसके चार संवादरूप चार घाटोंमेंसे किसी भी घाटमें उतरकर अवगाहन किया जाय—

रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥

—का ही अनुभव होता है।

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥

—में तो यह सर्वथा सुस्पष्ट है।

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि भक्ति-ज्ञान परस्पर समन्वित और भगवत्प्राप्तिके असमर्थ साधन हैं। अतः विवादमें न पड़कर जिस मार्गमें स्वाभाविक श्रद्धा, उत्साह और शास्त्रानुसार अधिकार हो, उसी एक साधनका दृढ़तासे आलम्बन करके साधकको अपने कल्याणके लिये यत्न करना चाहिये।

भक्तिवादका गूढ़ मर्म

(लेखक—श्रीमत् स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी अवधूत)

भक्त-चूडामणि प्रह्लादको गोदमें बैठाकर, मस्तक सूँघते हुए, अश्रुजलसे अभिषेक करते-करते पिता हिरण्यकशिपुने प्रफुल्ल चित्तसे पूछा—

प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम्।
कालेनैतावताऽऽयुष्मन् यदशिक्षद् गुरोर्भवान्॥
(श्रीमद्भा० ७। ५। २२)

'आयुष्मन्! तात प्रह्लाद! इतने दिनोंतक गुरु-गृहमें रहकर जो कोई अच्छी बात तुमने सीखी है, उसमें जो सु-अधीत—सु-अधिगत हो, वह मुझसे कहो।'

इसके उत्तरमें प्रह्लादने जो वचन कहे थे, उनमें भक्तिवादका निगूढ़ मर्म निहित है, उस मर्मको अनुसरण करनेकी आज विशेष आवश्यकता आ पड़ी है।

प्रह्लाद कहते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ५। २३-२४)

'भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इन नौ लक्षणोंवाली भक्ति यदि पुरुषोत्तम विष्णुके अर्पणपूर्वक की जाय तो मैं समझता हूँ कि वही सु-अधीत है।'

इन दोनों श्लोकोंके अन्तर्गत—

अर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा क्रियेत

—इस अंशको अधिक स्पष्ट करते हुए श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

सा च अर्पितैव सती यदि क्रियेत, न तु कृता सती पश्चादर्प्येत।

अर्थात् श्रवण-कीर्तन यदि 'अर्पित' होकर किया जाय है (किये जानेके पश्चात् अर्पित नहीं होता), तभी श्रवण-कीर्तनादि भक्ति-पद-वाच्य होंगे।

प्रह्लादकी उक्तिका गूढ़ मर्म अवधारण करनेपर यह सुस्पष्ट होता है कि श्रवण-कीर्तन आदि [illegible] कर्म करके भगवान् विष्णुको अर्पण होकर किये

ही भक्तिरूपमें परिणत होंगे। नहीं तो वे 'कर्म' ही रह जायँगे। जो कुछ कर्तृ-तन्त्र है अर्थात् कर्ता जिसे कर सकता है, नहीं कर सकता या अन्यथा कर सकता है, वही 'कर्म' है। श्रवण-कीर्तनादि भी 'कर्म' ही रह जायँगे, यदि वे वस्तु-तन्त्र या पुरुषोत्तम-तन्त्र न होकर कर्तृ-तन्त्र होते हैं। भक्ति-साधनामें श्रवणादि कर्मोंको पहले भगवान् विष्णुमें अर्पण करें; पश्चात् उनके प्रसाद-स्वरूप उन कर्मोंको स्वयं करे। जिस कर्म या ज्ञानका 'आरम्भ' भगवान् विष्णुसे होता है, वही भक्ति है और जो कुछ कर्म या ज्ञान जीवके अहंके द्वारा आरम्भ होता है, वह कर्म है।

वस्तुतन्त्रं भवेज्ज्ञानम्। (पञ्चदशी)

वस्त्वधीना भवेद् विद्या। (आचार्य शंकर)

भक्ति भी भगवान् विष्णुके अधीन है; न तुम्हारे अधीन है न हमारे। भक्ति-गङ्गा विष्णु-पाद-पद्मसे प्रवाहित होती है।

इसको और भी स्पष्ट करते हुए श्रीरूपगोस्वामी अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में लिखते हैं—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

'अतएव श्रीकृष्ण-नाम-रूप-लीला इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं होते, अपितु सेवोन्मुख जिह्वा आदिमें ही नाम-रूप-लीला स्वयं स्फुरित होते हैं।'

कर्मेन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियाँ स्वयं कर्ता बनकर श्रीकृष्णके नाम-रूप-लीला आदिका दर्शन, श्रवण या मनन करेंगी—यह कभी सम्भव नहीं। इन्द्रियाँ 'कर्ता' होकर भगवान्के नाम-रूप-लीलाको ग्रह-धातुका 'कर्म' यदि बनाने जायँगी तो नाम-रूप-लीलाका अप्राकृतत्व विलुप्त हो जायगा; क्योंकि सारे भक्तिशास्त्र कहते हैं—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

'श्रीकृष्णका नाम चिन्तामणि है, नाम ही कृष्ण है, नाम ही चैतन्यरसविग्रह है। नाम पूर्ण, शुद्ध और नित्यमुक्त है; क्योंकि नाम और नामी अभिन्न हैं।'

'स्वतन्त्र' नाम-रूप-लीलाको 'कर्तुः ईप्सिततमम्' कर्म-कारकमें परिणत करनेपर वस्तुके ऊपर परिच्छिन्न 'मैं'की छाप डालनी पड़ेगी, ऐसी स्थितिमें वह कभी चिन्तामणि नहीं हो सकता, इसमें जड़त्व आ जायगा, उसका चिन्मयत्व और शुद्धत्व मिट जायगा, एवं उसके पूर्ण शुद्ध, नित्यमुक्त स्वरूपमें बाधा आयेगी। पहले अपने 'अहं'को और अहंका अनुसरण करनेवाले कर्म-बुद्धि-मन और इन्द्रियोंको भगवान् विष्णुके अर्पण करनेपर, उस अर्पित अहं और बुद्धि-मन-इन्द्रियोंसे जो कर्म स्फुरित होगा, वही होगी 'भक्ति'। सारांश यह है कि भगवान्में मनोलय, बुद्धिलय और अहंलयके बाद ही भक्तिका आस्वादन होने लगेगा और निर्गुणा भक्तिमें कर्म-ज्ञान होगा 'भक्तिका घन आस्वादन'। इसीलिये गीता ऊर्ध्वमूल होनेकी बात कहती है। विश्वका मूल है पुरुषोत्तम। उस मूलको पकड़-कर ही विश्वमें ऊपर उठना होगा या नीचे गिरना होगा। यदि मूल ऊपर है तो विश्व मूलके नीचेकी ओर ही होगा। अतएव भक्ति-साधकको कर्तृतन्त्र साधनाके विपरीत दिशामें चलना पड़ता है। वंशीके स्वरसे यमुना अपने उद्गमकी ओर बहने लगती थी। वर्णाश्रमका आरम्भ है जीवके अहंसे; और भक्ति-साधनाका आरम्भ इसके उद्गमकी ओरसे—भगवान्से, 'पुरुषोत्तमोऽहम्' से होता है। वर्णाश्रम विश्वसे विश्वनाथकी ओर पहुँचनेकी बात कहता है और भागवतने सुनायी है विश्वनाथसे विश्वमें आनेकी बात। इसीलिये भक्ति-साधनामें भगवान् जिस प्रकार सत्य हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी सत्य है, रूप भी सत्य है, लीला भी सत्य है और उनका ही निर्गुण लीलाक्षेत्र यह विश्व भी सत्य है। देवगण कंसके कारागारमें श्रीकृष्णके इसी सत्य स्वरूपका स्तवन करते हैं—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥
(श्रीमद्भा० १०।२।२६)

'हे भगवन्! तुम सत्यव्रत हो, सत्य तुम्हारा संकल्प (प्रयोजन या उद्देश्य) है, सत्य तुम्हारी प्राप्तिका साधन है। तुम रूप और स्वरूप दोनों दृष्टियोंसे त्रिकालमें अबाधित सत्य हो। तुम सत्यकी योनि हो और भूत-सत्यसे दोनों दृष्टियोंमें अवस्थित हो। सत् और त्यत् (सत्य)-वाच्य यह भूतसमूह सत्य है। तुम इस सत्य भूतसमूहको पारमार्थिक सत्यमें परिणत करके ही फिर सत्यरूपमें अवतीर्ण हो। तुम्हारा शरीर सूनृता वाणी और समदर्शनका प्रवर्त्तक (नेत्र) है। तुम सर्वात्मामें, सर्वकालमें, सर्वक्षेत्रमें सत्य हो, अतएव सत्यात्मक हो। हम तुम्हारी शरण लेते हैं।'

भक्तिवाद कभी भगवान्को विश्वके उस पार निर्वासित नहीं करता। भगवान् इस विश्वको 'सर्वतो स्पृत्वा' अतिक्रम किये हुए हैं। (अत्यतिष्ठत्) जगत्+

नाथ=जगन्नाथ । योगमाया-स्थानीया सुभद्रा (+) जगत् और नाथको एक दूसरे साथ युक्त किये हुए हैं । पुरुषोत्तमके इस निगूढ़ तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌के साथ अनन्य भक्तिद्वारा युक्त होकर बुद्धिका लय करना पड़ेगा ।

अनन्यभक्त्या तद्‌बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम् ।

—अनन्य भक्तिके द्वारा अत्यन्त बुद्धिलय होनेपर भक्तिके साधक 'तद्‌बुद्धि' होते हैं । तद्‌बुद्धि होनेपर ही भक्त भगवान्‌को, वे जैसे जो कुछ हैं, तत्त्वसे जानता है ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।

(गीता)

भक्तिसाधनामें 'प्राप्ति' दो प्रकारकी होती है । पहली प्राप्ति 'स्वरूप'में होती है और दूसरी प्राप्ति 'रूप'में । द्वितीय प्राप्तिको ही 'अभिज्ञान' पदद्वारा भगवान्‌ने व्यक्त किया है । भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता)

'सततयुक्त, प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझको प्राप्त होते हैं ।' बुद्धियोगके उदय होनेके पहले सततयुक्त, प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालेकी 'प्राप्ति' को महाकवि कालिदासके द्वारा चित्रित कण्व-मुनिके आश्रममें दुष्यन्त-शकुन्तलाकी पारस्परिक, सबारके लौकिक नेत्रोंके अन्तरालमें होनेवाली प्राप्तिके समान समझना चाहिये । बुद्धियोग प्राप्त होनेके बाद जो प्राप्ति होती है, उसकी तुलना, दूसरी बार जो दुष्यन्त-शकुन्तलाकी प्राप्ति सबकी आँखोंके सामने होती है, उसके साथ की जा सकती है । इन दोनों प्राप्तियोंके बीचमें अँगूठी खो जानेके प्रसङ्गका एक अध्याय है । प्रथम प्राप्तिका नाम है ज्ञान, दूसरी बारकी प्राप्तिका नाम है विज्ञान—मन-बुद्धिके क्षेत्रमें वास्तविक रूपसे प्राप्ति । पहलेसे जानी हुई वस्तुको पुनः प्राप्त करनेका नाम ही 'अभिज्ञान' है ।

'पूर्वज्ञातस्य ज्ञानमभिज्ञा' (शाण्डिल्यसूत्रका स्वप्नेश्वर-भाष्य)

श्रीनित्यगोपालने भी ठीक यही बात कही है—'एक मनुष्यको हीरा मिला है, परंतु वह हीरेको पहचानता नहीं । अतएव वह हीरेका मर्म भी नहीं समझता । इसी तरह भगवान्‌को तुमने पा लिया है, पहले उनको पहचानो, तब उनके माहात्म्यको समझोगे ।' भगवान्‌को तो हम पाये ही हुए हैं, यह हमारी स्वतःसिद्ध 'प्राप्ति' है; परन्तु [illegible] प्राप्तिसे ही वे प्राप्त नहीं होते । अन्धकारमें पाये हुए [illegible] बिना पहचाने, बिना जाँचे लेनेपर वह हाथसे चला [illegible] जो सच्चा हीरेको नहीं पहचानता, उसको एक [illegible] उसके हाथसे आसानीसे हीरा छीन लिया जा सकता है । सर्वविशेष-शून्य बुद्धि-लयके भीतर [illegible] प्राप्त होता है, उसको जाग्रत्-अवस्थामें मन-बुद्धिके [illegible] प्राप्त करनेका नाम ही अभिज्ञान है । 'प्राप्ति' हमारे [illegible] तथ्य (fact) होकर भी कर्म (task) हो जाती है । 'Spiritual life is at the same time a fact and a task'—Eucken.

भगवान् तो प्राप्त ही हैं, यह संवाद दिया [illegible] वादने और उस बिना जाने-बूझे प्राप्त धनको [illegible] सुनकर पानेका समाचार दिया भक्तिवादने । [illegible] आस्वादन पहले न होनेपर भक्तिवादकी आधारभूमि [illegible] जाती है और भक्तिवादके न होनेपर अद्वैतवादमें [illegible] जीवनकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती, वह [illegible] अवास्तविक कल्पना बन जाता है और [illegible] भक्तिवाद भी अन्ततक भावविलासोंके [illegible] हो जाता है । भक्तिवाद और अद्वैतवाद दोनों ही [illegible] परिपूरक (complementary) हैं । श्रीनित्यगोपालने लिखा है—शिवके प्रति जीवकी अपनी अद्वैतता [illegible] होनेपर शिवके प्रति जीवकी जो भक्ति होती है, [illegible] विवेचनामें उसीको पराभक्ति कहा जा सकता है ।' 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्—शिव बने बिना कभी कोई शिवकी [illegible] पूजा नहीं कर सकता । यह श्रीनित्यगोपालकी [illegible] पुस्तक 'भक्तियोगदर्शन'का पाठ करनेवालोंसे [illegible] है । तथापि अबतक इन अद्वैतवादको [illegible] ही देखा है । अद्वैतवादने भी भक्तिको [illegible] रूपमें देखकर भक्तिकी [illegible] श्रीनित्यगोपालने शिशुके साथ माँके [illegible] सम्बन्ध' ही कहा है । शिशुकी मातृभक्तिको [illegible] लिये हम उसीको सुनाते हैं—

दस मास दस दिन धरिया उदरे ।

जिस माताने दस महीने दस दिन तुम्हें पेटमें धारण करके कितना कष्ट उठाया है, तुम उसकी भक्ति करो ।

दस मास दस दिन मातृगर्भमें रहनेका अर्थ ही यह है, कि मैं एक दिन मातृगर्भमें माँ बना हुआ था—"I was one with my mother." माँसे पृथक् कोई मेरी सत्ता न थी। माँके साथ संतानकी यह अद्वैतानुभूति जितनी स्पष्ट होगी, उतनी ही मातृभक्ति सुदृढ़ होगी। भक्ति अद्वैत-ज्ञानपूर्वा होनेपर ही निर्गुणा होती है। इस निर्गुणा भक्तिको प्राप्त करनेके पहले चाहिये ज्ञान और कर्मका अर्पण। अर्पणके बाद अनुष्ठित भक्ति ही निर्गुणा भक्ति है। यही 'अर्पितैष क्रियते'का गूढ़ तात्पर्य है। भागवत ग्रन्थमें भगवान् कपिलने माता देवहूतिको इसी निर्गुणा भक्तिकी बात सुनायी है। विश्वके वक्षःस्थलपर इस निर्गुणा भक्तिका अवतरण आज वास्तविक रूप धारण कर रहा है। इसका लक्षण चारों ओर दिखलायी दे रहा है। मेरे द्वारा सम्पादित (बँगला) 'उज्ज्वल-भारत' मासिक पत्रिका इस निर्गुणा भक्तिके स्वरूप और वास्तविक क्षेत्रमें उसके प्रयोग-कौशलकी सूचना देनेके उद्देश्यसे ही प्रकाशित हो रही है। पुरुषोत्तमकी जय हो।

भक्ति अर्थात् सेवा

(लेखक—स्वामीजी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)

यों तो ईश्वरविषयक परानुरक्ति (परम प्रेम) को 'भक्ति' कहा गया है; फिर भी जिससे प्रेम होगा, उसकी सेवाका होना स्वभावतः अनिवार्य है; अतएव 'भक्ति' शब्दका धात्वर्थ है 'सेवा'। किसी भी कर्मका सम्बन्ध भगवान्के साथ हो जानेपर वह कर्मयोग बन जाता है और इसीका दूसरा नाम है—'भक्ति'। इसे स्पष्ट करनेके लिये एक लोकगाथाको उद्धृत किया जाता है। एक देहाती किसानने उस समयके एक प्रसिद्ध संतके समीप विधिवत् जाकर जिज्ञासा की कि 'भगवन्! मुझ दीन, हीन, अकिंचन-पर दया कीजिये और मुझे आनन्दकन्द प्रभुकी प्राप्तिका उपाय बताइये।' नवप्रसूता गाय बछड़ेको देखकर जैसे पिन्हा जाती है, वैसे ही संत भी भोले-भाले जिज्ञासुको देखकर प्रसन्न हो गये और सुधा-सनी वाणीमें बोले—'प्रभुके प्यारे, जगत्के अन्नदाता कृषकदेव! मन, वाणी तथा कायासे जो कुछ करें, प्रभुके लिये ही करें। आपके अधिकारानुसार आपके हिस्सेमें आया हुआ कृषिकर्म आपके लिये अवश्यकर्तव्य है। आपके स्वभावानुसार आपके लिये नियत इस कर्मको प्रभुकी आज्ञाका पालन करनेकी नीयतसे करते रहनेपर पाप, अपराध एवं रोगादिके होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती, यद्यपि इस कार्यको वर्षा, शीत-आतप आदिमें खुले आकाशके नीचे, खड़े पैर, घोर परिश्रमके साथ करना होता है। इतनेपर भी सफलताकी कोई गारंटी नहीं, मेघ-देवताका मुख ताकना पड़ता है; इस प्रकार यह कर्म अनेक दोषोंसे युक्त है। तथापि आपके लिये यह सहज कर्म है, अतः इसे न करनेके संकल्पको मनमें स्थान न देना। अपने सहज कर्मका त्याग करनेसे प्रभुकी आज्ञाका उल्लङ्घनरूप अपराध होता है और करनेका अभ्यास छूट जाता है, आलस्यादि भयंकर रोग शरीरमें घर कर लेते हैं। इस तरहके अनेक दोष कर्म न करनेमें भी हैं ही। अतएव न करनेसे करना ही श्रेष्ठ है। फिर कौन-सा कर्म ऐसा है, जो सर्वथा निर्दोष है; सभी तो धूएसे अग्निकी भाँति दोषोंसे घिरे ही रहते हैं। सारांश यह कि प्रभुके आदेशका पालन करनेकी भावनासे अपने हिस्सेके कर्मको पूर्ण प्रामाणिकता, परिपक्व विश्वास एवं परम प्रेमके साथ तन, मन, धन, जनसे साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न करके परम दयानिधान प्रभुको सादर समर्पित करते रहना ही प्रभुकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है।'

जिस गाँवमें वह किसान रहता था, उसमें किसी ज्योतिषीने भविष्यवाणी कर दी थी कि यहाँ बारह वर्षतक वृष्टि होनेका योग बिलकुल नहीं है। ज्योतिषी महाराजकी बात सुनकर लोगोंमें हाहाकार मच गया। उस कृषकने सोचा कि 'सबकी तरह रोने-चिल्लानेसे तो अपना काम चलेगा नहीं, यह तो गुरुदेवके उपदेशको आचरणमें उतारनेका अमूल्य अवसर प्रभुकृपासे हाथ लगा है; इसे सार्थक कर लेना ही बुद्धिमानी है। कसौटी बार-बार थोड़े ही हुआ करती है, इसमें कसे जाकर पार होना ही सार है।' ऐसा निर्णय करके वह अपने हल, बैल आदि लेकर खेतपर पहुँचा और लोग क्या कहेंगे—इसकी कुछ भी परवा न करके सूखे खेतको बीजारोपणके लिये तैयार करनेमें तत्पर हो गया। आकाशमार्गसे जाते हुए मेघ-देवताओंको उसे वैसा व्यर्थ श्रम करते देखकर आश्चर्य ही नहीं हुआ, अपितु उसकी नासमझीपर उन्हें तरस भी आया। कुतूहलवश एक मेघ-देवताने नीचे उतरकर कृषकसे पूछा—'इस व्यर्थके परिश्रमसे क्या अभिप्राय है?' कृषक बोला—'प्रभुकी आज्ञाका पालन, काम

करनेकी बानको बनाये रखना, आलसी न बन जाना इत्यादि अनेक अभिप्राय इस व्यर्थ व्यवसायके हो सकते हैं।' किसानकी बात बादलोंको लग गयी कि कहीं हम भी अपनी बरसनेकी आदतको भूल न जायँ। फिर क्या था ? फिर तो सारे-के-सारे बादल कड़ाकेकी गर्जनाके साथ बरस पड़े और मूसलाधार वृष्टि होने लगी, जिससे देखते-ही-देखते सारे देहातकी भूमि सुजला, सुफला एवं शस्यश्यामला हो गयी।

कृषककी भाँति जीव भी अपने अन्तःकरणके सूखे खेतमें भगवद्भक्तिके बीजको उगानेकी तैयारीमें तन-मनसे संलग्न हो जाय—पक्का निश्चय कर ले कि 'मुझे प्रभुने अपने ही लिये उत्पन्न किया और मैं भी प्रभुके लिये ही पैदा हुआ हूँ; अतः मेरा सर्वस्व प्रभुको समर्पित होना ही चाहिये, मेरा जीवन प्रभुमय होना ही चाहिये, मेरी प्रत्येक हलचलका सम्बन्ध साक्षात् या परम्परया प्रभुके साथ ही होना चाहिये। मैं अपने निश्चयमें दृढ़ हूँ, अपनी धुनका पक्का हूँ, अपनी आदतसे लाचार हूँ। मुझे कोई भी आलसी नहीं बना सकता; स्वयं प्रभु छुड़ाना चाहें, तब भी मैं प्रभुके लिये कर्म करनेकी अपनी आदतको छोड़ नहीं सकता।' ऐसा निश्चय होनेपर जीवकी यह बात भी प्रभुको लगे बिना रह नहीं सकती। प्रभु भी सोचने लग जायँगे कि 'कहीं मैं भी कृपामृतवर्षणकी अपनी सनातनी बानको भूल गया तो ?' और वे तुरंत पिघल पड़ेंगे। प्रभुको तो कृपामृतवर्षणकी आदत ही नहीं, किंतु चस्का पड़ गया है। वे दयामय देव अपने स्वभावसे बाज नहीं रह सकते; सुतरां शीघ्र ही बरस पड़ेंगे और बात-की-बातमें उसकी शुष्क हृदय-भूमिको अनुग्रहामृतसे सुजला, अपनी प्राप्तिरूप फलसे सुफला एवं दिव्य प्रेमरूप शस्यके प्रदानसे श्यामला बना देंगे।

तात्पर्य यह कि हम जो कुछ करें, सच्ची लगनसे, ईमानदारीके साथ, श्रद्धापूर्वक, प्रभुको समर्पण करनेकी विशुद्ध भावनासे ही करें, तो हमारी सभी चेष्टाएँ भगवद्भक्ति बन जायँगी और भक्तिका अर्थ भी तो यही है कि मैं जो कुछ करूँ, सो आपकी सेवा हो। दयालु प्रभु हमें शक्ति दें कि हम इन विचारोंका आचरणोंके साथ समन्वय रख सकें। ॐ शम्।

भक्तिकी सुलभता

(लेखक—स्वामीजी श्री १०८ श्रीरामसुखदासजी महाराज)

विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आजके मनुष्यका जीवन स्वकीय शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिके परित्यागके कारण विलासयुक्त होनेसे अत्यधिक खर्चीला हो गया है। जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुओंका मूल्य भी अधिक बढ़ गया है। व्यापार तथा नौकरी आदिके द्वारा उपार्जन भी बहुत कम होता है। इन कारणोंसे मनुष्योंको परमार्थ-साधनके लिये समयका मिलना बहुत ही कठिन हो रहा है और साथ-ही-साथ केवल भौतिक उद्देश्य हो जानेके कारण जीवन भी अनेक चिन्ताओंसे घिरकर दुःखमय हो गया है। ऐसी अवस्थामें कृपालु ऋषि, मुनि एवं संत-महात्माओंद्वारा त्रिताप-संतप्त प्राणियोंको शीतलता तथा शान्तिकी प्राप्ति करानेके लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग आदि अनेक साधन कहे गये हैं; और वे सभी साधन वास्तवमें यथाधिकार मनुष्योंको परमात्माकी प्राप्ति कराकर परम शान्ति प्रदान करनेवाले हैं। परंतु इस समय कलि-मल-ग्रसित विषय-वारि-मनोमीन प्राणियोंके लिये—जो अल्प आयु, अल्प शक्ति तथा अल्प बुद्धिवाले हैं—परम शान्ति तथा परमानन्दप्राप्तिका अत्यन्त सुलभ तथा महत्त्वपूर्ण साधन एकमात्र भक्ति ही है। उस भक्तिका स्वरूप प्रीतिपूर्वक भगवत्स्मरण ही है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भक्तिके लक्षण बताते हुए भगवान् श्रीकपिलदेवजी अपनी मातासे कहते हैं—

> मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
> मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
> लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
> स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
> येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥
>
> (३ । २९ । ११—१४)

अर्थात् जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवण-मात्रसे मनकी गतिका तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम

और अनन्य प्रेम—यह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है। ऐसे निष्काम भक्त दिये जानेपर भी मेरे भजनको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्षतक नहीं लेते। भगवत्सेवाके लिये मुक्तिका भी तिरस्कार करनेवाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको—मेरे प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकारसे श्रीमधुसूदनाचार्यने भी भक्तिरसायनमें लिखा है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

अर्थात् भागवत-धर्मोंका सेवन करनेसे द्रवित हुए चित्तकी भगवान् सर्वेश्वरके प्रति जो अविच्छिन्न (तैलधारावत्) वृत्ति है, उसीको भक्ति कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणोंसे सिद्ध होता है कि अनन्य भावयुक्त भगवत्स्मृति ही भगवद्भक्ति है।

भगवद्वचनामृतस्वरूप परम गोपनीय एवं रहस्यपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनद्वारा किये हुए सात प्रश्नोंमेंसे अन्तिम प्रश्न यह है कि 'हे भगवन्! आप अन्त समय जाननेमें कैसे आते हैं! अर्थात् मृत्युकालमें आप प्राणियोंद्वारा कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं?' इसका उत्तर देते हुए उसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा गया है कि 'अन्तकालमें भी जो केवल मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होता है। अतः हे अर्जुन! तू सभी समयोंमें मेरा ही स्मरण कर तथा युद्ध (कर्तव्य कर्म) भी कर। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धिको लगाये हुए तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।' (गीता ८।७) ऐसे ही सगुण निराकार परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें भगवान् कहते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(गीता ८।८)

अर्थात् हे पृथानन्दन! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, अन्य और न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ प्राणी परमप्रकाश-स्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है। फिर आगेके श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
(गीता ८।९)

अर्थात् जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियामक, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश, नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप एवं अविद्यासे अति परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माको स्मरण करता है, वह परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।

इसी प्रकार इसी अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें उस परब्रह्मकी प्रशंसा तथा बतलानेकी प्रतिज्ञा करके बारहवें श्लोकमें उस परमात्माकी प्राप्तिकी विधि बतलाते हुए आगेके श्लोकमें कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥
(गीता ८।१३)

अर्थात् जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और (उसके अर्थस्वरूप) मेरा चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।

इसी प्रकार भगवान्‌ने सगुणस्वरूप तथा निर्गुण-स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके उपाय बतलाये। परंतु यहाँ योगके अभ्यासकी अपेक्षा होनेके कारण साधनमें कठिनता है, अतः अब आगे अपनी प्राप्तिकी सुलभता बताते हुए भगवान् अपने प्रिय सखा कुन्तीनन्दन अर्जुनके प्रति कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८।१४)

'हे पृथापुत्र अर्जुन! जो भी प्राणी नित्य-निरन्तर अनन्य चित्तसे मुझ परमेश्वरका स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं (प्राप्त होनेमें) सुलभ हूँ।'

अब आप देखेंगे कि गीताभरमें 'सुलभ' पद केवल इसी स्थानपर इसी श्लोकमें आया है। इस सौलभ्यका एकमात्र कारण अनन्य भावसे नित्य निरन्तर भगवान्‌का स्मरण ही है। आप कह सकते हैं कि जो प्रभु अपने स्मरणमात्रसे इतने सुलभ हैं, उनका स्मरण बिना उनके स्वरूप-ज्ञानके क्योंकर किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि आजतक आपने भगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें जैसा कुछ शास्त्रोंमें

पढ़ा, सुना और समझा है, तदनुरूप ही उस भगवत्स्वरूपमें अटल श्रद्धा रखते हुए भगवान्‌के शरण होकर उनके महामहिमाशाली परमपावन नामके जपमें तथा उनके मङ्गलमय दिव्य स्वरूपके चिन्तनमें तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये और यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि उनके स्वरूपविषयक हमारी जानकारीमें जो कुछ भी त्रुटि है, उसे वे करुणामय परमहितैषी प्रभु अवश्य ही अपना सम्यग्ज्ञान देकर पूर्ण कर देंगे, जैसा कि भगवान्‌ने स्वयं गीताजीमें कहा है—

> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
> (१० । ११)

'हे पृथापुत्र ! उनके ऊपर अनुकम्पा करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ ।'

इस प्रकार प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेसे वे परमप्रभु हमारे योग-क्षेम अर्थात् अप्राप्तकी प्राप्ति तथा प्राप्तकी रक्षा स्वयं करते हैं ।

भजन उसीको कहते हैं, जिसमें भगवान्‌का सेवन हो । तथा सेवन भी वही श्रेष्ठ है, जो प्रेमपूर्वक मनसे किया जाय । मनसे प्रभुका सेवन तभी समुचितरूपसे प्रेमपूर्वक होना सम्भव है, जब हमारा उनके साथ घनिष्ठ अपनापन हो और प्रभुसे हमारा अपनापन तभी हो सकता है, जब संसारके अन्य पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध और अपनापन न हो ।

वास्तवमें विचार करके देखें तो यहाँ प्रभुके सिवा अन्य कोई अपना है भी नहीं; क्योंकि प्रभुके अतिरिक्त अन्य जितनी भी प्राकृत वस्तुएँ हमारे देखने, सुनने एवं समझनेमें आती हैं, वे सभी निरन्तर हमारा परित्याग करती जा रही हैं अर्थात् नष्ट होती जा रही हैं ।

इसीलिये संत कबीरजी महाराज कहते हैं—

> दिन दिन छाँड़्या जात है, तासों किसा सनेह ।
> कह कबीर डहक्या बहुत गुणमय गंदी देह ॥

अतः अन्य किसीको भी अपना न समझकर केवल प्रभुका प्रेमपूर्वक अनन्य भावसे स्मरण करना ही उनकी प्राप्तिका महत्त्वपूर्ण तथा सुलभ साधन है ।

इस अनन्य भावको प्राप्त करनेके लिये यह समझनेकी परम आवश्यकता है कि यह जीवात्मा परमात्मा और प्रकृतिके मध्यमें है और जबतक इसकी उन्मुखता प्रकृतिके कार्यस्वरूप बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, प्राण, शरीर तथा तत्सम्बन्धी धन — आदिकी ओर रहती है, तबतक यह प्राणी अन्यका आश्रय छोड़कर केवल परमात्माका आश्रय नहीं ले सकता । मेरा कोई नहीं है तथा मैं सेवा करनेके लिये सबका होते हुए भी वास्तवमें एक परमात्माके सिवा अन्य किसीका नहीं हूँ—इस प्रकारका दृढ़ निश्चय ही प्राणीको अनन्य चित्तवाला बनानेमें परम सहायक है । इस प्रकार अनन्य चित्तसे भगवत्स्मरण-भजन आदि करनेकी 'चेतसा नान्यगामिना' (८ । ८); 'अनन्येनैव योगेन' (१२।६), 'मां च योऽव्यभिचारेण' (१४।२६), 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (९ । २२); 'मच्चित्ताः' (१० । ९), 'मन्मना भव' (९ । ३४), (१८।६५); 'मच्चित्तः सततं भव'(१८।५७); 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि'(१८।५८), 'मय्येव मन आधत्स्व'(१२।८) तथा 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'(८।७)— आदि-आदि महत्त्वपूर्ण वाक्योंद्वारा परमात्माकी प्राप्तिरूप फल बतलाकर अत्यधिक महिमा गायी गयी है । अस्तु, जिसकी धारणामें श्रीभगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें भी महत्त्वबुद्धि नहीं है, वही अनन्यचित्तवाला अर्थात् अनन्य भावसे स्मरण करनेवाला है । अब रहा 'सततम्' पद, सो निरन्तर चिन्तन तो प्रभुके साथ अखण्ड नित्य सम्बन्धका भान होनेसे ही हो सकता है ।

इसपर श्रीकबीरदासजीकी निम्नाङ्कित उक्तियाँ मननीय हैं । वे कहते हैं—

> जहँ जहँ चालूँ करूँ परिक्रमा, जो कुछ करूँ सो पूजा ।
> जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, तुम्हें देव न दूजा ॥

इस प्रकार उस नित्ययुक्त योगीके लिये भगवान् स्वतः ही सुलभ हैं । दुर्लभता तो हमने भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य सदा न रहनेवाली अस्थायी वस्तुओंसे सम्बन्ध जोड़कर पैदा कर ली है । इसके दूर होते ही भगवान्‌के साथ तो हमारा नित्य निरन्तर अखण्ड सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है ही, अतः हमें अपना सम्बन्ध अन्य किसीसे न जोड़कर नित्य निरन्तर एकमात्र अपने उन परमहितैषी प्रभुके साथ ही जोड़ना चाहिये, जो प्राणिमात्रके परम सुहृद् एवं अकारण कारुणिक हैं, तथा उन्हींसे ममता करनी चाहिये । फिर तो वे दयामय प्रभु हमें आप ही अपना लेंगे, जैसा कि उन्होंने अपने परम प्रिय सखा अर्जुनको अपनाते हुए कहा था—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
> (१८ । ६६)

'(हे अर्जुन !) सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको मुझमें त्यागकर तू एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा; मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

यह नियम है कि स्वरचित वस्तु चाहे कैसी ही क्यों न हो, हमको प्रिय लगती ही है। ऐसे ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रभुका रचा हुआ तथा अपना होनेके नाते स्वाभाविक ही उन्हें प्रिय है ही । यथा—

अखिल बिस्व यह मोर उपाया ।
सब पर मोरि बराबरि दाया ॥

फिर उसके लिये तो कहना ही क्या है, जो सब ओरसे मुख मोड़कर एकमात्र उन प्रभुका हो जाता है । वह तो उन्हें परम प्रिय है ही । यथा—

तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया ।
भजै मोहि मन बच अरु काया ॥
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥

इसी प्रकार मानसमें सुतीक्ष्णजी भी कहते हैं—

एक बानि करुनानिधान की । सो प्रिय जाकें गति न आन की ॥

अतः जिसको स्वयं भगवान् अपनी ओरसे प्रिय मानें, उसे भगवान् सुलभ हो जायँ—इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता; जैसा कि श्रीभगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे अर्जुनके प्रति कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६, ७)

'जो मेरे ही परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे पार्थ ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

निष्काम भक्तिकी सफलता

(लेखक—महालीन परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीस्वामीजी श्रीयोगेश्वरानन्दजी सरस्वती)

धर्मो मे चतुरङ्घ्रिकः सुचरितः पापं विनाशं गतं
कामक्रोधमदादयो विगलिताः कालाः सुखाविष्कृताः ।
ज्ञानानन्दमहौषधिः सुफलिता कैवल्यनाथे सदा
मान्ये मानसपुण्डरीकनगरे राजावतंसे स्थिते ॥

तात्पर्य—सम्पूर्ण शुभगुणसंयुक्त दैवी स्वभावको धारणकर स्नान-जप-पूजादि वैदिक शुभाचारसम्पन्न पवित्र हृदयवाला निष्काम भगवद्भक्त जब अपनी भक्तिकी पूर्ण परिपाकावस्थाको प्राप्त कर लेता है, तब स्वाभाविक—अनायास ही इसका हृदय अत्यन्त शुद्ध, परम शुभ सात्त्विक गुणसम्पन्न हो जाता है । पश्चात् परम दयासागर, इन्द्रादि समस्त देवताओंके संरक्षक, कैवल्य मोक्षके साक्षात् धाम स्वरूप, परम गुरु स्वयं साक्षात् महादेव शंकर भक्तवत्सलताके कारण जब इस पूर्ण परिपक्व और परम शुद्ध सच्चे भक्तके सर्वथा शुद्ध हृदयरूपी मध्य कर्णिका (केन्द्र, मुख्य मध्यस्थान)में प्रत्यक्ष आविर्भूत होकर उसमें डेरा जमा लेते हैं, उसी महाशुभ परम पवित्र कालसे उस भक्तकी समस्त धर्मोंमें निष्ठापूर्वक शुभ और श्रेय प्रवृत्ति नित्य उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है । इस प्रकार समस्त पवित्र शिष्टाचारोंकी सहसा पूर्ण वृद्धिके फलस्वरूप उसके सकल पापोंकी अत्यन्त निवृत्ति, काम-क्रोध-मद-मात्सर्यादि सकल दोषोंका सम्यक् समूल विनाश इत्यादिके निश्चय सिद्ध होनेसे तथा स्वयं ही नानाविध अलौकिक शुभ फलों, शुभ लक्षणों तथा शुभ दशाकी सहसा प्राप्तिसे, वह महासौभाग्यवान् भक्त अनायास ही अत्यन्त प्रसन्नता, शान्ति और निर्विघ्नतासहित पूर्ण दृढ़ और निश्चयात्मक शुद्ध आनन्दमयी कृतार्थ बुद्धिसे तथा अपने सहज आनन्द-स्वभावमें ही अचल स्थित होकर शेष कालको व्यतीत करता है । साथ-ही-साथ परमेश्वरका अत्यन्ताधिक अनुराग स्वयं अनायास ही उत्तरोत्तर सर्वदा वृद्धिको ही प्राप्त होता जाता है । तात्पर्य कहनेका यह है कि ऐसे शुद्ध सच्चे पूर्ण भक्तको बिना ही प्रयास कल्याणकारक नाना प्रकारके समस्त शुभ लक्षण तथा प्रभाव स्वयं सिद्ध हो जाते हैं । जैसे सूर्यके आविर्भूत होनेपर भुवन-कोशोंका महान्धकार स्वयं अनायास ही अत्यन्त निवृत्त हो जाता है और साथ-ही-साथ मनुष्योंको अपने सुकर्मोंमें प्रवृत्त होनेके लिये सुदिनकी अनुकूलतापूर्वक प्राप्ति होती है, इसी प्रकार जब पूर्ण

ज्ञानस्वरूप साक्षात् शंकर महादेव अत्यन्त कृपालु होकर भगवद्भक्तोंके सम्यक् पवित्र सुयोग्य हृदय-मन्दिरोंमें स्वयं आकर निवास करते हैं, तब एकाएक इन भक्तोंके हृदयान्तःकरणके समस्त अनाद्यविद्यान्धकार सर्वदाके लिये सम्यक् समूलनिवृत्त हो जाते हैं। पश्चात् ईश्वरीय सम्पूर्ण स्वाभाविक दिव्य गुणोंसे स्वयं सहजमें ही सम्यक् सुभूषित होकर ये भक्त जीते ही इस भूतलमें इन्द्रादि महान् देवताओंसे अनन्तगुणाधिक योग्यता और अलौकिक महामहिमाओंको बिना इच्छाके ही प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—भक्त अपनी शुद्ध और दृढभक्तिके प्रभावसे ईश्वरके प्रसन्नतापूर्वक कृपा-माहात्म्य पाकर, अपने सर्व [illegible] स्वभावसे सम्यक् निवृत्त होकर, ईश्वरीय महाशुभ गुणोंको प्राप्त करनेके लिये अपने इष्टदेव निज आत्मस्वरूप परम परमेश्वररूपी साक्षात् परमात्माको अपनी शुद्ध महाप्रेम, अनन्य भक्तिद्वारा अपने हृदय मन्दिरमें पूर्ण उल्लाससे आवाहन करके, अपनी संस्कार की हुई पवित्र बुद्धिरूपी [illegible] उन्हें सादर दृढ़ निश्चयपूर्वक स्थापितकर पुनः स्वतः—स्वाभाविक ही निरन्तर केवल उनके ही अनन्य चरणोंमें निमग्न रहता है।

भक्ति और ज्ञान

(लेखक—स्वामीजी श्रीकाशिकानन्दजी महाराज, न्याय-वेदान्ताचार्य)

शिक्ये पिधाय निहितं विमथाकलशं प्रणिध भवनीतम्।
हस्ते पवितं कुतुकात् परयन् स श्यामलो जयति॥

(भक्तिमकरन्द १।१)

इस विषयमें प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं कि भक्ति और ज्ञान भगवत्प्राप्तिके मुख्य दो साधन हैं। ये स्वतन्त्ररूपसे दो साधन हैं या परस्पर साकाङ्क्षरूपसे अथवा साध्य-साधनरूपसे ? इस विषयमें आचार्योंका मतभेद अवश्य है और उन-उन मतोंके अनुकूल शास्त्र-वाक्य भी अनेकानेक उपलब्ध होते हैं; किंतु इस बातमें वैमत्य किसीको नहीं है कि भक्ति और ज्ञान दोनोंमें किसीकी भी दूसरेके लिये अनुपयोगिता नहीं है। स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः इस प्रकार भक्तिको स्वयंफलस्वरूप स्वीकार करनेपर भी भगवान् नारद ऋषिने तत्रापि नमाहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः कहते हुए ज्ञानकी आवश्यकता अङ्गीकार की है। इसकी व्याख्या करते हुए एक भक्ति-ग्रन्थमें बताया गया है—

महान् स चात्मा च तदीयभावो
माहात्म्यमेतत् खलु पारमात्म्यम्।
तद्बोधपूर्वः परमात्मनिष्ठः
प्रेमा भवेद् भक्तिपदाभिधेयः॥

जिसकी आत्मा महान् है, इस प्रकार बहुव्रीहि-समास न करके महान् अर्थात् परम+आत्मा महात्मा—इस प्रकार चूनस 'माहात्म्य' शब्द कर्मधारयघटित माना गया है। अतएव देवर्षि नारदजीने भी ज्ञानकी अवहेलना नहीं की है, यही प्रतीत होता है। आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने यद्यपि—

'नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परममिह मुकुन्दे भक्तियोग वदन्ति।'

इस प्रकार मङ्गलाचरणमें भक्तिको स्वतन्त्र पुरुषार्थ स्वरूप बतलाकर उसकी व्याख्यामें ज्ञान और भक्तिका परस्पर भेद सिद्ध करते हुए साधन-साध्य फल आदि भिन्न बतलाया है; किंतु आगे चलकर साधनोंका वर्णन करते हुए उनमें [illegible] भी परिगणन किया है।

ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः॥

आचार्योंके मतभेदपर विचार करनेसे पूर्व [illegible] इन वेदान्तकी प्रक्रियाओंपर भी एक [illegible] हमें एक संतोषप्रद मार्ग निकालनेमें सहायता [illegible]। वेदान्त सिद्धान्तके अनुसार परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है और परमात्ममय होनेसे जगत् भी पारमार्थिक दृष्टिसे सच्चिदानन्द स्वरूप है। सत्-चित्-आनन्द—इन तीनोंका [illegible] 'भाति' और 'प्रिय' ने माना गया है। 'घटोऽस्ति, घटो भाति, घटो मे प्रियः' इस प्रकार उदाहरण भी दिये जाते हैं। ये तीन बहुत जगह आवृत रहते हैं। कहीं [illegible] रहता है। अन्धकारके कारण घड़ेके होते हुए भी [illegible] कह देते हैं और [illegible] है। कदाचित् 'घटोऽस्ति किंतु न भाति' [illegible] ढका रहता है। आचार्योंने [illegible]

माने हैं—असत्त्वापादक आवरण, अभानापादक आवरण और अनानन्दापादक* आवरण। असत्त्वापादक आवरण वस्तुकी सत्ताको आवृत करता है, अभानापादक आवरण वस्तुके चित्त्वको आवृत करता है और अनानन्दापादक आवरण आनन्दत्वको आवृत करता है।

वेदान्तके प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें बताया गया है कि इन तीन आवरणोंमें असत्त्वापादक आवरणको केवल परोक्षज्ञान नष्ट कर देता है। शास्त्र तथा आचार्यसे ईश्वरके अस्तित्वके बारेमें परोक्षज्ञान प्राप्त करनेपर 'ईश्वरो नास्ति' इस प्रकारकी भावना नष्ट होती है; किंतु अभानापादक आवरण परोक्षज्ञानसे नष्ट नहीं होता, उसे अपरोक्ष ज्ञान ही नष्ट कर सकता है। घटका जब अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब 'घटो नास्ति' 'घटो न भाति' ये दोनों प्रकारके आवरण नष्ट हो जाते हैं; परंतु इन प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें इस बातका स्पष्टीकरण नहीं है कि उस तृतीय अनानन्दापादक आवरणका विनाश किससे और किस प्रकार होता है। उसका कारण यह हो सकता है कि बहुत-से आचार्योंने इस आवरणको माना ही नहीं। परंतु यह बात विचारदृष्टिसे सर्वथा संगत नहीं प्रतीत होती। इसपर यहाँ चर्चा विशेष न करनेपर भी अपने प्रकृत विषयके विचारसे वह स्पष्ट हो जायगा।

कुछ आचार्य अपरोक्ष-ज्ञानसे ही अनानन्दापादक-आवरणका नाश मान लेते हैं, परंतु यह भी अनुभवविरुद्ध है। कारण, घटके अपरोक्ष ज्ञानमात्रसे हमें किसी विशिष्ट आनन्दकी प्रतीति नहीं होती। हम हजारों वस्तुओंको देखते रहते हैं; परंतु उससे उन वस्तुओंमें स्थित आनन्दांशकी भी स्फुरणा होती हो, ऐसी बात देखी नहीं जाती। अतः यह बात निर्विवादरूपसे माननी होगी कि अनानन्दापादक आवरणका भङ्ग किसी औरसे ही होता है। यहाँपर हमारा भक्तिशास्त्र उपस्थित होता है। प्रेम-वृत्तिसे अनानन्दापादक आवरणका भङ्ग होता है। यही भक्ति-सिद्धान्त है। दूसरा कोई उसका उपाय नहीं हो सकता। भक्ति-मकरन्द†में बताया गया है—

> यामाभासापादिकां तामपहरति परामावृतिं ज्ञानवृत्ति-
> र्यां चानानन्दमापादयति हरति तामावृतिं प्रेमवृत्तिः॥
>
> (म० २। ९)

दूसरा आवरण जो अभानापादक है, उसे ज्ञानवृत्ति नष्ट करती है और अनानन्दापादक आवरण जो तीसरा है, उसे प्रेमवृत्ति नष्ट करती है।

यह तो सर्वजनानुभवसिद्ध है कि जिसके ऊपर हमारा प्रेम होता है, उसे देखते ही हमें आनन्दकी अनुभूति होने लगती है और यदि प्रेम न हो तो पुत्र-पत्नी आदिको देखनेपर भी आनन्दानुभूति नहीं होती। यही बात ईश्वरके सम्बन्धमें भी है; भगवत्साक्षात्कार होनेपर भी भगवान्‌में भक्ति—प्रेम न हो तो भगवत्स्थित आनन्दांशकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। भक्ति-मकरन्दमें लिखा है—

> ज्ञानेनाभानहेतावपि समधिगतेऽप्यपत्यादिभूमौ
> नैवानन्दस्य मन्दस्फुरणमपि भवेत् प्रेम नो चेत्तदेऽस्मिन्।
>
> (बिन्दु ३, श्लोक ३)

'ज्ञानसे—साक्षात्कारसे अभानहेतु आवरणका विलय होनेपर भी यदि प्रेम न हो तो पुत्र-पति आदि ही क्यों न हों; उनमें भी आनन्दका मन्द स्फुरण भी नहीं हो सकता।' इसी कारण ज्ञानी भी भगवान्‌में भक्ति—प्रेम रखते हैं।

गीतामें भगवान् कहते हैं—ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ज्ञानी मेरी भक्ति करता है। यहाँ 'प्रपद्यते' इसका अर्थ शरणागति-लक्षणा भक्ति है। यह सद्भुतः प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत्—इस शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रमें तथा उसकी व्याख्याओंमें स्पष्ट है।

> चतुर्विधा भजन्ते मां.............ज्ञानी च'
>
> (गीता ७। १६)

इस गीता-वाक्यसे तो स्पष्ट ही पूर्वोक्त बात सिद्ध होती है। और भागवतमें भी—

> आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
> कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं.....................॥
>
> (१। ७। १०)

—इस श्लोकमें जीवन्मुक्त पुरुष भी भगवान्‌में अहैतुकी भक्ति करते हैं—कहते हुए उक्त बातका समर्थन किया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भक्तिके बिना ज्ञान अकिंचित्कर है, भक्ति भगवत्प्राप्तिमें—अनावृत भगवत्स्वरूपाभिव्यक्तिमें परम साधन है।

---

* अनानन्दापादक आवरण प्राचीन आचार्य मानते रहे। देखिये अद्वैतसिद्धिकी टीका गौडब्रह्मानन्दी (निर्णयसागर-मुद्रित पुस्तक पृ० ३१०, अन्तिम पंक्ति)।

† यह लेखकका ही एक अमुद्रित भक्तिग्रन्थ है, जिसमें भक्तिका स्वरूप शास्त्र-समन्वयके साथ नवीन रीतिसे समझाया गया है और भक्तिविषयक अनेक ललित पद्य भी हैं।

परंतु कुछ आचार्य भक्तिकी प्रशंसा करते हुए ज्ञानकी अत्यन्त अवहेलना करते हैं; उनका ऐसा करना केवल अर्थवादात्मक ही समझना चाहिये। कारण, वेद बतलाता है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'। और यह बात भी लोकसिद्ध है कि हमारा प्रेम पुत्र-पति आदिमें अत्यधिक हो, किंतु उनका साक्षात्कार नहीं हो रहा हो तो पूर्णतया आनन्दाभिव्यक्ति नहीं होती। पुत्रादिके दूरस्थित होनेपर अतीव व्याकुलता ही होती है। भक्तिमकरन्दमें बताया है—

प्रेम्णानानन्दहेतौ विलयमुपगतेऽपि स्फुटं नैव शर्म
प्रेयांसो यद्यपीमेऽनयनविषयतां यान्ति पुत्रादयश्चेत्।
(वि० २ श्लो० ३)

अर्थात् प्रेम-वृत्तिसे अनानन्दापादक आवरण नष्ट होनेपर भी आनन्दका स्फुटरूपसे स्फुरण नहीं होता, यदि प्रियतर भी पुत्रादि प्रत्यक्ष न हों। इसलिये भक्तिके समान ही साक्षात्कारात्मक ज्ञानकी भी उपयोगिता है। इसीलिये—

ज्ञानाख्याना मद्देशं प्रथयति हरतेऽज्ञानबीजावृतिं किं-
त्वानन्दाकारवर्जं न हरति तदनानन्दबीजावृतिं सा।
प्रेमाख्याना तु वृत्तिः प्रथयति नितरां न स्वयं किंतु सैषा-
ऽनानन्दापादकाख्याऽऽवरणहरणतोऽज्ञानवृत्तिं भुनक्ति॥
(वि० २ श्लो० ४)

इस प्रकार दोनोंको सम कक्षामें रखते हुए भक्ति-मकरन्दमें दोनोंकी उपयोगिता स्पष्ट की गयी है।

इस प्रकार भक्ति तथा ज्ञानकी समप्रधानता सिद्ध होनेपर शास्त्रीय वचनोंपर अर्थसंदेह उपस्थित हो सकता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—'भक्त्या मामभिजानाति' अर्थात् भक्तिसे मेरा साक्षात्कार होता है। 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तम्…।' अर्थात् निरन्तर प्रेमपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं उस बुद्धियोगको देता हूँ……। इससे भक्ति साधन और ज्ञान साध्य प्रतीत होता है। और 'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते', 'चतुर्विधा भजन्ते मां……ज्ञानी च' इत्यादि गीतावाक्योंसे प्रतीत होता है कि ज्ञानसे भक्ति होती है—ज्ञान साधन है, भक्ति साध्य है। इस प्रकारके अनेकानेक शास्त्रवचन उपलब्ध होते हैं, जो भक्तिको ज्ञानका साधन और ज्ञानको भक्तिका साधन बताते हैं। भगवान् नारदऋषि इनका अनुवाद करते हुए कहते हैं—'तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके, अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये'। इस संदेहका निवारण करते हुए भक्ताचार्य कहते हैं कि अपरा भक्ति ज्ञानका साधन है, परा भक्ति फलरूपा है, और [illegible]-पक्षपाती कहते हैं कि अपरज्ञान अर्थात् शास्त्रादि [illegible] उत्पन्न परोक्षज्ञान भक्तिमें हेतु है; अपरोक्षज्ञान तो फलरूप है।

हम इस [illegible] एक बार दृष्टिपात करें तो भक्ति और ज्ञानमें एकको हीन सिद्धकर दूसरेको उत्तम कहनेकी आवश्यकता न रहेगी। शास्त्रविद् [illegible] है कि अपनी आत्मामें प्रेम सबके लिये स्वतःसिद्ध है। परंतु आत्मा और परमात्मामें भेदज्ञान होनेके कारण वह प्रेम [illegible] विषयक होकर परमात्मामें नहीं हो पाता। [illegible] 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक साक्षात्कार होता है [illegible] च्छिन्न-विषयक प्रेम अपरिच्छिन्न होकर [illegible] विषयक हो जाता है। अतएव ज्ञानी [illegible] एवं परमात्मामें प्रेम हो जाता है। भक्तिमकरन्दमें [illegible]—

अनुपाधि सदैव देहिनां परमप्रेम निजात्मनि [illegible]।
अनुभूय निजेन किंतु [illegible]।
विघटय्य परिच्छिदाभ्रम [illegible]।
इति बोधुरदः स्फुटं [illegible]॥
तदिदं विदुषां खलु परे भवति प्रेम [illegible]।
विदुषः परमप्रियोऽस्म्यहं भजते मामिति [illegible]॥
मयि भक्तिमियस्य हेतुतामपि निर्दिशन् [illegible]।
इति भागवतेऽपि च स्वसौभगमुक्तं [illegible]॥
(वि० २ श्लो० १५—१८)

इससे हमें यह स्पष्ट हो गया कि वेदान्तके [illegible] निदिध्यासनके लिये [illegible] साक्षात्कार होता है, [illegible] है, अर्थात् [illegible] होती है। [illegible] श्रवणकीर्तनस्मरणादि [illegible]

१. यद्यपि शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रमें 'अभिजानाति' का अर्थ अनुरागसहित अनुभव किया गया है, फिर भी यह अनुभवाधीन होनेसे और 'तेषां सततयुक्तानां' इस वाक्यसे भक्तिमें साधनता सिद्ध होती है।

२. 'असति बाधके उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरण्येन विधेयान्वयो भासते'—इस प्रकार अनुमान-गादाधरीमें सव्यभिचार-प्रकरण-में कहा गया है। [illegible] होती है, [illegible] प्रतीत होती है।

है, उन्हें ज्ञान भी स्वतः प्राप्त हो जाता है। उसमें युक्ति बतलाते हुए भक्ति-मकरन्दमें आता है—

द्रुतचेतसि भक्तितो हरेर्नुनीवाङ्कति पादपङ्कजम्।
सकलेषु विलोकते पुनर्भगवद्भावमसौ रसात्मकम्॥

भगवच्चरणाङ्कलक्षणां सचिवीकृत्य मनश्च वासनाम्।
प्रभवत्यवलोकितुं प्रभुं सकलात्मानमपीह नान्यथा॥
(बिन्दु० २ श्लो० ७, १०)

अर्थात् भक्तिसे जो चित्त पिघल जाता है, उस पिघले हुए चित्तमें भगवान्का चरण-कमल अर्थात् स्वरूप अङ्कित हो जाता है, जैसे पिघली हुई लाखमें वस्तुकी छाप पड़ती है। उसके बाद वह सभी वस्तुओंको भगवत्स्वरूप देखने लगता है। भगवत्स्वरूपकी छापरूपी वासनाको सहकारी बनाकर मन सम्पूर्ण जगत्को भगवत्स्वरूप देख पाता है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि जैसे पीला चश्मा लगानेपर सारा जगत् पीला दीख पड़ता है, वैसे ही हृदयमें भगवान्की छाप पड़ जानेसे सारे जगत्को भक्त भगवन्मय देखने लगता है। अन्तर इतना ही है कि पीले चश्मेसे भ्रमात्मक पीतज्ञान होता है, किंतु भगवन्मयरूपसे जगत्को देखना भ्रम नहीं है। कारण, सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है। श्रुति कहती है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। इसी आशयसे भक्तिमकरन्दमें कहा गया—

द्रुतचेतसि कामवेगतो विहितेऽकिंचनकामिनीपदे।
अवलोकयते पुमानसौ जगतीमेव हि कामिनीमयीम्॥
असतो ललनादिवर्ष्मणोऽत्रगतस्य च्यवनापवाधनम्
न सतः परमात्मनो जगत्परिपूर्णस्य कदापि बाधनम्॥'
(बिन्दु० २ श्लो० ८-९)

चित्तके पिघलनेके बारेमें आचार्य मधुसूदन सरस्वती भक्तिरसायनमें कहते हैं—

चित्तद्रव्यं तु जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम्।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते॥
(१। ४)

'चित्तरूपी द्रव्य जतु अर्थात् लाखके समान कठिन-स्वरूप है, वह तापक विषयोंके संयोगसे द्रवीभावको प्राप्त होता है।' इस पूर्वोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि पूर्णभक्ति होनेपर समस्त जगत्को भक्त परमात्मस्वरूप देखने लगता है। यही तो वेदान्तप्रतिपादित ज्ञान है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सकलमिदमहं च वासुदेवः' इस प्रकारका साक्षात्कार ही तत्त्वसाक्षात्कार कहलाता है।

इति भक्तिमतां महात्मनां भवति ज्ञानमनन्यसाधनम्।
हरिभक्तिरनन्यसाधना भवति ज्ञानवतां तथा सताम्॥
(भक्ति-मकरन्द बि० २ श्लो० १९)

कतिपय आचार्योंने भक्तिको स्वयं पुरुषार्थ बताया है। भगवान् नारदऋषि भी कहते हैं—स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः। और ज्ञानपक्षपातियोंने ज्ञानको ही परम पुरुषार्थ बताया है। हमें तो दोनोंसे अविरोध है। वास्तवमें तो परमात्माका चिदंश ही ज्ञान है और आनन्दांश ही प्रेम है। भक्तिमकरन्दमें कहा गया है—

ज्ञानं चैतन्यमात्रं व्यवहरति जनो ज्ञानवृत्तौ तु भक्त्या
प्रेमाप्यानन्दमात्रं व्यवहरति तथा प्रेमवृत्तौ च भक्त्या॥

अर्थात् ज्ञान केवल चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानवृत्ति—चित्तवृत्तिविशेषमें लक्षणासे ज्ञान-शब्द-व्यवहार है। इसी प्रकार प्रेम भी केवल आनन्दस्वरूप है, प्रेमवृत्ति—चित्तवृत्तिविशेषमें भक्तिसे अर्थात् लक्षणासे प्रेम-शब्द-व्यवहार है। भक्तोंने भी भगवान्को प्रेमस्वरूप कहकर स्तुति की है। उसका भी तात्पर्य यही है। इसी बातको लेकर भक्तोंने भक्तिको, ज्ञानियोंने ज्ञानको परम पुरुषार्थ बताया है। चैतन्य और आनन्द वास्तवमें दो वस्तु नहीं, किंतु परमात्मस्वरूप ही हैं; अतएव भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा—इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है। पूर्ववाक्यमें अभेद कहकर—उभय हरहिं भव संभव खेदा—यहाँपर भेदबोधक 'उभय' शब्दका प्रयोग गोस्वामीजीने किया है। अतएव वहाँपर ज्ञानवृत्ति-प्रेमवृत्ति 'उभय' शब्दका अर्थ समझना चाहिये। वृत्तियोंमें भेद तथा उनका कार्यभेद पूर्व ही बता आये हैं। ग्यान पंथ कृपान कै धारा—गोस्वामीजी इस वाक्यसे ज्ञानको अति कठिन बताकर त्याज्य नहीं बताते; कारण, ज्ञान बिना भक्ति पुरुषार्थ नहीं हो सकती। यह बात शास्त्रयुक्तिसिद्ध है, पूर्वमें हम बता भी चुके हैं। किंतु 'पंथ' शब्द जोड़कर ज्ञान-साधन—विवेक-वैराग्यादि एवं निदिध्यासनादिको कठिन बता रहे हैं। जैसे कैलासका रास्ता कठिन है, इसका अर्थ 'कैलास कठिन है' नहीं होता; किंतु कैलास पहुँचनेका मार्ग कठिन है, यही अर्थ होता है। गोस्वामीजीका तात्पर्य यही है कि भक्तिमार्गसे, जो अति सरल है, चलते हुए पराभक्ति तथा तद्द्वारा परज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिये सुगम है; ज्ञान-

मार्गसे चलते हुए ज्ञानके द्वारा पराभक्ति प्राप्त करना अति दुर्गम है।

निष्कर्ष यह है कि भक्ति तथा ज्ञान दोनों ही पक्षीके दो पंखोंके समान भगवत्प्राप्तिरूपी परम पुरुषार्थमें साक्षात् अनन्यथासिद्ध साधन हैं। दूसरे शब्दोंमें दोनों ही समप्रधान भावसे परम पुरुषार्थ हैं। अतः भक्ति और ज्ञान दोनोंमें [illegible] भी अवहेलनीय नहीं है। साधक पुरुष स्वाभिरुचि [illegible] भी मार्गका अवलम्बन कर सकता है। इस प्रकार [illegible] सामञ्जस्य होनेपर किसी भी शास्त्रवाक्यका वैरस्य [illegible] अर्थ स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती है।

ज्ञान-कर्म-सहित भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ, सर्वदर्शनाचार्य)

भारतीय सनातन जीवन-दर्शनके दो विचार ही भारतके विचारकोंको प्रभावित करते चले आये हैं—प्रवृत्ति-मूलक कर्ममार्ग तथा निवृत्ति-मूलक ज्ञानमार्ग। प्रथम मार्गके अनुसार ब्रह्मचर्य-आश्रमके अनन्तर गृहस्थ-आश्रममें प्रविष्ट होकर वेद-विहित यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है। द्वितीय मार्गके अनुसार परम सत्यके अन्वेषणकी वृत्तिसे सम्पूर्ण ऐहिक कर्मका त्याग करके साधना और तपस्या करना ही श्रेयस्कर माना गया है; क्योंकि इस मार्गवाले कर्मको ज्ञानकी प्राप्तिके मार्गमें प्रतिबन्धक मानते हैं। कर्मवादियोंके अनुसार वेद-विहित कर्मोंके अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे ही परमगति प्राप्त हो जाती है। परंतु ज्ञानवादियोंके अनुसार कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसलिये कर्मके द्वारा किसी प्रकार भी मोक्ष नहीं मिल सकता। उनके मतसे कर्म चाहे जैसा भी हो, बन्धनका कारण ही है। प्रथम मतके समर्थक हैं कर्मकाण्डी मीमांसक तथा दूसरे मतके समर्थक हैं वेदान्ती।

जैसे-जैसे आर्य-संस्कृतिका ह्रास होने लगा, वैसे-वैसे कर्मकाण्डका भी लोप होने लगा। साधारण मनुष्योंके लिये यज्ञ आदिका अनुष्ठान तो दुष्कर हो ही गया, ज्ञानमार्ग भी अति गूढ़ होनेके कारण क्लेशकर प्रतीत होने लगा। इस प्रकार जब दोनों मार्ग अत्यन्त गहन और अगम्य प्रतीत होने लगे, तब एक ऐसे मार्गकी आवश्यकता आ पड़ी, जिसमें इन दोनों मार्गोंका सामञ्जस्य हो जाय और जो इन दोनोंसे सरल हो। इस समस्याका समाधान किया भक्तों तथा संतोंने, जिनके अनुसार 'ईश्वरकी भक्ति'से ही मनुष्योंको सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

'भक्ति' शब्दकी निष्पत्ति 'भज्' धातुसे हुई है, जिसका अर्थ तो है 'सेवा करना' परंतु तात्पर्य है—भजन, अर्पण, पूजा या प्रीति करना। शाण्डिल्यके अनुसार ईश्वरमें परा (उत्कट) अनुरक्ति ही भक्ति है। भक्तिकी इस परिभाषामें 'परा' शब्द अत्यन्त महत्त्वका है; इससे 'निर्हेतुक', 'निष्काम' तथा '[illegible]' प्रेमका भाव टपकता है। भागवतमें भी कहा गया है—

> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।

ईश्वरसे कुछ पानेकी इच्छासे की गयी भक्ति [illegible] जाती है। यह सकाम भक्ति अत्यन्त निम्न [illegible] मानी गयी है। भक्तिका सच्चा स्वरूप तो [illegible] कि उसमें कुछ लेनेका भाव ही नहीं होना चाहिये, [illegible] अपने प्राणतक अर्पण करनेका भाव होना चाहिये। [illegible] भक्तोंको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—आर्त, [illegible], अर्थार्थी और ज्ञानी।

> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च [illegible]

इनमें प्रथम तीन प्रकारके भक्त तो सकाम [illegible] निकृष्ट हैं, किंतु चौथे प्रकारका बिना किसी [illegible] भगवान्‌से स्वाभाविक निरन्तर प्रीति करनेवाला [illegible] होता है।

किंतु भक्ति-मार्गमें ज्ञान तथा कर्मका [illegible] नहीं, इस सम्बन्धमें आचार्य एकमत नहीं हैं। कुछ [illegible] का मत है कि भक्तिके लिये ज्ञान और कर्म दोनों ही [illegible] है। परंतु कुछ कहते हैं कि [illegible] सकता, वह तो मोक्षका [illegible] तथा [illegible] विचार करनेपर प्रतीत होता है कि भक्तिमें [illegible] दोनोंकी आवश्यकता पड़ती है। [illegible] अभिन्नता है, आलोचना [illegible] समन्वय और अभेदका [illegible] करनेवाला ग्रन्थ है गीता, जिसमें भगवान्‌ने [illegible] भक्तोंसे ज्ञानीको ही सर्वश्रेष्ठ भक्त [illegible]

निष्काम होता है। यहाँतक नहीं, उन्होंने ज्ञानीको अपना आत्मा ही मान लिया है—ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

भक्तिमें ज्ञान तथा कर्म दोनोंकी आवश्यकता इसलिये होती है कि कर्म तथा ज्ञानके बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये कर्म आवश्यक ही है और इस विनश्वर शरीर और अविनश्वर आत्माके भेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ज्ञान भी अपरिहार्य है।

शास्त्रोंमें दो प्रकारकी भक्तिका वर्णन मिलता है—'परा' तथा 'अपरा'। अपरा भक्तिमें कर्मकी आवश्यकता रहती है। यह भक्ति सर्वसाधारणके लिये है, अतएव सरल भी है। अपरा भक्तिमें भक्त सदा भगवान्‌के गुणोंका श्रवण, उनका कीर्तन, स्मरण, चरणोंकी सेवा, उनकी अर्चना तथा वन्दना करता है, अपनेको भगवान्‌का दास समझता है, उनसे प्रीति स्थापित करता है और अन्तमें अपने आपको उनके चरणोंमें अर्पण कर देता है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भागवत ७।५।२३)

यह है कर्मप्रधान अपरा भक्ति। इस प्रकारकी भक्ति-द्वारा भक्तका अन्तःकरण शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है।

पराभक्ति इसकी अपेक्षा सूक्ष्म तथा गहन है। यह भक्ति बुद्धिजन्य होती है तथा इसमें जो प्रीति होती है, वह स्वाभाविक होती है। यह केवल ज्ञानवान्‌को ही आनन्दित कर सकती है। इसका अधिकारी सर्वसाधारण न होकर केवल ज्ञानी ही होता है, जिसका उल्लेख गीतामें कई स्थानोंपर किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि अपरा तथा परा भक्ति क्रमशः कर्मप्रधान तथा ज्ञानप्रधान हैं और इनमें किसी प्रकारका कोई विरोध नहीं है; ये दोनों एक दूसरेके पूरक हैं।

ज्ञान-कर्मयुक्त भक्ति

(लेखक—श्रीस्वामी भागवताचार्यजी)

आत्माका अपृथक्-सिद्ध प्रधान गुण ज्ञान है। जबतक सात्त्विक ज्ञानका उदय नहीं होता, तबतक अनेक मलिन कर्मोंसे दबा हुआ आत्मा मुक्त नहीं होता। इसीलिये श्रुतियों-में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि बिना ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। शास्त्रोंमें मुक्तिके द्वार कर्म, भक्ति, ज्ञान और प्रपत्ति बतलाये गये हैं। इन सभी उपायों-से अन्ततोगत्वा ज्ञानका उदय होता ही है; इसलिये ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः यह श्रुति सर्वत्र चरितार्थ होती है। यहाँपर यह विचारणीय है कि कर्म और ज्ञानका कितना सम्बन्ध भक्ति-पदार्थसे है। कर्म तथा ज्ञानका मध्यवर्ती पदार्थ भक्ति है। कर्मका प्रधान सम्बन्ध शरीरसे है, सम्पूर्ण कर्म शरीरसे ही किये जाते हैं। कर्म शरीरजन्य होनेके कारण स्थूल या सूक्ष्म शरीरतक ही सीमित रहते हैं। इसलिये कर्मजन्य पुण्य-की भी सीमा बतलायी गयी है। विनाशी होनेके कारण शाश्वतिक मुक्ति-पदार्थका उपादान कर्म नहीं बन सकता। ज्ञानका प्रधान सम्बन्ध आत्मासे है। शुद्ध सात्त्विक ज्ञानके उदय होनेपर आत्मा शाश्वतिक सुख प्राप्त कर सकता है।

सात्त्विक ज्ञानके उदय होनेमें विहित-कर्मानुष्ठान कारण बनता है। सत्कर्मोंके पवित्र अनुष्ठानसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें पवित्रता आती है, जिससे सात्त्विक ज्ञानका उदय होने लगता है। भक्तिमार्गमें सत्कर्म और ज्ञान दोनोंका दृढ़ सम्बन्ध है। जब परमाराध्य भगवान्‌की सेवामें प्राणियोंकी प्रवृत्ति कर्मके द्वारा होती है और आचार्योपदिष्ट अनन्य-शेषत्व, अनन्य-भोग्यत्व आदि पारमार्थिक स्वरूप-ज्ञान होता है, तब उसी अवस्थामें भगवत्कृपासे अपनाये हुए प्राणियों-को सार्वदिक सुख प्राप्त होता है।

अतः शरीरकृत कर्म तथा आत्मसम्बन्धित ज्ञान दोनोंका समन्वय भक्ति-पदार्थसे है। 'भक्ति' शब्दका अर्थ भी व्याकरण-प्रदर्शित प्रकृति-प्रत्ययके अनुसार यही होता है। 'भज्' धातुसे भावमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे 'भाग' शब्द बनता है। उसी धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'भक्ति' शब्द बनता है। 'भाग' शब्दका अर्थ होता है हिस्सा। यही अर्थ 'भक्ति' शब्दका भी होना चाहिये। प्रकृतमें कर्म और ज्ञानके हिस्सेका नाम 'भक्ति' है।

शरीरकृत सत्कर्मोंसे परमाराध्य भगवच्चरणोंकी आराधना तथा आत्मसम्बन्धी विशिष्ट ज्ञानके द्वारा अनन्य-शेषत्वादि स्वरूप-परिचय एवं शेषित्वादि आवश्यक भगवद्-विषयक ज्ञानका उदय होता है। इस अवस्थाको प्राप्त हुए प्राणियोंको श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान्‌की निर्हेतुक कृपासे नित्य-कैंकर्य मिलता है। निष्कर्षतः भक्तिमार्गको ज्ञान और कर्म दोनोंके अंशोंसे संवलित कहा जाता है।

हरिः शरणम्

अहल्या-उद्धार

रामपद-पदुम-परग परी ।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी ॥

([illegible])

भक्त-वत्सल श्रीराम

राघौ गीध गोद करि लीन्हौं।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघजल दीन्हौं॥
(गीतावली ३।१३)

भक्ति और भक्तिके नौ भेद

(लेखक—श्रीहरिकृष्णमुनिजी उदासीन)

भगवान्में अनन्य प्रेमका नाम ही भक्ति है। प्रेमकी पराकाष्ठा ही भक्ति है और प्रेम ही भक्तिका पूर्णरूप है। जब आराधक और आराध्य एक हो जायँ और भक्तकी सारी द्वैतभावना लुप्त हो जाय, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते—सारी क्रियाएँ करते हुए सभी अवस्थाओंमें भक्त जब भगवान्के अतिरिक्त और कुछ न देखे, तब वही तन्मयता परा भक्ति बन जाती है—सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्यसूत्र)।

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥

इसी सिद्धान्तको भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। (१० । १३)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। (१४ । २६)

भगवान्की भक्तिके लिये ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियाका कोई भेद नहीं है (नारदसूत्र ७२)। सभी देश, युग, जाति और अवस्थाके मनुष्योंको भगवान्की भक्तिका अधिकार है; क्योंकि भगवान् सबके हैं। (पद्मपुराण अ० ४२, श्लोक १०)

कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

स्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥

श्रीमन्मथहृदयमें भी कहा गया है—

ब्राह्मण, बैस्य सूद्र अरु खत्री, डोम, चँडाल, म्लेच्छ मनसोय।
होय पुनीत भगवंत भजन ते, आप तार तारै कुल दोय॥
धन्य सो गाँव, धन्य सो ठाँव, धन्य पुनीत कुटुँब सब लोय।
पंडित सूर छत्रपति राजा भक्त बराबर अवर न कोय॥

रामायण और गीतामें भक्तिके चार भेद कहे गये हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(७ । १६-१७)

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
चहू चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा॥

श्रीमद्भागवतके सातवें स्कन्धमें प्रह्लादने भक्तिके नौ अङ्ग बताते हुए कहा है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७ । ५ । २३)

१—जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहि भवन समाना॥

कथा सुननेमें राजा परीक्षित्, पृथु, उद्धव, [illegible] आदि उदाहरणरूप हैं।

२—कीर्तनमें नारद, सरस्वती, [illegible] आदि [illegible]।

३—स्मरणमें ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर आदि [illegible]।

४—पादसेवनमें सीताको देखिये—

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित [illegible]॥

फिर निषादराजकी चतुराई देखिये—

पद पखारि जलु पान [illegible]।

अंगद-हनुमान्की सेवाका अवलोकन कीजिये—

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन [illegible]॥

अहल्याकी भक्ति देखिये—

चरन कमल रज [illegible]।

जटायुका प्रेम देखिये—

आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत [illegible]॥

वालीकी गूढ़ भक्ति परखिये—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु [illegible]

और लक्ष्मीजीकी पाद-सेवा तो [illegible] है

संचिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुश[illegible]म्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
(श्रीमद्भा० [illegible])

५—अपने मनके भावनाके अनुसार [illegible] अर्चन (पूजन) कहलाता है। [illegible] प्रकारकी प्रतिमाएँ बतायी गयी हैं—

शैली दारुमयी लौही लेप्या [illegible] सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमा[illegible]॥
(११ । २७ । १२)

इस परिपाटीमें ध्रुव, मीरा, नामदेव आदिकी गणना की जा सकती है।

६–वन्दनकी महत्ता देखिये—

'तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥'
'ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥'

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।
(गीता ११। ३९)

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥
(भीष्मस्तवराज ९१)

७–दास्य भक्तिमें हनुमान्, विदुर और भरत प्रसिद्ध हैं।

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

८–सख्यभावमें अर्जुन, उद्धव, सुग्रीव और गुह आदिकी गणना की जाती है।

९–आत्मनिवेदनके अन्तर्गत गोपियाँ और ग्वाले आते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

यह नौ प्रकारकी भक्ति तीन विभागोंमें विभक्त है—१–श्रवण, कीर्तन, स्मरण (नाम-महिमा)। २–पादसेवन, अर्चन, वन्दन (मूर्ति-उपासना)। ३–दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन (श्रद्धा-विशेष)।

कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजीने मानसमें श्रीरामजीके मुख-कमलसे शबरीको नवधा भक्ति इस प्रकार सुनायी है—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

× × ×

'अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥'
'कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सुहाती॥'
'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सतसंगति अति प्यारी॥'
'मन कामना सिद्धि नर पावा। जो यह कथा सुनै अरु गावा॥'

× × ×

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥

हिंदू-धर्ममें गुरुसेवा परम कर्तव्य माना गया है—

गुर बिन भव निधि तरै न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥

गुरुने जो मन्त्र दिया हो, उसका जप करना और उसमें अचल विश्वास रखना।

'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।'
'महामंत्र जेहि जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥'

जपको भगवान् अपना महान् यज्ञरूप बता रहे हैं—

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। (गीता १०। २५)

छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥

इन्द्रियगणको रोकना दम भाषत बुधवीर। (विचारसागर)

हिंदू-धर्मके प्रत्येक क्षेत्रमें धर्मका अस्तित्व भरा हुआ है। इसलिये व्यर्थके कामोंसे विरत होकर सज्जनोंका धर्म है कि रात-दिन अखण्ड रूपसे भगवान्के भजनमें लगे रहें।

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

'ईशावास्यमिदꣳसर्वम्','सर्वं खल्विदं ब्रह्म','वासुदेवः सर्वमिति'

भगवान् श्रीरामने अपनेसे अधिक संतोंको बताया है। यह उनके अपने कृपालु स्वभावका परिचय है—

आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥

× × ×

जथा लाभ संतोष सदाई। 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः'

स्वप्नमें भी पराये दोषको नहीं देखना चाहिये।

नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

नवम भक्ति श्रीरामचन्द्रजी सबसे छलरहित—सीधा रहना बताते हैं और कहते हैं कि मेरा भरोसा रखकर हर्ष, शोक या दीनता मनमें नहीं लानी चाहिये।

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
राम भगति तजि चहहिं कल्याना। सो नर अधम सृगाल समाना॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

जैसे भगवान् अनन्त हैं, वैसे ही भगवान्की भक्तिका भी अन्त नहीं है। वेद भी नेति-नेति कहकर चुप हो जाते हैं, तब मनुष्यमें क्या शक्ति है भक्ति-तत्त्वपर कलम चलानेकी—

जेहिं मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

भक्ति-संजीवनी

(लेखक—गङ्गोत्री निवासी साधु श्रीमज्ञानाथजी)

भगवान्‌के साथ मिलन ही जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके अनेक साधन हैं। उनमें भक्ति ही वर्तमान युगका मुख्य साधन है। भक्तिका अर्थ है—जिस किसी उपायसे भगवान्‌की सेवा करना। भगवान्‌की उपासना, भगवान्‌की सेवा, भगवान्‌की शरणागति—सभी भक्तिके अन्तर्गत हैं। साधारणतया भगवान्‌के साथ मिलनके लिये चार मार्गोंका शास्त्रमें उल्लेख है—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा प्रपत्तियोग। वेदोंका पूर्वभाग कर्मकाण्ड तथा उत्तर-भाग ज्ञानकाण्ड है। भक्ति कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका समन्वय करती है। कर्म और ज्ञान परस्पर भिन्न होनेपर भी एक दूसरेके अङ्ग बन जाते हैं। ज्ञानहीन कर्म केवल कृत्रिम और यन्त्रकी क्रियाके समान प्राणहीन होता है। उसमें शक्ति नहीं रह सकती। अतएव वह कर्म अध्यात्मजगत्‌में सहायक नहीं हो सकता। और कर्महीन ज्ञान भी अधिक महत्त्वपूर्ण देखनेमें नहीं आता। कर्महीन ज्ञानमें सामर्थ्य न होनेके कारण वह केवल शास्त्रार्थ या वक्तृतामात्रका विषय हो जाता है। शास्त्रार्थ कर लेने या ज्ञानविषयक वक्तृता दे लेनेमें ही ज्ञानकी सार्थकता नहीं होती। समस्त क्रियाओंका ज्ञानानुवर्तिनी होना आवश्यक है। क्रियात्मक ज्ञान न होनेके कारण आजकलके ज्ञानियोंमें ज्ञानकी कोई शक्ति देखनेमें नहीं आती। जहाँ क्रिया ज्ञानके विपरीत होती हुई देखी जाती है, वहाँ समझना चाहिये कि उक्त ज्ञानमें वक्ताका विश्वास नहीं है। भक्ति कर्म और ज्ञान दोनोंकी सहायक बनकर दोनोंमें ही सरसताकी वृद्धि करती है। उपासनाके साथ ज्ञान और कर्मका विरोध नहीं है। कर्म और ज्ञान दोनों मार्ग अनादि कालसे उपनिषद् और पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही भक्तियोगके सहकारी हैं। ज्ञान-निरपेक्ष कर्म स्वर्ग-प्राप्तिका हेतु बनता है। कर्म-निरपेक्ष ज्ञान कैवल्यकी ओर अग्रसर होनेका निर्देश करता है। परंतु भक्तियोग कर्म और ज्ञानका सहायक बनकर मोक्षका सहकारी होता है। कर्म और ज्ञानका जहाँ मिलन होता है, वहाँ भक्ति उद्बुद्ध होती है। तब ज्ञान, कर्म और भक्तिका एक ही लक्ष्य मुक्ति होता है। भक्त 'कर्मकाण्डी' नहीं होता, 'कर्मयोगी' होता है। कर्मकाण्डके सारे कर्म सकाम होते हैं और कर्मयोगके सब कर्म निष्काम होते हैं। जिस कर्ममें कामना, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान रहता है, [illegible] मोक्षका साधक न होकर बाधक ही होता है। [illegible] या निर्लिप्त होकर जीवनके समस्त कर्मोंको केवल [illegible] प्रेरणासे या भगवत्प्रीत्यर्थ करता है। इससे उसकी [illegible] बुद्धि या भोगबुद्धि नहीं रह सकती। [illegible] या वासना उसके कर्मकी प्रेरक नहीं होती। [illegible] अथवा सेवा-बुद्धि ही उसके कर्मको नियमित होती है। भक्ति-योगके बिना कर्मयोगकी सफलता संदिग्ध हो जाती है। [illegible] संस्कार ही जीवात्माके बन्धन हैं। [illegible] अविद्यारूपी कारण शरीरका निर्माण करते हैं। परन्तु [illegible] स्वरूपतः त्याग करना असम्भव है। जीवन धारण करनेके लिये पद-पदपर कर्मका प्रयोजन होता है। कर्म स्वभावतः [illegible] या बुरे नहीं होते। जिस उद्देश्य या बुद्धिसे कर्म [illegible] है, उसीकी एक लहर अन्तःकरणमें उत्पन्न [illegible] करती है और उस तरङ्गके ऊपर ही [illegible] निर्भर करता है। कर्म किया तो जाता है स्थूल शरीरके द्वारा, परंतु स्थूल शरीरको प्रेरणा मनसे प्राप्त होती है। [illegible] शुभाशुभ कर्मोंका कारण मन है। मन यदि मन्द कर्मोंको भी अच्छा बनाकर ग्रहण कर सके तो वह मन्द कर्म भी [illegible] बन जा सकता है। बन्ध और मुक्तिका [illegible] मन ही [illegible] है। यदि दृष्टिकोण बदल जाय तो कोई भी कर्म [illegible] कारण नहीं हो सकता।

कर्मयोग

प्रारब्ध, संचित और क्रियमाणरूपसे कर्म [illegible] होते हैं। इस जीवनका प्रत्येक क्रियमाण कर्म [illegible] संचितके रूपमें इकट्ठा होता रहता है। [illegible] भोगोन्मुख होते हैं, वे कर्म प्रारब्ध हो जाते हैं। [illegible] भोग अवश्यम्भावी है। प्रारब्ध कर्म [illegible] स्तरको बदलते हैं। वासनामें प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तिसे [illegible] चक्र दिन-रात चलता रहता है। प्रवृत्ति ही [illegible] पथ-प्रदर्शिका होती है। अतएव [illegible] अतीत जीवनका फल है तथा भावी [illegible] स्थूलशरीरके नष्ट हो जानेपर भी [illegible] हुआ क्रियमाण कर्म नष्ट नहीं होता; [illegible] मानसिक जगत्‌में उसकी [illegible]

अन्तःकरणमें सुख या दुःखकी लहर उत्पन्न होती है। सूक्ष्म-शरीरमें उसकी एक छाप पड़ती है। उस छापके साथ सूक्ष्म-शरीर भोगके लिये एक दूसरे स्थूल शरीरमें प्रवेश करता है। उक्त कर्म या संस्कार ही वासना या प्रवृत्तिके हेतु बनते हैं। सत्कर्मके संस्कारके द्वारा प्रवृत्ति भी मार्जित हो सकती है तथा असत्कर्मके संस्कारके द्वारा प्रवृत्ति कलुषित हो सकती है। सूक्ष्मशरीर अपनी प्रवृत्तिके अनुकूल योनि-निर्वाचन करता है। जैसे नीमके वृक्षमें कटहल नहीं होते, उसी प्रकार यदि संयोग-वश प्रवृत्तिके प्रतिकूल योनिमें कोई सूक्ष्म शरीर आ पड़ता है, तो वह माताके गर्भमें या वीर्यकीटरूपमें ही नष्ट हो जाता है। सत्कर्मका फल स्वर्ग और असत्कर्मका फल नरक है। दोनों ही बन्धनरूप हैं। कर्मयोग इसको एक सुगम उपाय सिखलाता है। यदि अहंकाररहित होकर अनासक्त या निर्लिप्त भावसे हम कर्म कर सकें और उसके द्वारा यदि अन्तःकरणमें कोई सुख या दुःखकी लहर उत्पन्न न हो तो उक्त कर्मके द्वारा संस्कार उत्पन्न नहीं हो सकता, अथवा सूक्ष्मशरीरपर उसकी छाप नहीं पड़ सकती। इस प्रकारके कर्म जीवात्माके लिये बन्धनके कारण नहीं बन सकते। फलासक्ति-रहित होकर तथा निर्लिप्त होकर कर्म करनेका नाम ही 'कर्मयोग' है। परंतु अनासक्त या निर्लिप्त होना किसीके वशकी बात नहीं है। अन्तःकरणमें छिपी वासना-सर्पिणी कर्मके रसका पान करती हुई हृष्ट-पुष्ट होती रहती है। वासना असंख्य जन्मका परिणाम है। उसको केवल उपदेशमात्रके द्वारा त्याग करना सहज नहीं है। प्रवृत्ति प्रकृतिका स्थूल रूप है, उसको नष्ट करनेके लिये चेष्टा करना प्रकृतिके साथ दारुण संग्राम मात्र है, इसमें सफलता प्राप्त करना प्रायः असम्भव है। यह सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म करनेपर कर्मका संस्कार अन्तःकरणके ऊपर नहीं पड़ता; परंतु अनासक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? यहीं भक्तियोग आकर हमारी समस्याका समाधान कर देता है। भक्तियोग हमें उपदेश देता है कि यदि तुम कर्म किये बिना नहीं रह सकते तो अवश्य कर्म करो; परंतु कर्म भगवान्‌के लिये करो, कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म करो। भोग-वासनाद्वारा प्रेरित होकर कर्म मत करो। यदि हम सब कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण कर सकें तो नये कर्मोंके संस्कार न पड़नेके कारण नये कर्म उत्पन्न नहीं होंगे। कर्तृत्वबुद्धि न रहनेके कारण क्रियमाण कर्म फल नहीं देंगे। ज्ञानके द्वारा संचित कर्म नष्ट हो जानेपर कर्मका बीज न रहनेके कारण फिर जन्म नहीं होगा। भक्तिके द्वारा जबतक भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तबतक इस कर्मचक्रको कोई कदापि निवृत्त नहीं कर सकता। भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी ग्रन्थि छिन्न हो जाती है, संशय नष्ट हो जाते हैं, कर्मका क्षय हो जाता है। इसलिये भक्तिके द्वारा भगवत्-साक्षात्कार करना आवश्यक है। बलपूर्वक इन्द्रियोंको रोकने अथवा आहार न करनेसे वासनाका बीज नष्ट नहीं होता। भगवद्-दर्शनके द्वारा विषयका रस नष्ट हो जाता है। भगवान्‌के ध्यान, चिन्तन और स्मरणके द्वारा हृदयके समस्त विकार स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। जहाँ ज्ञानका आलोक है, वहाँ अज्ञानका अन्धकार नहीं रह सकता। भगवान्‌के चिन्मय रूपका दर्शन हो जानेपर अविद्या तत्काल नष्ट हो जाती है।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोगकी सफलता भक्तियोगके ऊपर ही निर्भर करती है। वाचिक (पुस्तकीय) ज्ञान केवल शास्त्रार्थका ही विषय होता है। उससे उदरपूर्ति या वक्तृताके द्वारा लोगोंका मनोरञ्जन होनेके सिवा और कोई लाभ नहीं होता। घरके भीतर बैठकर दीपककी आलोचना करनेसे जैसे घरका अन्धकार नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार वाचिक ज्ञानके द्वारा भव-सागरसे पार नहीं हुआ जा सकता। ज्ञानयोगकी सफलताके लिये वासनाका क्षय करना पड़ता है; परंतु अनन्त जन्मोंकी वासना अन्तःकरणमें रहकर जबतक कर्मके रसका पान करती रहेगी, तबतक इसको शान्त करना एक प्रकारसे असम्भव ही है। सम्पूर्ण कामनाओंको शान्त करके साधक जब केवल आत्मामें ही संतुष्ट होता है, तब उसको 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं। मनोनाश, वासनाक्षय तथा तत्त्वज्ञान—इन तीनोंका जब एक साथ अभ्यास किया जाता है, तब ज्ञानयोगकी प्राप्ति होती है। जबतक हृदय वासनाके द्वारा संतप्त रहता है, तबतक मनुष्य निष्काम नहीं हो सकता। परंतु भक्तियोगकी सहायतासे हृदय अपने-आप ही शान्त हो जाता है। परमात्माके साक्षात्कारके द्वारा मायाका बन्धन छिन्न हो जाता है, मन शान्त हो जाता है और कर्मबन्धन शिथिल हो जाता है। भक्तिविहीन ज्ञानमार्ग केवल प्रयासका कारण बनता है। अपनी शक्तिके अनुसार भक्ति करना सबके लिये सहज है। भक्तिकी सहायताके बिना ज्ञानमार्ग विघ्नमय हो जाता है तथा पद-पदपर पतनकी आशङ्का बनी रहती है। ज्ञान भक्तिका पूरक और प्रकाशक है। ज्ञानहीन भक्ति अन्धविश्वास-की जननी होती है। यह बात भी ध्रुव सत्य है कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। उपासनात्मक ज्ञानको ही मुक्तिका कारण मानना पड़ता है। निष्काम कर्मद्वारा चित्त-

शुद्धि हो जानेपर ज्ञानद्वारा मुक्ति हो सकती है। उपासनात्मक ज्ञान और भक्तियोग दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। उपासना और सेवाके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी होती है। सर्वदा भगवान्‌का चिन्तन, ध्यान, स्मरण, भगवान्‌में अनन्य विश्वास और तत्परायण भजनका नाम उपासना है। अनवरत तैलधाराके समान हृदयकी अविच्छिन्न गति जब भगवान्‌के नाम-गान या ध्यानमें लग जाती है, तब परमात्मा प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं तथा जीवात्मा अपने पृथक् अस्तित्वको खो देता है और परमात्माके साथ एक हो जाता है। इसीको ज्ञानयोग या उपासना कहते हैं। उपासनाकी सफलताके लिये भगवान्‌के प्रति असीम प्रेम होना आवश्यक है। हृदयके अनुरागके बिना केवल योग, जप, तप, ध्यान आदिके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान्‌के चरणोंमें अन्तःकरणको लगा देनेका नाम ही योग है। जबतक मन बन्धु-बान्धवादिके मोहमें आबद्ध रहता है, तबतक चित्तको भगवान्‌के चरणोंमें कदापि नहीं लगाया जा सकता। इसीलिये ममताका त्याग करके मनको भगवान्‌के चरणोंमें लगाना पड़ता है। उपासनामें भगवत्प्रेमकी अत्यन्त आवश्यकता है; क्योंकि हम जिससे सर्वापेक्षा अधिक प्यार करते हैं, रात-दिन जिसका ध्यान-स्मरण हमको अच्छा लगता है, उसीमें हमको आनन्दकी अनुभूति होती है।

भगवान्‌के साथ यदि हम हृदयसे प्रेम करेंगे तो उनका ध्यान हमारे मनसे कभी नहीं छूटेगा। भगवान्‌के ध्यान और स्मरणमें हमको आनन्दकी प्राप्ति होगी। भगवान्‌के चिन्तनमें सर्वदा मस्त होकर हम मतवालेके समान नशेमें चूर रहेंगे। भगवान्‌के चिन्तनको त्यागकर एक क्षणके लिये भी जीवित रहना हमारे लिये असम्भव हो जायगा। अन्तःकरणका सर्वापेक्षा बड़ा आकर्षण प्रेम हुआ करता है। सांसारिक लोगोंका जब यही प्रेम स्त्री-पुत्रादिके प्रति होता है, तब इसको 'काम' तथा भगवान्‌की प्रीतिके लिये होनेपर इसको 'प्रेम' कहते हैं। इस प्रेमको संसारकी वस्तुओंसे उठाकर परमात्मामें लगानेसे यह उसमें लग सकता है। प्रेमके बिना मन भगवान्‌के चिन्तनमें क्षणभर भी नहीं टिक सकता; क्योंकि मनका स्वभाव ही चञ्चल है। अवलम्बन-शून्य रहनेपर मन स्वभावतः विषयोंकी ओर चला जायगा। विषय-लोलुप चञ्चल मनको भगवान्‌में लगानेके लिये दो साधनाएँ आवश्यक हैं—अभ्यास और वैराग्य। अभ्यासके द्वारा मन धीरे-धीरे भगवान्‌में स्थिर होने लगता है और प्रेम करनेका उत्साह बढ़ता है। वैराग्यके द्वारा सांसारिक भोगोंसे विरक्ति होती है और भगवान्‌में अनुराग होता है। भगवान्‌के प्रति अविच्छिन्न प्रेम होनेका नाम ही 'परा भक्ति' है।—सा परानुरक्तिरीश्वरे—यह शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र भी इसीकी पुष्टि करता है। भक्तिका दूसरा रूप है सेवा। सेवाके बिना केवल ध्यान, जप, स्मरण आदिके द्वारा भी कार्य सिद्ध नहीं होता। उपासना आदि मानसिक सेवा है। शारीरिक और मानसिक भेदसे सेवा दो प्रकारकी होती है। भगवान्‌के पाँच रूप शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। शरीरके द्वारा केवल अर्चावतारकी ही सेवा हो सकती है। उपर्युक्त पाँच रूपोंमें प्रत्येककी सेवा करना आवश्यक है। भगवान्‌के अर्चावतारसे भिन्न जो चार और रूप हैं, उनकी सेवा शरीर या वाणीद्वारा नहीं हो सकती। मन-मन्दिरसे वासनाकी धूलि झाड़कर, भक्तिजलसे प्रक्षालित करके, ज्ञानालोकका दीपक जलाकर, प्रेम-सिंहासनपर भगवान्‌की मानस मूर्ति स्थापित करना परब्रह्मकी सेवा है। इससे मन परब्रह्मके आलोकसे आलोकित हो जायगा, हृदय परमात्माके चरणोंमें तन्मय हो जायगा। प्रेम एवं ध्यानके प्रसादवाले भगवान् मानस चक्षुके सामने प्रत्यक्षवत् हो जायँगे। यही परब्रह्मकी मानस सेवा है। व्यूहरूप भगवान् सृष्टि या मायाके नियामक हैं। गोलोकवासी वासुदेव भगवान्‌को—जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके या लीला-विभूतिके स्वामी हैं, तथा व्यूहरूप: प्रद्युम्न और अनिरुद्ध अथवा ब्रह्मा, विष्णु और शिव जिनकी विभूति हैं—शुद्ध आचरणके द्वारा, शारीरिक और मानसिक पवित्रताके द्वारा मानसिक सेवा करते हुए अन्तःकरणके प्रकाशकी ओर तथा असत्‌से सत्‌की ओर जानेकी चेष्टा करनी पड़ती है। श्रीराम कृष्ण आदिको 'विभव'-रूप कहते हैं। इनकी सेवा पुराणश्रवण, प्रार्थना, जप, स्तोत्रपाठ, नाम-कीर्तन आदिके द्वारा करे। अन्तर्यामी भगवान् सभी सर्वप्राणियोंमें वर्तमान हैं। इस प्रकारके सूक्ष्म, रहस्य और घट-घटवासी भगवान्‌की सेवा तीन प्रकारसे हो सकती है—(१) जहाँ भगवान् अन्तर्यामीरूपसे न हों, ऐसा कोई स्थान नहीं है। अतएव ऐसा कोई गुप्त स्थान नहीं है, जहाँ मनुष्य छिपकर कोई दुष्कर्म कर सके। गुप्त रूपसे किसीको धोखा देकर कोई कर्म न करना ही अन्तर्यामी भगवान्‌की सेवा है। (२) सब प्राणियोंमें ईश्वर अन्तर्यामीरूपसे स्थित है। अतएव किसीके साथ द्वेष न करके दीन-दुःखियोंके दुःख-मोचनकी चेष्टा करना अन्तर्यामी भगवान्‌की विशेष

सेवा है। (३) अपना शरीर भी अन्तर्यामी भगवान्का मन्दिर है। अतएव भगवान्के मन्दिरको स्वच्छ और पवित्र रखना अन्तर्यामी भगवान्की तृतीय सेवा है। काम-क्रोध आदिका त्याग करके संध्या, पूजा, आरती, भोग, पुष्प-चयन, धूप-दीप-दान आदि अर्चावतारकी सेवा है। यह सेवा प्रतिमा या मूर्तिमें की जाती है। अपना भोजन जब भगवान्के भोगके लिये तैयार करोगे, तब अमेध्य भोजन-भक्षण करना तुम्हारे लिये भगवत्सेवा न होगी; क्योंकि अमेध्य भोजन भगवान्को अर्पण नहीं किया जाता। भोजन-कर्म, पूजा, दान और तपस्या—जो कुछ करो, सब भगवान्को अर्पण कर दो। इस प्रकार करनेसे कर्मका लेप तुमको स्पर्श न कर सकेगा।

भक्ति और भक्तके प्रकार-भेद

सर्वसुहृद्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान्के ऊपर निर्भर करके जो भक्ति करते हैं, वे ही भक्त है। ज्ञानयोगके अधिकारीको पहले साधन-चतुष्टय (विचार, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता) से सम्पन्न होना पड़ता है। किंतु हुए बिना ज्ञानयोगका अधिकारी कोई नहीं हो सकता और अनधिकारी चेष्टा करनेपर भी ज्ञानके मुख्य फलको प्राप्त नहीं कर सकता। परंतु भक्तिके अधिकारी सभी हो सकते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पाप-योनि, स्त्री—यहाँतक कि दुराचारी पुरुष भी भक्तिका अधिकारी है। भगवान्का भजन करनेमें जातिका कोई विचार नहीं है। भक्तिके अधीन होकर भगवान् नीच-से-नीच—यहाँतक कि अस्पृश्य मेहतर अथवा चमारके घरमें भी पदार्पण करते हैं। भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(गी० ७।१६)

'हे अर्जुन! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त मेरा भजन किया करते हैं। इनमेंसे सबसे निम्न श्रेणीका भक्त अर्थार्थी है। उससे श्रेष्ठ आर्त, आर्तसे श्रेष्ठ जिज्ञासु और जिज्ञासुसे भी श्रेष्ठ ज्ञानी है।' भोग तथा ऐश्वर्यादि पदार्थोंकी इच्छा लेकर जो भगवान्की भक्तिमें प्रवृत्त होता है, उसके लिये भजन गौण तथा पदार्थकी प्राप्ति ही मुख्य होती है; क्योंकि वह पदार्थ-प्राप्तिके लिये ही भगवान्का भजन करता है, भगवान्के लिये नहीं। अपने बल-बुद्धिके ऊपर भरोसा न करके वह भगवान्पर भरोसा करता हुआ धनके लिये भक्ति करता है, अतएव उसको भी भक्त कहते हैं। जिसको स्वाभाविक ही भगवान्के ऊपर विश्वास होता है तथा जो भजन भी करता है, परंतु अपने पासके धन-विभवके नाश होनेपर, अथवा शारीरिक कष्ट आ पड़नेपर उस कष्टको दूर करनेके लिये जो भगवान्को पुकारता है, वह भक्त आर्त-भक्त कहलाता है। आर्त-भक्त अर्थार्थीके समान वैभव या भोगका संग्रह करना नहीं चाहता, परंतु प्राप्त वस्तुके नाश और शरीरके कष्टको सहनेमें असमर्थ होकर भगवान्की शरण ग्रहण करता है। अतएव अर्थार्थीकी अपेक्षा उसकी कामना कम होती है। जिज्ञासु भक्त अपने शरीरके पोषणके लिये भी कोई याचना नहीं करता, वह केवल भगवान्का तत्त्व जाननेके लिये ही भगवान्के ऊपर निर्भर करता है। जिज्ञासु भक्तको जन्म-मरणरूप सांसारिक दुःखोंसे परित्राण पानेकी इच्छाके द्वारा परमात्म-तत्त्व-प्राप्तिकी इच्छा होती है। परंतु ज्ञानी भक्त सर्वदा निष्काम होता है। इसीलिये भगवान्ने ज्ञानीको अपना आत्मा ही कहा है। चित्-जड-ग्रन्थिरहित आत्माराम मुनिगण भी ज्ञानके द्वारा भगवान्की अहैतुकी भक्ति करते हैं; क्योंकि भगवान् इस प्रकारके दिव्य गुणोंके आधार हैं। भगवान्ने अपने भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए भागवतमें कहा है कि 'मैं भक्तकी पद-रजकी इच्छासे सदा उसके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ, जिससे उसकी चरण-धूलि उड़कर मेरे शरीरपर पड़े तथा मैं उसके द्वारा पवित्र हो जाऊँ।' हे ब्राह्मण! मैं सर्वदा भक्तके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है।' भगवान् जिसके पीछे-पीछे घूमते हों, भला उसको किस बातकी चिन्ता! ज्ञानी भक्तके योग-क्षेमका भगवान् स्वयं वहन करते हैं। इसका एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है—

माधवदासजी एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। गृहस्थ-आश्रममें उन्होंने बहुत धन-सम्पत्ति उपार्जन की थी। वे बड़े ही धार्मिक और विद्वान् थे। स्त्रीकी मृत्युके बाद वे संसारसे विरक्त हो गये और संसारको निःसार समझ घर त्यागकर जगन्नाथपुरीमें चले गये। वहाँ जाकर समुद्रके किनारे एकान्त स्थानमें ध्यानमग्न हो गये। उस ध्यानावस्थामें उनको शरीरतकका भान न रहा। इस प्रकार बिना अन्न-जलके जब उन्हें कई दिन बीत गये, तब दयालु भगवान्ने भक्तके अनशनको सहन करनेमें असमर्थ होकर सुभद्राजीको आदेश दिया—'हे सुभद्रे! तुम उत्तमोत्तम भोजन-सामग्री सोनेके थालमें रखकर मेरे भक्तके पास

पहुँचा आओ।' सुभद्राजी आज्ञा प्राप्त करके सोनेके थालमें अन्न-व्यञ्जन सजाकर माधवदासके पास गयीं; उन्होंने देखा कि वह ध्यान-मग्न हो रहा है। सुभद्राजी उसके ध्यानको भङ्ग करना उचित न समझकर वहीं थाल रखकर लौट गयीं। भक्त माधवदासका जब ध्यान टूटा, तब सामने सोनेका थाल देखकर वे सोचने लगे—'यह सब भगवान्‌की ही कृपा है।' यह विचार मनमें आते ही वे आनन्दाश्रुसे विगलित हो गये। कुछ देरके बाद भोजन करके उन्होंने थालीको एक ओर रख दिया और पुनः ध्यान-मग्न हो गये। प्रातःकाल जब मन्दिरका द्वार खोलनेपर ब्राह्मणोंने देखा कि भीतरसे एक सोनेकी थाली चोरी चली गयी है, तब वे चोरका पता लगाते-लगाते भक्त माधवदासके पास पहुँचे। वहाँ सोनेकी थाली पड़ी देख उन्होंने माधवदासको चोर समझा। फलतः उनको पुलिसने बेंतोंसे मारना शुरू किया। भक्त माधवदासने हँसते-हँसते बेंतोंकी चोट सह ली। वस्तुतः सारी बेंतोंकी चोट तो भगवान् जगन्नाथजी स्वयं सह रहे थे। भगवान्‌ने रातमें पुजारीको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'मेरे भक्त माधवदासके ऊपर जो बेंतकी मार पड़ी है, उसे मैंने अपने ही ऊपर ले लिया है। अब तुमलोगोंका सर्वनाश करूँगा। यदि बचना चाहते हो तो मेरे भक्त माधवदासके चरणोंमें पड़कर क्षमा-प्रार्थना करो।' पुजारी उठते ही माधवदासके पास गया और उनके चरणोंपर गिरकर उसने कातर स्वरसे क्षमा-याचना की। माधवदासने तुरंत उसको क्षमा कर दिया।

एक बार माधवदासजीको अतिसारका रोग हो गया, वे बहुत दूर समुद्रके किनारे जाकर पड़ गये। वे इतने दुर्बल हो गये कि उठनेकी भी शक्ति न रही। ऐसी अवस्थामें जगन्नाथजीने स्वयं ही सेवक बनकर उनकी सेवा-शुश्रूषा की। जब माधवदासजीको कुछ होश आया, तब उन्होंने तत्काल पहचान लिया कि हो-न-हो ये भगवान् जगन्नाथ ही हैं। ऐसा विचार करके उन्होंने अचानक प्रभुके चरण पकड़ लिये तथा विनीत भावसे कहा—'हे नाथ! मुझ-जैसे अधमके लिये आपने इतना कष्ट क्यों उठाया? प्रभो! आप तो सर्वशक्तिमान् हैं, आप चाहनेपर अपनी शक्तिसे ही मेरे सम्पूर्ण दुःखोंको दूर कर सकते थे। इस प्रकार कष्ट उठानेकी क्या आवश्यकता थी?' श्रीभगवान् बोले—'माधव! मैं भक्तोंके कष्टको सहन नहीं कर सकता। अपने सिवा मैं और किसीको भक्तकी सेवाके उपयुक्त नहीं समझता। इसीलिये मैंने तुम्हारी सेवा की है। तुम जानते हो कि प्रारब्ध कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होते। यह मेरा दुर्लङ्घ्य नियम है। इसी कारण मैं केवल सेवा करके भक्तको प्रारब्ध भोग कराता हूँ और जगत्‌को यह शिक्षा देता हूँ कि भगवान् भक्ताधीन हैं।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

उपर्युक्त चतुर्विध भक्तोंमें प्रथम तीन प्रकारके भक्त सकाम होते हैं और अन्तिम ज्ञानी भक्त निष्काम होता है। आर्त भक्तका दृष्टान्त है द्रौपदी, जिज्ञासु भक्तका दृष्टान्त उद्धव तथा अर्थार्थी भक्तका दृष्टान्त ध्रुव हैं। इनकी कथा इतिहास-पुराणोंमें प्रसिद्ध है। यहाँ विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। अनन्य भक्तके उदाहरण हैं उपमन्यु। भक्त उपमन्युकी उग्र तपस्याकी बात देवताओंसे सुनकर भक्तवत्सल भगवान् शंकर भक्तका गौरव बढ़ानेके लिये तथा उसके अनन्य भावकी परीक्षा करनेके लिये इन्द्रका रूप धारण करके ऐरावतपर सवार होकर उपमन्युके सामने उपस्थित हुए। उपमन्युने इन्द्रको देखकर सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए कहा—'देवराज! आप कृपा करके मेरे सामने उपस्थित हुए हैं, आइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' इन्द्ररूपी शंकर बोले—'मैं तुम्हारी तपस्यासे प्रसन्न होकर तुम्हें वर देने आया हूँ, तुम मुझसे वर माँगो। जो कुछ तुम चाहोगे, वही मैं तुमको देनेके लिये तैयार हूँ।' इन्द्रकी बात सुनकर उपमन्यु बोले—'देवराज! मैं आपसे कुछ भी नहीं चाहता। मुझको स्वर्गादिकी इच्छा नहीं है। मैं भगवान् शंकरका भक्त हूँ, अतएव भगवान् शंकरका दासानुदास होना चाहता हूँ। जबतक भगवान् शंकर मुझको दर्शन न देंगे, तबतक मैं तपस्या ही करता रहूँगा। त्रिभुवनके सार, आदिपुरुष, अविनाशी भगवान् शंकरको प्रसन्न किये बिना किसीको सुखद शान्ति नहीं मिल सकती। अपने किसी दोषके कारण इस जन्ममें चाहे भगवान् शंकरका दर्शन मुझे न हो, परंतु आगामी जन्ममें जिससे भगवान् शंकरके प्रति मेरी अनन्य भक्ति हो, वही मैं भगवान् शंकरसे प्रार्थना करूँगा।'

इन्द्ररूपधारी शंकरजी उपमन्युकी बात सुनकर उसके सामने ही शिवकी नाना प्रकारसे निन्दा करने लगे। उपमन्युने शिव-निन्दा सुनकर इन्द्रका वध करनेके लिये भस्म उठायी और उसे अघोरास्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करके इन्द्रके ऊपर फेंका; साथ ही शिव-निन्दा सुननेके प्रायश्चित्तस्वरूप अपने देहको भस्म करनेके लिये आग्नेयी धारणाका प्रयोग किया। भगवान् शंकर भक्तकी अनन्य भक्ति देखकर प्रसन्न हो उठे; उन्होंने अघोरास्त्रको [illegible] शान्त कर दिया तथा नन्दीने आग्नेयी धारणाको [illegible] किया। इसी बीचमें उपमन्युने देखा कि भगवान् शंकर वृषभके ऊपर आरूढ़ हो उमाजीके साथ [illegible] हो गये। उपमन्यु

गद्गद कण्ठसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे। भगवान् शंकर बोले—'वत्स उपमन्यु! मैं तुम्हारी अनन्य भक्ति देखकर प्रसन्न हो गया हूँ। अब वर माँगो!' भगवान्‌के वचन सुनकर उपमन्यु बोले—'भगवन्! क्या मुझको और कोई वस्तु मिलना शेष रह गया है? मेरा जन्म सफल हो गया। यदि आप मुझको वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि आपके श्रीचरणोंमें मेरी अविचल भक्ति बनी रहे।' भगवान् शंकरने उनको देवीके हाथमें समर्पण कर दिया। देवी उनको अविनाशी कुमार-पद प्रदान करके अन्तर्हित हो गयीं। इन्हीं उपमन्युने श्रीकृष्णको शिवमन्त्रकी दीक्षा दी थी।

गुण-भेदसे भक्तोंके पुनः तीन भेद होते हैं। सत्त्वगुणी भक्त देवताकी पूजा करता है, रजोगुणी भक्त यक्ष-राक्षसादिकी तथा तमोगुणी भक्त भूत-प्रेतादिकी पूजा करता है। श्रद्धा और रुचि देखकर भक्तको पहचाना जाता है। अनन्य भक्त चातकके समान अपने अभीष्ट देवताके ध्यानमें तन्मय रहते हैं। जो लोग विभिन्न कामनाओंको लेकर विभिन्न देवी-देवताओंकी पूजा करते हैं, वे भक्त नहीं; उनको स्वार्थी, व्यवसायी कह सकते हैं। चातक पिपासासे कातर होकर भी नदी-नालेके जलको नहीं पीता, मेघकी ओर देखता रहता है। इसी प्रकार अनन्य भक्त प्रारब्धवश शरीरमें नाना प्रकारके कष्ट होनेपर भी अपने इष्टदेवके सिवा अन्य किसीकी आराधना नहीं करता। सब कर्मोंके फलदाता भगवान् हैं। देवतासे फल तो शीघ्र मिलता है, परंतु भक्तको उससे देवलोककी प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भागवतमें नवधा-भक्तिका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवान्‌की कथा सुनना, नाम-कीर्तन, स्मरण, चरण-वन्दन, सेवा, पूजा, प्रणाम, सखाभाव और आत्मसमर्पण—इस नवधा भक्तिका विस्तारपूर्वक वर्णन श्रीमद्भागवतमें मिलता है। गरुडपुराणमें आठ प्रकारकी भक्तिका उल्लेख है—जैसे (१) भगवान् विष्णुके नाम एवं लीलाओंका कीर्तन करते-करते अश्रुपात; (२) भगवान्‌के युगल चरणोंको ही एकमात्र आश्रय समझकर तदनुसार अनुष्ठान; (३) भक्तिपूर्वक भगवत्-कथित शास्त्रका पठन-पाठन; (४) भगवान्‌के भक्तवत्सल भावका अनुमोदन; (५) भगवत्-लीला और कथा सुननेमें रुचि; (६) भगवद्भावविशिष्टता; (७) भगवत्पूजा; (८) भगवान् ही मेरे उपजीव्य हैं, यह ज्ञान। रामचरितमानसमें नवधा-भक्ति तथा नारदीय भक्ति-सूत्रमें भक्तिके ११ भेद पाये जाते हैं। प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थोंमें शान्त, सख्य, दास्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच प्रकारकी भक्तिके भावोंका सविस्तर वर्णन प्राप्त होता है। इन पाँचों भक्ति-भावोंके और भी अवान्तर भेद देखनेमें आते हैं। शान्तभावके अनेक भेद हैं। दास भक्त चार प्रकारके होते हैं—अधिकृत, आश्रित, परिषद और अनुग। इनमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद हैं। इसी प्रकार सख्य, वात्सल्य और मधुर भावके भी अनन्त भेद हैं। सामान्य भक्ति, साधन-भक्ति, गौणी-भक्ति, वैधी भक्ति, प्रेमा-भक्ति, परा भक्ति, रागात्मिका भक्ति, रागानुगा भक्ति, मिश्रा भक्ति, विहिता भक्ति, अविहिता भक्ति, उत्तमा भक्ति इत्यादि भक्तिके अनेक प्रकारोंका उल्लेख देखनेमें आता है। विस्तारभयसे उसे यहाँ प्रदर्शित नहीं किया गया है। इसके लिये वैष्णव-ग्रन्थ देखने चाहिये। दो विभाव—आलम्बन और उद्दीपन; आठ सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय; तथा निर्वेद, विषाद आदि तैंतीस संचारी भाव ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं। अधिकारीभेदसे रतिमें भी विभिन्नता होती है। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और संचारी भावके द्वारा कृष्णविषयक स्थायी भाव उत्पन्न होता है। आस्वादनके कारणको विभाव कहते हैं; यह आलम्बन और उद्दीपन भेदसे दो प्रकारका होता है। इनमें श्रीकृष्ण और उनके भक्त आलम्बन विभाव हैं। जिसके द्वारा भाव प्रकाशित होता है, उसको उद्दीपन विभाव कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके गुण, चेष्टा, हँसी, अङ्ग-सौरभ, वंशी, शृङ्ग, नूपुर, शङ्ख, पदचिह्न, क्षेत्र, तुलसी तथा भक्त आदि उद्दीपन विभाव हैं। भगवान्‌के चित्तगत भावोंका बोध जिसके द्वारा होता है, उसको अनुभाव कहते हैं। आवेशवश नाचना-गाना, भूमिपर पड़ जाना, अँगड़ाई लेना, हुंकारादि अनुभावके अन्तर्गत हैं। भागवतमें लिखा है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(११। १४। २४)

भक्ति भाव-प्रधान होती है, अतएव भगवच्चिन्तन करते-करते भगवान्‌में रति उत्पन्न होती है। तब उपर्युक्त भावोंकी स्वतः स्फूर्ति होती है। बलात् इन भावोंको लानेसे ये

भावुकतामें परिणत हो जाते हैं और रोग उत्पन्न करके साधकको भक्ति-भावसे वञ्चित कर देते हैं। अतएव अतिसावधान होकर परीक्षा करनी पड़ती है कि भक्तका भाव सत्य है या मिथ्या। भावके राज्यमें कौन-कौन अवस्थाएँ होती हैं, यह भक्तके सिवा दूसरोंके लिये समझना कठिन है। भावके घरमें चोरी करनेपर वह भाव नष्ट हो जाता है। भक्ति, विरक्ति और ईश्वरानुभूति—ये तीनों एक ही समय होते हैं। एकको छोड़कर दूसरे नहीं रह सकते। भक्ति होनेपर विषयोंमें विरक्ति अवश्य होगी तथा विषयोंमें विरक्ति होनेपर भगवान्‌का अनुभव अवश्य होगा। जिस भक्तमें इनका विपर्यय या व्यतिक्रम देखा जाता है, वह भक्त भक्तिका केवल अनुकरण मात्र करता है, यह जानना चाहिये। भक्तिका अभिनय भक्ति नहीं है।

प्रपत्ति

भक्तिका ही एक सुगम उपाय प्रपत्ति है। भगवान्‌से मिलनेके लिये प्रबल व्यग्रताको 'प्रपत्ति' कहते हैं। भक्त सोचता है कि भगवान् मेरे हैं, अतएव भगवान्‌की सेवाका भार मेरे ऊपर अर्पित है। मेरे सिवा दूसरा कोई सेवा नहीं कर सकेगा। प्रपन्न समझता है कि मैं भगवान्‌का हूँ, अतएव मेरी और मेरी भक्तिकी रक्षाका भार भगवान्‌के ऊपर है। भक्तकी उपमा बंदरके बच्चेसे तथा प्रपन्नकी उपमा बिल्लीके बच्चेसे दी जाती है। बंदरका बच्चा स्वयं माको पकड़े हुए रहता है, उसके लिये माको कोई चिन्ता नहीं होती। वह केवल एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदती रहती है। बिल्लीका बच्चा अपने स्थानपर बैठकर म्याऊँ-म्याऊँ करता रहता है, उसमें एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेकी शक्ति नहीं होती। जब आवश्यकता होती है, तब बिल्ली उसको दाँतोंसे पकड़कर दूसरे स्थानपर ले आती है। प्रपन्नकी भक्तिके निर्वाहका भार भगवान्‌के ऊपर होता है। मृत्युके समय मूर्च्छित अवस्थामें प्रपन्न जब भगवान्‌का ध्यान करनेमें असमर्थ होता है, तब प्रपन्नका कार्य भगवान् ही सम्पन्न करते हैं। प्रपत्तिके दो भेद हैं—शरणागति और आत्मसमर्पण। भक्ति करना भक्तके अधीन है, किंतु प्रपत्तिका होना ईश्वरके अधीन है। भगवान् श्रीरामचन्द्रने कहा है कि केवल एक बार यदि कोई मन-प्राणसे कह सके कि 'मैं तुम्हारा हूँ' तो मैं उसको सभी भूतोंसे अभय करता हूँ—

> सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
> अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
> (वाल्मीकिरामायण)

शरणागति

परिणीता पत्नीके समान प्रपन्नका एक ही कर्तव्य होता है—पतिके अनुकूल चलनेका संकल्प और प्रतिकूल चलनेका वर्जन। स्वामीके लिये अनुकूल कार्य करनेका दृढ़ संकल्प तथा प्रतिकूल कार्य त्याग करनेका दृढ़ संकल्प शरणागतिका प्रथम सोपान है। पत्नीकी रक्षाका भार पतिके ऊपर रहता है। पत्नीको सावधान होकर पतिके अनुकूल आचरण करना होता है। जो कर्म पतिको अप्रिय हो, उसे पत्नीको नहीं करना चाहिये। अतएव भक्तको भी वही कर्म करना चाहिये, जिससे भगवान् प्रसन्न हों। जिस कर्मके करनेसे भगवान् [illegible] होते हैं, उस कर्मको त्याग देना चाहिये। शास्त्र ही भगवान्‌की आज्ञा हैं। अतएव शास्त्रमें जिस कर्मके करनेका आदेश दिया गया है, वह कर्म भगवान्‌को प्रिय है और जिस कर्मके करनेका निषेध किया गया है, वह त्याग करने योग्य है। जिन्होंने शास्त्रोंको पढ़ा नहीं है, उनके लिये जो कर्म अपने समाजके तथा राष्ट्रके लिये कल्याणकर [illegible], उसका ही अनुसरण करना चाहिये। जिस कर्मके द्वारा अपना या दूसरोंका अनिष्ट होता हो, उसका त्याग करना चाहिये। प्रपन्न भक्तका एक विशेष गुण यह है कि भगवान् जो कुछ करते हैं, उसीको वह अपने लिये कल्याणमय समझता है। क्योंकि स्त्री-पुत्रादिके वियोगमें भी प्रपन्न समझता है कि जिसकी वस्तु थी, वह ले गया। इसलिये जिसने भगवान्‌के हाथमें अपना सर्वस्व दान कर दिया है, वह यदि प्राण वस्तुके वियोगसे कातर हो तो समझना चाहिये कि उसका [illegible] केवल कथनमात्र है, वास्तविक नहीं है। गीतामें भगवान्‌का अन्तिम उपदेश शरणागति है—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८।६६)

शरणागतिमें अनन्य भाव और अकिंचन भाव [illegible] आवश्यक है। शरणागतिमें यदि [illegible] रहता है तो वह शरणागति भक्तिमें सहायक नहीं होती। दुर्वासा ऋषि [illegible] प्रति दुर्व्यवहार करके [illegible] होकर भगवान्‌के [illegible] हुए थे। परंतु भगवान्‌ने कहा कि '[illegible] मैं [illegible] शरण जाइये। मैं भक्तके अधीन हूँ। [illegible] शरण देनेमें असमर्थ हूँ।' दुर्वासा ऋषि [illegible] जाकर शरणापन्न हुए, तब कहीं [illegible] मिला। अतएव शरणागत होनेमें अभिमानका त्याग करना

आवश्यक है। जो शरीर, मन और प्राण—अपना सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर सकता है, वही प्रपन्न भक्त है।

आत्मसमर्पण

जिस वस्तुको हम किसीको स्वेच्छापूर्वक दे देते हैं, उस वस्तुपर जैसे अपना कोई ममत्व नहीं रहता, उस वस्तुके नाश होनेपर हम दुखी नहीं होते, इसी प्रकार जो भक्त अपना शरीर, वाणी, मन और अहंकार—सब कुछ भगवान्‌को अर्पण करके प्रपन्न हो गया है, उसके लिये भगवत्सेवाके सिवा और क्या बाकी रह जायगा। आत्मसमर्पणके बाद भी यदि हम शरीर और मनको किसी अपवित्र कार्यमें लगाते हैं तो हम दत्तापहारी (देकर वापस छीन लेनेवाले) होते हैं। शरीर और मन तो हमारे रहे ही नहीं, जो हम उनपर ममता करें। जिसकी वस्तु ये हैं, वह चाहे इनकी रक्षा करे या इनको नष्ट कर दे, इसमें हम कौन बोलनेवाले होते हैं। किसी वासनाद्वारा प्रेरित होकर हम उस समर्पित शरीर और मनको भोग्य पदार्थोंमें नहीं लगा सकते। भगवान्‌के आज्ञानुसार उनको सत्कर्म या भगवान्‌की सेवामें ही लगा सकते हैं। भगवान्‌ने कहा है—'सब धर्मोंका त्याग करके मेरे शरणापन्न हो जाओ।' अतः यदि सब धर्मोंका त्याग करके हम भगवान्‌के शरण नहीं हो जाते तो हम शरणागत न होकर यथेच्छाचारी ही होंगे और इससे अनर्थकी ही प्राप्ति होगी। प्रपन्नके लिये समय और शक्तिका अपव्यय सर्वथा वर्जनीय है। प्रपन्न एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोता। भक्त हरिदासजी एक प्रपन्न भक्त थे। वे प्रतिदिन तीन लाख भगवन्नाम लिया करते थे। भावका अङ्कुर मात्र उत्पन्न होनेपर क्षमा स्वयं उपस्थित होती है। चैतन्य महाप्रभुने कहा है कि जो अपनेको तृणसे भी अधिक नीच मानता है, जो वृक्षके समान सहिष्णु है तथा अमानी होकर सबको मान देनेवाला है, उसीको भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेका अधिकार है। क्षमा न रहनेपर अथवा क्रोध आनेपर अति कष्टसे उपार्जित तपोधन नष्ट हो जाता है। जिसको क्षणमात्रके लिये भी वैराग्य नहीं होता, उसे भक्ति या ज्ञान कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव अरति (वैराग्य) भक्तिके लिये आवश्यक है। भक्त पद्मनाभ मन-ही-मन सदा सोचते रहते थे कि 'भगवान् अवश्य ही मुझे दर्शन देंगे। दर्शन पाते ही मैं उनके श्रीचरणोंमें लोट-पोट हो जाऊँगा। भगवान् मुझको उठाकर अपने हृदयसे लगा लेंगे। तब मैं भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करके आनन्दसागरमें निमग्न हो जाऊँगा। भगवान् मुझसे कहेंगे—'तुम वर माँगो।' मैं कहूँगा कि 'आपकी सेवाके सिवा मैं दूसरा कोई वर नहीं चाहता।'' इस प्रकार चिन्तन करते हुए पद्मनाभ समाधिस्थ होकर बहुत देरतक पड़े रहते। प्रपन्न भक्तमें नामगानमें रुचि और अव्यर्थकालत्व—ये दो गुण होने आवश्यक हैं।

प्रार्थना

प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर।
आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो॥
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगत्प्रभो॥
केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन।
गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव॥

बिहारीका मुख

आठैं के सुधाधर सौ लसत बिसाल-भाल,
मंगल सौ लाल तामैं टीकौ छबि भारी कौ।
चाप सी कुटिल भौंह, नैन पैने सायक से,
सुक सी उतंग नासा मोहै मन प्यारी कौ॥
बिंब से अरुन ओठ, रद कुंद सोहत हैं,
पेखि प्रेम पास पर्‍यौ चित्त ब्रजनारी कौ।
चंद सौ प्रकासकारी, कंज सौ सुबास धारी,
सब सुख भास हारी आनन बिहारी कौ॥ १॥

भारतमें भक्ति-रसका प्रवाह

(लेखक—श्रीकन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी, भू० पू० राज्यपाल उत्तरप्रदेश)

ईसाकी चौदहवीं शताब्दीमें भारतके श्रेष्ठ ग्रन्थ और दर्शन-शास्त्र पृष्ठभूमिमें विलीयमान-से हो गये । यहाँतक कि पुराण भी लोगोंकी आवश्यकता पूर्ति न कर सके । ऐसी दशामें भक्तिका प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक था । भक्ति-रसके इस प्रवाहसे भगवान्के—विशेषकर भगवान् श्रीकृष्णके प्रति भक्ति-भाव विशेषरूपमें विकसित होने लगा ।

(१)

इस प्रकार भक्ति-भावका जो विकास हुआ, उसके केन्द्र श्रीकृष्ण बने । भारतीय संस्कृतिमें उन्हें उच्चतम स्थान प्राप्त हुआ—काव्यमें, श्रेष्ठतम प्रेममें, धर्ममें वे स्वतः भगवान् हो गये, तत्त्वज्ञानके सर्वव्यापक परब्रह्म हो गये । उन्होंने भगवद्-गीताका संदेश दिया, जिसने इस विभिन्न मतोंके देशमें शंकरसे तिलकतक, श्रीअरविन्द और महात्मा गांधीतक सभी महान् भारतीयोंको प्रभावित किया । मनुष्यके आकारमें मानवताकी विजयके रूपमें श्रीकृष्णने कोटि-कोटि जनोंको प्रेरणा और प्रबोध प्रदान किया ।

ऋग्वेदमें विष्णु सर्वेश माने गये हैं—त्रिविक्रमो विश्वस्य और वरुण आकाशके देवता—भुवनस्य राजा । कालान्तरमें ऐतरेय-ब्राह्मणने विष्णुको देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ पदपर रखा और वेदोंमें जिन गाथाओंका सम्बन्ध अन्य देवताओंसे था, वे सब भगवान् विष्णुके नामसे प्रचलित हुईं । तैत्तिरीय-आरण्यकने उन्हें प्राचीन ऋषि नारायणका नाम दिया, जिन्हें विष्णुके अवतार-रूपमें पाञ्चरात्र सम्प्रदायवाले पूजने लगे । जब भगवद्गीताके मौलिक संस्करणकी रचना हुई, तब यदुकुलभूषण श्रीकृष्णको भगवान् विष्णुके उस अवतारके रूपमें स्वीकार किया जा चुका था, जिसने अर्जुनको अपना विराट् स्वरूप दिखाया था । ये सभी कथन भगवान् वासुदेवके नामसे प्रचलित हुए, जिनकी पूजा विख्यात वैयाकरण पाणिनिके समय (ईसासे ५० वर्ष पूर्व) से ही चल रही थी । भगवान् वासुदेवके भक्त 'भागवत' कहलाये । ऐसे भक्तोंमें ग्रीक सम्राट्का भारतस्थित राजदूत हेलियोडोरस भी था, जो ईसासे २०० वर्ष पहले भारत आया था । गुप्त सम्राट् 'महाभागवत' कहलाते थे और गुप्तकालमें विष्णु और उनकी प्रिया लक्ष्मीकी पूजा व्यापक थी ।

शंकरके उत्थानके पूर्व आळवारोंके नामसे प्रसिद्ध [illegible] रहस्यवादी और संत ही नहीं, भक्तिके उपदेशक भी थे । उन्होंने परब्रह्मकी पूजा भगवान् वासुदेवके रूपमें [illegible] किया है । विष्णुपुराणकी रचना भगवान् विष्णुको वासुदेवके रूपमें कीर्तिमान् करनेके ध्येयसे हुई । भगवान् महान् [illegible] दुर्बल और असहाय थे, इसलिये उन्होंने उनसे [illegible] प्रार्थना की ।

भक्तिको सामाजिक प्रेमका प्रगाढ़ पद प्राप्त हुआ । नारदने भक्तिसूत्रमें उसकी व्याख्या करते हुए उसे प्रगाढ़ प्रेमकी प्रकृति कहा है । शाण्डिल्यने अपने भक्तिसूत्रमें इसे 'भगवान्के प्रति सल्लग्नता' ही कहा है । बादके आचार्योंने इसे 'सामाजिक प्रेममें [illegible]' (जैसा कि शकुन्तलाको दुष्यन्तके प्रति हुआ था) समान बताया । नयी भक्ति एक ऐसी भावना थी, जिसने [illegible] प्रेरितकर भगवान्की पूजा करायी । उन्हें [illegible] उनके लिये व्याकुल होनेको—यही नहीं, उनसे मिलने और उनसे बीचका व्यवधान दूर करनेको बाध्य किया, जिससे [illegible] भगवान्से उतनी ही आतुरतासे प्रेम करे, जितनी आतुरतासे मानवीय सामाजिक प्रेम किया जाता है । ईसासे ८०० [illegible] पहले ही इस नये भावोंसे [illegible] राधाकी सृष्टि करायी, जो पुराणोंकी [illegible] अपेक्षा अधिक मानवीय रूपमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेमिका बनायी गयी । वे 'चन्द्रालोक' (८५० ई०) [illegible] देवार्चन प्राप्त करनेवाली हो गयीं । [illegible] (९८० ई०) के एक शिलालेखमें [illegible] अङ्कित किया गया है ।

भागवतपुराणमें श्रीकृष्णको [illegible] युवक, राजनीतिज्ञ और [illegible] माना गया है । यह एक [illegible] देश [illegible] नयी भक्तिका [illegible] आकर्षण भी था । [illegible] सभी प्रदेशोंके [illegible]

शुद्ध भक्तिकी अभिव्यञ्जना अद्भुत सुन्दरताके साथ की गयी है —

'जिस प्रकार पंखहीन पक्षिशावक माकी प्रतीक्षा करते हैं, जिस प्रकार क्षुधित बछड़े अपनी माताके स्तनपानके लिये आतुर रहते हैं, हे कमलाक्ष ! उसी प्रकार मेरा मन तुम्हारे लिये आकुल रहता है ।'........ विष्णुके चरित्र सुनना, उनके गुणगान करना, उनका स्मरण करना, उनके चरणोंमें गिरना, उनकी पूजा करना, उनको नमन करना, उनकी सेवा करना, उन्हें मित्र-भावसे ग्रहण करना, उन्हें आत्मसमर्पण करना नवधा भक्ति मानी जाती है ।

गोपियोंके प्रति श्रीकृष्ण कहते हैं—'वे रातें' जब मैंने उनके प्रेमीके रूपसे वृन्दावनमें विहार किया, क्षणभरमें व्यतीत हो गयीं; पर जब मैं उनसे अलग हो गया, तब उनकी रातें अनन्त चक्रके समान हो गयीं ।'........'इस प्रकार सैकड़ों लोग जो मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते, मुझे केवल प्रेमीके रूपमें मानते हैं और मुझको परब्रह्म-रूपसे प्राप्त करते हैं ।'

(२)

ईसाकी दसवीं शताब्दीसे बहुत पहले ही दक्षिण भारतमें भक्तिने व्यापक स्थान प्राप्त कर लिया था । विष्णु और संकर्षण-के मन्दिर निर्मित हुए थे । अज्ञेयवादी एवं साधु, जो आळ्वार-नामसे प्रसिद्ध थे, घूम-घूमकर भजन गाते थे । वे भगवान्‌के पीछे पागल हो गये थे । उनमेंसे एक तो भिक्षुक था, दूसरा राजा, तीसरी थी एक भक्त स्त्री और चौथा अस्पृश्य । उन्होंने जिस नारायण-भक्तिका अनुसरण किया, शिक्षा दी, वह प्रगाढ़ प्रेम और आत्मसमर्पणके द्वारा ही प्राप्य थी और उसमें मनुष्यके वर्ण, रुचि और संस्कृतिका सवाल नहीं था । उनके भक्तिपूर्ण गान सर्वप्रिय हो गये और उन गानोंका नाम ही 'वैष्णववेद' पड़ गया ।

आळ्वारोंके जानेके पश्चात् आचार्योंका उद्भव हुआ, जिन्होंने भक्तिको तत्त्वज्ञानका रूप दिया । १००० ई० में यामुनाचार्यने प्रपत्तिके सिद्धान्तको प्रस्तुत किया, जिसका अर्थ है—भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर देना । यामुनाचार्यके प्रपौत्र-शिष्य रामानुज उनके उत्तराधिकारी बने । उन्होंने भक्ति-आन्दोलनको दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की और इसे एकेश्वरवादी धर्मके स्तरतक पहुँचा दिया । रामायण और महाभारतके बाद भागवतका प्रभाव भारतमें अत्यन्त शक्तिशाली प्रेरणाका साधन बन गया, जिससे पाँच महान् संतोंद्वारा अनेक विभिन्न मत प्रचारित हुए । ये महान् दार्शनिक संत अपनी विद्या, भक्ति और तर्कबलद्वारा नयी विचारधाराओंके संस्थापक बन गये । संस्कृतने जो भाषागत एकता और बौद्धिक एकता स्थापित की, उससे भारतके धार्मिक और नैतिक जीवनमें नया दृष्टिकोण लाना उनके लिये सरल हो गया । उनके कारण ही देशमें श्रीकृष्णके प्रति चेतनता और भावना जाग्रत् हुई । लगभग ११५० ई० में निम्बार्कने तिलंगानामें एक नये सम्प्रदायकी स्थापना की, जिसमें श्रीकृष्ण और राधाकी शुद्ध भक्तिपर अधिक जोर दिया गया । उन्होंने कहा—'हम वृषभानुसुता राधाकी पूजा करते हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णके वामाङ्ककी शोभा बढ़ाने-वाली देवी हैं और जो वैसी ही सुन्दरी हैं जैसे स्वयं श्रीकृष्ण हैं । राधाके साथ उनकी सहस्रों सखियाँ हैं । राधा एक ऐसी देवी हैं, जो सम्पूर्ण आकाङ्क्षाओंकी पूर्ति करती हैं ।' मध्व (११९२ से १२७० ई०) ने इससे भी अधिक सबल वैष्णव-सिद्धान्तकी स्थापना की ।

ज्ञानेश्वरके गुरु कहे जानेवाले विष्णुस्वामी, जिनको वल्लभने भी गुरु स्वीकार किया है, एक शक्तिशाली उपदेशक साधु हो गये हैं, जिन्होंने राधाकृष्ण-सम्प्रदाय चलाया । यद्यपि उनके सम्बन्धमें बहुत कम बातें ज्ञात हो सकी हैं, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि भक्तिकी महाराष्ट्रीय विचारधाराके प्रमुख ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और बादमें तुकाराम हुए, जिन्होंने श्रीकृष्ण और उनकी पटरानी रुक्मिणीकी उपासना की । उनकी भक्तिमें विशुद्ध और निर्मल पति-पत्नीप्रेमका प्रतीक कान्ता-भावको माना गया है, जब कि श्रीकृष्ण और राधाके प्रेम (मधुर भाव) का उसमें अभाव है । इसी प्रकार श्रीचैतन्यने भी बंगालमें इस भक्तिके विकास और प्रचारमें बहुत काम किया ।

ईसाकी दसवीं शताब्दीमें काह्नभट्टके प्रभावान्तर्गत बंगालमें बौद्धधर्मका आविर्भाव हुआ । काह्नभट्ट वैसे बहुत बड़े विद्वान् और कवि थे और बंगालमें उनका बड़ा नाम था, परंतु उन्होंने अवैध प्रेमका उपदेश दिया और यह भी कहा कि गुरुके प्रति शारीरिक और मानसिक दोनों ही रीतियोंसे पूर्णतया आत्मसमर्पण कर देना मुक्तिमार्ग है । लोकगीतों और त्यौहारोंके द्वारा राधा-कृष्ण-प्रेमकी गाथाएँ पहले ही स्थान पा चुकी थीं । इन दोनोंकी संयुक्तशक्तिसे श्रीकृष्ण-भक्तिका मार्ग अधिकाधिक रूपमें प्रशस्त होता गया । ११ वीं शताब्दीमें उमापतिने और १२ वीं शताब्दीमें

गीतगोविन्दके रचयिता जयदेवने उच्च कोटिकी कलात्मक इन्द्रियासक्ति-सूचक कृष्ण-सम्बन्धी कविताएँ लिखीं। गीतगोविन्दकी भाषा, उसके भावात्मक लावण्य और छन्दप्रवाहने सारे देशके भक्तोंका ध्यान आकर्षित कर दिया और रचनाकालके १०० वर्षके अंदर ही यह काव्य उच्च श्रेणीका बन गया।

चौदहवीं शताब्दीमें बंगालस्थित विद्याके प्राचीन केन्द्र नवद्वीप (नदिया) में, जहाँ बौद्ध संन्यासियोंने प्रेमको ही निर्वाणका एकमात्र मार्ग बताते हुए उपदेश दिये थे, महान् भारतीय कवि चण्डीदासके भावावेशपूर्ण प्रेम-गीत गूँज उठे। यह विद्वान् विशुद्ध ब्राह्मण सहजिया-सम्प्रदायसे सम्बद्ध थे, जिसके अनुसार अपने मतका अवलम्बन करनेके लिये उनका किसी नीच जातिकी विवाहिता स्त्रीसे प्रेम करना आवश्यक था और उन्होंने अपना हृदय 'रामी' धोबिनको दे दिया। इस प्रेमके कारण चण्डीदासको प्रपीड़ित किया गया; पर जिस स्त्रीके प्रति उन्होंने अपने अमरगीतका गान किया था, उसके लिये उन्होंने सभी कष्ट सहे। 'तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं मेरी माता हो, तुम्हीं पिता। तुम्हीं वेद हो, गायत्री हो, तुम्हीं सरस्वती हो और तुम्हीं पार्वती भी' कहकर चण्डीदासने रामीके लिये आकुलता प्रकट की थी। उन्होंने प्रकटतया ऐसे धार्मिक कीर्तनोंकी रचना की, जो उनके अमर अनुरागके परिचायक थे।

चण्डीदासके ये गान बंगालके संन्यासी और मध्वाचार्यके शिष्य माधवेन्द्रपुरीके कानोंमें तब भी गूँज रहे थे, जब वे मथुराके निकट वृन्दावन पहुँच गये थे। उन पवित्र कुञ्जोंमें, जहाँ श्रीकृष्णने राधासे प्रेम किया था, भक्ति-पक्षके सक्रिय केन्द्र बन गये। यमुना-तटके उन कुञ्जोंमें, जहाँ पवित्र प्रेमोत्सर्ग हुआ था, ये विद्वान् साधु इस तरह भटकते रहे, जैसे प्रेमविह्वला कुमारी गाती-बजाती अपने प्रेमीको ढूँढ़ रही हो। उन्होंने एक ऐसे मन्दिरकी स्थापना की, जिसने बंगाली भक्तोंको आकर्षित किया। १४८५ में उनका देहावसान हो गया; पर वे अपने पीछे कई नामी भक्त छोड़ गये, जिनमें ईश्वरपुरी भी थे।

ईश्वरपुरीने निमाईको अपना शिष्य बनाया। निमाई माधवेन्द्रके उपदेशसे श्रीकृष्ण-भक्त बन गये। 'मुझे छोड़ दो, मैं इस संसारका नहीं हूँ—मैं वृन्दावन जाकर अपने भगवान्‌से मिलूँगा' कहते हुए वे संसार छोड़कर संन्यासी हो गये और पागलकी तरह भगवान्‌को पुकारते हुए घूमने लगे। वे न केवल पूर्ण विद्वान् और संन्यासी थे, प्रत्युत उनमें ऐसी भावुकता भरी थी, जैसे वे इस [illegible] जैसे किसी कन्याका प्रेमकी [illegible] हो। वे अपने प्रेमी भगवान् श्रीकृष्णकी [illegible] सिसककर सिहर उठते थे। उनका नाम [illegible] चैतन्य या गौराङ्ग पड़ गया। वे भक्तिकी [illegible] गये, उन्होंने वैष्णववादमें क्रान्ति उपस्थित कर दी।

चैतन्यने वृन्दावनको भक्तिका केन्द्र बना देनेकी [illegible] की थी। १५१० ई०में उनके शिष्य [illegible] सम्प्रदायकी स्थापना उन्हीं पवित्र कुञ्जोंमें की, जहाँ [illegible] रहते थे। १५१६ ई० में [illegible] दो [illegible] ग्रहण किया और मन्दिरका [illegible] भी उन्होंने [illegible] लिया—इन दोनोंके नाम थे [illegible] और [illegible]। [illegible] चचेरे भाई जीव गोस्वामीने वृन्दावनको भक्ति और [illegible] सजीव केन्द्र बना दिया। श्रीकृष्णके प्रति [illegible] अनुरागकी तरह प्रेम करना एक [illegible] धर्म बन गया।

इस प्रकार इस देशमें भक्ति एक [illegible] शक्ति बन गयी, जिससे घर-घरमें प्रेम और [illegible] उठने लगीं और आर्य-संस्कृतिमें पुनर्जीवन [illegible]।

सोलहवीं शताब्दीमें भक्तिकी नव प्रेरणा [illegible] गुजरातमें फैल गयी और गुजरातके दो [illegible] कवि—मीराँबाई और नरसिंह (मेहता) [illegible] सम्प्रदायके साधुओं और भक्तोंसे प्रभावित हुए थे।

(२)

मीराँबाई मेड़ता (राजस्थान) के [illegible] थीं। इनका जन्म १५०० ई० के [illegible] सुदृढ़ वैष्णव भक्त थे और उनका [illegible] जीवनपर पड़ा। इनका विवाह चित्तौड़के [illegible] भोजराजके साथ हुआ था।* [illegible] पतिका देहान्त हो गया। १५६२ में [illegible] विक्रम गद्दीपर बैठे। उस समय [illegible] डोल-सी थी; क्योंकि [illegible] पूर्ण युद्ध किया था, उसका [illegible] दे रहा था।

मीराँबाईने अपने वैधव्यका [illegible]

---

* एक दूसरी प्रचलित कथा यह है [illegible] कुम्भाकी रानी थीं और [illegible] है।

भूल गया। वह भक्तों और साधुओंसे सदैव घिरी रहती थीं और स्वरचित भक्ति-रसके गान गानेमें मग्न रहतीं। राणाने साधुओंके साथ उनकी घनिष्ठतापर क्रोध किया और उनपर अत्याचार भी किये; पर मीराँ अडिग बनी रहीं। इसी समय उन्होंने 'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई' पदकी रचना की और उसे गाया। राणाने इसे अपना अपमान समझा और मीराँको विष देकर मार डालनेको तैयार हो गये; परंतु मीराँकी दृढ़ता कम न हुई। उलटे उन्होंने वृन्दावन जानेकी ठान ली। भगवान् श्रीकृष्ण उनके लिये जीवित प्रेमीके समान थे। वे उनके दर्शन करने, उनकी बंशी सुननेके लिये विह्वल होकर चल पड़ीं। उन्होंने एक गोपिकाके रूपमें श्रीकृष्णकी समस्त लीलाओंका आनन्द लेनेका संकल्प किया। वे कृष्ण-विरहमें तड़पती हुई वृन्दावनकी ओर चल पड़ीं और उसी समय उन्होंने 'म्हारो दरद न जाणे कोय' की रचना की।

इसी तरङ्गमें मीराँ द्वारकावासके लिये गयीं। मीराँके चित्तौड़-त्यागसे राज्यपर दुर्भाग्यके बादल छा गये और सिंहासन-अधिकारी बदलते गये। अन्तमें राणाने चित्तौड़के इस दुर्भाग्यका कारण मीराँका विक्षोभ समझा और उसने प्रार्थना करके मीराँसे लौटनेका अनुरोध किया। मीराँने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। तब राणाने ब्राह्मणोंसे अनुरोध किया, तो उन्होंने मीराँबाईके पास जाकर अनशन आरम्भ कर दिया और उनसे चित्तौड़ लौट चलनेका आग्रह करने लगे। इसपर मीराँ द्रवित हो गयीं और भगवान्‌से आज्ञा लेनेके लिये वे आँखोंमें आँसू भरकर भजन गुनगुनाते हुए मन्दिरमें गयीं और फिर बाहर नहीं निकलीं—भगवान्‌की मूर्तिमें ही लीन हो गयीं। यह घटना १५४७ की है।

(४)

मीराँको गुजरात और राजस्थान दोनोंके ही निवासी अपने यहाँकी होनेका दावा करते हैं। वैसे तो उनके गान सर्वत्र प्रचलित हैं। पर मथुरा-क्षेत्रके पार्श्ववर्ती भागमें उनका विशेष प्रचार है। हिंदी-जगत् इधर उन्हें हिंदी-कवि कहने लगा है; किंतु जिस शताब्दीमें मीराँबाई हुई थीं, उन दिनों इन सभी भागों—गुजरात, राजस्थान और व्रज-क्षेत्रकी भाषा एक ही-सी थी—पुरानी गुजराती, पश्चिमी राजस्थानी लगभग एक थीं। मीराँके पद आज भी इन दोनों क्षेत्रों—गुजरात और राजस्थानमें अधिक प्रचलित हैं।

(५)

भक्ति मार्गके प्रवाहकोंमें रुद्र-सम्प्रदाय या पुष्टिमार्गके वल्लभाचार्यका नाम भी उल्लेखनीय है। इनका जन्म १४७९ में हुआ। बचपनमें ये विष्णुस्वामीके अनुयायी थे। बादमें इन्होंने उन्हींके सिद्धान्तोंके आधारपर अपने सम्प्रदायकी स्थापना की। इन्होंने समग्र भारतकी यात्रा कई बार की। व्रजमें इन्होंने श्रीनाथजीकी स्थापना १५०६ ई० में की। १५३१ ई० में इनका शरीरान्त हो गया। वल्लभस्वामी भक्त तो थे ही, पर उससे भी अधिक छाप उनकी विद्वत्ताकी थी। उन्होंने अपना शरीर, इन्द्रियाँ, परिवार, धन-सम्पत्ति आदि सभी कुछ भगवान् श्रीकृष्णके अर्पण कर देनेकी प्रतिज्ञाको भक्तिका पूर्णाङ्ग माना और इसे कार्यरूपमें परिणत करनेका आदर्श सामने रखा। वल्लभस्वामीके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजीने पिताकी परम्पराको और भी आगे बढ़ाया और श्रीकृष्णकी अष्टयाम सेवाका क्रम स्थिर किया।

विट्ठलनाथजीके वंशजोंने गुजरातमें जाकर अनेक मन्दिरोंकी स्थापना की और वहाँ उनके शिष्योंकी संख्या बहुत बढ़ी। सूरदास तथा अष्टछापके अन्य कवि, जिन्होंने अपनी सुमधुर रचनाओंसे मध्ययुगीय हिंदी—व्रजभाषाके साहित्यकी समृद्धि की, श्रीवल्लभाचार्य अथवा उनके सुपुत्रके ही शिष्य थे।

ईसाकी सोलहवीं शताब्दीमें गुजरातमें भक्तिको नयी प्रेरणा देनेवाले नरसिंह मेहताका आविर्भाव हुआ। सत्रहवीं शताब्दीमें नरसी भक्तके नामसे उनकी ख्याति सारे भारतमें हो गयी। भक्त नरसीको भगवान् श्रीकृष्णने किस प्रकार समय-समयपर सहायता दी—यहाँतक कि उनकी हुंडीतक सिकार दी, यह कथा सारे देशमें प्रसिद्ध हो गयी। इनके पिता वडनगरके नागर ब्राह्मण थे; परंतु इनका जन्म जूनागढ़के निकट तलाजा गाँवमें हुआ था। इनके पिताका देहान्त इनकी बाल्यावस्थामें ही हो गया था। बालक नरसिंह साधुओंकी संगतिमें आये और वे वृन्दावनसे प्रसारित भक्तिके रहस्योंसे परिचित हो गये। वे गोपियोंकी तरह नाचने-गाने लगे और श्रीकृष्णको अपना प्रेमी मानने लगे। उनके कृत्यसे उनकी जातिवाले चौंके और उनकी लगी हुई सगाई भी टूट गयी।

नरसीकी भौजाई जरा कर्कश स्वभावकी थी और नरसी कोई कमाई नहीं करते थे। इसलिये उन्हें उसकी बातें सहकर अपमानका जीवन व्यतीत करना पड़ता था। एक दिन उनकी भौजाईने बातों-ही-बातोंमें उन्हें मूर्ख कह दिया। बालक नरसीको बात लग गयी। वे जंगलमें चले गये और वहाँ एक परित्यक्त शिवलिङ्गकी पूजा करने लगे। एक मन्दिरमें उन्होंने सात दिनतक

२९— 'छाँड़ि दई कुल की कान, कहा करिहै कोई । संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई ॥'

२०—

रासलीलामें नरसी मेहता

गोपनाथकी पूजा की। उनके ही शब्दोंमें भगवान् उन्हें गोलोकमें ले गये, जहाँ पहुँचकर उन्होंने श्रीकृष्णकी रासलीला देखी और उनका भगवान् श्रीकृष्णसे जीवित सम्पर्क हो गया। उन्होंने अपनी भौजाईके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए एक गानकी रचना की, जिसका आशय यह था कि 'तुमने मुझे जो कटु शब्द कहे, उनके कारण ही मैंने गोलोकमें गोपीनाथका नृत्य देखा और धरतीके भगवान्ने मेरा आलिङ्गन किया।'

नरसिंह मेहताने अपना घर जूनागढ़में बनाया और वहीं उनकी पत्नी माणिकबाईसे उन्हें कुअँरबाई नामकी कन्या और शामल नामक पुत्र हुआ।

नरसिंह कवि अवश्य थे; पर जैसा कि घर और गाँववालोंने समझ रखा था, वे मूर्ख नहीं थे। वे जातिवालोंके कृत्योंमें और विशेषकर सामाजिक अवसरों और रस्म-रिवाजोंमें सम्मिलित नहीं हो पाते थे; क्योंकि उनके पास एक करतालके सिवा और कुछ नहीं था। फिर भी उन्हें विश्वास था कि भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें मदद देंगे। वे एक सच्चे भक्तके रूपमें सबको समान मानते थे। वे निम्न समझे जानेवालोंको आश्वासन देते, उनके प्रति सहानुभूति दिखाते और भगवान् श्रीकृष्णका यशोगान करनेमें मग्न रहते थे।

एक बार वे भजन गानेके लिये एक ढेड़ (चमार) के घर गये। यह बात जब उनके जातिवालों (नागरब्राह्मणों) को मालूम हुई तो उन्होंने नरसिंहको जाति-बाहर कर दिया। इस तरह सामाजिक तिरस्कारका शिकार बनकर ही उन्होंने यह पद गाया—

'निरधन ने नात नागरी, हरि न आपीश अवतार रे।'

अर्थात् हे भगवन्! अगले जन्मोंमें मुझे न तो निर्धन बनाना और न नागर जातिमें जन्म देना।

नरसिंहके पद सदियोंतक जन-जनकी जिह्वापर चढ़े रहे। वल्लभाचार्यके अनुयायियोंने नरसिंहको भगवान्का दूत कहा। इनके पदोंकी संख्या ७४० है, जो शृङ्गारमालाके नामसे संगृहीत और प्रकाशित हो चुके हैं। चैतन्य और मीराँकी तरह नरसिंह भी श्रीकृष्णको अपना जीवित स्वामी मानते थे। उनका विश्वास था कि वे भगवान् शंकरके साथ गोलोक गये थे और वहाँ राधा-कृष्णके नृत्यके समय उन्होंने मशाल दिखानेका काम किया था।

उनके अधिकांश पद श्रीकृष्ण और गोपियोंके विरह और मिलनसे सम्बन्धित हैं।

'मेरे प्रेमीने बाँसुरी बजा दी। [illegible] घरमें नहीं रह सकती, मैं [illegible] हूँ। [illegible] देखनेका क्या उपाय करूँ।'*

श्रीकृष्ण गोपीके साथ हैं और वह (गोपी) [illegible] सम्बोधन करके कहती है—

'दीपककी तरह न जलो। हे चन्द्र! [illegible] जाओ। आज रात मेरा प्रेमी मेरे साथ है, [illegible] हो चुकी है ... तुम अपनी किरणें [illegible] न करो। [illegible] मेरा प्रेमी मुझे देखकर मुस्कराता है। ... [illegible] प्राण आज मुझे मिले हैं।'†

नरसिंहकी अन्य रचनाएँ श्रीकृष्ण-जन्म, [illegible] कालियदमन, दानलीला, मानलीला, सुदामाचरित्र, [illegible] गमन आदि विषयोंपर हैं। [illegible] रचनाएँ [illegible] गेय पदोंमें विभाजित हैं; किंतु उनके [illegible] बहुत प्रचलित हैं, जो नरसिंहके [illegible] हैं। उनका वेदान्त पूर्णतः व्यावहारिक [illegible] है—

'तुम्हें जीव, ईश्वर और ब्रह्मका भेद [illegible] उपलब्ध होगा। जब तुम 'मैं' और 'तुम' [illegible] जाओगे, तभी गुरु तुम्हारी मदद करेंगे।'‡

नरसीके कथनानुसार वैष्णव [illegible] वाला नहीं होता—वह तो [illegible] है। [illegible] उदाहरणस्वरूप उन्होंने इस पदकी रचना की, [illegible] दिनों महात्मा गांधीने अपने जीवनका [illegible] था और जो इस प्रकार है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे [illegible]

परदुःखे उपकार करे तोये, मन [illegible] रे।

---

* [illegible]

† [illegible]

‡ [illegible]

सकळ लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन धन जननी तेनी रे।
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमां रे;
राम नाम शुं ताळी रे लागी, सकळ तीरथ तेना तनमां रे।
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे नरसैयो तेनुं दरसण करतां, कुळ एकोतेर तार्या रे।

नरसी भक्तने अपनी साहित्य-सृजन-शक्तिके द्वारा गुजरातीमें न केवल भक्ति-रसका अपूर्व प्रवाह बहाया प्रत्युत उसे महती शक्ति प्रदानकर इस योग्य बना दिया कि उसका प्रभाव बादके साहित्यकारोंपर भी पड़ा। इनकी रचना विशेषकर 'प्रभातिया' छन्दोंमें है, जो प्रातःकालीन प्रार्थनाओंमें गाये जाते हैं।

नरसिंह मेहताका स्वर्गवास परिपक्व अवस्थामें हुआ; इसलिये उन्हें अपनी अपूर्व रचनाओंद्वारा गुजराती साहित्यकी सेवा और ऐसी भक्ति-रस-पूर्ण काव्य-सृष्टि करनेका सुअवसर मिला, जिसका प्रभाव आजतक है और आगे भी रहेगा।

इस प्रकार भारतके महान् भक्ति-साहित्यमें इन दो भक्त कवियों, मीराँ और नरसिंह मेहताने भी पर्याप्त योगदान देकर अपने नाम अमर कर दिये और सदियाँ बीत जानेपर भी उनकी रचनाओंका प्रभाव आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है।*

(अनुवादक—श्रीराजबहादुर सिंह)

गृहस्थ और भक्ति

(लेखक—बा० श्रीप्रकाशजी, राज्यपाल, बंबई प्रदेश)

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः॥

शास्त्रोंमें कहा है कि जिस प्रकार वायुका आश्रय लेकर सारे जन्तु संसारमें जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थका ही आश्रय लेकर अन्य सब आश्रमों अर्थात् वर्गोंके नर-नारी अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। अपने देशमें ऐसी अद्भुत विचारशैली कुछ दिनोंसे चली आ रही है, जिसके कारण गृहस्थको वह महत्त्व नहीं दिया जाता जो उसे देना चाहिये; और ऐसे लोगोंकी बड़ी प्रशंसा की जाती है, जो गार्हस्थ्य-जीवनसे परहेज करते हैं—उसमें या तो जाते ही नहीं या उससे विमुख होकर—उसे छोड़कर बाहर चले जाते हैं। ऐसी अवस्थामें उचित है कि हम गृहस्थको उसका उपयुक्त स्थान दें, उसका महत्त्व पहचानें और उसको अपनी शक्ति और बुद्धिभर काम करनेमें उत्साहित करें और सहायता दें।

जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है, वह स्थितिको थोड़ेमें बहुत सुन्दर प्रकारसे रख देता है। हमारे पूर्वपुरुषोंने जिस प्रकार मनुष्य-समाजको चार वर्णोंमें विभक्त किया था, उसी प्रकार उसके व्यक्तिगत जीवनको चार आश्रमोंमें विभाजित किया। प्रथम आश्रमका नाम 'ब्रह्मचर्य' बतलाया गया है। यह प्रत्येक व्यक्तिके जीवनका प्रथम खण्ड है। इसमें उसे अपने शरीर, अपने आत्मा, अपने मस्तिष्कको इस प्रकारसे सुशिक्षित और सुपरिष्कृत करनेका आदेश दिया गया है, जिससे कि वह संसारमें अपने कार्यके लिये सुचारुरूपसे प्रस्तुत हो सके। इसके बाद दूसरा आश्रम 'गार्हस्थ्य' का है। ब्रह्मचर्यके बाद व्यक्ति संसारमें प्रवेश करता है अर्थात् विवाह करके अपनी गृहस्थी स्थापित करता है और उसको समुचित रूपसे चलानेके लिये कोई उद्योग-धंधा करता है। जिस प्रकारकी शिक्षा उसने अपने प्रथमाश्रममें पायी है, उसीके अनुरूप वह संसारमें अपना काम भी निर्धारित करेगा।

सभी कार्य आवश्यक हैं, इसलिये सभी कार्योंका मान भी आवश्यक है। किसी पेशेको छोटा, किसीको बड़ा बतलाना या समझना अनुचित है। जहाँतक समझमें आता है, हमारे शास्त्रोंने ऊँच-नीचका भेद नहीं माना है; सबको अपना-अपना कार्य ठीक प्रकारसे करनेका उपदेश दिया है। भगवद्गीतामें लिखा है—'योगः कर्मसु कौशलम्'—जो कोई कार्य-कुशल है, वही योगी है। साथ ही यह भी कहा है—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'—अपना धर्म अर्थात् अपना कर्तव्य-कार्य साधारण दृष्टिसे यदि गुणहीन भी प्रतीत हो, तो भी वही अपने लिये सर्वोत्तम है। ब्रह्मचर्याश्रममें व्यक्ति अपनेको संसारके लिये तैयार करता है और गृहस्थाश्रम-

* 'Gujarat and Its Literature' से संकलित।

में उस तैयारीका उपयोग करके उसे पूरा करता है। उसके अनुसार कार्य करके वह संसारकी गतिको बनाये रखनेमें सहायक होता है। श्रीकृष्णने उचित ही कहा है—

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

ठीक ही है कि जो इस समाजरूपी चक्रको चलानेमें सहायता नहीं देता, उसका जीवन व्यर्थ है—वह आलसी और स्वार्थी है। संसारके चक्रको चलाते रहनेका कार्य गृहस्थोंके ही सुपुर्द किया गया है।

तीसरा आश्रम 'वानप्रस्थ' का बतलाया गया है। शब्दका अर्थ यह होता है कि इस आश्रममें गृहस्थीसे निकलकर वनकी ओर व्यक्ति जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह संसारसे पूर्णरूपसे पृथक् हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि संसारमें रहकर भी वह संसारका नहीं रहता। वह किसी प्रकारसे किसी दूसरेके साथ जीविकाके लिये संघर्ष नहीं करता, जैसा कि गृहस्थोंको अनिवार्यरूपसे कभी-कभी करना ही पड़ता है। वह इस संग्रामसे अलग हो जाता है; तथापि यदि कोई दूसरे लोग—ब्रह्मचारी या गृहस्थ—उसके अनुभव, विद्या आदिसे लाभ उठाना चाहें तो वह बराबर उनकी सेवा-सहायता करनेको तैयार रहता है। यदि किसी व्यक्तिको और भी आयु मिली तो वानप्रस्थके बाद वह चतुर्थाश्रम अर्थात् 'संन्यास' भी ग्रहण कर सकता है, जब कि वह पूर्णरूपसे संसारसे पृथक् हो जाता है।

आरम्भमें उद्धृत श्लोकमें कहा गया है कि जिस प्रकार बिना वायुके कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार बिना गृहस्थके दूसरे आश्रमके लोग अपना निर्वाह ही नहीं कर सकते। ब्रह्मचारियोंकी शिक्षा-दीक्षाका सारा व्यय और उत्तरदायित्व गृहस्थको ही उठाना पड़ता है। आजीविकारहित असहाय ब्रह्मचारी अपना खर्च कहाँसे लावे, यदि गृहस्थ उसे न दे। जो माता-पिता इसकी सामर्थ्य रखते हैं, वे अपने बालक-बालिकाओंका व्यय-भार स्वयं उठाते हैं। कितने ही विद्यार्थी अन्य गृहस्थोंसे सहायता पाकर अपने अध्ययनका काम चलाते हैं। यदि बहुतोंको शासनकी ओरसे सहायता मिलती है तो शासन भी गृहस्थोंसे ही कर लेकर यह सहायता दे सकता है। वानप्रस्थ और संन्यासी भी अन्य गृहस्थोंपर ही भरोसा करके अपनी गृहस्थी छोड़नेका साहस करते हैं और यदि उन्हें अन्य गृहस्थोंकी सहायता न मिले तो उनका जीवन ही सम्भव न होगा। ऐसी अवस्थामें ठीक ही [illegible] सबसे श्रेष्ठ आश्रम है। [illegible] अवलम्बित है।

खेद है कि इस बड़े गौरवपूर्ण [illegible] देशमें वह आदर नहीं है, जो होना चाहिये [illegible] ऐसे लोगोंका ही आदर होता है, जो [illegible] छोड़ देते हैं और इस प्रकार वास्तवमें [illegible] अन्य लोगोंपर आश्रित हो जाते हैं। [illegible] गया है कि गृहस्थ स्वार्थी है। [illegible] उसे स्त्री और बच्चे हैं, उसका रोजगार है—[illegible] स्वार्थी समझा जाने लगा है। पर वास्तवमें [illegible] निःस्वार्थ दूसरा कोई नहीं है। गृहस्थ [illegible] करता है, अपनी स्त्री-बच्चोंको पालता है। [illegible] वानप्रस्थियों, संन्यासियोंको सहायता [illegible] व्यय बहुत कम सुख उठाता है। [illegible] बात उसे सहते रहना पड़ता है। [illegible] आते डरते, निस्सङ्कट [illegible] यह अनुभव होगा, विशेषकर [illegible] का। उसीके पास सब लोग [illegible] प्रकारकी सहायताकी लोग आशा रखते हैं। [illegible] न दे सके तो उसे कटु वचन भी सुनने पड़ते हैं। [illegible] काम करता रहता है और अपना [illegible] व्यतीत करता है। [illegible] सो भी उन लोगोंके [illegible] करता रहता है, [illegible]

इसमें कोई संदेह नहीं कि [illegible] घेरे हुए रहती है कि वह [illegible] अच्छा ही है कि [illegible] सकते तो संसार ही [illegible] जो गार्हस्थ्य-जीवनके [illegible] है, उससे कुछ [illegible] कोई संदेह नहीं कि जो [illegible] उनमें प्रवृत्ति तो स्वाभाविक [illegible] लोग स्वीकार करते ही हैं। [illegible] जाती। पर [illegible] अनिवार्य रूपसे [illegible] कल्याणके लिये [illegible] वे इनमें प्रवेश करें तो [illegible]

की सम्भावना है। पर हम देख रहे हैं कि बहुत से उपयुक्त लोग पदोंको अस्वीकृत कर देते हैं, जिससे कोई उन्हें यह न कह सके कि वे स्वार्थी या लोभी हैं।

कामका बोझा उठानेकी अपेक्षा काम छोड़नेको अधिक गौरव माना जाने लगा है। अवस्था यह है कि ऐसे लोग कामकी झंझटसे भी बचते हैं और प्रशंसाके भी पात्र बन जाते हैं। जो झंझटमें पड़ते हैं, बड़े परिश्रमसे और प्रतिकूल स्थितियोंमें अपना कर्तव्यकर्म करते हैं, उनकी भर्त्सना होती रहती है। हमारे लिये उचित है कि ऐसे लोगोंका, जो कठिन कार्यको उठाते हैं, उसे समुचित रूपसे सम्पन्न करते हैं और उसके कारण हर प्रकारका कष्ट सहते हैं, हम उपयुक्त रूपसे आदर-सत्कार करें। संसारके जो देश इस समय समृद्धिशाली हैं, जो समाज इस समय पुष्ट और वैभवयुक्त हैं, वहाँ यही प्रथा है। हमें भी इसे स्वीकार करना चाहिये। तभी हम अच्छे लोगोंको सार्वजनिक कार्यकी तरफ आकृष्ट कर सकेंगे और इस प्रकार अपने देश और समाजको दृढ़ और पुष्ट करनेमें सहायक हो सकेंगे।

हमारी प्रचलित मनोवृत्तिका दूसरा दुःखद परिणाम यह हुआ है कि जब गार्हस्थ्य-जीवन और विविध जीविकाके साधनोंके प्रति सम्मानकी भावना नहीं है तो गृहस्थोंका मन छोटा हो जाता है और वे अपने कार्योंकी ओर उतना ध्यान नहीं देते, जितना उन्हें देना चाहिये और अनुकूल परिस्थिति होनेपर देते भी। यह देखा जाता है कि हमारे घर प्रायः अव्यवस्थित रहते हैं और जबतक हमारी अपने घरके प्रति गौरव-बुद्धि न होगी, तबतक हम उनकी व्यवस्था ठीक नहीं कर सकेंगे। हम अपने पेशेके काम भी ठीक प्रकारसे नहीं करते और अन्य लोगोंको, जो हमारी सचाई और सफाईमें विश्वास होना चाहिये, वह नहीं होता। इस सबका एकमात्र कारण यह है कि हम गृहस्थको वह आदरका स्थान नहीं दे रहे हैं, जो उसे पानेका पूरा अधिकार है। वह आधे मनसे ही काम करता है। प्राकृतिक प्रेरणाओं और लौकिक आवश्यकताओंके ही कारण वह गृहस्थी और पेशेका बोझ उठाता है। उसके हृदयमें एक प्रकारकी विवशताकी भावना बनी रहती है।

आज हमारा गृहस्थ यह समझता है कि जो कुछ हम करते हैं, अपने दिन-प्रतिदिनके जीवन-निर्वाहमात्रके लिये अनिवार्य है। इस कारण हमको इसके लिये कोई मान और आदर नहीं मिलता। यदि हमें यह न करना पड़ता तो ही अच्छा होता। जब ऐसी भावना है, तब कोई भी अपना पूरा मन लगाकर काम नहीं कर सकता। यदि हम गृहस्थका आदर करना सीखें अर्थात् यदि हम एक दूसरेको समुचित मान प्रदान करें—क्योंकि हम सभी गृहस्थ हैं—और उन लोगोंका उतना अधिक सम्मान न करें, जो संसारकी जिम्मेदारियोंसे भागते हैं, तो हम अपने जीवनको ही बदल देंगे। और हममें एक नयी स्फूर्ति, जागृति, शक्ति और आत्म-सम्मानकी भावना पैदा हो जायगी, जिससे हम भी लौकिक कार्योंमें समुचित उन्नति कर सकेंगे और अपनी गृहस्थीको सुखी बनाकर और अपने पेशेको ठीक तरह चलाकर एक नये समृद्धिशाली समाजकी सृष्टि कर सकेंगे और दूसरे देशोंकी केवल नकल न करके और उनसे ही सब वस्तुएँ न लेकर हम भी उन्हें कुछ दे सकेंगे। हमें याद रखना चाहिये कि हरेक व्यक्तिका यह धर्म है कि वह दूसरोंको कुछ अपने आचार-विचारसे सिखला सके और प्रत्येक राष्ट्रका भी यह कर्तव्य है कि वह दूसरोंको कुछ विशेष बातें बतलाकर सारे मनुष्य-समाजकी उन्नतिमें सहायक हो।

गृहस्थीसे ऊबकर उससे समयसे पहले भागना उचित नहीं है। साथ ही समयके बाद उसमें फँसे रहना भी शोभा नहीं देता। कथा है कि अपनी स्त्रीसे किसी कारण अप्रसन्न होकर कोई गृहस्थ घरसे जाने लगे। स्त्रीने ठीक ही कहा—

> घर छोड़े गर हर मिलि, तो आज हि छोड़ो कंत।
> घर छोड़े घर घर फिरो, तो घर ही रहो वसंत॥

सब कार्यको समयसे करना चाहिये, इसीमें कल्याण है। इसीमें आत्मसम्मान है। इसीमें शोभा और श्रेय है, तथा इसीमें धार्मिक सच्ची भक्ति भी है। जिस कामको हम उठाते हैं, उसे यदि हम ठीक प्रकारसे करते हैं तो हम सच्चे भक्त हैं।

हम अपनी वास्तविक भक्तिका परिचय इस प्रकार दे सकते हैं कि हमपर सब लोगोंको विश्वास रहे और किसीको भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे हमारे कारण धोखा न हो। हमारे देशमें कितने ही नकली भक्त पैदा हो गये हैं, जिनके वचन और कर्ममें बहुत अन्तर हो गया है। इसमें किसीका दोष नहीं है। वातावरण ही ऐसा हो गया है कि अनिवार्य-रूपसे बहुत लोगोंको इच्छा न होते हुए भी इस प्रकारसे अपने जीवनको परस्पर-विरोधी अङ्गोंमें विभक्त करना पड़ता है। अब समय आ गया है जब हमें सब बातों और स्थितियों-का समन्वय करना चाहिये। भगवान्‌की सेवा ही सच्ची भक्ति है और भगवान् सब समय सर्वत्र व्याप्त हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

'जिस परमात्मासे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जो सारे जगत्में सदा व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजकर—उसकी सेवा करके मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त होता है ।'

अतएव गृहस्थ अपनी स्वाभाविक प्रत्येक क्रियासे भगवान्की यथार्थ भक्ति कर सकता है और अपनी कमाईके द्वारा समाजके सब लोगोंकी सेवा करके अवशेष अमृतान्नसे अपना जीवन-निर्वाह करता हुआ अन्तमें मानव-जीवनकी परम सफलतारूप परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है । सबकी सेवा ही यथार्थ यज्ञ है । गीतामें ही भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३ । १३)

'(सबको उसका हिस्सा देकर [illegible]) [illegible] बचे हुए अन्नको खानेवाले मनुष्य सब पापोंसे छूट [illegible] हैं और जो पापीलोग केवल अपने लिये ही [illegible] — कमाते-खाते हैं, वे पाप ही खाते हैं ।'

यह महत्त्वकार्य सद्गृहस्थ ही भलीभाँति सम्पन्न [illegible] है । जो इस कार्यमें अच्छी तरह [illegible] हमें ऐसे सद्गृहस्थोंकी प्रचुर संख्यामें आवश्यकता है । [illegible] है ऐसे सद्गृहस्थ बनने रहेंगे और देशकी [illegible] साथ ही मानवजीवनके परम [illegible] पालन [illegible] जीवन होंगे ।

भक्ति

(लेखक—डा० श्रीसम्पूर्णानन्दजी, मुख्यमन्त्री, उत्तरप्रदेश)

मैं 'कल्याण'के सम्पादक महोदयके अनुरोधका समादर करके भक्तिके सम्बन्धमें कुछ लिख रहा हूँ; परंतु मुझे यह आशङ्का है कि इस अङ्कमें जितने भी लेख होंगे, उनके लेखकोंमेंसे स्यात् ही किसीकी सम्मति मेरा समर्थन करेगी।

मेरी कठिनाई यह है कि परमार्थ-सम्बन्धी किसी विषयकी चर्चा करते समय मैं इस बातको आँखोंसे ओझल नहीं कर सकता कि अभ्युदय और निःश्रेयसके सम्बन्धमें हमारे लिये श्रुति एकमात्र स्वतःसिद्ध प्रमाण है । अभ्युदयकी बात जाने दीजिये; निःश्रेयसके विषयमें कोई दूसरा ग्रन्थ, किसी महापुरुषका कथन, श्रुतिका समकक्ष नहीं माना जा सकता । यदि भक्ति श्रेयस्कर है तो उसका पोषण श्रुतिसे होना चाहिये । यहाँ 'पोषण' शब्दसे मेरा तात्पर्य स्पष्ट आदेशसे है । यदि भक्तिका विवेचन कहीं असंदिग्ध शब्दोंमें श्रौतवाङ्मयमें मिल जाय, तब तो किसी ऊहापोहके लिये जगह रहती ही नहीं । यदि ऐसा न हो तो फिर तर्कके लिये जगह निकलती है । वेद-मन्त्रोंकी मीमांसाके लिये सर्व-सम्मत नियम बने हुए हैं । यास्क, जैमिनि और व्यास—इस क्षेत्रके अधिकृत नेता हैं । यदि कहीं वेद-वाक्योंकी शास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार मीमांसा करनेसे भक्तिकी पुष्टि होती हो, तब तो किसी आपत्तिके लिये कोई स्थल नहीं रह जाता । अन्यथा खींचातानी करके वेदार्थको तोड़-मरोड़ करना और उससे मनमाने अर्थ निकालना [illegible] है और श्रुति-मर्यादाके सर्वथा विरुद्ध है ।

मैं यह दावा नहीं कर सकता कि [illegible] उपलक्षित सारे वाङ्मयका अध्ययन किया है । [illegible] कहना यथार्थ न होगा कि मेरे द्वारा [illegible] पन्नोंपर दृष्टिपात नहीं हुआ है । [illegible] लीजिये । जहाँतक मैं देख पाया हूँ, [illegible] किसी भी प्रसिद्ध शाखामें यह शब्द नहीं [illegible] कहीं आ भी गया होगा तो उसका [illegible] नहीं होगा, जिस अर्थमें हम उसका [illegible] करते हैं । अब 'ब्राह्मण'को लीजिये । [illegible] छोड़कर ब्राह्मणोंका शेष भाग तो [illegible] है । उसमें भक्तिकी बात हो नहीं [illegible] । [illegible] भाग बच रहता है । इस [illegible] पुस्तकें पुरानी नहीं हैं । [illegible] सचलम्भदास [illegible] है । [illegible] शाण्डिल्योपनिषद् [illegible] इस कोटिमें आते हैं । मैं [illegible] कुछ नहीं कहता कि [illegible] प्रामाणिकता बढ़ाकर [illegible] परंतु [illegible] सहमत होंगे कि जिन [illegible]

आचार्योंने भाष्य किये हैं, वे निश्चय ही प्रामाणिकरूपसे उपनिषद् नामभाक् कृतियाँ हैं। शंकरने श्वेताश्वतरपर भी भाष्य किया है। परंतु इस पुस्तककी गणना 'ईशावास्य' आदि दस उपनिषदोंके बराबर नहीं होती। अब यदि इन दस ग्रन्थोंको देखा जाय तो इनमें भी भक्तिका कहीं पता नहीं चलता।

मोक्षके उपाय सभी उपनिषदोंमें बताये गये हैं, परंतु कहीं भी इस प्रसङ्गमें भक्तिकी चर्चा नहीं आती। नचिकेता-को यमने—

विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
(कठ० २।३।१८)

—इस ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधिकी दीक्षा दी, जिससे नचिकेताको मोक्षकी प्राप्ति हुई। वहीं यह भी लिखा है कि जो दूसरा कोई भी इस मार्गका अवलम्बन करेगा, वह मुक्त होगा। छान्दोग्यमें कई विद्याओंका उपदेश है, परंतु उनमें भक्तिकी गणना नहीं है। इसका तात्पर्य क्या है? क्या वैदिक कालमें कोई मुक्त नहीं हुआ? क्या जिसको वे लोग मुक्ति मानते थे, वह कोई दूसरी चीज थी? क्या वेद मोक्षके विषयमें प्रमाण नहीं हैं? यदि यह बात हो तो फिर हिंदुओंके पास कोई भी धार्मिक आधार नहीं रह जायगा; क्योंकि श्रुतिको छोड़कर ऐसा एक भी ग्रन्थ नहीं है, जो सर्वमान्य हो।

बहुधा यह कहा जाता है कि कलियुगमें मोक्षका भक्ति ही एकमात्र साधन है। दूसरे युगोंके मनुष्य आजकी अपेक्षा अधिक समर्थ होते थे। अतः उनका काम दूसरे साधनोंसे चल जाता था। मैं ऐसा समझता हूँ कि यह कथन निराधार है। यह माननेका कोई भी आधार नहीं है कि प्राचीन कालमें लोग आजकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते थे। किसी-किसी पौराणिक ग्रन्थमें भले ही लोगोंकी आयु सहस्रों वर्षकी बतायी गयी हो, परंतु सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद पुकार-पुकारकर कहता है—शतायुर्वै पुरुषः, पुरुषकी आयु सौ वर्षकी है। वेद आजसे कितने वर्ष पहलेकी बात कहता है, यह भले ही विवादास्पद हो; परंतु बुद्धदेवके समयके, जिसको २५०० वर्ष हो गये, लिखित प्रमाण तो मिलते ही हैं। उस समय भी पूर्णायु लगभग १०० वर्षकी थी। मिस्रसे ५००० वर्ष पूर्वके जो लेख उपलब्ध होते हैं, उनसे भी इससे अधिक आयुका पता नहीं चलता। दीर्घायु ही नहीं, पुराने समयमें अल्पायु व्यक्ति भी होते थे। भगवान् शंकराचार्यने ३२ वर्षकी आयुमें ही अपनी इहलीला समाप्त कर दी। जो प्रमाण मिलते हैं, उनसे यह भी सिद्ध नहीं होता कि पहलेके लोग आजकी अपेक्षा अधिक डील-डौलवाले होते थे। जिन ग्रन्थोंका निर्माण उन लोगोंने किया है, आजका मनुष्य उनको भी पढ़ता है और उनसे कहीं अधिक और जटिल ग्रन्थोंको भी पढ़ता है। उसने भले ही अपनी प्रतिभाका कुछ दिशाओंमें दुरुपयोग किया हो, परंतु प्रतिभाके अस्तित्वमें संदेह नहीं किया जा सकता। अतः आजके मनुष्यको किसी भी पहले समयके मनुष्यसे हीन मानना असिद्ध है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि जो उपाय प्राचीन समयके लोगोंके लिये सुसाध्य थे, वे आजकलके मनुष्यके लिये दुस्साध्य हैं। फिर इस काल-के लिये नये और सरल उपायोंकी आवश्यकता क्यों पड़ी? क्या सचमुच कोई सरल उपाय निकला है और यदि निकला है तो क्या वह वेदोक्त प्राचीन उपायोंसे भिन्न है, अथवा किसी प्राचीन परिपाटीको ही नया नाम दे दिया गया है? शाण्डिल्य-सूत्रके अनुसार भक्तिकी परिभाषा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

यह स्मरण रखना चाहिये कि यजुर्वेद-कालके पहले वेदमें 'ईश्वर' शब्दका व्यवहार नहीं आता। शुक्ल-यजुर्वेदके अवतरणकी कथा स्वयं यह बतलाती है कि वह सबके पीछे प्रकट हुआ। उसमें भी 'ईश्वर' शब्द रुद्रके लिये ही आया है। इसको जाने दिया जाय। मान लिया जाय कि ईश्वरका वहाँ भी वही अर्थ है, जो आज साधारण बोलचालमें आता है। यदि यह माना जाय कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' है तो बहुत अंधेर हो जायगा। पुण्य और अपुण्यके लिये कोई आधार नहीं रह जायगा। ऐसी कल्पनाका साधारण लोगोंपर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ेगा। ऐसा माना जाने लगा है कि मनुष्य चाहे कितने भी दुष्कर्म करे, भगवान्का नाम स्मरण करनेसे सब पापोंसे छूट जाता है! कहाँ तो श्रुतिकी यह शिक्षा थी—

'नाविरतो दुश्चरितात्' आदि।

—दुश्चरित्रसे विरत हुए बिना कोई मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता और कहाँ यह धारणा कि किसी भी प्रकारकी पूजा-अर्चना मोक्षका द्वार खोल देती है। उसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह पड़ा है कि सच्चरित्रताका मोक्षकी प्राप्तिमें कोई स्थान ही नहीं रह गया। लाखों मनुष्य सत्यनारायणकी कथा पढ़वाते हैं, जिसमें कहीं भी सत्यनिष्ठाका उपदेश नहीं है। भगवान्

मानो उत्कोचके भूखे हैं। 'भक्तमाल' प्रसिद्ध भक्त नाभाजीकी कृति है। उसमें बहुत-से भक्तोंकी कथाएँ हैं। ऐसे भी भक्तोंका उल्लेख है, जो चोरी करके मन्दिर बनवाते हैं और भगवान् उनसे प्रसन्न होते हैं। तोतेको पढ़ानेवाली गणिका और पुत्रको नारायण नामसे पुकारनेवाला अजामिल दोनों गोलोकगामी होते हैं। कोई भी सिद्धान्त हो, उसके लिये फलेन परिचीयते का तर्क लागू होता है। जिस किसी सिद्धान्तकी शिक्षा मनुष्यमें इस प्रकारकी प्रवृत्ति उत्पन्न करती हो, वह निश्चय ही दूषित है। भक्तिका स्वरूप कुछ भी हो, परंतु बार-बार यह कहना कि वह बड़ा सरल मार्ग है, भ्रामक है। मोक्षका उपाय कदापि सरल नहीं हो सकता। इसके लिये कठोर व्रतकी आवश्यकता होगी और उस मार्गपर चरित्रहीन व्यक्तिके लिये कदापि स्थान नहीं हो सकता। भगवान्के नामपर दम्भ और दुराचार उसी प्रकार अक्षम्य हैं, जैसे किसी देवी और देवताका नाम लेकर जिह्वाके स्वादके लिये निरीह पशुकी बलि देना। प्राचीन कालमें मनुष्यको कर्मपर भरोसा था और वह आत्मनिर्भर होता था। उसके लिये उपनिषद्का यह उपदेश था—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः; परंतु जबसे उसको सरल मार्गका प्रलोभन मिला और ऐसे ईश्वरका परिचय बताया गया, जो कर्मको अपनी इच्छासे काट सकता है, तबसे वह पथभ्रष्ट हो गया।

'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'
'होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावइ साखा॥'

'सुने री मैंने निर्बलके बल राम।'

—ऐसे उपदेशोंका प्रचार निश्चय ही मनुष्यकी आत्मनिर्भरताको कम करता है और वह इस बातको भूलकर कि मोक्षका मार्ग—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

—छूरेकी तीखी धारके समान दुर्गम है, उसपर चलना कठिन है, सीधे-सादे रास्तोंके भ्रमजालमें पड़ जाता है और यह समझता है कि ईश्वर उसको अवश्य ही भवसमुद्रके पार कर देगा। जिस अगाध समुद्रको पार करनेकी बात सोचकर महातपस्वियोंके हृदय काँपते हैं, उसको वह गोष्पदके समान लाँघ जाना चाहता है! यह ठीक है कि यो यच्छ्रद्धः स एव सः—जो जिसका निरन्तर ध्यान करता है, वह तद्रूप हो जाता है। [illegible] चित्त [illegible] भगवद्रूपके चिन्तनमें लगा रहेगा, वह [illegible] जायगा। परन्तु चित्त लगना [illegible] नहीं [illegible] कितनी शक्ति है, इसका कुछ [illegible] अनुभव [illegible]। किसीसे संकल्प करके प्रेम करना बड़ा कठिन [illegible]। यह निश्चय करके कि अब मैं भगवान्‌का भक्त हूँ [illegible] करूँगा, और लोगोंकी ओरसे चित्तको हटा [illegible] करनेमें सरल प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः बहुत [illegible] चीज है। जब किसी दृश्य व्यक्तिके साथ प्रेम करना [illegible] होता है, तब अदृश्य व्यक्तिके प्रति—ऐसी [illegible] अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् [illegible] होगी। अनुरक्तिका आभास हो सकता है, [illegible] चित्तको एक प्रकारके आनन्दकी अनुभूति भी [illegible] है; परंतु 'परानुरक्ति' बहुत कठिन है। [illegible] कि भक्तिका मार्ग सरल है।

जब भक्ति सरल नहीं है और [illegible] है, तब फिर वह है क्या? मेरी [illegible] उत्तर 'पातञ्जलयोग-दर्शन' में मिलता है। [illegible] की बात नहीं जाती [illegible] सूत्र हैं—

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।' 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'
'तस्य वाचकः प्रणवः।' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।'

जैसा कि श्रीकृष्णने [illegible] अर्थात् जो योगमें ऊँची शक्ति प्राप्त कर [illegible] पराकाष्ठातक पहुँचनेसे पहले ही [illegible] पवित्र श्रीमानोंके घर जन्म लेता है—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

अथवा जन्मसे ही उसकी प्रवृत्ति [illegible] या तो अपने [illegible] होकर वह [illegible] को निकली [illegible]

[illegible] करते हैं, परन्तु वे [illegible] होते हैं। [illegible] किया दूसरी [illegible] नहीं है। [illegible] महत्त्व है। [illegible]

होते हैं, साधारण साधकको इनके लिये कठिन परिश्रम करना पड़ता है। वह आगे बढ़ता है, परंतु फिर कोई त्रुटि उसको पीछे खींच लेती है। कबीरके शब्दोंमें—

कहत कबीर टुक बाग ढीली करै,
उलटि मन गगनसे जमीं आवै।

उसको नियमोंका भी बहुत अभ्यास करना पड़ता है और नियमोंमें 'ईश्वर-प्रणिधान' की भी गिनती है। अकेला 'ईश्वर-प्रणिधान' पर्याप्त नहीं है। जब वह यमों और दूसरे नियमोंके साथ अभ्यासका विषय बनाया जाता है, तभी वह कल्याणकारी होता है। 'ईश्वर-प्रणिधान' के बिना भी योगका अभ्यास हो सकता है, परंतु उसमें कभी-कभी स्खलनकी आशङ्का होती है और आत्मनिर्भरता दुरभिमानमें बदल सकती है। ईश्वर-प्रणिधान इस दोषका परिहार कर देता है। इसीलिये श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि 'भक्ति' नामका मोक्षके लिये कोई स्वतन्त्र साधन नहीं है। वह या तो 'ईश्वर-प्रणिधान'का नाम है और या योगाभ्यासकी क्रियाका। धारणाके लिये अनेक अवलम्बन हो सकते हैं, जिनमेंसे कुछका उल्लेख विभिन्न विद्याओंके नामसे उपनिषदोंमें आया है; और भी अनेक प्रकारके अवलम्ब हो सकते हैं। वीतराग-पुरुषके रूपमें साधक अपने उपास्य या गुरुको धारणाका सहारा बना सकता है। किसी भी अभीष्ट मन्त्रका जप कर सकता है अथवा उन उपायोंसे काम ले सकता है, जिनकी दीक्षा सुरत-शब्द-योगके आचार्योंने दी है। किसी भी अवलम्बनका सहारा लिया जाय, परिणाम एक ही होगा, अनुभूति एक ही होगी। यदि भक्ति योगाभ्यासका दूसरा नाम नहीं है और योग-दर्शनोक्त ईश्वर-प्रणिधानका भी अपर नाम नहीं है तो वह मृग-मरीचिका है। प्राचीन मार्गोंको असाध्य बताने और आजकलके मनुष्योंको दुर्बलताका पाठ पढ़ानेका पिछले कुछ सौ वर्षोंमें इस देशमें पर्यावरण छा गया है। दुर्बलको लकड़ीका सहारा चाहिये ही। मार्ग तो वही प्रशस्त योग-मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है, परंतु जिसको बार-बार दुर्बल कहा गया, उससे इस कठिन मार्गपर चलनेके लिये कैसे कहा जाय। इसलिये 'भक्ति' नाम प्रचलित हुआ। जो सच्चे साधक थे, उनकी तो कोई क्षति नहीं हुई।

नाम भले ही नया हो, किंतु वस्तु वही पुरानी थी, वही चिर-अभ्यस्त सनातन कालसे परीक्षित 'राम-बाणवत्'—मूल ओषधि थी। उन्होंने उसीको ग्रहण किया और निःश्रेयस-पदको प्राप्त किया। परंतु साधारण साधक धोखेमें पड़ा रह गया। उसका अकल्याण हुआ। दुर्बल बताकर सन्मार्गसे तो वह हटा दिया गया और दूसरा कोई मार्ग है नहीं, इसलिये भटकता रह गया।

विचित्र तमाशा देखनेमें आता है। कबीर, नानक-जैसे संत स्वयं योगी थे, योगके ही उपदेष्टा थे, परंतु अपनी रचनाओंमें योगका खण्डन करते थे। इन महात्माओंके नामपर प्रचलित पंथोंमें योगक्रियाओंको 'भजन' कहा जाता है। अच्छे योगाभ्यासीको भजनानन्दी कहा जाता है।

मेरा यह दृढ़ मत है कि मोक्षके लिये केवल वही एक मार्ग है, जिसका उपदेश यमने नचिकेताको दिया था। नचिकेताने श्रवण और मननद्वारा वेदोंके सिद्धान्तोंका ग्रहण किया और निदिध्यासनकी अवस्थामें योगका अभ्यास किया। भले ही किसी आग्रहके कारण 'योग' शब्दका बहिष्कार करके इसको भक्ति नामसे कहा जाय, परंतु योगसे भिन्न भक्ति नामका कोई दूसरा साधन नहीं है। किसी दूसरे साधनपर विश्वास करना जन्म-जन्मान्तरके लिये अपनेको दुःखमें डालना है। योगके द्वारा ही चित्तके मल, विक्षेप और आवरण दूर हो सकते हैं और जीव अपनी शुद्ध-बुद्धिस्वरूपमें स्थित हो सकता है। एक और बात है, जबतक 'अहमन्यः, अयमन्यः' का भाव बना रहेगा, कितनी ही झीनी क्यों न हो जाय द्वैत-प्रतीति बनी ही रहेगी, तबतक मोक्ष नहीं हो सकता। जहाँतक भक्तिकी बात है, उसमें द्वैतभाव निश्चयरूपसे निहित है; बहुत-से भक्तोंने किसी-न-किसी रूपमें यह कहा है कि हम मोक्ष नहीं चाहते, अनन्त कालतक भगवान्के सौन्दर्यके आनन्दका अनुभव करते रहना चाहते हैं। यह अनुभव कितना भी सुखद क्यों न हो, द्वैतमूलक है और यत्र द्वैतं तत्र भयम्। उपनिषत्-प्रोक्त साधन ही जीवके लिये पूर्ण कल्याणका देनेवाला है, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहता हूँ कि जिन लोगोंको ईश्वरके प्रति परानुरक्ति प्राप्त हो भी जायगी, उनको जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। गीताके अनुसार जीव शरीर-त्यागके समय जिस भावका स्मरण करता है, उसीको प्राप्त होता है। भगवान्की भावना करनेवाला भगवान्को तो प्राप्त होगा, मोक्षको नहीं। कितना ही हलका क्यों न हो, जीव और ईशके बीचमें परदा रहेगा। यह

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तियोग

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रोंका और विशेषकर उपनिषदोंका सार है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने महाभारतके भीष्मपर्वमें कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(४३।१-२)

'केवल गीताका ही भलीभाँति गान (श्रवण, कीर्तन, पठन, पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ-भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है। गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं। श्रीगङ्गा सर्वतीर्थमयी है और मनुस्मृति सर्ववेदमयी है।'

इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी यह कहा है कि सब शास्त्रोंमें जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ तू मुझसे सुन—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

(गीता १३।४)

'यह तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे वर्णन किया गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक निरूपित है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।'

अतएव हमलोगोंको गीताका भलीभाँति अध्ययन और मनन करना चाहिये; क्योंकि मनन करनेपर उसमें भरे हुए गोपनीय तत्त्वका पता लगता है। अब यहाँ गीतामें वर्णित भक्तिके विषयमें कुछ विचार किया जाता है—

गीता भक्तिसे ओत-प्रोत है। गीतामें कहीं तो भेदोपासनाका वर्णन है और कहीं अभेदोपासनाका। कितने ही सज्जन कहते हैं कि पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोगकी, बीचके छः अध्यायोंमें भक्तियोगकी और अन्तके छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता है। पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोग और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता तो मानी जा सकती है; किंतु सातवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतक तो भक्ति ही भक्ति भरी है; अतः इन सभी अध्यायोंको भक्तियोग ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं; क्योंकि इनमेंसे अधिकांशमें तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारका ही वर्णन है; किसी-किसी स्थलमें निर्गुण-निराकारकी उपासनाका भी उल्लेख है। इन छहों अध्यायोंमें कुल २०९ श्लोक हैं। इनमें जो एक गोपनीय रहस्यकी बात है, उसका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।

इन सभी श्लोकोंपर भलीभाँति ध्यान देकर देखनेसे पता लगता है कि प्रायः प्रत्येक श्लोकमें ही किसी-न-किसी रूपमें भगवद्वाचक पद आया है। जहाँ भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं, वहाँ तो अहम्, माम्, मया, मत्तः, मम, मे, मयि और अस्मि आदि पदोंका प्रयोग है एवं अर्जुनके वचनोंमें त्वम्, त्वाम्, त्वया, त्वत्तः, तव, ते, भवान् और असि तथा जनार्दन, पुरुषोत्तम, देव, देवेश, जगन्निवास आदि पदोंका प्रयोग है। इसी प्रकार संजयके वचनोंमें भी स्पष्ट ही हरि, देव, देवदेव, केशव, कृष्ण, वासुदेव आदि भगवद्वाचक शब्द आये हैं। अधिकांश शब्द तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारके ही वाचक हैं, पर कितने ही शब्द निर्गुण-निराकारके वाचक भी हैं—जैसे ॐ, अक्षर, अव्यक्त, ब्रह्म आदि।

इन २०९ श्लोकोंमेंसे अधिकांशमें भगवान्‌के द्योतक शब्द ही हैं, केवल इनका दसवाँ अंश अर्थात् २१ श्लोक ऐसे हैं, जिनमें भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं। किंतु वे भी भाव और प्रकरणके अनुसार भक्तिसे पृथक् नहीं हैं। इनमेंसे आठवें अध्यायमें ऐसे ९ श्लोक हैं, शेष पाँच अध्यायोंमेंसे प्रत्येकमें दो या तीन श्लोकसे अधिक ऐसे नहीं हैं। पाँचों अध्यायोंमें कुल मिलाकर १२ श्लोक ही ऐसे आये हैं, जिनमें प्रकटरूपसे भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं—जैसे सातवें अध्यायका २०वाँ और २७वाँ; नवें अध्यायका २रा, १२वाँ और २१वाँ; दसवेंका ४था और २६वाँ; ग्यारहवेंका ६ठा और १०वाँ एवं बारहवेंका १२वाँ, १३वाँ और १८वाँ।

जिनमें कर्मयोगकी प्रधानता मानी गयी है, उन अध्यायों (१ से ६ तक) में भी कोई भी अध्याय भक्तिके वर्णनसे

खाली नहीं है। पहले अध्यायमें संजय और अर्जुनके वचनोंमें माधव, हृषीकेश, अच्युत, कृष्ण, केशव, मधुसूदन, जनार्दन, वार्ष्णेय आदि भक्तिभावसे ओतप्रोत भगवद्वाचक शब्द आये हैं। दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें तो भगवत्-शरणागतिका भाव स्पष्ट ही है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

'साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण (शरण) होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है।'

इसी प्रकार तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सब कर्म भगवान्‌के समर्पण करनेका भाव है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।'

चौथे अध्यायमें तो स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'मैं साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हूँ और श्रेष्ठ पुरुषोंके उद्धार, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मकी संस्थापनाके लिये समय-समयपर अवतार लेता हूँ।'

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४।८)

'श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

इसके बाद भगवान्‌ने अपने जन्म और कर्मकी दिव्यता जाननेका महत्त्व बतलाया है। जन्मकी दिव्यता यह कि भगवान्‌का जन्म अलौकिक है, मनुष्योंकी भाँति पुण्य-पापके फलस्वरूप उत्पन्न नहीं है तथा न वे प्रकृतिके परतन्त्र ही हैं। वे केवल उत्पन्न और विनाश होनेवाले दिखलायी पड़ते हैं, मनुष्योंकी भाँति जन्मते-मरते नहीं। अतः वास्तवमें उनका जन्म-मरण नहीं होता, केवल प्राकट्य और तिरोभाव होता है। उनका विग्रह योगमायासे दोषरहित और चिन्मय होता है (गीता ४।६)। वे लोकोंपर मायाका पर्दा डाल लेते हैं, इसलिये उनको कोई पहचान नहीं सकता (गीता ७।२५)। जो भक्त भगवान्‌के शरण होकर उनको श्रद्धा-प्रेमसे भजता है, वही उनको यथार्थरूपसे जानता है। वे अपनी इच्छासे प्रकृतिको वशमें करके स्वयं अजन्मा और अविनाशी रहते हुए ही श्रेष्ठ पुरुषोंके उद्धार और धर्मके प्रचारके लिये अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं (गीता ४।८)। यह उनके जन्मकी दिव्यता है। उनके कर्मकी दिव्यता यह है कि उनकी सारी चेष्टाएँ अभिमान, आसक्ति और कामनासे रहित एवं केवल लोकोंके कल्याणके लिये ही होती हैं (गीता ४।१३-१४)। इसलिये उनके कर्म दिव्य हैं। इस प्रकार समझकर इस रहस्यको जाननेवाला ही भगवान्‌के जन्म और कर्मकी दिव्यताका तत्त्व जानता है।

इस चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिकी महिमा यहाँतक कह दिया कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४।११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

पाँचवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तो भगवान्‌के तत्त्व, स्वरूप, प्रभाव और गुणोंका तत्त्व जाननेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाया ही है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५।२९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस प्रकार भगवान्‌को यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंका महेश्वर तथा सम्पूर्ण

प्राणियोंका सुहृद्—इन तीनों लक्षणोंसे युक्त जानता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है या इनमेंसे किसी एकसे युक्त जाननेवालेको भी शान्ति मिल जाती है। इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌को उपर्युक्त लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त जाननेवालेको भी शान्ति मिल जाती है; फिर तीनों लक्षणोंसे युक्त जाननेवालेको शान्ति मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है !

यहाँ भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता कहनेका अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान, तप आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबका पर्यवसान परमात्मामें ही होता है। जैसे आकाशसे बरसा हुआ जल समुद्रमें प्रवेश कर जाता है, वैसे ही सारे कर्म परमात्मामें ही समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जानकर नवें अध्यायके २७ वें, २८ वें श्लोकोंमें वर्णित भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करनेवाला पुरुष शान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। भाव यह है कि पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता आदि सभी प्राणियोंमें भगवान् विराजमान हैं; अतः उनकी सेवा-पूजा ही भगवान्‌की सेवा-पूजा है (गीता १८ । ४६)—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे सेवा करनी चाहिये। जो इस प्रकार सबकी सेवा करता है, वह सेवा करते समय अर्थात् अतिथिको भोजन, गायको घास, कौए आदिको अन्न एवं वृक्षोंको जल प्रदान करते समय यही समझता है कि भगवान् ही अतिथिके रूपमें भोजन कर रहे हैं, वे ही गायके रूपमें घास खा रहे हैं, वे ही कौए आदिके रूपमें अन्न ग्रहण कर रहे हैं और वे ही वृक्षके रूपमें जल पी रहे हैं। इस प्रकारके भावसे भावित होकर सबकी निष्काम सेवा करना ही तत्त्वसे भगवान्‌को यज्ञ-तपोंका भोक्ता जानना है और ऐसा जाननेवाला मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है।

भगवान्‌को सर्वलोकमहेश्वर जाननेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं। वे ही समस्त संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको नियन्त्रणमें रखते हैं; इसलिये उनको परमात्मा, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे कहा गया है (गीता १५ । १७-१८)। जो उन परमात्माको क्षर-अक्षरसे तथा सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंसे श्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी और सर्वेश्वर समझ लेता है, वह फिर उन परमात्माको छोड़कर अन्य किसीको भी कैसे भज सकता है। स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक पदार्थोंसे न तो वह प्रेम करता है और न उनका चिन्तन ही करता है। वह तो सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और निष्कामभावपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का ही भजन-ध्यान करता है (गीता १५ । १९)। अतः उपर्युक्त प्रकारसे समझना ही भगवान्‌को तत्त्वसे सर्वलोकमहेश्वर जानना है और इस प्रकार जाननेवाला मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।

भगवान्‌को सब भूतोंका सुहृद् जाननेका भाव यह है कि भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित और प्रेम भरा रहता है। उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे शून्य नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं। जो पुरुष इस रहस्यको जान लेता है, वह फिर प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको परम दयालु परम प्रेमी परमेश्वरका दया और प्रेमसे ओत-प्रोत मङ्गलमय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है तथा भगवान्‌का अनुयायी और परम प्रेमी बन जाता है। उसमें भी सुहृदताका भाव आ जाता है अर्थात् वह भी सबपर हेतुरहित दया करनेवाला और सबका प्रेमी हो जाता है। उसमें द्वेष-भावका नाश होकर क्षमा और समता आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं तथा उसके मन और बुद्धिका स्वाभाविक ही भगवान्‌में समावेश हो जाता है। इस प्रकार उसमें गीताके बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९वें श्लोकतक वर्णित भक्तके सभी लक्षण आ जाते हैं। इसलिये वह परम शान्तिको पा लेता है।

छठे अध्यायमें ११वेंसे १३वें श्लोकतक आसनकी विधि बतलाकर १४वें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने सगुण स्वरूपका ध्यान करते हुए शरण होनेके लिये कहा है[1]। वे कहते हैं—

> प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
> मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

तथा इसी अध्यायके ३०वें श्लोकमें सर्वत्र भगवान्‌को देखनेका यह माहात्म्य बतलाया गया है कि सर्वत्र भगवान्‌को देखनेवाला मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता है और मैं उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होता हूँ।

इसी प्रकार इस अध्यायके ३१वें और ४७वें श्लोकोंमें

१. सगुण-साकारके ध्यानके विषयमें विस्तारसे जानना हो तो इस श्लोककी गीताप्रेससे प्रकाशित तत्त्व-विवेचनी टीका देख सकते हैं।

भी भक्तिका भाव सर्वथा ओत-प्रोत है। अतः समझना चाहिये कि कर्मयोगप्रधान कहे जानेवाले अध्यायोंमें भी कोई भी अध्याय भक्तिसे शून्य नहीं है।

इसी तरह जिन (१३वेंसे १८वें तक) छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता बतलायी जाती है, उनमें भी कोई-सा भी अध्याय भक्तियोगके वर्णनसे खाली नहीं है। उदाहरणके लिये तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा गया है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

(गीता १३। १०)

'मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति भी (ज्ञानका साधन) है।'

चौदहवें अध्यायमें गुणातीत होनेका उपाय बतलाते हुए भी स्वयं भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४। २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य बन जाता है।'

यहाँ अनन्यभक्तिको गुणोंसे अतीत होनेका उपाय बतलाया गया है।

पंद्रहवें अध्यायमें परम पदकी प्राप्तिका उपाय तीव्र वैराग्यके द्वारा संसाररूप वृक्षको काटकर भगवान्के शरण होना बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ४)

'दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा संसार-वृक्षका छेदन करनेके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जहाँ गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

तथा १६ वें श्लोकसे क्षर और अक्षरका वर्णन करके जिसे परमात्मा, ईश्वर और पुरुषोत्तम आदि नामोंसे निरूपित किया गया है, उस परमतत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेकी कसौटी 'सब प्रकारसे भजना' ही बतलाया गया है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें दैवी सम्पदाके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

'निर्भयता और अन्तःकरणकी शुद्धिके साथ मनुष्यको ज्ञानयोगमें स्थित होना चाहिये।'

यहाँ 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' का अर्थ परमात्माके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति किया गया है, जो भक्ति-भावका ही द्योतक है।

सत्रहवें अध्यायमें २३वेंसे २६वें श्लोकतक भगवान्के ॐ, तत्, सत्—ये तीन नाम बतलाकर इनका किस प्रकार प्रयोग करनेसे कल्याण होता है, इसका स्पष्ट वर्णन किया गया है।

अठारहवें अध्यायकी तो बात ही क्या है! उसका तो भगवान्ने शरणागतिमें ही उपसंहार किया है। यहाँ कर्मयोगके प्रकरणमें भी भक्तिका वर्णन है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तथा ज्ञानयोगके प्रकरणमें भी भक्ति (उपासना) की आवश्यकता बतलायी है।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।

(गीता १८। ५२ का उत्तरार्ध)

'दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेकर निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है)।'

एकान्तवास और [illegible]

परम पदकी प्राप्ति होती है, उसी परम पदकी प्राप्ति मनुष्यको गोपियोंकी भाँति * सदा-सर्वदा भगवान्‌के शरण होकर अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए भी होती है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार भगवान्‌ने अपनी शरणागतिरूप भक्तिका माहात्म्य बतलाकर अर्जुनको सब प्रकारसे अपनी शरण ग्रहण करनेका आदेश दिया है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(गीता १८।५७; ५८ का पूर्वार्ध)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगका अवलम्बन करके मेरे परायण हो जा और निरन्तर मुझमें चित्तको लगाये रह। इस प्रकार मुझमें चित्त लगाये रहकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा।'

यहाँ भगवान्‌ने अपने सगुण-साकार स्वरूपकी भक्तिके लक्षणोंका वर्णन करके, अर्जुनको अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा देकर उसका महत्त्व बतलाया है। यद्यपि सगुण-निराकारकी शरणका भी फल परम शान्ति और शाश्वत पदकी प्राप्ति है; किंतु उसे गुह्यतर ही कहा गया है, गुह्यतम नहीं। भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
(गीता १८।६२; ६३ का पूर्वार्ध)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस सर्वव्यापी परमेश्वरकी शरणमें चला जा। उस परमात्माकी कृपासे तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा। इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया।'

भगवान्‌ने गुह्यतम तो अपनी शरणागतिरूप भक्तिको ही बतलाया है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६४—६६)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। तू मुझमें मन लगा दे, मेरा भक्त बन जा, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्याग करके यानी अर्पण करके तू केवल मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इसे सर्वगुह्यतम कहनेका अभिप्राय यह है कि ६२वें और ६३वें श्लोकोंमें तो सर्वव्यापी निराकार परमात्माके शरण जानेको गुह्यतर ही कहा है, किंतु यहाँ स्वयं भगवान् प्रकट होकर अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ; तू मेरी शरणमें आ जा।' इस प्रकार प्रकट होकर अपना परिचय देना अर्जुन-जैसे अपने अत्यन्त प्रेमी भक्तके

---

* भक्तिमती गोपियाँ किस प्रकार भक्ति करती हुई सब कार्य किया करती थीं, इसका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ४४वें अध्यायके १५वें श्लोकमें इस प्रकार मिलता है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देना आदि काम-काज करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं। इस प्रकार सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें ही चित्त लगाये रखनेवाली व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

सामने ही सम्भव है। दूसरोंसे यह नहीं कहा जा सकता कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तुम मेरी शरणमें आ जाओ।'

यहाँ ६४वें श्लोकमें 'तू मेरा सर्वगुह्यतम श्रेष्ठ वचन फिर भी सुन' कहकर भगवान्‌ने पहले नवें अध्यायके ३४ वें श्लोकमें कहे हुए वचनकी ओर संकेत किया है। वहाँ ३२वें श्लोकमें तो शरणागतिका माहात्म्य है और ३४ वें श्लोकमें उसका स्वरूप है। उसे भी गुह्यतम कहा है। नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें 'अनसूयवे' पदसे अर्जुनको उसका परम अधिकारी मानकर और गुह्यतम रहस्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके गुह्यतम, राजगुह्य आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए जिस शरणागतिरूप भक्तिकी बात कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसीका पूरे अध्यायमें वर्णन करते हुए अन्तमें ३४ वें श्लोकमें शरणागतिका स्पष्ट उल्लेख करते हुए ही अध्यायकी समाप्ति की गयी है। भगवान् कहते हैं—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
>
> (गीता ९। ३४)

'मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यहाँ बतलाये हुए शरणागतिरूप भक्तिके चारों साधनोंमेंसे एक साधनके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है या चारोंके। इसका उत्तर यह है कि एकके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है; फिर चारोंके अनुष्ठानसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

केवल 'मन्मना भव'—भगवान्‌में मन लगानेके साधनसे भगवत्प्राप्ति इसी अध्यायके २२ वें श्लोकसे समझनी चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

यहाँ अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना ही उन प्रेमी भक्तोंका [illegible] वहन करना है।

भक्तिमार्गमें यह एक विशेषता है कि [illegible] भक्तके किये हुए साधनकी रक्षा और उसके [illegible] की पूर्ति भी भगवान् कर देते हैं। यहाँ रक्षा [illegible] अभिप्राय है कि यदि कोई भक्त भगवान्‌से कोई [illegible] वस्तु माँगता है तो भगवान् उसके माँगनेपर भी यदि [illegible] अहित समझते हैं तो वह वस्तु उसे नहीं देते। जैसे [illegible] भगवान्‌से हरिका रूप माँगा था, किन्तु उसमें उनका [illegible] समझकर 'हरि' शब्दका अर्थ बंदर भी होनेके कारण भगवान्‌ने उनको बंदरका रूप दे दिया और [illegible] उनके शापको भी भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया, [illegible] भक्तको कञ्चन और कामिनीसे [illegible] प्रकार एक हितैषी सद्वैद्य रोगीको कुपथ्यसे बचा [illegible] है।

केवल 'मद्भक्तो भव'—भगवान्‌की भक्ति [illegible] भगवान्‌की प्राप्ति इसी अध्यायके ३०वें और ३१वें [illegible] बतलायी गयी है।

केवल 'मद्याजी भव'—भगवान्‌की पूजा [illegible] बात इसी अध्यायके २६ वें श्लोकमें बतलायी [illegible] कहते हैं—

> पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
> तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, [illegible] आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम [illegible] प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं [illegible] प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

यहाँ भी यह जिज्ञासा होती है कि [illegible] फल, जल—इन चार पदार्थोंके [illegible] इन चारोंके समर्पणसे भगवान् प्रकट होकर [illegible] करते हैं या एकके समर्पणसे भी। [illegible] एकके समर्पणसे भी भगवान् [illegible] इनके [illegible] है। प्रेम होनेसे [illegible] स्वीकार कर लेते हैं। [illegible]

१. [illegible] कथासे [illegible] है।

गजेन्द्रके केवल पुष्प भेंट करनेसे, भीलनीके केवल फल अर्पण करनेसे और राजा रन्तिदेवके केवल अन्न अर्पण करनेसे ही भगवान्‌ने प्रकट होकर उनके दिये हुए पदार्थको ग्रहण किया था। इस प्रकार ये सभी एक-एक पदार्थके अर्पण करनेसे ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये। तब फिर सब प्रकारसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेवालेको भगवान् मिल जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है।

इसी प्रकार केवल 'नमस्कुरु'—नमस्कार करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, किंतु गीतामें भगवान्‌ने नमस्कारके साथ कीर्तन आदि भक्तिके अन्य अङ्गोंका भी समावेश कर दिया है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(गीता ९। १४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें तो केवल नमस्कारमात्रसे भी संसारसे उद्धार होना बतलाया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥
(महा० शान्ति० ४७। ९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी किया हुआ प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अन्तमें किये जानेवाले अवभृथस्नानके समान होता है। इतना ही नहीं, दस अश्वमेधयज्ञ करनेवाला तो उनके फलको भोगकर पुनः संसारमें जन्म लेता है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता।'

ऊपर बतलाया जा चुका है कि नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिको सबसे गुह्यतम, राजगुह्य और विज्ञानसहित ज्ञान बतलाकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है एवं उसको बहुत ही उत्तम और सुगम बतलाया है। ऐसा सुगम साधन होनेपर भी सभी मनुष्य उसमें नहीं लगते, इसमें श्रद्धाका न होना ही कारण है। भगवान् कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
(गीता ९। ३)

'हे परंतप! उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिसकी भक्तिके साधनमें श्रद्धा नहीं, उसका संसारमें यानी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करना तो सर्वथा सम्भव है, पर यहाँ उसके साथ ही 'मुझे न प्राप्त होकर' कहनेकी क्या आवश्यकता है, जब कि उसे भगवान्‌के प्राप्त होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि 'मुझे न प्राप्त होकर' कथनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रका परमात्माकी प्राप्तिमें जन्मसिद्ध अधिकार है; किंतु जैसे राजाके पुत्रका उस राज्यपर जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार होते हुए भी पितामें श्रद्धा-भक्ति न होनेके कारण वह उस राज्यसे वञ्चित किया जाय तो कोई दोषकी बात नहीं होती, उसी प्रकार भगवान्‌में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम न होनेके कारण भगवान्‌की प्राप्तिमें उसका जन्मसिद्ध अधिकार होते हुए भी कोई उससे वञ्चित रह जाय तो अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इसलिये मनुष्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये; क्योंकि उठते-बैठते, सोते-जागते, हर समय भगवान्‌का स्मरण करना सर्वोत्तम है। हर समय भगवान्‌का स्मरण करनेसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण स्वाभाविक ही हो जाता है और अन्तकालके स्मरणका बड़ा भारी महत्त्व है। भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

१. गजेन्द्रकी कथा श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके २रे, ३रे अध्यायोंमें देख सकते हैं।

२. भीलनीकी कथा श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देख सकते हैं।

३. महाराज रन्तिदेवकी कथा श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके २१वें अध्यायमें देख सकते हैं।

यदि कहें कि भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवालेका तो भगवान् उद्धार कर देते हैं और जो उन्हें स्मरण नहीं करता, उसका उद्धार नहीं करते; तो क्या भगवान् भी अपना मान और बड़ाई करनेवालेका ही पक्ष रखते हैं? सो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने यह नियम बनाया है कि मृत्युके समय जो मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता, पितर आदि किसी भी स्वरूपका चिन्तन करता हुआ मरता है, वह उसी-उसीको प्राप्त होता है (गीता ८ । ६) । इस न्यायसे भगवान्‌को स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्‌को प्राप्त होता है । अतः उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌में पक्षपात या विषमताका कोई दोष नहीं आता । भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(गीता ९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी भक्त हनुमान्‌के प्रति कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'भगवान् जब समदर्शी होकर भी अपना भजन करनेवालेके लिये ही यह कहते हैं कि वह मेरे हृदयमें है और मैं उसके हृदयमें हूँ, तब क्या यह विषमता नहीं है ।' इसका उत्तर यह है कि सूर्य सबके ऊपर समानभावसे प्रकाश डालते हैं, पर दर्पणमें उनका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, काष्ठ आदिमें नहीं; और सूर्यमुखी शीशा तो सूर्यकी किरणोंको खींचकर रूई, कपड़ा आदिको भस्म भी कर डालता है । यह उस पदार्थकी ही विशेषता है, इसमें सूर्यकी कोई विषमता नहीं है । वैसे ही भगवान्‌के भक्तके प्रेमकी ही उपर्युक्त विशेषता है, इससे भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता ।

इसलिये हर समय भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करना चाहिये; क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है; पता नहीं, कब प्राण चले जायँ । हर समय स्मरण करनेवाले भक्तको अन्तकालमें भगवान्‌की स्मृति स्वाभाविक हो ही जाती है । जो पुरुष नित्य-निरन्तर परम दिव्य पुरुष परमात्माका चिन्तन करता रहता है, वह भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करता हुआ [illegible] पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है [illegible] मनको सब ओरसे रोककर भक्तिपूर्वक [illegible] उच्चारण और उनके स्वरूपका ध्यान करता हुआ [illegible] छोड़कर जाता है, वह निश्चय ही परम गतिको प्राप्त होता है (गीता ८ । ८—१३) ।*

अतएव ज्ञानयोग, ध्यानयोग, [illegible] आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं [illegible] भगवद्भक्ति सर्वोत्तम है । भगवान्‌ने [illegible] श्लोकमें बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां [illegible] ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे [illegible] ।

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो [illegible] हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर [illegible] है, वह [illegible] परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

इसी प्रकार अर्जुनके पूछनेपर [illegible] श्लोकमें भी भगवान्‌ने अपने भक्तोंको [illegible] भक्तिका महत्त्व प्रदर्शित किया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता [illegible] ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा [illegible] ॥

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर [illegible] लगे हुए जो भक्तजन [illegible] सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं [illegible] अति उत्तम योगी मान्य हैं ।'

भक्ति सुगम होनेके [illegible] भक्तिके मार्गमें यह विशेषता है कि [illegible] भगवान्‌को [illegible] ([illegible] भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक [illegible] भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट [illegible] यह बात ज्ञानयोग [illegible] इसलिये भक्तिको [illegible] श्रुत है ।

[illegible] शब्दोंमें भगवान् [illegible]

---

* इस [illegible]

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

अनन्य-चिन्तन करनेवाले भक्तको सहज ही भगवान् मिल जाते हैं—इतना ही नहीं; उसका भगवान् संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार भी कर देते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ अर्थात् मैं उनका उद्धार कर देता हूँ ।'

अतएव हमलोगोंको अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये । संसारमें एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई परम हितैषी नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—यह समझकर जो भगवान्के प्रति अत्यन्त श्रद्धासे युक्त प्रेम किया जाता है—जिस प्रेममें स्वार्थ और अभिमानका जरा भी दोष नहीं है, जो सर्वथा पूर्ण और अटल है, जिसका जरा-सा अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रके लिये भी भगवान्का विस्मरण असह्य हो जाता है—उसे 'अनन्य भक्ति' कहते हैं । ऐसे अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हुए उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करना एवं उनके परम पावन नामोंका उच्चारण और जप करना ही अनन्य भक्तियोग-के द्वारा भगवान्का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना है । इस प्रकारके अनन्य भक्तका भगवान् तत्काल ही उद्धार कर देते हैं ।

चाहे मनुष्य कितना भी पापी क्यों न हो, भक्तिके प्रभावसे उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश ही नहीं हो जाता अपितु वह परम धर्मात्मा बन जाता है और फिर उसे परम शान्ति मिल जाती है । गीताके नवें अध्यायके ३०वें, ३१वें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर और उनके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है । इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

संसार-सागरसे जीवका उद्धार होना बहुत ही कठिन है, किंतु भगवान्की शरणसे यह कठिन कार्य भी सुसाध्य हो जाता है । भगवान्ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७ । १४)

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको लाँघ जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ।'

भगवान्की भक्तिके प्रभावसे भगवान्का यथार्थ ज्ञान भी हो जाता है और ज्ञानके साथ ही भगवान् भी उसे मिल जाते हैं । भगवान् स्वयं अपने उस अनन्यभक्तको वह ज्ञान प्रदान कर देते हैं, जिससे उसे उनकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है । भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । ८—१०)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं। वे निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

बात यह है कि जो मनुष्य भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावको तत्त्वसे जान लेता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता १०।३, ८)। भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके ७वेंसे १२वें श्लोकतक, नवें अध्यायके १७वें, १८वें और १९वेंमें एवं पंद्रहवें अध्यायके १२वेंसे १५वें श्लोकतक तथा और भी अनेक स्थलोंमें किया गया है। उन सबका सार भगवान्‌ने दसवें अध्यायके ४१ वें, ४२वें श्लोकोंमें बतलाया है। वे कहते हैं—

> यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके एक अंशकी ही अभिव्यक्ति (प्राकट्य) जान।'

भाव यह है कि दसवें अध्यायके ४थे श्लोकसे ६ठेतक तथा १९वें श्लोकसे ४०वेंतक तथा गीताके अन्यान्य स्थलोंमें जो कुछ भी विभूतियाँ बतलायी गयी हैं एवं समस्त संसारके जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो भी बल, बुद्धि, तेज, गुण, प्रभाव आदि प्रतीत होते हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी भगवान्‌के प्रभावके एक अंशमात्रका ही प्रादुर्भाव हैं।

> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जैसे जलका बुद्बुदा समुद्रका एक [illegible] ही सम्पूर्ण गुण और प्रभावसहित [illegible] किसी एक अंशमें है—इस प्रकार समझकर [illegible] उपर्युक्त ८वें, ९वें और १०वें श्लोकोंके [illegible] उपासना करता है, वह अनायास ही [illegible]

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो गयी कि [illegible] भक्ति ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि [illegible] अपेक्षा उत्तम, सुगम और सुलभ है। इतना ही नहीं, [illegible] शीघ्र ही सारे पापोंका नाश होकर भगवान्‌के [illegible] हो जाता है और मनुष्य इस प्रकार [illegible] भगवान्‌का दर्शन पा लेता है एवं भगवान्‌में [illegible] उनमें प्रवेश भी कर सकता है। भगवान्‌ने कहा है

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
> ([illegible])

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस [illegible] रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे [illegible] तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे [illegible] लिये भी शक्य हूँ।'

यों तो ज्ञानयोगके द्वारा भी [illegible] परमात्माका ज्ञान और परम शान्तिकी प्राप्ति हो [illegible] (गीता ४। ३४—३६, ३९) [illegible] भगवान्‌का साक्षात् दर्शन नहीं होता। [illegible] भक्तिसे परमात्माका ज्ञान और [illegible] परमात्मामें एकीभावसे प्रवेश होनेके [illegible] दर्शन भी सम्भव है। इसलिये भगवान्‌[illegible] मार्ग सर्वोत्तम है।

यहाँ उस अनन्यभक्ति [illegible] भक्तके लक्षण बतलाते हैं

> मत्कर्मकृन्मत्परमो [illegible]
> निर्वैरः सर्वभूतेषु [illegible]
> [illegible]

[illegible]

होना—ये तीन बातें बतलायी गयी हैं। इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवान्की प्राप्ति होती है या एकके अनुष्ठानसे भी', तो इसका उत्तर यह है कि इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवत्प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, किसी एकके अनुष्ठानसे भी हो सकती है। केवल भगवदर्थ कर्म करनेसे भी मनुष्यको भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त होनेकी बात भगवान्ने गीताके बारहवें अध्यायके १० वें श्लोकमें बतलायी है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।

'हे अर्जुन! तू मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

तथा केवल भगवान्के परायण होनेसे भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

एवं केवल भगवान्की भक्तिसे भी भगवत्प्राप्ति हो जाती है—

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥
(गीता ७। २३ का उत्तरार्ध)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त—चाहे जैसे मुझे भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

ऐसे भक्त चार प्रकारके होते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(गीता ७। १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं।'

इन चारोंमें अर्थार्थी भक्तसे आर्त, आर्तसे जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ज्ञानी (निष्काम) श्रेष्ठ है। अर्थार्थी भक्तसे आर्त इसलिये श्रेष्ठ है कि वह स्त्री, पुत्र, धन आदिकी तो बात ही क्या, राज्यभोग भी भगवान्से नहीं चाहता—जैसे ध्रुवने चाहा था; परंतु द्रौपदीकी भाँति किसी बड़े भारी सांसारिक संकटके प्राप्त होनेपर उसके निवारणके लिये याचना करता है। पर जिज्ञासु तो सांसारिक भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी उस संकटकी निवृत्तिके लिये प्रार्थना नहीं करता, वरं भक्त उद्धवकी भाँति संसार-सागरसे आत्माका उद्धार करनेके लिये परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी ही इच्छा करता है। इसलिये आर्तसे भी जिज्ञासु श्रेष्ठ है; किंतु भक्त प्रह्लादकी भाँति निष्काम ज्ञानी भक्त तो अपनी मुक्तिके लिये भी याचना नहीं करता। इसलिये भगवान्ने निष्काम ज्ञानी भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है।

इन चारोंमें ज्ञानी भक्त भगवान्को अतिशय प्रिय है; क्योंकि ज्ञानीको भगवान् अतिशय प्रिय हैं। सातवें अध्यायके १७ वें श्लोकमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्ति-युक्त ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, अतः वह ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

क्योंकि भगवान्का यह विरद है कि जो मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूँ (गीता ४। ११)।

इतना ही नहीं, जो भगवान्को प्रेमसे भजता है, उसको भगवान् अपने हृदयमें बसा लेते हैं। भगवान्ने गीताके नवें अध्यायके २९वें श्लोकमें कहा है कि 'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

यदि पूछा जाय कि 'क्या ऐसे ज्ञानी निष्काम भक्तके अतिरिक्त दूसरे भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं और क्या उनका उद्धार नहीं होता?' तो ऐसी बात नहीं है। वे सभी भक्त श्रेष्ठ हैं और सभीका उद्धार होता है; किंतु ज्ञानी निष्काम भक्त सर्वोत्तम

---

१. भक्त ध्रुवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्धके ८वें, ९वें अध्यायोंमें देख सकते हैं।

२. द्रौपदीका यह प्रसङ्ग महाभारत, सभापर्वके ६८वें अध्यायमें पढ़ सकते हैं।

३. भक्त उद्धवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धके सातवेंसे उन्तीसवें अध्यायतक देख सकते हैं।

४. भक्त प्रह्लादका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, सप्तम स्कन्धके ४थे से १०वें अध्यायतक देख सकते हैं।

भक्तिमें सबका अधिकार

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ (गीता ९।३२)

भक्तोद्धारक भगवान्

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ (गीता १२।७)

है। ज्ञानी निष्काम भक्तको तो भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है—

> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
> आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
> (गीता ७। १८)

'ये सभी उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

उदारका अर्थ है श्रेष्ठ। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि 'वे भक्त मुझे पहले भजते हैं, तब फिर उसके बाद मैं उनको भजता हूँ तथा वे अपने अमूल्य समयको मुझपर श्रद्धा-विश्वास करके न्योछावर कर देते हैं, यह उनकी उदारता है; इसलिये वे श्रेष्ठ हैं; और मेरी भक्ति सकाम, निष्काम या अन्य किसी भी भावसे क्यों न की जाय, मेरे भक्तका उद्धार हो ही जाता है (गीता ७। २३); किंतु प्रेम और निष्काम-भावकी उनमें कमी होनेके कारण उनको मेरी प्राप्तिमें विलम्ब हो सकता है। मेरी उपासनाकी तो बात ही क्या है, जो दूसरे देवताओंकी उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं; किंतु वे मुझको तत्त्वसे न जाननेके कारण इस लोक या स्वर्ग आदि परलोकरूप नाशवान् फलको ही पाते हैं।'

> अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
> (गीता ७। २३का पूर्वार्ध)

'क्योंकि उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है।'

सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें [illegible] जाननेकी बात कही गयी है, उसका भगवान्‌ने [illegible] बतलाया कि जो कुछ है वह मुझसे अन्य नहीं है ([illegible] ७। ७) और सब कुछ मेरा ही स्वरूप है ([illegible]) एवं इस तत्त्वको जाननेवाला [illegible] मोहसे मुक्त भगवद्भक्त भगवान्‌के [illegible] समग्र रूपको जान जाता है (गीता ७। [illegible])।

ऐसे ज्ञानी भगवत्प्राप्त महात्मा [illegible] उसकी भगवान्‌ने बड़ी प्रशंसा की है (गीता [illegible] १९)। भगवान्‌ने उसको अपना प्रिय [illegible] किंतु जो साधक इस ज्ञानी भक्तके लक्षणोंको [illegible] उनके अनुसार श्रद्धापूर्वक साधन करता है, [illegible] भगवान्‌ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है; क्योंकि [illegible] भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास करके अपने [illegible] लिये ही न्योछावर कर दिया है। भगवान् [illegible]—

> ये तु धर्म्यामृतमिदं [illegible]।
> श्रद्दधाना मत्परमा [illegible] मे प्रियाः॥
> ([illegible])

'परन्तु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको [illegible] करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

जब केवल मन-बुद्धिसे [illegible] भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है (गीता ८। [illegible]) तब फिर जो सर्वस्व भगवान्‌के [illegible] भगवान्‌को भजता है, उसमें [illegible]

काकभुशुण्डिकी कामना

> जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥
> मन भावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी॥
> अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
> जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
> भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम।
> सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥
> (रामचरितमानस, [illegible])

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण

(लेखक—आचार्यवर श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

(१)

श्रीकृष्णकी जो जीवन-कथा महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण तथा अन्यान्य पुराणों एवं उत्तरकालीन चिरस्मरणीय धार्मिक ग्रन्थों और काव्योंमें प्राप्त होती है, उससे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णका व्यक्तित्व जितना महान् और जटिल था, उतने महान् व्यक्तित्वका कोई पुरुष न तो इस धराधाममें उत्पन्न हुआ और न किसी ऐसे पुरुषकी कल्पना ही कभी मानव-मस्तिष्कमें आयी। यह तो मानना ही पड़ेगा कि बुद्ध, ईसा, चैतन्य आदि सभी विश्ववन्द्य महात्माओंके समान श्रीकृष्णके जीवन और चरित्रका चित्रण करनेमें भी इतिहास एवं प्रामाणिक परम्पराओंके साथ उत्कृष्टतम धार्मिक मनोभावोंसे उत्पन्न कल्पनाएँ भी जुड़ गयी हैं। परंतु ऐसी सारी स्थितियोंमें इन यथार्थ और आदर्श पुरुषोंके विषयमें जो सर्वसाधारणकी धारणाएँ हैं तथा हमारे लिये और समस्त मानव-जातिके कल्याणके लिये जो उदाहरण और उपदेश आर्षग्रन्थोंमें वर्णनानुसार वे छोड़ गये हैं, उनका हमसे जीवनदायक सम्बन्ध है तथा सभी देशों और समस्त युगोंके नर-नारियोंके जीवनपर वे स्थायीरूपसे स्वस्थ, गतिशील और उत्साहोत्पादक प्रभाव डालते हैं।

इस दृष्टिकोणसे श्रीकृष्ण हमारे सामने पूर्ण भगवत्ताके सर्वोच्च आदर्शकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ सर्वथा पूर्ण तथा मानवताके सर्वोच्च आदर्शसे पूर्ण सर्वाङ्गसुन्दर विग्रहके रूपमें प्रकट होते हैं। उनके भीतर मनुष्य और ईश्वर 'नर' और 'नारायण'के भाव पूर्णतया समन्वित हैं, कोई भी पक्ष न्यूनताको नहीं प्राप्त होता। इसीसे उनको 'नरोत्तम' या 'पुरुषोत्तम' अथवा 'नर-नारायण' कहते हैं। इस नरोत्तम, पुरुषोत्तम, नर-नारायण अथवा मानव-भगवान्‌की महान् और सुन्दर भावनामें आध्यात्मिक ज्ञानकी प्रथम श्रेणीमें प्रतिष्ठित भारतीय ऋषियों और भक्तोंने ईश्वर और मनुष्यके मिलनकी आध्यात्मिक विशद भूमिका अन्वेषण किया है। यहाँ भगवान् अपने सारे ऐश्वर्य और सौन्दर्यको लेकर मानव रूपमें अपने आपको प्रकट करते हैं और मनुष्य उनमें अपनी भगवत्ताका पूर्णरूपमें अनुभव करता है। मनुष्य और ईश्वरके बीच, सान्त और अनन्तके बीच, सापेक्ष अपूर्णत्व और दिव्य पूर्णत्वके बीच तथा जीव और स्रष्टाके बीचकी खाई इन अवतारी पुरुषके द्वारा अद्भुत रीतिसे पाट दी जाती है। भगवान् यहाँ मानव-शरीरमें मानवी व्यापारों और भावनाओंको लेकर प्रकट होते हैं तथा मनुष्य जीवनके सर्वोच्च आध्यात्मिक लक्ष्यको अभिव्यक्त करते हैं।

(२)

ऐतिहासिक पुरुषके रूपमें श्रीकृष्ण संसारके सर्वश्रेष्ठ गुरु थे। उन्होंने जो नैतिक और आध्यात्मिक साधनाकी प्रणाली बतायी, उसमें साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता और कट्टरताका सर्वथा अभाव है और वैसी प्रणाली जगत्‌में पहले किसी धर्मगुरुके मस्तिष्कमें कभी नहीं आयी। यह सर्वथा अकाट्य दार्शनिक भित्ति तथा परम गम्भीर अध्यात्म-दृष्टिकी आधार-शिलापर अवस्थित है।

वह सार्वभौम—सर्वव्यापी है और सभी देशों और युगोंके नर-नारियोंके उपयुक्त तथा सभ्यता और संस्कृतिके सभी स्तरोंके लोगोंके लिये अनुकूल है। उनके सिद्धान्तकी अत्यन्त सारगर्भित, अत्यन्त विशद तथा अत्यन्त युक्तिपूर्ण व्याख्याका शुभदर्शन हमें गीतामें प्राप्त होता है, जिसको समस्त सत्यान्वेषी पुरुषोंने विश्वके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक संगीतके रूपमें स्वीकार किया है। महाभारत, भागवत तथा दूसरे पुराणोंमें जो उनका सारा जीवन-ऐतिह्य वर्णित है, वह उनके द्वारा प्रचारित दर्शन, आचार-शास्त्र तथा धर्मका अत्यन्त उज्ज्वल और सुन्दर दृष्टान्त है। उन्होंने भगवत्ताके अधिकारपूर्ण स्वरमें उपदेश किया है और जिन सत्योंका प्रतिपादन किया है, उनको मानवताके साधारण स्तरपर स्वयं आचरणमें लाकर प्रदर्शित भी कर दिया है। उन्होंने दिखला दिया है कि किस प्रकार भौतिक जीवनके साधारण कर्तव्योंका ईमानदारीसे पालन करते हुए मानव-आत्मा अपने भीतर स्थित ईश्वरत्वकी अनुभूति कर सकता है, किस प्रकार जीवन और उसके कर्तव्यके प्रति अपनी अन्तःप्रवृत्तिको बदलकर प्रतिदिनके साधारण-से-साधारण कर्मको भागवत कर्मके रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है। श्रीकृष्णने सदा अपनी अन्तश्चेतनामें अपने आनन्दमय दिव्य स्वरूपमें निवास करते हुए ही इस जटिल जगत्‌के मनुष्यके रूपमें अपने कर्तव्यका पूर्णतः पालन किया है।

श्रीकृष्णके द्वारा उपदिष्ट धर्म एक ही साथ 'मानव

धर्म' भी है और 'भागवतधर्म' भी। यह मानवत्व और ईश्वरत्वका सफल तथा महान् सम्मिलन है। अपने धार्मिक उपदेशोंमें श्रीकृष्णने विश्वके लोगोंकी अन्तर्दृष्टिके समक्ष मानवताकी एक अत्यन्त विशद और गौरवमयी धारणा प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि मनुष्य अपनेको केवल एक तुच्छ साधक ही न माने—जो बन्धन और दुःखसे संतप्त होकर मुक्तिकी चिन्तामें है और इस आपाततः असुन्दर मानव जीवनसे छुटकारा पानेके लिये तड़प रहा है, बल्कि मनुष्यको चाहिये कि वह अपने सच्चे स्वरूपकी प्राप्तिको ही आदर्श माने। मनुष्य केवल कर्ता और उपासक ही नहीं है, वह स्वयं ही वह सत्य है जिसकी अनुभूति उसे इस जटिल जगत्में अपने व्यावहारिक जीवनमें ही करनी है। जीव, जैसा वह अपने आपको साधारणतया देखता है, आत्मतत्त्वकी केवल एक आंशिक और अपूर्ण अभिव्यक्ति है।

श्रीकृष्णने मनुष्यके सामने मुक्ति या निर्वाणके आदर्शको अथवा मनुष्यत्वके पूर्ण उच्छेद, या जीवत्वसे पूर्णरूपसे छुटकारा पा जानेको मानव-जीवनके अन्तिम लक्ष्यके रूपमें प्रस्तुत नहीं किया है। जगत् पापमय है, लौकिक जीवन दुःखमय है, सुव्यवस्थित आध्यात्मिक साधनाके द्वारा मनुष्यकी अहं-चेतनाको नष्ट कर देना है अथवा उसे किसी निर्विशेष, निष्क्रिय सत् या असत् सर्वव्यापी निर्गुण तत्त्वमें विलीन कर देना है—इन विचारोंको वे प्रोत्साहित नहीं करते। उनके विचारसे प्रत्येक मनुष्यको पूर्ण ज्ञान, पूर्ण कर्म, पूर्ण शान्ति और पूर्ण सौख्य तथा पूर्ण प्रेम और पूर्ण आनन्दसे युक्त मानवताको अपने जीवनका लक्ष्य बनानेकी विशद भावना धारण करनी चाहिये। प्रत्येक व्यष्टि-मानवको समष्टि मानव बनना है। उसे अपनी ही आत्मचेतनामें सार्वभौमता और निरपेक्षता, असीमता और चिरंतनता, सर्वव्यापी आनन्दमय सत् और सबको माधुर्यसे भर देनेवाले सौन्दर्य, पवित्रता तथा प्रेमकी अनुभूति करनी है; क्योंकि ये उसके सच्चे स्वरूपके प्रमुख गुण हैं। श्रीकृष्ण प्रत्येक मनुष्यसे कहते हैं—'अपने आपको जानो, अपने स्वरूपमें स्थित होओ और अपने व्यावहारिक जीवनमें ही अपने आपको पहचानो।'

जब मनुष्य इस जगत्में अपने यथार्थ 'मनुष्यत्व'का अनुभव कर लेता है, तब वह आत्म-अनात्मके भेदको लाँघ जाता है, वह सीमित अहंकी भावनासे ऊपर उठ जाता है और फलतः वह बन्धन और दुःखकी भावनासे मुक्त हो जाता है। वह सब सबमें अपनेको और [illegible] देखता है। अपनी अलौकिक चेतनामें [illegible] भयसे रहित हो जाता है; विश्वात्माके [illegible] का अनुभव करता है और विश्व उसके [illegible] प्रकृतिके प्रेम, सौन्दर्य, आनन्द और [illegible] आत्माभिव्यक्तिके लिये एक विशाल और [illegible] रूपमें उपस्थित होता है। उसके [illegible] जीवनके सारे कर्म लीलारूपमें परिवर्तित हो [illegible] लाभ और हानि, सफलता और विफलता, [illegible] यहाँतक कि जीवन और मृत्यु भी उसकी [illegible] लगते हैं। सारे जीवोंके साथ एकत्वका [illegible] चेतनाके लिये सहज स्वभाव बन जाता है। [illegible] कर्म स्वभावतः समस्त जीवोंकी [illegible] कर लेते हैं और उनके [illegible] होते हैं। इस प्रकारके [illegible] अनिवार्यरूपसे [illegible] भागवती शक्तिके आत्माभिव्यक्तिका [illegible] और ऐसी दशामें वह [illegible] अभिलाषा, चिन्ता या [illegible] अपने इस दिव्य [illegible] श्रीकृष्ण अपने [illegible] अभिव्यक्त होते हैं और [illegible] सामने इसको [illegible] करते हैं।

(२)

श्रीकृष्ण [illegible] उपदेशोंमें सांसारिक [illegible] एक [illegible] और [illegible] दूसरी ओर [illegible] इस [illegible] प्रभावित [illegible] प्रकारसे [illegible] [illegible]

क्रीड़ाके साधन हैं। जड़ प्रकृतिके नियम, प्राणि विज्ञान और मानस विज्ञानके नियम, नीति और धर्मके नियम, जो दृश्य जगत्के विभिन्न व्यापारोंका मार्ग-संचालन एवं निर्धारण करते हुए पाये जाते हैं, वे अन्ततः उनकी पूर्णतया आध्यात्मिक और पूर्णतया मुक्त, पूर्णतया शुभ, पूर्णतया सौन्दर्यमय तथा श्रेष्ठ, पूर्णतया शुद्ध प्रेम और आनन्दमय प्रकृतिके लीलामय आत्माभिव्यञ्जनके नाना रूपोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उनका अपना पूर्णतया स्वच्छन्द और अचिन्त्य सङ्कल्प ही उनके काल-देश और सापेक्षताके अपने लोकमें, सान्त और परिवर्तनशील जीवोंके असंख्य प्रकारके रूपोंमें आत्मास्वादन और आत्मप्रकाशनके प्रयोजनसे उनके पारमार्थिक स्वयं प्रकाशित अलौकिक स्वरूपके ऊपर विभिन्न क्रमके आवरण और विक्षेप डाल देता है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ईश्वरीय आत्माभिव्यक्ति, आत्मास्वादन और आत्मक्रीडाको सारे जागतिक कर्मोंमें, विश्व-विधानमें देखनेकी शिक्षा हमको देते हैं। वे सबमें परमात्माको और सबको परमात्मामें देखनेका उपदेश देते हैं। वे विभिन्न प्रकृतिके तथा विभिन्न श्रेणीके भौतिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकासवाले असंख्य मनुष्योंमें हमें यह देखनेकी शिक्षा देते हैं कि वे भगवान् ही विभिन्न उपयुक्त रूप धारण करके स्वरचित विश्व-ब्रह्माण्डके भीतर नाना प्रकारसे अभिनय कर रहे हैं। मनुष्यके विचार, संकल्प और क्रिया-सम्बन्धी स्वच्छन्दताकी अनुभूति, उसकी कर्तव्य और उत्तरदायित्वकी भावना, उसका सदसद्-विवेक, धर्माधर्म तथा उचित-अनुचितका विचार, उसकी अपूर्णताकी भावना तथा पूर्णताकी अभिलाषा —ये भी भगवान्के आत्मरसास्वादन और क्रीडामयी आत्माभिव्यक्तिके रूप-विशेष हैं। विभु, शाश्वत, आनन्दमय तथा लीलामय परमात्माकी अपने भीतर तथा अपने समस्त लौकिक अनुभवके विषयोंमें प्रत्यक्ष अनुभूति करनेसे ही मनुष्य पूर्णत्वको प्राप्त होता है।

समस्त मानव-जातिके, समस्त पशु-जीवनके तथा जगत्के ईश्वरत्वको श्रीकृष्णने प्रकट कर दिया और यह दिखला दिया कि मनुष्यके लिये अपनी बौद्धिक तथा भावात्मक चेतनाको विशुद्ध एवं आध्यात्मिक बनाकर, एवं पारिवारिक तथा सामाजिक जीवनमें अपने संकल्प और आचारको समुचित संयममें रखकर अपने तथा दृश्य जगत्के दिव्यत्वका साक्षात् अनुभव करना सम्भव है। उनके दार्शनिक, नैतिक तथा धार्मिक उपदेशोंमें कहीं नैराश्यको स्थान नहीं मिला है, आत्मग्लानिको प्रोत्साहन नहीं दिया गया है, निराश होनेकी सम्मति नहीं दी गयी है तथा मनुष्यमें दुर्बलताकी भावना और सांसारिक शक्तियों तथा किसी सर्वशक्तिसम्पन्नके भी सामने असहाय होकर आत्मसमर्पण करनेकी प्रवृत्तिको कहीं समर्थन नहीं प्राप्त है। उनके कथनानुसार नैतिक और आध्यात्मिक आत्मसंयमकी साधनाका प्रथम सोपान है शक्ति तथा आत्मविश्वासका विकास; और अपनेको तुच्छ समझनेकी भावना, दुर्बलता और नपुंसकताकी भावनासे मनको मुक्त करनेका प्रयास।

प्रत्येक मनुष्यमें—चाहे वह बाहरसे कितना ही बड़ा या छोटा हो, विद्वान् या मूर्ख हो, बलवान् या दुर्बल हो— उन्होंने दीप्त गौरवकी भावनाको जाग्रत् करनेकी चेष्टा की। यह गौरवका भाव जीवके ईश्वरत्वकी सतत स्मृति तथा गम्भीर अनुभूतिके ऊपर और उस जगत्के दिव्यत्वपर जिसमें प्रत्येक मनुष्यको परमात्माके द्वारा निर्दिष्ट अपना-अपना अभिनय करना है, आधारित है। प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने साधारण-से-साधारण कर्तव्यका पालन करता हुआ अपने तथा जिससे उसका काम पड़ता है, उन सभी मनुष्यों एवं अन्य जीवोंके आत्माकी स्वरूपगत पवित्रता, कल्याणमयता, अमरत्व, अनन्तत्व और सर्वशक्तिमत्ताको सदा स्मरण रखे। इस प्रकार अपने ईश्वरत्व तथा सबके ईश्वरत्वकी अनुभूतिकी साधना सब प्रकारके नैतिक गुणोंका प्रबल स्रोत बन जाती है और अपार शक्ति, निर्भयता तथा निश्चिन्त एवं आनन्दमय जीवनका उद्गम बनती है। जीव और जगत्के दिव्यत्वकी इस भावनाका अभ्यासी किसी मनुष्यके विरुद्ध किसी पापमय और दुष्ट प्रवृत्ति तथा भावना, किसी दूषित वासना और प्रवृत्ति अथवा किसी द्वेष या दुर्भावनाको मनमें स्थान नहीं दे सकता। वह किसी भी मनुष्य अथवा जीवकी हिंसा या हानि नहीं कर सकता तथा सम्पर्कमें आनेवाले किसी प्राणीकी अवज्ञा नहीं कर सकता। उसका चित्त तथा बाह्य व्यवहार स्वभावतः सभी मनुष्यों और सभी जीवोंके प्रति प्रेम और सहानुभूति, सद्भाव और सम्मानपूर्ण होता है। मानव जातिकी बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृतिके लिये जगद्गुरुरूपमें श्रीकृष्णकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है— अपने इस विश्वमें ईश्वरत्वके ऊपर पड़े हुए पर्देको हटाना।

(४)

वैदिक ऋषियोंने भोगके आदर्शके ठीक विपरीत जीवन-को नियमन करनेवाले शाश्वत सिद्धान्तके रूपमें यज्ञके आदर्श

निर्दिष्ट मानव-जीवनका आध्यात्मिक आदर्श है—आत्माके निज स्वरूपकी तथा जगत्‌की प्रत्येक घटनामें प्रभुकी लीलाकी रसात्मक अनुभूति—इस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत प्रत्येक जीवमें अर्थात् प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक देवता तथा प्रत्येक निम्नजन्तुके प्राणोंमें आत्मा और विश्वात्माके साथ अपने आत्माकी एकताकी अनुभूति।

विश्वके रूपमें भगवान्‌के इस आत्माभिव्यञ्जनकी योजनामें मनुष्यको यह योग्यता प्राप्त है कि वह प्रयोजनके अनुसार स्वेच्छापूर्वक काम कर सके और अपने जीवनके उद्देश्यकी पूर्तिके उपायों और युक्तियोंका निर्माण करे तथा अपने विवेक और इच्छा शक्तिके अनुसार अपने कर्तव्योंका पालन करे। इस प्रकार कर्म करना उसके लिये स्वाभाविक है। वह बिना कर्म किये मनुष्यरूपमें रह नहीं सकता। कर्मके रूप विभिन्न हो सकते हैं, विभिन्न मनुष्योंके लिये विभिन्न प्रकारके कर्म अनुकूल हो सकते हैं; क्योंकि उनकी शक्ति, स्वभाव तथा सामाजिक स्थिति विभिन्न प्रकारकी होती है। परंतु प्रत्येक मनुष्यको प्रभुके इस संसारमें अपने धर्मके अनुसार कर्म करना चाहिये, जो धर्म मनुष्यको परमेश्वरने अपनी इस लीला-भूमिके लिये प्रदान किया है। जो काम उसके लिये विहित है, उसको खेल समझते हुए विशुद्ध बुद्धि एवं उदात्त उद्देश्यसे दृढ़ निश्चयपूर्वक करना चाहिये। परंतु उसकी कोई स्वार्थयुक्त कामना नहीं होनी चाहिये, न किसी दुर्वासनासे ही प्रभावित होना चाहिये और न अपने भोगके लिये कर्मफलमें अनुचित आसक्ति ही होनी चाहिये। उसको भगवान्‌के लीला-क्षेत्रमें भगवान्‌के निर्देशानुसार एक कर्तव्य-परायण खिलाड़ी बनना चाहिये और अपनी क्रीडाके सारे फलोंको सूत्रधार प्रभुके चरणोंमें अर्पण करते रहना चाहिये। उसको अपने कर्मोंकी सफलता-विफलतासे विचलित नहीं होना चाहिये; क्योंकि सारे कर्म और उनके फलके अधिकारी वस्तुतः विश्व ब्रह्माण्डके एकमात्र सूत्रधार भगवान् हैं।

अपने कर्तव्योंका परम तत्परता और श्रद्धापूर्वक पालन करते हुए, बिना किसी कामना या अहंकारके केवल प्रभुकी पूजाकी भावनासे कर्म करे। मन ईश्वरमें लगा रहे, अपने जीवनके कर्मक्षेत्रमें वह सर्वत्र भगवान्‌की संनिधिका अनुभव करनेकी चेष्टा करे। मनुष्य निरन्तर याद रखे कि उसके अपने आत्मा और विश्वात्मामें अन्ततः कोई भेद नहीं है। उसे चाहिये कि वह ईमानदारीके साथ अपने बाह्य-जीवनमें भगवान्‌के लीलाक्षेत्रमें भगवान्‌के लिये अपने स्वाँगके अनुसार खेल खेले, उसमें यही माने कि भगवान्‌की ओरसे उसके लिये यही भगवत्पूजाका विधान बना है। स्पष्ट है कि इस प्रकारसे अनुष्ठित कर्म बन्धन या दुःखका हेतु नहीं बन सकता। यह तो भगवान्‌के लिये, भगवान्‌के जगत्‌में भगवज्जनके द्वारा सम्पादित भगवान्‌का ही कर्म होता है। फिर भला, वह मनुष्यको कामोपभोगके ससीम और क्षणिक विषयोंमें कैसे बाँध सकेगा। कर्म नहीं, बल्कि अहंकारमूलक आकाङ्क्षाएँ तथा कामनाएँ और कर्मोंके अल्प तथा अनित्य फलोंकी आसक्ति और लोलुपता ही बन्धन और शोकका वास्तविक कारण है। भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करनेके लिये कहा है, उनमें इन दोषोंका सर्वथा अभाव पाया जाता है। यहाँ कर्मको उदात्त बनाकर आध्यात्मिक स्तरपर ले आया जाता है और कर्मकी भावनामें ही योग और ज्ञानके साधनका अन्तर्भाव हो जाता है। इस भावसे सम्पादित कर्म सहज ही लोक-कल्याणके हेतु बनते हैं। उनमें सारे समाजके कल्याणकी दृष्टिसे वैयक्तिक तथा वर्गगत स्वार्थोंका बलिदान तो अपने-आप होता है। कर्म यदि विश्वात्मा भगवान्‌की आराधनाके भावसे किये जाते हैं तो उससे विश्वका कल्याण ही होगा। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा उपदिष्ट 'यज्ञ' का यही वास्तविक अर्थ है। इसमें कर्म, ज्ञान और योगका—प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्गका व्यावहारिक समन्वय निष्पन्न होता है।

श्रीकृष्णने अपने जीवनमें तथा अपने उपदेशोंके द्वारा नारायणको नरका तथा नरको नारायणका रूप प्रदान किया है। भगवान् श्रीकृष्ण जिन भगवान्‌के स्वयं मूर्तरूप हैं तथा जिनका निरूपण उन्होंने मानव-समाजके सामने किया है, वे निरे गुणातीत एवं देश-कालातीत ब्रह्म नहीं हैं, जो मानवीय भावनाओंसे सर्वथा परे तथा सम्पूर्ण जागतिक व्यापारों एवं मनुष्यकी आवश्यकताओंसे उदासीन है। उन्होंने मनुष्यके सामने एक ऐसे भगवान्‌को उपस्थित किया है, जो अनादि, अनन्त, अपरिच्छिन्न एवं निर्गुण ब्रह्म होते हुए भी सतत क्रियाशील, सतत जागरूक, सतत आनन्दमय साकार-विग्रह हैं, जिनमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, उत्तम-से-उत्तम, मानवीय वेदनाएँ और भावनाएँ निहित हैं, जो मनुष्योंके साथ मधुर-सम्बन्धका निर्वाह करते हुए नाना प्रकारकी लीला करते हैं तथा जिनके भीतर वे स्वयं विभिन्न, ससीम एवं अपूर्ण रूपोंमें प्रकट होते हैं। वे ईश्वर सबमें व्याप्त होते हुए भी सबसे परे

हैं, एक ही साथ सगुण और निर्गुण दोनों हैं तथा पूर्ण शान्त, आत्मलीन और अविकारी होते हुए भी सदा कर्मरत, सतत लीलामय तथा ब्रह्माण्डमें सतत अपनेको व्यक्त करके विभिन्न रूपोंमें सदा अपना रसास्वादन करनेवाले हैं। वे महायोगेश्वर, महाज्ञानेश्वर, महाकर्मेश्वर तथा महाप्रेमेश्वर हैं। वे वेदनाओं एवं भावनाओंसे सदा परे होते हुए भी नित्य मधुरतम प्रेमी हैं, परम मनोहारी मित्र हैं, असीम करुणा और कृपासे पूर्ण प्रभु हैं। वे सबके मनोभावोंका समुचितरूपसे उत्तर देते हैं। मनुष्यको वे सर्वाधिक स्नेह करनेवाले माता-पिताके, परम अनुरागी सखा एवं क्रीड़ा-सहचरके, आवश्यकताके समय सहायताके लिये आतुर मित्रके तथा विपत्तिकालमें अत्यन्त कृपालु तथा समर्थ संरक्षकके रूपमें प्राप्त होते हैं। वे सबके स्नेहभाजन, सबके प्रशंसापात्र, सबके श्रद्धास्पद तथा सबके सम्मानके केन्द्र बनते हैं और सबके विभिन्न मनोभावोंका बिना चूके उत्तर देते हैं, उन्हें आध्यात्मिक रंग देते और पूर्णता प्रदान करते हैं। वस्तुतः उनका चरित्र वह अक्षय स्रोत है, जहाँसे सब मनुष्योंको अपनी परम विशुद्ध, परम सुन्दर, परम उन्नत तथा परम प्रभावोत्पादक भावनाएँ और उच्चाभिलाषाएँ प्राप्त होती हैं और इन्हीं भावनाओं एवं आकाङ्क्षाओंका ठीक-ठीक अनुशीलन करनेपर मानव-जीवन क्रमशः उन्नत होकर इसी दिव्य विश्व-विधानमें भगवत्ताको प्राप्त होता है।

श्रीकृष्णने ईश्वरको मनुष्यके समक्ष एक आदर्श मानव—पुराण पुरुषोत्तमके रूपमें प्रस्तुत किया है और अपने जीवनके द्वारा यह दिखला दिया है कि प्रत्येक मनुष्य इस परम आदर्श-को, इस पूर्ण मानवताको, जो भगवत्तासे अभिन्न है, यम-नियमके पालन तथा आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रकृतिकी शुद्धिके द्वारा प्राप्त कर सकता है। उसकी यह प्रकृति आपाततः सीमित तथा पार्थिव आवरणोंसे आवृत होते हुए भी वस्तुतः दिव्य है। मानव-जीवनमें यह क्षमता है कि वह इस जगत्में ही अपना उत्थान करके उसे भागवत जीवनके रूपमें बदल सकता है। भागवत मानव-शरीरमें जीवनकी अनुभूति प्रत्येक स्त्री-पुरुषकी समस्त सक्रिय चेष्टाओंका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने अनन्त दयामय ईश्वरको दीन और दुर्बलोंके सामने कर दिया, अनन्त करुणामय भगवान्को दलितों और दुखियोंके सामने; असीम क्षमावान् परमेश्वरको पापियों, भूल करनेवालों तथा अपराधियोंके सामने, मधुरतम प्रेममय प्रभुको कोमल-हृदय भक्तों तथा प्रेमियोंके सामने और पावनतम, कल्याणमय तथा आचारवान् ईश्वरको आचार-वादियोंके सामने लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने ईश्वरको सत्यान्वेषियोंके सामने आध्यात्मिक प्रकाश देनेवाले शाश्वत गुरुके रूपमें, अध्यात्मवादियोंके सामने मायातीत सच्चिदानन्द-घनरूपमें तथा योगियोंके सामने विश्वात्माके रूपमें उपस्थित कर दिया। भगवान् श्रीकृष्णने भक्तोंको यह शिक्षा दी है कि वे जगत्के सत्पुरुषों और महापुरुषोंके चरित्र तथा कर्मोंमें एवं प्रकृतिकी विभिन्न शक्तियों और दृश्योंमें अभिव्यक्त होनेवाले भगवान्के अनन्त सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्यको देखें, उसकी सराहना करें तथा उनसे प्रेम करें। समाजमें मनुष्यों अथवा प्रकृतिके अंदर जो भी शक्तियाँ हमें प्रकट हुई दीखती हैं, वे सब ईश्वरीय शक्तिकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं। सारा सौन्दर्य ईश्वरीय सौन्दर्यका ही प्रकट रूप है, सारे शुभ ईश्वरीय शीलके प्रतिरूप हैं तथा मानव-समाज और बाह्य जगत्के सारे दृश्य ईश्वरीय लीला हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने ईश्वरको सभी मनुष्योंके मन और हृदयके अत्यन्त समीप पहुँचा दिया।

सभी युगों और समस्त देशोंमें ईश्वरको अगणित प्रकारके सीमाबद्ध मरणशील जीवोंसे पूर्ण इस विस्तृत जगत्के सर्व-शक्तिमान् एवं सर्वज्ञ स्रष्टा, शास्ता और संहर्ताके रूपमें स्वीकार किया गया है। उनकी असीम शक्ति और बुद्धिमत्ता मनको चकरा देनेवाले इस जटिल और नाना रूपोंसे पूर्ण जगत्के अद्भुत सामञ्जस्य और नियमानुकूलतामें बहुत स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त हो रही है। परंतु श्रीकृष्णके विचारसे जीवनकी चरितार्थताके लिये साधना करनेवाले तत्पर साधकको भगवान्का ध्यान करते समय उनकी असीम शक्ति और बुद्धिमत्ताको बहुत अधिक महत्त्व देनेकी आवश्यकता नहीं है। बल्कि उसको चाहिये कि वह भगवान्के असीम सौन्दर्य, माधुर्य तथा सर्वाङ्गपूर्ण नैतिक गुणोंपर मनको स्थिर करे तथा उनको अपने व्यावहारिक जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करे, जिससे इसी मानव-शरीरमें वह दिव्य जीवनकी अनुभूति कर सके। पवित्रता, भलाई, माधुर्य, सत्यभाषण, प्रेम, दया, करुणा, अहंकारशून्यता, प्रसन्नता, लीलाप्रियता आदि वस्तुतः ईश्वरीय गुण हैं। ये भागवती प्रकृतिमें पूर्णरूपमें सदा बने रहते हैं। जगत्के बखेड़ोंके बीच रहते हुए भी मनुष्यको इन गुणोंको जानना और अपनाना चाहिये। आध्यात्मिक साधनाका साधक निरन्तर भगवान्का मधुर चिन्तन करके अपने अहंभावको भगवत्समर्पण करता रहे, भगवान्की स्तुति

तथा उनसे अनुराग करके, उनका आदेश समझकर भगवत्प्रेमसे प्रेरित होकर भगवान्‌के लिये आनन्द और लगनके साथ अपने कर्तव्य-कर्मोंका सम्पादन करता रहे और बाह्य जगत्‌के दृश्यों तथा मानव-समाजके क्रिया-कलापोंपर भगवान्‌की अलौकिक सुन्दरता, कल्याणप्रियता तथा आनन्दमयता और ज्ञानके प्रकाशमें विचार करते हुए अपने जीवनमें इन दैवी गुणोंका अनुभव निरन्तर बढ़ाता रहे।

भगवान् श्रीकृष्णने परम शक्तिशाली एवं तेजस्वी वैदिक देवताओंकी अपेक्षा मानव-देहधारी भगवान्‌की महिमाको बहुत बढ़ा दिया है तथा ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु तथा दूसरे महान् वेदोक्त देवताओंको पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके रूपमें अभिव्यक्त लीलामय नररूप नारायणके सम्मुख नतमस्तक किया है। उन्होंने यह दिखला दिया कि मानवीय गुण और भाव आध्यात्मिक दृष्टिसे दैवी शक्ति और ऐश्वर्यसे कहीं बढ़कर हैं तथा बल और प्रतापके प्रदर्शनकी अपेक्षा मनुष्यत्वकी पूर्णतामें ईश्वरत्व अधिक दीप्त होकर प्रकाशित होता है। ऐसा नहीं है कि श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट तथा श्रीकृष्णके द्वारा निरूपित लीलामय नराकृति भगवान्‌में शक्ति और ऐश्वर्यका अभाव था। उनकी शक्ति असीम थी, उनका ज्ञान असीम था और उनमें तेज भी असीम था। ये सब गुण इस विशाल एवं जटिल विश्व-विधानकी रचना और शासनमें सहज ही अभिव्यक्त होते हैं। परंतु अपने परतर स्वरूपमें तथा मनुष्यके साथ अपने सम्बन्धमें वे अपनी असीम शक्ति, ज्ञान और ऐश्वर्यको पीछे रखकर सर्वोच्च, सुन्दरतम और मधुरतम मानवीय गुणों और आध्यात्मिक महत्ताओंको सामने लाते हैं। भागवत चरित्रकी सुन्दरता इसीमें है कि वह अपनी अनन्त शक्ति और महत्ताको छिपाकर अपने आपको अपनी मानव प्रतिमूर्तियोंके सम्मुख शाश्वत पूर्णपुरुषके रूपमें व्यक्त करता है और इस प्रकार मनुष्यको अपनी ओर आकर्षित करता है तथा पूर्ण परमात्माकी स्थितिपर पहुँचनेमें उसकी सहायता करता है।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण इस बातको भूले नहीं हैं कि मनुष्य—जिसको उन्होंने विचार, संकल्प और कर्मकी स्वतन्त्रता प्रदान की है तथा जिसको अपना स्वभाव सुधारने, उन्नत करने और उसे नियन्त्रणमें रखनेकी शक्ति दी है,—उस एक सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ गुणातीत ब्रह्म अथवा सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक तत्त्वमें दृढ़ श्रद्धा रखे, उसका आदर और उसकी भक्ति करे। बल्कि वे मायातीत चेतन यह चाहते हैं कि मनुष्य अपने साधारण व्यावहारिक जीवनमें सदा अपने ही नहीं, अपितु प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणीके आत्माके रूपमें तथा अपने सबसे प्यारे मित्रके रूपमें, अपने अत्यन्त स्नेह करनेवाले माता-पिता तथा पति-पुत्र और अत्यन्त उदार संरक्षकके रूपमें, अत्यन्त करुणामय परोपकारी और अत्यन्त प्रसन्न साथ खेलनेवाले खिलाड़ीके रूपमें प्रभुको देखे। मनुष्य प्रभुके साथ सब प्रकारसे मधुर, उत्साहप्रद तथा उन्नायक सम्बन्ध स्थापित करके अपने जीवनके सभी छोटे-बड़े कार्योंमें प्रभुके सर्वप्रकाशक अस्तित्वका अनुभव कर सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य ईश्वरके लिये जिये और ईश्वरके लिये काम करे, प्रभुके प्रति अनुरागवश तथा प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उन्नति करे और अन्तमें अपने आपको भगवान्‌के चरणोंमें पूर्ण समर्पित कर दे तथा उनके साथ पूर्णतया युक्त हो जाय। श्रीकृष्णने जिस धर्मकी शिक्षा दी है, वह न तो कर्मकाण्डप्रचुर है, न निरा आध्यात्मिक है, बल्कि उसका स्वरूप है—अपने व्यावहारिक जीवनके प्रत्येक विभागमें, दृश्य जगत्‌के कण-कणमें ईश्वरका साक्षात्कार करना तथा प्रभुके साथ अखिल विश्वकी तथा अपनी एकताकी आनन्दमय अनुभूति करना।

श्रीराधाजीसे प्रार्थना

स्वामिनी हे वृषभानुदुलारि !
कृष्णप्रिया कृष्णगतप्राणा कृष्णा कीर्तिकुमारि ॥
नित्य निकुंजेश्वरि रासेश्वरि रसमयि रस-आधार।
परम रसिक रसपानाकर्षिणि उज्ज्वल-रसकी धार ॥
हरिप्रिया आह्लादिनि हरि-लीला-जीवन की मूल।
मोहि बनाय राखु निसिदिन निज पावन पदकी धूल ॥

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम

(लेखक—स्व० राजा श्रीदुर्जनसिंहजी)

श्रीअवधेश-कुमार, कौसल्या-प्राणाधार, जानकी-जीवन, दैत्यदर्प-दलन, हतारि-गति-दायक, भक्त-जन-रञ्जन, दुष्ट-निकन्दन, जग-हितकारी, शरणागत-भय-हारी, भगवान् श्रीरामचन्द्र महाराजके परममङ्गलमय, श्रीजनकदुलारी-हृदय-कञ्ज-भृङ्ग, श्रीसौमित्रि-कर-सरोज-लालित, पतितपावनी-श्रीसुरधुनी-प्रसूति-धाम पाद-पद्मोंसे जो इस देव-दुर्लभ वसुन्धराको पावन होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसका मुख्य प्रयोजन मर्यादा-स्थापनद्वारा कर्तव्याकर्तव्य-विमूढ़ संसारको पथ-प्रदर्शन कराना था और इसी कारण श्रीभगवान् 'मर्यादा-पुरुषोत्तम'के शुभ नामसे अलंकृत किये जाते हैं।

इस महत्त्वपूर्ण और आदर्श अवतारका यह निमित्त प्रसिद्ध है और इसके मुख्य-मुख्य कल्याणप्रद चरित्रोंमें भी, जो मर्यादा-प्रतिष्ठार्थ उदाहरणीय समझे जाते हैं—जैसे साधुओंके परित्राण और दुष्टोंके विनाशद्वारा धर्मकी संस्थापना, गुरु-भक्ति, मातृ-पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, एकपत्नीव्रत, वर्णाश्रम-धर्म-पालन, राजनीति और प्रजारक्षा इत्यादि—उपर्युक्त प्रयोजन स्पष्ट प्रकट है। परंतु प्रत्येक चरित्रका क्या रहस्य है और उसके भावोंकी सीमा कहाँतक है, जो आदर्शरूपसे मर्यादा-प्रतिष्ठार्थ ग्रहण किये जा सकें—इसका परिचय बहुत थोड़े लोगोंको है; अतः यहाँ मुख्य-मुख्य चरित्रोंपर अनुक्रमसे किंचित् विचार किया जाता है।

(१) ऐसे उदाहरणीय पावन चरित्रोंका श्रीगणेश उस लोक-हित-लीला लीलासे होता है, जिसमें निम्नाङ्कित प्रतिज्ञाकी पूर्तिका आरम्भ हुआ है, जो आपके प्रत्येक अवतारके लिये अनादि-कालसे चली आ रही है—

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

इसीके साथ इससे प्रजारक्षाका आदर्श भी प्रकट होगा। जब श्रीविश्वामित्रजी अपने यज्ञकी रक्षाके लिये दोनों मधुरमूर्ति भ्राताओंको साथ लिये आश्रमकी ओर यात्रा कर रहे थे, तब मार्गमें ताड़का नामकी विकराल राक्षसी अपने घोर रौद्र-नादसे समस्त वनप्रान्तको प्रकम्पित करती हुई इनकी ओर झपटी। उस समय श्रीभगवान्‌के सम्मुख धर्म-संकट उत्पन्न हो गया। एक ओर अपने उपास्य साधु-महात्माओंका निर्दय भक्षण और प्रजाका चर्वण करनेवाली आततायिनी पिशाचिनीके—जिसके द्वारा देशके घोर होनेकी कथा श्रीविश्वामित्रजीसे अभी सुन चुके हैं—वधका प्रसङ्ग और दूसरी ओर स्त्री-जातिपर हाथ उठानेके लिये दोष मानकर प्रतिबन्ध, जिसका आज भी पूर्ण प्रचार देखनेमें आ रहा है। किंतु साधु-महात्माओंके परित्राण और प्रजाकी रक्षाके भावका उस समय भगवान्‌के हृदयमें इतना उद्रेक हुआ कि उन्होंने उसी क्षण उस दुष्टाके संहारका कर्तव्य अभ्रान्तरूपसे निश्चित कर लिया। श्रीविश्वामित्रजी महाराजके निम्नलिखित उपदेशसे भगवान्‌के निश्चयकी पुष्टि भी हो गयी—

> नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
> चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना॥
>
> (वा० रा० १ । २५ । १७)

'हे नरोत्तम! तुमको स्त्रीवध करनेमें ग्लानि करना उचित नहीं। राजपुत्रको चारों वर्णोंके कल्याणके लिये समयपर (आततायिनी) स्त्रीका वध भी करना चाहिये।'

> नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
> पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा॥
>
> (वा० रा० १ । २५ । १८)

'प्रजा-रक्षणके लिये क्रूर, सौम्य, पातकयुक्त और दोषदुष्ट कर्म भी प्रजारक्षकको सदा करने चाहिये।'

जब साधु-महात्मा सताये जायँ और प्रजा पीड़ित की जाय, तब उस सतानेवाली और पीड़ा देनेवाली स्त्रीका वध भी अवश्य-कर्तव्य हो जाता है। पुरुष आततायी हो तो उसके लिये तो किसी विचारकी भी आवश्यकता नहीं।

इस चरित्रमें एक और गहरा रहस्य भरा हुआ है। श्रीभगवान्‌ने जो प्रथम ही स्त्रीका वध किया, इससे उन्होंने संसारको यही शिक्षा दी कि जो कोई भी प्राणी मनुष्य-जन्म धारण करके जगत्‌में धार्मिक जीवन-निर्वाह करनेका संकल्प करे, उसके लिये प्रथम और प्रधान कर्तव्य यही है कि वह सद्बुद्धिके सदुपयोगद्वारा यथाशक्य मायाका दमन करे; क्योंकि मायाके जालमें फँस जानेके बाद धर्मकी वेदीपर अपने जीवनकी आहुति दे सकना मनुष्यके लिये असम्भव-सा है।

(२) क्षात्र-धर्मका क्या रहस्य है, यह इस विचित्र चरित्रसे प्रकट होगा। परम माङ्गलिक विवाहोत्सवके पश्चात् जब

श्रीविदेहराजसे विदा लेकर श्रीकोसलनरेश अपने दल-बल-सहित अपनी राजधानी जगत्-पावनी अयोध्यापुरीको पधार रहे हैं, तब रास्तेमें क्या देखते हैं कि प्रज्वलित नेत्र और फड़कते हुए होठोंवाले भयंकर वीरवेषधारी ब्रह्मकुलविख्यात श्रीपरशुरामजी उग्ररूप धारण किये श्रीरामके शिव-धनुष भङ्ग करनेपर अपना तीव्र क्रोध प्रकट करते हुए श्रीरामसे कह रहे हैं कि 'यदि तुम इस वैष्णव धनुषपर शर-संधान कर सको तो तुमसे मैं द्वन्द्वयुद्ध करूँगा।'

यहाँ भी विकट परिस्थिति उपस्थित है। एक ओर तो ऐसे पुरुषकी ओरसे, जिसने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रिय-हीन कर दिया था और इस समय भी वैसे ही उग्र कर्मके लिये तैयार था,—इस प्रकारका युद्धाह्वान जिसे तनिक भी क्षात्र तेजवाला पुरुष एक क्षण भी सहन नहीं कर सकता और दूसरी ओर ब्राह्मणवंशके प्रति हृदयमें पूज्यभाव। अब यहाँ यदि एक भाव दूसरेको दबाता है अर्थात् यदि युद्धाह्वानको स्वीकार करके उनसे द्वन्द्वयुद्ध अथवा उनपर प्रहार करके उनके प्राण लिये जाते हैं तो पूज्य-भाव नष्ट होता है; और यदि पूज्यभावके विचारसे युद्धाह्वानके उत्तरमें उनके चरणोंपर मस्तक रखा जाता है तो क्षात्र तेजकी हानि होती है। अतः यहाँ ऐसी विचित्र क्रिया होनी चाहिये, जिससे दोनों भावोंकी रक्षा होकर दोनों पक्षोंका महत्त्व स्थिर रहे और एक भावका इतना आवेश न हो जाय कि वह दूसरेको दबा दे। अतः सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌ने इस जटिल समस्याके समाधानरूपमें कहा—

> वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव।
> अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम्॥
> (वा० रा० १।७६।३)

'हे भृगुवंशशिरोमणि! आपने एक वीर्यहीन और क्षात्रधर्मके पालनमें असमर्थ मनुष्यकी तरह जो मेरे तेजकी अवज्ञा की है, इसके लिये आज मेरा पराक्रम देखिये।'

इतना कहकर श्रीरामने उनसे धनुष लेकर उसी क्षण चढ़ा दिया। तदनन्तर क्रोधयुक्त होकर कहा—

> ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
> तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥
> इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान्।
> लोकानप्रतिमान् वापि हनिष्यामीति मे मतिः॥
> (वा० रा० १।७६।६-७)

'आप ब्राह्मण होनेके नाते मेरे पूज्य हैं, विश्वामित्रजीकी बहिन सत्यवतीके पौत्र हैं; इसलिये मैं आपके प्राण हरण करनेवाला बाण नहीं छोड़ सकता। किंतु मैं आपकी गतिका अथवा तपोबलसे प्राप्त होनेवाले अनुपम लोकोंका विनाश करूँगा।'

इस अमितप्रभावान्वित चरित्रका मुख्य उद्देश्य यही है कि जब हृदयमें दो भावोंका एक ही साथ संघर्ष हो, तब दोनोंको इस प्रकारसे सम्हालनेमें ही बुद्धिमानी है, जिसमें एक-का दूसरेके द्वारा पराभव न हो जाय, दोनोंकी रक्षा हो। साथ ही धर्मका भी नाश न होने पावे। यहाँ सामान्यतया सभी वर्णोंके लिये और विशेषतया क्षत्रियोंके लिये इस मर्यादाकी रक्षाका उपदेश है। वह यह है कि चित्तमें कितने भी उग्र भाव उत्पन्न हों, कितनी ही क्रोधाग्नि धधके, किंतु इससे जिनमें पूज्य या आदर-बुद्धि है, वह नष्ट नहीं होनी चाहिये, साथ ही अपना क्षात्र तेज भी सुरक्षित रहना चाहिये। इस मर्यादाका अनुकरण किसी अंशमें महाभारत-युद्धमें भी हुआ था। यहाँ शङ्का उत्पन्न होती है कि 'रावण भी तो ब्राह्मण ही था, फिर श्रीभगवान्‌ने उसको कुलसहित क्यों मार डाला? उसने तो केवल धर्मपत्नीका ही हरण किया था, श्रीपरशुरामजीने तो इक्कीस बार सजातियोंका विनाश किया और इस समय भी वे स्वयं भगवान्‌का संहार करनेकी बुद्धिसे ही यहाँ आये थे। द्वन्द्वयुद्धका यही तो प्रयोजन था।'

इस शङ्काका समाधान करनेके लिये श्रीपरशुरामजीके चरित्रका कुछ परिचय आवश्यक है। एक बार श्रीपरशुरामजी-के पिता अरण्यसेवी ब्रह्मनिष्ठ तपस्वी श्रीजमदग्निजीकी सर्व-स्वरूपा हविर्धानी गौको सहस्रबाहु अर्जुन जबर्दस्ती छीनकर ले गया। परशुरामजीने युद्धमें उसका वध करके अपनी गौ छुड़ा ली। तदनन्तर सहस्रार्जुनके पुत्रोंने एकान्त पाकर जमदग्निका वध कर डाला। पूज्य पिताकी इस प्रकार हत्या होनेपर परशुरामजीकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और इन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेका संकल्प कर लिया।

परशुरामजी भी श्रीभगवान्‌के ही अवतार थे। अतएव इस कार्यको करके उन्होंने दुष्कृतियोंको ही दण्ड दिया था, अतः दुष्कृति रावणके साथ इनकी तुलना नहीं हो सकती। इन दोनोंके आचरण परस्पर सर्वथा विपरीत थे। हाँ, यह अवश्य है कि श्रीपरशुरामजीका संकल्प क्रोधावेशमें सीमासे बाहर चला गया था; परंतु इस प्रकारके आवेशके निरोधकी शक्ति केवल श्रीमर्यादा-पुरुषोत्तममें ही थी, जिन्होंने किसी भी भाव या आवेशको मर्यादासे बाहर नहीं जाने दिया।

(३) धर्मयुक्त शुद्ध राजनीति क्या है, इसका चित्र भी श्रीभगवान्‌की इस धर्मशील लीलाके द्वारा पूर्णरूपसे प्रकट होता है।

जब महारानी श्रीकैकेयीने कोपभवनमें प्रवेश करके श्रीदशरथ महाराजको दो वरदानरूपी वज्रोंसे छेदकर मूर्च्छित कर दिया, तब भगवान्‌ने वहाँ उपस्थित होकर इसका कारण पूछा। उस समय कैकेयीने यह संदेह करके कि श्रीराम इतना स्वार्थत्याग सहनमें ही कैसे करेंगे, उन्हें कोई स्पष्ट उत्तर न देकर पहले उनसे प्रतिज्ञा करवानेका प्रयत्न किया। उत्तरमें श्रीभगवान्‌ने ये सतत-स्मरणीय आदर्श वचन कहे—

> तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
> करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥
> (वा० रा० २।१८।३०)

'माता! महाराजसे तुमने जो कुछ माँगा है, वह मुझे बतला दो। मैं उसे सम्पादन करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ। रामका यह सिद्धान्त स्मरण रखो, राम दो बात नहीं कहता। अर्थात् उसने जो कुछ कह दिया सो कह दिया; फिर वह उसके विरुद्ध नहीं करता।'

कैसी महत्त्वपूर्ण वचन-पालनकी प्रतिज्ञा है! विचारिये—एक ओर अनेक भोग-विलासोंसे पूर्ण विस्तृत विशाल राज्यके सिंहासनकी अभिरुचि और दूसरी ओर शीत, आतप, अवघट मार्ग, राक्षस, हिंसक पशु आदि अनेक विघ्न-बाधाओंसे युक्त, कल्पनातीत क्लेश सहन करते हुए, एकाकी अरण्य-सेवन! इस जटिल समस्यामें जिस राजनीतिके बलपर अनेक रचनाएँ रची गयीं और आजकल भी जिसे कहीं पालिसी (Policy) और कहीं डिप्लोमेसी (Diplomacy) कहते हैं, जो केवल छल-प्रधान होती है और जिसमें प्रकट कुछ और ही किया जाता है तथा भीतर कुछ और ही रहता है, यहाँ उसके द्वारा साम, दान, दण्ड और भेदरूप चतुर्विध नीतिका प्रयोग करके युक्ति और चतुराईसे काम लेनेका प्रयोजन कोई ऐसा उपाय सोच निकालना ही होता, जिससे सिंहासनका स्वार्थ हाथसे न जाता। किंतु श्रीरामके परम पवित्र हृदयमें राजनीति और धर्म दो रूपमें नहीं थे। वहाँ तो राजनीतिका अर्थ ही 'धर्मसे अविरुद्ध' निश्चित था और धर्मकी दृष्टिसे एक अयोध्याका तो क्या, चौदह भुवनका साम्राज्य भी मृग-मरीचिका ही है। इससे सिद्ध होता है कि स्वधर्मका लोप करके स्वार्थ-साधन करना मनुष्यमात्रके लिये निषिद्ध है; फिर राजापर तो नराधिपति होनेके नाते उसकी सब प्रकारकी रक्षा करनेका दायित्व है। धर्मात्मा राजा कभी स्वार्थमें लिप्त नहीं हो सकता। यथार्थ राजनीति वही है, जिससे धार्मिक सिद्धान्तोंका खण्डन न होकर व्यवहारकी सुकरता हो जाय। अर्थात् साम, दान, दण्ड और भेदरूप नीतिके द्वारा ऐसी युक्ति और निपुणतासे काम लिया जाय, जिससे व्यवहार भी न बिगड़ने पावे और धर्मका विरोध भी न हो। छल-प्रतारणादि-प्रधान दुष्टबुद्धिसे किसी व्यवहारको सिद्ध भी कर लिया, तो वह वस्तुतः कूटनीतिका कार्य पापमें परिणत होकर मनुष्यको नरकमें ले जाता है। इसके लिये श्रीयुधिष्ठिर महाराजका उदाहरण प्रसिद्ध है। जिनको आजन्म दृढ सत्यनिष्ठ रहते, उन्हें युद्धके अवसरपर दूसरोंके अनुरोधसे केवल एक बार और वह भी दबे हुए शब्दोंमें अन्यथा बोलनेके कारण दुःखप्रद नरकका द्वार देखना पड़ा।

(४) भ्रातृप्रेमकी पराकाष्ठा देखना चाहें तो इस कथामृतका पान कीजिये—

जब चित्रकूटमें यह सूचना पहुँची कि श्रीभरतजी चतुरङ्गिणी सेना लिये धूमधामसे चले आ रहे हैं, तब लक्ष्मणजीने क्रोधावेशमें भरतजीको युद्धमें पराजित करनेकी प्रतिज्ञा कर डाली। भगवान् श्रीराम तो उसको सुनते ही सन्न हो गये। बड़ी विकट परिस्थिति है। एक ओर यह प्यारा सरल भाई है, जो सर्वस्व त्यागकर अनन्यभावसे सेवामें तत्पर है और इस क्षण भी सान्निध्यमें ही उपस्थित है, एवं दूसरी ओर वह प्रिय भ्राता है, जो समीप नहीं है और जिसको माताकी क्रूरताके कारण ही आज वनवासका दारुण दुःख सहना पड़ रहा है, परन्तु जिनके साथ परस्पर परम गूढ़ और अनिर्वचनीय प्रेम है। सामान्यरूपसे जगद्-व्यवहारानुकूल अपरोक्षपर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। किंतु श्रीभगवान्‌का हृदय ऐसी मुँहदेखी बातोंको कब स्वीकार कर सकता था! वहाँ तो परोक्ष अपरोक्ष दोनों ही समान हैं। ऐसी दशामें अपने प्रेमीके विरुद्ध श्रीरामको एक शब्द भी कैसे सहन हो सकता था! विरुद्ध शब्दोंके कानमें पड़ते ही प्रेमावेशसे तत्काल उत्तेजित होकर श्रीरामने प्यारे भाई श्रीलक्ष्मणके खिन्न होनेकी कुछ भी परवा न करके ये वचन कह ही डाले—

'भाई लक्ष्मण! धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वी—जो कुछ भी मैं चाहता हूँ, वह सब तुम्हीं लोगोंके लिये। यह तुमसे मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। भरतने तुम्हारा कब क्या अहित किया है, जो तुम आज ऐसे भयाकुल होकर भरतपर सन्देह कर रहे हो! तुमको भरतके प्रति कोई अप्रिय या क्रूर वचन नहीं

कहना चाहिये। यदि तुम भरतका अपकार करोगे तो वह मेरा ही अपकार होगा। यदि तुम राज्यके लिये ऐसा कह रहे हो तो भरतको आने दो; मैं उससे कह दूँगा कि तुम लक्ष्मणको राज्य दे दो। भरत मेरी बातको अवश्य ही मान लेंगे।'

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि श्रीभगवान्‌का श्रीलक्ष्मणजीके प्रति उतना प्रेम नहीं था; उनका तो प्राणिमात्रमें प्रेम है, फिर अपने अनन्य सेवक प्यारे कनिष्ठ भ्राता लक्ष्मणके लिये तो कहना ही क्या है। यहाँ जो क्षोभ हुआ है, वह वास्तवमें लक्ष्मणजीपर नहीं है। उनके हृदयमें जो विकृति उत्पन्न हो गयी थी, उसीको निकालनेके लिये श्रीभगवान्‌का यह कठोर यत्न है। भगवान्‌के वचन सुनते ही श्रीलक्ष्मणजीका मनोविकार नष्ट हो गया। इस प्रकार अन्य प्राणियोंके साथ भी किया जाता है। श्रीभगवान्‌को किसीसे तनिक भी द्वेष नहीं है। सबके आत्मा होनेके कारण वे तो सबके आत्मरूप हैं। केवल अङ्कुरित विकृतियोंको ही वे यथोचित दण्डादि विधियोंके द्वारा नष्ट किया करते हैं।

(५) अब नास्तिकवादको किसी प्रकार भी न सह सकनेका एक अभ्रान्त दृष्टान्त सुनिये। श्रीभरतजीने जब चित्रकूट पहुँचकर श्रीभगवान्‌को अवधपुरी लौटाकर राज्याभिषिक्त करनेके अनेक यत्न किये, अनेक प्रार्थनाएँ कीं और श्रीवसिष्ठजी आदि ऋषियोंने भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार परामर्श दिया, तब उन ऋषियोंमें जाबालि ऋषिका मत सनातनधर्मसे नितान्त विरुद्ध प्रकट हुआ। नमूनेके लिये एक श्लोक लीजिये —

तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित्॥

(वा० रा० २। १०८। ४)

'हे राम! अतएव यह माता है, यह पिता है—यों समझकर जो इन सम्बन्धोंमें लिप्त होता है, उसे उन्मत्त-जैसा जानना चाहिये; क्योंकि कोई किसीका नहीं है।' ऐसे ही और भी धर्मविरुद्ध बातें थीं। श्रीभगवान्‌के लिये यह अतिशय जटिल प्रसङ्ग था। एक पक्षमें था घोर नास्तिकवाद और दूसरेमें उसको प्रकट करनेवाले अपने कुलपूज्य ऋषि। श्रीभगवान् बड़े ही ब्रह्मण्य थे। फिर जाबालि ऋषि तो कुलके आदरणीय एवं उपास्य हैं। ऐसे महानुभावके प्रति श्रीरामके अगाध हृदयमें विकृत भाव कब उत्पन्न हो सकते थे। परन्तु धर्मके नितान्त विरुद्ध शब्दोंने—जिनका आशय श्रीभगवान्‌को सत्यसे विचलित करना था—हृदयमें परिवर्तन कर दिया। श्रीभगवान्‌ने उस समय मर्यादा-रक्षार्थ नास्तिकवादका तीव्र विरोध करना ही उचित समझा और तिरस्कारपूर्वक ऋषिके प्रति जो कुछ कहा, उसका एक वचन यह है—

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्यानयैवं विधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्॥

(वा० रा० २। १०९। ३३)

'इस प्रकारकी बुद्धिसे आचरण करनेवाले तथा परम नास्तिक और धर्ममार्गसे हटे हुए आपको जो मेरे पिताजीने याजक बनाया, मैं उनके इस कार्यकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि आप अवैदिक दुर्मार्गाश्रित बुद्धिवाले हैं।'

आखिर, जाबालिके यह कहनेपर कि 'मैं नास्तिक नहीं हूँ, केवल आपको लौटानेके लिये ऐसा कह रहा था' और वशिष्ठजीके द्वारा इसका समर्थन किये जानेपर भगवान् शान्त हुए। धर्म और सत्यके उत्कट भावोंके आवेशमें नास्तिकवादकी अवज्ञाकी सीमा यहाँतक पहुँची कि पितृभक्तिमें बँधे हुए श्रीरामने, जो पूज्य पिताके सत्यकी रक्षाके लिये आज अनेक संकट सहन कर रहे हैं, पिताके कार्यके प्रति भी अश्रद्धा प्रकट की। इससे जो मर्यादा स्थिर की गयी, उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य यही है कि मनुष्यको अन्य सब विचार त्यागकर नास्तिकभावोंका उग्र विरोध करना चाहिये।

(६) अब गुरुभक्तिके गङ्गातरङ्गवत् पावन प्रसङ्गपर विचार कीजिये।

यों तो कुल-उपास्य श्रीवशिष्ठ महाराजका महत्त्व स्थान-स्थानपर प्रकट है ही। प्रत्येक धार्मिक और व्यावहारिक कार्यमें उनकी प्रधानता रही है, जो गुरुभक्तिका पूर्ण प्रमाण है। परन्तु देखना तो यह है कि विकट समस्या उपस्थित होनेपर अन्य उदाहरणीय चरित्रोंकी तरह गुरुभक्तिके प्रबल भावोंका ही हृदयमें साम्राज्य होकर उसकी अनन्यता किस विशेष चरित्रके द्वारा सिद्ध हो सकती है।

खेदसे कहना पड़ता है कि श्रीवाल्मीकि-रामायण मर्यादा-रक्षाके इस एक मुख्य अङ्गकी पूर्तिमें असमर्थ रही। उसमें कहीं भी ऐसा प्रसङ्ग नहीं है, जिसके द्वारा इसको सिद्ध किया जा सके। प्रत्युत चित्रकूटमें तो उपर्युक्त प्रसङ्गमें जब श्रीगुरु महाराजने बड़े प्रबल हेतुवादके द्वारा श्रीभरतजीके पक्ष-समर्थनकी चेष्टा की, तब दूसरोंकी भाँति उनका कथन भी भगवान्‌ने स्वीकार नहीं किया।

श्रीरामचरितमानसने अपनी सर्वाङ्गपूर्णता सिद्ध करते हुए चित्रकूटकी लीलामें ही इस मर्यादाकी भी यथेष्ट रक्षा की है।

श्रीवशिष्ठजी महाराज भरतजीका पक्ष लेकर भगवान्से कहते हैं—

सब कें उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ॥

इसपर भगवान्ने जो उत्तर दिया, वह गुरुभक्तिकी पराकाष्ठा है—

सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहिं हाथ उपाऊ॥
सब कर हित रुख राउरि राखें। आयसु किएँ मुदित फुर भाषें॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई॥

विचारिये—कहाँ तो पितृभक्तिके निर्वाहार्थ वनवासके लिये आप इतने दृढ़ हो रहे थे कि यदि कोई उसके विरुद्ध कहता था तो उसे तुरत उचित उत्तर दे दिया जाता था; परंतु आज गुरुदेवकी आज्ञाके सम्मुख श्रीभगवान्ने अपना वह संकल्प सर्वथा ढीला कर दिया। गुरुभक्तिकी इससे अधिक क्या मर्यादा हो सकती है।

(७) मातृभक्तिकी परम सीमाका यह उच्च उदाहरण सुनने योग्य ही है—

पञ्चवटीमें श्रीजानकीजीसहित दोनों भ्राता सुखपूर्वक बैठे परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। जब श्रीलक्ष्मणजीने श्रीभरतजीकी श्लाघा करते हुए कहा—

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी॥
(वा० रा० ३।१६।३५)

'जिसके पति श्रीदशरथजी महाराज और पुत्र साधुस्वभाव भरतजी हैं, वह माता कैकेयी ऐसी क्रूर स्वभाववाली कैसे हुई ?'

यहाँ भी एक ओर वही प्राणपणसे सेवामें तत्पर 'अलीक वचन बोलनेवाले' कनिष्ठ भ्राता हैं और दूसरी ओर वही विमाता, जिसके कारण यह सारा उत्पात और विघ्न हुआ। परंतु जो कुछ भी हो, मातृभक्तिके भावोंने हृदयमें इतना उत्कट रूप धारण किया कि माताके विरुद्ध एक भी वचन उन्हें सहन नहीं हुआ। श्रीभगवान्ने कहा—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥
(वा० रा० ३।१६।३७)

'हे भाई! तुमको मँझली माताकी निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये। इक्ष्वाकुकुलश्रेष्ठ भरतजीकी ही बात करनी चाहिये।'

इससे अधिक मातृभक्तिकी मर्यादा और क्या हो सकती है!

(८) मित्रधर्म और स्वामिधर्म दोनोंकी पराकाष्ठाके विचित्र चित्रके दर्शन निम्नाङ्कित एक ही मर्मस्पर्शी लीलामें हो जाते हैं।

भगवान्के निर्मल, विशिष्ट और मर्यादापूर्ण चरित्रोंमें तीन ऐसे हैं, जिनके विषयमें उनके यथार्थ स्वरूपकी अनभिज्ञताके कारण अबोध मनुष्य प्रायः आक्षेप किया करते हैं। इन तीनोंमें एक वालि-वधकी लीला है।

अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या, स्वयं वालीने भी श्रीभगवान्को उलाहना दिया है। उसके आक्षेपोंके उत्तरमें अनेक प्रकारसे समाधान किया गया है। किन्तु इसमें सबसे मुख्य समाधान निम्नाङ्कित है।

जिस समय सुग्रीवसे मित्रता करके श्रीभगवान्ने प्रतिज्ञा की थी, उसी समयके वचन हैं—

प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसंनिधौ।
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम्॥
(वा० रा० ४।१८।२८)

'मैंने सुग्रीवको जो वचन दिया था, उस प्रतिज्ञाको अब कैसे टाल सकता हूँ!'

विचारिये—वालीने साक्षात् श्रीभगवान्का कोई अपराध नहीं किया था, किंतु वह उनके मित्र सुग्रीवका शत्रु था। अतः उसको अपना भी शत्रु समझकर उसके वधकी तत्काल प्रतिज्ञा की गयी। यही तो मित्र-धर्मकी पराकाष्ठा है। मित्रका कार्य उपस्थित होनेपर अपने निजके हानि-लाभका सारा विचार छोड़ उसका कार्य जिस प्रकार भी सम्भव हो, साधना चाहिये। इसीलिये मित्रके सुख-सम्पादनार्थ उसके शत्रुरूप भ्राताका वध किया गया। इस बातके समझनेमें तो अधिक कठिनता नहीं है, किंतु जिस बातपर मुख्य आक्षेप होता है, वह यह है कि 'वालीको युद्धाह्वानद्वारा सम्मुख होकर धर्मपूर्वक क्यों नहीं मारा ?' इस शङ्काका समाधान श्रीवाल्मीकीय या मानस दोनों रामायणोंके मूलसे नहीं होता। टीकाओंके निर्णयानुसार यथार्थ बात यह थी कि वालीको एक मुनिका वरदान था कि सम्मुख युद्ध करनेवालेका बल उसमें आ जायगा, जिससे उसके बलकी वृद्धि हो जायगी। इस दशामें भगवान्के लिये एक जटिल समस्या आ खड़ी हुई। वालीको प्रतिज्ञा-पालनार्थ अवश्य मारना है। यदि अपनी ऐश्वर्यशक्ति-

से काम लेते हैं तो उस वरदानकी महिमा घटती है, जो उन्हींकी भक्तिके बलपर मुनिने दिया था और यदि वरदानकी रक्षा की जाती है तो धर्मपूर्वक युद्ध न होनेसे पापकी प्राप्ति और जगत्में निन्दा होती है। इस समस्याके उपस्थित होते ही स्वामिधर्मके भाव हृदयमें इतने प्रबल हो गये कि भगवान्ने अपने धर्माधर्म और निन्दा-स्तुतिके विचारको हृदयसे तत्काल निकाल, अपने जनका मुख ऊँचा करना ही मुख्य समझा, उस सुग्रीवसे लड़ते हुए वालीको बाणसे मारकर गिरा ही तो दिया।

इससे यही मर्यादा निश्चित हुई कि स्वामीको कोई ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये, जिससे अपनी स्वार्थ-सिद्धिके द्वारा अपने दास या सेवकका महत्त्व घटे। इस विषयपर सत्य हृदय और निष्पक्ष बुद्धिसे विचार करना चाहिये कि श्रीभगवान्का धर्मयुक्त कार्य वरदानकी महिमाको क्षीण करते हुए सम्मुख धर्मयुद्ध करना होता या अब हुआ है, जिसमें अपने निजका विचार हृदयसे निकालकर केवल अपने जनके वरकी प्रतिष्ठा रखी गयी!

(९) अब शरणागत-वत्सलताके महत्त्व-निरूपणका प्रसङ्ग देखिये।

जिस समय विभीषणजी अपने भ्राता रावणसे तिरस्कृत होकर श्रीरामदलमें आये, उस समय श्रीभगवान्ने अपने सभी समीपस्थोंसे सम्मति ली। उनमें हनुमान्को छोड़कर अन्य किसीका मत विभीषणके अनुकूल नहीं हुआ। बात भी ऐसी ही थी। अकस्मात् आये हुए साक्षात् शत्रुके भाईका सहसा कैसे विश्वास हो। किंतु इन सब विचारोंको हृदयमें किंचित् भी स्थान न दे शरणागत-वत्सलताके भावके वशीभूत हो श्रीरामने सहसा अपना निश्चय इस वचनके द्वारा प्रकट कर दिया, जो शरणागतिका महावाक्य समझा जाता है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी शरण होकर तथा यह कहकर कि मैं तुम्हारा हूँ, मुझसे रक्षा चाहे, उसे मैं समस्त भूतोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

(१०) लोकमतका क्या मूल्य है और राजाको लोकहितकी कितनी आवश्यकता है, इस प्रमुख विषयपर यह दृढहृदयशीला लीला पूर्ण प्रकाश डालेगी; इसी चरित्रसे पातिव्रत-धर्म और एकपत्नीव्रतका आदर्श भी सिद्ध होगा। वालि-वध-लीलामें कहा गया था कि भगवान्की तीन लीलाओंपर आक्षेप होता है। उनमें दूसरी यह है। किंतु यह आक्षेप ऐसे मनुष्योंके द्वारा होते हैं, जिनमें इस कराल कालके कारण पूर्ण विकृतियाँ आ गयी हैं। इस परम संकीर्णताके युगमें ऐसे राजाओंके दर्शन तो हों ही कहाँसे, जो प्रजाके आन्तरिक भाव जाननेका यत्न करके उनके कष्ट, क्लेश या अपवादोंको यथाशक्य दूर करनेकी चेष्टा करें; ऐसे भी तो नहीं हैं, जो खुले रूपसे धर्मपूर्वक आन्दोलनके द्वारा प्रकट होनेवाले लोकमतका भी आदर करें। आजकल तो ऐसे प्रयासोंका उलटा दमन होता है। आजकलकी नीतिके अनुसार तो न्यायका पात्र वही समझा जाता है, जो अपने प्रबल संगठनद्वारा राज्यको बाध्य करे। बस, ऐसी ही क्षुद्र नीतियोंका अनुभव करके लोग इन उदार चरित्रोंपर तुरंत कुतर्क करनेको सन्नद्ध हो जाते हैं और यह नहीं सोचते कि उस रामराज्यमें लोकमतके आदरकी सीमा इतनी ऊँची थी कि वह आजकलके संकीर्ण विचारवालोंकी कल्पनातकमें नहीं आ सकती। प्रत्युत वे तो उसमें उलटे दूषण लगाते हैं। उस समय प्रजाके सच्चे हितके लिये कैसा भी कठिन साधन बचाकर नहीं रखा जाता था। इसका एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यह है। एक दिवस कुछ हास्यकार पुरुष हास्यादिद्वारा श्रीभगवान्को रिझा रहे थे। उसी प्रसङ्गमें श्रीभगवान्ने उनसे पूछा कि 'नगरमें हमारे सम्बन्धकी क्या बातें हुआ करती हैं?' उत्तरमें निवेदन किया गया कि 'सेतुबन्धन, रावण-वधादि अद्भुत कार्योंकी पूर्ण प्रशंसा है; किंतु इस प्रकारकी चर्चा भी नगरमें हो रही है कि रावणने जिन श्रीसीताजीको अङ्कमें लेकर उनका हरण किया और जिन्होंने उसके घरमें निवास किया, उनको जब महाराजने स्वीकार कर लिया, तब अब हम भी अपनी स्त्रियोंके ऐसे कार्योंको सहन करेंगे।'

श्रीभगवान्को यह सुनकर परम खेद हुआ। उन्हें अपनी आदर्श पतिव्रता सहधर्मिणीकी पूर्ण पवित्रताका अटल निश्चय था। बल्कि रावण-विजयके अनन्तर उसको अपने समीप बुलाकर कठिन अग्निपरीक्षा भी करा ली गयी थी और उसमें वह सबके समक्ष डंकेकी चोट उत्तीर्ण हुई थी। इस प्रकार अपनी पत्नीके सूर्यवत् निष्कलङ्क सिद्ध होते हुए भी केवल लोकमतका महत्त्व बढ़ानेके लिये मर्यादा-पुरुषोत्तमने अपनी उस प्राणप्रियाके—जिसका वनवासमें किंचित्-कालीन

वियोग ही सर्वथा असह्य हो गया था—परित्यागका ही पूर्ण निश्चय कर लिया।

कहिये, लोकमतका इससे अधिक आदर क्या हो सकता है। और इसी कारण ऐसा त्याग किया गया, जिससे अधिक सम्भव ही नहीं। परन्तु इसमें मुख्य तथा विचारणीय बात यह है कि यहाँ निरे थोथे लोकमतका ही आदर नहीं किया गया है, इसमें परम लोकहित भी अभिमत था; क्योंकि संसारकी दृष्टि अन्तर्वर्ती हेतुओंके तकतक न पहुँच केवल परिणामपर रहती है। अतः श्रीजानकीजीका जैसा शुद्ध चरित्र था, उसकी सर्वथा उपेक्षा करके स्थूलदृष्टिके द्वारा यही प्रसिद्ध हो गया कि जब राजाने राक्षसोंके वशमें प्राप्त हुई पत्नीको ग्रहण कर लिया, तब प्रजा भी राजाका ही अनुकरण करेगी। विचारिये, यदि श्रीभगवान् अपने हृदयको पाषाण बनाकर श्रीजानकीजीका त्यागरूप उग्र कार्य न करते तो सदाचारको कितना भयानक धक्का पहुँचता ? सभी स्त्रियाँ श्रीजानकीजीके तुल्य ऐसे कठिन पातिव्रतधर्ममें दृढ नहीं रह सकतीं। विशेषकर कलियुग-सरीखे समयमें। सच पूछा जाय तो यह आदर्श आजकल-से समयके लिये नहीं था, क्योंकि आज तो सदाचारका सर्वथा लोप होकर संसारमें धर्मविरुद्ध विचारोंकी यहाँतक प्रबलता है कि लोग विवाह-संस्काररूप मुख्य संस्कारके सम्बन्धोंको भी छिन्न-भिन्न करवानेके लिये राजासे कानून बनवा रहे हैं। इस कराल कालमें योनि-पवित्रता तो कोई वस्तु ही नहीं रही। इसके कारण देश थोड़े ही समयमें वर्णसंकर-सृष्टिसे व्याप्त हो जायगा। श्रीभगवान्‌के इस दूरदर्शितापूर्ण चरित्रसे पातिव्रतधर्म और एकपत्नीव्रतकी भी पूर्ण पराकाष्ठा प्रमाणित हुई। श्रीजानकीजीकी, जबतक वे श्रीभगवान्‌के साथ रहीं, पूर्ण अनुरक्तता प्रकट ही है और अन्तमें भी उन्होंने स्वामीकी आज्ञाका पालन करते हुए ही घोर यातना सहकर शरीर-त्याग किया। साथ ही श्रीभगवान्‌ने भी कभी अन्य स्त्रीका संकल्प भी हृदयमें नहीं किया और वियोगके पश्चात् ब्रह्मचर्यमें ही अपनी लीला सम्पन्न की।

उपर्युक्त दस पवित्र चरित्रोंसे जो मर्यादा स्थिर की गयी है, उसका यथामति दिग्दर्शन कराया गया।

अन्तमें इतनी बात और प्रदर्शित करनी आवश्यक है कि सामूहिक रूपसे इस लेखमें प्रतिपादित समस्त चरित्रोंसे या अन्योंसे भी, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है, यह परम अनुकरणीय मर्यादा और निश्चित होती है कि प्रारब्ध-वशात् कितनी भी आपत्तियोंके आनेपर भी मनुष्यको पुरुषार्थ-हीन होकर कभी भी लक्ष्यच्युत नहीं होना चाहिये। विचारिये, श्रीरामकी परम दारुण आपत्तियाँ राज्यसिंहासनके त्याग या वनवासमें ही समाप्त नहीं हुईं, किंतु यहाँतक पीछे पड़ीं कि प्राणसे प्यारी धर्मपत्नीका भी वियोग हो गया और वह भी सामान्यरूपसे नहीं, एक विकट और प्रबल राक्षसके हरण-द्वारा। परंतु जितनी जितनी अधिक भीषण आपत्तियाँ आयीं, उतने-ही-उतने अधिक पुरुषार्थके लिये उनका उत्साह होता गया। अतः प्राणीमात्रके जीवनकी सफलताके लिये श्रीभगवान्‌के द्वारा यह सर्वोच्च शिक्षारूप मर्यादा स्थिर की गयी है कि जितनी अधिक आपत्तियाँ आयें, उतना ही अधिक पुरुषार्थ किया जाना चाहिये।

भगवान्‌को भक्त सबसे अधिक प्रिय हैं

भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(रामचरित० उत्तर०)

श्रीभगवान्‌का रूप चिन्मय है

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

जिस प्रकार ज्ञान और आनन्द आदि श्रीभगवान्‌के स्वरूपभूत गुण हैं, उसी प्रकार कर-चरण-नयन-वदनादिमान् रूप भी उनका स्वरूप ही है; क्योंकि श्रुतिने इसे भी उनका स्वरूप ही बताया है।

भगवद्विग्रह स्वाभाविक है—स्वसत्तात्मक है; आगन्तुक, परकीय, प्राकृत, त्रिगुणमय नहीं है। साम्प्रदायिक विद्वत्समाजमें यह प्रश्नोत्तर प्रचलित है—'किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः ? यदात्मको भगवान्। किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मको भगवान्।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि भगवद्-व्यक्ति भगवत्-स्वरूप ही है।

श्रीभगवान्‌का सौन्दर्य-सार-सर्वस्व, अवाङ्मनस-गोचर दिव्य रूप श्रुति-शास्त्रोंका एकमात्र लक्ष्य है। परमहंस महामुनिजन उसी श्रीविग्रहके चरणोंके चिन्तनमें लीन रहा करते हैं। वह श्रीविग्रह अत्यन्त विनिर्मल है। यदि वहाँ भी दोष-धातु-मलका सन्निवेश होता तो सोरोंके संत गोस्वामी तुलसीदासजी एक बार रामा-विरक्त होकर दुबारा रामानुरक्त क्यों होते ?

जिस प्रकार पाषाण-प्रतिमाका उपादान पाषाण है, उस प्रतिमाके चरण-वदनादि अवयव पाषाणमय हैं, उसी प्रकार ईश्वरके चिद्घन-विग्रहका उपादान चैतन्य है, उसके चरण-वदनादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी चैतन्यमय हैं।

जिस प्रकार लोकमें जाया-पतिसे 'अपरस्परसम्भूत' सृष्टि होती है, उसी प्रकार श्रीमन्नारायण-भगवान्‌से ब्रह्मदेवका जन्म नहीं होता। उनके तो नाभि-सरोरुहसे ही चतुरानन ब्रह्मदेवका आविर्भाव शास्त्रमें वर्णित है। ईश्वर-विग्रहमें इन्द्रियचिह्न भक्त-जन-ध्येय होनेके कारण, लौकिक पुरुषके स्तनके समान, केवल सौन्दर्य-विधायी होते हैं। लोकमें देखा जाता है कि जन्म-समयमें बालक-बालिकाओंके स्तनचिह्न एक-से होते हैं। बालिकाओंके स्तन, उनके प्राप्तवयस्क होनेपर स्तनधयोंके पोषक होते हैं; किंतु बालकोंके स्तन, उनके प्राप्तवयस्क होनेपर, स्तनन्धयोंके पोषक न होकर केवल सौन्दर्य-विधायी ही होते हैं। श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहमें भी उपस्थोपस्थिति भक्तजनोपस्थेय होनेके कारण केवल सौन्दर्य-निमित्तक है।

भगवान्‌के विख्यात 'सच्चिदानन्द' नामका प्रथमांश 'सत्' है। इसी सत्‌को 'शुद्ध तत्त्व', 'शुद्ध सत्त्व', 'विशुद्ध तत्त्व', अथवा 'विशुद्ध सत्त्व' कहा जाता है; न कि प्राकृत सत्त्वगुणके किसी अंश-विशेषको। शास्त्रने भगवान्‌में प्राकृत गुणोंका निषेध किया है—

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।

कर-चरणादिमान् भगवद्-रूपके भगवत्-स्वरूप होनेके कारण उस रूपका सत्, सत्स्वरूप आदि शब्दोंसे निर्देश करना उचित ही है। इसी प्रकार उसको चित्, चिन्मय, संवित्, ज्ञानमय, आनन्दमय आदि शब्दोंसे अभिहित करना भी शास्त्रीय ही है। ऐसे सभी शब्दोंके भावको सूचित करनेके लिये भक्तजन 'सच्चिदानन्दघन' शब्दका प्रयोग किया करते हैं, जिसका अर्थ है—सच्चिदानन्दकी मूर्ति। घन शब्दका अर्थ है मूर्ति—

घनो मूर्तौ। (अष्टाध्यायी ३। ३। ७७)

भक्तिमें अपार शक्ति

(रचयिता—साहित्य-वाचस्पति दीनानाथ चतुर्वेदी, शास्त्री 'सुमनेश')

ज्ञान तौ मान कौ सोसक है, पुनि पोसक मानहु चित्त कौ भार है।
प्यार असार है जीवकी हार, समाधिमें स्वासन कौ निरहार है॥
वासना सिंधु महा 'सुमनेश', वाकी सजोर विसैली बयार है।
उक्ति सजुक्ति विमुक्ति औ मुक्ति, विरक्ति तें भक्तिमें सक्ति अपार है॥

भक्तिके परम लक्ष्य—भगवान् नारायण

भगवान्‌की दिव्य गुणावली

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

भगवान्‌की दिव्य गुणावलीका वर्णन यथार्थतः कौन कर सकता है ? वही, जिसको भगवान्‌के असीम अनुग्रहसे उनके विमल निरञ्जन रूपकी एक भव्य झाँकी प्राप्त हो गयी हो । इस प्रत्यक्ष अनुभवके अभावमें शास्त्र ही हमारे एकमात्र सहायक हैं । शास्त्र भी तो महर्षियोंके प्रातिभ चक्षुके द्वारा निर्ध्यात तथा अनुभूत तथ्योंके प्रतिपादक ग्रन्थ हैं और उनका महत्त्व भी इसी बातमें है कि वे ऋषियोंकी विविध अनुभूतियोंके तात्त्विक परिचायक हैं । शास्त्रके वचनोंका ही सम्बल लेकर यह दीन लेखक इस महनीय प्रयासके लिये यहाँ तत्पर है ।

दिव्यगुणौघनिकेतन सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌के गुणोंकी इयत्ता नहीं—अवधि नहीं । उनके गुणोंकी गणना न तो कोई कर सका है और न भविष्यमें ही उसे करनेकी किसीमें क्षमता हो सकती है । श्रीमद्भागवतका स्पष्ट कथन है कि लगातार अनेक कल्पोंतक प्रयत्न करनेसे भूमिके कणोंको कोई गिननेमें भले ही समर्थ हो जाय, परंतु उस अखिलशक्तिधामके गुणोंको गिन डालना एकदम असम्भव है । बात यह है कि भगवान् स्वयं अनन्त हैं और उनके गुण भी उसी प्रकार अनन्त हैं—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ४ । २)

भागवतके एक दूसरे स्थल (१० । १४ । ७) में भी इसी विशिष्टताका निर्देश अन्य उदाहरणोंकी सहायतासे किया गया है ।

भगवान्‌का बहिरङ्ग कितना सुन्दर तथा मधुर है ! उनके शरीरसे निकलनेवाली प्रभाकी तुलना एक साथ उगनेवाले करोड़ों सूर्योंकी चमकके साथ दी जाती है—'कोटिसूर्यसमप्रभः ।' गीतामें भी इस विशिष्टताका उल्लेख है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥

(११ । १२)

इस पद्यका 'सहस्र' शब्द भी अनन्त संख्याका ही बोधक माना जाना चाहिये । आकाशमें यदि हजारों सूर्य एक साथ उदय हो जायँ तो वह प्रकाश भी भगवान्‌के प्रकाशकी समता किसी प्रकार नहीं पा सकेगा । हमारी भौतिक आँखें इस एक कलाधारी सूर्यको एकटक देखनेमें चौंधिया जाती हैं, वो उस दिव्य रूपका दर्शन क्यों कर सकती हैं ? इसीलिये तो भगवान्‌ने अपने ऐश्वर्यको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्य नेत्र प्रदान किये थे—

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

(गीता ११ । ८)

भगवान् करोड़ों चन्द्रमाके समान शीतल हैं (कोटिचन्द्रसुशीतलः) तथा वे करोड़ों वायुके समान् महान् बलशाली हैं (वायुकोटिमहाबलः) । भगवान् सौन्दर्य तथा माधुर्यके निकेतन हैं । उस पुरुषकी अलौकिक शोभा क्या कही जाय, जिसे लक्ष्मी अपने हाथमें कमल धारणकर स्वयं खोजती फिरती है । कौन लक्ष्मी ? वही लक्ष्मी, जिसे संसार पागल होकर ढूँढ़ता फिरता है । आशय यह है कि विश्वके प्राणियोंके द्वारा खोजी जानेवाली लक्ष्मी भी जिसके पीछे पागल होकर भटकती फिरती है, भला, उस व्यक्तिके रूप-सौन्दर्यकी आकर्षणकी सीमा कहाँ । उसके अलौकिक माधुर्यकी इयत्ता कहाँ ! वह स्वयं सौन्दर्य-सुधा-सागर चन्द्रमा अपनी रूपसुधाको छिटकाता हुआ जब मस्तीमें आकर झूमता निकलता है, तब भला, उसके अलभ्य सौन्दर्यकी कहीं तुलना है । भागवतकार अपनी मस्तीमें बोल उठते हैं—

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥

इसीलिये वे 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' की उपाधिसे विभूषित किये जाते हैं । तुलसीदासके शब्दोंमें वे 'कोटि मनोज लजावनिहारे' हैं । एक कामदेव नहीं, करोड़ों कामदेव जिनकी सुन्दरता देखकर लज्जित हो जाते हैं, वे भगवान् कितने सुन्दर होंगे—इस विषयमें तो भावुकोंकी भी बुद्धि कल्पनाकी दौड़में आगे नहीं बढ़ती, दूसरोंकी तो बात ही क्या । ऐसे श्यामके ऊपर गोपिकाओंका रीझना कुछ अचरजकी बात नहीं

है। महाकवि 'द्विजदेव' की सम्मतिमें श्रीकृष्णका रूप ही ऐसा अद्भुत है कि भाग्यवती अहीरनी उस रूपके ऊपर अपना हीरा निछावर करती है—

> वृंदावन बीथिन में बंसीबट छाँह अरी
> कौतुक अनोखौ एक आज लखि आई मैं।
> लाग्यौ हुतौ हाट एक मदन धनी कौ तहाँ
> गोपिन कौ झुंड रह्यौ घूमि चहु घाई मैं।
> 'द्विजदेव' सौदकी न रीति कछु भाषी जाइ,
> जैसी भई चैन उन्मत्तकी दिखाई मैं।
> लै लै कछु रूप मनमोहन सौं बीर वे
> अहीरनि गँवारी देति हीरनि बटाई मैं॥

भगवान्‌का अन्तरङ्ग भी कितना कोमल है! वे भक्तकी व्याकुलतासे स्वयं व्याकुल हो उठते हैं। भक्त कितना भी अपराध करता है, वह उसका कभी विचार ही नहीं करते। भक्तोंका दोष भगवान् अपने नेत्रोंसे देखकर भी उधर ध्यान नहीं देते और तुरत ही उसे भूल जाते हैं। इसलिये शास्त्रमें उनके इस विलक्षण गुणकी ओर सर्वत्र संकेत मिलता है। हनुमान्‌जीकी दृष्टिमें भगवान् अपने भक्तकी योग्यताकी अपेक्षा ही नहीं रखते—परस्य योग्यतापेक्षारहितो नित्यमङ्गलम्। श्रीगोस्वामीजीने इसीलिये विनय-पत्रिकामें लिखा है—

> जन गुन अलप गनत सुमेरु करि,
> अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।

'अपने जनके मेरुके समान दीर्घ तथा विशाल दोषोंको कभी ध्यानमें नहीं लाते, परंतु उसके रेणुके समान स्वल्प गुणको अपने हृदयमें रखते हैं तथा उसका परम कल्याण करते हैं।' भगवान् भक्तोंका मन रखते हैं तथा अपने शरणागत जनकी लाज, मर्यादा, प्रतिष्ठा रखनेमें कुछ अनुचित भी होता है, तो भी वे उसका निर्वाह कर ही देते हैं। ऐसा है निर्मल स्वभाव भगवान्‌का—

> रहति न प्रभु चित चूक किये की।
> करत सुरति सय बार हिये की॥
> × × ×
> जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
> दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

जब तक जीव भगवान्‌से पराङ्मुख है, तभीतक वे दूर हैं; परंतु ज्यों ही वह उनके सम्मुख होता है, उनकी शरणमें जानेको उद्यत होता है, त्यों ही भगवान् उसके सब पापोंको दूरकर उसे आत्मसात् कर लेते हैं।

प्राणियोंके भगवान् सर्वस्व हैं। जितने सम्बन्धोंकी कल्पना कोई भी जीव अपनी बुद्धिके बलपर कर सकता है, भगवान्‌में वे सब सम्बन्ध पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। सम्बन्धोंकी सत्तापर न जाकर उनके विपदकी ओर आइये तो जान पड़ेगा कि भगवान् हमारे क्या नहीं हैं। वे सब कुछ हैं। वे हमारे माता, पिता, सखा, सुहृद्—सभी कुछ ही हैं तथा साथ-ही-साथ नित्य होनेसे हमारे भौतिक सम्बन्धोंके विपरीत वे हमारे लिये नित्य माता हैं, नित्य पिता हैं, नित्य सुहृद् आदि-आदि। उनमें पक्षपातकी गन्ध भी नहीं है। वे सबके प्रति सम शील-स्वभावके हैं। इस विषयमें भागवतमें उनकी समता कल्पवृक्षके साथ दी गयी है। भगवत्-कल्पतरुको किसीके साथ न राग है न द्वेष; परंतु जो व्यक्ति उसके निकट जाकर किसी मनोरथकी कामना करता है, भगवान् उस इच्छाको अवश्यमेव सफल बना देते हैं। भगवान् 'स्व' तथा 'पर'—अपना और पराया—का तनिक भी भेद नहीं रखते। यह हो भी कैसे सकता है, जब भगवान् सर्वात्मा ठहरे तथा समद्रष्टा ठहरे। भगवान्‌की जैसी सेवा कोई प्राणी करता है, तदनुरूप ही फल वह पाता है। इसमें विपर्ययका—निर्दयताका कहीं भी अवकाश नहीं है। प्रह्लादजीने अपनी इस विषयकी अनुभूतिको इन शब्दोंमें प्रकट किया है—

> नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
> ज्जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि।
> संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
> सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम्॥
> (श्रीमद्भा० ७।९।२७)

भागवतका यह स्पष्ट कथन है कि भगवान् सेवाके अनुरूप ही फल प्रदान करते हैं। उनमें किसी प्रकारका भेद-भाव माननेकी बुद्धि नहीं है। इसी तथ्यका प्रतिपादन (१०।७२।६ में) युधिष्ठिरने भी किया है, जिसका निष्कर्ष पूर्वोक्त शब्दोंमें ही दिया गया है—

> सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र॥
> (श्रीमद्भा० १०।७२।६)

इस प्रकार भगवान् करुणावरुणालय हैं तथा सदा अपने भक्तोंकी—उपासकोंकी कामनाकी पूर्ति किया करते हैं।

भगवान्‌को भक्तलोग कभी-कभी निष्ठुर बताते हैं; क्योंकि वह उनकी उपेक्षा किया करता है—वह उनकी कामनाकी पूर्ति नहीं करता तथा अपनी समागम-सुधासे वञ्चित रखकर उन्हें विरहाग्निमें तपाता रहता है। गोपियोंका दृष्टान्त इस

विषयमें पूर्णतया जागरूक है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने श्रीमुखसे इस 'उपेक्षाभाव' का रहस्य समझाया है। रासपञ्चाध्यायीमें गोपियोंके प्रश्नका श्रीकृष्ण बड़ा ही उदार उत्तर देते हैं—

> नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
> भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
> यथाधनो लब्धधने विनष्टे
> तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥
> (श्रीमद्भा० १० । ३२ । २०)

'हे गोपिकाओ! यह ठीक है कि मैं अपने भजनेवाले जनोंको भी कभी-कभी नहीं भजता। इसका क्या कारण है? इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। मेरी ओरसे उनके प्रेमकी ज्यों ही प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, उनका प्रेम खसकने लगता है। इसलिये मैं अपनी झलक एक बार दिखलाकर अन्तर्हित हो जाता हूँ, जिससे मेरे पानेकी उनकी अभिलाषा तीव्रसे तीव्रतर बन जाय—जिस प्रकार किसी दरिद्रको कहींसे मिली हुई मणि यदि गायब हो जाती है तो वह उसके पानेके लिये एकदम बेचैन हो उठता है।' अध्यात्मजगत्में भी ठीक यही बात है। इस प्रकार गोपियोंकी उपेक्षा करनेमें भगवान्का कोमल हृदय यही चाहता था कि भगवान्के प्रति उनका प्रेम और भी बढ़ता चला जाय। इस भावनाके भीतर नैष्ठुर्यकी कल्पना कथमपि सम्भव है? नहीं, कभी नहीं। भगवान् भक्तोंके पराधीन रहते हैं। भागवतका कहना है—

> सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
> माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
> अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
> वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान्॥
> (श्रीमद्भा० ४ । ९ । १७)

भगवान्का चरणारविन्द ही अलभ्य लाभ है। उसकी प्राप्तिके अनन्तर प्राप्तव्य कुछ रहता ही नहीं; तथापि भगवान् स्वयं ही अनुग्रह करनेके लिये कातर रहते हैं और भक्तोंके कल्याण-साधनके लिये उसी प्रकार उतावले बैठे रहते हैं, जैसे रँभानेवाली गाय अपने दुधमुँहे बच्चेकी ओर। इस उपमाके भीतर कितनी व्यञ्जकता है! भगवान्के हृदयमें भक्तोंके लिये कितनी व्याकुलता भरी रहती है—इसका अनुमान इस उपमाके सहारे किया जा सकता है। इसीलिये भगवान् भक्तोंके कल्याणार्थ उन सब रूपोंको धारण करते हैं, जिनकी भक्त अपनी बुद्धिसे कल्पना करता है—

> यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
> तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।
> (श्रीमद्भा० ३ । ९ । ११)

इस प्रकार भगवान्का अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग दोनों इतने सुन्दर तथा कोमल हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी अलौकिक गुणावलीके कारण ही तो त्रिगुणातीत मुनिजन भी भगवान्के स्वरूपके ध्यानमें मस्त होकर ज्ञान-यापन करते हैं—

> आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
> कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

श्याम निकट बुलाते हैं

मायाके अगारमें अँगार चुगते हो तुम, द्वार वे तुम्हारे सुधा-धार ढरकाते हैं।
तुम उनके हो, वे तुम्हारे—इसी नाते सदा भूल अपराध राधावर अपनाते हैं।
लेनेको समोद गोद उत्सुक अनाथ-नाथ, हाथ किंतु उनके उठे ही रह जाते हैं।
हाय! रे अभागे जीव! भागे फिरते हो तुम, दूर हट जाते, श्याम निकट बुलाते हैं॥

पूनोकी जुन्हाई मुसक्याई, छटा छाई दिव्य, अन्तर न आज कोई शरद-वसन्तमें।
कान खोल ध्यान दे तनिक सुन तो लो सही, मृदु मुरलीका स्वर गूँजता दिगन्तमें।
तोड़ बन्धनोंको छोड़ जगके प्रपञ्च, चलो प्रीतिकी पुकार उठी अवनी अनन्तमें।
फिर पिछड़े तो चिर बिछुड़े रहोगे अरे! आशा नहीं रसकी, निराश होगे अन्तमें॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

भक्तिका स्वाद

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए० पी०, डि्०)

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥
(रामचरितमानस)

तुलसीदास पहुँचे हुए संत और सच्चे भक्त थे। पूरा रामचरितमानस लिखनेके बाद अन्तमें उन्होंने अपने जीवनभरका अनुभव सचाईसे टाँक दिया है। इस दोहेमें जैसे वे अपने मनोवैज्ञानिक संघर्षका निचोड़ रख गये हैं। इसमें उपदेशकी भाषा नहीं, आत्मनिरीक्षणकी शब्दावलीमें कुछ ऐसा मँहगा तत्त्व कहा गया है, जो प्रायः सर्वत्र नहीं मिलता। कामी पुरुषको जैसे स्त्री प्रिय लगती है—इस एक उपमामें गुसाईंजीने भक्तिकी पूरी मीमांसा कर दी है। कामी व्यक्तिके मनकी छटपटाहटको कहकर या लिखकर नहीं बताया जा सकता। उसे अन्यत्रसे सुनकर जान लेनेका भी उपाय नहीं है। वह तो हरेकके निजी अनुभवकी बात है। कामका डंक जिसे न लगा हो, ऐसा कौन शरीरधारी हो सकता है। स्त्री या पुरुषके मनोभावोंमें काम-वासनाका सबसे अधिक प्रबल स्थान है। इस वासनामें जो अपने प्रियके लिये राग होता है—हृदयकी वह व्याकुलता, मिलनेकी वह तीव्र इच्छा, यही कामानुगा भक्ति है। इस मनोदशामें व्यक्ति अपने व्यक्तित्वका कोई अंश बचा नहीं रखता। वह प्रियतमाके लिये अपने सर्वांशका समर्पण स्वेच्छा और प्रसन्नतासे करता है। उसमें उसे अलौकिक आनन्दकी प्राप्ति होती है।

गुसाईंजीका कहना है कि चित्तकी यही अवस्था जब स्त्री-विशेषके लिये न रहकर प्रेम, रूप और तृप्तिकी समष्टि किसी दिव्यतत्त्व या रामके लिये हो जाय तो वही सर्वोत्तम भक्तिकी मनोदशा है। इस मनोदशाका विश्लेषण करें तो यह वह अवस्था है, जिसमें मानवीय आत्मा सुखकी खोज अपनेसे बाहर संसारके किसी विषयात्मक केन्द्रमें नहीं करती। वरं जिस चैतन्य तत्त्वसे उसका विकास हुआ है, उसीसे मिल जानेके लिये वह कामासक्त मनकी-सी व्यग्रता प्राप्त करती है। यही भक्ति-का उत्कृष्ट रूप है। उसीमें रसकी उपलब्धि है। मनकी उस दशामें अपने-आपसे जूझना नहीं पड़ता। वह तो एक भीतरसे स्वतः आनेवाली प्रेरणा होती है, जो अतिशय प्रिय लगती है। वस्तुतः अपने आदि—मूल स्रोतसे एक हो जानेकी लालसा ही भक्ति-जनित आनन्दकी परम अनुभूति है।

पाँच भूतोंसे बने हुए संसारमें रहकर पञ्चविषयोंका उपभोग करनेवाली पाँच इन्द्रियोंको साथ रखकर कौन यहाँ बाह्य आकर्षणसे बच सकता है और किसका मन सकुशल रह सकता है। पाँच विषयोंमें भी स्त्रीरूपी विषयकी शृङ्खलाएँ सबसे दृढ होती हैं। उनका बन्धन जबतक नहीं मिटता, तबतक भक्तिकी चर्चा कैसी। हाँ, उसकी उपलब्धिके मार्गमें कुछ व्यायाम हम भले ही करते रहें। जिस प्रकार किशोर अवस्थाके स्वस्थ, स्वच्छ मनको किसी विचित्र क्षणमें कामकी पहली चिनगारी छू लेती है और फिर जीवन और मनोभाव रंग-बिरंगी कल्पनाओंसे भर जाते हैं, वैसी ही कोई प्रबल घटना जबतक ईश्वर-तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्वके प्रति मनके दुर्धर्ष आकर्षणके रूपमें अपने अनुभवमें न आये, तबतक मानो भक्तिका कोई स्वाद नहीं मिला। ज्ञानमें भी कुछ इसी प्रकार ज्योतिका दर्शन होता है। यदि ऊँची भूमिकापर चढ़कर देखा जाय तो जैसा गोसाईंजीने कहा है—

ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

ज्ञान और भक्ति, साधनाके इन दो पथोंमें विरोधकी भावनाकी कल्पना उचित नहीं। सच्चा ज्ञानी ईश्वर-भक्त पहले होता है। भगवान्‌की जो दिव्य विभूति है, विश्वमें उसका जो ज्योतिर्मय रूप है, जो चैतन्य-तत्त्व ही आदिमें और अन्तमें एकमात्र सत्य है, मायासे परे उस रूपमें उसकी अनुभूति ज्ञान-का स्फुट लक्षण है। भक्त और ज्ञानी दोनोंके मनमें वैराग्यकी प्रतीति आवश्यक है। विषयोंसे यदि वैराग्य नहीं हुआ तो न ज्ञान सधता है न भक्ति। ज्ञान और भक्तिमें यदि भेद करना ही हो तो कह सकते हैं कि ज्ञानकी दशामें संसारका नानात्व मिट जाता है और उसका 'एकमेवाद्वितीयम्' रूप ही अनुभवमें आता है। किंतु भक्त इस नाना-भावको स्वीकार करके उसमें पिरोयी हुई एकताके प्रति जागरूक रहता है। एकमें नाना-भावका निराकरण और दूसरेमें उसे स्वीकार करते हुए भी जीवनके व्यवहारको चैतन्यमय, आनन्दमय और रसमय बनाना अभीष्ट होता है।

सृष्टि-प्रक्रियामें सर्वप्रथम कामकी अभिव्यक्ति कही गयी है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
(ऋग्वेद, नासदीयसूक्त)

काम ही मनकी शक्ति है । प्राकृत मनुष्यकी कामना बहिर्मुखी या विश्वके लिये अर्पित होती है । अपने केन्द्रमें बैठकर वह इन्द्रियद्वारोंके भीतरसे बाहरकी ओर झाँकता रहता है, जैसा भक्तवर अल्फ्रेड क्षेमि 'मेमना' ने कहा है—'पञ्चभूतोंमें जबतक पञ्चेन्द्रियोंका संचार होता रहेगा तबतक जगत्का अस्तित्व दिखायी देगा । किंतु इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी बनाकर ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात होगा कि अकेला जीवमात्र सत्य है, शेष सब मिथ्या है । वही ब्रह्म है । चित्त-शुद्धिके बिना उपासना व्यर्थ है ।'

इस प्रकार हममेंसे प्रत्येकके सामने यह आवश्यक कर्तव्य आता है कि विश्वमें जो सत् और असत्का दुर्द्धर्ष विधान है, जो उसका अनादि, अनन्त चक्र है, उसमें अपनी स्थितिको दृढ़तासे सत्के साथ जोड़ें । सत्को पकड़नेसे ही हमें मन और इन्द्रियोंकी वह स्वच्छता प्राप्त हो सकती है, जिसके अनुसार जीवन व्यतीत करना प्रत्येक सज्जन व्यक्तिका कर्तव्य है । चुटकी बजाते न कोई ज्ञानी बन सकता है न भक्त । प्रत्येकको पहले एक आध्यात्मिक लड़ाई लड़नी पड़ती है । इस पहली टक्करको जो नहीं झेल सका, उसके लिये ज्ञान, योग, धर्म, भक्ति आदि साधनोंकी चर्चा ही व्यर्थ है । अतएव प्रत्येकको सर्वप्रथम चरित्रयोगके रूपमें अपनी साधनाके बीज अङ्कुरित करना आवश्यक होता है । ऐसा भी अनुभवमें आता है कि विषयों और इन्द्रियोंके बीच मचनेवाले इस संग्राममें एक बार ही जय नहीं मिल जाती । यह विरोध या संघर्ष लंबा भी खिंच सकता है ।

सत् और असत्, पुण्य और पाप, ज्योति और तम, चेतन और जड़, गुण और दोष—इनमेंसे हम सत् पक्ष छोड़कर असत्की ओर मन ले जाते हैं, इसीका नाम 'मोह' है, और असत्को पहचानकर उसे छोड़ देते हैं और सत् पक्षकी ओर मन ले जाते हैं, इसीका नाम 'विवेककी विजय' है । विवेक और मोहका यह द्वन्द्व अपने-अपने द्विविरुद्ध मानसिक भावोंका ही संघर्ष है । कभी विवेककी पराजय होती है, कभी मोहकी । ज्ञानका प्रतिद्वन्द्वी अज्ञान ही मोह है । मोह सब व्याधियोंका मूल है, विज्ञानको मोह नहीं होता । जब बुद्धिमें विज्ञानका सूर्य चमकता है, तब उसपर मोहका अन्धकार नहीं छा सकता । जिसे गुसाईंजीने मनकी भीतरी गाँठ या 'अभ्यन्तर-ग्रन्थि' कहा है, वह मोह ही है । रामचरितमानसमें आरम्भसे ही कविने मोहकी समस्याको उठाया है—

महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर ।

अर्वाचीन भाषामें कहें तो वस्तुओंके यथार्थ मूल्याङ्कनका संकर—यही मोह है । प्राचीन शब्दावलीमें काम, क्रोध, लोभ, मद, अहंकार—जितने भी मानसिक विकार हैं, ये मानसरोग या मनोमल ही मोहके रूप हैं । कविने तीन प्रकारके मल कहे हैं—एक कलिमल, दूसरे मनोमल और तीसरे संसारके मल । मनोमल तो अपने ही भीतरके आध्यात्मिक विकार हैं । कलि-मल वे आधिभौतिक या सामाजिक त्रुटियाँ हैं, जिनके बीचमें रहकर मानवको जीवन-निर्वाह करना होता है । संसृति या संसारके रोग वे आवरण हैं, जो मायाके सम्पर्कमें आनेके कारण ही प्रत्येक जीव या मनकी आधिदैविक सीमाएँ बने हुए हैं, जिनके कारण हम अपने प्रातिस्विक या निजी स्वरूपके आनन्दसे वञ्चित हैं । मनोमलको 'मल', कलिमलको 'विक्षेप' और संसृति-रोगोंको 'आवरण' कहा जा सकता है । कविकी दृष्टिमें रामकी कथा इन तीनों विकारोंसे मनको छुड़ानेवाली है । 'रामाख्यमीशं हरिम्' यही रामका स्वरूप है । विश्वके निर्माणमें परात्पर, अव्यक्त, अक्षर, क्षर—जितनी कारण-परम्पराएँ हैं, अथवा पुरुष-प्रकृति विकृति आदिके जितने धरातल हैं, उन सबसे परे जो निर्विशेष चैतन्य कारण है, वही ब्रह्म है, वही राम है । उस तत्त्वकी विशेषता यह है कि वह स्वयं अविकृत रहता हुआ इस भूतमय विश्वका सृजन कर रहा है, जो क्षण-क्षण परि-वर्तनशील है । उसके स्वाभाविक ज्ञान और बल क्रियाका एक विराट् नियम है—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

जिसकी वह सृष्टि करता है, उसमें वह स्वयं अनुप्रविष्ट हो जाता है । निर्गुण होते हुए भी उसका यही सगुण रूप है—

जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही ।

श्रुतियाँ उसी अनादि, अजन्मा, व्यापक, निरञ्जन तत्त्वको ब्रह्म कहती हैं—

जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म ब्यापक बिरज अज कहि गावहीं ।

अपने उद्गम-स्रोततक पहुँचने या उसमें जा मिलनेकी आकुलता—जिस आनन्द-तत्त्वसे हमारा मूल स्वरूप निर्मित हुआ है, उसे ही पुनः अनुभव करनेकी व्यग्रता—यही उपासनाका हेतु और लक्ष्य है । इसीकी साधना 'भक्ति' है । भक्तकी भगवान्में आसक्ति और कामी पुरुषकी कामिनीमें आसक्ति—इन दोनोंके आकर्षणका स्वरूप समान है, यद्यपि दोनोंके आनन्दमें स्तर ही महान् अन्तर है । एक बहिर्मुखी और दूसरा अन्तर्मुखी है । कामासक्त स्थितिमें हम किसी बाह्य केन्द्रकी परिक्रमा करने लगते हैं । किंतु भक्तिकी साधनामें अपने ही चैतन्य केन्द्रकी प्रदक्षिणा

करनी होती है। जो जिसकी प्रदक्षिणा करता है, उसके गुणोंका आधान उसकी आत्मामें होता जाता है; क्योंकि वह उसके प्रभाव-क्षेत्रमें खिंचकर उसके साथ तन्मय होता जाता है। मनकी रतिका क्षेत्र या तो नारी है, या फिर अपना आत्मा ही हो सकता है। श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह और काम—इन चारों भावोंकी समष्टिकी संज्ञा रति है। रतिकी प्राप्ति केवल स्त्रीसे ही सम्भव है। मित्र, पुत्र, गुरु, माता-पिता आदि जितने सम्बन्ध हैं, उनसे श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेहके भाव तो मिलते हैं; किंतु रतिके आकर्षणका केन्द्र नारी है। जैसी रसीले पुरुष नारीके प्रति खिंचता है, वैसी और किसीके प्रति नहीं। 'कामिहि नारि पिआरि जिमि' इस सूत्रमें उसी रतिरूप आकर्षणका संकेत है। वही आकर्षण स्त्रीसे हटकर जब अपने ही चैतन्य केन्द्रमें समाविष्ट हो जाता है, तब इसी परिवर्तनको 'भक्ति' कहते हैं। यह जितना स्वाभाविक होता है, उससे उतना ही अधिक रस प्राप्त होता है। गुसाईंजीने मानसके अन्तमें जिस उपमाका उल्लेख किया है, वही ऋग्वेदमें अपने मन और देवतत्त्वके पारस्परिक आकर्षणके लिये प्रयुक्त हुई है—

पतिरिव जायामभि नो न्येतु
(ऋग्वेद १० । १४९ । ४)

अर्थात् जैसे पति जायाके प्रति होता है, वैसे ही हम उस महान् देवके प्रति आकृष्ट हों। रति या कामका जो स्वाद है, वही भक्तिका स्वाद है। स्वाद ही रस है। स्वाद या रसमें ही सच्चा सुख है। बिना रसके मन हठात् कहीं ठहरता नहीं। उसे बलपूर्वक रोका भी जाय, तो भी बार-बार छटक जाता है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'। रसकी अनुभूति या प्राप्ति-का नाम ही आनन्द है। विषय-रस चखनेमें मन जिस स्वादुभावसे रमता है, उसीसे उसे भगवद्रसमें रमना चाहिये। वही भक्तिका सच्चा स्वाद है। वह रस कल्पना नहीं, नितान्त सत्य है। विषय-रसके अस्तित्वकी सचाई जितनी ठोस है, उससे कहीं अधिक सत्यात्मक भक्ति-रसकी उपलब्धि है। उस रसकी सत्ता है। उसमें भी मानस चैतन्यकी सब अनुभूतियाँ हैं। उसमें भी हमारा वह चिर-परिचित सुख भरपूर विद्यमान है। वस्तुतः वह सुख विषय-सुखसे कहीं विचित्र है। अतएव भक्तिका स्वाद 'आनन्द' कहा जाता है।

अध्यात्म-जगत्‌का स्वाद इन भौतिक स्वादोंसे कहीं अधिक मीठा है। ऋषिने उसे चखते हुए कहा था—

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
(ऋग्वेद ६ । ४७ । १)

यह रस स्वादिष्ठ है, मीठा है, तीव्र है; जब चढ़ जाता है, रंग गहरा लाता है। यह अति रसीला है। इसकी तुलनामें अन्य कुछ नहीं है। प्रकृतिमें ही एक-से-एक मीठे स्वाद भरे हैं। दाखके अणु-अणुमें कौन इतनी माधुरी भर देता है? पुष्पोंके परागमें या मधुके कोशमें जो मिठास है, उसका स्रोत कहाँ है? वेदोंमें सूर्यकी रश्मियोंको मधुकी नाड़ियाँ कहा गया है। सौर मण्डलमें जो विद्यमान है, संवत्सरद्वारा जिसका निर्माण हो रहा है, वह सब सूर्यकी रश्मियोंकी ही रचना है। इन रश्मियोंके अनन्त रहस्य हैं, जिनसे वे नाना पदार्थोंकी सृष्टि कर रही हैं। इनमें ही एक विचित्र रहस्य मधुर स्वादकी उत्पत्तिका कहीं छिपा हुआ है। प्रकृतिके भूत-भौतिक धरातलपर जो मिठास हम चख पाते हैं, वह अकेली घटना नहीं है। प्राणके धरातलपर जो क्रिया-सृष्टि है, जो प्राण-मात्रा है, उसमें भी इन मधु-नाड़ियोंका जाल पूरा हुआ है। वस्तुतः प्राणके आधिदैविक धरातलसे ही उतरकर वह रस स्थूल भूतोंमें आता है। प्राणोंमें जो मधु है, वही सब कुछ है। स्थूल भूतोंका मधु तो उसीकी अनुभूति है। अपना स्वाद विकृत हो तो बाह्य मधु उदास लगता है। विषयोंके सब स्वाद इसी नियमके अधीन हैं। प्राणोंमें जो मिठासका अनुभव है, वह और भी सूक्ष्म स्रोतोंसे अवतीर्ण होता है। वह प्रज्ञा-मात्रा या मनका धरातल है। मधुका उद्गम वहीं कहीं है। जो मन विषयोंसे मिठास खींचता है, वही जब मुड़कर भीतरकी ओर मिठास ढूँढ़ता है, तब उसे अपने ही चैतन्य केन्द्रमें मधुका भरा हुआ छत्ता मिल जाता है। वह कोश मिल जाय, तभी सच्चा भक्तिका स्वाद आता है और तभी मन ठहरता भी है। मक्खियाँ जैसे मधुपर, ऐसे ही वृत्तियाँ स्वतः सब उस केन्द्रपर टूटती हैं। उन्हें वहाँ रसका कुछ सार मिलता है। रसकी उपलब्धि ही सबसे बड़ा लाभ है। रसकी उपलब्धि ही जीवनका उपनिषद् या रहस्य है। मोहकी दशामें हम उसे विषयोंमें बाहर ढूँढ़ते हुए भटकते हैं। विवेककी आँख खुलनेपर उसका स्वाद भीतर ढूँढ़ने लगते हैं। वही भक्तिका स्वाद है। उस रसके प्रति उमँगता हुआ मन जिस अनुरागसे प्रवृत्त होता है, वही भक्ति है।

प्रेम और भक्ति

(लेखक—डा० इन्द्रसेनजी)

प्रेम, भक्ति, आनन्द तथा सौन्दर्य जीवनके विविध तथा परस्पर सम्बद्ध रस हैं। इनसे ही जीवन हमें प्रिय लगता है। इनकी अभिवृद्धि ही जीवनका स्वाभाविक ध्येय तथा प्रयोजन है। भक्ति, आनन्द और सौन्दर्यमें भी आधारभूत रस प्रेम ही है—भक्ति पूज्यके प्रति प्रेम है, आनन्द प्रेमकी आन्तरिक भावना और गति है और प्रेमका विषय सुन्दर होता है। प्रेम अपने-आपमें अत्यन्त व्यापक भाव है, इसे कौन नहीं जानता। प्रेमकी भूख हर किसीको रहती है और इसका उपभोग भी हर कोई करता है। मानवोंके बीच ही नहीं, पशुओंमें भी जीवनकी यह प्रबल तथा प्रिय प्रेरणा है। वनस्पति तथा जड पदार्थोंमें भी अनेक प्रकारके आकर्षण-विकर्षण देखे जाते हैं। वे भी प्रेमसे सर्वथा अनभिज्ञ नहीं। प्रत्यक्ष ही प्रेम जागतिक तत्त्व है, सत्तामात्रका व्यापक बल है, विश्वको संगठित रखनेवाला सूत्र है।

परंतु वर्तमान समयमें प्रेमके लिये शोर-गुल कुछ विशेष है। किस जोरसे यह शब्द सुना जाता है, कितना इसके लिये हो-हल्ला मचता है! गली-कूचोंमें इसके तरानोंकी बाढ़ आ गयी प्रतीत होती है। परंतु साथ ही इसके लिये रोना भी बहुत है, मानो इसका अभाव भी लोगोंको सता रहा है। 'अभाव' वैज्ञानिक सिद्धान्तोंतकमें प्रतिष्ठित हो गया है। मनोविश्लेषण प्रमाणसहित दिखलाता है कि प्रेम प्राप्त न होनेसे ही आज मानसिक विकार तथा रोग पैदा हो रहे हैं।

अपूर्व स्थिति है, प्रेमकी बाढ़ और प्रेमका अभाव! अथवा क्या प्रेम ऐसा रस है, जो शान्त और तृप्त नहीं करता, बल्कि अग्नि और अभावको बढ़ाता है? या फिर 'ढाई अक्षर'का यह प्रेम शब्द अत्यन्त रहस्यपूर्ण तथा गम्भीर समस्या है। जितना यह परिचित है, उतना ही यह अज्ञात तथा शायद अज्ञेय भी है। कितनी शिकायत है कि प्रेम करनेको सब कहते हैं, परंतु इसके तत्त्वको जानता कोई विरला ही है। कबीरने तो स्पष्ट कहा है—

नेह निभावन एक रस महा कठिन दुस्वार।

वस्तुतः प्रेम रहस्यपूर्ण वस्तु है। जैसे यह जगत्‌में मानव, पशु, वनस्पति तथा जड पदार्थसे व्यापकतया सम्बद्ध है, वैसे ही मानवीय व्यक्तित्वके भी सभी स्तरोंपर यह एक-एक सार्थक स्थान रखता है। शारीरिक, प्राणिक, मानसिक तथा आन्तरात्मिक—सभी स्तरोंपर प्रेम अनुभव किया जा सकता है और वास्तवमें इतने ही प्रेमके रूप हैं। हम बहुधा किसीके प्रति उसके भौतिक आकार और रूपके कारण आकर्षणका अनुभव करते हैं। वह रूप हमारे मनमें बसने लगता है और हम उसका चिन्तन करते हैं। अनेक बार भौतिक आकार और रूप आकर्षक न होते हुए तथा अरुचिकर होते हुए भी हम व्यक्तिके सम्पर्कमें आते हैं और उससे वेगपूर्वक आकृष्ट हो जाते हैं। वह व्यक्ति हमपर छा जाता है और हम उसके साथ आन्तरिक आदान-प्रदान अनुभव करने लगते हैं। इसमें हृदय विशेषरूपसे संलग्न हो जाता है और सम्बद्ध व्यक्ति एक दूसरेसे गम्भीर आत्मतुष्टि लाभ करते हैं। परंतु इस अनुभवमें ऊब जाना, उलहना, शिकायत, दावा, विरोध भी हृदयके उतार-चढ़ावोंमें घूम-फिरकर आते हैं। ये इस प्रेमानुभवकी ही धूप-छाँह हैं और यही नाटकीय प्रेम प्राणिक प्रेम है। परंतु मानवीय व्यक्तित्वमें प्राणके दो रूप हैं। एक बाह्य और स्थूल तथा दूसरा आन्तरिक और सूक्ष्म। पहला केवल व्यक्तिगत रूप है और दूसरा व्यक्तिमें उसका गुप्त चैत्य-आधार है। यह अधिक सक्षम तत्त्व है। जब यह व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धोंमें, स्पर्श तथा स्पन्दनमें आता है, तब वे प्रेमकी एक और ही गति अनुभव करते हैं। इसमें अधिक आन्तरिकता, व्यापकता, सूक्ष्मता तथा स्थायित्व होते हैं और सारा अनुभव आनन्दातिरेकसे प्रेरित और परिप्लावित प्रतीत होता है। इसकी उदारता और मधुरता अपूर्व होती है। सामान्य जीवनमें इसकी जितनी और जहाँ कुछ झलक दिखायी दे जाती है, वही मानवकी स्थूल व्यावहारिकतामें दिव्य आभा है।

विचार, चिन्तन तथा आदर्शोंके सामने व्यक्ति आपसमें मानसिक-बौद्धिक प्रेम अनुभव करते हैं। इसमें सामान्य प्राणिक प्रेमका आवेग नहीं होता, सूक्ष्म प्राणका आत्मदान भी नहीं, एक पारस्परिक सहानुभूति होती है, जो खूब गाढ़ी भी हो सकती है।

परंतु मानव-मानसके सम्बन्धोंमें आन्तरात्मिक प्रेम वह अपूर्व प्रेम है, जो उनके व्यक्तित्वके सत्यतम तथा गम्भीरतम भागको, उनके अन्तरात्माओं अथवा चैत्य पुरुषोंको आपसमें जोड़ देता है। इसमें व्यक्ति आत्मासे आत्माका स्पर्श अनुभव

करते हैं—जो अवर्णनीय रूपमें मधुर, सूक्ष्म तथा एकत्वपूर्ण होता है। शुद्ध निरपेक्ष आत्मदान इसकी शैली है और पूर्ण एकत्व इसका ध्येय है। इसमें भोगका नाम नहीं, लेनेकी बू नहीं। यही वास्तवमें दिव्य प्रेम है। यह भी हमारी सामान्य प्रकृतियोंमें कभी-कभी झलक दिखा जाता है, यद्यपि उसे हम स्पष्टरूपमें पहचान नहीं पाते। इसीको चरितार्थ करनेके लिये साधनाकी आवश्यकता पड़ती है, मन और प्राणको शुद्ध करना होता है, उन्हें आत्मदानका स्वर्णिम नियम सिखाना होता है।

ये विविध प्रेम-सम्बन्ध पुरुष-पुरुषमें, स्त्री-स्त्रीमें तथा पुरुष-स्त्रीमें हो सकते हैं। सामान्य व्यवहारमें ये मिले-जुले होते हैं और इनकी विभिन्न गतियोंको पहचानना आसान नहीं होता। श्रीअरविन्द जहाँ कवि और साहित्यिक होनेके कारण जीवनके रसोंके मर्मज्ञ थे, वहाँ योगी और दार्शनिक होनेसे उन्होंने इन रसोंका निरीक्षण और विश्लेषण भी अत्यन्त सूक्ष्म किया है। प्रेम-विषयकी विवेचना करते हुए एक प्रसङ्गमें वे कहते हैं—"What is called love is sometimes one thing, sometimes another, most often a confused mixture." 'जिसे हम प्रेम कहते हैं, वह कभी एक चीज होता है, कभी दूसरी, बहुधा ऐसी खिचड़ी, जिसका विश्लेषण कठिन होता है। अतः प्रेम खासी जटिल वस्तु है—इसके रूप अनेक हैं, इसके विषय अनेक हैं; और जो शुद्ध प्रेम है, हृदयस्थित चैत्यपुरुषका प्रेम, वह तो जीवनका गूढ़ रहस्य है, जिसके लिये भक्तलोग चिरकालीन भक्तिकी साधना किया करते हैं और जिसे पाकर वे मूक और तृप्त हो जाते हैं।

स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें शुद्ध प्रेमका भाव कुछ अधिक कठिन होता है; क्योंकि इनके बीच प्रकृतिजन्य काम सहज ही आ जाता है और काम वस्तुतः प्रेमका घातक है। यह बहिर्मुख प्राणिक आवेग है, जो क्षणिक होता है तथा अनेक प्रतिक्रियाओंको उत्पन्न करता है। इसका लक्ष्य स्थायी अन्तर्मिलन तथा एकत्व कभी नहीं होता। वैसे स्त्री-प्रकृति और पुरुष-प्रकृतिमें एक प्रकारकी गम्भीरतर पूरकता भी होती है। वह व्यक्तित्वके उच्चतर अङ्गोंकी सहानुभूतिपर निर्भर करती है और जहाँ उसे अभिव्यक्त होनेका अवसर मिलता है, वहाँ स्त्री-पुरुषकी मैत्री अधिक स्वाभाविक हो जाती है और उसमें फिर काम विशेष विघ्न नहीं कर पाता। परंतु काम है हर अवस्थामें विघ्न और बाधा ही। इसके संयम और नियममें आनेसे ही प्रेमका मधुरभाव हृदयमें प्रतिष्ठित हो पाता है। अथवा हृदयमें प्रेमके एकत्वपूर्ण गम्भीर मधुरभावके विकसित होनेसे काम उत्तरोत्तर संयम-नियममें आने लगता है। पश्चिमी मनोविश्लेषण काम और प्रेममें भेद नहीं करता। वह काम-को ही प्रेम मानता है और इसीके अभावको जीवनके दुःखका कारण बताता है। परंतु आज कामकी कमी कैसे कही जायगी। काम-वासना भी कम नहीं और काम-तृप्ति भी कम नहीं, परंतु मानव सदासे अधिक अतृप्त है। वास्तवमें कमी प्रेमकी है और प्रेम ही तृप्त करता है, जीवनमें संतोष और सुख प्रदान करता है। जितना काम बढ़ता है, उतना ही प्रेम कम हो जाता है और प्रेमका अभाव ही आजके दुःख, व्यापक अतृप्त-भाव, होड़ और संग्रहशीलताका मूल कारण है। परंतु यह प्रेम तो जीवनका रहस्य है, जो स्थूल तथा बहिर्मुख काम-वासनाको अतिक्रान्त करनेसे ही अनुभवमें आता है। योगानुभव तो प्रत्यक्षरूपमें जानता है कि 'काम एक विकार है, एक निम्न वृत्ति है, जो प्रेमके प्रतिष्ठित होनेमें बाधा डालती है।' (श्रीअरविन्द) परंतु यह जीवनका सत्य अनुभवमें आना चाहिये। इससे गार्हस्थ्य-जीवनमें अपूर्व रस और सौन्दर्य उपलब्ध हो सकते हैं।

परंतु प्रेमकी स्वाभाविक गतिमें एक अनन्तता और असीमता समाविष्ट होती है। प्रेमी चाहता है कि उसका प्रेम असीम हो और अनन्तकालतक बना रहे। इस प्रकार प्रेमके साधकका विषय प्रेममय भगवान् हो जाते हैं। व्यक्तियोंका आपसका प्रेम शुद्ध, गम्भीर और निःस्वार्थ होते हुए भी तुच्छ अनुभव होने लगता है और प्रेममार्गका पथिक उस प्रेमको और प्रेमके उस आधारको खोजने लगता है, जो सब व्यक्तियोंको तथा सारी सत्ताको अपने प्रेमपूर्ण बाहुओंमें सदा बाँधे हुए है। प्रेमके इस परम विषयकी ओर व्यक्ति अनेक प्रकारसे प्रवृत्त होता है। तुलसीदास कहते हैं—

हम तो चाखा प्रेम रस पत्नीके उपदेस।

पत्नीकी झिड़कने उनके अंदर अपनी प्राणिक संलग्नता-के प्रति ग्लानि पैदा कर दी और वे उस प्रेमकी खोजमें पड़ गये, जिसमें झिड़क और ग्लानिको जगह नहीं। प्रेमके स्वाभाविक विकाससे भी व्यक्ति अन्तमें भागवत प्रेमका अभीप्सु बन सकता है।

यह प्रेम ही भक्ति कहलाता है और इसकी साधना ही भक्तिमार्ग, जो योगकी एक प्रसिद्ध शैली भी है। मध्यकालसे भारतमें अनेक भक्त हुए—गुरु नानक, मीरा,

कबीर, तुलसी आदि। उस समय भक्ति एक लोक-प्रगति बन गयी थी और उसने निश्चय ही सार्वजनिक जीवनमें अपूर्व पवित्रता और प्रेमका संचार किया। उस समयका साहित्य अधिकांशमें भक्ति-विषयक है और अत्यन्त रसपूर्ण है। ये भक्त प्रेमके कैसे रसिक थे, इन्होंने कितना प्रेम-रस पिया और पिलाया। कबीर कहते हैं—

छिनहिं चढ़ै छिन उतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय॥

तथा—

जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसान।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान॥

मीराँ तो थी ही 'दरद-दिवानी' वह कहती है—

और सखी मद पी-पी माती,
मैं बिनु पियाँ ही माती।
प्रेम भठी को मैं मद पीयो,
छकी फिरूँ दिन राती॥

'मैं तो दरद (प्रेम) दिवानी मेरो दरद न जाणै कोय।'

गुरु नानकका रूप भी वही है—

नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात।

प्रेमका ध्येय प्रेम ही है—असीम और शाश्वत। तुलसीदास विनती करते हैं—

चहौं न सुगति सुमति सपति कछु,
रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद,
बढ़ौ अनुदिन अधिकाई॥

प्रत्यक्ष ही हमारे मध्ययुगके भक्तोंने प्रेम और भक्तिके रसको खूब ही पिया-पिलाया और उनका साहित्य इनका अमरस्रोत रहेगा; परंतु उनका जीवन-दर्शन आज हमें कई अंशोंमें कष्ट देता है। उनका जगत्, शरीर तथा स्त्री विषयक दृष्टिकोण हमें असंतोष-जनक लगता है। यह वास्तवमें उस समयके मायावादका परिणाम था। आज हम जगत्को मिथ्या नहीं मानते, सत्य मानते हैं, जीवनका क्षेत्र अङ्गीकार करते हैं। शरीर तो अनिवार्य तथा बहुमूल्य साधन है और स्त्री जीवन-सङ्गिनी है, प्रेमानुभवकी सहयोगिनी। दोष हमारी काम-वृत्तिमें है, जो स्थूल बहिर्मुख भावके कारण आन्तरिक प्रेमको अवकाश नहीं देती। इस प्रकार भक्तिमार्ग अनिवार्य रूपसे मध्यकालीन जीवन-दर्शनसे आबद्ध नहीं। और न इसका ज्ञान और कर्मके प्रति वह भाव होनेकी आवश्यकता है, जो उस समय था। भक्तिमार्ग प्रायः ज्ञानकी निन्दा करता आया है। परंतु प्रेम और भक्तिके ये अनिवार्य परिणाम नहीं हैं। हमारे निकटतम भगवान्के लिये प्रेम हमें उनसे एकत्व प्रदान करेगा और यदि हम एकत्व-सम्बन्धको हम सीमित नहीं रखेंगे तो जहाँ वह उनके प्रेम-भावसे सम्यन्वित करेगा, वहाँ यह उनके ज्ञानमय और कर्तृत्वपक्षसे भी सम्बन्धित करेगा। सर्वाङ्गीण प्रेममें भगवान्के साथ ज्ञान, कर्म और आनन्द—तीनों पक्षोंसे एकत्वका अनुभव करेंगे। इससे ज्ञान और कर्म प्रेमकी दृष्टिसे साधन हो जायेंगे और वे (ज्ञान और कर्म) अपने आपमें भी रसमय हो जायँगे। वस्तुतः इन तीनों पक्षोंमें अन्तिम है भी आनन्द ही। उपनिषद्के ऋषिकी अनुभूति स्पष्ट है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥

'आनन्दसे ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे उत्पन्न हुए जीते हैं और आनन्दको ही प्राप्त होकर उसमें लीन हो जाते हैं।' श्रीअरविन्द आज उसी भावको दृढ़तापूर्वक इन शब्दोंमें कहते हैं—'Love and Ananda are the last word of being, the secret of secrets, the mystery of mysteries.' 'प्रेम और आनन्द सत्ताके चरम अन्तिम शब्द हैं। प्रेम और आनन्द ही परम रहस्य हैं, परम गुह्य तत्त्व हैं।'

वर्तमान जीवनमें विज्ञान और वैज्ञानिक बुद्धि प्रधान प्रेरणाएँ हैं। साथ-साथ सुखवाद और सौन्दर्यवाद भी प्रबल प्रवृत्तियाँ हैं; परन्तु ये सब मानसिक और प्राणिक प्रभाव हैं और इस कारण द्वन्द्वमय हैं और जीवनमें द्वन्द्वोंको पैदा करते हैं। इन द्वन्द्वोंका उपाय प्रत्यक्ष ही एकत्वरूप चेतना है। उसे विकसित करनेके लिये विज्ञानको विश्लेषणात्मकसे नया संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण पैदा करनेकी आवश्यकता है। परंतु व्यावहारिक जीवनमें तो सुखवाद और सौन्दर्यवाद अधिक प्रबल हैं। विज्ञान इनका सेवक ही है। इनसे उच्च आनन्द और प्रेमभावको विकसित करनेसे ही दूर हो सकते हैं और आजके मानवके लिये चिन्तनका यह मार्ग कदाचित् अधिक प्रेरणाप्रद भी सिद्ध हो सकता है।

संत भक्त कवि ही सच्चे भक्त हैं

[लेखक—महामहोपाध्याय डा० प्रसन्नकुमार आचार्य, आई० ई० एस्० (रिटायर्ड)]

रूप गोस्वामीके 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' (१-२) में भक्तिके विकासका जो वर्णन किया गया है, उसमें विभिन्न अवस्थाओं या श्रेणियोंका विवेचन है, जिनका परिणाम भक्ति है। श्रद्धा उसका प्रथम सोपान है। यह ईश्वरका साक्षात्कार कर चुकनेवाले साधुओंके सत्सङ्गसे प्राप्त होती है। साधु-सङ्गके अनिवार्य प्रभावसे एक प्रकारकी विशेष श्रद्धा उत्पन्न होती है। भजन-क्रिया तीसरी सीढ़ी है। चौथा सोपान है विविध प्रकारकी अपरीक्षित क्रिया-प्रणालियों एवं श्रद्धाके मार्गमें आनेवाले अनर्थोंकी निवृत्ति। इससे निष्ठाकी प्राप्ति होती है। फिर उससे प्रकाश और अनुकूल भाव (रुचि) का जन्म होता है। सातवीं अवस्था है शक्ति अथवा विश्वासकी दृढ़ता। इसके बाद प्रेम आता है। प्रेमसे भाव या अनुभूति उत्पन्न होती है। तब दसवीं अवस्थामें भक्ति आती है। सूफीधर्म (तसव्वुफ़) में इन्हीं दसका सात अवस्थाओंमें अन्तर्भाव किया गया है—जिज्ञासा, प्रेम, आलोक या ज्ञान, सांसारिकताका विनाश, ऐक्य, विस्मय तथा आत्म निर्वाण।

रूप गोस्वामीके इस संक्षिप्त विश्लेषणसे स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति कर्ममार्गसे शून्य नहीं हो सकती, यद्यपि यहाँ ज्ञानमार्गपर विशेष बल नहीं दिया गया है। मनके त्रिविध अङ्ग हैं—विचार (जो ज्ञानका आधार है), भाव (जिसपर प्रीति आधारित है) तथा इच्छा (जो क्रियाका आधार है)। इसी प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों अन्योन्याश्रित हैं। इनमेंसे दोसे पूर्ण निवृत्ति और केवल एकका आचरण असम्भव जान पड़ता है। अपने सेनापतिकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाला रणक्षेत्रका सैनिक भी अपने कार्योंके ज्ञान तथा उसके परिणामकी भावनासे अपनेको सर्वथा मुक्त नहीं कर सकता।

प्रवक्ता या संदेशवाहक (पैगम्बर) की परिभाषा है—वह व्यक्ति, जो जनताको चेतावनी एवं शिक्षा देनेके लिये ईश्वरद्वारा प्रेरित एवं उद्बुद्ध किया गया हो। वह ईश्वरेच्छाकी घोषणा तथा व्याख्या करता है और आगामी भावों एवं घटनाओंकी भविष्यद्वाणी करता है। महान् धर्मोंके अधिकांश नेताओंने प्रवक्ताका रूप ग्रहण कर लिया। निःसन्देह उनमें अपनी घोषणाओंके प्रति श्रद्धा थी; पर यह बात संदेहग्रस्त है कि उनमें अपने अथवा दैवी प्रेरणासे प्राप्त विचारोंके प्रति जिस प्रकारकी निष्ठा थी, उसी प्रकारकी श्रद्धा उनकी किसी साकार ईश्वरमें भी थी। बौद्धधर्म, ईसाईधर्म तथा इस्लामके नेताओंके जीवनकी गाथाएँ पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। पर हमारे संत कवियोंकी बात दूसरी है। भगवान् श्रीकृष्णके प्रति ममत्वमें मीराँबाईने गोपिकाओंका अनुकरण किया। यही बात आंडालकी विष्णु-भक्तिके विषयमें भी कही जा सकती है। श्रीकृष्णका कीर्तन करते हुए नवद्वीपके चैतन्य अपने आपको भूल जाते थे। जयदेवने अपने 'गीत-गोविन्द' में राधा-कृष्णकी लीलाका वर्णन किया है। सूरदास, तुलसीदास, चण्डीदास, विद्यापति तथा अन्य प्रभुगुण-गायकोंने राधाकृष्ण या सीतारामके प्रेमकी बहुविध स्थितियोंका गान करते हुए अपने काव्योंमें अपनेको निमग्न कर दिया है।

'कवि, प्रेमी तथा तत्त्वज्ञानी कल्पनाके मूर्तरूप हैं।' मीराँबाई जन्मजात प्रेमिका एवं कवयित्री थीं। वे १५४७ में मारवाड़में पैदा हुई थीं। जब वे तीन वर्षकी ही थीं, तभी एक साधुने उन्हें गिरिधर (कृष्ण) की एक मूर्ति दी थी। तभीसे वे उस मूर्तिपर रीझ गयी थीं और उसे उन्होंने अपना जीवन-सङ्गी बना लिया था। आठ वर्षकी अवस्थामें उनका विवाह हो गया, पर उनके प्रेमी पति उन्हें संसारी न बना पाये। पतिकी मृत्युके पश्चात् देवरने मीराँको तंग किया। वे पैदल चलकर वृन्दावन पहुँचीं और श्रीकृष्णकी गोपिका बननेकी उनकी कल्पना उनमें बद्धमूल हो गयी। वृन्दावनमें ही ४३ वर्षकी अवस्थामें महान् वैष्णव संत जीवगोस्वामीसे उनकी भेंट हुई, जो उस समय ५८ वर्षके थे। वहीं उनकी भेंट चैतन्यके भक्त हरिदाससे हुई। वे वल्लभ-सम्प्रदायके कृष्णदास तथा राधावल्लभ-सम्प्रदायके हितहरिवंशजीसे भी मिलीं। फिर वे द्वारका गयीं और कहा जाता है कि ६७ वर्षकी आयुमें द्वारकामें भगवान्‌की मूर्तिमें समा गयीं। इस प्रकार उन्हें सामीप्य-मुक्ति मिली।

दक्षिणके वैष्णव संत विष्णुचित्त स्वामीने ४०० ई०में एक परित्यक्ता कन्या आंडालको शरण दी। मीराँबाईकी भाँति ही वे रङ्गनाथ (विष्णु) का यशोगान करती थीं और उन्हींकी मूर्तिमें वे भी अन्तर्धान—विलीन हो गयीं। उन्होंने जो विरहके गीत गाये और जो तिरुप्पवनके नामसे विख्यात हैं, वे आज भी दक्षिणमें उसी तरह गाये जाते हैं, जैसे उत्तरमें मीराँबाईके

भजन गाये जाते हैं। बंगालके जयदेव श्रीराधा-कृष्णके प्रणय-गीतोंके गायकरूपमें बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका अत्यधिक आकर्षक श्रीकाव्य 'गीतगोविन्द' मधुरतम संस्कृत-छन्दोंमें राधाके साथ श्रीकृष्णके घनिष्ठ सम्बन्ध एवं क्रीडाका वर्णन करता है। १२ सर्गोंके ३०० छन्दोंमें वृन्दावनके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए विभोर होकर कविने तरुण राधा-कृष्णकी केलिका वर्णन किया है। जयदेवके अन्तिम दिन पश्चिम बंगालके 'केंदुबिल्व' ग्राम (जिला वीरभूम) में व्यतीत हुए।

निमाई (चैतन्य) जगन्नाथ मिश्र तथा शचीदेवीकी संतान थे। वे नवद्वीप (बंगाल) में १४८४ ई० में उत्पन्न हुए थे। उनके दो विवाह हुए थे—पहला लक्ष्मीदेवीके साथ और दूसरा विष्णुप्रियाके साथ। पहली स्त्री (लक्ष्मीदेवी) की उनके गृहस्थ-जीवनमें ही मृत्यु हो गयी। जब उन्होंने सांसारिक जीवनका त्याग किया, तब दूसरीको भी छोड़ दिया। उन्होंने ईश्वरपुरीसे संन्यासकी दीक्षा ली। वैष्णव-धर्म ग्रहण करनेके बाद उन्होंने श्रीकृष्णकी प्रेयसीके रूपमें अपनेको समझा। प्रारम्भमें वे एक अध्यापक थे, पर उन्होंने श्रीकृष्णपर आठ पद्योंको छोड़ और कुछ नहीं लिखा। किंतु उन्होंने कीर्तन-गीतोंका प्रचलन किया। 'चैतन्यचरितामृत' इत्यादि ग्रन्थ उनके अनुयायियोंने रचे। उनके भक्तोंने ही उन्हें चैतन्यकी उपाधिसे विभूषित किया। ३०० पद्योंका एक कृष्ण-कर्णामृत काव्य है, जो विल्वमङ्गल (१४०० ई०)-रचित कहा जाता है। ये दक्षिणमें कृष्णानदीके तटवर्ती किसी स्थानमें उत्पन्न हुए थे। ये एक वाराङ्गना चिन्तामणिके प्रेममें पागल-से रहते थे। चिन्तामणिने इन्हें अपना प्रेम बालकृष्णपर केन्द्रित करनेको प्रेरित किया। सोमगिरिसे वैष्णवधर्मकी दीक्षा लेकर इन्होंने इन्द्रियलब्ध सुखोंका त्याग किया और वृन्दावन चले गये। चिन्तामणिने भी संसार त्यागकर इनका पदानुसरण किया और तबसे दोनों वृन्दावनमें रहकर राधा-कृष्णका यशोगान करने लगे। इन्हीं गीतोंसे 'कृष्ण-कर्णामृत' काव्य बन गया।

इसी प्रकारके एक भक्त बंगालके चण्डीदास (१४१७-१४७७) थे। वे शाक्तसे वैष्णव हुए और उन्होंने राधा-कृष्णके गीत गाये।

विद्यापति (१४००-१५०७) मिथिलाके राजा शिवसिंह तथा रानी लक्ष्मीदेवीके राजकवि थे और इन्होंने राधा-कृष्णके प्रेम-सम्बन्धी शृङ्गारकाव्यका निर्माण किया। सूरदास (१४७९-१५८४) सहस्रों गीतोंवाले सूरसागरके अन्धगायक थे। उन्हें श्रीवल्लभाचार्यने वैष्णवधर्मकी दीक्षा दी थी। राधा-कृष्णके अन्य भक्तोंकी भाँति वे वृन्दावनमें न रहकर गोवर्धन पर्वतकी तलहटीमें रहे।

प्रसिद्ध कवि तुलसीदास अपने रामचरितमानसके लिये विख्यात हैं। वे 'सीतापति राम'के भक्त थे। कहा जाता है कि माँके पेटसे बाहर आते ही उन्होंने राम-नाम लिया था। वे रामके ही थे और रामने ही उनका उद्धार किया। काशी, चित्रकूट एवं अयोध्यामें साधु-सङ्ग करते हुए वे वृन्दावन पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट नन्ददाससे हुई। कहा जाता है कि उनकी इच्छाके अनुसार वृन्दावनमें एक प्रसिद्ध मन्दिरकी राधा-कृष्ण-मूर्ति सीता-रामके रूपमें बदल गयी थी। तुलसीदासके अनुसार भक्तिका मार्ग भगवल्लीला-सम्बन्धी प्रवचनोंको सुनना और ईश्वर-नामोच्चार है। यह भी चैतन्यस्थापित कीर्तन-जैसा ही है।

ये संत और गायक ही सच्चे भगवद्भक्त रहे हैं। रूप गोस्वामीने अपने 'भक्ति-रसामृत सिन्धु'में भक्तिके विकासके लिये जिन आवश्यक तत्त्वोंकी व्याख्या और विवेचना की है, वे इनमें पाये जाते हैं।

रुद्रको कौन परम प्रिय है ?

श्रीरुद्र भगवान् कहते हैं—

यः परं रंहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात्। भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥

(श्रीमद्भा० ४। २४। २८)

'जो व्यक्ति अव्यक्त प्रकृति तथा जीवसंज्ञक पुरुष—इन दोनोंके नियामक भगवान् वासुदेवकी साक्षात् शरण लेता है, वह मुझे परम प्रिय है।'

हमारी भक्तिनिष्ठा कैसी हो ?

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

आत्मोत्थानके तीन प्रधान साधनों (भक्ति, ज्ञान और कर्म) में भक्तियोग सबसे सुगम और प्रशस्त है। इसका सम्बन्ध हृदयसे है। अपढ़ व्यक्ति भी भक्तिसे कृतार्थ हो सकता है। भक्ति किसकी ? अपनेसे गुणवान्‌की—सबसे अधिक गुणी भगवान्‌की। भक्तिका उद्गम लघुता और दीनताके भावसे होता है। उसका प्राथमिक रूप है विनय। गुणी व्यक्तिके प्रति आदरभाव होना गुणोंके विकासका प्रशस्त पथ है। भक्तिका चरम विकास है—समर्पण, अपनेको गुणीके चरणोंमें लीन कर देना। भक्तिसे अन्तमें भगवान् और भक्त दोनोंकी एकता हो जाती है। भक्त भगवान् बन जाता है।

भक्ति-मार्गके दो भय-स्थान हैं। अन्ध-भक्ति और दिखावा। विवेकपूर्वक की हुई भक्ति आत्माको ऊँचा उठाती है, तो अन्ध-भक्ति पतनकी ओर अग्रसर करती है। विवेक-पूर्वक भक्तिमें व्यक्ति प्रधान न होकर गुणोंकी प्रधानता रहती है। अतः जहाँ कहीं भी जिस व्यक्तिमें गुण दिखायी देता है, भक्त हृदय उनके प्रति सहज आकर्षित हो अर्पित हो जाता है। अन्ध-भक्तिमें व्यक्ति ही प्रधान होता है, अतः दूसरे तद्रूप अथवा तदधिक गुणीके प्रति भी वैसा अर्पणका भाव नहीं आता। अन्य व्यक्तिके गुण उसे दिखायी नहीं देते। दिखावारूप भक्ति तो वास्तवमें भक्ति है ही नहीं; वह तो ठगी है, उससे तो पतन ही होता है।

भक्ति-निष्ठा कैसी होनी चाहिये, इस विषयपर जैन संत-शिरोमणि श्रीमद् आनन्दघनजीने दृष्टान्तसहित सुन्दर प्रकाश डाला है। उनका वह प्रेरणादायक पद इस प्रकार है—

ऐसे जिन चरणे चित पद लाऊँ रे मना,
ऐसे अरिहंतके गुण गाऊँ रे मना।
उदर भरणके कारणे रे गउवाँ बनमें जाय।
चारौ चरै चहुँ दिस फिरै, वाकी सुरत बछरुआ माँय ॥१॥

अर्थात् प्रभुमें भक्ति-निष्ठा ऐसी हो, प्रभुके गुण-गानमें मस्ती अथवा लीनता ऐसी हो। कैसी ? जिस प्रकार उदर-भरणके लिये गौएँ वनमें जाती हैं, घास चरती हैं, चारों ओर फिरती हैं, पर उनका मन अपने बछड़ोंमें लगा रहता है। समय होते ही वापिस आकर सबसे पहले बछड़ोंको सँभालती हैं। वैसे ही संसारके सब काम करते हुए भी हम प्रभुको न भूलें। उनकी हर समय स्मृति बनी रहे। समय मिलते ही प्रभु-भक्तिमें लीन हो जायँ।

सात पाँच साहेलियाँ रे हिल मिल पाणीडे जाय।
ताली दिये खल-खल हँसे, वाकी सुरत गगरुआ माँय ॥२॥

अर्थात् पाँच-सात पनिहारिनें—सखियाँ मिलकर पानी भरने कुएँ-तालाब आदिको जाती हैं। रास्तेमें तालियाँ देती हैं, हँसती-खेलती हैं; पर उनका ध्यान सिरके घड़ेकी ओर बराबर लगा रहता है कि वह कहीं गिर न जाय। इसी प्रकार व्यावहारिक प्रवृत्तियोंमें रहते हुए भी हमारा पतन न हो, इसकी पूरी सावधानी रहे।

नटवा नाचै चौकमें रे, लोक करै लख शोर।
बाँस ग्रही बरतै चढ़ै, वाकी चित न चलै कहुँ ठोर ॥३॥

अर्थात् नट खेल दिखानेको बाँस लेकर रस्सीपर चढ़ता है, लोग उसकी कुशलता देखकर शोर-गुल मचाते रहते हैं। पर उसका ध्यान इधर-उधर देखते हुए भी रस्सी आदिमें रहता है कि कहीं गिर न पड़ूँ। वैसे ही हर समय सांसारिक, पारिवारिक कोलाहलमें भी हमारा ध्यान प्रभुमें लगा रहे। हम लक्ष्यसे न चूकें।

जुआरी मन में जुवा रे, कामी के मन काम।
आनँदघन प्रभु यौं कहै, तू ले भगवतको नाम ॥ऐसे०४॥

अर्थात् जैसे जुआरीके मनमें जुआ बसा रहता है एवं कामी पुरुषका मन कामवासनामें ही (अन्य सब सुध-बुध खोकर) लगा रहता है। अन्य बातोंमें उसे रस नहीं मिलता, वैसे ही प्रभु-नाम-स्मरणादिरूप भक्तिमें अविचल अनन्य निष्ठा हो, जिससे उसके सिवा अन्य कहीं भी मन न जाय। भक्तिके बिना चैन ही न पड़े। अन्य प्रवृत्तियोंमें भक्तको रस नहीं मिलता। ऐसी भक्ति-निष्ठा ही मनुष्यको भगवान्‌के समीप पहुँचाते हुए भगवत्-रूप बना देती है।

भक्तराज प्रह्लादने भक्तिकी व्याख्या करते हुए कहा है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

'अज्ञानियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें जैसा अविचल प्रेम

देखनेमें आता है, तुम्हारा स्मरण करते समय हे प्रभु! तुम्हारी ओर ऐसी ही तीव्र आसक्ति मेरे हृदयमें निरन्तर रहे (ऐसी मेरी प्रार्थना है।)'

तुलसीदासजीने भी रामायणमें कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

सर्व-सुलभ भक्ति-मार्ग

(भक्तिका तात्त्विक विवेचन)

[लेखक—आचार्य प० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ]

मानस-रामायणमें गोस्वामीजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रके मुखसे अयोध्यापुरवासियोंके प्रति भक्तिकी बड़ी महिमा कहलायी है और भक्तिमार्गको सर्वसुलभ बतलाया है—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई।
एहि आचरन बस्य मैं भाई॥
बैर न बिग्रह, आस न त्रासा।
सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी।
अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।
तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥
(उत्तरकाण्ड)

'भक्तिमार्ग कितना सुलभ है, जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—योगके इन अष्टाङ्गोंकी आवश्यकता नहीं, न जप-तप, अथवा व्रतकी ही अपेक्षा है। सरल स्वभाव, मनमें कुटिलता न रखना, जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष—ये ही भक्तिके मुख्य लक्षण हैं। भक्त न तो किसीसे वैर-विरोध करता है और न किसीसे आशा अथवा भय ही रखता है। वह अहंकारपूर्वक कोई क्रिया नहीं करता—सम्पूर्ण संकल्पोंका, संन्यासी होता गृहासक्त नहीं होता, मान-पाप-क्रोध-रहित होता है, स्वस्वरूपको समझता है तथा भगवद्भक्तोंकी संगतिमें रमण करता है। उसके लिये नरक, स्वर्ग, अपवर्ग समान होते हैं तथा इस प्रकार जो मनुष्य मानहठ, कर्महठ छोड़कर भक्तिहठ रखता है, वह सुखी होता है।

ज्ञानमार्ग—कैवल्य-मुक्तिदायक है, पर है अतिक्लिष्ट। इसके साधन भी कठिन हैं, उसमें विघ्न भी अनेक आते हैं, उसमें मनको कोई अवलम्ब भी नहीं रहता। यदि कोई विरला ज्ञानमार्गसे तर भी जाय, तो भी उसके लिये भक्ति आवश्यक है—भक्ति बिना कोरा ज्ञान पुनः पतनकी ओर ही ले जाता है ज्ञानीको।

वह भक्ति—संत-समागमके बिना कहाँ।

कर्ममार्ग—से पुनः ज्ञानमार्गपर आना पड़ता है, उसमें भक्ति आवश्यक है ही।

भक्तिमार्ग—स्वतन्त्र मार्ग है। गोस्वामीजीके शब्दोंमें वह सम्पूर्ण गुणोंकी खान है।

ऊपर भक्तके जो गुण कहे गये हैं, वे गीतामें भी कई श्लोकोंमें वर्णित हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग कठिन है ही, कर्ममार्ग भी कठिन है, और भक्तिमार्ग तो सभीसे कठिन है, पर साथ ही सरल भी है।

नवविध भक्ति

भक्तिमें सबसे प्रथम आवश्यकता श्रवण की है।

श्रवण न हो तो कीर्तन कैसा।

कीर्तनसे स्मरण बना रहता है।

फिर पादसेवन। इसमें सब प्रकारकी सेवा आ जाती है। जहाँ पादसेवन होगा अर्चन भी आ ही जायगा।

अर्चन वन्दनके बिना अधूरा ही रह जाता। तब दासभाव जगेगा।

फिर वही दासभाव सख्यभावमें परिणत हो जाता। अन्तमें सख्यभाव आत्मनिवेदन रूप हो जायगा।

भक्तकी भक्ति जब चरमसीमाको पहुँच जायगी, तब उसकी दशा भी स्थितप्रज्ञ ज्ञानीकी-सी हो जायगी। फिर ऐसे भक्तको भगवान् क्यों न गले लगायेंगे।

यद्यपि ज्ञानमार्ग सर्वोच्च माना जाता है और वह मोक्षतक पहुँचाता है, तथापि वह क्लिष्ट है। कर्ममार्ग भी क्लिष्ट है। निष्काम कर्म तो नितान्त कठिन है।

सकाम कर्म बन्धनमें डालनेवाले हैं, इसलिये सर्वसुलभ मार्ग है—भक्तिमार्ग।

यों तो दीखनेमें भक्तिमार्ग सुलभ प्रतीत होता है, तथापि जबतक भक्तिभावकी प्रारम्भिक सीढ़ीपर चढ़कर अन्तिम सीढ़ीतक पहुँचते हैं, तबतक भक्तिमार्गमें भी ज्ञानमार्गसे कम कठिनाई नहीं है।

ज्ञानमार्गपर—चलते-चलते कहीं 'अहं ज्ञानी' की भावना आ सकती है और यह 'अहं-भावना' साधकको पुनः नीचे गिरा सकती है।

कर्ममार्ग—राजसी मार्ग है। इसमें 'अहं' तो साथ चिपटा ही चला जाता है। आगे चलकर मनुष्य निष्काम बन जाय तो और बात है।

भक्तिमार्गमें—तो प्रारम्भसे ही 'अहं'का भाव गलने लगता है और ऊपरकी सीढ़ीपर पहुँचनेतक 'अहं'का पता ही नहीं रहता।

आश्चर्य यह है कि

संसार चलता ही है 'अहं'से, पनपता ही है 'अहं'से। और जहाँ 'अहं' गया, वहाँ फिर संसार भी कहाँ रह पाता है।

इसीलिये

यज्ञ-यागादिमें देवताओंको उद्देश्य करके आहुति देते हुए कहा जाता है —

इदमग्नये इदं न मम।

यह मेरी आहुति अग्निके लिये है, इसमें मेरा कुछ नहीं है, जिसके लिये है, जिसकी है, उसीको दे रहा हूँ। इसी प्रकार—

इदं वायवे इदं न मम
इदं सोमाय इदं न मम
इदमिन्द्राय इदं न मम
इदमादित्याय इदं न मम

अर्थात् यह आहुति वायुके लिये है, यह सोमके लिये है, यह इन्द्रके लिये है, यह आदित्यके लिये है, इसमें मेरा क्या है; जिसकी है, उसीको दे रहा हूँ, उसीको सौंप रहा हूँ।

यद्यपि भगवान्‌को ज्ञानी—

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

—अत्यन्त प्रिय होते हैं, तथापि भक्तिमार्गवाले अत्यन्त प्रिय नहीं तो प्रिय तो अवश्य होते हैं। किसी तरह भगवान्‌के प्रियोंकी सूचीमें एक बार नाम आ जाय तो और क्या चाहिये।

भगवान्‌को ज्ञानी अत्यन्त प्रिय क्यों?

इसलिये कि वह अन्योंकी अपेक्षा साधनामें अत्यन्त कष्ट उठाता है—तब कहीं भगवान्‌को पाता है। कर्मकाण्डका मार्ग उस ज्ञानमार्गसे अति सुलभ है। भक्तका मार्ग उससे भी सुलभ है—

न मे भक्तः प्रणश्यति। (गीता ९। ३१)

'मेरा भक्त नष्ट नहीं हो सकता।'

क्यों जी—

प्र०—तो फिर ज्ञानीको जो फल मिलेगा, वही भक्तको भी मिलेगा?

उ०—हाँ, इसमें क्या संदेह है?

प्र०—कैसे?

उ०—जैसे पुष्पके आश्रयसे एक छोटी-सी चींटी भी बड़े-बड़ोंके सिरपर चढ़ जाती है, उसी प्रकार भक्त भी किसी ज्ञानीका भक्त हुआ—पूर्णरूपेण, तो वह भी उस पदको प्राप्त कर सकेगा, जिस पदको ज्ञानी प्राप्त करता है।

प्र०—तब तो भक्तका मार्ग सबसे अच्छा रहा।

उ०—अच्छा तो है; पर हर कोई सच्चा भक्त भी नहीं बन सकता, जैसे हर कोई ज्ञानी नहीं बन सकता।

प्र०—क्यों?

उ०—यह बात तो संस्कारोंकी है—संस्कारी जीव शीघ्र पहुँच पाते हैं, एक ही जन्ममें पार हो जाते हैं। जिनके संस्कार कम अच्छे होते हैं, वे अनेक जन्मोंतक धक्के खाते रहते हैं।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

तीव्र-संस्कारी जीव इसी जन्ममें और मध्यम-संस्कारी जीव प्रयत्न करते रहें तो अनेक जन्मोंमें जाकर परा गतिको प्राप्त करते हैं।

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार—ये ध्यानयोगसे पार हुए।

राजा जनक, जैगीषव्य आदि कर्मयोगसे पार हुए।

भक्तियोगसे जो पार हुए, उनकी नामावली भी कम लम्बी नहीं है—भक्तमालकी गाथाएँ पढ़िये।

तत्त्व यह है कि

शक्तिसे भक्ति पनपती है और भक्तिसे शक्ति आती है; इसलिये परगति प्राप्त करनेमें भक्ति, शक्ति तथा युक्तिका यथार्थ समन्वय आवश्यक है।

भक्तिके अनुरूप मार्ग, शक्तिके अनुरूप उसपर चलना और भक्ति-शक्तिका समन्वय—ये तीन बातें आवश्यक हैं। भक्तिके बिना शक्ति व्यर्थ, शक्तिके बिना कोरी भक्ति व्यर्थ और युक्तिके बिना भक्ति-शक्तिका समन्वय नहीं हो सकता।

इन गीता-वचनोंको देखिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२। १३–२०)

इन श्लोकोंमें 'यो मद्भक्तः', 'भक्तिमान्', 'भक्ताः' इत्यादि विशेषणोंको देखकर विस्मय होता है कि भगवान् कोरे ज्ञानसे, कोरे कर्मकाण्डसे प्रसन्न होनेवाले नहीं, उनको 'भक्त' भी चाहिये।

कैसे भक्त ?

ऐसे भक्त, जो द्वेषरहित हों, मैत्र हों, करुण हों, निर्मम हों, निरहंकार हों, समसुख-दुःख हों, क्षमावान् हों—

और

संतुष्ट हों, यतात्मा हों, दृढनिश्चय हों, मुझमें मन-बुद्धिको अर्पण किये हों—

यही नहीं,

जो लोगोंसे घबरायें नहीं, लोग जिनसे घबरायें नहीं तथा जो भय, हर्ष, अमर्ष एवं उद्वेगसे मुक्त हों—

यही नहीं,

किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखें, शुचि हों, दक्ष हों, उदासीन हों, गतव्यथ हों, सर्वारम्भपरित्यागी (मैं ही करने-वाला हूँ, ऐसी बुद्धि न रखनेवाले) हों—

जो

शत्रु और मित्रको समान समझें, मानापमानको एक-सा जानें, शीत-उष्ण, सुख-दुःखमें समान रहें, सङ्गरहित हों—

जो

निन्दा-स्तुतिमें समान रहें, मौनी हों (जितना आवश्यक हो, अपरिहार्य हो, उतना ही बोलनेवाले हों), स्थिरमति रहें, अनिकेत हों—कहीं ममत्व न रखें—

जो

श्रद्धावान् हों—बस, मुझे ही सब कुछ समझें—ऐसे ऐसे गुणोंसे युक्त भक्तिमान् मुझे प्रिय हैं।

इन गीताके श्लोकोंसे स्पष्ट है कि गीताके 'भक्तिमान्' में और अन्यत्र 'भक्तिमान्' में बड़ा भेद है।

सारांश, कोरी भक्ति भी कुछ नहीं तथा कोरे अन्य [illegible] गुण भी भक्तिशून्य होनेसे सार्थक नहीं हैं। रामचरित उत्तर-काण्डके दोहे और गीताके द्वादश अध्यायमें बहुत कुछ साम्य है।

यह है सात्त्विक विवेचन भक्तिका। [illegible] प्रत्येक व्यक्ति भक्ति और शक्तिका यथार्थ उपयोग करे।

भक्ति-तत्त्वका दिग्दर्शन

शास्त्रोंकी आलोचना करते समय सबसे पहले अनुबन्ध-चतुष्टय अर्थात् अधिकारी, सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनका विचार किया जाता है। अतएव भक्ति-शास्त्रके अनुबन्ध-चतुष्टय क्या हैं? श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव कहते हैं कि भक्ति-शास्त्रके प्रति श्रद्धावान् व्यक्ति ही इसका अधिकारी है। 'वाच्य-वाचकः सम्बन्धः।' इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है—'उपास्य-तत्त्व'। अतएव शास्त्रका उपास्य-तत्त्वके साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। उपास्य-तत्त्व श्रीकृष्णकी प्राप्तिका उपाय 'अभिधेय' है। अतएव भक्ति अभिधेय है और श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति ही इसका 'प्रयोजन' है।

१. अधिकारी (जीव-तत्त्व)

जब भक्ति-शास्त्रका अधिकारी श्रद्धावान् जीव है, तब यह सहज ही जिज्ञासा होती है कि जीव-तत्त्व क्या है और वह श्रद्धावान् होता कैसे है। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें जीव-तत्त्वके विषयमें जामाता मुनि कहते हैं—

ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः।
न जातो निर्विकारश्च एकरूपः स्वरूपभाक्॥
अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा।
अहमर्थोऽव्ययः क्षेत्री भिन्नरूपः सनातनः॥
अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्य अशोष्योऽक्षर एव च।
एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै॥
मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा।
दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन॥
आत्मा न देवो न नरो न तिर्यक् स्थावरो न च।
न देहो नेन्द्रियं नैव मनः प्राणो न चापि धीः॥
न जडो न विकारी च ज्ञानमात्रात्मको न च।
स्वस्मै स्वयंप्रकाशः स्यादेकरूपः स्वरूपभाक्॥
अहमर्थः प्रतिक्षेत्रं भिन्नोऽणुर्नित्यनिर्मलः।
तथा ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वनिजधर्मकः॥
परमात्मैकशेषत्वस्वभावः सर्वदा स्वतः॥

अर्थात् जीव देह नहीं है, ज्ञानका आश्रय है। ज्ञान उसका गुण है। जैसे अग्निका गुण दाह है, सूर्यका गुण प्रकाश है, उसी प्रकार जीवका गुण ज्ञान है। वह चेतन है, प्रकृतिके परे है। जैसे काष्ठमें व्यापक अग्नि काष्ठसे भिन्न है, उसी प्रकार देही (जीव) देहसे भिन्न है, इन्द्रिय, मन, प्राण या बुद्धि भी नहीं है। वह अजन्मा है, निर्विकार है, सदा एकरूप रहता है। अणु है, नित्य है, व्यापक है, चित् और आनन्द-स्वरूप है। 'अहं'-शब्द-वाच्य, अविनाशी, क्षेत्री (शरीररूप क्षेत्रका स्वामी) शरीरसे भिन्नरूप, सदा रहनेवाला, अदाह्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अक्षर आदि गुणोंसे युक्त है। जीव समस्त पदार्थोंका द्रष्टा और प्रकाशक है तथा स्वयं अपना भी द्रष्टा और प्रकाशक है। वह न जड है और न जडसे पैदा हुआ है। जीव केवल श्रीहरिका दास है, और किसीका नहीं। वह देवता नहीं, मनुष्य नहीं, न तिर्यक् है न स्थावर है। वह ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है, कर्मानुसार उसका गमनागमन होता है। परमात्माका शेषत्व-अनन्यदासत्व ही जीवका स्वभाव है।

ये जीव असंख्य हैं, अनन्त हैं। जल, स्थल और अन्तरिक्षमें कोई स्थान ऐसा नहीं, जो जीवोंसे खाली हो। जीवके सम्बन्धमें श्रीसनातन गोस्वामीके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥

अर्थात् स्वरूपतः जीव श्रीकृष्णका नित्यदास है, वह श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, भेद और अभेदरूपमें प्रकाशित होता है। शास्त्रोंमें अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा और तटस्था भेदसे श्रीभगवान्की तीन शक्तियोंका उल्लेख पाया जाता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्णेर स्वाभाविक तिन शक्ति-परिणति।
चित्-शक्ति, जीवशक्ति आर मायाशक्ति॥

अर्थात् श्रीभगवान्की स्वभावतः तीन शक्तियोंमें परिणति होती है—चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिमें। चित्-शक्ति ही अन्तरङ्गा शक्ति है, मायाशक्ति बहिरङ्गा तथा जीव-शक्ति तटस्था। श्रीनारदपाञ्चरात्रमें भी लिखा है—

यत्तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।
रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥

अर्थात् चित् पदार्थ स्वसंवेद्य मूलरूपसे निकलकर तटस्थ होकर रहता है। गुणरागके द्वारा रञ्जित वह तटस्थ चिद्रूप ही जीव कहलाता है। भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

अर्थात् पूर्वोक्त आठ प्रकारकी अपरा प्रकृतिसे भिन्न एक मेरी जीवरूप परा प्रकृति है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है। अर्थात् जैसे देहीके द्वारा यह देह धारण किया जाता है, उसी प्रकार असंख्य-असंख्य जीवोंके द्वारा जल, स्थल और अन्तरिक्षरूप अनन्त ब्रह्माण्ड धारण किया जाता है।

अब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि 'जब जीव स्वयं भगवान्‌की, श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, तब फिर श्रीकृष्ण-तत्त्व है क्या?' वेद-वेदान्त आदि शास्त्रोंकी चरम आलोचना करनेसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अखिल-प्रेम-रसानन्दमूर्ति हैं। वे नित्य रस-स्वरूप हैं, नित्य प्रेम-स्वरूप हैं तथा नित्य आनन्द-स्वरूप हैं। सूर्यकी किरणके समान, अग्निके स्फुलिङ्गके समान जीव इस अखिल-प्रेम-रस-आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्णका ही अंश है। अतएव विशुद्ध प्रेम-रस-आनन्द ही जीवका प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है। आनन्द ही ब्रह्म है, एवं परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। इस आनन्दसे ही जीवोंकी उत्पत्ति होती है तथा आनन्दमें ही जीवोंका लय होता है। श्रुति भी कहती है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। आनन्दसे ही भूतगण उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे वे जीवित रहते हैं, आनन्दमें गमन करते हैं तथा आनन्दमें ही प्रवेश करते हैं।

अतएव प्रेमानन्द ही जीवका प्रकृत स्वरूप है। फिर यह इस संसारमें इतना दुखी क्यों है? श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं कि जीव श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है। उनकी अन्तरङ्गा और बहिरङ्गा शक्तियोंके मध्यमें स्थित है। अन्तरङ्गा शक्तिके आकर्षणको प्राप्तकर जीव श्रीकृष्णोन्मुख होता है—नित्यानन्द नित्य-सुखका भोग करता है, परंतु बहिरङ्गा शक्तिके आकर्षणसे वह मायामुग्ध होकर सांसारिक क्लेशोंको भोगता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख॥
कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।

अर्थात् वही अनादि जीव श्रीकृष्णको भूलकर जब बहिर्मुख होता है, तब माया उसको सांसारिक दुःख प्रदान करती है। कभी ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाती है तो कभी नरकमें डुबा देती है। अविद्या या माया श्रीभगवान्‌की परिचारिका है। भगवद्विमुख जीवोंका अपने प्रभुकी अवज्ञा करना यह सहन नहीं कर सकती। इसीलिये दण्डविधान करती है। अतएव भगवद्विमुखता ही दुःखका हेतु है और इस मायासे निस्तार पानेका एकमात्र उपाय है—भगवान्‌के सम्मुख होना। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया दुस्तर है, इससे पार पाना कठिन है। जो मेरी शरणमें आ जाते हैं, वे ही इस मायासे निस्तार पाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भागवत ११। १४। २०)

'हे उद्धव! मैं श्रद्धापूर्वक की हुई एकमात्र भक्तिसे ही वशमें होता हूँ; क्योंकि मैं संतोंकी आत्मा और प्रिय हूँ। मेरी दृढभक्ति चाण्डालको भी जातिदोषसे पवित्र करती है।' अतएव भक्ति ही श्रीकृष्ण प्राप्तिका उपाय है। भक्तिके द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होती है। प्रेमसे दुःख दूर होता है और संसार-यातना तिरोहित हो जाती है। परन्तु इस प्रेमका मुख्य प्रयोजन श्रीकृष्ण-प्रेमका आस्वादन ही है।

२. सम्बन्ध (भगवत्तत्त्व)

वेदादि समस्त शास्त्र सब प्रकारसे श्रीकृष्णके ही परतत्त्वको प्रकट करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण ही परतम हैं, इनके ऊपर कोई दूसरा उपास्य-तत्त्व नहीं है—यही सब शास्त्रोंका अभिप्राय है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्णेर स्वरूपविचार शुन सनातन।
अद्वय ज्ञान-तत्त्व व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥
सर्व आदि सर्व अंशी किशोर शेखर।
चिदानन्द देह सर्वाश्रय सर्वेश्वर॥

अर्थात् हे सनातन! अब श्रीकृष्णके स्वरूपका निरूपण मैं करता हूँ, तुम सुनो। कृष्ण अद्वय ज्ञानतत्त्व हैं और वे ही व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दन हैं। वे सबके आदिकारण हैं, सब उन्हींके अंश हैं, वे अंशी हैं। वे किशोरशेखर श्रीकृष्ण चिदानन्दमूर्ति हैं, सबके आश्रय हैं, सर्वेश्वर हैं। ब्रह्मसंहितामें कहा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥
(ब्र॰ सं॰ ५-१)

अर्थात् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, सच्चिदानन्दविग्रह हैं, अनादि हैं और (सबके) आदि—मूलकारण हैं। गोविन्द सब कारणोंके कारण हैं अर्थात् उनका कारण कोई नहीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
(१।२।११)

अर्थात् तत्त्ववेत्तागण जिसको अद्वय ज्ञान-तत्त्व कहते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—इन तीन शब्दोंसे अभिहित होता है।

एक ही अद्वयतत्त्वकी यह त्रिविध अनुभूति है। जैसे दूरसे दीखनेवाला सूर्यका विस्तृत प्रकाश समीपसे गोलाकार ज्योतिःपिण्डके रूपमें तथा और भी समीप जानेपर उसमें विराजित भगवान् सूर्यदेवके रूपमें मूर्तिमान् दिखायी देता है, उसी प्रकार ज्ञानके उदयकालमें साधकके शुद्ध सात्त्विक हृदय-पटपर जो भगवद्विग्रहका आलोक प्रतिफलित होता है, उसे ब्रह्म कहते हैं। यह सत्तामात्र आलोक ही निर्गुणवादियोंके द्वारा निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निष्क्रिय आदि नामोंसे पुकारा जाता है। यही आलोकपुञ्ज जब बिम्बरूपसे साधकके हृदयाकाशमें प्रतिभात होता है, तब इसे 'परमात्मा' कहते हैं। योगिजन इसका आदेशमात्र दीपकलिका-ज्योतिके समान दर्शन करते हैं। इसीको जगत्का 'अन्तर्यामी' माना जाता है। ये 'ब्रह्मानुभव' और 'परमात्मदर्शन' दोनों ही भगवत्तत्त्वके अंशबोध मात्र हैं। इस 'ब्रह्मके' प्रतिष्ठान और 'परमात्मा' के अधिष्ठानभूत परमतत्त्वको ही 'भगवान्' कहते हैं। भक्तोंको प्रेमाञ्जनच्छुरित नेत्रोंसे अचिन्त्य-अनन्त-गुणसम्पन्न, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् श्यामसुन्दररूपके मधुर दर्शन होते हैं। ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें उपनिषद् कहते हैं—

ॐ एकमेवाद्वितीयम्। सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

—सम्भवतः इस श्रुतिका अवलम्बन करके ही श्रीकृष्णको अद्वय ज्ञानतत्त्वकी संज्ञा दी गयी है। वही परम ब्रह्म भगवान् हैं। उपर्युक्त भागवतीय श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीजीव गोस्वामी लिखते हैं—

अद्वयत्वं चास्य स्वयंसिद्धतादृशातादृशतत्त्वान्तराभावात् स्वशक्त्यैकसहायत्वात् परमाश्रयं तं विना तासामसिद्धत्वाच्च।

अर्थात् स्वयंसिद्ध तादृश और अतादृश (सजातीय और विजातीय) तद्भिन्न किसी अन्य तत्त्वके न होनेके कारण तथा एकमात्र स्वशक्तिपर अवलम्बित होनेके कारण और अन्य सब शक्तियोंके परम आश्रय होनेके कारण श्रीकृष्ण ही अद्वयतत्त्व हैं उनके बिना कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। श्रुति भी कहती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
(श्वेताश्वतर॰ ६।८)

अतः स्पष्ट है कि परमब्रह्मकी नाना प्रकारकी शक्तियाँ हैं। उनमें ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं, जिनके प्रभावसे जगत्-व्यापार आदि कार्य सम्पन्न होते रहते हैं। उसी परम ब्रह्मका नाम श्रीकृष्ण है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥
(श्रीमद्भा॰ १०।१४।५५)

'हे महाराज! तुम इन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण जीवात्माओंका आत्मा जानो, जो वैसे होकर भी जगत्के हितके लिये अपनी योगमायाके प्रभावसे सर्वसाधारणके सामने सांसारिक जीवके समान जान पड़ते हैं।'

यह श्रीकृष्णतत्त्व ही है, जिससे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होकर विधृत हो रहे हैं। इसका समर्थन आधुनिक ज्योतिर्विज्ञानके द्वारा भी होता है। रात्रिके समय नील आकाशकी ओर देखिये। अनन्त नक्षत्रमालाएँ रजतके समान शुभ्र किरणोंसे युक्त दीख पड़ेंगी। ये यद्यपि देखनेमें अति क्षुद्र हैं, फिर भी वस्तुतः उनमें अनेकों तारे सूर्यकी अपेक्षा भी कई लाख गुना बड़े हैं। यह सूर्य भी, जो इतना छोटा दीख पड़ता है, इस पृथ्वीकी अपेक्षा चौदह लाख गुना बड़ा है। परंतु जो नक्षत्र-पुञ्ज आकाशमें हम देखते हैं, वे वस्तुतः अनन्त आकाशमें फैली असंख्य नक्षत्रराशिके करोड़वें अंशके बराबर हैं। इससे विश्वब्रह्माण्डकी विशालता और असीमताका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इनमेंसे एक-एक नक्षत्र-विशेषको केन्द्रमें लेकर अनेकों ग्रह अपने उपग्रहों और उल्कापुञ्जोंके साथ भ्रमण कर रहे हैं। जैसे पृथ्वी, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो—ये नौ ग्रह सूर्यकी परिक्रमा करते हुए सौरमण्डलका निर्माण करते हैं, वैसे इस अनन्त आकाशमें असंख्य सौर मण्डल हैं। सबकी रचना और गति-विधि विलक्षण ही हैं। वे नाना प्रकारके रक्त, नील, पीत आदि वर्णोंसे युक्त हैं। उनके प्रकाश और तापमें भी निरन्तर परिवर्तन देखा जाता है। एम्॰ फ्लेमेरियन नामक फ्रेंच ज्योति

विद्ने स्तान, हेल तथा हाइकुा प्रभृति नक्षत्रपुञ्जोंके विषयमें बतलाया है कि ये नक्षत्र-पुञ्ज कुछ दिनोंतक प्रकाशकिरणोंको बिखेरकर अन्धकारमें विलीन हो जाते हैं । सम्भवतः इनमें हमारी पृथ्वीकी दृष्टिसे दो-दो तीन-तीन महीनोंका रात-दिन होता है । यह अनन्त विलक्षणताओंसे युक्त अनन्त तारका-राशि केन्द्राकर्षण और केन्द्रापकर्षण—दो विभिन्न शक्तियोंके द्वारा विधृत होकर जीवन-यापन कर रही है । यदि ये आकर्षण-शक्तियाँ न होतीं तो ब्रह्माण्डकी सारी व्यवस्था ही नष्ट हो जाती । अनन्त सौरमण्डल इसी आकर्षण-शक्तिके बलपर अवस्थित है । इससे यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका एक ऐसा भी केन्द्र है, जिसके आकर्षणसे ये दृष्टादृष्ट, कल्पित, कल्पनातीत, अनुमित और अनुमानातीत निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड आकृष्ट होकर उसमें विधृत हो रहे हैं । वे सर्वाकर्षक, सर्वाधार, सर्वपोषक, सर्वाश्रय, निखिल आकर्षण और निखिल शक्तिके परमाश्रय और परमाधार श्रीकृष्ण गोविन्द ही हैं ।

पाठकोंको इस विवेचनसे 'श्रीकृष्ण' शब्दकी वैज्ञानिक निरुक्ति सहज ही समझमें आ सकती है । वस्तुतः श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं; जो सर्वापेक्षा बृहत्तम है, वही श्रीकृष्ण हैं—

> यदेव परमं ब्रह्म सर्वतोऽपि बृहत्तमम् ।
> सर्वस्यापि बृंहणत्वात् कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

'जो परम ब्रह्म है, सबसे बृहत्तम है, सबको फैलाये हुए है, वही श्रीकृष्ण कहलाता है ।' बृहद् गौतमीतन्त्रमें भी आया है—

> अथवा कर्षयेत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
> कालरूपेण भगवांस्तेनायं कृष्ण उच्यते ॥

अर्थात् भगवान् सारे स्थावर-जङ्गम जगत्‌को कालरूपसे आकर्षित कर रहे हैं, इसी कारण वे श्रीकृष्ण कहलाते हैं ।

सम्बन्ध-तत्त्वमें अवतारवाद

इस जगत्‌में सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान् जो अपने रूपको प्रकट करते हैं, वह उनका अपना रूप प्रकट करना ही अवतार कहलाता है । वे अशेषकल्याणगुणमय हैं । दया उनका विशिष्ट गुण है । जीवके प्रति श्रीभगवान्‌की दयाको सभी धर्म-विश्वासी स्वीकार करते हैं । परंतु जब जीवके परित्राण-का उपाय प्रदर्शन करनेके लिये वे जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं, तब उनकी दयाका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होता है । अन्य किसी अवस्थामें उनकी दया वैसे समुज्ज्वलरूपमें प्रकाशित नहीं होती । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।
> स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥
> (१ । ७ । २५)

अतएव श्रीभगवान्‌के अवतारका उद्देश्य है—पृथ्वीके भारका हरण तथा अनन्यभावविशिष्ट अपने भक्तोंके अनुध्यानमें सहायता करना । भगवान् स्वरूपशक्तिके विलास-रूपमें इस जगत्‌में अपने रूपको प्रकट करते हैं । भक्तोंको सुख देनेके लिये ही उनकी श्रीमूर्ति प्रपञ्चमें आविर्भूत होती है । गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

धर्म ही जीवके मङ्गलका हेतु है । धर्मकी उन्नतिसे ही जीवकी उन्नति होती है । धर्मसे च्युत होना ही जीवका अधःपतन है । इस धर्मकी रक्षाके लिये ही श्रीभगवान् इस धराधाममें अवतीर्ण होते हैं । उपर्युक्त श्लोककी टीकामें श्रीमधुसूदन सरस्वतीके कथनका अभिप्राय यह है कि कर्मफलके भोगके लिये जीवका जन्म होता है । कर्मानुसार जीवदेह उत्पन्न होता है । परंतु जो सर्वकारणोंके कारण तथा सर्वकर्मातीत हैं, उनका देहधारण कर्माधीन नहीं है और न उनका शरीर ही भौतिक शरीर है । इसी कारण बृहद् विष्णुपुराणमें कहा गया है—

> यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः ।
> स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः ॥

भाष्यकार श्रीशंकराचार्यजी भी कहते हैं—

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्या-जोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते, स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया ।

अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजके द्वारा सदा सम्पन्न वे भगवान् अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया, प्रकृतिको वशीभूत करके, निखिल भूतोंके ईश्वर तथा अज, अव्यय, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव होते हुए भी अपनी मायाके द्वारा देहवान्‌के समान प्रकट होते हुएसे एवं

उनका अपना कोई प्रयोजन न होनेपर भी सृष्ट जीवोंके प्रति अनुग्रहकी इच्छासे संसारका कल्याण करते हुए दीख पड़ते हैं।

श्रीभगवान्‌की प्रकृति भौतिक नहीं है, उनका श्रीविग्रह भौतिक नहीं है—इस बातको श्रीमद्रामानुजाचार्य, श्रीमधुसूदन सरस्वती, श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ती, श्रीमान् बलदेव विद्याभूषण तथा महाभारतके टीकाकार श्रीमान् नीलकण्ठ प्रभृतिने शास्त्र और युक्तिके अनुसार सुस्पष्टरूपसे प्रमाणित कर दिया है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

सारांश यह है कि भगवान्‌के जन्म और कर्म दिव्य हैं, भौतिक नहीं। श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं कि 'ईश्वरका ज्ञानादि जैसे नित्य है, देह भी वैसे ही नित्य है। उनमें देह-देहीका भेद नहीं है। जीवदेह जैसे चेतनाविहीन होनेपर 'शव' बन जाता है, भगवद्देहके बारेमें ऐसी बात नहीं; वह सदा ही चिदानन्दरसमय बना रहता है। अतएव श्रीविग्रह सच्चिदानन्दस्वरूप भजनीय है।' वे श्रीभगवत्संदर्भमें लिखते हैं—

यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मकः ऐश्वर्यात्मकः शक्त्यात्मकश्च।

अर्थात् भगवान् जैसे हैं, वैसी ही उनकी अभिव्यक्ति होती है। भगवान् कैसे हैं? वे ज्ञानस्वरूप हैं, ऐश्वर्यस्वरूप हैं और शक्तिस्वरूप हैं। भगवान्‌के स्वरूपसे भगवद्देह भिन्न नहीं है। जो स्वरूप है, वही विग्रह है। विज्ञान-आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है, अतएव भगवद्विग्रह भी विज्ञानानन्दमय है। भगवान् रसस्वरूप हैं, अतएव श्रीभगवद्विग्रह भी रसमय है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

अर्थात् मूढलोग मुझको भौतिक मानव देह धारण किये हुए समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सर्वव्यापक परम ब्रह्म सीमित मानव-देह कैसे धारण कर लेता है। इसका उत्तर यह है कि जो सर्वव्यापक है, निराकार, निर्विकार है, वह सर्वशक्तिमान् भी है। अतएव वह साकार रूपमें प्रकट हो, इसमें कुछ भी असम्भव या अयौक्तिक नहीं है। दुर्गासप्तशतीमें श्रीअम्बिका देवीके प्राकट्यके विषयमें लिखा है—

अतुलं तत्र तत् तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥

भाव यह है कि सम्पूर्ण देवताओंके शरीरका सूक्ष्म अतुल तेज एकत्र होकर नारीके रूपमें प्रकट हुआ और उस तेजसे तीनों लोक व्याप्त हो उठे। अर्थात् सूक्ष्मसे स्थूलरूप प्रकट हुआ।

वेदादि शास्त्रोंमें देवताओंकी विग्रहवत्ता भी स्वीकृत हुई है। निरुक्तकार यास्कमुनि कहते हैं—

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्। चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैः अङ्गैः संस्तूयन्ते। (२।७।२।६)

अर्थात् वेद-मन्त्रोंमें मनुष्योंके समान आकारविशिष्ट रूपमें देवताओंका चिन्तन होता है, चेतनके समान उनकी स्तुतियाँ होती हैं तथा पुरुषके समान उनके अङ्गादिका वर्णन पाया जाता है। मन्त्रोंमें मनुष्यके समान अश्व-सैन्य-गृहादिसे युक्त विग्रहरूपमें उनकी उपलब्धि होती है।

श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र १।३।२७ के शारीरक भाष्यमें लिखा है—

एकस्यापि देवतात्मनो युगपद् अनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः सम्भवति।

अर्थात् एक देवताका आत्मा भी अनेक स्वरूप ग्रहण कर सकता है। योगी भी कायव्यूहका विस्तार कर सकता है। जैसे—

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।
योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥
प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥

अर्थात् हे राजन्! योगबलको प्राप्त करके योगी सहस्रों शरीर धारण कर सकता है और उन सबके द्वारा पृथ्वीपर विचरण कर सकता है। किसी शरीरसे विषयोंको भोग करता है तो किसी शरीरके द्वारा उग्र तप करता है और फिर उन शरीरोंको अपने भीतर इस प्रकार समेट लेता है जैसे सूर्य अपनी रश्मियोंको बटोर लेता है।

योगदर्शनमें आया है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

अर्थात् मन्त्र-जपसे इष्टदेवताके दर्शन होते हैं। अतएव जब देवता और मनुष्य इस प्रकार शरीर धारण करनेमें समर्थ हैं, तब सर्वशक्तिमान् प्रभुके लिये अवतारविग्रह धारण करना सर्वथा सम्भव है। इसमें किसी प्रकारकी शङ्काके लिये स्थान ही नहीं है।

अब यहाँ भगवान्के विविध अवतारोंके विषयमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

(क) पुरुषावतार

भगवान्के पुरुषावतारके विषयमें सात्वततन्त्रमें आता है—

> विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः ।
> एकं तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् ।
> तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ॥

विष्णुभगवान्के तीन रूप शास्त्रमें निर्दिष्ट हुए हैं। उनमें जो प्रकृतिके अन्तर्यामी हैं और महत्तत्त्वके स्रष्टा हैं, उनका नाम प्रथम पुरुष है। जो ब्रह्माण्डके और जीव-समष्टिके अन्तर्यामी हैं, उनका नाम द्वितीय पुरुष है। तथा जो सर्वभूतोंके अथवा व्यष्टि जीवके अन्तर्यामी हैं, उनका नाम तृतीय पुरुष है।

प्रलयलीन, वासनाबद्ध, भगवद्विमुख जीवोंके प्रति करुणा-वश भगवान् सृष्टिकी इच्छा करते हैं, जिससे वे जीव संसारमें कर्म करते हुए भगवत्सान्निध्य प्राप्त करनेकी चेष्टा करें और वासनाजालसे मुक्त हों। इस इच्छासे भगवान् पुरुषरूप होकर प्रकृतिकी ओर देखते हैं। इससे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है और गुणत्रयमें वैषम्य होकर महत्तत्त्वसे लेकर क्षित्यादिपर्यन्त सारे तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। ये प्रथम पुरुष ही इस सृष्टिके कर्त्ता हैं। इनको महाविष्णु या संकर्षण कहते हैं। इनका रूप विराट् है।

इस महदादि सृष्टि और असंख्य कारण-तत्त्वोंको परस्पर सम्मिलित करनेके लिये प्रथम पुरुष अंशतः अनेक रूप होकर उनमें प्रवेश करते हैं। यह प्रविष्ट अंश ही द्वितीय पुरुष है। ये अपने प्रबल आकर्षणके द्वारा उनको चक्रगति प्रदान करते हैं। इस प्रकार ये तत्त्व चक्रगतिविशिष्ट होकर, घनीकृत दशामें, चक्राकारमें आवर्तित और आकुञ्चित होकर, केन्द्र-विच्छिन्न होकर अनन्त ब्रह्माण्डका आकार धारण करते हैं। द्वितीय पुरुष इस ब्रह्माण्डके सृष्टिकर्त्ता हैं, इनको गर्भोदशायी और प्रद्युम्न आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। ये भी विराट्रूप हैं।

द्वितीय पुरुषद्वारा सृष्ट ब्रह्माण्ड सूक्ष्म होता है। स्थूल सृष्टिके लिये द्वितीय पुरुषसे विविध अवतारोंका प्रादुर्भाव होता है। उनमें जो पालनकर्त्ता विष्णु हैं, उन्हींको तृतीय पुरुष कहते हैं। ये व्यष्टि जीवके अन्तर्यामी हैं, इन्हें क्षीरोदशायी और अनिरुद्ध भी कहते हैं। ये चतुर्भुज हैं, इन्हें अन्तर्यामी परमात्मा भी कहा जाता है।

(ख) गुणावतार

स्थूल सृष्टि या चराचर सृष्टिके लिये गुणावतारोंका प्रयोजन होता है। उनमें सृष्टिकर्त्ता रजोगुणविशिष्ट ब्रह्मा, संहारकर्त्ता तमोगुणविशिष्ट रुद्र तथा पालनकर्त्ता सत्त्वगुण-विशिष्ट विष्णु हैं।

(ग) लीलावतार

भगवान्के जिन अवतारोंमें विश्रामरहित, विविध विचित्रताओंसे पूर्ण, नित्य नूतन उल्लास-तरङ्गोंसे युक्त, स्वेच्छाधीन कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उनको लीलावतार कहते हैं। लीलावतार पूर्ण, अंश और आवेश-भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। कल्पावतार और युगावतार—सबका समावेश लीलावतारके उक्त तीन भेदोंके अन्तर्गत हो जाता है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही पूर्णावतार हैं। श्रीमद्भागवतके अनुसार १४ मन्वन्तरावतार हैं। जैसे—

१. यज्ञ—ये स्वायम्भुव मन्वन्तरके पालक हैं। इनके पिताका नाम रुचि और माताका नाम आकूति था।

२. विभु—स्वारोचिष मन्वन्तरके पालक हैं। पिता वेदशिरा, माता तुषिता।

३. सत्यसेन—औत्तमीय मन्वन्तरके पालक। पिता धर्म, माता सूनृता।

४. हरि—तामसीय मन्वन्तरके पालक और गजेन्द्रको मोक्ष देनेवाले। पिता हरिमेध और माता हरिणी।

५. वैकुण्ठ—रैवतीय मन्वन्तरके पालक। पिता शुभ्र, माता विकुण्ठा।

६. अजित—चाक्षुषीय मन्वन्तरके पालक। पिता वैराज, माता सम्भूति। ये ही कूर्मरूपधारी हैं।

७. वामन—वैवस्वत मन्वन्तरके पालक। पिता कश्यप, माता अदिति।

८. सार्वभौम—सावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता देवगुह्य, माता सरस्वती।

९. ऋषभ—दक्षसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता आयुष्मान्, माता अम्बुधारा।

१०. विष्वक्सेन—ब्रह्मसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता विश्वसृज्, माता विषूची।

११. धर्मसेतु—धर्मसावर्णीय मन्वन्तरके पालक । पिता आर्यक, माता वैधृता ।

१२. सुधामा—रुद्रसावर्णीय मन्वन्तरके पालक । पिता सत्यसह, माता सूनृता ।

१३. योगेश्वर—देवसावर्णीय मन्वन्तरके पालक । पिता देवहोत्र, माता बृहती ।

१४. बृहद्भानु—इन्द्रसावर्णीय मन्वन्तरके पालक । पिता सत्रायन, माता विनता ।

कल्पावतार—२५ हैं—जैसे (१) चतुस्सन (सनत्कुमार, सनक, सनन्दन और सनातन), (२) नारद; ये दोनों अवतार ब्राह्म कल्पमें आविर्भूत होते हैं और सभी कल्पोंमें विद्यमान रहते हैं । (३) वाराह—इनका दो बार आविर्भाव होता है, पहला ब्राह्म कल्पके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ब्रह्माके नासारन्ध्रसे और दूसरा ब्राह्म कल्पके चाक्षुष मन्वन्तरमें जलसे । (४) मत्स्य, (५) यज्ञ, (६) नर-नारायण, (७) कपिल, (८) दत्तात्रेय, (९) हयशीर्ष, (१०) हंस, (११) ध्रुवप्रिय या पृश्निगर्भ, (१२) ऋषभ, (१३) पृथु—ये १३ अवतार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें होते हैं । (१४) नृसिंह, (१५) कूर्म, (१६) धन्वन्तरि, (१७) मोहिनी, (१८) वामन, (१९) परशुराम, (२०) रामचन्द्र, (२१) व्यास, (२२) बलराम, (२३) श्रीकृष्ण, (२४) बुद्ध और (२५) कल्कि । इनमें अन्तिम आठ वैवस्वत मन्वन्तरके अवतार हैं ।

युगावतार ४ हैं—सत्ययुगमें शुक्ल, त्रेतामें रक्त, द्वापरमें श्याम और कलिमें कृष्ण । यज्ञ और वामन अवतारोंका समावेश मन्वन्तरावतार तथा कल्पावतार दोनोंमें होता है ।

सम्बन्ध-तत्त्वमें श्रीकृष्ण

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही अद्वय तत्त्वके वाचक शब्द हैं । परंतु साधकोंके भावानुसार ये तीनों शब्द तीन विभिन्न अर्थोंमें व्यवहृत होते हैं । जहाँ किसी गुणका प्रकाश नहीं है, तादात्म्य-साधनके द्वारा साधकके हृदयमें जब वैसे तत्त्वकी स्फूर्ति होती है, तब उसको ब्रह्म कहते हैं । चिन्मज्योतिरूपसे दीखनेवाले अन्तर्यामीको योगी परमात्मा कहते हैं और भक्तकी साधनामें सर्वगुण-परिपूर्ण, अशेषकल्याणगुणमय श्रीभगवत्तत्त्वकी स्फूर्ति होती है । वे ऐश्वर्य-वीर्यादि अशेष कल्याणगुणोंके निधान परम तत्त्व ही श्रीभगवान् हैं । श्रीजीवगोस्वामी श्रीकृष्ण-संदर्भमें लिखते हैं—

एवं च आनन्दमात्रं विशेष्यं समस्ताः शक्तयो विशेषणानि विशिष्टो भगवान् इत्यायातम् । तथा चैवं वैशिष्ट्ये प्राप्ते पूर्णाविर्भावत्वेन अखण्डतत्त्वरूपोऽसौ भगवान्—ब्रह्म तु स्फुटमप्रकटितवैशिष्ट्याकारत्वेन तस्यैव असम्यग् आविर्भाव इत्यायातम् ॥

अर्थात् शक्तिविशिष्टताके साथ परम तत्त्वका जो पूर्ण आविर्भाव है, वही भगवत्-शब्दवाच्य है । ब्रह्म उसका असम्यक् आविर्भाव मात्र है । ब्रह्ममें शक्तिकी स्फूर्ति परिलक्षित नहीं होती; परंतु अवतारोंमें शक्तिकी लीला परिलक्षित होती है । अतएव श्रीभगवत्-शक्ति-प्रकटनका तारतम्य ही अंशत्व, पूर्णत्व, पूर्णतरत्व और पूर्णतमत्वका परिमापक है । श्रीजीवगोस्वामीने कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—इस भागवतीय श्लोककी व्याख्यामें श्रीवृन्दावनविहारी श्रीकृष्णको पूर्णतम कहकर निर्देश किया है । ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी लिखा है—

> पूर्णो नृसिंहो रामश्च श्वेतद्वीपविराड् विभुः ।
> परिपूर्णतमः कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयम् ॥
> वैकुण्ठे कमलाकान्तो रूपभेदाच्चतुर्भुजः ।
> गोलोकगोकुले राधाकान्तोऽयं द्विभुजः स्वयम् ॥
> अस्यैव तेजो नित्यं च चित्ते कुर्वन्ति योगिनः ।
> भक्ताः पादाम्बुजं तेजः कुतस्तेजस्विना विना ॥
>
> (ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, पूर्वार्द्ध, अध्याय ९)

अर्थात् नृसिंह, राम और श्वेतद्वीपके विराट् विभु—ये पूर्ण हैं । परंतु वैकुण्ठमें और गोकुल (वृन्दावन) में श्रीकृष्ण ही परिपूर्णतम हैं । वैकुण्ठमें कृष्णकी विलासमूर्ति कमलापति नारायण विराजित हैं । वहाँ वे चतुर्भुज हैं । गोलोकमें तथा गोकुलमें स्वयं द्विभुज राधाकान्त हैं । इन्हींके तेजका योगिजन नित्य चिन्तन करते हैं, भक्तगण इन्हींके चरण-कमलोंकी छटाका ध्यान करते हैं ।

इसके अतिरिक्त माधुर्य-संयुक्त ऐश्वर्य बहुत ही सुखकर होता है । श्रीकृष्णमें जैसा परमैश्वर्य और परम माधुर्यका पूर्णतम समावेश देखा जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता । विष्णुपुराणमें कहा गया है—

> समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः ।
> इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितो यः ॥
>
> (६ । ५ । ८४)

अर्थात् वे सम्पूर्ण कल्याण-गुणोंके स्वरूप हैं, उन्होंने अपनी

माया शक्तिके लेशमात्रसे सम्पूर्ण प्राणियोंको व्याप्त किया है, और अपने इच्छानुसार मनमाने विविध देह धारण करते हैं और जगत्‌का अशेष कल्याण-साधन करते हैं। यह अनन्तगुणविशिष्ट परम तत्त्व ही भगवान् हैं तथा भागवतके अकाट्य प्रमाणके अनुसार श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीलघुभागवतामृतमें कहा गया है—

> इति प्रवरशास्त्रेषु तस्य ब्रह्मस्वरूपतः।
> माधुर्यादिगुणाधिक्यात् कृष्णस्य श्रेष्ठतोच्यते ॥
> अतः कृष्णोऽप्राकृतानां गुणानां नियुतायुतैः।
> विशिष्टोऽयं महाशक्तिः पूर्णानन्दघनाकृतिः ॥

अर्थात् मुख्य-मुख्य शास्त्रोंमें माधुर्यादि गुणकी अधिकताके कारण ब्रह्मस्वरूपकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता वर्णित की गयी है। अतएव असंख्य अप्राकृत गुणोंसे युक्त होनेके कारण श्रीकृष्ण महाशक्तिमान् और पूर्णानन्दघन हैं।

भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

> यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

अर्थात् हे अर्जुन! ऐश्वर्ययुक्त, सम्पत्तियुक्त तथा बल-प्रभावादिके आधिक्यसे युक्त जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबको मेरी शक्तिके लेशसे उत्पन्न हुआ जानो। तथा—

> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

'हे अर्जुन! मेरी विभूतिके विषयमें तुमको इतना अधिक जाननेसे क्या प्रयोजन—मैं अपनी प्रकृतिके एक अंश अन्तर्यामी पुरुष अर्थात् परमात्मरूपसे इस जड-चेतनात्मक जगत्‌को व्याप्त करके अवस्थित हूँ।'

भगवान्‌के ऐश्वर्यका अन्त नहीं है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णलीलाके सम्बन्धमें श्रीसनातनजीसे कहते हैं कि 'व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण चिरकिशोर हैं। प्रकट और अप्रकट-भेदसे उनकी लीला दो प्रकारकी है। वे जब प्रकट-लीला करनेकी इच्छा करते हैं, तब पहले पिता-माता और भक्तोंको आविर्भूत करते हैं, उसके बाद स्वयं आविर्भूत होते हैं। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण भक्तिरसोंके आश्रय हैं तथा नित्यलीलामें विलास करते हैं। नरलीलाका अनुकरण करनेमें विभिन्न वयस् होनेपर भी वे चिरकिशोर हैं। उनकी सारी लीलाएँ नित्य हैं। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं, एक-एक ब्रह्माण्डमें क्षण-क्षणमें पूतना-वध आदि सारी लीलाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

श्रीकृष्णका प्रकट प्रकाशकाल १२५ वर्ष है, जिसमें वे व्रजमें अपना प्रकट लीला-विलास करते हैं। श्रीकृष्ण[illegible] भी तारतम्य पाया जाता है। व्रजधाममें श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे परिपूर्णतम रूपमें प्रकाशित होते हैं, अतएव व्रजमें वे पूर्णतम हैं, मथुरामें पूर्णतर हैं और द्वारकामें पूर्ण। श्रीकृष्ण [illegible] एक ही हैं; परंतु केवल उनके ऐश्वर्य-माधुर्यके प्रकाशके तारतम्यमें पूर्णतमता, पूर्णतरता और पूर्णता प्रकटित होती है। जैसे एक ही चन्द्र विभिन्न तिथियोंमें [illegible] किरणोंको प्रकाशित करते हुए पूर्णिमाकी रात्रिमें पूर्णतमताको प्राप्त होता है, व्रजमें भी उसी प्रकार श्रीकृष्ण अपने पूर्णतम ऐश्वर्य और माधुर्यको प्रकाशित करते हैं।

इसी कारण वृन्दावन धामकी महामहिमा है। भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

> इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्।
> पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम् ॥
> कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी।
> अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः ॥
> सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्।
> आविर्भावस्तिरोभावो भवत्येव युगे युगे ॥
> तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा ॥

'यह रम्य वृन्दावन ही मेरा एकमात्र धाम है। यह पाँच योजन विस्तारवाला वन मेरा देह ही है। यह कालिन्दी परम अमृतरूप जल प्रवाहित करनेवाली मेरी सुषुम्णा नाड़ी है। यहाँ देवगण सूक्ष्मरूपसे निवास करते हैं और सर्वदेवमय मैं इस वृन्दावनको कभी नहीं त्यागता। केवल युग-युगमें इसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। यह रम्य वृन्दावन तेजोमय है, चर्मचक्षुके द्वारा यह देखा नहीं जा सकता।'

पद्मपुराणके पातालखण्डमें आया है—

> यमुनाजलकल्लोले सदा क्रीडति माधवः।

अर्थात् श्रीकृष्ण यमुना-जलकी तरङ्गोंमें सदा क्रीडा करते हैं। श्रीजीवगोस्वामी इस श्लोककी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

> यमुनाया जलकल्लोले यत्र [illegible] प्रकरणाल्लभ्यम्।

अजहल्लक्षणासे तीरप्रान्तके [illegible] सकता है। तीरका अर्थ यहाँ वृन्दावन ही [illegible] है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

सर्वोपरि श्रीगोकुल व्रजलोक धाम।
श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम॥
सर्वग अनन्त विभु कृष्णतनु सम।
उपर्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम॥
ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकई स्वरूप तार नाहि दुई काय॥
चिन्तामणि भूमि कल्पवृक्षमय वन।
चर्मचक्षे देखे तारे प्रपञ्चेर सम॥
प्रेमनेत्रे देखे तार स्वरूप प्रकाश।
गोपी गोपी सङ्गे याहा कृष्णेर विलास॥

अर्थात् सबसे ऊपर श्रीगोकुल अथवा व्रजलोक धाम है, जिसे 'श्रीगोलोक', 'श्वेतद्वीप' तथा 'वृन्दावन' नामसे पुकारते हैं। वह श्रीकृष्णके शरीरके समान सर्वव्यापी, अनन्त, विभु है। ऊपर और नीचे व्याप्त है, उसका कोई हेतु नहीं है। श्रीकृष्णकी इच्छासे ही वह ब्रह्माण्डमें प्रकाशित हो रहा है। वह एकमात्र चैतन्यस्वरूप है; देह-देहीके समान उसका द्विविध रूप नहीं है। वहाँ भूमि चिन्तामणिके समान तथा वन कल्पवृक्षमय हैं। चर्मचक्षुओंसे देखनेपर वह वृन्दावन धाम प्रपञ्चके समान दीखता है। प्रेमनेत्रसे देखनेपर उसके स्वरूपका प्रकाश होता है और गोप-गोपाङ्गनाओंके साथ श्रीकृष्णकी विलासलीला प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है।

यह अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड श्रीकृष्णकी चित् शक्तिके द्वारा विरचित है, यह सब कुछ उन्हींकी महिमा है—इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वे कितने महान् और कितने ऐश्वर्यशाली हैं। शास्त्रमें कहा गया है कि जो निरतिशय बृहत् है, जिससे बड़ा और कुछ नहीं है, वही ब्रह्म है; प्राकृत-अप्राकृत अनन्त कोटि विश्व-ब्रह्माण्ड ब्रह्ममें अवस्थित हैं। ब्रह्म सर्वाधार है; परंतु उस ब्रह्मके भी प्रतिष्ठान, आधार श्रीकृष्ण हैं। गीतामें उन्होंने कहा है—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। अतएव श्रीकृष्ण क्या वस्तु हैं, यह इससे समझा जा सकता है। इसीलिये श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

एई मत षडैश्वर्य-पूर्ण अवतार।
ब्रह्मा विष्णु अन्त ना पाय जीव कोन छार॥

अर्थात् श्रीकृष्णका पूर्णावतार इस प्रकार षडैश्वर्योंसे पूर्ण है। उनका ब्रह्मा और विष्णु भी जब अन्त नहीं पाते, तब बेचारा मिट्टीका पुतला जीव क्या पता पा सकता है! ब्रह्मसंहितामें कहा गया है—

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

अर्थात् श्रीकृष्णके निजधाम गोलोक श्रीवृन्दावनके नीचे परव्योम है, जिसे विष्णुलोक भी कहते हैं; तथा देवीलोक अर्थात् मायालोक, शिवलोक आदि लोक परव्योमके नीचे हैं। इन लोकोंमें तत्तद् देवोंके प्रभावोंका जो विधान करते हैं, उन गोलोकविहारी आदिपुरुष गोविन्दको मैं भजता हूँ।

श्रीकृष्णका ऐश्वर्य और माधुर्य

भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका अन्त नहीं है। एक बार श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसनातन गोस्वामीसे कहा कि मैं तुमसे एकपादविभूतिकी बात कह रहा हूँ, श्रवण करो। श्रीकृष्णकी त्रिपादविभूति मन और वाणीके अगोचर है। त्रिपादविभूतिकी तो बात ही क्या, एकपादविभूतिका भी कोई अन्त नहीं पा सकता। परिदृश्यमान एक-एक सौर जगत् एक-एक ब्रह्माण्ड है। इस प्रकारके ब्रह्माण्ड असंख्य हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक सृष्टिकर्ता, एक संहारकर्ता और एक पालनकर्ता है। इनका साधारण नाम चिरलोकपाल है।

श्रीकृष्णकी द्वारका-लीलाके समय एक दिन इस ब्रह्माण्डके सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा उनके दर्शनार्थ द्वारकामें आये। उन्होंने आकर द्वारपालके द्वारा अपने आगमनकी सूचना दी। श्रीकृष्णने द्वारपालसे कहा—'कौन ब्रह्मा आये हैं, उनका नाम क्या है? पूछकर आओ।' द्वारपालने ब्रह्माके पास आकर तदनुसार पूछा। सुनकर ब्रह्मा विस्मित होकर बोले—'मैं सनक-पिता चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ।' द्वारपालने श्रीकृष्णके पास जाकर ब्रह्माके उत्तरको निवेदन किया। श्रीकृष्णने ब्रह्माको अंदर बुलानेकी आज्ञा दी। ब्रह्माने आकर श्रीकृष्णके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीकृष्णने उनका यथायोग्य पूजा-सत्कार करके आनेका कारण पूछा। ब्रह्मा बोले—"मैं अपने आनेका कारण पीछे निवेदन करूँगा; पहले यह तो बतलाइये कि आपने द्वारपालके द्वारा जो पुछवाया कि 'कौन ब्रह्मा आये हैं'—इसका कारण क्या है? क्या ब्रह्माण्डमें मेरे सिवा कोई और ब्रह्मा भी है?"

ब्रह्माके इस प्रश्नको सुनकर श्रीकृष्ण मुसकराये और तत्काल ही उस सभामें अनेकों ब्रह्माओंका आविर्भाव हो गया। उनमें कोई तो दस मुखका था, कोई बीस मुखका, कोई सौ

मुखका, कोई सहस्रमुख, कोई लक्षमुख। इन असंख्य ब्रह्माओंके साथ-साथ लक्ष-कोटि नेत्रोंवाले इन्द्र प्रभृति देवता भी आये। उनको देखकर चतुर्मुख ब्रह्माके आश्चर्यकी सीमा न रही। वे सब ब्रह्मा आकर कोटि-कोटि मुकुटोंके द्वारा श्रीकृष्णके पादपीठको स्पर्श करने लगे और प्रार्थना करने लगे कि 'हे प्रभो! इन दासोंका किस लिये आपने आह्वान किया है?' श्रीकृष्ण बोले—'कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। आपलोगोंको देखनेकी इच्छासे ही बुलाया है।' इसके बाद श्रीकृष्णने उनको एक-एक करके विदा किया। चतुर्मुख ब्रह्मा विस्मित नेत्रोंसे यह सब देख रहे थे; अन्तमें श्रीकृष्णके चरणोंमें नमस्कार करते हुए बोले—'प्रभो! मेरा संशय निवृत्त हो गया; जो सुनना-जानना चाहता था, वह प्रत्यक्ष देख लिया।' इतना कहकर ब्रह्मा श्रीकृष्णसे आज्ञा प्राप्तकर अपने धामको चले गये।

गोलोक अर्थात् गोकुल, मथुरा और द्वारका—इन तीन धामोंमें श्रीकृष्ण नित्य अवस्थान करते हैं। ये तीनों धाम उनके स्वरूपैश्वर्यद्वारा पूर्ण हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर होकर भी प्रभु अपनी योगमायासे इस गोलोक धाममें लीला करते हैं। उनकी यह गोप-लीलामूर्ति उन वैकुण्ठादि लोकोंकी अधीश्वर-मूर्तियोंकी अपेक्षा भी बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
> मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
> विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
> परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥
>
> (३।२।१२)

'श्रीभगवान्‌ने अपनी योगमायाका प्रभाव दिखानेके लिये मानव-लीलाके योग्य जो श्रीविग्रह धारण किया था, वह स्वयं प्रभुके चित्तको विस्मित करनेवाला था, सौभाग्य और ऐश्वर्यका परम धाम था तथा आभूषणोंको भी भूषित करनेवाला था।' श्रीभगवान्‌की अन्यान्य देवलीलाओंकी अपेक्षा यह मानव-लीला अधिक मनोहर है। इसमें भगवान्‌की चित्-शक्तिका अद्भुत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसकी मनोहरताका लेश भी किसी देव-लीलामें नहीं पाया जाता। यही बात भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कही है—

> स्वस्य देवादिर्लीलाभ्यो मर्त्यलीला मनोहरा।
> अहो मदीयचित्कृतेः प्रभावं पश्यताद्भुतम्॥
> दिव्यातिदिव्यलोकेषु यद्वन्योऽपि न मन्मतेः॥

श्रीमद्भागवतमें इसी रूपकी महिमाका [illegible] करते हुए कहते हैं—

> गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
> लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
> दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
> मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥
>
> ([illegible])

मथुराकी स्त्रियाँ श्रीकृष्णका दर्शन करके परस्परमें कहने लगीं कि 'जो लावण्यका सार है, जिसकी समताका भी कोई दूसरा रूप नहीं [illegible] जिसकी [illegible] है तथा जो क्षण-क्षण नूतन बना रहता है [illegible] ऐश्वर्य, शोभा और यशका [illegible] आश्रय [illegible] औरोंके लिये दुर्लभ है, श्रीकृष्णके उस रूपको [illegible] निरन्तर नयनोंके द्वारा पान करती रहती हैं। [illegible] व्रजबालाओ, उन्होंने कौन-सा तप किया है?' तथा—

> यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
> भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम्।
> नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
> नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च॥
>
> ([illegible])

'मकराकृति कुण्डलोंके द्वारा शोभित [illegible] तथा कपोलयुगलसे जो सुन्दर [illegible] शोभित [illegible], जिसपर विलासयुक्त मन्द-मधुर मुसकान विराज रही है [illegible] आनन्दमय है, श्रीकृष्णके उसी मुखारविन्दको [illegible] करके नर-नारीगण आनन्दसे परिपूर्ण [illegible] दर्शनमें बाधा डालनेवाले निमेषोन्मेषके [illegible] गिरानेवाले निमिके प्रति कौन [illegible] हैं।'

श्रीभगवान्‌का भजन करनेवालोंके लिये उनके [illegible] की ही प्रधानता है। [illegible] उपासिका हैं। [illegible] श्रीगीतगोविन्द, [illegible] विद्यापति और [illegible] पदावलियाँ आदि [illegible] भंडार हैं। श्रीमद्भागवतकी तो बात ही क्या, [illegible]

श्रीकृष्णलीलाका सहस्रों स्थलोंपर वर्णन प्राप्त होनेपर भी श्रीमद्भागवत और महाभारतमें विस्तृतरूपसे भगवान्‌की माधुर्यमयी तथा ऐश्वर्यमयी लीलाका रसास्वादन प्राप्त होता है। महर्षि व्यासने अपने इन महान् ग्रन्थोंमें स्पष्ट लिख दिया है कि 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं।'

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें श्रीकृष्णके जन्म-प्रसङ्गका वर्णन है। जब कारागारमें वसुदेवके यहाँ श्रीकृष्ण चतुर्भुज नारायणरूपमें अवतीर्ण हुए, तब उस रूपको देखकर वसुदेव और देवकी विस्मयापन्न हो उठे। देवकी उस चतुर्भुज रूपके तेजको सह न सकनेके कारण प्रार्थना करने लगीं—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥
(श्रीमद्भा० १०।३।३०)

अर्थात् 'हे विश्वात्मन्! शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मकी शोभासे युक्त अपने इस अलौकिक चतुर्भुज रूपका उपसंहार करो।' भक्त-वत्सल भगवान्‌ने तत्काल ही द्विभुजधारी प्राकृत शिशुका आकार ग्रहण किया। वसुदेवजीने उनकी आज्ञासे उस प्राकृत शिशुको नन्दजीके घर पहुँचा दिया। ऐसा माना जाता है कि श्रीकृष्णका जब कंसके कारागारमें ऐश्वर्यमय रूपमें आविर्भाव हुआ, उसी समय मधुररूपमें वे यशोदाके यहाँ भी प्रकट हुए थे। वसुदेवजी जब शिशु कृष्णको लेकर यशोदाके सूतिका-गृहमें पहुँचे, उसी समय वसुदेवनन्दन उन यशोदानन्दन परिपूर्णतम लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें प्रविष्ट हो गये और बदलेमें वे नन्दात्मजा महामायाको ले आये। श्रीकृष्णकी प्रेमानन्द-माधुर्यमयी लीलाका श्रीगणेश नन्दजीके घरसे ही प्रकट होता है। मानव-शिशुका ऐसा भुवन-मोहन रूप और कहीं देखनेमें नहीं आता। श्रीकृष्ण सर्वप्रथम अपने रूपके अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यसे गोप-गोपिकाओंके चित्तको आकर्षित करते हैं। श्रीभगवान्‌के जितने रूप प्रकट हुए हैं, ऐसा सुन्दर सच्चिदानन्द विग्रह और कहीं प्रकट नहीं हुआ। इस रूप-माधुर्यसे मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी आकृष्ट हो जाते हैं।

इसके बाद पूतना-मोचन, तृणावर्त-वध, कंसासुर-वध, बकासुर-वध, अघासुर-प्रलम्बासुर-शङ्खचूड-अरिष्ट-केशी-व्योमासुर-वध, कंसके महलमें कुवलयापीड गजराजका वध इत्यादि कार्योंमें श्रीकृष्णका असीम वीर्य-पराक्रम, असीम सुहृद्-वात्सल्य तथा असीम लोकानुग्रहका परिचय प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें कंस-वध श्रीकृष्णके आविर्भावके प्रथम कारणरूपमें वर्णित है। एक गोपबालक श्रीकृष्णका अनेक यदुवीरोंको भीषण त्रास देनेवाले दुर्धर्ष और दुर्दण्ड प्रतापशाली महाबली कंसको युद्धमें क्षणभरमें पछाड़ना उनकी भगवत्ताको प्रकट करता है। उसके बाद इन्होंने प्रबल शक्तिशाली मगध-सम्राट् जरासंधको, जिसने सैकड़ों राजाओंको पराजित करके उनको कारागृहमें डालकर उनके राज्य हड़प लिये थे, नीति-बलसे भीमके द्वारा मल्लयुद्धमें मरवा डाला। जरासंधके पास अपार सैनिक बल था। उसकी सैन्यशक्तिका कुछ अनुमान इस बातसे लगाया जा सकता है कि महाभारतके युद्धमें उभय पक्षमें कुल मिलाकर केवल अठारह अक्षौहिणी सेना थी, जब कि जरासंधने तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना साथ लेकर सत्रह बार श्रीकृष्ण-पालित मथुरापुरीपर चढ़ाई की किंतु प्रत्येक बार उसे मुँहकी खाकर तथा अपनी सारी सेनाको खपाकर लौट जाना पड़ा। श्रीकृष्ण उसे हर बार इसी आशासे जीता छोड़ देते थे कि वह दुबारा विशाल वाहिनी लेकर मथुरापर चढ़ आयेगा और इस प्रकार घर बैठे उन्हें पृथ्वीका भार हरण करनेका अवसर हाथ लगेगा। अठारहवीं बार दूसरे प्रबलतर शत्रु कालयवनको भी साथ-ही-साथ आक्रमण करते देखकर प्रभुने अपनी यादवी सेनाको संहारसे बचानेके उद्देश्यसे संग्रामभूमिसे भाग खड़े हुए और इसी बीचमें समुद्रके बीच द्वारकापुरी बसाकर समस्त मथुरावासियोंको उन्होंने योगबलसे वहाँ पहुँचा दिया। अन्तमें भीमसेनके द्वारा जरासंधको भी मरवाकर श्रीकृष्णने बंदीगृहसे राजाओंको मुक्त किया और इस प्रकार दुर्बलोंके ऊपर सबलके अत्याचारको समाप्त कर दिया। इसके बाद नरकासुर, बाणासुर, कालयवन, पौण्ड्रक, शिशुपाल, शाल्व आदिके वध भी साधारण पराक्रमके द्योतक नहीं हैं। इसीको लक्ष्य करके श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः
समीहितेऽनन्तगुणः स्वलीलया।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-
स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते॥

'जो अनन्तगुणशाली भगवान् अपनी लीलासे त्रिभुवनकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते रहते हैं, उनके लिये शत्रुपक्षका निग्रह करना कोई चमत्कारकी बात नहीं है; तथापि उन्होंने मनुष्यके समान युद्धमें असाधारण युद्ध-नैपुण्य दिखलाकर और विजय प्राप्त करके संसारके लोगोंके सामने वीरताका आदर्श उपस्थित किया, इसीलिये उसका वर्णन किया जाता है।'

इस अलौकिक ऐश्वर्य-लीलाके बीच श्रीभगवान्‌ने जो अति विलक्षण प्रेम—माधुर्यकी लीला प्रदर्शित की है, उसका आभास श्रीउद्धवजीको व्रजमें दूत बनाकर भेजनेकी लीलामें मिलता है। भागवत, दशम स्कन्धके ४६वें अध्यायमें श्रीकृष्ण गोपियोंको अपना संदेश भेजते समय अपने प्रिय सखा भक्त-प्रवर श्रीउद्धवजीसे कहते हैं—'हे उद्धव ! तुम व्रजमें जाओ, मेरी विरहविधुरा गोपिकाएँ मुझको न देखकर मृतवत् पड़ी हुई हैं। मेरी बात सुनाकर तुम उन्हें सान्त्वना दो। उनके मन प्राण-बुद्धि और आत्मा दिन-रात मुझमें ही अर्पित हैं। वास्तव-में मेरा मन ही उनका मन बना हुआ है, मेरे ही प्राणोंसे वे अनुप्राणित हैं। मेरे सिवा और कुछ वे नहीं जानतीं; उन्होंने मेरे लिये लोकधर्म, वेदधर्म तथा देहधर्म—सबका परित्याग कर दिया है। वे व्रजबालाएँ दिन-रात केवल मेरा ही चिन्तन करती हैं, विरहकी उत्कण्ठामें वे विह्वल हो रही हैं; मेरे स्मरणमें, मेरे ध्यानमें विमुग्ध पड़ी हुई हैं तथा मुझको देखने-की आशामें अतिक्लेशसे जीवन-यापन कर रही हैं।'

श्रीकृष्णके इस सरल हृदयगत भावोच्छ्वाससे सहज ही जाना जाता है कि उनका हृदय प्रेम-रस—माधुर्यसे कितना परिपूर्ण है। आगे चलकर एकादश स्कन्धके द्वादश अध्याय-में श्रीकृष्ण पुनः उद्धवजीसे कहते हैं—'हे उद्धव ! व्रज-बालाओंकी बात मैं तुमसे क्या कहूँ। श्रीवृन्दावनमें वे सुदीर्घ कालतक मेरे सङ्ग-सुखको प्राप्त कर चुकनेके बाद भी उस सुदीर्घ-कालको एक क्षणके समान बीता हुआ समझती थीं। इस समय मेरे चले आनेके कारण आधा क्षण भी उनके लिये कोटि कल्पोंके समान क्लेशप्रद हो रहा है। उनको जब मेरा सङ्ग प्राप्त होता था, तब वे अपना गेह-देह-मन-प्राण-आत्मा सब कुछ भूल जाती थीं। जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपनेको खो देती हैं, ध्यानमग्न मुनिगण जैसे समाधिमें अपने आपको खो देते हैं, गोपियाँ भी मुझको पाकर उसी प्रकार आत्म-विस्मृत हो जाती थीं। हे उद्धव ! व्रजबालाओंके भाव-रस, ध्यान-धारणा योगीश्वरोंकी ध्यान-समाधिसे भी अधिक प्रगाढ़ हैं।' इस कथासे श्रीकृष्णके महागाम्भीर्यमय माधुर्यभावका परिचय प्राप्त होता है। श्रीरासलीलामें उन्होंने जिस महान् माधुर्यका निदर्शन-प्रदर्शन किया है, उसकी तुलना कहीं नहीं है। उसको प्रकट करनेके लिये उपयुक्त भाषाका अभाव है, मानवी भाषामें कभी वह भाव प्रकाशित ही नहीं किया जा सकता। रासलीलाके अवसानमें उन्होंने गोपी-प्रेमके महान् माधुर्यको अपने हृदयमें अनुभव करके कहा था कि 'मैं तुमलोगोंके प्रेमका सदाके लिये ऋणी हूँ। तुमलोगोंने दुरन्त—दुश्छेद्य गृहशृङ्खला, समाज-बन्धन, लोक-धर्म और वेदधर्मका त्याग करके, आत्मीयको छोड़कर मेरे प्रति जो प्रेम प्रदर्शित किया है, मैं कदापि तुम्हारे इस अनवच्छिन्न, अनवद्य, अव्यभिचारी प्रेमका बदला नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारे प्रेम-ऋणका ऋणी होकर चिरकालके लिये तुम्हारे चरणोंमें बँध गया। इस ऋणके परिशोधका साधन मेरे पास नहीं है; तथापि यदि तुम्हारे भावमें तुम्हारा अनुशीलन कर सकूँ, रात-दिन तुम्हारे भावमें विभोर हो सकूँ, तुम्हारा गुण-कीर्तन करते-करते, तुम्हारा नाम जपते-जपते, तुम्हारा रूप-ध्यान करते-करते दिन-रात बिता सकूँ तो यही तुम्हारे प्रति मेरा कृतज्ञताज्ञापन तथा आत्मप्रसाद-प्राप्तिका यत्किंचित् उपाय होगा।'

सांदीपनि मुनिके आश्रममें रहते हुए श्रीकृष्ण स्वल्पकाल-में ही १४ विद्याओं और ६४ कलाओंमें पारंगत हो गये। इस युद्ध-कलाकी शिक्षाके लिये सांदीपनि मुनिके गुरुकुलको धन्यवाद दें, अथवा यमुनातटस्थ केलिकुञ्जसमूह, गोप-बालाविलसित रास-स्थलीको धन्यवाद दें—समझमें नहीं आता। जो रण-रङ्गमें रुद्रलीलाके ताण्डवनृत्यमें [illegible] महागुरु हैं, वे ही रासलीलामें व्रजबालाओंको नृत्यकलाके लिये गुरुरूपमें वरण करते हैं—इसका चिन्तन करते-करते मन भावना-सिन्धुकी लहरोंमें तरङ्गायमाण होने लगता है।

श्रीकृष्णकी शिक्षाके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें जो वर्णन है, वह अद्भुत है। श्रीकृष्णकी राजनीतिके विषयमें जगत्‌में आन्दोलन और आलोचना होती आ रही है और होती रहेगी। परंतु महाभारतमें जो हमें विज्ञान, विपुल राजनीति-की सामग्री प्राप्त होती है, व्यास-भीष्म आदि जो नीतिका उपदेश देते हैं, वह समस्त नीति एक श्रीकृष्णमें मूर्तिमान् होकर नित्य विराजती है। युद्ध-नीतिमें श्रीकृष्णकी अपूर्व स्फूर्ति तथा संग्राममें उनकी अलौकिक शक्तिका दर्शन महाभारतमें पद-पदपर प्राप्त होता है। जो वृन्दावनमें वन-वन धेनु चराते और वंशी बजाते थे, वे ही पाञ्चजन्य-शङ्खके मधुर घोर निनाद-से, कौमोदकी गदाके भीषण प्रहारसे, शार्ङ्गधनुके सुतीक्ष्ण शराघातसे, सुदीर्घ धूमकेतुसम कृपाण और [illegible] अनन्त शक्तिशाली सुदर्शन चक्रके प्रभावसे देवताओंको और मनुष्योंको भीषण त्रास देनेवाले दुर्धर्ष और दुर्दान्त दैत्योंको संत्रस्त और निहत करके अपने बल-वीर्य और पराक्रमकी पराकाष्ठा प्रदर्शित करते हैं। यहाँ तो यमुनापुलिनको, कुञ्ज-

काननमें मुरलीके मधुर नादसे व्रजबालाओंको आकुलित करना और कहाँ पाञ्चजन्यके भीषण निनादसे समराङ्गणको प्रकम्पित करना! चरित्रका ऐसा पूर्णतम बहुमुखी विकास और कहाँ मिल सकता है?

श्रीकृष्णके दिव्य उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें उपलब्ध हैं और भागवत, महाभारतादि शास्त्रोंमें नीति-धर्म और आचार-सम्बन्धी उनके उपदेश भरे पड़े हैं। कर्णपर्वके ६९वें अध्यायमें अर्जुनको श्रीकृष्णने धर्म-तत्त्वके सम्बन्धमें एक सूक्ष्म उपदेश प्रदान किया है। उपदेशका हेतु यह है कि अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी कि जो व्यक्ति उन्हें गाण्डीव परित्याग करनेके लिये कहेगा, उसको वे मार डालेंगे। दैवात् जब कर्ण सेनानी होकर पाण्डव-सैन्यको मथने लगा और अर्जुन उसे पराजित न कर सके, तब युधिष्ठिरने रुष्ट होकर उन्हें उत्साहित करनेके उद्देश्यसे भर्त्सना करनी प्रारम्भ की—

धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ यन्ता भविष्यस्त्वं रणे केशवस्य।
तदाहनिष्यत् केशवः कर्णमुग्रं मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः॥
राधेयमेतं यदि नाद्य शक्तश्चरन्तमुग्रं प्रतिबाधनाय।
प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेतदद्य त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्रः॥
(क० ६८। २६½-२७½)

'तुम अपना गाण्डीव धनुष भगवान् श्रीकृष्णको दे दो तथा रणभूमिमें स्वयं इनके सारथि बन जाओ। फिर जैसे इन्द्रने हाथमें वज्र लेकर वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार ये श्रीकृष्ण भयंकर वीर कर्णको मार डालेंगे। यदि तुम आज रणभूमिमें विचरते हुए इस भयानक वीर राधापुत्र कर्णका सामना करनेकी शक्ति नहीं रखते तो अब यह गाण्डीव धनुष दूसरे किसी ऐसे राजाको दे दो, जो अस्त्र-बलमें तुमसे बढ़कर हो।'

धर्मराजके इस वचनको सुनकर सत्यसंकल्प अर्जुन पद-दलित नागराजके समान क्रुद्ध हो उठे और खड्ग उठाकर उनका शिरश्छेदन करनेके लिये उद्यत हो गये। श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने अर्जुनको रोकते हुए कहा—

अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै।
कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ पुरुषाधमः॥
(कर्ण० ६९। १८)

'पार्थ! जो करने योग्य होनेपर भी असाध्य हों तथा जो साध्य होनेपर भी निषिद्ध हों ऐसे कर्मोंसे जो सम्बन्ध जोड़ता है, वह पुरुषोंमें अधम माना गया है।'

यही नहीं, यहाँ श्रीकृष्णने अहिंसाका उपदेश देते हुए कहा है—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन॥
(कर्ण० ६९। २३)

'तात! मेरे विचारसे प्राणियोंकी हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। किसीकी प्राणरक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो बोल दे, किंतु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दे।'

युद्ध-नीतिका उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

अयुध्यमानस्य वधस्तथाशत्रोश्च मानद।
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः॥
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च।
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव॥
(कर्ण० ६९। २५-२६)

'मानद! जो युद्ध न करता हो, शत्रुता न रखता हो, संग्रामसे विमुख होकर भागा जा रहा हो, शरणमें आता हो, हाथ जोड़कर आश्रयमें आ पड़ा हो तथा असावधान हो, ऐसे मनुष्यका वध करना श्रेष्ठ पुरुष अच्छा नहीं समझते हैं। तुम्हारे बड़े भाईमें उपर्युक्त सभी बातें हैं।'

श्रीकृष्णने अर्जुनसे पुनः कहा—हे पार्थ! धर्मकी गति अतिसूक्ष्म है। किसी कार्यमें धर्म होता है तो किसी कार्यमें धर्मका क्षय होता है; इसका विचार करना सहज नहीं है।

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम्॥
(कर्ण० ६९। ३१)

'सत्य बोलना उत्तम है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है; परंतु यह समझ लो कि सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्यके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है।'

बड़ोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती, उनके मुखपर दुर्वचन कहनेसे ही उनका वध हो जाता है। यही धर्मतत्त्व है।

महाभारतके अन्तमें सारे नर-संहारका कारण अपनेको मानकर जब युधिष्ठिर विलाप करने लगे, तब भगवान्ने धर्म-तत्त्वका सार उपदेश करते हुए उनसे कहा—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति॥

'सब प्रकारकी कुटिलता ही मृत्युका आस्पद है और सरलता मोक्षका मार्ग है। इतना ही ज्ञातव्य विषय है। इस व्यर्थके प्रलापसे क्या लाभ?'

युधिष्ठिरको तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हुए अन्तमें वे कहते हैं—

लब्ध्वा हि पृथिवीं कृत्स्नां सह स्थावरजङ्गमाम्।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति॥

'महाराज! यदि किसीने सारी स्थावर-जङ्गमात्मक पृथ्वीको प्राप्त कर लिया, परंतु उसमें उसकी ममता नहीं है तो वह उस पृथ्वीको लेकर क्या करेगा?'

श्रीकृष्णके द्वारा प्रदत्त ऐसे अनेक उपदेशरत्न यत्र-तत्र शास्त्रोंमें बिखरे पड़े हैं। भगवद्गीता, उद्धवगीता, अनुगीता आदिमें आध्यात्मिक ज्ञानकी पराकाष्ठा प्राप्त होती है। इन ग्रन्थोंमें भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट अलौकिक सारे तत्त्वज्ञान भरे पड़े हैं। श्रीकृष्णके द्वारा जगत्‌के जीवोंके कल्याणार्थ दिये गये विभिन्न प्रकारके योग, ज्ञान, कर्म और भक्तिके साधनपरक उपदेश जो इन ग्रन्थोंमें प्रचुरताके साथ प्राप्त होते हैं, उनके सर्वज्ञत्वके द्योतक हैं, पूर्णतमत्वके परिचायक हैं।

३. अभिधेय तत्त्व

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—परमतत्त्वके ये त्रिविध आविर्भाव उपासकोंकी विभिन्न धारणाओंके अनुसार शास्त्रमें वर्णित हैं। श्रीकृष्ण परमतत्त्वके पूर्णतम आविर्भाव हैं, यह उपर्युक्त सम्बन्धतत्त्वमें विविध प्रकारसे निर्दिष्ट किया जा चुका है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, यह बात सुनकर चित्तमें स्वभावतः ही यह सद्भावना उत्पन्न होती है कि हृदयकी ऐसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। इस जिज्ञासाकी परितृप्तिके लिये 'अभिधेय तत्त्व' की अवतारणा की जाती है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है—

> श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधनविधिं
> यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी।
> पुराणाद्या ये वा सहजनिवहास्ते तदनुगा
> अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर! भवानेव शरणम्॥

'माता श्रुतिसे पूछा गया तो उन्होंने तुम्हारी आराधना करनेके लिये कहा। माता श्रुतिने जो बतलाया, बहिन स्मृतिने भी वही कहा। पुराण-इतिहास आदि भ्रातृवर्ग भी उन्हींके अनुगामी हैं; अर्थात् उन्होंने भी तुम्हारी आराधना करनेके लिये ही कहा है। अतएव हे मुरारि! एकमात्र तुम्हीं आश्रय हो, यह मैंने ठीक-ठीक जान लिया।'

यह कहा जा चुका है कि तटस्थाशक्तिरूप समस्त जीव श्रीकृष्णके ही विभिन्नांश हैं। वे जीव नित्यमुक्त और नित्य-संसारी भेदसे दो प्रकारके हैं। जो सदा श्रीकृष्णके चरणोंमें उन्मुख रहते हैं, वे नित्यमुक्त हैं और उनकी गणना पार्षदोंमें होती है। इसके विपरीत जो जीव नित्य बहिर्मुख रहते हैं, वे ही नित्य-संसारी हैं। वे अनादि बहिर्मुखताके वश होकर संसारके बन्धनमें पड़कर दुःख-भोग करते हैं। बहिर्मुखताके कारण माया उनको बन्धनमें डालकर त्रितापसे संतप्त करती रहती है। जीव काम और क्रोधके वशीभूत होकर [illegible] रहता है। संसारचक्रमें भ्रमण करते-करते जब उसको [illegible] सङ्ग प्राप्त होता है, तब उनके उपदेशसे [illegible] मिल जाती है। जीव कृष्णभक्ति प्राप्त करके पुनः श्रीकृष्णके चरणप्रान्तमें गमन करता है। अतएव संसारके त्रिविध तापोंसे निस्तार पानेके लिये जीवको सारी वासनाओंका परित्याग करके एकमात्र कृष्णभक्ति करना ही विधेय है।

श्रीकृष्णभक्ति ही सर्वप्रधान अभिधेय है। कर्म, योग और ज्ञान—ये तीनों भक्तिमुखापेक्षी हैं। भक्तिके फलकी तुलनामें कर्म, योग और ज्ञानके फल अति तुच्छ हैं। भक्तिकी सहायताके बिना कर्मादि अति तुच्छ फल प्रदान करनेमें भी समर्थ नहीं होते। भक्ति-रहित कर्म और योग तुच्छ-तुच्छ फल प्रदान करके निवृत्त हो जाते हैं, परंतु वे फल चिरस्थायी नहीं होते। भक्ति-रहित ज्ञान भी इसी प्रकार अकिञ्चित्कर होता है। श्रीमद्भागवतमें और भी कहा गया है—

> तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
> मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
> क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
> तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
> (२।४।१७)

'तपस्वी, दानशील, यशस्वी, मनस्वी, मन्त्रवेत्ता [illegible] तथा सदाचारी लोग अपना तप आदि जिनको समर्पित किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं कर सकते, उन सुभद्र यशवाले भगवान्‌को पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ।'

> मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
> चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
> य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
> न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥
> (श्रीमद्भा० ११।५।२-३)

'विराट् पुरुषके मुख, बाहु, ऊरु और चरणोंसे [illegible] गुण-तारतम्यके अनुसार पृथक्-पृथक् ब्राह्मण आदि वर्ण और आश्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। जो इन वर्णाश्रमोंके [illegible] नियन्ता एवं आत्मा उन ऐश्वर्यशाली पुरुषका भजन नहीं करते, अपितु उनकी अवज्ञा करते हैं, वे [illegible] अधिकारसे च्युत होकर नीचे गिर जाते हैं।'

जो लोग जान-बूझकर भगवत्स्वरूपोंकी [illegible] अवज्ञा प्रकट करते हैं, उनके [illegible]

हो जानेपर भी इस अवज्ञाके अपराधसे उनका संसार-बीज नष्ट नहीं होता । श्रीकृष्ण-भक्तिके बिना मायाके पंजेसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं है । भगवान्‌ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

अर्थात् जो एक बार भी मेरे शरणागत होकर यह कहता हुआ कि 'हे प्रभो ! मैं तुम्हारा हूँ' मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, मैं उसको सदाके लिये निर्भयताका वर दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है ।

इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
(२ । ३ । १०)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह चाहे अकाम अर्थात् एकान्तभक्त हो, सर्वकाम अर्थात् इहामुत्र कर्मफलकी कामना करनेवाला हो, अथवा मोक्ष चाहनेवाला हो, उसे तीव्र भक्ति-योगके द्वारा परमपुरुष श्रीकृष्णकी आराधना करनी चाहिये ।'

मनुष्यका चित्त स्वभावतः सकाम और स्वार्थके लिये व्याकुल होता है । जबतक देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी यह स्वार्थ-कामना वर्तमान है, तबतक चित्त भगवत्साधनाके द्वारा अपनी सुख-वासनाकी पूर्तिके लिये व्याकुल न होगा । साधना या उपासनाका प्रधानतम पवित्र उद्देश्य है—भगवद्भाव-के द्वारा हृदयको नित्य-निरन्तर पूर्ण किये रखना । परंतु नश्वर धन-जन, यश-मान, विषय-वैभव तथा भोग-विलासकी लालसामें यदि हृदय व्याकुल रहता है तो इससे साधनाके उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होती । दयामय भगवान् जिसके प्रति अनुग्रह करते हैं, उसके हृदयसे विषय-भोगकी वासना और लालसाको तिरोहित कर देते हैं और अपने चरणोंमें अनुराग प्रदानकर विषय-वासनाको दूर कर देते हैं ।

साधु-सङ्ग

सांसारिक वासनासे निष्कृति प्राप्त करना जीवके लिये सहज नहीं है । संतकी संगतिके बिना संसारकी निवृत्ति नहीं होती । पूर्व जन्मोंके शुभ कर्मोंके बिना तथा भगवत्कृपाके बिना साधु-सङ्ग मिलना दुर्घट है । सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर श्रीकृष्णमें रति उत्पन्न होती है, अतएव साधुसङ्ग भी भगवत्कृपासे ही प्राप्त होता है । श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥
(१० । ५१ । ५४)

'हे अच्युत ! जन्म-मृत्युरूप इस संसारका चक्कर काटते-काटते जब किसी मनुष्यकी संसार-वासनाके क्षयकी ओर प्रवृत्ति होती है, तब उसको साधुसङ्ग प्राप्त होता है । साधु-सङ्ग प्राप्त होनेपर उनकी कृपासे संतोंके आश्रय तथा कार्य-कारण-रूप जगत्‌के एकमात्र स्वामी आपमें रति उत्पन्न होती है ।'

कभी-कभी भगवान् अपनी साधु-संततिको प्रेरित करके अपनी कृपाके योग्य जीवोंको संसार-बन्धनसे मुक्त करते हैं, कभी स्वयं अन्तर्यामीरूपसे उनके हृदयमें भक्ति-तत्त्वका प्रकाश करते हैं । उनकी कृपाकी इयत्ता नहीं है । श्रीचैतन्य-चरितामृतमें लिखा है—

कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने ।
गुरु अन्तर्यामि रूपे शिखाय आपने ॥ ×××
साधुसङ्गे कृष्ण-भक्त्ये श्रद्धा यदि हय ।
भक्तिफल प्रेम हय, संसार याय क्षय ॥

अर्थात् यदि किसी भाग्यवान् जीवपर श्रीकृष्णकी कृपा होती है तो वे अन्तर्यामी गुरुके रूपमें उसको स्वयं शिक्षा देते हैं । यदि साधुसङ्गके फलस्वरूप श्रीकृष्ण-भक्तिमें श्रद्धा होती है तो वह भक्ति-साधन करता है और उसके फलस्वरूप उसे श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त होता है तथा आवागमनरूप संसारका नाश हो जाता है । अतएव श्रद्धालु पुरुष ही भक्तिका अधिकारी है । भगवान् स्वयं कहते हैं—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । २७-२८)

हम चित्तकी अनन्त कामनाओंसे निरन्तर व्याकुल रहते हैं । सागरकी तरङ्गोंके समान कामनाओंकी तरङ्गें एक-एक करके आती हैं और हमारे हृदयको विक्षुब्ध कर देती हैं; हम इसको समझते हैं, पर उनका परित्याग नहीं कर सकते । ऐसी अवस्थामें हम विवेक-वैराग्यका अधिकार प्राप्त करके ज्ञानकी साधनामें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं । संसारमें अत्यधिक

आसक्तिके कारण भक्तियोगका अधिकारी होना भी असम्भव ही जान पड़ता है। परंतु श्रीभगवान्‌की आश्वासन-वाणी यहाँ भी हमारे भीतर आशाका संचार करती है। वे कहते हैं—'अविद्याके महाप्रभावसे तुम सहसा सांसारिक कामनाओंका परित्याग नहीं कर सकते, यह सत्य है। परंतु मेरी कथामें श्रद्धावान् होकर, दृढनिश्चयी होकर, प्रसन्नचित्त होकर दुःख-प्रद कामनाओंका भोग करते समय भी उनको निन्दनीय समझते हुए मेरा भजन करते रहो।' भक्ति स्वतन्त्र है; ज्ञानके लिये जैसे पहले विवेक-वैराग्य आवश्यक हैं, भक्तिके लिये उस प्रकारकी किसी पूर्वावस्थाकी अपेक्षा नहीं होती।

> भक्तिर्हि स्वतः प्रबलत्वात् अन्यनिरपेक्षा।

श्रीभगवान् और भी कहते हैं—

> तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
> न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
> (११।२०।३१)

'अतएव मेरी भक्तिसे युक्त तथा मुझमें लीन रहनेवाले योगीके लिये पृथक् ज्ञान-वैराग्यरूप साधन श्रेयस्कर नहीं; क्योंकि भक्तिकी साधनामें प्रवृत्त होनेपर ये स्वतः आविर्भूत होते हैं।' श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

> वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
> जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥
> (१।२।७)

यों तो कर्म और ज्ञानकी साधनाके लिये भी श्रद्धा अपेक्षित है, क्योंकि श्रद्धाके बिना सम्यक् प्रवृत्ति नहीं होती। परंतु भक्तिमें सम्यक् प्रवृत्तिके लिये तो श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धाके बिना अनन्य भक्तिमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं और होनेपर भी वह स्थायी नहीं होती। कर्म-परित्यागका अधिकार दो प्रकारसे होता है—ज्ञानमार्गमें वैराग्यके उदयके लिये और भक्तिमार्गमें श्रद्धाके उदयके लिये कर्म-त्याग प्रयस्त होता है। परंतु भक्ति-साधनामें श्रद्धासे भी बढ़कर महत्कृपाकी आवश्यकता होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> रहूगणैतत् तपसा न याति
> न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
> नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
> र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
> (५।१२।१२)

जडभरतजी कहते हैं—'हे रहूगण! महापुरुषकी चरण-धूलिसे अभिषेक किये बिना धर्म-पालनके लिये कष्ट सहने, यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी उपासनासे, अन्नादिके दानसे, गृहस्थोचित धर्मानुष्ठानसे, वेदाध्ययनसे अथवा जलके स्वामी वरुण, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे भी मनुष्य भगवज्ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता।'

यह श्रीकृष्णभक्ति जीवके लिये सर्वप्रधान कर्तव्य होनेपर भी वेदविहित नित्य-नैमित्तिक कर्म करते रहना कर्तव्य है। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

> श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
> आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अर्थात् श्रुति-स्मृति भगवान्‌की ही आज्ञा है, और जो इनका उल्लङ्घन करता है, वह मेरा विरोधी तथा द्वेषी है, वह मेरा भक्त या वैष्णव नहीं कहला सकता।

यह साधारण मनुष्यके लिये उपदेश है। इसके विपरीत श्रीमद्भगवद्गीताके उपसंहारमें भगवान्‌ने कहा है—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
> (१८।६६)

यहाँ सर्वकर्म-परित्यागका उपदेश किया गया है। इससे भगवद्वाक्यमें परस्पर विरोधकी आशङ्का होती है। इसके समाधान-स्वरूप श्रीमद्भागवतमें भक्त उद्धवके प्रति श्रीभगवान् कहते हैं—

> तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
> मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
> (११।२०।९)

अर्थात् तभीतक वेदविहित कर्मोंका करना आवश्यक है जबतक निर्वेद (वैराग्य) न हो जाय और मेरी कथा सुननेमें तथा मेरा भजन करनेमें जबतक श्रद्धा न उत्पन्न हो।

भगवद्भक्तिके अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं। भक्ति-रसामृत-सिन्धुमें श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

> शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढनिश्चयः।
> प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः॥
> यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान् स तु मध्यमः।
> यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते॥

अर्थात् जो शास्त्रमें तथा युक्तिमें निपुण है, तथा सब प्रकारसे तत्त्वविचारके द्वारा दृढनिश्चयी है, ऐसा प्रौढ श्रद्धावान् व्यक्ति भक्तिका उत्तम अधिकारी है। शास्त्रज्ञानके बिना ही श्रद्धा कहलाता है। श्रद्धाके तारतम्यके अनुसार ही भक्तिके

अधिकारीके तारतम्यका निर्णय किया जाता है। सर्वथा दृढ़निश्चयी वह है जो तत्त्वविचार, साधन-विचार तथा पुरुषार्थके विचारसे दृढ़निश्चयपर पहुँच गया है। युक्तिका अर्थ शास्त्रानुगत युक्ति है, स्वतन्त्र युक्ति नहीं। जो शास्त्रादिमें निपुण नहीं हैं, परंतु श्रद्धावान् हैं, वे मध्यम अधिकारी हैं। अनिपुणका अर्थ है—जो अपनी श्रद्धाके प्रतिकूल बलवान् तर्क उपस्थित होनेपर उसका समाधान नहीं कर सकता। बहिर्मुख व्यक्तिके कुतर्कसे क्षणमात्रके लिये चित्तके डोल जानेपर भी जो अपने विवेकद्वारा गुरुके उपदिष्ट अर्थमें विश्वास करते हैं, इस प्रकारके भक्त कनिष्ठ भक्त हैं। कुतर्कसे चित्तका कुछ क्षणोंके लिये हिल जाना ही कोमलत्व है। कुतर्कसे जिसका विश्वास बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है, उसको भक्त नहीं कह सकते। श्रीभगवान्ने स्वयं गीतामें चतुर्विध भक्तोंका उल्लेख किया है—

> चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
> प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
>
> (७।१६-१८)

अर्थात् हे अर्जुन! वे सुकृती व्यक्ति, जो मेरी भक्ति करते हैं चार प्रकारके होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। जो अपना दुःख दूर करनेके लिये भगवद्भजन करते हैं, वे आर्त हैं। सुख-प्राप्तिके लिये जो भजन करते हैं, वे अर्थार्थी हैं। संसारको अनित्य जानकर जो आत्मतत्त्वके ज्ञानकी इच्छासे भगवद्भजन करते हैं, वे जिज्ञासु हैं। ज्ञानी भक्त तीन प्रकारके होते हैं—इनमें एक श्रेणीके ज्ञानी भगवदैश्वर्यको जानकर भगवद्भजन करते हैं, दूसरी श्रेणीके ज्ञानी भगवन्माधुर्यको जानकर भजन करते हैं और तीसरी श्रेणीके ज्ञानी ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंको जानते हुए भजन करते हैं। इन चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी मेरा आत्मस्वरूप है, यह मेरा मत है; क्योंकि ज्ञानी परमगति-स्वरूप मेरा ही आश्रय लेते हैं। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त तो सकाम होते हैं, उनमें अन्यान्य विषयोंके प्राप्त करनेकी वासना होती है; परंतु ज्ञानी भक्त मुझको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता।

> बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
> वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
>
> (गीता ७।१९)

'अनेक जन्मोंमें अर्जित पुण्यके प्रतापसे ज्ञानवान् इस चराचर विश्वको वासुदेवात्मक देखकर मेरी भक्तिमें लीन रहता है। ऐसा महात्मा नितान्त ही दुर्लभ है।'

शरणागति

श्रीकृष्णकी दयाका स्मरण होनेपर उनके प्रति भक्तिरससे चित्त अभिभूत हो जाता है। श्रीउद्धवजी कहते हैं—

> अहो बकी यं स्तनकालकूटं
> जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
> लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
> कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
>
> (श्रीमद्भा० ३।२।२३)

'दुष्ट पूतनाने अपने स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपना स्तन पान कराया, किंतु परम दयामय श्रीकृष्णने उस मातृवेषधारिणी पूतनाको माताके समान सद्गति प्रदान की। अतएव श्रीकृष्णके सिवा दूसरा ऐसा दयालु कौन है, जिसकी शरणमें हम जायँ?' इसलिये अन्य देवताओंको त्यागकर परम दयालु श्रीकृष्णके शरणापन्न होना जीवका परम कर्तव्य है। यहाँ शरणागतिका लक्षण जानना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

> आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥
>
> (वैष्णवतन्त्र)

शरणागति छः प्रकारकी होती है—जैसे (१) भगवान्‌की अनुकूलताका संकल्प अर्थात् जो भगवद्भावके अनुकूल कर्तव्य हों, उनके पालनका नियम, (२) प्रतिकूलताका त्याग, (३) प्रभु हमारी निश्चय ही रक्षा करेंगे—यह विश्वास, (४) एकान्तमें अपनी रक्षाके लिये भगवान्से प्रार्थना, (५) आत्मनिवेदन और (६) कार्पण्य—अर्थात् 'हे प्रभो! त्राहि माम्, त्राहि माम्' कहते हुए अपनी कातरता प्रकट करना। इस शरणागतिकी महिमा स्वयं भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

> मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
> निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
> तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
> मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।२९।३४)

'मनुष्य जब सारे कर्मोंका त्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है तथा जीवन्मुक्त होकर मत्सदृश ऐश्वर्य-प्राप्तिके योग्य हो जाता है।'

साधन-भक्ति

श्रीकृष्ण-प्रेम-भक्तिकी साधना ही साधन-भक्ति कहलाती है। जिन कर्मोंके अनुशीलनसे भगवान्‌में परा भक्तिका उदय होता है, उसीका नाम साधन-भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(१।२।६)

अर्थात् मनुष्यका परमधर्म वही है, जिसके द्वारा श्रीकृष्णमें अहैतुकी, अप्रतिहत (अखण्ड) भक्ति प्राप्त होती है, जिस भक्तिके बलसे वह आत्माकी प्रसन्नता लाभ करता है। साधन-भक्ति ही वह परम धर्म है। क्योंकि—

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

'इन्द्रिय-प्रेरणाके द्वारा जो साध्य है तथा प्रेमादि जिसके साध्य (फल) हैं, उसको 'साधन-भक्ति' कहते हैं। तथा हृदयमें नित्य-सिद्ध भावके आविर्भावका नाम ही साध्यता है।'

श्रवण आदि नवधा-भक्ति ही साधन-भक्ति है। नित्य सिद्ध वस्तु है श्रीभगवत्प्रेम। यह आत्माका नित्यधर्म है। अग्निमें दाहिका शक्ति तथा पुष्पोंमें सुगन्धके समान आत्माके साथ इसका समवाय सम्बन्ध है, अतएव यह नित्य वस्तु है। यह नित्यसिद्ध वस्तु उत्पाद्य नहीं है। परन्तु श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा जब हृदयमें इसका उदय होता है, तब इसको 'साध्य' कह सकते हैं। इस प्रकार 'साधनभक्ति' और 'साध्यभक्ति'का विचार किया जाता है। साधन-भक्तिके दो भेद हैं, वैधी और रागानुगा। भक्तिके इन दोनों भेदोंके रहस्यको हृदयंगम करनेके लिये उत्तमा भक्ति या परा-भक्तिके मार्गसे अग्रसर होना ठीक होगा। यहाँ गीतोक्त परा-भक्तिका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। वह 'निष्काम परा-भक्ति' ब्रह्मज्ञानके बाद उदित होती है। भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८।५४-५५)

उत्तमा भक्ति प्राप्त करनेके लिये जिस साधन-भक्तिका अनुशीलन करना पड़ता है, उसका अन्याभिलाषिता-शून्य होना आवश्यक है। इसी प्रकार [illegible] तद्विपरीत शुद्ध ब्रह्मज्ञानके भाव भी इस [illegible] नहीं होते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि [illegible] करते हुए केवल श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ [illegible] उत्तमा भक्ति है। अर्थात् श्रीकृष्णके लिये [illegible] स्वार्थका परित्याग अथवा श्रीकृष्ण-चरणोंमें [illegible] विसर्जन ही उत्तमा भक्ति है। अपने स्वार्थकी [illegible] रहनेपर 'उत्तमा भक्ति' नहीं हो सकती। [illegible] स्वत्वकी कामना, धन-धान्य-बाहुल्यकी कामना, [illegible] लिये स्वाभाविक है। इसके लिये भगवान्‌की [illegible] वन्दना आदि करना निश्चय ही भक्तिका [illegible] इसमें कोई संदेह नहीं है; परंतु यह उत्तमा भक्ति नहीं होगी। आत्मविसर्जनके बिना उत्तमा भक्ति होती ही नहीं। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें लिखा है—सा परानुरक्तिरीश्वरे। अर्थात् ईश्वरमें परा अनुरक्ति ही भक्ति [illegible] है। [illegible] लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार लिखे हैं—

(१) अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
(२) अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥
(३) सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥
(४) देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

यहाँ 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' [illegible] है। 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मके स्वरूपलक्षणमें निर्दिष्ट हुआ है—[illegible] ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—(तैत्तिरीयोपनिषद्)। [illegible] पदार्थ, द्रव्य, गुण या कर्म नहीं है। [illegible] मानसिक क्रियाके अर्थमें होता है—[illegible]। परन्तु यहाँ 'ज्ञान' पद मानसिक [illegible] नहीं है। [illegible] आत्मनिष्ठ गुण-विशेष है। इसके [illegible] कोई सम्बन्ध नहीं है। [illegible] भी 'ज्ञान' कहते हैं, परन्तु [illegible] है, वह है 'ब्रह्मज्ञान'। [illegible] निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान ही [illegible] भक्तिका विरोधी है। [illegible]

अनुशीलन' है, उसीका नाम भक्ति है। अर्थात् यदि निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान कृष्णानुशीलनमें समाविष्ट होता है तो उसकी भक्ति-संज्ञा नहीं होती। परंतु भगवत्तत्त्वके ज्ञानका निषेध यहाँ नहीं है; क्योंकि भगवत्तत्त्वका ज्ञान भक्तिका बाधक न होकर साधक ही होता है। इसी प्रकार स्वर्गादिजनक कर्मानुष्ठान भी भक्तिके बाधक हैं। अतएव कृष्णानुशीलनमें सादृश कर्मोंका संसर्ग नहीं चाहिये। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कर्ममात्र ही बाधक हैं; क्योंकि भगवत्परिचर्या भी कर्मविशेष है। परंतु ऐसे कर्म भक्तिके बाधक न होकर साधक ही होते हैं।

इस प्रकार जान पड़ता है कि उत्तमा भक्तिके लक्षण इतने सुन्दररूपसे विवृत हुए हैं कि वेदान्तशास्त्रके चरम प्रान्तमें उपस्थित हुए बिना इस प्रकारकी भक्ति-साधनाका ज्ञान अति दुर्लभ है। फलतः वेदान्तशास्त्रका जो चरम लक्ष्य है, वह भक्ति साधकको उसी सुविशाल सुन्दर सरस राज्यमें उपस्थित करती है। वेदान्त ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करते-करते जब रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति—इस मन्त्रका उल्लेख करता है, तब उसको प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठतम साधन भक्ति ही होती है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

ऋग्वेदके अनेक स्थलोंमें जीवके साथ भगवान्‌के मधुर सम्बन्धकी सूचना देनेवाले मन्त्र प्राप्त होते हैं। 'हे अग्नि! तुम मेरे पिता हो। हे अग्नि! हम तुम्हारे हैं। तुम हमारा सब प्रकारसे कल्याण करो।' इन सब मन्त्रोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषिगण ब्रह्मतत्त्वको मधुमयरूपमें अनुभव कर चुके थे। 'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः'—इस ऋग्मन्त्रसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि जिससे इस विश्व-ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है, वह मधुमय है। उसके मधुमय होनेके कारण ही वायु मधु वहन करता है, सिन्धु मधु क्षरण करता है। हमारा अन्न मधुमय है, पृथिवीके रजःकण मधुमय हैं—इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा ज्ञात होता है कि अति प्राचीन कालमें भी आर्य ऋषिगण भगवान्‌की आधुनिक वैष्णवोंके समान रसमय, प्रेममय और मधुमय भावमें उपासना करते थे।

विष्णुमें अनन्य ममता अथवा प्रेमसंगत ममताको भक्ति कहते हैं। सम्पूर्ण उपाधियोंसे मुक्त भगवत्संलीन इन्द्रियोंके द्वारा श्रीकृष्णका सेवन उत्तमा भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें वैधी भक्तिके नौ अङ्ग वर्णित हुए हैं, जैसे—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
> (७।५।२३)

वैधी भक्तिके ये सब अङ्ग 'परा भक्ति' के साधक हैं तथा इनकी समष्टि ही परम धर्म है।

साधन-भक्तिद्वारा साध्य भक्तिका उदय होता है। यह भक्तियोग अथवा साधन-भक्ति परा-भक्ति नहीं है, यह परम धर्म है। यह एक ओर जैसे परा-भक्तिका प्रकाशक है, वैसे ही उपनिषद्-ज्ञानका भी प्रकाशक है। इसके सिवा—

> वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः।
> सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति॥
> (४।२९।३७)

'भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णकी भक्तिसे शीघ्र ही वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्ति होती है।'

भक्तियोग अर्थात् साधन-भक्तिसे इस प्रकार उपनिषद्-ज्ञान प्रकाशित होता है और उसका परिपाक होनेपर साध्य भक्ति या प्रेम-लक्षणा भक्ति प्रकट होती है।

भक्तिके प्रकार

'भक्ति-संदर्भ' में लिखा है कि रुचि आदिके द्वारा श्रीगुरुका आश्रय लेनेके बाद उपासनाके पूर्वाङ्गस्वरूप उपास्यदेवका साम्मुख्य प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। इस प्रकार उपास्यदेवके सम्मुख होना ही उपासनाका पूर्वाङ्ग है। इस साम्मुख्यका श्रेष्ठतम उपाय है—भक्ति। भक्तिसंदर्भमें भक्तिके तीन प्रकार वर्णित हैं—आरोपसिद्धा, सङ्गसिद्धा और स्वरूप-सिद्धा। भक्तित्वका अभाव होनेपर भी भगवान्‌को अर्पण आदि जिन कर्मोंके द्वारा भक्तित्वकी प्राप्ति होती है, उन कर्मोंको 'आरोपसिद्धा' भक्ति कहते हैं और भक्तिके परिकरके रूपमें जो कार्य किये जाते हैं, उनको 'सङ्गसिद्धा' भक्ति कहते हैं। ज्ञान और कर्म भक्तिके सङ्गके रूपमें व्यवहृत होते हैं, अतएव इनको 'सङ्गसिद्धा' भक्ति कहते हैं। स्वरूपसिद्धा भक्ति वह है, जो स्वतः भक्तिरूपमें प्रसिद्ध है। श्रवण-कीर्तनादि नवधाभक्ति स्वरूपसिद्धा भक्ति है। 'भक्तिसंदर्भ' ग्रन्थमें इसके सिवा अनेक भेदोपभेद-सहित भक्तिका वर्णन किया गया है।

रागमयी भक्तिको 'रागात्मिका' भक्ति कहते हैं। व्रजवासियोंमें रागात्मिका भक्ति दृष्टिगोचर होती है। जो लोग व्रजवासियोंके समान अर्थात् श्रीकृष्णके दास-दासी, सखी-सखा तथा माता-पिता आदिके भावसे श्रीकृष्णको भजते हैं या भजनमें प्रवृत्त होते हैं, वे 'रागानुगा भक्ति' के साधक कहलाते

हैं। जो भक्ति रागात्मिका भक्तिके अनुकरणके लिये होती है तथा उसी प्रकारके भावकी ओर साधकको परिचालित करती है, वही 'रागानुगा भक्ति' है। परंतु रागानुगा साधकके चित्तमें सख्यरस या अन्य किसी भजनरसका उदय होनेपर भी वह अपनेको श्रीदाम, ललिता, विशाखा, श्रीराधा या नन्द-यशोदा आदिके रूपमें नहीं मानता। ऐसा करनेसे 'अहंग्रह' उपासना हो जाती है।

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिञ्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥

'श्रीभागवतादि शास्त्र सुनकर तत्तद्भावोंके माधुर्यका अनुभव करनेपर साधकका चित्त विधिवाक्य या किसी प्रकारकी युक्तिकी अपेक्षा नहीं करता, उसमें स्वतः प्रवृत्त हो जाता है। यही लोभोत्पत्तिका लक्षण है।' अतएव श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

लोभे व्रजवासीर भावेर करे अनुगति।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥

अर्थात् रागानुगाकी प्रकृति यह है कि उसका साधक लोभसे व्रजवासियोंके भावोंका अनुगमन करता है, शास्त्र और युक्तिपर ध्यान नहीं देता।

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥
कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद् वासं व्रजे सदा॥

रागानुगा भक्तिका साधक दो प्रकारकी साधना करता है, साधकरूपसे वह उपास्यदेवका श्रवण-कीर्तन करता है और सिद्धरूपसे मनमें अपने सिद्धदेहकी भावना करता है। वह श्रीकृष्ण और उनके जनोंका स्मरण करता है। अपनेमें उनमेंसे अन्यतमकी भावना करता है और सदा-सर्वदा व्रजमें रहकर श्रीकृष्ण-सेवा करता है।

जो लोग मधुर-रसके रागानुगीय साधक हैं, वे श्रीललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी आदिकी आज्ञासे श्रीराधा-माधवकी सेवा करें तथा स्वयं श्रीकृष्णका आकर्षण करनेवाले वेषमें सुसज्जित तथा श्रीराधिकाके निर्माल्यस्वरूप वसन-आभूषणसे भूषित सखियोंकी सङ्गिनीके रूपमें अपनी मनोमयी मूर्तिका चिन्तन करें। सनत्कुमार-तन्त्रमें लिखा है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

रागानुगीय साधक भक्त सखियोंके मध्यमें [illegible] रूपयौवनसम्पन्ना किशोरीरूपमें चिन्तन करते हैं। श्री-नरोत्तमदास ठाकुरके 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' ग्रन्थमें 'रागानुगा भक्ति' वर्णित है। इस ग्रन्थके भाव दुरूह हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकृत 'रागवर्त्मचन्द्रिका' तथा '[illegible]', 'श्रीकृष्णमाधुरी' आदि ग्रन्थ इस विषयमें द्रष्टव्य हैं।

श्रीरागानुगा भक्ति जिनके हृदयमें प्रादुर्भूत हो गयी है, वे सिद्धदेहमें श्रीराधा-माधवकी कुञ्जसेवा करके निरन्तर परमानन्दमें निमग्न रहते हैं। ऐसे साधकजन [illegible] भूषण हैं। योगीन्द्रगणदुर्लभा रागानुगा भक्ति बहुत [illegible] द्वारा प्राप्त होती है।

प्रयोजन-तत्त्व

इस संसारमें प्रयोजनके बिना कोई कार्य नहीं [illegible]। भगवत्साधनाका भी प्रयोजन है और वह प्रयोजन है प्रेम। प्रेमकी पूर्वावस्थाका नाम है 'भाव या रति'। [illegible] परिपाकमें अथवा भक्तिकी कृपासे भावभक्ति [illegible] उदय होता है। जब श्रीकृष्णमें प्रीतिके कारण उनमें मन [illegible] रहना चाहता है, तब भाव ही रति नामसे [illegible] होता है। [illegible] भाव मनकी अवस्था (विकार)-विशेषका नाम है। [illegible] निमग्न व्यक्तिका चित्त जब भगवद् [illegible] होता [illegible] भगवद्भावमें विभावित होता है, श्रीभगवान्‌के चिन्तन [illegible] रस लेता है, तब कहना पड़ेगा कि उसमें [illegible] भाव [illegible] हो गया है।

श्रीराधिकाका चित्त अन्यान्य [illegible] बाल्यक्रीडामें रत था। सहसा उन्होंने एक दिन [illegible] मुरलीधर श्रीकृष्णकी भुवनमोहिनी [illegible] सुना, इनका नाम श्यामसुन्दर है। [illegible] ध्वनि उनके कानोंमें प्रविष्ट हुई, [illegible] प्रेम-विकार उत्पन्न हुआ। [illegible] क्षणभरमें चित्त बदल गया। [illegible] चूडालंकृत वंशीधर श्यामसुन्दरके [illegible] उनकी आहार-निद्रा छूट गयी, [illegible] संसार बद हो गया। वे घरके कोनेमें बैठकर [illegible] रूपका ध्यान करने लगीं। [illegible] प्रथम अवस्था है।

भाव चित्तको रञ्जित करता है, [illegible] करके उसको कोमल बनाता है। यह [illegible] वृत्ति

विशेष है और इसकी अपेक्षा कोटिगुना आनन्दरूप, आह्लादनी-शक्तिके साररूप वृत्तिको रति कहते हैं।

जिनके हृदयमें यथार्थ प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो गया है, प्राकृतिक दुःखसे उनको दुःख-बोध नहीं होता, वे सर्वदा ही श्रीकृष्णके परिचिन्तनमें काल-यापन करते हैं। प्रेमाङ्कुर उत्पन्न होनेके पूर्व निम्नाङ्कित नौ लक्षण उदित होते हैं, जैसे—(१) क्षान्ति—क्षोभके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी चित्तका अक्षुब्ध दशामें स्थित रहना क्षान्ति कहलाता है। तितिक्षा, क्षमा, मर्ष इसके नामान्तर हैं। (२) अव्यर्थ-कालत्व—प्रेमी-भक्त श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी विषयमें क्षणभरके लिये चित्तको नहीं लगने देता। (३) विरक्ति—भगवद्-विषयके सिवा प्रेमीके चित्तमें अन्य किसी विषयकी कभी भी रुचि नहीं होती। (४) मानशून्यता; (५) आशाबन्ध—निरन्तर श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी आशा बँधी रहती है। (६) समुत्कण्ठा; (७) नाम-स्मरणमें रुचि; (८) भगवद्गुणाख्यानमें आसक्ति और (९) उनकी लीला-भूमिमें प्रीति।

प्रेमाविष्ट चित्तकी उच्चतम दशामें नाना प्रकारके विवश भावोंका आविर्भाव होता है। इस दशामें प्रायः बाह्यज्ञान नहीं रहता।

> धन्यस्यायं नवप्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
> अन्तर्वाणीभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥

'जिस धन्य पुरुषके चित्तमें इस नवीन प्रेमका उदय होता है, उसकी वाणी और क्रियाके रहस्यको शास्त्रप्रणेता भी नहीं जान सकते।' श्रीमद्भागवतने इस सम्बन्धमें एक अति सुन्दर प्रमाण दिया है—

> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
> जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
> हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
> त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
> (११।२।४०)

'उपर्युक्त साधनप्रणालीके अनुसार साधना करनेवाला स्वप्रिय श्रीभगवान्‌के नामका कीर्तन करते-करते श्रीभगवान्‌में अनुराग हो जानेके कारण द्रवितचित्त होकर कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी उच्चस्वरसे प्रलाप करता है। कभी गाता और कभी उन्मत्तके समान नाचने लगता है। वह साधक स्वभावतः जनसाधारणके आचार-व्यवहारसे बहिर्भूत होकर कार्य करता है।'

मधुरा रतिमें भाव और महाभाव उच्चतर और उच्चतम अवस्थाएँ कहलाती हैं। भावकी चरम सीमामें अनुराग प्राप्त होता है। भाव ही अनुरागका महान् आश्रय है। अनुरागके दृष्टान्तमें गोपी-प्रेमका उल्लेख किया जा सकता है। परंतु गोपी-प्रेम क्या वस्तु है, यह बतलाना कठिन है। तथापि सुरसिक प्रेमी भक्तगण आदिपुराणसे गोपी-प्रेमामृतकी दो-एक बातें लेकर भक्तोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृतके चतुर्थ अध्यायमें गोपी-प्रेमका माहात्म्य वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

> कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपीप्रेम।
> निर्मल उज्ज्वल शुद्ध येन दग्ध हेम॥
> कृष्णेर सहाय गुरु, बान्धव, प्रेयसी।
> गोपिका हयेन प्रिया, शिष्या, सखी, दासी॥
> गोपिका जानेन कृष्णेर मनेर वाञ्छित।
> प्रेम सेवा परिपाटी इष्टसेवा समाहित॥

अर्थात् गोपी-प्रेम स्वभावतः काम-गन्ध-शून्य होता है; वह तपाये हुए स्वर्णके समान निर्मल, उज्ज्वल और शुद्ध होता है। गोपिकाएँ श्रीकृष्णकी सहायिका, गुरु, शिष्या, प्रिया, बान्धव, सखी, दासी—सब कुछ हैं। गोपिकाएँ श्रीकृष्णके मनकी अभिलाषा, प्रेम-सेवाकी परिपाटी तथा इष्ट-सेवामें लगे रहना अच्छी तरह जानती हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। दशम स्कन्धमें श्रीरासलीलाके ३२वें अध्यायमें प्रेमिक भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

> एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
> स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
> मया परोक्षं भजता तिरोहितं
> मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः॥
> (श्रीमद्भा० १०।३२।२१)

'हे अबलागण! यह जानता हुआ भी कि तुमलोगोंने मेरे लिये लोक और वेदका तथा स्वजनोंका परित्याग कर दिया है, मैं तुम्हारे निरन्तर ध्यान-प्रवाहको बनाये रखनेके लिये तथा प्रेमालाप-श्रवण करनेके लिये समीपमें रहता हुआ भी अन्तर्हित हो गया था। हे प्रियागण! मैं तुम्हारा प्रिय हूँ। मेरे प्रति दोषदृष्टि रखना योग्य नहीं है।'

गोपी-प्रेमके विषयमें अधिक क्या कहा जाय, इस प्रेमकी तुलना संसारमें है ही नहीं। परंतु इस प्रेमका प्रकृत आश्रय गोपी-हृदयके सिवा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। 'उज्ज्वल-नीलमणि' ग्रन्थमें कहा गया है—

दिव्य महासंकीर्तन

महादेवस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्ताऽर्जुनोऽभूत् ।

हनुमान्‌जीकी विप्ररूपमें विभीषणसे भेंट

बिप्र रूप धरि बचन सुनाए । सुनत बिभीषन उठि तहँ आए ॥
करि प्रनाम पूँछी कुसलाई । बिप्र कहहु निज कथा बुझाई ॥
(रामचरित० ५ । ५ । २)

वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत्।
स रूढश्चाधिरूढश्चेत्युच्यते द्विविधो बुधैः॥

'यह महाभाव श्रेष्ठ अमृतके तुल्य स्वरूप-सम्पत्ति धारण करके चित्तको निज स्वरूप प्रदान करता है। पण्डित-लोग इस महाभावके रूढ और अधिरूढ—दो भेद बतलाते हैं।'

जिस महाभावमें सारे सात्त्विक भाव उद्दीप्त होते हैं, उसको रूढ-भाव कहते हैं। रास-रस-निमग्ना गोपियोंमें स्वरभङ्ग, कम्प, रोमाञ्च, अश्रु, स्तम्भ, वैवर्ण्य, स्वेद तथा मूर्च्छा—ये आठों सात्त्विक भाव परिलक्षित होते हैं। अब अधिरूढ महाभावका लक्षण कहते हैं—

रूढोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामप्याप्ता विशिष्टताम्।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढो निगद्यते॥

'जहाँ रूढभावोक्त अनुभावोंसे आगे बढ़कर सात्त्विक भाव किसी विशिष्ट दशाको प्राप्त होते हैं, उसको अधिरूढ-भाव कहते हैं।' इसका एक उदाहरण दिया जाता है—

लोकातीतमजाण्डकोटिगमपि त्रैकालिकं यत् सुखं
दुःखं चेति पृथग् यदि स्फुटमुभे ते गच्छतः कूटताम्।
नैवाभासतुलां शिवे तदपि तत्कूटद्वयं राधिका-
प्रेमोद्यत्सुखदुःखसिन्धुभवयोर्विन्देत बिन्द्वोरपि॥

एक दिन श्रीश्रीराधिकाजीके प्रेमके विषयमें जिज्ञासा करनेपर श्रीशंकरजीने पार्वतीजीसे कहा—'हे शिवे! लोकातीत—वैकुण्ठगत तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डगत त्रिकाल-सम्बन्धी सुख-दुःख यदि विभिन्न-रूपमें राशीभूत हों, तो भी वे दोनों श्रीराधाजीके प्रेमोद्भव सुख-दुःख-सिन्धुके एक बूँदकी भी तुलना नहीं कर सकते।' इसी अधिरूढ महाभावका एक दूसरा उदाहरण पद्यावलीमें दिया जाता है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीय वर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

श्रीश्रीराधाजी श्रीललिताजीसे कहती हैं कि 'हे सखि! श्रीकृष्ण यदि लौटकर व्रजमें नहीं आते तो निश्चय ही मैं इस जीवनमें उनको नहीं पाऊँगी। अतएव अब प्राणोंको रखकर इस शरीरकी रक्षा करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। शरीर भी चला जाय—यह पञ्चत्वको प्राप्त होकर स्थूलरूपसे आकाशादि स्वकारणरूप भूतोंमें लीन हो जाय। परन्तु मैं विधातासे हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करती हूँ कि मेरे शरीरके पाँचों भूत प्रियतम श्रीकृष्णसे सम्बन्धित भूतोंमें ही विलीन हों—जलतत्त्व उस बावड़ीके जलमें मिले जहाँ श्रीकृष्ण जलविहार करते हों; तेजस्तत्त्व उस दर्पणमें समा जाय जिसमें श्रीकृष्ण अपना मुख देखते हों; आकाश-तत्त्व उस आँगनके आकाशमें व्याप्त हो जाय जिसमें श्रीकृष्ण क्रीड़ा करते हों; पृथ्वीतत्त्व उस मार्गमें मिल जाय, जिसपर श्रीकृष्ण चलते फिरते हों और वायुतत्त्व उस तालवृन्त-पंखेकी हवामें समा जाय जो प्रियतम श्रीकृष्णको हवा देता हो।' यह भावसमुद्र अगाध एवं अनन्त है। इसका वर्णन करके पार पाना असम्भव है। यहाँ तो केवल दिग्दर्शनमात्र करानेकी चेष्टा की गयी है।

भक्तिसे सम्पूर्ण सद्गुणोंकी प्राप्ति

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

(श्रीमद्भा० ५।१८।१२)

'जिस पुरुषकी भगवान्‌में निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं। किंतु जो भगवान्‌का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं। वह तो तरह-तरहके संकल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है।'

श्रीशंकराचार्य और भक्ति

(लेखक—अध्यापक श्रीरघुनाथ काव्य-व्याकरण-तीर्थ)

अधिकांश लोग मानते हैं कि शंकराचार्य केवल ज्ञानवादी ही थे, क्योंकि वे अद्वैतवादके प्रतिष्ठापक थे। अद्वैतवाद दर्शनके ज्ञान-क्षेत्रकी चरमताका परिचायक है। परंतु वे केवल ज्ञानवादी ही नहीं थे, मूर्तिमान् ज्ञान-कर्म और भक्तिके समुच्चय-वादी थे। उन्होंने जब जैसी लीला की, उस समय वे एकमात्र उसी मतवादके प्रचारक जान पड़े हैं। केवल धर्मके क्षेत्रमें ही ऐसा देखा जाता हो—ऐसी बात नहीं है, साहित्यके क्षेत्रमें भी इस प्रकारके दृश्यका अभाव नहीं है। भानुसिंहकी पदावलीके लेखक रवीन्द्रनाथ ही नाट्यकार, समालोचक और औपन्यासिक रवीन्द्रनाथ हैं। तथापि पूर्णदृष्टिके अभावमें पूर्णके प्रचारके बदले अंशका प्रकाश होता है। फलतः भ्रान्त धारणाकी सृष्टि होती है। वर्तमान प्रबन्धका आलोच्य विषय है 'भक्त शंकराचार्य।'

जिसके जीवन-दर्शनमें, कर्ममें भक्तिका लीला-विलास दृष्टिगोचर होता है, वही भक्त-पद-वाच्य होता है। शंकर आधार हैं और भक्ति आधेय है। 'भक्त शंकर' पर विचार करनेसे ही शंकराचार्य और भक्तिका सम्पर्क निर्णीत होगा। यह विचार तीन भागोंमें विभक्त हो सकता है—जीवन, साधना और रचना।

शंकराचार्य परम पितृ-मातृ-भक्त थे। पिताकी मृत्युसे वे अत्यन्त मर्माहत हुए थे, यह बात पण्डितोंको अविदित नहीं। उनकी मातृ-भक्तिका निदर्शन करनेवाली अनेकों कहानियाँ सुनी जाती हैं। वे माता-पिताको परम गुरु मानते थे। उनको असंतुष्ट करके कोई धर्मकार्य नहीं हो सकता। इसी कारण उन्होंने मातासे अनुमति प्राप्त करके ही संन्यास लिया था। अधिक क्या, संन्यासीका स्वगृह-प्रत्यावर्तन करना शास्त्र-विरुद्ध है, यह जानकर भी माताके अनुरोधसे सालभरमें एक बार माताके साथ भेंट करनेकी स्वीकृति उन्होंने दे दी तथा माताके मृत्युकालमें आकर स्वयं माताकी और्ध्वदैहिक क्रिया सम्पन्न करके मातृ-भक्तिका चरम और परम आदर्श स्थापित किया। स्वयं धर्माचरण करके दूसरोंको शिक्षा दे, शास्त्रका यह सिद्धान्त भी उनके जीवनमें पूरा-पूरा चरितार्थ हुआ। माता-पिताको परम देवता जानकर, उनको संतुष्ट करके ही वे तृप्त नहीं हुए, बल्कि जगत्‌के लोगोंको शिक्षा देनेके लिये प्रश्नोत्तरमालिकामें भी वे इस प्रकार उनकी महिमाकी घोषणा करते हैं—

'प्रत्यक्षदेवता का माता पूज्यो गुरुश्च कस्तातः।'

उनकी साधनाके बारेमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। उनकी गुरु-भक्ति सुप्रसिद्ध ही है, उसके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा आज भी प्रदीप्त है। उनके कुल-देवता श्रीवल्लभ (रमापति) हैं। इस श्लोकमें उनका भक्ति-विनम्रभाव विशेषरूपसे प्रकाशित हुआ है—

> यस्य प्रसादादहमेव विष्णु-
> र्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च।
> इत्थं विजानामि सदाऽऽत्मरूपं
> तस्याङ्घ्रियुग्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥
>
> —अद्वैतानुभूति

"जिसके प्रसादसे 'मैं ही साक्षात् विष्णु हूँ, तथा मुझमें ही समस्त विश्व परिकल्पित है' यह अनुभूति मुझको हो रही है, उन गुरुदेवके नित्य आत्मस्वरूप चरण-युगलोंमें मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।" भक्त ही नित्य प्रसाद प्राप्त करता है। इसके सिवा उनके अनेकों ग्रन्थोंमें श्रीकृष्ण-वन्दना देखनेमें आती है। ग्रन्थमें जो देव-वन्दनाकी प्रथा सुप्रचलित है, वह वन्दना भक्तिकी ही प्रकाशिका है। साधन-जीवनमें भक्तिकी महिमा यथेष्ट रूपमें स्वीकृत की गयी है। आचार्यने ज्ञान-वैराग्यके साथ भक्तिको भी मुक्तिका साधन बतलाया है—

> वैराग्यमात्मबोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम्।
> मुक्तेः साधनमादौ तत्र विरागो वितृष्णता प्रोक्ता॥

'वैराग्य, आत्मज्ञान और भक्ति—ये तीन मुक्तिके साधन कहे गये हैं। इनमेंसे प्रथमोक्त वैराग्यका अर्थ है—वितृष्णा अर्थात् भोगोंके प्रति रागका अभाव।' अन्यत्र मनोनिरोधके उपायरूपमें श्रीहरिचरणोंमें भक्तियोग कथित हुआ है।

> हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः।

भक्ति ज्ञानकी पूर्वावस्था है। अथवा भक्ति ही आगे चलकर ज्ञानमें रूपान्तरित होती है। श्रीकृष्णके चरण-कमलमें भक्ति किये बिना अन्तरात्माकी अर्थात् मनकी शुद्धि नहीं

होती और मन शुद्ध हुए बिना ज्ञानका आविर्भाव या स्थायित्व असम्भव है।

(प्रबोध-सुधाकर, द्वैताद्वैतप्रकरण १६६-१६७)

भक्तिके जयगानमें पद्ममुख आचार्य शंकरकी 'मणिरत्न-माला' का अन्यतम रत्न है भक्ति। आत्मजिज्ञासाके बहाने जनताको उपदेश देते समय केवल शिव-विष्णु-भक्तिको प्रिय बनानेके लिये ही उन्होंने उपदेश नहीं दिया, बल्कि अपने अनुभूत सत्यको भी प्रकट कर दिया। जैसे—

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्।
किं कर्म यत् प्रीतिकरं मुरारेः
क्वास्था न कार्या सततं भवाब्धौ॥

'अहर्निश ध्येय वस्तु क्या है?—संसारकी अनित्यता और आत्मस्वरूप शिव-तत्त्व। कर्म किसे कहते हैं?—जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों। किसके प्रति आस्था रखना उचित नहीं?—भवसागरके प्रति।' इस श्रीकृष्ण-प्रीतिके द्वारा मनुष्यको सालोक्य, सामीप्य और सायुज्यकी प्राप्ति होती है—इसका समर्थन भी हमें उनके उपदेशोंसे प्राप्त होता है—

फलमपि भगवद्भक्तेः किं तल्लोकस्वरूपसाक्षात्त्वम्।

(प्रश्नोत्तरमाला २७)

भक्तिके प्रयोजन और फल आदि कहकर भी शंकराचार्य तृप्त न हो सके। अथवा यह सोचकर कि आगे चलकर नाना पण्डित नाना प्रकारकी व्याख्या करेंगे, उन्होंने भक्ति-संज्ञा भी निर्धारित कर दी तथा भक्तिका श्रेष्ठत्व स्थापन करनेका प्रयास किया—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते॥

(विवेकचूडामणि ३१)

'मुक्तिके जितने हेतु हैं, उनमें भक्ति ही श्रेष्ठ है। विद्वान् लोग कहते हैं कि स्व-स्वरूपका अनुसंधान ही भक्ति है।'

शंकराचार्यने अपना चरम मत प्रकट करके भी समझा कि भक्तिकी यह संज्ञा सबकी अनुभूतिमें नहीं आ सकती। अतएव उन्होंने दूसरे मतको भी प्रकट किया है—

स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः।

'दूसरे लोग कहते हैं कि स्व और आत्माका अर्थात् जीवात्मा और ईश्वरका तत्त्वानुसंधान ही भक्ति है।'

उनके जीवनमें, आचरणमें सर्वत्र ही भक्तिका प्रभाव देखनेमें आता है। भक्ति आत्मज्ञानकी विरोधिनी नहीं, परिपूरिका है—यह घोषणा उन्होंने अपने उपदेशों, स्तोत्रोंमें सर्वत्र ही समानरूपसे की है।

भावपरिप्लुत हुए बिना कोई भी भावमयी रचनाकी सृष्टि करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। जिसके हृदयमें भक्ति-भाव नहीं है, वह कभी भक्तिमूलक रचनामें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। रचनाकी सिद्धिकी परीक्षा जन-समाजद्वारा होती है। सिद्धिके बारेमें सहज ही जानकारी प्राप्त करनी हो तो जानना होगा कि जन-समाजमें रचयिताके भाव कहाँतक संक्रामित हुए हैं। वे भाव जितना अधिक संक्रामित होते हैं, उतनी ही अधिक सिद्धि सूचित होती है। अब शंकराचार्यकी स्तोत्रावली संकलन करके यह देखा जा सकता है।

भगवद्गीता किंचिदधीता
गङ्गाजललवकणिका पीता।
सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा
तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम्॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।
प्राप्ते संनिहिते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे॥

(चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्)

भक्ति-शब्दके मूल धातुका ही प्रयोग यहाँ किया गया है। यदि 'भजन' और 'भक्ति'को पर्याय-शब्द मानें तो कहना पड़ता है कि भूल न होगी। वे जब जिस देवताकी स्तुति करते हैं, तभी जान पड़ता है कि वे उन्हींके परम भक्त हैं। पर जब जिनके विषयमें विचार करते हैं, तब वहाँ उन्हें भगवान्के रूपमें जान पड़ते हैं। श्रीकृष्ण भक्त शंकराचार्य कहते हैं—

विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां
विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता।
विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति स खलः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥

(कृष्णाष्टकम्)

'जिसके ध्यान बिना जीव सूकर आदि पशुयोनियोंको प्राप्त होता है, जिसको जाने बिना प्राणी जन्म-मरणरूप (भयानक) भवस्थानको प्राप्त होता है तथा जिसके स्मरण बिना वह सैकड़ों (कुत्सित) कीटयोनियोंको प्राप्त होता है, वे शरणागत-शरणदाता, लोकेश्वर श्रीकृष्ण मुझे अपना दर्शन दें।'

इसको पढ़कर बहुत लोग समझेंगे कि श्रीकृष्ण उनके

कुलदेवता हैं, इसी कारण उन्होंने श्रीकृष्णका ऐसा स्तवन किया है।

वे केवल श्रीकृष्णकी ही स्तुति-रचना नहीं करते, वे बहु-देव-देवी-स्तवनमें सिद्ध हो गये हैं। एक और स्तुति उद्धृत की जाती है—

> अलकानन्दे परमानन्दे
> कुरु मयि करुणां कातरवन्द्ये।
> तव तटनिकटे यस्य निवासः
> खलु वैकुण्ठे तस्य निवासः॥
>
> (गङ्गास्तोत्रम्)

'हे अलकापुरीमें विहार करनेवाली, परमानन्दमयी, हे दीन-दुखियोंकी शरणदात्री एवं नमनीया गङ्गादेवी! तुम मुझपर कृपा करो। माँ! तुम्हारे तटपर जो निवास करता है, उसका वैकुण्ठमें निवास निश्चित है।'

भगवान् श्रीशंकराचार्यकी भक्तिके सम्बन्धमें और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं। परंतु इस संक्षिप्त प्रबन्धकी संक्षिप्तताकी रक्षाके लिये बहुत प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं।

शिव ज्ञानकी मूर्ति हैं, परंतु वे भक्तिके भी मूर्त्तस्वरूप हैं। शिवके समान श्रीरामचन्द्रका भक्त कोई नहीं है तथा श्रीरामचन्द्रकी अपेक्षा शिवका भक्त कोई नहीं है। शिवके अवतार शंकराचार्य यदि भक्तिवादी हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

आइये, हम सब शिवावतार भक्तश्रेष्ठ श्रीशंकराचार्यको श्रद्धावनत मस्तकसे प्रणति प्रदर्शित करें।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीकी भक्ति

(लेखक—श्रीगोविन्ददासजी वैष्णव)

आजसे लगभग २६०० वर्ष पूर्व दक्षिण-भारतके प्राचीन तीर्थ मदुरा नगरीमें पाण्ड्यविजय नामक राजा राज्य करते थे। इन महाराज पाण्ड्यविजयके श्रद्धाभाजन कुलगुरु थे—ब्राह्मणश्रेष्ठ देवस्वामी और देवस्वामीकी धर्मपत्नी थीं श्रीमती यशोमती देवी। इन्हीं ब्राह्मण-दम्पतिके पुत्ररत्न थे श्रीविष्णुस्वामी।

विष्णुस्वामी जब बहुत छोटे थे, जब उन्होंने घुटनों चलना प्रारम्भ किया था, उनमें कई अद्भुत बातें प्रकट हो गयी थीं। शैशवमें भी खिलौनोंमें उन्होंने कभी कोई अभिरुचि नहीं दिखायी। चापल्य उनमें आया ही नहीं। माताके साथ तुलसीपूजन, गोपूजन और पिताके साथ संध्या या देवार्चनकी अनुकृति उनके स्वाभाविक कार्य थे। पिता सन्ध्या करने बैठते थे और उनका छोटा-सा बालक समीप बैठकर उन्हींकी भाँति आचमन करनेका प्रयत्न करता था। ये ही शिशु विष्णुके विनोद थे।

थोड़े बड़े होनेपर विष्णुस्वामीने बालकोंको एकत्र करके भगवत्सेवा-पूजाकी क्रीडा प्रारम्भ कर दी। उस समयतक सामान्य पत्र और तुलसीपत्रका अन्तर चाहे उनकी समझमें न आया हो, किंतु वे साथी बालकोंको किसी भी कल्पित मूर्तिकी अर्चना बड़ी तत्परतासे सिखाया करते थे। बच्चोंका समुदाय उनके साथ कभी अपनी मूर्तिको स्नान कराता, कभी फूल-पत्तासे ढकता, नैवेद्य-नीराजनका समारम्भ करता या मूर्तिके आगे पृथ्वीपर मस्तक रखकर प्रणिपात करता।

अध्ययनकालमें पूरा मनोयोग दिया विष्णुस्वामीने और उसीका परिणाम यह हुआ कि सरस्वती-जैसे उनकी सेवामें साक्षात् समुपस्थित हो गयीं।

श्रीकृष्ण ही जीवोंके परम प्रेमास्पद एवं प्राप्य हैं। मनुष्यका सर्वोपरि कर्तव्य श्रीनन्दनन्दनकी सेवा ही है। भक्ति ही श्रुति-स्मृति-पुराण-समर्थित सर्वोपरि श्रेयस्कर साधना है—इस प्रकारके निश्चयमें उन्हें न कोई विकल्प था, न शङ्काके लिये स्थान। भक्ति पितृ-परम्परासे उन्हें प्राप्त थी। वस्तुतः भक्तिके समुद्धारके लिये ही विष्णुस्वामीका अवतार हुआ था। शास्त्रोंके श्रद्धासमन्वित अध्ययनने बुद्धिको निश्चयमें स्थिर कर दिया।

अब विष्णुस्वामीने साधना प्रारम्भ कर दी। वे बालकोचितरूपमें वात्सल्यभावसे भगवान् श्रीबालगोपालकी उपासना करने लगे।* शास्त्रोंकी मर्यादा उनसे छिपी नहीं थी; किंतु उनकी दृढ़ श्रद्धा थी कि प्रतिमा जड मूर्ति नहीं है, वह आराध्यका साक्षात् अर्चाविग्रह है। नैवेद्य निवेदन करनेके अनन्तर वे बड़े कातरभावसे आग्रह करते कि उनके नन्हे गोपाल उसे आरोगें और जब उन्हें नैवेद्यमें कुछ भी कमी नहीं

* सर्वेश्वरं भगवन्तं बालगोपालस्वरूपं बालो बालवृत्त्या सिषेवे।

(मदनाथ-दिग्विजय)

दीखती, तब वे खिन्न हो उठते। उन्हें लगता, अभी मैं इसका अधिकारी नहीं हुआ कि करुणा-वरुणालय श्यामसुन्दर मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

इच्छा, अभिलाषा, उत्कण्ठा बढ़ते-बढ़ते वह वृत्ति अभीप्सा बन गयी। प्रतीक्षाकी विपुल वेदना उसमें अन्तर्हित हो उठी। कभी अश्रुप्रवाह चलता, कभी प्रशान्त बैठे रहते और कभी उन्मत्त-से कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगते।

माताको पुत्रके इस अद्भुत भावको देखकर बड़ी वेदना होती। उनके बालकको यह क्या हो गया है! क्यों वह अपने स्नान-भोजनकी सुधि नहीं रख पाता? किंतु उनकी बातें कोई सुनता नहीं। आचार्य देवस्वामी हँसकर टाल देते। वे कहते—'विष्णुको कुछ नहीं हुआ है। वह परम भाग्यशाली है। अभीसे उसमें भक्तिके दिव्य भावोंका उदय होने लगा है। उसने हमारे कुलको कृतार्थ कर दिया!' भला, ऐसे भाव रखनेवाले स्वामीसे यशोमती देवी क्या कहें? स्वयं विष्णुकी स्थिति ऐसी नहीं कि उससे कुछ कहा जा सके। लगता था वह कुछ सुनता-समझता ही नहीं।

विष्णुस्वामी सचमुच कुछ सुनते-समझते नहीं। उनका मन उनके अपार अध्ययनका आजकल स्पर्श नहीं करता। श्यामसुन्दर आते नहीं, वे मेरा नैवेद्य स्वीकार नहीं करते—पता नहीं इस प्रकारके कितने भाव निरन्तर उनके मनमें उठते रहते। अर्चाका कोई क्रम नहीं रह गया। दिनभर अर्चा। कितनी बार वे अपने गोपालको स्नान कराते, पुष्पोंसे सजाते हैं, नैवेद्य निवेदन करते हैं—कुछ ठिकाना नहीं रह गया। अभी मेरे गोपालने खाया नहीं है, अभी तो उसने स्नान भी नहीं किया है। अब उसे सो जाना चाहिये। जब जो बात ध्यानमें आ जाती, वही क्रिया चलने लगती।

विष्णुस्वामीके हृदयमें, प्राणोंमें और जीवनमें उनका गोपाल बस गया है। उन्हें रात्रिमें निद्रा भी आती कि नहीं, पता नहीं। एक ही कार्य रह गया है, गोपालका स्मरण और उसकी अर्चा। एक-दो दिन नहीं, महीनों, पूरे वर्षतक चलता रहा यह क्रम। इतनेपर भी जब विष्णुस्वामीको भगवत्साक्षात्कार नहीं हुआ, तब वे सोचने लगे—'अहो! मेरे गोपाल मुझपर प्रसन्न नहीं होते, न मेरी सेवाको ही स्वीकार करते हैं और न मेरे अपराध ही बतलाते हैं। इसलिये जबतक श्यामसुन्दर साक्षात् प्रकट होकर दर्शन नहीं देते, तबतक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।' सदा स निरशनं विशाय समर्चनं चकार। धन्य विष्णुस्वामी!

विष्णुस्वामीने अन्न-जलका [illegible] ! गोपाल! तुम नहीं खाते तो [illegible]। तुम मेरे समर्पित अन्नको नहीं पाते तो मैं भी [illegible]। [illegible] अन्न, वे फूल और वह जल [illegible] तुमने स्वीकार न किया हो। [illegible] विष्णुस्वामी को। भगवान्‌के द्वारा अनुपयुक्त नैवेद्य [illegible] वे निराहार रह जाते। आज छः दिन [illegible] विष्णुस्वामीने जलतक ग्रहण नहीं किया। [illegible] ग्रहण करे, यह कैसे सम्भव था!

यद्यपि लगातार छः दिनके उपवाससे विष्णुस्वामीके शरीरमें पर्याप्त शिथिलता आ गयी थी, तथापि उन्होंने अपने विचारोंमें कोई परिवर्तन नहीं किया। [illegible] भगवदाराधनमें संलग्न रहे।

× × × ×

आज विष्णुस्वामीके उपवासका सातवाँ दिन है। [illegible] नहीं कहाँसे विष्णुस्वामीके अत्यन्त [illegible] है। उन्होंने स्नान करके संध्या-वन्दन किया और अपने गोपालकी अर्चा की। समिधाएँ एकत्रित करके अग्नि [illegible]। लोगोंने समझा आज विष्णुस्वामी [illegible] होंगे। वे कहने लगे—'श्यामसुन्दर! [illegible] जन, जिसकी सेवा तुम्हें स्वीकार नहीं। [illegible] तुम्हारे सर्वात्मरूपका [illegible]। मैं अपने इस शरीरसे तुम्हें समर्पित करता हूँ।'

'प्रिय विष्णु!' [illegible] हो। भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु कृपानिधि भगवान् [illegible] हो गये। नवनील-नीरद-श्याम, [illegible] वनमाली श्रीहरि मन्द-मन्द मुस्करा [illegible]। [illegible] स्वतः शान्त हो गयी और [illegible] ज्योत्स्नासे परिपूर्ण हो गया। [illegible] की घनीभूत वह श्याम [illegible] मेरे स्वरूप ही हो। [illegible] सन्देह क्यों है कि तुम्हारी [illegible] मुझे [illegible] नहीं है। देखो मैं छः दिनोंसे भूखा हूँ। तुमने [illegible] भूखा रखा है। बैठो, अब हम दोनों [illegible]।'

भगवान्‌के दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यको देखकर विष्णुस्वामी मुग्ध हो गये। प्रभुकी प्रेमभरी वाणीको सुनकर [illegible] में निमग्न हो गये। उन्होंने [illegible]! आप शरणागतवत्सल हैं। [illegible] हूँ

अपराध किया है, उसे आप कृपामूर्ति कृपया क्षमा करें।'

विष्णुस्वामीकी प्रार्थना सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स! तुम्हारी क्या इच्छा है? मैं उसे पूर्ण करूँगा।' विष्णुस्वामीने कहा—'प्रभो! आपने निजजन जानकर मुझे दर्शन दिया, इससे मैं कृतकृत्य हो गया। अब आप मुझे श्रीचरणोंकी नित्यसेवा प्रदान करें, यही प्रार्थना है।' श्रीभगवान् बोले—'सौम्य! तुम्हारा अवतार संसारमें भागवत धर्मका प्रचार करनेके लिये हुआ है। इसलिये तुम अभी कुछ काल जगत्में रहकर मेरा यह प्रिय कार्य करो।' यह कहकर श्रीभगवान्ने विष्णुस्वामीको शरणागति-पञ्चाक्षर-मन्त्र ('कृष्ण! तवास्मि') प्रदान किया और बतलाया कि यह मन्त्र शरणागत जनोंको देना चाहिये। पुनः प्रभुने अपने श्रीकण्ठकी तुलसी-दल-विरचित माला स्वकर-कमलोंसे तुलसी-मन्त्रोच्चारणपूर्वक विष्णुस्वामीके गलेमें पहना दी और आज्ञा की—'तुम श्रीव्यासदेवसे ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य और आचार्य त्रिपुरारिसे साम्प्रदायिक दीक्षा ग्रहण करके मेरे द्वारा प्रवर्तित रुद्र-सम्प्रदायकी जगत्में प्रतिष्ठा करो। श्रीव्यासदेव कल्पग्राममें तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब यह व्याकुलता छोड़ो और इतने सुस्थिर बनो कि वहाँ जा सको। उसके आगेका कार्य अपने-आप सम्पन्न होता रहेगा। और कोई तुम्हारी अभिलाषा हो तो कहो।'

विष्णुस्वामीने प्रार्थना की—'भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो इसी स्वरूपसे सदा यहाँ निवास करें। मैं राजोपचार-विधिसे आपकी सेवा करना चाहता हूँ।'

श्रीभगवान् बोले—'सौम्य! कलिकालमें साक्षात् रूपसे यहाँ मेरी निरन्तर स्थिति अपनी ही बनायी मर्यादाके अनुरूप नहीं है।' विष्णुस्वामीको भगवान्का यह भाव स्वीकार करना पड़ा और स्वयं चिद्वपु श्रीकृष्ण उन्हें श्रीविग्रहके रूपमें प्राप्त हुए। अब विष्णुस्वामी उन्हीं विग्रहरूप प्रभुकी परम प्रेमके साथ अर्चा करने लगे।

भगवता विष्णुस्वामिनं प्रत्युक्तम्। सौम्य! भगवद्गीता श्रीभागवतं मे शास्त्रे, अहमेव देव एक एव। कृष्ण! तवास्मीति पञ्चाक्षरवाक्येनात्मनिवेदनम्, नामैव मन्त्रः, महाराजोपचारविधिना सेवैव कर्म। यस्त्वत्सम्प्रदायी भूत्वा यशोदागोपीजनोद्धवादिवत् परिचरिष्यति मां प्रतिमारूपमपि साक्षान्मत्वा, तत्कृतां सेवां पुरावद्ग्रहीष्यामि।*

भगवान्ने विष्णुस्वामीको उत्तर दिया, 'सौम्य! भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत मेरे दो शास्त्र (आप्तग्रन्थ) हैं, मैं ही एकमात्र उपास्य हूँ; 'कृष्ण! तवास्मि' इस पञ्चाक्षर मन्त्रसे आत्मनिवेदन किया जाता है, मेरा नाम ही मन्त्र है, महाराजोपचारविधिसे मेरी सेवा करना ही कर्तव्य है। जो तुम्हारे सम्प्रदायमें दीक्षित होकर यशोदा, गोपीजन एवं उद्धवादिकी भी भाँति मेरे अर्चा-विग्रहको भी मेरा साक्षात् रूप मानकर मेरी परिचर्या करेगा, उसकी सेवाको मैं सदाकी भाँति स्वीकार करूँगा।'

× × × ×

आश्रममें सातवें दिन उल्लास आया। पुत्रको सुस्थिर पाकर माता आनन्द-गद्गद हो गयी। विष्णुने श्रीकृष्णको साक्षात् पाया, इस समाचारने ही देवस्वामीको इतना तन्मय कर दिया कि पूरे मुहूर्त भर वे प्रेम-समाधिमें मग्न रहे। धन्य हो गयी मदुरा नगरी, जहाँ श्रीविष्णुस्वामीकी आराधना सफल हुई।

विष्णुस्वामीने आगे चलकर 'वैष्णवाचार्य' पदवीको ग्रहण किया और वे वैष्णवाचार्योंमें प्रमुख माने गये। इनके सम्प्रदायके वैष्णव व्रज तथा अन्य प्रान्तोंमें भी अद्यावधि विद्यमान हैं। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यने इन्हीं विष्णुस्वामीके मतको आधार बनाकर अपने पुष्टि-सम्प्रदाय (अनुग्रह-मार्ग)-की स्थापना की।

भक्तिकी प्राप्ति परमधर्म

यम कहते हैं—

> एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
> भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
>
> (श्रीमद्भा० ६।३।२२)

'इस जगत्में जीवोंके लिये बस, यही सबसे बड़ा कर्तव्य—परमधर्म है कि वे नाम-कीर्तन आदि उपायोंसे भगवान्के चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें।'

* सम्प्रदायप्रदीप, तृतीय प्रकरण।

श्रीरामानुजाचार्यकी भक्ति

भगवान् श्रीरामानुजाचार्यका सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। इस सम्प्रदायकी आचार्य-परम्परामें सर्वप्रथम आचार्य भगवान् श्रीनारायण माने जाते हैं। उन्होंने निज स्वरूपाशक्ति श्रीमहालक्ष्मीजीको श्रीनारायण-मन्त्रका उपदेश किया। करुणामयी स्नेहमयी माताने भगवान्के पार्षदप्रवर श्रीविष्वक्सेनजीको उपदेश मिला। उन्होंने श्रीशठकोप स्वामीको उपदेश दिया। तत्पश्चात् वही उपदेश परम्परासे श्रीनाथमुनि, पुण्डरीकाक्षस्वामी, श्रीराममिश्रजी तथा श्री-यामुनाचार्यजीको प्राप्त हुआ।

आचार्य श्रीरामानुज अभेद-प्रतिपादक एवं भेद-प्रतिपादक तथा निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्मकी प्रतिपादिका—दोनों ही प्रकारकी श्रुतियोंको सत्य और प्रमाण मानते हैं। वे कहते हैं कि अभेद और भेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें परस्पर विरोध नहीं है। अभेद-प्रतिपादक वाक्य एकके अंदर तीन (ब्रह्म-प्रकृति-जीव) का वर्णन करते हैं और भेद-प्रतिपादक वाक्य उन तीनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं। इसी प्रकार जहाँ निर्गुणका वर्णन है, वहाँ यह भाव समझना चाहिये कि ब्रह्ममें कोई प्राकृत गुण नहीं है; और जहाँ सगुणका वर्णन है, वहाँ यह भाव है कि ब्रह्ममें स्वरूपभूत अलौकिक गुण हैं, जो जड प्रकृति या जीवात्मामें नहीं हैं।

श्रीरामानुजाचार्यके मतसे ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म-चेतनाविशिष्ट पुरुषोत्तम हैं, वे सगुण और सविशेष हैं। ब्रह्मकी शक्ति माया है। ब्रह्म अशेष कल्याणकारी गुण-गणोंके आकर हैं। उनमें निकृष्ट कुछ भी नहीं है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, समस्त द्रव्य-शरीरत्व, चिदचित्-शरीरत्व आदि उनके लक्षण हैं। वे सूक्ष्म चिदचिद्-विशेषरूपमें जगत्के उपादान-कारण हैं और संकल्प-विशिष्टरूपमें निमित्त-कारण हैं; यों वे ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं। जीव और जगत् उनका शरीर हैं, भगवान् आत्मा हैं। वे सृष्टिकर्ता, कर्मफलदाता, नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अपार कारुण्य-सौशील्य-वात्सल्य-औदार्य-ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि अनन्तानन्त सद्गुणोंके महान् सागर सर्वाधीश्वर भगवान् नारायण हैं। ईश्वरका स्वरूप पाँच प्रकारका है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। वे शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री-भू-लीलादेवीसे समन्वित दिव्याभूषणोंसे भूषित हैं।

जगत् जड है। जगत् ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म जगत्के रूपमें परिणत हैं, तथापि वे निर्विकार हैं। जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं है। जीव भी ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म और जीव दोनों ही चेतन हैं। ब्रह्म विभु है और जीव अणु है; ब्रह्म पूर्ण है, जीव खण्डित है; ब्रह्म ईश्वर है और जीव दास है; ईश्वर कारण है, जीव कार्य है। जीव देह-इन्द्रिय-मन-प्राण आदिसे भिन्न है। जीव नित्य है, उसका ज्ञान भी नित्य है। प्रत्येक शरीरमें जीव भिन्न-भिन्न है। कर्मविवश ही जीव फलभोग-को प्राप्त होता है। जीव ही कर्ता-भोक्ता है। जीवके पाँच भेद हैं—नित्य, मुक्त, केवल, मुमुक्षु और बद्ध।

दिव्यधाम श्रीवैकुण्ठमें श्री-भू-लीला आदि देवियोंके सहित भगवान् नारायणकी सेवाका प्राप्त होना ही 'परम पुरुषार्थ' है। भगवान्के इस दास्यकी प्राप्ति ही मुक्ति है। भगवान्के साथ अभिन्नता कभी सम्भव नहीं, क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य है, वह नित्य दास है, नित्य अणु है। वह कभी विभु नहीं हो सकता। वैकुण्ठमें अपार कल्याणगुण-गण-महोदधि भगवान् नारायणके नित्य दास्यको प्राप्त होकर मुक्त जीव दिव्यानन्दका अनुभव करते हैं।

इस मुक्तिके उपाय पाँच हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्ति-योग, प्रपत्तियोग और आचार्याभिमानयोग। ये पाँचों ही भक्तिके अङ्ग हैं। केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो सकती। भक्ति-से प्रसन्न होकर दयामय भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। वेदन, ध्यान, उपासना आदि शब्दोंसे भक्ति ही लक्षित होती है।

न्यासविद्या ही प्रपत्ति है। अनुकूलताका संकल्प, प्रति-कूलताका त्याग, भगवान्में सुदृढ़ विश्वास, आत्मसमर्पण, इस प्रकारसे केवल श्रीभगवान्के शरण हो जाना ही प्रपत्ति है। विभु, भूमा, सर्वेश्वर श्रीभगवान्के श्रीचरणोंमें पूर्ण आत्म-समर्पण करनेसे मुक्ति मिल सकती है। अतः सर्वस्व निवेदन-रूप शरणागति-भक्ति ही भगवान्की प्राप्तिका प्रधान साधन है।

श्रीनिम्बार्काचार्य और भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीपरमानन्ददासजी)

श्रीश्रीनिम्बार्काचार्यने साधकोंको परम मोक्षकी प्राप्ति करानेके लिये 'ब्रह्म'की साधना ही प्रवर्तित की है। उन्होंने बतलाया कि अमूर्त मूलरूपकी उपासनाकी अपेक्षा प्रकाशित मूर्तरूपकी उपासना ही जीवके लिये अधिक प्रशस्त है। अतएव निम्बार्क-सम्प्रदायके साधक सत्त्वगुणाधिपति 'भगवान् श्रीकृष्ण'की उपासनाको ही मुख्यरूपसे ग्रहण करते हैं। इस श्रेणीके वैष्णवजन 'श्रीकृष्ण और श्रीराधिका'-रूप युगल मूर्तिकी उपासनाका विशेषरूपसे अवलम्बन करके भी उसको सर्वविषयक ब्रह्मबुद्धिके अङ्गरूपमें ही ग्रहण करते हैं। इस विशिष्ट साधनका वर्णन करनेके पहले, श्रीनिम्बार्क स्वामीने ब्रह्मका जो स्वरूप-निरूपण किया है तथा ब्रह्म-प्राप्तिके लिये भक्तियोगके अन्तर्गत भक्तोंको जिस साधनका अवलम्बन करनेके लिये कहा है, उसका किंचित् परिचय देना आवश्यक है।

ब्रह्म चिदानन्दस्वरूप अद्वैत सत्पदार्थ है। ब्रह्मका स्वरूप श्रीनिम्बार्काचार्यने 'चतुष्पादविशिष्ट' रूपमें वर्णन किया है। (क) दृश्यस्थानीय अनन्त जगत् प्रथम पाद है। (ख) इस जगत्के पदार्थोंको विभिन्न रूपोंमें देखनेवाला द्रष्टा जीव द्वितीय पाद है। (ग) अनन्त जागतिक पदार्थोंका पूर्ण और नित्यद्रष्टा ईश्वर तृतीय पाद है। (घ) इन तीनों रूपोंसे विवर्जित नित्य, एकरस, आनन्दमात्रका अनुभव करनेवाला चतुर्थ पाद है, जिसका एकान्त अक्षर पादके नामसे श्रुतिने वर्णन किया है।

इस सम्बन्धमें वेदान्तदर्शनके अपने भाष्यमें श्रीनिम्बार्क स्वामीने द्वैताद्वैत-मीमांसा (भेदाभेदवाद) की स्थापना की है। इस सिद्धान्तके अनुसार दृश्यमान जगत् और जीव दोनों ही मूलतः ब्रह्म हैं, परंतु जीव और जगत् मात्रमें ही उनकी सत्ता समाप्त नहीं होती। इन दोनोंके अतीत भी उनका स्वरूप है। इन दोनोंसे अतीत स्वरूप ही जगत्का मूल उपादान कारण है। जगत् और जीव ब्रह्मके ही अंशमात्र हैं। अंशके साथ अंशीका जो भेदाभेद-सम्बन्ध है, जगत् और जीवके साथ ब्रह्मका भी वैसा ही सम्बन्ध है। अंश सम्पूर्ण अवयवमें अंशीका अङ्ग है, अतएव अभिन्न है और अंशी अंशको अतिक्रम करके भी स्थित है, अंशमात्रमें ही अंशीकी सत्ता समाप्त नहीं होती; अतएव अंशी अंशसे भिन्न भी है। अतएव दोनोंके सम्बन्धको भेदाभेद-सम्बन्धके नामसे निर्देश करना पड़ता है। अंशांशि-सम्बन्ध और भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत-सम्बन्ध एक ही अर्थके ज्ञापक हैं।

ब्रह्म अपने चिदंशके द्वारा अपने स्वरूपगत आनन्दका अनुभव (भोग) करता है। उनका स्वरूपगत आनन्द भूमा है, अनन्त है। इस आनन्दकी अनन्तरूपमें मुक्त होनेकी योग्यता है तथा उसके स्वरूपगत चित्-शक्तिमे भी अनन्तभावसे प्रसारित होकर इस आनन्दको अनन्तरूपमें अनुभव करनेकी योग्यता है। जैसे सूर्यदेव अपने स्वरूपानुरूप अनन्त तेजोमयी रश्मियोंको फैलाकर अपने आश्रयस्वरूप आकाशको तथा आकाशस्थ सारी वस्तुओंको सर्वांशमें स्पर्श और प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मका भी स्वरूपगत चिदंश अनन्त सूक्ष्म चिदात्मक भागोंमें अपनेको विभक्त करके अनन्त रूपोंमें अपने स्वरूपगत आनन्दका अनुभव और प्रकाश करता है। ये सब सूक्ष्म चिदंश (चित्-अणु) ही जीव हैं; तथा ब्रह्मके स्वरूपगत आनन्दको जो जीव अनन्त विभिन्न और विशेषरूपोंमें अनुभव (दर्शन) करता है, उन सारे विभिन्न रूपोंकी समष्टि ही जगत् है। ब्रह्मके स्वरूपगत अनन्त आनन्दको विशेष-विशेषरूपमें दर्शन (अनुभव) करनेके निमित्त ही जीव-शक्तिका प्राकट्य है। अतएव जीवस्वरूप व्यष्टि द्रष्टा है—ब्रह्मके स्वरूपगत आनन्दके विशेष-विशेष अंशका द्रष्टा है। परंतु ब्रह्म अपने स्वरूपगत आनन्दको अनन्त विभिन्न रूपोंमें समग्रभावसे एक साथ भी अनुभव करता है। उसकी चित्-शक्ति उन सबको एक ही साथ अपने ज्ञानका विषय भी बनाती है।

इन सभी अनन्त रूपोंका समग्र दर्शन करनेवाले रूपमें ब्रह्मको 'ईश्वर' संज्ञा दी गयी है। अतएव ईश्वररूपी ब्रह्म सर्वज्ञ और जीव विशेषज्ञ है। समग्र-द्रष्टा ईश्वरके दर्शनके अङ्गरूपमें व्यष्टि-दर्शनकारी प्रत्येक जीवका विशेष-विशेष दर्शन है। समग्र-दर्शनमें जो कुछ है, उसको अतिक्रम करके तदन्तर्गत विशेष-दर्शनमें कुछ नहीं रहता और न रह सकता है। अतएव विशेष-दर्शनकारी जीव सर्वदा ही ईश्वरके अधीन है। वह ईश्वरको कदापि अतिक्रम नहीं कर सकता। वस्तुतः जीव और जगत्का नियन्ता होनेके कारण ब्रह्मकी 'ईश्वर' संज्ञा है, यह

ईश्वररूपी ब्रह्म ही सर्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलयका एकमात्र कारण है। ईश्वरब्रह्म, जीवब्रह्म और जगद्ब्रह्म—यह त्रिविध रूप अक्षरब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित है। इस अक्षर ब्रह्मको ही 'निर्गुण ब्रह्म' अथवा 'सद्ब्रह्म' कहते हैं। यह चिदानन्द-स्वरूप सद्वस्तु है, जो अपने स्वरूपगत आनन्दका निर्विशेषरूपमें नित्य अनुभव करता है। इसमें किसी प्रकारकी विशेष क्रिया नहीं होती। यह नित्यानन्दमें एकरसनिमग्न रहता है।

यह निर्गुण ब्रह्म ही जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। ब्रह्म ही जगत्का कारण है, अतएव उसकी केवल निर्गुणरूपमें व्याख्या नहीं की जा सकती। गुण गुणीसे अभिन्न, गुणीका ही गुण होता है।

सर्वरूप और अरूप, सर्वरूपमय और सर्वरूपातीत, प्राकृत-गुणातीत अथच सम्पूर्ण जगत्के नियन्ता और आश्रय-स्वरूप इस ब्रह्मको भक्तिके द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। भक्ति ही इस पूर्णब्रह्मकी प्राप्तिका पूर्ण साधन है। अपनेको तथा समग्र विश्वको ब्रह्मरूपमें चिन्तन करना भक्तिमार्गका अङ्ग है। भक्तिमार्गके साधकके लिये अनात्म नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। वह अपनेको जिस प्रकार ब्रह्मसे अभिन्न-रूपमें चिन्तन करता है, उसी प्रकार परिदृश्यमान समस्त जगत्को भी ब्रह्मसे अभिन्नरूपमें चिन्तन करता है। ब्रह्मको जीव और जगत्से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अच्युत और आनन्दमयरूपमें भी चिन्तन करता है। इस भक्तिमार्गकी उपासनाकी केवल सगुण-उपासनाके रूपमें व्याख्या समीचीन नहीं है। भक्तिमार्गकी उपासना त्रिविध अङ्गोंमें पूर्ण होती है। जगत्का ब्रह्मरूपमें दर्शन इसका एक अङ्ग है, जीवकी ब्रह्मरूपमें भावना इसका द्वितीय अङ्ग है तथा जीव और जगत्-से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाश्रय और आनन्दमय रूपमें ब्रह्मका ध्यान इसका तृतीय अङ्ग है। उपासनाके प्रथम दो अङ्गोंके द्वारा साधकका चित्त सर्वतोभावेन निर्मल हो जाता है और तृतीय अङ्गके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न होता है। भक्तकी दृष्टिमें ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही है। जागतिक कोई भी वस्तु केवल गुणात्मक नहीं है, ब्रह्मसे विच्छिन्न होकर गुण रह ही नहीं सकते। गुणोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। भक्त साधक जिस किसी मूर्तिका दर्शन करते हैं, उसीको ब्रह्म समझकर उसके प्रति स्वभावतः प्रेमयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार चित्तके सर्वविध द्वैत-धारणा और अज्ञतासे विमुक्त एवं निर्मल हो जानेपर पर-ब्रह्ममें सम्यक् निष्ठा उदित होती है। इसीको शास्त्रोंमें 'परा-भक्ति'के नामसे उल्लेख किया गया है। इसीके द्वारा परब्रह्मका साक्षात्कार होता है। भक्तिकी प्राथमिक अवस्थाको 'साधन-भक्ति' कहते हैं। इसके द्वारा चित्त प्रसादित होकर जब अनन्तताको प्राप्त होता है, तब परा-भक्ति नामक भक्तिकी चरम अवस्था उपस्थित होती है।

श्रीश्रीभगवद्विग्रहकी ब्रह्मरूपमें उपासना, जो ईशबुद्धिके ऊपर प्रतिष्ठित है, साक्षात्-सम्बन्धसे मोक्षप्रद न होनेपर भी चित्तको निर्मल बनाकर थोड़े ही समयमें और थोड़े ही आयाससे अद्वैतज्ञान उत्पन्न कर देती है। इस अद्वैतज्ञानके प्रतिष्ठित होनेपर पराभक्ति अपने-आप उदित होती है और साधक अन्तमें ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करके मोक्ष लाभ करता है।

श्रीश्रीराधा-कृष्ण युगलमूर्तिकी उपासनाको [illegible] ग्रहण करके श्रीनिम्बार्क स्वामीने इनके स्वरूप, गुण, [illegible] का [illegible] सा वर्णन किया है, उसकी कुछ [illegible] है। ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त जो साधक [illegible] हैं, वे पहले ब्रह्मके स्वरूप, गुण, शक्ति [illegible] स्वरूप और जीव-जगत् जिस प्रकार ब्रह्मसे [illegible] सम्बन्धसे सम्बद्ध है—इसका विचार [illegible] लेते हैं, तत्पश्चात् ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त [illegible] होते हैं। उनकी इस मननशीलताको [illegible] सर्वोच्च अवस्था' ही ब्रह्मका साधन [illegible] चित्तके आवरणको भेदकर ब्रह्मप्राप्ति [illegible] इसके स्वरूप, गुण और शक्तिके सम्बन्धमें [illegible] उनका माहात्म्य-ज्ञान प्राप्त कर, उनकी प्राप्ति [illegible] में ऐकान्तिकभावसे अपनेको [illegible] होकर धीरे-धीरे ब्रह्मसारूप्य लाभ [illegible] मार्ग ही बुद्धिको [illegible] समधिक फलप्रद है।

महाप्रलयके बाद सृष्टिके [illegible] परमात्मा अपनी सर्वव्यापिनी [illegible] उद्बोधित करके क्रमशः अपनी प्रकृति ([illegible] उद्बोधित करते हैं। सत्त्व, रज और [illegible] गुण हैं। वे परम पुरुष [illegible] संहार करनेके लिये इन तीनों गुणोंको [illegible] ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर [illegible] जगत्में निर्मल सत्त्व ही ज्ञान और आनन्दके [illegible]

ग्रहण करता है। इस सत्त्वगुणसे अधिष्ठित पुरुषके रूपमें ब्रह्मकी 'श्रीकृष्ण' और 'विष्णु' संज्ञाएँ होती हैं। उनका गोलोकाधिपति रूप—श्रीकृष्णरूप समस्त जागतिक जीवोंके अशेष कल्याणका साधक और मुक्तिप्रद है। वे ब्रह्मके अमूर्त और मूर्तरूपके मध्यस्थानमें सेतुके स्वरूपमें स्थित होकर साधारण जीवोंके मोक्षके प्रधान हेतु बनते हैं। श्रीकृष्ण विशुद्ध ज्ञानमय देहसे सर्वात्मरूपमें सर्वदा विराजित रहते हैं। मैं ब्रह्मसे भिन्न हूँ—ऐसा बोध उन्हें किसी कालमें नहीं होता। वे विज्ञानमात्र हैं, कर्म-बन्धनसे रहित हैं, निर्मल हैं। प्रकृतिके गुणोंसे युक्त रहनेपर भी वे सच्चिदानन्दमयके शुद्ध-सत्त्व-स्वरूपमें निर्मल पदके एकमात्र अधिकारी हैं। प्रकृतिका सात्त्विक अंश खूब सहज नहीं है, यह सृष्ट तो है; परंतु सृष्ट होनेपर भी जो उसकी यथार्थताको सम्यक्‌रूपमें जान पाता है, उसे फिर कभी इस संसारमें जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता। चिन्मय-देहधारी श्रीकृष्ण नित्य सहज जीवन्मुक्तरूपमें स्थित रहते हैं, वे ज्ञानके आधार हैं। सच्चिदानन्दमयकी सूक्ष्म सृष्टिके अन्तर्गत, शुद्ध सत्त्वगुणका अवलम्बन करके स्थित रहनेवाले, विज्ञानमात्र ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर गौण ईश्वररूपमें माने जाते हैं। ये ईश्वर-गण एवं इनकी शक्तियाँ जगत्‌का कल्याण करनेके निमित्त अवताररूपमें प्रकट होती हैं।

प्राकृतिक बाह्य जगत्‌के समान जीव-जगत्‌में भी जब अधर्मकी वृद्धि होनेसे जन-समाज अतिशय हीन दशामें पहुँच जाता है, जब अत्याचारके कारण नर-नारियोंकी कष्टसूचक हाहाकारकी ध्वनि गगनमण्डलको व्याप्त करके ऊपरकी ओर उठती है, तब उनके दुःखभारको दूर करनेके लिये तथा नष्ट हुए धर्म-साधनोंको पुनः संस्थापित करनेके लिये जगन्नियन्ता भगवान्‌की विशेष-विशेष शक्तियाँ जगत्‌में आविर्भूत होती हैं। जब उनके यत्न और चेष्टाके द्वारा अशुभ-राशि विलुप्त नहीं होती, तब सर्वशक्तिसम्पन्न महापुरुषके रूपमें श्रीभगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि ईश्वरोंके अंशसे अपने-आपको आविर्भूत करते हैं। परंतु विष्णु ही जगत्‌का मङ्गल करनेवाली पालिनी-शक्तिकी मूर्ति हैं। अतएव अधिकांश स्थलोंमें विष्णुके अंशसे ही श्रीभगवान् अवतार लेते हैं। इतना ही नहीं, 'वे स्वयं ही मोक्षधर्मके उपदेष्टा बनते हैं; क्योंकि अज्ञ जीवोंके लिये उनके तत्त्वका उपदेश करना कठिन है। अतएव जब जीवकी मुक्ति-पिपासा बढ़ती है, तब उसका यथार्थ मार्ग-प्रदर्शन करनेके लिये भी श्रीभगवान्‌का अवतार हुआ करता है। इस प्रकार जब-जब भगवान् जीवमण्डलमें अवतीर्ण होते हैं, तब-तब वैसी शक्ति प्रकट करनेके लिये ही वे आविर्भूत होते हैं और वैसी ही शक्तिके अनुरूप उनके देहावयव भी गठित होते हैं।

भगवदवतारकी सारी मूर्तियाँ जनसाधारणके लिये उपास्य होती हैं। समग्र विश्वमें व्याप्त तथा विश्वातीत ब्रह्मका ध्यान जिनकी बुद्धिमें नहीं आता, जो लोग भेद-बुद्धिके कारण सर्वत्र समदर्शन करनेमें असमर्थ होते हैं, उनके लिये भगवत्-विग्रहका पूजन ही उत्कृष्ट भक्तिमार्गका साधन है। प्रेमपूर्वक उन विग्रहोंका ध्यान, उन विग्रहोंके अनुरूप मन्त्रोंका कीर्तन, जप और स्मरण करनेसे साधक उनका सारूप्य प्राप्त करता है। अनन्यचित्तसे अवताररूपी भगवान्‌का नाम-स्मरण, उनके रूपका ध्यान, उनके गुण और कीर्ति—इन सबका चिन्तन करके साधक तन्मयता प्राप्त करता है। अतएव उस तन्मयताके कारण उनका जो सर्वमय भाव है, वह अपने-आप ही अधिकृत हो जाता है, और साधककी क्रमशः सर्वोत्तम अधिकारियोंमें गणना हो जाती है। यही भारतीय साकार उपासना है, यही भगवदुपासना है। यह भक्तिमार्गका अति सहज और प्रकृष्ट साधन है। अन्तर्यामी भगवान् साधककी भक्तिके वशीभूत होकर उस मूर्तिके द्वारा ही साधकके सारे मनोरथोंको पूर्ण करते हैं। ब्रह्म सर्वगत है। अतएव प्रतिमा भी ब्रह्ममयी है। प्रतिमामें ब्रह्मबुद्धिकी धारणा करते-करते जब भक्तकी धारणा-शक्ति क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होती है, तब उसका मन अपने-आप प्रशस्त हो उठता है तथा वह साधक आगे चलकर सारे विश्वकी ब्रह्मरूपमें धारणा करनेमें समर्थ हो जाता है। वह विचक्षण साधक अन्तमें सम्पूर्ण विश्वको भी लाँघकर तदतीत परब्रह्मका ध्यानके द्वारा साक्षात्कार कर सकता है। इस प्रकार प्रतिमाकी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करनेपर साधकके लिये प्रतिमामें ही ब्रह्मत्व प्रकट हो जाता है। परन्तु इससे ब्रह्मको प्रतिमात्व-की प्राप्ति नहीं होती। सूर्यादि प्रतीकोंमें भी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करनेकी विधि शास्त्रादिमें कथित है। ब्रह्मसूत्रमें वेदव्यासने उसका सुस्पष्टरूपमें वर्णन किया है। कनिष्ठ अधिकारी-के लिये ही प्रतिमामें ब्रह्मकी अर्चनाकी व्यवस्था की गयी है। श्रीमद्भागवतमें भी श्रीभगवान्‌की इस प्रकारकी उक्ति पायी जाती है—'सर्वभूतोंमें स्थित ईश्वररूपी मेरा जबतक अपने हृदयमें अनुभव न कर सके, तबतक मनुष्य अपने आश्रमोचित कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ प्रतीक आदिमें मेरी उपासना करे।' जगत्‌का विशेष कल्याण करनेवाले भगवान्‌के जो रूप हैं, आर्यशास्त्रोंमें उनके ध्यान और उपासनाकी व्यवस्था की

गयी है। वस्तुतः किसी भी पुरुषके विषयमें महत्त्वबुद्धि होनेपर उसके प्रति स्वयं ही भक्ति उत्पन्न हो जाती है। जब इस प्रकार सर्वत्र महत्ताके चिन्तनसे भक्ति उद्दीपित हो जाती है, तब ब्रह्मभावकी स्थापना अपेक्षाकृत सहज हो जाती है।

विशेष शक्ति-सम्पन्न तथा विशेष उपकारीकी उपासना और ध्यानमें जैसे एक ओर साधककी भक्ति स्वभावतः ही उद्दीपित होती है, उसी प्रकार दूसरी ओर वे विभूतिसम्पन्न महात्मागण भक्तिपूर्वक उपासित होनेपर कृपा-परवश होकर साधककी सहायता तथा कल्याण-साधन करते हैं। विशिष्ट रूपोंमें अभिव्यक्त जितनी ब्रह्मकी मूर्तियाँ हैं, उनमें जीवकी स्थिति सुधारनेवाले, कल्याणप्रद और मुक्तिदायक तथा सर्वापेक्षा अधिक निर्मल सत्त्वगुणमय गोलोकाधिपति श्रीकृष्णकी मूर्ति सर्वापेक्षा प्रधान है—यह बात पहले कही जा चुकी है। तथा जगत् ब्रह्मका अंश है, अतएव सत्य है—इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। गोलोकाधिपति भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य-लोकके कल्याणके लिये यदुकुलमें आविर्भूत हुए थे। अतएव निम्बार्कीय वैष्णवगण जगत्‌को सत्य और ब्रह्ममय मानते हैं तथा विशेषरूपसे श्रीकृष्णकी उपासनामें प्रवृत्त होते हैं।

श्रीनिम्बार्क स्वामीने अपने 'वेदान्त-कामधेनु' नामक संक्षिप्त ग्रन्थमें जगत्‌की ब्रह्मात्मकताके विषयमें निम्नलिखित श्लोकमें अपना सिद्धान्त प्रकट किया है—

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता॥

'यह सब कुछ विज्ञानमय है, अतएव यथार्थ है; क्योंकि श्रुति और स्मृतिने सर्वत्र निखिल विश्वको ब्रह्मात्मक रूपमें सिद्ध किया है। यही वेदज्ञोंका मत है। और ब्रह्मकी त्रिरूपता (प्रकृति, पुरुष और ईश्वररूपता) भी श्रुतियोंमें तथा ब्रह्मसूत्रमें भी स्थापित की गयी है।'

भगवान् श्रीकृष्ण ही निम्बार्कीय वैष्णवोंके विशेषरूपसे उपास्य हैं—यह भी श्रीनिम्बार्क स्वामीने इस ग्रन्थमें बतलाया है—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्॥

'भक्तोंकी इच्छासे जिन्होंने मनोहर विग्रह [illegible], जिनकी शक्तिकी इयत्ता नहीं, उन अचिन्त्य [illegible] श्रीकृष्णके ब्रह्मा, शिव आदिके द्वारा वन्दित [illegible] सिवा जीवकी अन्य कोई गति दृष्टिगोचर नहीं होती।'

उनकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए श्रीनिम्बार्क [illegible] पुनः कहते हैं—

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा॥

'दैन्यादि गुणोंसे युक्त पुरुषोंके ऊपर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा प्रकट होती है। इस कृपाके [illegible] परमात्मामें प्रेमविशेषरूपा भक्ति उत्पन्न होती है। [illegible] भक्ति दो प्रकारकी है, एक साधनरूपा [illegible] भक्ति और दूसरी उत्तमा—परा भक्ति।'

परंतु निम्बार्क-सम्प्रदायके उपास्यदेव भगवान् श्रीकृष्ण होनेपर भी निम्बार्कीय वैष्णवगण उनकी [illegible] को ही समधिक फलप्रद मानते हैं। भगवान्‌के [illegible] जैसे श्रीकृष्ण मूर्ति प्रधान है, [illegible] उसी प्रकार प्रधान है। [illegible] शक्ति है। [illegible] भगवन्मूर्तिकी [illegible] फल होते हैं, उन्हींके अन्तर्गत [illegible] है कि उनसे असीम [illegible] है। भगवान्‌के [illegible] अर्चना करनेसे [illegible] है और [illegible] दर्शन करते-करते [illegible] निर्मलत्व लाभ करता है। [illegible] करते हुए श्रीनिम्बार्क स्वामी [illegible] ग्रन्थमें लिखते हैं—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥

अङ्के तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

'जो स्वभावतः सर्वप्रकारसे दोषवर्जित हैं, जिनमें पूर्णरूपेण कल्याणजनक सारे गुण विद्यमान हैं, (महाविराट् आदि) चतुर्विध व्यूह जिनके अङ्ग हैं, जो सबके द्वारा वरणीय हैं, जिनके नेत्र कमलके समान हैं, उन परब्रह्म श्रीकृष्णरूप हरिका मैं ध्यान करता हूँ ।

'इनके वामाङ्कमें प्रसन्नवदना वृषभानुनन्दिनी विराजित हैं । ये श्रीकृष्णके अनुरूप ही सौन्दर्यादि गुणोंसे समन्वित हैं। सहस्र-सहस्र सखियाँ नित्य-निरन्तर इनकी सेवामें लगी रहती हैं। इस प्रकार समस्त अभीष्ट प्रदान करनेवाली देवी श्रीराधिकाका मैं ध्यान करता हूँ ।'

सर्वजीवोंमें भगवद्बुद्धि स्थापित करके, द्वेष, हिंसा, मिथ्याभाषण, कलह इत्यादिको त्यागकर, अहंकाररहित बुद्धि और निर्मल चित्तसे युक्त होकर, साधक प्रेमपूर्ण हृदयसे श्रीभगवत्स्वरूप-सागरमें नदीकी भाँति प्रविष्ट होकर अच्युतानन्दकी प्राप्तिके योग्य बन सके—यही श्रीनिम्बार्कके द्वारा प्रचारित सनातन भक्तिमार्गका लक्ष्य है ।

सर्वसंतापहारी और सर्वानर्थनिवृत्तिकारी श्रीहरिकी जय हो ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

श्रीमन्मध्वाचार्य और भक्ति

(लेखक—श्रीयुत बी० रामकृष्णाचार बी० ए०, विद्वान्)

श्रीमन्मध्वाचार्य दक्षिण भारतके तीन प्रसिद्ध मत-प्रवर्तकोंमें एक थे । आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व 'श्रीमध्व-सिद्धान्त' नामसे विख्यात है ।

श्रीआचार्यजीकी संक्षिप्त जीवनी

श्रीमध्वाचार्यजीका काल संवत् १२९५ से १३७४ (ई० सन् १२३८-१३१७) था । आपका अवतार एक वैदिक धर्मनिष्ठ ब्राह्मणकुलमें हुआ था । आपका बचपनका नाम था 'वासुदेव' । नारायण भट्ट (उपनाम मध्यगेह भट्ट) आपके पिता और वेदवती माता थीं । आपकी जन्मतिथि पिङ्गल संवत्सरकी आश्विन शुक्ला दशमी (विजयादशमी) थी ।

पाँचवें वर्षमें आपका उपनयन-संस्कार हुआ और आठवें वर्षमें आपने सनकादि मानसपुत्रोंकी प्राचीन परम्पराके यति श्रीअच्युतप्रेक्षतीर्थके द्वारा बालसंन्यास-दीक्षा ली । तबसे आपका नाम 'श्रीमध्वाचार्य' हुआ । इसके अतिरिक्त आप 'श्रीआनन्दतीर्थ', 'पूर्णप्रज्ञ', 'पूर्णबोध', 'सर्वज्ञ', 'मुक्ततीर्थ' आदि नामोंसे भी विख्यात हुए । ऋग्वेदके 'बलित्था' सूक्त तथा अन्य कई पुराणवचनोंके आधारपर आप श्रीवायुदेवके तीसरे अवतार माने जाते हैं ।

छोटी अवस्थामें ही श्रीमदाचार्यजीने श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहास-धर्मशास्त्र आदिका सम्यक् अध्ययन करके पूर्णज्ञान प्राप्त किया । अखिल भारतके पुण्य-तीर्थस्थानोंकी यात्रा की और दो बार बदरीनाथधामको श्रीवेदव्यासजीके दिव्य दर्शनके लिये पधारे । वहाँपर श्रीवेदव्यासजीने आपका स्वागत किया और भगवान्के तत्त्वका प्रचार करनेकी प्रेरणा की । बदरीनाथसे लौटकर आचार्यजी सर्वत्र अपने द्वैत-सिद्धान्तका प्रचार करते रहे । इहलोकमें ७९ वर्षतक भक्तिका सर्वाङ्गीण अनुष्ठान, ज्ञानार्जन तथा धर्मप्रचार करते हुए आप तीसरी बार सं० १३७४ के माघ शुक्ला नवमीके दिन उडुपीक्षेत्रसे अन्तर्धान होकर बदरीनाथ पधारे । माध्व-सम्प्रदायका विश्वास है कि आचार्यजी अद्यापि बदरीमें श्रीवेदव्यासकी सन्निधिमें तप कर रहे हैं और अपने प्रिय उडुपीक्षेत्रमें परोक्षरूपसे संनिहित भी हैं । यहाँके श्रीअनन्तेश्वरजीके मन्दिरमें श्रीमदाचार्यजीका दिव्यपीठ है, जिसकी माध्व भक्त प्रतिदिन आराधना कर रहे हैं ।

श्रीमदाचार्यके समयमें यहाँपर दैवप्रेरणासे द्वारका-क्षेत्रसे रुक्मिणीदेवी-करार्चित श्रीबालकृष्णजीकी मूर्ति एक देशी नावपर आ गयी । श्रीआचार्यजीने इसे प्राप्तकर उडुपीक्षेत्रमें प्रतिष्ठापित किया । तबसे उडुपीकी ख्याति बढ़ने लगी । श्रीभगवान्की पूजा निरन्तर चलनेके लिये अपने आठ बाल-ब्रह्मचारियोंको परमहंस संन्यास देकर आपने उत्तराधिकारी बनाया और पूजा तथा मतप्रचारका काम उनको सौंप दिया । आगे चलकर इन आठ मूल यतिश्रेष्ठोंके शिष्य अपना-अपना अलग मठ बनवाकर पूजा-प्रवचन, धर्म-प्रचारादि करने लगे । ये उडुपीके 'अष्टमठ' नामसे आज भी प्रसिद्ध हैं ।

श्रीआचार्यजीने अपने आठ मुख्य शिष्योंको अलग-अलग उपासनाकी मूर्तियाँ प्रदान कीं, जो आज भी पूजित होती हैं। इनके और कई शिष्य भी हो गये थे। श्रीआचार्यका मूल मठ उडुपीका श्रीकृष्णमठ है। आपके समयकी कई वस्तुएँ अद्यापि श्रीकृष्णमठमें उपयुक्त होती हैं।

श्रीमदाचार्यजीके बनाये कुल ३७ ग्रन्थ हैं, जिनमें गीताभाष्य, दशोपनिषद्-भाष्य, ब्रह्मसूत्र-तात्पर्य-बोधक अनुव्याख्यान, ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य, भागवत-भारत-गीता-तात्पर्य-निर्णय, श्रीकृष्णामृत-महार्णव आदि मुख्य हैं। वेद-स्मृति-पुराणोंके प्रमाणोंसे भरे ये ग्रन्थ-समूह 'सर्वमूल' नामसे विख्यात हैं। श्रीमदाचार्यजीके प्रतिपादित सिद्धान्तका सार यों कहा जाता है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावंगताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

'मध्वमतमें श्रीहरि ही सर्वोत्तम हैं, जगत् सत्य है, पाँच तरहके भेद सत्य हैं, ब्रह्मादि जीव हरिके सेवक हैं, उनमें परस्पर तारतम्यका क्रम है। जीवका स्वरूपगत सुखानुभव ही मोक्ष है, हरिकी निर्मल भक्ति ही उस मोक्षका साधन है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम—ये तीन प्रमाण हैं। श्रीहरिका स्वरूप वेदादि सर्वशास्त्रोंसे जाना जा सकता है।'

श्रीमदाचार्यजीके द्वारा प्रतिपादित भक्ति

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

श्रीमदाचार्यजीने निरूपण किया है कि अपने आराध्यदेवकी महिमा जानते हुए अपने स्त्री-सुतादि परिवारकी अपेक्षा अधिक एवं दृढ़तर स्नेह भगवान्‌पर रखना ही 'भक्ति' कहलाता है। इस तरहकी भक्तिके द्वारा ही जीव सांसारिक दुःखको पार करके मुक्ति-लाभ कर सकता है, अन्यथा नहीं।

श्रीआचार्यजीने अपने कई ग्रन्थोंमें बहुधा भक्तिको ही मुक्तिके साधनरूपसे प्रतिपादित किया है—

यथा भक्तिविशेषोऽत्र दृश्यते पुरुषोत्तमे।
तथा मुक्तिविशेषोऽपि ज्ञानिनां लिङ्गभेदने॥
योगिनां भिन्नलिङ्गानामाविर्भूतस्वरूपिणाम्।
प्राप्तानां परमानन्दं तारतम्यं सदैव हि॥
(गीताभाष्य)

भगवान् श्रीहरिके प्रति जितनी अधिक गाढ़ भक्ति होती है, उतने ही प्रमाणसे लिङ्गदेहका भङ्ग होते ही आनन्दमें भेद-विशेष अर्थात् अधिकाधिक आनन्दका अनुभव होगा। इस तरह लिङ्गदेहका भङ्ग होनेके बाद स्वरूपानन्दप्राप्त जीवोंको सदा तारतम्यज्ञान और उस ज्ञानसे आनन्दानुभव भी होता है। [माध्वसम्प्रदायके अनुसार जीवके स्वरूप पर जो अज्ञानका आवरण पड़ा रहता है, वही लिङ्गदेह कहलाता है। जीवके मोक्ष प्राप्त करनेसे पहले यह लिङ्गदेह श्रीवासुदेवकी गदाके प्रहारसे टूट जायगा। तभी जीवके स्वरूपका आविर्भाव होगा। यही मोक्ष कहलाता है।]

विना ज्ञानं कुतो भक्तिः कुतो भक्तिं विना च तत्।
([illegible])

'ज्ञानके बिना भक्ति कहाँ और बिना भक्तिके ज्ञान कैसा।' इससे ज्ञानपूर्विका भक्ति ही मोक्षका मुख्य साधन सिद्ध हुई।

अतो विष्णोः [illegible] ।
तारतम्येन कर्तव्या [illegible] ॥
([illegible])

'मोक्षप्राप्तिके लिये भक्ति ही प्रधान है। अतः भगवान् विष्णुकी भक्ति करना ही मुख्य कर्तव्य है। साथ ही मोक्षकी इच्छा करनेवालेको ब्रह्मा आदि देवताओंकी भी तारतम्यानुसार भक्ति करनी पड़ती है।'

स्वादरः सर्वजन्तूनां भक्तिर्हि [illegible] ।
ततोऽधिकः स्वोत्तमेषु [illegible] ॥
सर्वेभ्यो वासुदेवाख्ये भक्तिः [illegible] ।
न कदाचित् त्यजेत् [illegible] ॥
समेषु स्वात्मवत् स्नेहः [illegible] ।

'मोक्षकी कामना रखनेवाले [illegible] प्राणिमात्रके प्रति आदर करना [illegible] अनुसार अपनेसे अधिक [illegible] उत्तम पुरुषोंके प्रति भक्तिभाव [illegible] करनेवाला सब तरहसे [illegible] उनके प्रति अधिकाधिक भक्ति करे। [illegible] स्वामित्व उनके क्रमशः [illegible] लोगोंके साथ [illegible] प्रेम करे। [illegible] दया करे।'

विष्णुभक्तिरतो ह्येवं [illegible] ।
द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च।

भक्त्या प्रसन्नो भगवान् दद्याज्ज्ञानमनाकुलम् ।
तयैव दर्शनं यातः प्रदद्यान्मुक्तिमेतया ॥

'ईश्वरकी इस प्राणिसृष्टिमें जीवोंके दो वर्ग हैं—विष्णु-भक्त वर्ग दैव तथा विष्णु-द्वेषी वर्ग आसुर कहलाता है। भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् उत्तम ज्ञान देते हैं और उसी भक्तिके द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन तथा मोक्ष भी देते हैं।'

यही अभिप्राय गीतामें भी भगवान्‌के श्रीमुखसे व्यक्त हुआ है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस तरहसे व्यापक स्वरूपमें मुझे जानना, प्रत्यक्ष देखना, मेरे वैकुण्ठादि लोकोंमें प्रवेश पाकर मोक्ष प्राप्त करना शक्य होता है।'

यहाँपर एक प्रश्न उठ सकता है—

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।

अर्थात् गोपस्त्रियाँ कामसे, कंस भयसे तथा शिशुपालादि भगवान्‌से द्वेष करके मोक्ष पा गये—यह कैसे सम्भव है? श्रीमदाचार्यजी अपने भागवत-तात्पर्य-निर्णयके प्रमाणसे यह समाधान देते हैं—

गोप्यः कामयुता भक्ताः कंसाविष्टः स्वयं भृगुः ।
द्वेषो भययुतो भक्तः चैद्यादिस्त्वर जयादयः ॥
विद्वेषसंयुता भक्ता वृष्णयो बन्धुसंयुताः ।

'गोपस्त्रियोंमें काममिश्रित भक्ति, कंसमें भययुक्त भक्ति, शिशुपालादिकोंमें द्वेषयुक्त भक्ति तथा यादवोंमें बन्धुभावयुक्त भक्ति थी। इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकारकी भक्तिके द्वारा ही उन लोगोंने मोक्षको प्राप्त किया।' (विदित है कि कंसमें भृगुमुनिका अंश भी था।) इनमेंसे भृगु आदि साधुलोग भक्ति-से मोक्ष पा गये और द्वेषादिसे असुरलोग अन्धतमस्‌को गये।

दानतीर्थतपोयज्ञपूर्वाः सर्वेऽपि सर्वदा ।
अङ्गानि हरिसेवायां भक्तिस्त्वेका विमुक्तये ॥

'दान, तीर्थस्नान, तप, यज्ञ आदि सत्कार्य सभी हरिसेवा एवं भक्तिके अङ्ग हैं। परंतु मुक्तिका साधन तो एक भक्ति ही बन सकती है।'

भक्त्यर्थान्यखिलान्येव भक्तिर्मोक्षाय केवलम् ।
मुक्तानामपि भक्तिर्हि नित्यानन्दस्वरूपिणी ॥
(गीतातात्पर्य)

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
(उपनिषद्)

ज्ञानपूर्वः परस्नेहो नित्यो भक्तिरितीर्यते ।
इत्यादि वेदवचनं साधनप्रविधायकम् ॥

'अन्य सभी कर्म भक्तिकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं। पर मोक्षका साधन तो एक भक्ति ही बनती है। मोक्ष पाये हुए जीवोंको भी हरिभक्ति आनन्दस्वरूप भासित होती है। अतः श्रीहरिके प्रति भक्ति रखनी ही चाहिये। इसी तरह योग्यतानुसार अपने गुरुमें भी भक्ति रखे। तब गुरुसे उपदिष्ट (तथा अनुपदिष्ट) विषय भी हमारे मनमें स्वयं प्रकाशित होंगे। ज्ञानपूर्वक उत्तम स्नेह ही भक्ति कहलाता है। इस प्रकारके वेदवाक्य मोक्षसाधनका मार्ग बतलाते हैं।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य इत्यादिना विष्णुभक्तेरेव सर्वसाधनोत्तमत्वं परोक्षापरोक्षज्ञानमोक्षेष्विवोऽपि मोक्षस्य तदधीनत्वं च साधितम् ॥

'अनन्य भक्तिसे श्रीभगवान्‌का ज्ञान, दर्शन एवं प्राप्ति सम्भव है—इत्यादि गीतावचनसे मोक्षके साधनोंमें हरिभक्तिकी ही मुख्यता प्रमाणित होती है। परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्तिके लिये और ज्ञानीको मोक्ष-प्राप्ति करानेके लिये भी वही मुख्य साधन बनता है। इस प्रकार श्रीमदाचार्यजीने गीता-तात्पर्यमें सिद्ध किया है।'

श्रीमद्भागवतमें नौ तरहकी भक्तिका उल्लेख प्राप्त होता है। इसे लक्ष्यमें रखकर श्रीमदाचार्यजी अपने 'श्रीकृष्णामृत-महार्णव' नामक हरि-महिमा-बोधक ग्रन्थमें यों कहते हैं—

अर्चितः संस्मृतो ध्यातः कीर्तितः कथितः स्मृतः ।
यो ददात्यमृतत्वं हि स मां रक्षतु केशवः ॥

इस प्रकार वेद-उपनिषद्, पुराणादि प्रमाणोंसे श्रीमदाचार्यके द्वारा प्रतिपादित भक्तिका स्वरूप यों ठहरता है—

(१) अपने परिवारपर जो प्रेम रहता है, उससे अधिक नित्य तथा सर्वोत्तम भगवान् श्रीहरिके प्रति स्नेह ही भक्ति है। यह उनकी महिमाके ज्ञानसे ही पूर्ण हो सकती है अर्थात् उनकी महिमाके ज्ञानसे वह प्रेम दृढ़ हो जाता है। वही भक्ति मोक्षका साधन होगी। ज्ञानेनैवामृतीभवति—ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वह ज्ञान भक्तिसे मिश्रित होना चाहिये। ज्ञानरहित भक्ति तथा भक्तिरहित ज्ञान दोनों ही मोक्षसाधक नहीं बन सकते।

(२) तारतम्यके क्रमसे भगवान्‌के बाद उनकी अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीदेवीके प्रति तथा उनके बाद ब्रह्मा, वायु आदि देवताओं-के प्रति—इस तरह भगवान्‌के परिवार एवं देवताओंके प्रति भी उनके योग्यतानुसार भक्ति रखनी चाहिये। इसके अनन्तर अपने गुरु एवं ज्ञान-वयोवृद्धोंके प्रति भी आदरसहित भक्ति होनी चाहिये तथा अपनेसे नीची श्रेणीके प्राणियोंपर दया भावसे रखना चाहिये; क्योंकि जीवमात्रमें परमात्मा श्रीहरि अन्तर्यामीके रूपमें स्थित हैं। सबके प्रेरक वे ही हैं, सृष्टि-स्थिति-लय-कर्ता वे ही हैं। मुख्यतः सभीके माता-पिता और गति भी वे ही हैं। इस कारण जगत्कुटुम्बी श्रीहरिके परिवाररूप जो समस्त जीव हैं, उन सबके साथ प्रेम करनेसे हम भगवान्‌के अनुग्रह-पात्र बन सकते हैं।

इस अभिमतका सकेत करते हुए श्रीआचार्यजी अपने 'द्वादशस्तोत्र'में लिखते हैं—

> कुरु भुङ्क्ष्व च कर्म निजं नियतं
> हरिपादविनम्रधिया सततम्।
> हरिरेव परो हरिरेव गुरु-
> र्हरिरेव जगत्पितृमातृगतिः॥
> (द्वादशस्तोत्र [illegible])

'अरे जीव! सदा श्रीहरिके चरणकमलोंमें [illegible] बुद्धि (भक्ति) रखकर अपना [illegible] कर्म [illegible] कर। हरि ही सर्वोत्तम हैं। हरि ही गुरु हैं। वे ही [illegible] सृष्टिके पिता-माता तथा गति हैं।'

अन्यत्र उसी स्तोत्रमें श्रीमध्वाचार्यजी भगवान्‌की अनन्यभावसे शरण माँगते हुए [illegible]—

> अगणितगुणगणमयशरीर हे
> विगतगुणेतर भव मम शरणम्।
> ([illegible] १।१)

'प्रभो! आपका श्रीविग्रह अनन्त गुणगणोंसे [illegible] है, उसमें दोषका लेश भी नहीं है। आप मेरी रक्षा करें।'

हमारी पुण्यभूमि भारतमें सदा-सर्वदा [illegible] बहता रहे—यही उनके चरणोंमें विनीत प्रार्थना है।

श्रीवल्लभाचार्यकी पुष्टि-भक्ति

(लेखक—श्रीचन्दुलाल हरगोविन्द गान्धी)

श्रीमद्भागवतमें रास-पञ्चाध्यायीके प्रारम्भमें भगवान् जब गोपीजनको उपदेश देते हैं कि पति-पुत्र आदिकी सेवा करना स्त्रियोंका स्वधर्म है, तब उसके उत्तरमें श्रीगोपियाँ प्रभुसे विनती करती हैं—

> यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
> स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
> अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
> प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
> (१० । २९ । ३२)

अर्थात् आप तो सचमुच ही देहधारियोंके प्रियतम हैं, बन्धु हैं और आत्मा हैं; इसलिये आपका यह उपदेश उसके आश्रयरूप आप परमेश्वरके उद्देश्यसे ही है। अतएव प्रभुकी सेवा करना हमारा, जीवमात्रका स्वधर्म है। पति-पुत्रादिकी सेवा तो शरीर-सम्बन्धके कारण ही की जाती है, आत्मधर्म या भगवद्धर्मके नाते नहीं। अतएव जो लोग देह और इन्द्रियोंका भोग नहीं चाहते, वे भगवान्‌से ही प्रीति करते हैं; क्योंकि समष्टिरूप भगवान्‌के लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे ही कर्म, भगवान् सबके आत्मा हैं—इस कारण व्यष्टिरूप जीवके लिये हो जाते हैं। भगवान् प्रेष्ठ हैं, अतएव सर्वधर्म भगवान्‌में सिद्ध हैं; इस कारण धर्मीरूपमें भगवान्‌की ही सेवा करनी चाहिये। जो प्रिय है और [illegible] है, उसीकी सेवा करनी चाहिये। [illegible] श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही एक [illegible] हैं—

> कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्।

अतएव श्रीकृष्णकी ही सेवा करना [illegible] है, इसी कारण श्रीवल्लभाचार्यजी पुष्टिमार्गका [illegible] हैं।

पुष्टि भक्तिमें [illegible] ही प्रधान है—

> यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
> स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

'आत्मभावसे [illegible] भगवान् [illegible] हैं, तब वह पुरुष लोक और वेदमें [illegible] कर देता है।' इस [illegible] मर्यादा-भक्तिकी अपेक्षा पुष्टिभक्ति [illegible] होता है। केवल भजन ही [illegible] है, [illegible] ही प्रयोजन होता है, वही [illegible] है। [illegible] 'लिन्' प्रत्यय [illegible] ही [illegible] है।

> केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः।

—आदि श्रीमद्भागवतके वचनोंमें प्रयुक्त 'भाव' शब्दका अर्थ भक्ति ही है। भावका अर्थ है देवादिविषयक रति। 'रति' शब्द-का धर्म होता है—स्नेह। इसी कारण सा परानुरक्तिरीश्वरे आदि सूत्रोंमें शाण्डिल्य आदि मुनियोंने प्रभुमें निरतिशय स्नेहको ही भक्तिके नामसे पुकारा है और इसी कारण पुष्टि-भक्तिमें स्नेहका ही प्राधान्य है।

पुष्टिभक्तिमें माहात्म्य-ज्ञानकी अपेक्षा भगवदनुग्रह ही विशेष नियामक है

भगवान् पुष्टिभक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये बालभाव, पुत्रभाव, सखाभाव आदिकी लीला करते हैं। यदि भक्तमें माहात्म्यज्ञान हो तो तत्तद्भावोंकी लीला नहीं हो सकती; अतएव भगवान् स्वयं 'कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं' समर्थ होनेके कारण भक्तके अंदर माहात्म्यज्ञानका भी तिरोभाव कर देते हैं। भगवान्के जन्मके समय देवकीजीने स्तुति करते हुए भगवान्-को कालका भी काल कहा है और इस प्रकार भगवान्के माहात्म्य-ज्ञानका वर्णन किया है। परंतु भगवान्को उनके अंदर मातृभाव स्थापित करना है, अतएव दूसरे ही क्षण आप देवकीजीके हृदयमें माहात्म्यज्ञानको तिरोहित और स्नेहभावको उद्बुद्ध कर देते हैं। तब देवकीजी स्तुति करती हैं—'तुम्हारे जन्मका पता कंसको न लग जाय; वह कोई अनर्थ न कर बैठे।' यशोदाजीके प्रसङ्गमें भी आप उन्हें अपने श्रीमुखमें ब्रह्माण्डका दर्शन कराते हैं और उस माहात्म्यज्ञानको तुरंत अन्यथा करके पुनः पुत्रभाव स्थापित कर देते हैं। इस प्रकारका अनुग्रह ही पुष्टि है। माता यशोदाजी ब्रह्माण्डके नायकको रस्सीसे बाँधनेकी चेष्टा करती हैं, परंतु प्रभु अपनेको बँधाते नहीं। पीछे माताकी दीनावस्था देखकर कृपासे बँध जाते हैं। इसलिये प्रेमलक्षणा पुष्टिभक्तिमें भगवान्का अनुग्रह ही नियामक है, कालादि नियामक नहीं—यह स्पष्ट हो जाता है और यहाँ प्रभु भी बाधक नहीं होते; क्योंकि जो कृपा करने आता है, वह अकृपा क्यों करेगा।

जिसमें प्रभुके सुखका ही मुख्य विचार हो, वही पुष्टिभक्ति है

पुष्टिभक्तको भगवान् कृपा करके अपने स्वरूपका दान करते हैं। अतएव ऐसे कृपापात्र जीवका कर्तव्य है कि वह भगवान्की सेवा ही करे। प्रभुके सुखका विचार करना ही पुष्टिभक्ति है। प्राथमिक दशामें भक्त अपने देहेन्द्रिय और द्रव्यका भगवान्में विनियोग करता है और इसके द्वारा बहुत अंशोंतक अपनी अहंता और ममताको दूर करता है। जैसे-जैसे भगवत्स्वरूपके प्रति उसका भाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका मन भगवान्के ही उत्सवोंमें मग्न होता जाता है। उसको प्रभुके उत्सवोंमें बाह्य पदार्थोंका विस्मरण हो जाता है। इसको मानसी सेवा कहते हैं—चेतस्तत्प्रवणं सेवा—चित्त भगवान्में, भगवान्की परिचर्यामें, भगवान्की लीलामें तल्लीन रहे—इसीका नाम सेवा है। इस प्रकारकी सेवा भावात्मक होनेके कारण ज्ञान-स्वरूप निवेद्य पदार्थद्वारा होनी चाहिये। निवेदन किये जानेवाले पदार्थके स्वरूपको समझकर, भगवान्-को क्या प्रिय है—इस बातको तथा देश-कालको जानकर, ऋतु-अनुसार पदार्थको समर्पण करनेपर ही वह निवेदन किया गया पदार्थ ज्ञानमय कहलाता है। वेणुगीतके प्रसङ्गमें धन्याःस्म मूढमतयो—इत्यादि श्लोकमें हरिणियाँ 'हमारे नेत्र सौन्दर्यके कारण भगवत्-प्रिया गोपाङ्गनाओंके नेत्रोंका स्मरण करानेवाले होनेके कारण भगवान्को प्रिय हैं' यह समझकर भगवान्की पूजा नेत्रोंद्वारा करती हैं (पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः)—इस प्रकार श्रीशुकदेवजी कहते हैं। अर्थात् पुष्टिभक्तिमें भगवान्का ज्ञान अर्थात् देश-कालानुसार भगवान्को क्या अपेक्षित है —इसका ज्ञान और अपना ज्ञान अर्थात् अपने पदार्थोंमें अमुक वस्तु सुन्दर होनेके कारण भगवान्को विनियोग करने योग्य है—यह ज्ञान ये दोनों सेवाके अङ्ग हैं। यदि ये ज्ञान न हों तो सब व्यर्थ है।

पुष्टिभक्तिमें भगवान्का किया हुआ वरण ही मुख्य है

पुष्टिभक्ति साधन-साध्य नहीं है; अपितु भगवान् जिसको अङ्गीकार करते हैं, उसीके द्वारा लभ्य है। अङ्गीकार करनेमें भगवान् योग्य-अयोग्यका विचार नहीं करते। जीवोंके प्रलयदशासे उत्थानके समय भगवान् कतिपय कृपापात्र जीवोंको विशेष अनुग्रहका दान करते हैं। श्रुति भी कहती है—नायमात्मा······ ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्। 'भगवान् जिसको वरण करते हैं, वही मनुष्य भगवान्को प्राप्त कर सकता है। परमात्मा अपना स्वरूप उस भक्तके सामने प्रकट कर देते हैं।' इससे समझा जा सकता है कि भजनानन्दरसिक पुष्ट दैवी जीव साक्षात् रसात्मक धर्मीस्वरूपके द्वारा अङ्गीकृत हैं।

पुष्टि-भक्तका कर्तव्य

पुष्टिभक्तिमें भगवत्कृपा ही नियामक होती है, अतएव इसमें कृपाके सिवा अन्य साधनका उपयोग नहीं हो सकता—

गोदके लिये मचलते यशोदानन्दन

प्रतिबिम्बपर रीझे बालकृष्ण

रखना ही असंगत हो जायगा। भगवान् जिसको स्वरूपानन्दका दान करनेकी इच्छा करते हैं, उसको इसी प्रकार अलौकिक दानके द्वारा ब्रह्मविद्या प्रदान करते हैं और फिर उसको अङ्गीकार करते हैं। यही यहाँ अनुगृहीत जीवोंका वशिष्टत्व है।

पुष्टि-भक्ति-शास्त्र किसके लिये है ?

पुष्टि-भक्तिके प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्यजी 'तत्त्वार्थ-दीप' निबन्धमें कहते हैं—

> सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः।
> भवान्तसम्भवाद् दैवात् तेषामर्थे निरूप्यते॥

अर्थात् जो सत्त्वगुणाश्रित भगवद्भक्त मुक्तिके अधिकारी हैं और पूर्वजन्मोंमें उपार्जित पुण्योंके संयोगसे जिनको यह अन्तिम जन्म प्राप्त हुआ है, उन्हींके लिये पुष्टि-भक्तिका निरूपण किया जाता है। अर्थात् पुष्टि-भक्तिका अधिकारी वही है, जिसने निःस्पृही भगवद्भक्तोंमें भी ईश्वरकी इच्छासे अन्तिम जन्म प्राप्त किया है।

पुष्टि-भक्तिका फल

पुष्टि-भक्तिके फलस्वरूप जीवको प्रभुके साथ सम्भाषण, गान, रमण आदि करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है तथा अलौकिक सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है। इसीको पुष्टिभक्त मोक्ष कहते हैं। उनको चतुर्धा मुक्तिकी अपेक्षा नहीं होती। मुक्तिको वे अत्यन्त निकृष्ट समझते हैं। वेणुगीतमें—

> अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।

—इस श्लोकमें गोपियाँ कहती हैं कि इन्द्रियवान् जीवका फल यह स्वरूप ही है, 'न परम्' अर्थात् मोक्ष फल नहीं है। और इसमें भी भगवान्का साक्षात्कारमात्र होना गौण फल है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे सर्वात्मभावसे भगवत्स्वरूपके अलौकिक रसकी प्राप्ति करें, यही मुख्य फल और अन्तिम ध्येय है और सर्वभावपूर्वक प्रपन्न—शरणागत होनेसे ही इस अलौकिक रसकी प्राप्ति होती है। भगवान्—धर्मी रसात्मक हैं और उनके धर्म, भाव भी रसात्मक हैं। अर्थात् भगवान् और भगवद्धर्म जीव और जीवके धर्मकी अपेक्षा उत्तम हैं। इसलिये गोपियोंको 'वह कृष्ण, मैं कृष्ण'—इस प्रकार जो अखण्ड अद्वैत-ज्ञान होता है, वह जीवको होनेवाले अखण्डाद्वैतके अनुभवकी अपेक्षा उत्तम है। गोपियोंको जो ज्ञान होता है, वह केवल भगवत्कृपासे ही होता है, अतएव वह ज्ञान सात्त्विक जीवोंको होनेवाले अखण्डाद्वैतके अनुभवकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसीसे उद्धवजी-जैसे ज्ञानी भक्त भी—

> वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।

अर्थात् व्रजकी सारी स्त्रियोंके पदके धूलि-कणको मैं अनेक बार वन्दना करता हूँ—यों कहकर शुद्ध पुष्टि-भक्त गोपाङ्गनाओंका उत्कर्ष सिद्ध करते हैं। इस प्रकारकी पुष्टिभक्ति परमभाग्यवान् भगवदीयोंको ही विरहात्मक तापक्लेशके द्वारा प्राप्त होती है।

उद्धवजीकी अनोखी अभिलाषा

उद्धवजी कहते हैं—

> आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
> या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
> (श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

'मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावनधाममें कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि—जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ! आह! यदि मैं ऐसा बन जाऊँ तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओंकी चरण-धूलि निरन्तर सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी। इनकी चरण-रजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ! देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्य-मर्यादाका परित्याग करके इन्होंने भगवान्की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरोंकी तो बात ही क्या—भगवद्वाणी, उनकी निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अबतक भगवान्के परम प्रेममय स्वरूपको ढूँढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं।'

श्रीमच्चैतन्यमहाप्रभुका भक्तिधर्म *

(लेखक—श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम०ए०, बी० एल०)

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

'भगवान् व्रजेशनन्दन श्रीकृष्ण आराध्य हैं, वृन्दावन उनका धाम है; जो व्रजाङ्गना-वर्गके द्वारा आविष्कृत हुई है, वही सुन्दर उपासना है; श्रीमद्भागवत विशुद्ध प्रमाणग्रन्थ है तथा प्रेमा-भक्ति परम पुरुषार्थ है—यह श्रीचैतन्य महाप्रभुका सिद्धान्त है और उसके प्रति हमारी परम श्रद्धा है ।'

कलि-मलसे दूषित इस युगमें कलिके दोषोंको दूर करके पावन करनेवाले, कलिके भयका नाश करनेवाले, श्रीगुरु एवं वैष्णवोंके चरण-कमलोंका कीर्तन (गुणानुवाद), स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन करनेके बाद श्रीवैष्णवाचार्यवर्य श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती महाशयके द्वारा रचित इस सूत्ररूप श्लोकको मस्तकपर रखकर उसमें संक्षिप्तरूपमें दिये गये श्रीगौड़ीय वैष्णव-धर्मके मुख्य पाँच लक्षणोंकी ही सर्वप्रथम आलोचना की जाती है ।

पहले उपास्य-तत्त्वका ही निर्णय करना चाहिये । साथ ही उपासनामें उपास्य और उपासकका क्या सम्बन्ध होता है, इसका भी निरूपण आवश्यक है । जैसा उपासक होता है, उपास्य तत्त्व भी उसीके उपयुक्त होता है । अपनी-अपनी मनोवृत्तिके अनुसार मनुष्योंके अनेक भेद होते हैं । संक्षेपमें विद्वान् लोग उनको चार श्रेणियोंमें विभाजित करते हैं । श्रीरूप-गोस्वामी प्रभृति आचार्योंके मतसे वे हैं—अन्याभिलाषी, कर्मी, ज्ञानी और भक्तियोगी ।

जो लोग जड इन्द्रियोंकी तुष्टिको ही जीवनका मूल उद्देश्य मानकर शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करके स्वेच्छानुसार भोगसाधनमें रत होते हैं, उनमें कुछ तो सामाजिक मर्यादाकी रक्षाके लिये नीतिपरायण रहते हैं और कुछ दुर्नीतिका भी अनुसरण करते हैं । दोनोंका लक्ष्य होता है जड-भोग । वे अनीश्वरवादी होते हैं और कभी-कभी समाजको दिखानेके लिये ईश्वरवादी बन जाते हैं । वे सब-के-सब प्रायः 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'—इस चार्वाक मतके माननेवाले होते हैं । वे नाना प्रकारके पाप और दुर्नीतिका आचरण करते हैं; क्योंकि [illegible] भय तो होता नहीं ।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्ने उद्धवजीसे [illegible]
योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां [illegible] ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्र[illegible] ॥
([illegible])

'मनुष्योंके कल्याणके लिये मैंने [illegible] और भक्ति—ये तीन प्रकारके योग [illegible] हैं; इनके सिवा कहीं कोई अन्य उपाय नहीं है ।'

परंतु अनीश्वरवादी इनमेंसे किसी भी योगको [illegible] सुनना चाहते । ऐसे लोग कल्याणके मार्गसे [illegible] हैं । [illegible] इन्हींको 'अन्याभिलाषी' कहते हैं । इनका [illegible] कोई [illegible] नहीं होता । कोई-कोई घोर [illegible] दुष्क्रियाओंमें प्रवृत्त होनेके पूर्व ही, उन्हीं [illegible] कामनासे स्वकल्पित देवताकी पूजा करते हैं । [illegible] कहते हैं—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह [illegible] ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामि[illegible] ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ७)

उपर्युक्त भगवद्वाक्यके अनुसार [illegible] भोग चाहनेवालोंके लिये कर्मयोग ही प्रधान [illegible] है; किंतु कर्मयोगका अवलम्बन न करके जो भोगकी [illegible] हैं, वे अन्याभिलाषी कहलाते हैं । [illegible] करके निष्काम कर्म करनेवाले श्रेष्ठ हैं । वे [illegible] मिति—(गीता ७ । १९) [illegible] ही प्रपन्न होते हैं । और जो [illegible] हैं, उनके विषयमें भगवान्के निम्नलिखित [illegible] योग्य हैं—

यान्ति देवव्रता [illegible] ।
× × ×
अन्तवत्तु फलं तेषां तद् [illegible] ।
देवान् देवयजो यान्ति [illegible]
([illegible])

किंतु इससे देव[illegible] को प्राप्त [illegible] भी [illegible] ।

* लेख बहुत बड़ा होनेके कारण इसका कुछ अंश छोड़ दिया गया है, [illegible]

''''''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
''''''गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
(गीता ९ । २१)

स्वर्गमें भी उनकी स्थिति अनित्य होती है । वेदमें भी स्वर्ग-सुखको क्षणिक कहा गया है—

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव ।
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥
(कठोप० १ । १ । २६)

यह कठोपनिषद्में नचिकेताका वचन है । मुण्डकमें भी है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥
(१ । २ । १०)

छान्दोग्यमें आया है—

तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते ।
एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते''''''॥
(८ । १ । ६)

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥
(११ । १० । २६)

अतएव सुखभोगकी कामनावाले पुण्यकर्मी भी नित्य कल्याणको नहीं प्राप्त होते । नाना प्रकारके देव-देवियोंकी सेवा-में वे तुच्छ अनित्य फलको प्राप्त करते हैं । परंतु मद्भक्ता यान्ति मामपि—इस भगवद्वाक्यके अनुसार भगवद्-भक्त नित्य मङ्गल प्रदान करनेवाले भगवच्चरणारविन्दको ही प्राप्त होते हैं । इधर निष्कामकर्मी क्रमशः चित्त-शुद्धि लाभ करके शुद्ध भक्ति-मार्गमें चलनेका प्रयत्न करते हैं । अन्तमें श्रीहरिकी उपासनासे अनन्य भक्तिके फलस्वरूप निःश्रेयसको प्राप्त करते हैं । कामकामी आवागमनके चक्करमें पड़ते हैं, उनकी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति नहीं होती—यह देखकर बुद्धिमान् पुरुष निर्वेद-को प्राप्त होते हैं । वे निर्वेदके फलस्वरूप घर-द्वार छोड़कर ज्ञानयोगका आश्रय लेते हैं और केवल मोक्षकी प्राप्तिके लिये अति कठिन साधना करते हैं । इससे उनका चित्त जड भोगकी वासनासे रहित होकर निर्मल हो जाता है । इसके बाद यदि वे नित्य भगवद्भजनके मार्गपर नहीं चलते तो मुक्ता-भिमानी होकर दम्भके कारण गिर जाते हैं और पुनः भोगके प्रति लोलुप बन जाते हैं । यही बात श्रीमद्भागवतकी ब्रह्म-स्तुतिमें सुस्पष्ट कर दी गयी है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥
(१० । २ । ३२)

तथा—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४)

भक्ति ही श्रेयका मार्ग है । निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है । जैसे तुष अर्थात् धानके छिलकेको कूटनेसे चावल नहीं प्राप्त होता, उसी प्रकार अभिन्नरूपसे ब्रह्मानुसन्धानमें रत रहनेवाले साधकोंको क्लेश मात्र हाथ लगता है । वे किसी एक उपास्य देवकी आराधना नहीं करते, न वे ब्रह्मके अप्राकृत रूपको ही स्वीकार करते हैं, अपितु—साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना—इस सिद्धान्तके अनुसार कोई विष्णुकी, कोई शिवकी, कोई दुर्गाकी, कोई गणेशकी और कोई सूर्यकी अपने-अपने मतानुसार कल्पित मूर्तियोंमें पूजा करके पञ्चोपासक कहलाकर मूर्तिपूजक बनते हैं । परंतु वे भी इस प्रकारकी उपासनाके द्वारा निःश्रेयसको न प्राप्तकर तबतक दुःख भोगते हैं, जबतक भगवान्के श्रीचरणोंका आश्रय नहीं लेते । अतएव भक्तियोगके अभिलाषी-को उपास्यका निर्णय करनेके लिये श्रीभगवान्की इस उक्तिका अनुसरण करना चाहिये—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
(गीता १० । ८—११)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'बुद्धिमान् वे ही हैं, जो मुझ (भगवान्) को ही सबकी उत्पत्तिका कारण और सबका प्रवर्तक समझकर अनन्य भावसे मेरी (भगवान्‌की) उपासना करते हैं। वे मद्गतचित्त तथा मद्गतप्राण होकर एक दूसरेको मेरा ही तत्त्व समझाते, परस्पर मेरी ही चर्चा करते, मुझमें ही सन्तुष्ट रहते और मुझमें ही प्रीति करते हैं। उन नित्य-निरन्तर मुझसे जुड़े हुए तथा प्रेमपूर्वक मेरा ही भजन करनेवाले भक्तोंकी सुलभताके लिये मैं उन्हें बुद्धियोग प्रदान करता हूँ तथा उनके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता हूँ जिससे वे शुद्ध मेरी (भगवत्) सेवाको प्राप्त करते हैं।' यही जीवके लिये महान् निःश्रेयस है। यहाँ श्रीकृष्ण अपनी ही अनन्य भक्ति करनेकी शिक्षा दे रहे हैं।

भक्तियोगमें सुप्रतिष्ठ साधक 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले' (भा० १ । ७ । ४)—के अनुसार भगवान्‌की नित्य चिन्मय मूर्तिको ध्यानके नेत्रोंसे देखते हैं और उस मूर्तिको अर्चामें प्रकट करते हैं। भक्तिके साधक अथवा जिनकी भक्ति सिद्ध हो चुकी है, ऐसे लोग भी उस मूर्तिकी शास्त्रोक्त विधिसे भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं। यह मूर्ति काल्पनिक नहीं होती और न पञ्चोपासकोंके समान फल-प्रदानपर्यन्त उसकी पूजा होती है। अतएव भक्तिमार्गके अनुयायियोंकी अर्चामें भगवत्पूजा होती है, मूर्तिपूजा नहीं होती। उनकी पूजामें विसर्जन नहीं होता।

अब कृष्णतत्त्वकी विवेचना करनी है। श्रीमद्भागवत (१ । ३ । २८) में कहा गया है—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। ब्रह्मसंहिताका उद्घोष है—

> ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
> अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥
> (५ । १)

इससे प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण ही सर्वदेवेश्वरेश्वर हैं। वहीं यह भी कहा गया है—

> रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
> नानावतारमकरोद् भुवनेषु किंतु ।
> कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
> गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥
> (५ । ४५)

अर्थात् श्रीकृष्ण ही स्वयं अंश-कलादिके रूपमें रामादि अवतार-विग्रहोंको धारण करते हैं। वे ही परम पुरुष हैं। गीता (१५ । १५) में श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। वेदमें श्रीभगवान्‌की ही [illegible] परम तत्त्व व्यञ्जित होता है। जैसे ऋग्वेदमें—

> ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति [illegible] ।
> दिवीव चक्षुराततम् ॥ [illegible]

सूर्यके आलोकसे दीप्तिमान् [illegible] फैलाकर देखनेपर ठीक ठीक [illegible] परम तत्त्वको जाननेवाले [illegible] श्रीभगवान्‌के परम पदको निरन्तर देखते हैं। [illegible] करते हैं। वेदकी उपासना पद्धतिमें [illegible] दर्शनकी ही बात कही गयी है—

> आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । (बृ० आ० ४ । ५ । ६)

विष्णुधर्ममें लिखा है—

> प्रकृतौ पुरुषे चैव [illegible] प्रभुः ।
> यथैक एव पुरुषो वासुदेवो व्यवस्थितः ॥

गीतामें भी श्रीभगवान् कहते हैं—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। अर्थात् ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा मैं हूँ।

श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजी नारदजीसे कहते हैं—

> द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
> वासुदेवात्परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥
> ([illegible])

अर्थात् भगवान् वासुदेव ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव—सब कुछ हैं। उनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। श्रीकृष्ण स्वविभूतियोंका [illegible] उद्धवसे कहते हैं—

> वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम् ।
> ([illegible])

तथा गीतामें—

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

इस प्रकारके [illegible] के दशम स्कन्धमें श्रीकृष्णलीलाके [illegible] ब्रह्माजीने मोहकी लीला तथा [illegible] की स्तुतियाँ उल्लेख हैं।

श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही [illegible] भजनीय तत्त्व हैं, यह वेदोंमें भी [illegible]

यद्वैतत् सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। (तै० उ० २।७।१)

अर्थात् सुकृतस्वरूप ब्रह्म ही रसस्वरूप है। इसको प्राप्त करके ही जीव आनन्दयुक्त होता है। यदि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप न होता तो कौन जीवित रहता, कौन प्राण-व्यापार सम्पादन करता।

आनन्दमय-विग्रह श्रीकृष्ण ही नित्य आनन्दकामीके लिये उपास्य हैं। गोपालतापनीय श्रुति(पूर्व० १३।१) भी कहती है—

गोपवेशं सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरं द्विभुजं वनमालिनमीश्वरम्।

तथा

कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्।

पुनः छान्दोग्य-उपनिषद्में लिखा है—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये। (८।१३।१)

इस मन्त्रमें परमानन्द-प्राप्तिकी सुगमताके लिये श्रीभगवान्‌की श्रीराधा-कृष्णरूप युगलमूर्तिका ध्यान करनेका निगूढ़ उपदेश है। इसका सरलार्थ यह है—'श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी प्रपत्तिके लिये उनकी ही स्वरूपशक्ति ह्लादिनी-सार-रूपा श्रीराधाका आश्रय लेता हूँ और श्रीराधाकी प्रपत्तिके लिये श्रीकृष्णका आश्रय लेता हूँ।'

इस प्रकार संक्षेपमें प्रमाणित हुआ कि भगवान् व्रजेश-नन्दन श्रीकृष्ण ही अनन्य-माधुर्याश्रित भक्तियोगावलम्बी साधकोंके एकमात्र उपास्य तत्त्व हैं तथा ऐश्वर्यभावाश्रित भक्तोंके उपास्य हैं—वासुदेव द्वारकाधीश अथवा मथुरानाथ अथवा उनके कायव्यूह श्रीविष्णु-राम-नृसिंहादि। श्रीचैतन्यमतानुयायी श्रीरूपानुग भक्त श्रीनन्दनन्दनकी ही उपासना करते हैं। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीमथुरा तथा श्रीद्वारकाधामके राजनीति-विशारद श्रीवासुदेवकी उपासनाका वैसा आदर्श नहीं उपस्थित किया, जैसा व्रजदेवी यशोदाके स्तनन्धय (बालक) की, नन्दव्रजमें श्रीदाम-सुदामा आदि गोपालोंके सखाकी, श्रीवृन्दावनलीलामें श्रीराधिका आदि गोपीजनोंके प्राणवल्लभकी, वंशीनिनादके सहारे श्रीगोप-गोपिकाओंको आकर्षित करनेवाले-मुरली-मनोहरकी तथा वहाँके तरु-लता, गिरि-नदी, मृग-खग आदिको आनन्दित करनेवाले गोप-बालक गोपाल, श्रीकृष्ण-चन्द्रकी आराधनाका उपदेश दिया है। विशेषतः मधुर-रसास्वाद-तत्पर होकर अहर्निश श्रीश्रीराधाकृष्ण युगल स्वरूपके लीला-कीर्तन और स्मरणको ही प्रधानता देकर उन्होंने अपने अनुगामियोंके लिये अपना आदर्श श्रीधाम नवद्वीप मायापुरमें श्रीगौराङ्गरूपसे, श्रीनीलाचल-क्षेत्रमें श्रीकृष्ण-चैतन्यरूपसे पूर्णरूपेण प्रदर्शित किया है। अतएव उनके मतसे व्रजेशतनय श्रीकृष्ण ही आराध्य हैं, यह सिद्धान्त निश्चय हुआ।

इसके बाद उनके धामका निर्णय किया जाता है। व्रजभूमिमें ही व्रजेशतनयकी लीला हुई—न मथुरामें हुई न द्वारकामें और न अन्यत्र। जब सूर्यग्रहणके बहाने श्रीकृष्ण नन्द-यशोदा एवं अन्यान्य गोप-गोपिकाओंसे मिले थे, उस समय न तो किसी व्रजवासी या व्रजवासिनीको न स्वयं श्रीकृष्णको ही वैसी प्रसन्नता हुई, जैसी प्रसन्नता पहले व्रजमें मिलनेपर होती थी।

अब व्रजेशतनयकी उपासना-प्रणालीका वर्णन किया जायगा। उपासनाका लक्ष्य है उनकी प्रीति प्राप्त करना। वृन्दावनमें तथा लक्षणासे उसके साथ-साथ गोवर्द्धनमें और राधाकुण्डमें—इतना ही क्यों, समस्त व्रजभूमिमें मधुर-रसकी सेवा ही श्रीकृष्णको परम सुख प्रदान करती है। उसीकी यत्नपूर्वक साधना करनी चाहिये।

सभी मनुष्य एक दूसरेके साथ पाँच रसोंद्वारा सम्बन्धित हैं। उदाहरणके लिये कुछ सम्बन्धी हमारे ऐसे होते हैं, जो मन, वचन और शरीरसे हमारा आदर करते हैं। हमको देखकर, हमारी बातें सुनकर, हमारे विषयकी चर्चा करके उनको बहुत प्रसन्नता होती है, यद्यपि उनकी हमारे प्रति इतनी ममत्व-बुद्धि नहीं होती कि अपने सुखको त्यागकर वे हमारे सुखके लिये सदा प्रयत्न करें। हमारे प्रति उनकी प्रीति पूर्णतः क्रियाशील नहीं होती। उनका हमारे साथ शान्त-रसका सम्बन्ध है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी होते हैं, जो रात-दिन निःस्वार्थ भावसे हमें सुख पहुँचानेवाले कार्य करते हैं। उनकी हमारे प्रति ममतामयी वृत्ति कार्यकरी होती है, जो शान्त-रसका आश्रय करनेवाले सम्बन्धियोंमें नहीं होती। ये लोग हमें अधिकतर प्रीति प्रदान करते हैं। ये हमारी दास्य-रससे सेवा करते हैं।

सख्य-रसके रसिक सखा इनकी अपेक्षा कहीं अधिक मात्रामें खेल आदिके द्वारा बराबरीके भावसे हमको अधिक गाढ़ी प्रीति प्रदान करते हैं।

माता-पितामें ममताकी अधिकता बहुल परिमाणमें होती है। ये दोनों वात्सल्य-रसद्वारा हमको पालनयोग्य

तथा शासनयोग्य समझकर सखाओंकी अपेक्षा भी अधिक गाढ़ी प्रीतिसे हमारा पालन करते हैं।

सर्वोपरि ममताकी अधिकता अनन्यभावसे—एकीभावसे, तादात्म्यभावसे युक्त, कान्ताके माधुर्यसे उज्ज्वल शृङ्गार-रसमें दीख पड़ती है। स्वाङ्गपर्यन्त सर्वस्वका भी दान देकर ऐसी घनिष्ठ मधुर-रसमयी सेवा कहीं भी अन्य किन्हीं सम्बन्धियों या सखाओंमें सम्भव नहीं है। इनमें भी यदि यह प्रीति परकीयभावसे अनुष्ठित होती है, तब इसके रसास्वादनमें उत्तमोत्तम माधुर्य-की पराकाष्ठा हो जाती है, यद्यपि किसी जीव विशेषके साथ यह आस्वादन सर्वथा निन्दनीय होता है।

वृन्दावनमें शान्तरसके आश्रय गौएँ, वेत्र, सींग मुरली, पर्वत, नदी, वृक्ष, यमुनातट, बल आदि श्रीकृष्णके सान्निध्य-में उनके आह्वान-स्वरसे अथवा वेणुनादसे सदा उत्फुल्ल रहते हैं, श्रीकृष्णके वियोगमें उनकी भी दशा शोचनीय हो जाती है। नन्दालयमें चित्रक, पत्रक, रक्तक आदि सेवक 'श्रीकृष्ण ही हमारे एकमात्र प्रभु हैं' यह मानकर अहैतुकी प्रीतिवश आदेश प्राप्त होनेके पहले ही अपने मनसे उनका अभीष्ट सम्पादन करते रहते हैं। वे शुद्ध दास-रसके आदर्श हैं। श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, सुबल आदि व्रज-गोपाल—जो क्रीडाभूमिमें श्रीकृष्णको ही अपनी पीठपर वहन नहीं करते, अपितु समय आनेपर स्वयं श्रीकृष्णके कंधेपर चढ़कर उनको आनन्दित करते हैं—विश्रम्भात्मक सख्य-रसके रसिकोंका उदाहरण स्थापित करते हैं। नन्द-यशोदा आदि वात्सल्यभावसे श्रीकृष्णके पालनमें रत रहते हैं। वे श्रीकृष्णको भगवान् जानकर भी पुत्र-स्नेहसे कभी विचलित नहीं होते, अपितु वात्सल्य-रसके द्वारा ही उनकी सेवा करते हैं। श्रीराधिका आदि किशोर अवस्थाकी गोपियाँ नानाविध शृङ्गार-रसके उपयुक्त परकीया-भावसे युक्त रास-विलास आदिसे श्रीकृष्णको सुख प्रदान करती हुई मधुररसाश्रित कान्तारूपसे श्रीवृन्दावन-लीलामें परिदृष्ट होती हैं। समस्त विश्वके एकमात्र भोक्तृतत्त्व भगवान् श्रीकृष्णकी परकीया-भावसे सेवा सर्वोत्तमोत्तम है, गर्हणीया कदापि नहीं। मुनिवर मैत्रेयने श्रीविदुरसे यही बात कही है—

> सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
>
> (श्रीमद्भा० ३।७।९)

परकीयाभावकी प्रामाणिकताका विचार करते समय इस विषयकी आलोचना विस्तारसे की जायगी।

उपर्युक्त पाँचों रसोंके आश्रय [illegible] ही ऐकान्तिकी भक्ति थी। [illegible] कि उनके काम्य-स्वरूप [illegible] [illegible] उनके लिये मुक्ति भी स्पृहणीय न थी। [illegible] रस शास्त्रकी विशेष शिक्षा पाये हुए [illegible] भक्तिके सम्पुटरूप श्रीहरि-भक्ति-रसामृतसिन्धु [illegible] (पूर्वभागकी द्वितीय लहरीमें) लिखते हैं—

> किंतु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ।
> नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि॥
> तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः।
> येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात्।
> सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
> रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥

मुक्ति [illegible] श्रीजीव गोस्वामी—[illegible] गोस्वामियोंमें एक [illegible] उपर्युक्त श्लोकोंकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

> ततः साक्षात् [illegible] गोविन्दः श्रीगोकुलेन्द्रः, श्रीश परव्योमाधिप [illegible] स्वेन श्रीहरिदानाय्योऽपि। [illegible] उत्कृष्यते [illegible] [illegible] स्थितिः स्वभाव [illegible]।

अर्थात् क्योंकि साक्षात् [illegible] वासियोंको परमानन्दकी प्राप्ति [illegible] अभिप्राय यहाँ श्रीगोकुलेन्द्रसे है [illegible] परव्योमके अधिपति [illegible] है। 'रस' शब्दका अभिप्राय [illegible] है। 'उत्कृष्यते' का अर्थ है [illegible] क्योंकि उन रसकी [illegible] श्रीकृष्णरूपमें ही [illegible]

× × × ×

[illegible]

श्रीमद्भागवतके [illegible]

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

वेद कल्पतरु हैं, ब्रह्मसूत्र उसके पुष्प हैं, श्रीमद्भागवत उसका रसमय मधुर फल है; क्योंकि—

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद् रतिः क्वचित् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १३ । १५)

अर्थात् श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण वेदान्त (उपनिषदों) का सार है, भागवतके रसामृतसे जो छक गया है उसकी अन्य किसी भी ग्रन्थमें प्रीति नहीं हो सकती । वही श्रीमद्भागवतरूपी फल जब चित्तजगत्‌में परिपक्वताको प्राप्त होता है, तब श्री-शुकदेवजी उसको पक्षिभावसे प्रपञ्चमें ले आते हैं । अतएव उसको 'शुकमुखात् अमृतद्रवसंयुतम्' कहा गया है । श्रीकृष्ण-लीला ही वह रस है । 'हे भगवत्प्रीतिरसज्ञ ! अप्राकृत रसकी भावनामें चतुर भक्तजन ! शुकके मुखसे निकले हुए इस परमानन्दनिर्वृतिरूप रसका मुक्तावस्थामें भी पुनः-पुनः नित्य पान करो !' इस सुविमल भागवत-शास्त्रके विषयमें पुनः श्रीमद्भागवत- (१२ । १३ । १८) की ही घोषणा है—

श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

अर्थात् श्रीमद्भागवतपुराण दोषरहित है, वैष्णवोंका प्रिय ग्रन्थ है, जिसमें विशुद्ध और उत्कृष्ट पारमहंस्य-ज्ञानका गान हुआ है तथा जिसमें ज्ञान-विराग और भक्तिके साथ-साथ भगवत्सेवारूप नैष्कर्म्यका सिद्धान्त प्रकट किया गया है । उसको सुनने, सुस्वरसे पाठ करने तथा भक्तिपूर्वक चिन्तन करनेसे मनुष्य भवक्लेशरूप-बन्धनसे छूट जाता है । अतएव श्री-मद्भागवतके विशुद्ध प्रमाण होनेमें कोई शङ्काका अवसर नहीं रह जाता । प्रबन्ध-विस्तारके भयसे अन्य प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं ।

अब यह विचार करना है कि परम पुरुषार्थ क्या है । कर्मी लोग त्रिवर्ग-कामी होते हैं । उनके प्रार्थनीय हैं—धर्म, अर्थ और काम । धर्माचरणके द्वारा वे उस पुण्यलोककी कामना करते हैं, जहाँ उन्हें बहुत-से भोग प्राप्त होनेकी आशा है । उनकी आकाङ्क्षाका वर्णन वेदमें भी आता है । जैसे—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥
(कठोपनिषद् १ । १ । १२)

नचिकेता यमराजसे कहते हैं—'स्वर्गलोकमें कोई भय नहीं है । वहाँ न तो तुम (यम) ही और न वृद्धापेका डर है । प्राणी भूख और प्यास दोनोंको पार करके शोकातीत होकर स्वर्गलोकके आनन्द भोगता है ।' परंतु नचिकेता भोगा-काङ्क्षाकी निवृत्तिके लिये स्वर्ग-सुखके अस्थायित्वको भलीभाँति स्थापित करता है—

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।

अर्थात् आप अपने स्वर्गके अश्व आदि तथा नृत्य-गीत आदिको अपने पास ही रखिये; क्योंकि वहाँ (स्वर्ग) का भी जीवन अल्पकालीन ही है ।

मुण्डकोपनिषद्‌में भी आता है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् ।
(१ । २ । १२)

अर्थात् ब्रह्मज्ञान-सम्पन्न विद्वान् कर्मोंके द्वारा प्राप्त स्वर्गादि लोकोंको अनित्य जानकर (सकाम) कर्मोंके प्रति निर्वेद-को प्राप्त करता है । अतएव यज्ञ-यागादिके द्वारा धर्मसाधन परम पुरुषार्थ नहीं है ।

अर्थकामियोंकी भी आशा कदापि पूरी नहीं होती—इस बातको सभी जानते हैं और अनुभव करते हैं । अर्थार्जनमें दुःख होता है, उसके नाशमें ताप होता है, अर्थको लेकर आपसमें सदा झगड़ा-विवाद खड़ा हो जाता है, चोरीके भयसे तथा प्राण जानेके भयसे क्लेश होता है । अर्थकी जितनी वृद्धि होती है, उतनी ही अधिक उसकी प्राप्तिकी आशा भी बढ़ती है और अप्राप्तिमें दुःख होता है । अर्थके द्वारा सुखकी प्राप्ति कदापि नहीं होती । अर्थ सारे अनर्थोंका मूल है । श्रीमद्भागवतमें ही कहा है कि एक अर्थसे पंद्रह अनर्थ उत्पन्न होते हैं । देखिये श्रीमद्भागवत ११ । २३ । १८-१९ ।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।

असली अर्थको छोड़कर संसारी पुरुष भोग-कामनाकी सिद्धिके लिये धनको ही अर्थ मानते हैं, जिससे सारे भोग-पदार्थोंका संग्रह हो सके। असली अर्थ क्या है, इसका निर्णय आगे किया जायगा।

काम भी सुखद नहीं होते। उनकी अप्राप्तिमें दुःख होता है। प्राप्तिके लिये चेष्टा भी दुःखप्रद होती है। प्राप्त होनेपर भी उनका उपभोग अल्पकालतक ही सीमित होता है। उपभोगके बाद उनकी सामग्रीका क्षय हो जाता है। यह और भी दुःखजनक होता है। अर्थ-प्राप्तिकी आशाके समान भोग-कामना भी उपभोगके द्वारा क्रमशः बढ़ती है, उससे कभी परितृप्ति नहीं होती। राजा ययातिने परम अभिज्ञ होकर इस सत्यकी सम्यक् उपलब्धि की थी—

> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
> एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥
> यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
>
> (विष्णु-पुराण ४। १०। २३-२४)

भोगसे काम शान्त नहीं होता, वरं घृताहुतिके द्वारा अग्निके समान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। जगत्‌में जितनी भी भोगकी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब एक भी कामी पुरुषको पर्याप्त प्रीति नहीं प्रदान कर सकतीं। अतएव काम भी भोग-साधक अर्थके समान ही सुखदायी नहीं है, बल्कि अति दुःखदायी है।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गको ही परम पुरुषार्थ माननेवालोंको शाश्वत और निर्मल सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उन्हें सुखका जो आभास मिलता है, वह भी क्षणिक और दुःखमिश्रित होता है। त्रिवर्गके द्वारा कभी निःश्रेयसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य कदापि इनका अनुसरण करके दुर्लभ मानव-जन्मको नहीं खोते। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

> लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
> मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
> तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
> न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

'जड रूप-रस-गन्ध शब्द-स्पर्शके मूल हैं—विषय। वे कीट आदि समस्त शरीरोंमें स्वतः प्राप्त होते हैं। इनके लिये यत्न करना आवश्यक नहीं है। परन्तु मानव-देह अनेक जन्मोंमें भी प्राप्त होना कठिन है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष जिसके अनुसन्धानमें [illegible] नष्ट न करके [illegible] प्राप्तिके लिये श्रीभगवद्भजन करे।'

स्वर्ग-सुखकी प्राप्तिके लिये [illegible] त्रिवर्गके अनुसार धर्म करते हैं। [illegible] की गयी। परन्तु असली धर्म अन्य ही प्रकारका है, [illegible] धर्म है। उसका फल भिन्न है। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धके द्वितीय अध्यायमें आया है—

> स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
> अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥ ६॥
>
> × × × ×
>
> धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
> नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥ ८॥
> धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
> नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥ ९॥
> कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
> जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥ १०॥
>
> × × × ×
>
> स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥ १३॥

जिससे अधोक्षज भगवान्‌में भक्ति हो, वही परम धर्म है। इस भक्तिमें जड भोगोंकी कामना नहीं [illegible] आत्माकी प्रसन्नता [illegible] जिस धर्मानुष्ठानसे [illegible] नहीं उत्पन्न होती, [illegible]। यह परम धर्म [illegible] द्वारा प्राप्त [illegible] द्वारा इन्द्रिय-प्रीति प्राप्त होती है। [illegible] आदिका तात्पर्य होता है।

धर्म-अर्थ और काममें [illegible] पूर्वकर्मोंके अनुसार [illegible] कोई प्रयत्न नहीं [illegible] वाले भोगोंकी भी [illegible] है कि उनकी [illegible] श्रीमच्चैतन्यमहाप्रभु [illegible] निर्मल [illegible]—

> न धनं न जनं न सुन्दरीं
> कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भक्तोंको चतुर्वर्गकी लालसा नहीं होती; धर्म-अर्थ-काम-मोक्षको वे पुरुषार्थ ही नहीं मानते ।

स्वरूपतः जीव नित्य कृष्ण-दास है, इसके सिवा सब कुछ छल है । इसीमें श्रीचैतन्यके अनुयायियोंके 'अचिन्त्य-भेदाभेद' नामक दार्शनिक सिद्धान्तका बीज निहित है । श्रीचैतन्य-चरितामृतमें आया है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य दास ।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश ॥
× × × ×
कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख ॥
× × × ×
मायामुग्ध जीवेर नाइ कृष्णस्मृति ज्ञान ।
जीवेर कृपाय कैल कृष्ण वेद पुराण ॥
कृष्णप्राप्ति सम्बन्ध भक्तिप्राप्तिर साधन ।
अतएव भक्ति कृष्ण प्राप्तिर उपाय ।
अभिधेय बलि तारे सर्व शास्त्र गाय ॥
वेदशास्त्रे कहे सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन ।
कृष्ण कृष्णभक्ति प्रेम महाधन ॥

नित्य कृष्ण-दास्य ही जीवका स्वरूप है । यह भेदाभेद-प्रकाशके द्वारा श्रीकृष्णकी तटस्था शक्तिरूप है । श्रीकृष्ण विभुचित् हैं । जीव अणुचित् है । दोनोंका चेतनतारूप धर्म होनेके नाते अभेद है । परंतु श्रीकृष्ण विभु हैं और जीव अणु है, इस दृष्टिसे उनमें भेद है । चिदचित्के बीच जीवकी स्थिति जल और स्थलके बीच तटकी स्थितिके समान है । श्रीकृष्णकी चिच्छक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिके परिणामस्वरूप चिदचिद्-रूप जीव-जगत्का आविर्भाव होता है । जीव कृष्णको भूलकर अनादिकालसे कृष्णबहिर्मुख है । अतएव माया उसको सांसारिक सुख प्रदान करती है, जो तत्त्वतः दुःख ही है । मायामुग्ध जीवको कृष्णस्मृतिजनित ज्ञान नहीं है । श्रीकृष्णने जीवके प्रति दया-परवश होकर वेद-पुराणोंकी रचना की । वेद सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनको बतलाते हैं । कृष्ण-प्राप्ति ही सम्बन्ध है, कृष्णभक्ति अभिधेय है और कृष्ण-प्रेम प्रयोजन है । जीवके स्वरूप आदिके सम्बन्धमें यही महाप्रभुका मत है, जो शास्त्रसम्मत भी है ।

अतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवत्प्रेम ही जीवका निःश्रेयस मङ्गल है । भगवान्ने श्रीमद्भागवत (११ । २० । ६) में मनुष्यके कल्याणके लिये तीन ही उपाय बतलाये हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति । इस निबन्धमें दिखलाया जा चुका है कि ज्ञान और कर्मकी उपयोगिता निःश्रेयसकी प्राप्तिमें नहीं है । सच तो यह है कि भक्तिके बिना वे दोनों ही अपना-अपना फल प्रदान करनेमें असमर्थ हैं । ज्ञान-कर्मके फलकी प्राप्तिके लिये जो भक्ति की जाती है, वह ज्ञान-कर्म-प्रधान मिश्रा भक्ति है । भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये केवला भक्ति ही समर्थ होती है, मिश्राभक्ति नहीं । वह ऊर्जित (तेजस्विनी) एवं और एक (अनन्या) होती है । श्रीभगवान् कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०-२२)

अर्थात् केवल भक्तिके बिना अन्य साधनोंके द्वारा भगवत्प्रेमप्राप्तिकी सम्भावना नहीं है । श्रीनारदजीकी उक्तिसे अन्यत्र भी यही ध्वनित होता है—

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः ।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि ।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ३१ । १०-१२)

उत्तम भक्तका लक्षण नारदपाञ्चरात्रमें इस प्रकार बतलाया गया है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

भक्तिरसामृतसिन्धु- (पूर्व विभाग, प्रथम लहरी) में भी आया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

दोनों श्लोकोंका एक ही भाव है । दूसरे श्लोकमें भक्तिका लक्षण बतलाते हैं कि अनुकूल भावसे श्रीकृष्णकी सेवा ही भक्ति

है। श्रीकृष्णको जो प्रवृत्ति रुचती हो, उसीमें उनकी अनुकूलता है। असुरोंद्वारा प्रतिकूल भावसे अनुशीलन भक्ति नहीं है।

अतः श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका जो भक्तिधर्म है, वह कृष्णसेवाके अन्तर्गत शुद्धभक्तिमूलक है। वह भक्ति चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें सहायता करनेवाली मिश्रभक्ति नहीं है। वह तो स्वरूपावस्थामें स्थित जीवका नित्यकृत्य—श्रीकृष्णसेवा है, जो वह श्रीकृष्णप्रेमकी साधिका है। यह प्रेम-धर्म आदि, मध्य और अन्तमें श्रीभगवन्नामकीर्तनके सहयोगसे ही करना चाहिये। कलिमें नाम-सङ्कीर्तन ही युगधर्म है। श्रीनाम-कीर्तनके प्रभावसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है; क्योंकि नाम नामीसे अर्थात् श्रीकृष्णसे अभिन्न है। पद्मपुराणमें लिखा है—

> नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
> पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

अतएव श्रीकृष्णके समान नाम भी जड़-स्पर्शसे शून्य, नित्यमुक्त, चिद्रसविग्रह, चिन्तामणिके समान अभीष्ट प्रदान करनेमें समर्थ है। ऋग्वेदमें आता है—

> ॐ आऽस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते
> विष्णो सुमतिं भजामहे ॐ तत्सत्।
> (१।१५६।३)

अर्थात् हे विष्णो! तुम्हारा नाम चित्स्वरूप है, अतएव महः—स्वप्रकाशरूप है। इसलिये उसके विषयमें अल्पज्ञान रखते हुए भी उसका उच्चारणमात्र करते हुए सुमति अर्थात् तद्विषयक ज्ञान हम प्राप्त करते हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है—

> कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
> कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
> कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
> द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
> (१२।३।५१-५२)

कलियुगी जीवोंकी ध्यान-यज्ञ अर्चना योग्यताके अभावसे निष्फल हो जाती हैं, नाम-सङ्कीर्तनसे ही उनमें निःश्रेयस-प्राप्तिकी योग्यता आती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। बृहन्नारदीय पुराणमें ठीक ही लिखा है—

> हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदिलीला, परिच्छेद १७) में श्रीमन्महाप्रभुके द्वारा की गयी इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार उद्धृत है—

> कलिकाले नामरूपे [illegible]
> नाम हैते हय सर्व [illegible]
> दार्ढ्य लागि हरेर्नाम [illegible]
> जड़ लोक बुझाइते [illegible]
> केवल शब्दे पुनरपि [illegible]
> ज्ञान योग तप कर्म [illegible]
> अन्यथा ये माने तार [illegible]
> नाहि नाहि नाहि ए तिन [illegible]

अर्थात् कलिमें नामके रूपमें श्री[illegible] है; नामसे सम्पूर्ण जगत्‌का निस्तार होता है। [illegible] 'हरेर्नाम' की तीन बार आवृत्ति की गयी [illegible] समझानेके लिये पुनः 'एव' का प्रयोग [illegible] फिर 'केवल' शब्दका और भी निश्चय [illegible] है। उससे ज्ञान—योग-तप-कर्म आदिका [illegible] जिसकी ऐसी मान्यता नहीं है, उसका [illegible] है। 'एव' के साथ 'नास्ति, नास्ति, नास्ति' [illegible] इसीका पूर्ण समर्थन किया गया है।

इसके अतिरिक्त श्रीचैतन्य-चरितामृत[illegible] चतुर्थ परिच्छेदमें भी श्रीमन्महाप्रभुका [illegible] है—

> कुबुद्धि छाड़िया कर [illegible]।
> अचिरात् पाबे तबे [illegible]॥
> नीचजाति नहे कृष्ण-भजने [illegible]।
> सत्कुल विप्र नहे [illegible]॥
> येइ भजे सेइ बड़ [illegible]।
> कृष्ण-भजने नाहि जाति-कुलादि [illegible]॥
> दीनेरे अधिक [illegible]।
> कुलीन पण्डित धनीर [illegible]॥
> भजनेर माध्ये श्रेष्ठ [illegible]।
> कृष्णप्रेम कृष्ण दिते [illegible]॥
> तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ [illegible]।
> निरपराधे नाम लैले [illegible]

अर्थात् कुबुद्धि (तर्कबुद्धि) [illegible] इससे करनेसे शीघ्र ही कृष्ण[illegible] वर्णमें पैदा होनेसे ही कोई [illegible] विपरीत सत्कुलमें उत्पन्न ब्राह्मण ही [illegible] भी नहीं है। जो भजनमें [illegible] अभक्त है, वही दीन—छूटे [illegible] है। [illegible]

दया करते हैं। कुलीन, पण्डित और धनी लोग बड़े अभिमानी होते हैं। (अतएव वे भजन-विमुख होनेके कारण अपराधी हैं।) भजनमें नवधा भक्ति श्रेष्ठ है। वह कृष्ण-प्रेम तथा स्वयं श्रीकृष्णको प्रदान करनेमें शक्तिशालिनी होती है। उसमें भी नाम-संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ है। साधु-निन्दा आदि दस अपराधोंका त्याग करके नाम लेनेपर प्रेम-धन प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें कुन्ती महारानी श्रीकृष्णसे कहती हैं—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्॥
(१।८।२६)

श्रीभगवान् अकिंचनको ही प्राप्त होते हैं, अभिमानीको नहीं। श्रीमन्महाप्रभुने 'शिक्षाष्टक' के तृतीय श्लोकमें कीर्तन-प्रणालीका उपदेश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'तृणसे भी अधिक नम्र होकर, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु बनकर, स्वयं मानकी अभिलाषासे रहित होकर तथा दूसरोंको मान देते हुए सदा श्रीहरिके कीर्तनमें रत रहे।'

श्रीहरि-नाम-कीर्तन करनेवालोंमें चार प्रकारकी योग्यता होनी चाहिये। वे दीन रहें, परंतु कपट-दैन्य प्रशंसनीय नहीं है। राजा अम्बरीषके समान सब प्रकारका वैभव होनेपर भी तथा उपर्युक्त कुन्ती महारानीके वचनानुसार सुन्दर कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और श्रीसम्पन्न होकर भी मद-अभिमानसे शून्य रहे। जैसे वृक्ष घाम-शीत-वृष्टि आदिके द्वारा प्राप्त क्लेशको धैर्यपूर्वक सहकर भी, कुल्हाड़ीसे काटकर बहुत क्लेश देनेवालेको भी फल-पुष्प-छाया आदिके द्वारा सुख पहुँचाता है, कीर्तन करनेवालेको भी उसी प्रकार धैर्यशील और तितिक्षावान् होना चाहिये। सर्वगुण-सम्पन्न होकर भी अपनेको सम्मानके योग्य न समझे। सबके भीतर अन्तर्यामीरूपसे श्रीकृष्ण ही विराजमान हैं, यह स्मरण रखकर सभीको सम्मान प्रदान करे।

अन्तमें संकीर्तन-गुणावलीका वर्णन करनेवाला श्रीमन्महाप्रभुके शिक्षाष्टकका प्रथम श्लोक हमारे गुरुवर प्रभुपाद श्रीभक्ति-सिद्धान्त सरस्वती महाराजकी व्याख्याके साथ उद्धृतकर यह निबन्ध समाप्त किया जाता है—

चेतोदर्पणमार्जनं (१) भवमहादावाग्निनिर्वापणं (२) श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं (३) विद्यावधूजीवनम्। (४) आनन्दाम्बुधिवर्धनं (५) प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं (६) सर्वात्मस्नपनं (७) परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

यहाँ 'संकीर्तन'से सर्वतोभावेन कीर्तन—यह अर्थ निकलता है, जिसमें अन्य किसी साधनकी अपेक्षा न हो। इसीके द्वारा सम्यग् विजय प्राप्त होती है। इसीसे सारी अप्राकृत सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनमेंसे सात विशेष सिद्धियाँ यहाँ कही जाती हैं। (१) नाम-संकीर्तन जीवके मलिन चित्त-दर्पणको शुद्ध करके निर्मल कर देता है। प्रभु-विमुख होनेके कारण कर्मियोंमें फल-भोगकी स्पृहा और ज्ञानियोंमें फल-त्यागकी स्पृहा रहती है। इन दोनों प्रकारकी स्पृहारूपी प्राकृत मलसे बद्ध जीवका चित्त-दर्पण आवृत रहता ही है; उस आवरणरूपी मलको दूर करनेके लिये श्रीकृष्ण-संकीर्तन ही एकमात्र उपाय है। श्रीकृष्णके कीर्तनसे जब चित्त-दर्पण निर्मल हो जाता है, तब जीव माया-मुक्त होकर अपने स्वरूप अर्थात् श्रीकृष्णके दास्यभावको स्वरूपसे प्राप्त कर लेता है। (२) बाहरसे संसार सुखद दीखनेपर भी भीतरसे जलते हुए घने जंगलके समान है, जिसमें रहनेवाले श्रीकृष्ण-विमुख जीव सदा त्रितापोंसे जलते रहते हैं। श्रीकृष्णके सम्यक् कीर्तनसे ही कृष्णोन्मुखता प्राप्त होकर शान्तिरूप जलसे त्रितापका शमन कर देती है। (३) अन्याभिलाष तथा कर्म-ज्ञानादिसे मङ्गलकी इच्छा ही अज्ञानरूपी अन्धकार है। कुमुदको आह्लाद देनेवाली ज्योत्स्नाके समान श्रीकृष्णका संकीर्तन अज्ञान-तमका निवारण करके परम मङ्गलरूप शोभा वितरित करता है। (४) मुण्डकोपनिषद्में परा-अपरा-भेदसे विद्या दो प्रकारकी कही गयी है। श्रीकृष्ण-संकीर्तनके प्रभावसे जीव अपरा (लौकिकी) विद्यासे मुक्त होकर परा-विद्या अर्थात् श्रीकृष्ण-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतएव वह विद्यारूपी वधूका जीवन है। (५) श्रीकृष्ण-संकीर्तनसे ही जीवका अप्राकृत ज्ञान-सिन्धु प्रबलतापूर्वक बढ़कर अखण्ड आनन्द प्रदान करता है। (६) श्रीकृष्ण-संकीर्तन पद-पदपर अप्राकृत रसमाधुर्यका आस्वादन प्रदान करता है। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

स्याद् कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।
किंत्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा
स्वाद्वी क्रमाद् भवति तद्गदमूलहन्त्री॥

(उपदेशामृत श्लो० ७)

'अहा! जिसकी रसना अविद्या-पित्तसे तप्त है, उसे

श्रीकृष्ण-नाम-गुण-चरितादिरूप सुमिष्ट मिश्री भी रुचिकर नहीं होती। किंतु यदि श्रद्धापूर्वक उसका निरन्तर सेवन किया जाय तो क्रमशः उसका अविद्या-रोग प्रशमित होता है, नाममें रस आने लगता है और रुचि बढ़ जाती है। (७) उपाधि-ग्रस्त जीव नाना प्रकारके स्थूल-सूक्ष्म मालिन्यमें [illegible] है। श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तनसे सदाभिनिवेशादि दोष सब धुल जाते हैं और जीव श्रीकृष्णोन्मुख होकर सुलभ श्रीकृष्ण-पाद-पद्म-सेवाको प्राप्त करता है।

'ज्ञानेश्वरी' और 'दासबोध' में भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगोविन्द नरहरि वैजापुरकर, न्याय-वेदान्ताचार्य)

'कल्याण' के भक्ति-अङ्कमें भक्तिपर अनेक विशिष्ट विद्वान् अपने-अपने विचार और अनुभव उपस्थित करेंगे। मैं कोई वैसा विद्वान् नहीं और न अनुभवी ही हूँ। दर्शनका साधारण विद्यार्थी और शब्दब्रह्मका ककहरा शुरू करनेवाला भक्तोंकी चरण-धूलिका कृपाकाङ्क्षी ठहरा ! फिर भी 'भक्ति' पर लिखनेकी उत्कण्ठा विशेष जोर पकड़ रही थी। सामने श्री-ज्ञानेश्वर महाराजकी 'ज्ञानेश्वरी' और श्रीसमर्थ रामदास स्वामी-का 'दासबोध' रखा था। दृष्टि पड़ते ही मनमें एक विलक्षण-सा धैर्य आ गया। अंधेको लाठी नहीं, लाठियाँ मिल गयीं। अब इन्हीं ग्रन्थरत्नोंके ओड़ोंसे इस अपनी क्षुद्र बुद्धि-तरीको भक्ति-सागरके पार ले जानेके लिये निकल पड़ा हूँ। भक्तोंके आशीर्वादकी अनुकूल वायु और गुरुनाथकी पतवार-का सहारा मिला तो निश्चय ही अपने यत्नमें सफल होऊँगा। हाँ, तो अब भूमिका छोड़ लेना ही आरम्भ करता हूँ।

श्रीज्ञानदेव भगवान्‌के ही भावको व्यक्त करते हुए कहते हैं—"कपिध्वज ! मेरे उस स्वाभाविक प्रकाशको ही लोग 'भक्ति' कहते हैं। आर्तोंमें यही आर्ति, जिज्ञासुओंमें यही जिज्ञासा और अर्थार्थियोंमें यही अर्थादि नाम पाती है। इस प्रकार ये मेरी तीनों भक्तियाँ अज्ञानको लेकर ही चलती हैं। वे मुझे देखनेवालेको देखनेके पदार्थपरसे दिखाती हैं। यहाँ मुँहसे ही मुँह दीखता है, यह कहना गलत न होगा। पर यह मिथ्या द्वितीयत्व जो दीखता है, वह दर्पणकी ही करामात है। वास्तवमें दृष्टि-ज्ञानद्वारा मैं ही स्वयं दीखता हूँ। फिर भी उसमें दृश्य-स्वरूप-भेद रहता ही है। यही दृश्यत्व मिटते ही मेरा मैं ही अपने-को प्राप्त होता हूँ। 'चौथी' तो इसे यों ही कहा है, पर है यह 'पहली' ही। इसीलिये हाथ उठाकर, बड़े विश्वासके साथ मैंने तुमसे कहा कि 'ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है।'"

"कल्पके आदिमें रहनेवाली यही उत्तम भक्ति 'भागवत' के निमित्तसे मैंने ब्रह्मदेवको बतायी। ज्ञानी इसे अपनी 'ज्ञान-कला' कहते हैं। शिवोपासक इसे 'शक्ति' और हम लोग इसे 'परम भक्ति' कहा करते हैं। यह भक्ति [illegible] तभी पाते हैं, जब वे मुझसे आकर मिल जाते हैं। तब [illegible] और मैं-हीमें भरा रहता हूँ। उस समय क्रियाके साथ [illegible] और मोक्षके साथ बन्ध मुक्त जाता है, मुक्ताशुक्तिके साथ शुक्ति भी डूब जाती है तथा जीवभावके साथ ईश्वरभाव भी मिट जाता है। जिस तरह आकाश पानी भूमिको निगल जाता है, उसी तरह अन्तिम साध्य-साधनको [illegible] अपने पदको एकरूप होकर मैं ही भोगता हूँ। [illegible] भक्त उस समय मद्रूप होकर बिना क्रियाके मुझे [illegible] है, जिस तरह लहरें सभी अङ्गोंसे पानीका उपभोग करती हैं, प्रभा बिम्बमें सर्वत्र विलसित होती है [illegible] अवकाश लोटता रहता है। इस तरह [illegible] पड़ने नहीं पड़ती, फिर भी उनकी [illegible] ही है। कैसे ! यह तो अनुभवका विषय है, [illegible] वस्तु नहीं।"

> भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
> (१८। ५५)

उपर्युक्त गीतावचनका [illegible] है, जो ऊपर रखा गया है।

निम्नगामी [illegible] जब साधनाकी उच्चदशामें [illegible] भगवान्‌के शब्दोंका ही [illegible] —'निद्रा अथवा [illegible] जिस स्थितिमें हो [illegible]। [illegible] और न [illegible]। [illegible] अभिमान भी [illegible]। [illegible] कुलाचरण [illegible] करने योग्य हैं, उन्हें [illegible]

मत करो ! इस प्रकार सुखसे आचरण करनेकी तुम्हें पूरी छूट है; किंतु शरीर, वाणी, मनसे जो कर्म करो उन्हें 'मैं करता हूँ' यह मत कहो । जो परमात्मा विश्वको चलाता है, वह जानता ही है कि कौन कर्म करनेवाला है और कौन नहीं ! यह कर्म कम किया और यह अधिक—इस विषयमें हर्ष-विषाद मत मानो । कारण, जैसे प्राचीन संस्कार होंगे, वैसे ही कर्म होंगे । इतना तो अपने जीवनका सार्थक्य कर लो । माली जिधर ले जाय, पानी उधर ही जाता है । उसी तरह तुम बन जाओ । इस प्रकार करनेसे प्रवृत्ति-निवृत्तिका बोझ बुद्धिपर नहीं पड़ता और चित्त-वृत्ति मुझमें स्थिर हो जाती है । क्या रथ कभी यह सोचता है कि यह मार्ग सीधा है या टेढ़ा ? इस तरह थोड़ा-बहुत जो भी कर्म बन पड़े, चुपचाप मुझे अर्पण करते जाओ । यदि अन्तकालतक ऐसी ही सद्भावना बनी रही तो तुम मेरे सायुज्य-सदनको प्राप्त हो जाओगे ।'

वे ही ज्ञानदेव 'राजविद्या-राजगुह्य' प्रकरणमें सगुणभक्तिकी महिमा भी पूरी शक्तिसे बखानने लगते हैं । वे भगवान्‌के भावसे कहते हैं—'अर्जुन ! जो महाव्या बढ़ते हुए प्रेमसे मुझे भजते हैं, जिन्हें मनसे भी द्वैत-भाव छू नहीं जाता, जो मद्रूप होकर मेरी सेवा करते हैं, उनकी सेवामें जो विलक्षणता होती है, वह सचमुच सुनने योग्य है । ध्यान देकर उसे सुनो ।

'वे हरिकीर्तनके लिये प्रेमसे शृङ्गार करके नाचते हैं, उनके प्रायश्चित्त आदि सभी व्यापार नष्ट हो जाते हैं । कीर्तन उनमें पापोंका नाम भी रहने नहीं देता । वे यम या मनोनिग्रह और दम या बाह्येन्द्रिय-निग्रहको निस्तेज कर देते हैं । तीर्थ अपने स्थानसे च्युत हो जाते हैं और यमलोकके सारे व्यापार रुक जाते हैं । यम कहने लगता है कि 'हम किसका नियमन करें ?' दम कहने लगता है कि 'किसे जीतें ?' तीर्थ कहने लगते हैं कि 'किसका उद्धार करें' क्योंकि दोष जो थे, वे दवाके लिये भी नहीं बचे । इस प्रकार वे भक्त मेरे नाम-घोषसे संसारके सभी प्राणियोंके दुःख दूर कर देते हैं । और सारा जगत् महासुखमें उछलने-कूदने लगता है ।

'वे साधु प्रभात हुए बिना ही जीवोंको प्रकाश (आत्मज्ञान) प्राप्त करा देते हैं । अमृतके बिना ही प्राणियोंके जीवोंका रक्षण करते हैं और योग-साधनाके बिना ही मोक्षको आँखोंके सामने खड़ा कर देते हैं । वे राव और रंकमें भेद नहीं करते ।

छोटा और बड़ा कुछ नहीं पहचानते । इस तरह वे जगत्‌के लिये भेदरहित आनन्दका स्रोत बन जाते हैं । वैकुण्ठको जानेवाला क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है । इन साधुओंने तो यहीं सब जगह वैकुण्ठ ला दिया है ।

'मेरे जिस नामका मुखसे उच्चारण होनेके लिये सहस्रों जन्म मेरी सेवा करनी पड़ती है, वही नाम इनकी वाणीपर सकौतुक नाचा करता है । मैं एक बार वैकुण्ठमें भी न मिलूँ, सूर्यमण्डलमें भी न दीख पड़ूँ, योगियोंके मनको भी लाँघकर चला जाऊँ और भी भले ही कहीं न मिलूँ; पर उनके पास तो अवश्य मिलता हूँ, जो सदैव मेरा नाम धारण किये रहते हैं । वे देश-कालको भूलकर मेरे नाम-कीर्तनके योगसे अपनेमें ही सुखी और तृप्त रहते हैं । मेरा ही गुणगान करते चराचर सृष्टिमें विचरते रहते हैं, बीच-बीचमें आत्मचर्चा भी करते हैं ।

'फिर वे कितने ही पञ्चप्राण और मनोंको जीतकर उनसे जयपत्र प्राप्त कर लेते हैं । बाहरसे यम-नियमोंका घेरा डालकर भीतर मूलबन्धका किला तैयार करते हैं और उसपर प्राणायामकी तोपें लगा देते हैं । फिर कुण्डलिनीको ऊर्ध्वमुख करके उसके प्रकाशमें मन और प्राणकी अनुकूलता (सहायता) द्वारा चन्द्रामृत या सत्रहवीं कलाके अर्थात् परिपूर्ण ज्ञानरूपी अमृतके कुण्डको कब्जेमें कर लेते हैं । उस समय प्रत्याहार बड़ी ही शूरताके साथ सपरिवार काम-क्रोधादि विकारोंको धराशायीकर इन्द्रियोंको बाँध हृदयके भीतर ले आता है । इतनेमें धारणारूप घुड़सवार चढ़ाई करके पञ्चभूतोंकी एकता कर देते और संकल्पकी चतुरङ्ग सेना (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) को नष्ट कर देते हैं । फिर जय-जयकारपूर्वक ध्यानकी दुन्दुभि बजने लगती है और तन्मयवृत्तिका एकछत्र राज्य प्रकाशित हो उठता है । फिर समाधिलक्ष्मीके सिंहासनपर आत्मानुभवके राज्यसुखका ऐक्यरूपसे पट्टाभिषेक होता है । अर्जुन ! मेरा भजन ऐसा गहन है । अब और भी लोग किस-किस तरह मेरा भजन करते हैं, यह सुनो ।

'जैसे वस्त्रके दोनों छोरोंतक आड़ा और खड़ा एक ही जातिका सूत्र रहता है, वैसे ही वे चराचरमें मेरे स्वरूपके बिना किसी भी वस्तुको स्वीकार नहीं करते । छोटे-बड़े, सजीव-निर्जीवका भेद त्यागकर दृष्टिमें आनेवाली प्रत्येक वस्तुको मद्रूप समझकर जीवमात्रको प्रेमसे नमस्कार करना उन्हें प्रिय लगता है । वे सदैव गर्वशून्य होते हैं, नम्रता ही उनकी सम्पदा होती है । वे जय-जयकार

करके सभी कर्म मुझे समर्पित कर देते हैं। नम्रताका दृढ अभ्यास करते हुए उन्हें मानापमानका ध्यान नहीं रहता। इस कारण वे सहसा मद्रूप हो जाते हैं। इस प्रकार मद्रूप होकर भी सदैव मेरी ही उपासना किया करते हैं।' ज्ञानेश्वरने अपना यह हृदय—

> सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
> नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
> (९।१४)

—गीतोपनिषद्के इस मन्त्रके व्याख्यानमें रख दिया है।

भगवान् अर्जुनसे (गीता १४।२६में) कहते हैं कि 'अर्जुन! जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरी सेवा करता है, वह सत्त्व, रज, तम—इन गुणोंको भलीभाँति जीतकर ब्रह्मरूप बनने योग्य हो जाता है।' यहाँ मैं कौन, मेरी भक्ति किस प्रकार की जाय, अव्यभिचारी भक्ति क्या वस्तु है—इसकी व्याख्या करते हुए श्रीज्ञानेश्वर महाराज लिखते हैं।

'अर्जुन सुनो! इस जगत्में मैं इस प्रकार स्थित हूँ कि रत्नका तेज जैसे रत्नमें होता है, अर्थात् वह रत्नसे पृथक् नहीं है, जैसे पतलापन और जल, अवकाश और आकाश या मिठास और शक्कर अभिन्न हैं, वैसे ही मैं जगत्से अभिन्न हूँ। जैसे अग्नि ही ज्वाला है, कमलपत्र ही कमल है, शाखा-पल्लव आदि ही वृक्ष हैं, वैसे ही जिसे विश्व कहते हैं वह सब मद्रूप ही है। इस तरह मुझे विश्वसे अलग न कर ऐक्यरूपसे पहचानना ही अव्यभिचारी भक्ति है। लहरें छोटी ही क्यों न हों, वे समुद्रसे भिन्न नहीं होतीं। इसी तरह ईश्वर और मुझमें कोई भेद नहीं है। इस तरह जब साम्यभाव और ऐक्यभावकी दृष्टि विकसित होती है, तभी हम उसे 'भक्ति' कह सकते हैं। ऐसी स्थिति हो जानेपर तो जैसे नमककी डली समुद्रमें गल जानेपर उसे अलग गलानेके लिये कहना नहीं पड़ता, या जैसे अग्नि तृण—घास-फूस जलाकर स्वयं शान्त हो जाता है, उसी तरह भेद बुद्धिको नष्टकर यह 'सोऽहं' वृत्ति भी नहीं रहती। मेरे बड़प्पनकी और भक्तके छोटेपनकी भावना नष्ट हो जाती और दोनोंका अनादिकालसे चला आता हुआ ऐक्य ही सामने खड़ा हो जाता है। इस जगत्में ऐसे लक्षणोंसे युक्त जो मेरा भक्त होता है, [illegible] अवस्था उसकी पतिव्रता बनकर रहेगी। इस प्रकार ज्ञान दृष्टिसे जो मेरी सेवा करता है, [illegible] मुकुटका रत्न बन जाता है।'

ज्ञानदेव महाराजने भक्तिको भिन्न स्तरोंपर [illegible] पहुँचा दिया है, यह [illegible] हमारी दृष्टिमें ज्ञानेश्वरीकी भक्ति [illegible] प्रकाश डाल सकता है।

ऊपर श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी दृष्टिसे [illegible] मीमांसा की गयी। श्रीज्ञानेश्वरके [illegible] पर योग और ज्ञानकी पूरी छाप पड़ना [illegible] और वैसा हुआ भी है। किंतु [illegible] शुद्ध भक्तिसाम्प्रदायिक दृष्टिसे उनका [illegible] और ही ढंगका है। तीन [illegible] अभङ्गोंमें उनके [illegible] पृष्ठ-भूमि देख फिर उनके भक्ति-निरूपणका [illegible] अवलोकन किया जायगा।

पहले अभङ्गमें वे कहते हैं—[illegible] यह अपनी वस्तु ले ही जायगा। [illegible] कहना है। बिना भजनके तूने जीवन [illegible] जिससे तू परलोकसे चूक गया। [illegible] नहीं की और अब [illegible] रहा है। इसलिये अब भी [illegible]।'

दूसरेमें वे कहते हैं—[illegible] नहीं बनती। फिर भक्तिकी भावना [illegible] एक बातका भी निश्चय नहीं। [illegible] किसी एक देवको नहीं मानता [illegible] फलतः मन नग्नाकार बन गया [illegible] कहाँ। श्रीरामदास कहते हैं कि [illegible] शून्य है।'

अन्तिम अभङ्गमें श्रीसमर्थने [illegible] बता दिया है—बिना [illegible] कुम्हलाए ही हैं—[illegible] इसलिये उनके [illegible] सार्थक हो जाता है और [illegible] रामदास कहते हैं कि [illegible] इस पृष्ठभूमिपर [illegible]

दासबोधके पूरे [illegible] निरूपण है। [illegible] समास ५ और ६ [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

निर्गुण उभयरूप होनेसे उसकी सगुण लीलाओंको सुननेसे सगुण भक्ति-भावका उद्दीपन होता है और अध्यात्म-श्रवणसे ज्ञानबोध होता है। इस तरह श्रवण-भक्तिसे ज्ञान और भक्ति दोनोंका लाभ होता है। साधनाके सभी मार्गों और उनके सभी साधनों तथा यथासाध्य संसारकी सभी विद्याओं, कलाओं एवं तत्त्वोंकी बात सुनिये और उनमेंसे सार ले लीजिये तथा असार त्याग दीजिये। इसीका नाम श्रवण है। सगुणका वर्णन और निर्गुणका अध्यात्मज्ञान सुनकर उसमेंसे 'विभक्ति' (दृश्यमान जीव-शिवका भेद) त्याग 'भक्ति' (अद्वैत या तादात्म्य) को खोज निकालना ही समर्थकी दृष्टिमें श्रवण-भक्ति है।

कीर्तन—सगुण हरिकथा करना, भगवान्‌की कीर्तिका प्रसार करना और वाणीसे श्रीहरिके नाम-गुणोंका कीर्तन करना कीर्तन-भक्ति है। कीर्तनकारको चाहिये कि वह बहुत-सी बातें कण्ठस्थ करे। निरूप्य विषयका अर्थ भी याद रखनेका प्रयत्न करे। निरन्तर हरिकथा करे, उसके बिना कभी न रहे। हरिकी गूँजसे सारा ब्रह्माण्ड भर दे। कीर्तनसे परमात्मा संतुष्ट होता है, अपने जीको समाधान मिलता है और बहुतोंके उद्धारका मार्ग खुल जाता है। कलियुगमें कीर्तनसे ये तीन बड़े लाभ हैं। कीर्तनमें सङ्गीतका भी पूर्ण समावेश रहे। वक्ता भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लक्षण बतलाये, स्वधर्म-रक्षाके उपाय सुझाये, साधनमार्गको सँभालकर अध्यात्मका निरूपण करे। लोगोंके मनमें किसी तरहका संशय बढ़े, ऐसी एक भी बात न कहनेकी सावधानी रखे। अद्वैतका निरूपण करते समय यह सतर्कता रहे कि कहीं सगुणका प्रेम टूट न जाय। वक्ताका अधिकार बहुत बड़ा है। निश्चय ही छोटा या साधारण व्यक्ति वक्ता नहीं हो सकता। उसे अनुभवी होना ही चाहिये। वह सब बातुओंको सँभालकर ज्ञानका निरूपण करे, जिससे वेदाज्ञाका भङ्ग न होते हुए लोग सन्मार्गगामी बनें।'

समर्थ स्पष्ट कहते हैं कि जिससे यह न सध पाये, वह इस पचड़ेमें कभी न पड़े और केवल भगवान्‌के सामने सप्रेम उनके गुणानुवाद गाये। यह भी कीर्तन-भक्ति ही है। देवर्षि नारद सदैव कीर्तन करनेके कारण नारायणरूप माने जाते हैं। कीर्तनकी महिमा अगाध है।' .

स्मरण—भगवान्‌का अखण्ड नाम-स्मरण और समाधान पाना स्मरण-भक्ति है। नित्य नियमसे सर्वदा नाम-स्मरण करना चाहिये। सुख या दुःख किसी भी समय बिना नामके न रहे। सब प्रकारके सांसारिक काम करते हुए भी नाम-स्मरण चलता रहे। नामसे सारे विघ्न दूर होते, सभी सांसारिक बाधाएँ मिटतीं और अन्तमें सद्गति प्राप्त होती है। नामकी महिमा श्रीशंकरजी जानते हैं। इसीके सहारे वे हालाहल विषके प्रभावसे छूट गये। काशीमें मरनेवालोंको वे इसी रामनामका उपदेश देकर मुक्त कर देते हैं। नामके प्रतापसे सागरपर पत्थर तैर गये, प्रह्लाद भक्त-शिरोमणि बना और व्याधा आदिकवि हो गया। नाम-स्मरणका अधिकार चारों वर्णोंको है। वहाँ छोटे-बड़ेका प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये मनमें भगवान्‌के रूपका ध्यान करते हुए अखण्ड नाम-स्मरण किया जाय। यही नामभक्ति है।

पादसेवन—मोक्ष-प्राप्तिके लिये शरीर, वाणी और मनसे सद्गुरु-चरणोंकी सेवा करना पादसेवन-भक्ति है। जन्म-मरणका चक्कर छुड़ानेके लिये सद्गुरुकी शरण जाना अनिवार्य है। ब्रह्मस्वरूपका परिचय सद्गुरु ही कराते हैं। वस्तु चर्म-चक्षुओंको नहीं दीखती। मन उनका आकलन नहीं कर पाता और असङ्ग हुए बिना उसका अनुभव भी नहीं होता। अनुभव लेने जाते हैं तो सङ्ग (त्रिपुटी) खड़ा हो जाता है। बिना सङ्ग-त्यागके अनुभव नहीं होता। सङ्ग-त्याग, आत्मनिवेदन, विदेहस्थिति, अलिप्तता, सहजावस्था, उन्मनता और विज्ञान—ये सातों एक रूप ही हैं। समाधि-सुखको दिखानेवाले ये सात संकेत हैं। ये और ऐसे ही अन्य सभी अनुभवके अङ्ग पाद-सेवनसे ही समझमें आते हैं। इसीलिये यह गुरुगम्य मार्ग है। कहा जाता है कि सत्सङ्गसे सब कुछ हो जाता है। पर यह औपचारिक बात है। तथ्य यह है कि सद्गुरुके चरण दृढ़तासे पकड़ने चाहिये। तभी उद्धार होगा। यही पाद-सेवन-भक्ति है। यही सायुज्य मुक्तितक पहुँचा देती है।

अर्चन—भगवान्‌की पूजा अर्चन-भक्ति है। वह शास्त्रोक्त होनी चाहिये। घरके बड़े-बूढ़े जिन्हें पूजते आये, उनका पूजन करना अर्चन-भक्ति है। संक्षेपमें शरीर, वाणी, मन और चित्त, वित्त और जीवन, सब कुछ बेचकर सद्भावपूर्वक भगवान्‌का अर्चन करना—यह अर्चन-भक्ति है। भगवान्‌की तरह ही गुरुकी भी अर्चा करनी चाहिये। यदि ऐसी पञ्चोपचार, षोडशोपचार, चतुष्षष्टि-उपचार या असंख्य उपचारोंसे पूजा करनेकी शक्ति न हो तो मनसे ही उन सारे पदार्थोंकी कल्पना करके बड़े भावसे मानस-पूजा करनी चाहिये। यह भी अर्चन-भक्तिमें आ जाती है।

वन्दन—देवताकी प्रतिमा, साधु-संत और सद्गुरुको साष्टाङ्ग नमस्कार या यथाविधि नमन वन्दन-भक्ति है। सूर्य, अन्य देवता एवं सद्गुरुको साष्टाङ्ग और दूसरोंको साधारण नमस्कार किया जाय। जिसमें विशेष गुण दीखें, उसे सद्गुरुका अधिष्ठान मानें। इससे नम्रता आती है, विकल्प नष्ट होते और साधु-संतोंसे मित्रता होती है। इससे चित्तके दोष मिटते और नष्ट हुआ समाधान भी पुनः बन जाता है। नमस्कारसे पतित भी पावन हो जाते हैं, सद्बुद्धि विकसित होती है। इससे बढ़कर शरणागतिका दूसरा सरल मार्ग नहीं। किंतु यह अनन्य भावसे अर्थात् निष्कपट होकर करना चाहिये। साधकोंके शरणमें आते ही साधुओंको उनकी चिन्ता लग जाती है और फिर वे उन्हें स्वस्वरूपमें स्थित कर देते हैं।

दास्य—देवद्वारपर सदा सेवाके लिये तत्पर रहना, प्रत्येक देवकार्य सोत्साह पूरा करनेके लिये तैयार रहना, देवताके ऐश्वर्यको सँभालना, उसमें कमी न पड़ने देना और देवभजनका रंग बढ़ाना दास्य-भक्ति है। देवालयोंका निर्माण तथा जीर्णोद्धार, पूजनका प्रबन्ध, उत्सव-जयन्तियाँ मनाना, वहाँ आनेवालोंका आतिथ्य और भगवान्‌के सामने करुणस्तोत्र पढ़कर सबको आन्तरिक संतोष देना दास्य-भक्ति है। यह सब प्रत्यक्ष साधनेकी शक्ति न हो तो मानस दास्य ही करें। देवताकी तरह सद्गुरुकी भी दास्यभक्ति की जाय।

सख्य—देवताके साथ परम सख्य सम्पादन करना, उसे प्रेमसूत्रमें बाँध लेना और जो-जो उसे प्रिय हो, उसे करना सख्य-भक्ति है। देवके साथ सख्य-स्थापनार्थ अपना सारा सौख्य छोड़ना और सर्वस्व लगाकर उससे विलग न होना सख्य है। इस तरह सख्यभक्तिसे भगवान्‌को बाँध लेनेपर फिर तो वह भक्तकी सारी चिन्ता स्वयं करता है। लाक्षागृहमें पाण्डवोंको जलनेसे किसने बचाया? अपना अभीष्ट सिद्ध न होनेपर भगवान्‌से अप्रसन्न होना सख्य नहीं। भगवान् बड़े दयालु हैं। कहीं शायद अपने पुत्रकी हत्या करनेवाली कोई माता चाहे मिल जाय; पर अपने भक्तको भगवान्‌ने नष्ट कर दिया हो, यह तो कहीं देखा और न कभी सुना ही गया। प्रेमका निर्वाह करना तो भगवान् ही जानते हैं। इसी तरह गुरु भी सख्यभक्ति करने योग्य हैं, यह शास्त्र-वचन है।

आत्मनिवेदन—भगवान्‌के चरणोंमें अपने आपको समर्पित कर देना ही आत्मनिवेदन है। मैं कौन, भगवान् कौन और उसे कैसे समर्पण किया जाय—इन सबका समर्थने विस्तृत विवेचन किया है। लोगोंसे कहते हैं—'अपने आपको 'भक्त' कहना और भगवान्‌को 'विभक्त'से भजना बड़ी ही अटपटी बात है। 'भक्त' कभी विभक्त नहीं और 'विभक्त' भक्त नहीं। देव कौन, यह अपने अन्तरमें ही खोजे। मैं कौन—इसके निश्चयार्थ जिस तत्त्वसे पिण्ड-ब्रह्माण्डका विस्तार हुआ, उसका विचार करे। जिन तत्त्वोंसे पिण्ड बना, उन्हें विवेकसे मूलतत्त्वोंमें विलीन करे, तो स्पष्ट समझमें आ जायगा कि इन तत्त्वोंमें 'मैं' नहीं। इसी तरह पिण्डके तत्त्वोंको मूल अद्वितीय तत्त्वमें क्रमशः विलीन कर देनेपर 'मैं' शेष ही नहीं रहता और इस प्रकार आत्मनिवेदन सहज ही हो जाता है। बिना आत्मनिवेदनके जन्म-मरणका चक्कर छूट नहीं सकता। इसीसे सायुज्य-मुक्ति मिलती है। सायुज्य-मुक्ति कल्पान्तमें भी विचलित नहीं होती। त्रैलोक्यके नष्ट होनेपर भी सायुज्य-मुक्ति नष्ट नहीं होती। भगवद्भजनसे सभी प्रकारकी मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं।'

श्रीज्ञानेश्वर महाराज और श्रीरामदास स्वामी महाराजके इस भक्तिनिरूपणका विहंगम-अवलोकन करनेपर—जिसमें उसके स्वरूप और प्रकार दोनोंका ही संक्षिप्त, पर सारगर्भ विवेचन है—भगवद्भक्त श्रीमधुसूदन सरस्वतीके इस श्लोकका रहस्य समझमें आ जाता है—

> नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
> परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।
> निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
> तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि॥

सचमुच भक्तियोग नवरसोंसे मिश्रित हो या केवल दशम रस है और 'रसो वै सः'—यह श्रुति यही बतलाती है। यह स्वतन्त्र पुरुषार्थ है। चारों पुरुषार्थोंसे इसका स्थान ऊँचा है। सुख-साधक होनेसे वे पुरुषार्थ कहे जाते हैं, किन्तु भक्ति तो सुखस्वरूप होनेसे परम पुरुषार्थ है। यह निरुपम सुख और ज्ञानरूप तथा त्रिविध दुःखोंसे रहित है। भला, ऐसे अलौकिक योगको कौन नहीं चाहेगा।

श्रीशंकराचार्य और भक्ति

(लेखक—श्रीयुत आर० महालिङ्गम् एम० ए०, बी० एल०)

श्रीशंकराचार्यके मतानुसार एक बुद्धिमान् मनुष्यके जीवनका उद्देश्य होना चाहिये—आत्मसाक्षात्कार। हमारे भीतर जो आत्मा है—बस, वही एकमात्र सत्य है और वही परमात्मा है। किंतु 'अहम्', 'इदम्' इत्यादिकी मिथ्या उपाधियोंके पीछे अपनेको छिपाये हुए यह जगत्में विचरण करता है। इस अध्यासका कारण है हमारी अविद्या या अज्ञान, जिससे हमे मुक्त होना है। हम अविद्यासे क्यों और कैसे मोहित हो रहे हैं, इसकी मीमांसा व्यर्थ है। इस कठोर सत्यको हमें स्वीकार कर लेना है कि हम अविद्याके बन्धनमें हैं और इससे छूटनेके लिये ही हमें चेष्टा करनी है। श्रुति, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्रोंके अनुरूप निर्विशेष ब्रह्मका निरूपण करनेके अतिरिक्त श्रीशंकराचार्यने उस साधन-पद्धतिका भी संकेत किया है, जिसका अनुसरण करके हम अविद्यासे छूट सकते हैं और फलतः भगवत्साक्षात्कार प्राप्त करके 'अहम्' तथा 'इदम्' इत्यादिकी भ्रान्त धारणासे सर्वदाके लिये मुक्त हो सकते हैं।

सोनेके अँगूठीके रूपमें ढाले जानेकी भाँति किसी वस्तुका आकार धारण करना उसका एक उपाधिसे उपहित होना है, इसलिये श्रीशंकराचार्य परमात्मा अथवा आत्माको उसकी नाना अभिव्यक्तियोंसे अधिक महत्त्व देते हैं। हम उनको 'अनात्मश्रीविगर्हण प्रकरणमें' इस प्रकारकी घोषणा करते हुए पाते हैं—

धातुर्लोकः साधितो वा ततः किं
विष्णोर्लोको वीक्षितो वा ततः किम्।
शम्भोर्लोकः शासितो वा ततः किं
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्॥

'जिसने अपने आत्माका साक्षात्कार नहीं किया, उसने ब्रह्मलोक भी प्राप्त कर लिया तो क्या हुआ, उसे वैकुण्ठका दर्शन मिल गया तो क्या हुआ। उसका कैलासपर प्रभुत्व जम गया तो क्या हुआ।'

परमात्मा अर्थात् आत्माके साक्षात्कारके लिये आवश्यक गुणोंमें श्रीशंकराचार्य भक्तिको प्रथम स्थान देते हैं। किंतु उनकी भक्ति एक निराले ढंगकी है। वे हमारी त्रुटियोंको पहचानते हैं और भक्तिके विभिन्न स्तरोंका विवेचन करते हैं—साधककी भक्तिका अलग तथा सिद्धकी भक्तिका अलग। उनके मतानुसार भक्तिके बिना भगवत्साक्षात्कार असम्भव है। विवेकचूडामणिमें वे कहते हैं—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

'मोक्षप्राप्तिके साधनोंमें भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है।'

वे इसको कितना महत्त्व देते हैं, यह बात 'एव' शब्दके प्रयोगसे विदित हो जाती है। पुनः 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह' में वे लिखते हैं—

यस्य प्रसादेन विमुक्तसङ्गाः
शुकादयः संसृतिबन्धमुक्ताः।
तस्य प्रसादो बहुजन्मलभ्यो
भक्त्येकगम्यो भवमुक्तिहेतुः॥

'भव-बन्धनसे छुड़ानेवाली वस्तु उनकी कृपा है, जो अनेक जन्मोंके साधनके बाद एकमात्र भक्तिके द्वारा प्राप्त होती है। उनकी इसी कृपासे शुकदेवादि सङ्गरहित होकर भवबन्धनसे मुक्त हो सके हैं।'

'भक्त्येकगम्यः' पद इस बातपर जोर देता है कि केवल भक्ति ही मुक्तिका वास्तविक कारण है। वे 'प्रबोधसुधाकर' में भी कहते हैं—

शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः॥

'श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी भक्ति किये बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। जैसे गंदा कपड़ा क्षारके जलसे स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार चित्तके मलको धोनेके लिये भक्ति ही साधन है।'

ऊपर केवल थोड़े-से उद्धरण ऐसे दिये गये हैं, जो इस बातको बतलाते हैं कि श्रीशंकराचार्य भक्तिको कितना महत्त्व देते हैं।

आत्मसाक्षात्कार ही जीवनका असली ध्येय है। अतः श्रीशंकराचार्यके मतसे सर्वोत्कृष्ट भक्ति वही है, जो आत्मा एवं परमात्माको अभिन्न मानकर की जाती है। विवेकचूडामणिमें भक्तिकी परिभाषा वे इस प्रकार करते हैं—

स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।
स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः॥

''अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसंधान ही 'भक्ति' कहलाती है। कोई-कोई आत्मतत्त्वके अनुसंधानको ही भक्ति कहते हैं।''

ये परिभाषाएँ उनके लिये उपयुक्त हो सकती हैं, जो ऊँचे उठे हुए पुरुष हैं, संन्यासी हैं या संसारके सम्बन्धोंको तोड़कर या तोड़नेकी चेष्टामें रत रहकर निरन्तर आत्मविचारमें संलग्न रहते हैं अथवा संसारके बन्धनोंके तोड़नेके प्रयासमें लगे हुए हैं। किंतु श्रीशंकराचार्य भक्तिके अन्य स्तरोंको भी स्वीकार करते हैं। इसीलिये 'शिवानन्दलहरी'में भक्तिकी दूसरे ढंगसे परिभाषा करते हुए उसे भगवान्‌के प्रति एक मानसिक वृत्ति किंवा क्रिया बतलाते हैं—

अङ्कोलं निजबीजसंततिरयस्कान्तोपलं सूचिका
साध्वी नैजविभुं लता क्षितिरुहं सिन्धुः सरिद्वल्लभम्।
प्राप्नोतीह यथा तथा पशुपतेः पादारविन्दद्वयं
चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते॥

"जैसे अङ्कोल वृक्षके बीज मूलवृक्षसे, सुई चुम्बकसे, पतिव्रता अपने पतिसे, लता वृक्षसे, नदी सागरसे जा मिलती है, उसी प्रकार जब चित्तवृत्तियाँ भगवान्‌के चरण कमलोंको प्राप्तकर उनमें सदाके लिये स्थिर हो जाती हैं, तब उसे 'भक्ति' कहते हैं।"

अतएव भगवान्‌के प्रति चित्तकी एक विशेष प्रकारकी वृत्तिका नाम ही भक्ति है और उपर्युक्त परिभाषामें आचार्यने जो पाँच उदाहरण दिये हैं, वे भक्तिके विभिन्न स्तरोंके द्योतक हैं, जिनका पर्यवसान नदी और सागरकी भाँति दोनोंके पूर्ण मिलनमें ही है। अन्तिम स्तरपर व्यक्तिगत सत्ता चरम सत्तामें विलीन हो जाती है।

श्रीशंकराचार्यकी दृष्टिमें विश्वमें केवल एक ही सत्य वस्तु है और वह है ब्रह्म। समस्त देवता उन्हींकी अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीशंकराचार्यने स्तोत्रोंके रूपमें अनेक उत्कृष्ट पद्यसमूहोंकी रचना करके भक्ति-साहित्यको समृद्ध बनाया है—उनमेंसे कुछ स्तोत्र भावभरी उक्तियोंकी दृष्टिसे श्रेष्ठ हैं तो कुछ शुद्ध बौद्धिक भक्तिकी दृष्टिसे। प्रथम प्रकारके स्तोत्रोंके सर्वश्रेष्ठ उदाहरणोंमें 'शिवानन्दलहरी' एवं 'सौन्दर्यलहरी'के नाम लिये जा सकते हैं तथा दूसरे प्रकारके उदाहरणोंमें 'हरिमीडे' और 'दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र'का। प्रायः जितने भी देवताओंको हमलोग सामान्यतया जानते हैं, उन सबका ध्यान तथा उनकी प्रार्थना उन्होंने की है—यहाँतक कि गङ्गा और यमुना आदि नदियोंको भी उन्होंने तीव्र भक्ति-भावसे पुकारा है; किंतु एक बात जो इन सब स्तोत्रोंमें पायी जाती है वह एकदम स्पष्ट है। जैसा पहले कहा जा चुका है, जिस किसी भी देवताको ले लीजिये, श्रीशंकराचार्यने उसको परमपुरुष, परमात्माकी ही अभिव्यक्ति माना है और इसीलिये हम उनको नाम तथा रूपकी अपेक्षा तत्त्वपर अधिक ध्यान देते हुए पाते हैं। चाहे शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश या कोई अन्य देवता हों, हम देखते हैं, उनकी प्रार्थनाका लक्ष्य है—सर्वव्यापी आत्मतत्त्व। गणेशभुजङ्गप्रयातस्तोत्रमें हमें निम्नलिखित अर्थपूर्ण पद मिलता है—

यमेकाक्षरं निर्मलं निर्विकल्पं
गुणातीतमानन्दमाकारशून्यम्।
परं पारमोंकारमाम्नायगर्भं
वदन्ति प्रगल्भं पुराणं तमीडे॥

'जिसको लोग एक, अक्षर, निर्मल, निर्विकल्प, गुणातीत, निराकार, आनन्द, परमपुरुष, प्रणव और वेदगर्भ कहते हैं, उस प्रकृष्ट एवं पुराणपुरुषकी मैं अर्चना करता हूँ।'

देवीकी प्रार्थना करते समय वे कहते हैं—

शरीरे धनेऽपत्यवर्गे कलत्रे
विरक्तस्य सद्देशिकादिष्टबुद्धेः।
यदाकस्मिकं ज्योतिरानन्दरूपं
समाधौ भवेत्तत्त्वमस्यम्ब सत्यम्॥

'मा! तुम वही सत्य हो, जिसका ज्ञान एवं आनन्दके रूपमें सद्गुरुके उपदेशसे निर्मल हुई बुद्धिवाला कोई भाग्यवान् पुरुष शरीर, धन, पुत्र एवं कलत्रसे विरक्त होकर समाधिमें दर्शन करता है।'

विभिन्न देवताओंके प्रति श्रीशंकराचार्यकी उपर्युक्त भावनाके अनुसार, चाहे जिस देवताकी वे प्रार्थना करते हों, वह है सर्वोपरि सत्ता; क्योंकि उन उन स्तोत्रोंमें उनकी प्रार्थनाके लक्ष्य परमात्मा ही हैं। अतः देवताके नाम और रूपके दृष्टिकोणको गौणता प्रदान करनेके लिये अन्य देवताओंको उस अवसरके लिये गौण स्थान दे दिया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य देवताओंको उन्होंने किसी भी प्रकारसे हीन माना हो। देखिये शिवानन्दलहरीमें श्रीशंकराचार्य परमपुरुषको किस प्रकार सम्बोधित करते हैं—

सहस्रं वर्तन्ते जगति विबुधाः क्षुद्रफलदा
न मन्ये स्वप्ने वा तदनुसरणं तत्कृतफलम्।
हरिब्रह्मादीनामपि निकटभाजामसुलभं
चिरं याचे शम्भो शिव तव पदाम्भोजभजनम्॥

'संसारमें क्षुद्र फल देनेवाले सहस्रों देवता हैं। मैं

...में भी उनकी अथवा उनके दिये हुए फलोंकी परवा नहीं करता। परंतु निकट रहनेवाले विष्णु और ब्रह्मादिके लिये भी दुर्लभ आपके चरणकमलोंकी भक्तिको हे शिव! शम्भो! मैं आपसे सदा माँगता हूँ।'

त्रिपुरसुन्दरी-मानसपूजा-स्तोत्रमें वे पुनः कहते हैं—

वेधाः पादतले पतत्ययमसौ विष्णुर्नमत्यग्रतः
शम्भुर्देहि दृगञ्चलं सुरपतिं दूरस्थमालोकय।
इत्येवं परिचारिकाभिरुदिते सम्मानन्नं कुर्वती
दृग्द्वन्द्वेन यथोचितं भगवती भूयाद्विभूत्यै मम॥

'ये ब्रह्मा आपके चरणोंपर गिर रहे हैं, आगे विष्णु नमस्कार कर रहे हैं; यहाँ शम्भु हैं, उन्हें अपने कटाक्षसे कृतार्थ कीजिये; दूर खड़े हुए इन्द्रपर भी दृष्टिपात कीजिये—परिचारिकाओंसे इस प्रकार सुनकर सबको यथोचित सम्मान देती हुई भगवती मेरा कल्याण करें।'

परमात्मा सभी नाम-रूपोंके ऊपर तथा मन और इन्द्रियोंसे परे हैं, अतएव श्रीशंकराचार्य देवताके बाह्य नाम-रूपकी अपेक्षा हमारी भक्ति अथवा चित्तवृत्तिको अधिक प्रधानता देते हैं। भक्तिका पर्यवसान साक्षात्कारमें होता है और भक्तिकी ही हमें साधना करनी है। इसलिये श्रीशंकराचार्य मनुष्यके हृदयको भगवान्‌का मन्दिर तथा भगवत्साक्षात्कारका स्थान माननेपर अधिक जोर देते हैं। उन्हें खोजनेके लिये बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है। उदाहरणके लिये वे श्रीकृष्णाष्टकमें कहते हैं—

असूनायम्यादौ यमनियममुख्यैः सुकरणै-
र्निरुद्ध्येदं चित्तं हृदि विलयमानीय सकलम्।
यमीड्यं पश्यन्ति प्रवरमतयो मायिनमसौ
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥

'यम-नियम आदि श्रेष्ठ साधनोंके द्वारा पहले प्राणोंका निरोध करके तथा चित्तको वशमें करके एवं सब कुछ हृदयमें विलीन करके श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग जिन वन्दनीय, मायापति, शरणद एवं लोकोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं, मेरी आँखें बस, उन्हींको देखा करें।'

अतएव उनके श्रीकृष्ण केवल द्वापरयुगमें अवतार लेनेवाले श्रीकृष्ण ही नहीं हैं, वरं वे भगवान् हैं जिनको योग-के द्वारा हृदयदरीमें खोजना पड़ता है।

श्रीशंकराचार्यकी भक्ति केवल भावुकताके ढंगकी नहीं है, जो मिथ्या विश्वाससे प्रेरित अथवा निरी स्वार्थमूलक होती है। उनकी भक्ति ज्ञानके द्वारा परिमार्जित एवं सुसंस्कृत है। भक्ति एक प्रकारकी सहज मानसिक वृत्ति है, जो अनेक जन्मोंतक उचित दिशामें सतत प्रयत्न करनेके बाद भगवान्‌की दयासे परिपक्व होती है। हठपूर्वक इसे पैदा नहीं किया जा सकता; क्योंकि केवल हठ करनेसे कोई प्रेमी नहीं बन सकता। भक्तिका सावधानीसे उचित प्रणालीद्वारा पोषण करना होता है। इसका आरम्भ तथा जन्म होता है विश्वका नियन्त्रण करनेवाली शक्तिके रूपमें भगवान्‌की सत्तापर अनन्य तथा अखण्ड विश्वाससे। श्रीशंकराचार्यके अनुसार जगत्‌से असम्पृक्त तथा निर्लेप रहते हुए भी भगवान् विश्वके शासक एवं नियन्ता हैं। यही वह मूल आधार है, जिसपर श्रीशंकराचार्य भक्तिका प्रासाद खड़ा करनेका आग्रह करते हैं। जो सच्चा भक्त बनना चाहता है, उसे इस बातका सदा याद रखना चाहिये कि 'ईश्वर विश्वको नियन्त्रणमें रखते हैं तथा विश्वको सुचारुरूपसे चलानेके लिये उन्होंने नियम बना रखे हैं। ऐसे ईश्वरकी जीती-जागती उपस्थितिका पहले अनुभव होने लगना चाहिये, भले ही उनके यथार्थ लक्षणोंके सम्बन्धमें उसकी धारणा अस्पष्ट और अनिश्चित हो। 'प्रबोधसुधाकर' में श्रीशंकराचार्य भक्तिके विषयमें विस्तारसे विचार करते हैं। वे भक्तिको दो श्रेणियोंमें विभाजित करते हैं—

स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा।
प्रारम्भे स्थूला स्यात् सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च॥

'भक्ति स्थूल और सूक्ष्म—दो प्रकारकी कही गयी है। पहले स्थूल भक्ति होती है और फिर उसीसे बादमें सूक्ष्म-भक्तिका उदय होता है।'

ईश्वर एवं उनकी सत्ताके विषयमें हमारी धारणा पहले अस्पष्ट हो सकती है। सूर्य एक तेजोमय देवता है, जो बिना किसी भेदभावके सर्वत्र एवं सभी प्राणियोंपर अपना प्रकाश बिखेरता है; किंतु यदि कोई अंधा व्यक्ति ठीक सूर्यके नीचे खड़ा हो, तब भी उसका अन्धत्व सूर्यकी सत्ताका ज्ञान प्राप्त होनेमें उसके लिये बाधक होगा। सूर्यको देखनेके लिये उसे अपने अन्धत्वसे मुक्ति पानी होगी तथा किसी चक्षु-चिकित्सकमें विश्वास रखकर उसके आदेशोंको मानना पड़ेगा। यदि हम ईश्वरकी सत्तामें तथा उनके द्वारा प्रचारित नियमोंमें विश्वास रखनेका दम भरते हैं, पर यदि हम उनके नियमोंका पालन नहीं करते तो हमारा भक्त कहलाना केवल दम्भ है। इसलिये श्रीशंकराचार्यके मतानुसार सच्चा भक्त बननेके लिये जो साधन-पथ है, उसमें पहली बात है—ईश्वरके नियमोंका निर्विवाद पालन।

लीला-रस-रसिक भगवान् शंकराचार्य

अनन्य कृष्णभक्त आचार्य मधुसूदन सरस्वती

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

'स्थूल भक्ति' के अङ्गोंको गिनाते हुए पहली सीढ़ी वे इसीको बताते हैं—

> स्वाश्रमधर्माचरणं कृष्णप्रतिमार्चनोत्सवो नित्यम्।
> विविधोपचारकरणैर्हरिदासैः संगमः शश्वत्॥
> कृष्णकथासंश्रवणे महोत्सवः सत्यवादश्च।
> परयुवतौ द्रविणे वा परापवादे पराङ्मुखता॥
> ग्राम्यकथासूद्वेगः सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम्।
> यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता॥

'अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका अनुष्ठान, नित्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिमाका उत्साहपूर्वक विविध सामग्रियोंसे पूजन और निरन्तर हरिदासोंका सङ्ग करना, भगवत्कथाओंके सुननेमें अत्यन्त उत्साह रखना, सत्य-भाषण करना तथा परस्त्री, परधन और परनिन्दासे सदा दूर रहना, अश्लील चर्चासे घृणा करना, पवित्र तीर्थ-स्थानोंमें जाते रहना तथा 'भगवत्कथा-श्रवणादिके बिना आयु यों ही बीत गयी' इस बातकी चिन्ता करना—ये सब भक्तिके लक्षण हैं।'

जैसा 'स्थूल' नामसे ही व्यक्त होता है, उपर्युक्त साधन-प्रणाली साधकके श्रद्धामूलक बाह्य आचरणोंसे ही प्रधानतया सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार यह देखा गया कि भक्त बननेके लिये सबसे पहली सीढ़ी यह है कि साधक अपने आचरणद्वारा शास्त्रीय नियमोंका पालन करे।

सच्चे हृदयसे इन नियमोंका पालन क्रमशः मनुष्यके मनको सच्ची भक्तिकी ओर ले जाता है, यद्यपि प्रारम्भिक अवस्थाओंमें भक्तिका अंश बहुत क्षीण रूपमें रह सकता है। श्रीशंकराचार्य स्वयं कहते हैं कि सच्ची भक्तिका उदय तो भगवत्कृपासे ही होता है। हमारा कर्तव्य इतना ही है कि हम भगवान्‌के बनाये नियमोंका पालन करें। हम एक बीज बोकर उसे सींचते हैं तथा उसी प्रकारके और छोटे-मोटे काम करते हैं। बीजका अङ्कुरित होना तथा बढ़कर एक वृक्षका रूप धारण कर लेना हमारे हाथमें नहीं है। यह भगवान्‌के हाथमें है। इसी प्रकार भगवान् ही क्रमशः हमारे मनमें भक्तिको विकसित करते हैं। आचार्य इसका इस प्रकार निर्देश करते हैं—

> एवं कुर्वति भक्तिं कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना।
> समुदेति सूक्ष्मभक्तिर्यस्या हरिरन्तराविशति॥

'इस प्रकार स्थूल भक्तिका अभ्यास करते-करते श्रीकृष्ण-कथाके अनुग्रहसे सूक्ष्मभक्तिका उदय होता है, जिसके परिणामस्वरूप श्रीहरि उसके मनमें आ विराजते हैं।'

ऊपर जो विवेचन किया गया है, इससे यह स्पष्ट है [illegible] कि साधकको अपना मन ईश्वराभिमुख करनेके लिये कठोर साधनकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उपर्युक्त [illegible] स्वयं यह गुण है कि वे चित्तको शुद्ध करके उसे [illegible] निवासके योग्य बना देते हैं और भगवान् [illegible] प्रकट हो जाते हैं।

श्रीशंकराचार्यने इसके अनन्तर आन्तरिक [illegible] मानसिक भक्तिके विभिन्न स्तरोंका भी दिग्दर्शन [illegible] किया है—

> स्मृतिसत्पुराणवाक्यैर्यथाश्रुतायां हरेर्मूर्तौ।
> मानसपूजाभ्यासो विजननिवासेऽपि तात्पर्यम्॥
> सत्यं समस्तजन्तुषु कृष्णस्यावस्थितेर्ज्ञानम्।
> अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पा स्यात्॥
> प्रमितयदृच्छालाभे संतुष्टिर्दारपुत्रादौ।
> ममताशून्यत्वमतो निरहंकारत्वमक्रोधः॥
> मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दायां स्तुतौ समता।
> सुखदुःखशीतलोष्णद्वन्द्वसहिष्णुत्वमापदो न भयम्॥
> निद्राहारविहारेष्वनादरः संगराहित्यम्।
> वचने चानवकाशः कृष्णस्मरणेन शाश्वती शान्तिः॥

'स्मृति और पुराणोंके वचनोंद्वारा सुनी हुई भगवान्‌की मूर्तिके मानस-पूजनका अभ्यास, एकान्तमें [illegible], सत्य, समस्त प्राणियोंमें श्रीकृष्णकी [illegible], [illegible] प्राणियोंसे अद्रोह और इससे उत्पन्न हुई समस्त प्राणियोंपर दया, प्रारब्धानुसार जो कुछ भी प्राप्त हो, [illegible] और पुत्र आदिमें ममताशून्यता, अहंकार [illegible] होना, मृदु भाषण करना, प्रसन्नचित्त रहना, [illegible] अथवा स्तुतिमें समान भाव रखना, सुख-दुःख [illegible] द्वन्द्वोंको सहन करना, आपत्तियोंमें भय न रखना, निद्रा, [illegible] और विहारादिको आदर न देना, [illegible], [illegible] वार्तालापको अवकाश न देना, [illegible] शान्तिका अनुभव करना।'

—ये हैं वे मानसिक गुण, जिन्हें [illegible] जा सकता है। ये तो भगवान्‌के बनाये हुए [illegible] तथा आन्तर विकासके [illegible] प्राप्त होते हैं कि भगवान् हमारे परम सुहृद् [illegible] कल्याण करनेवाले हैं।

एक दूसरे प्रसङ्गमें श्रीशंकराचार्य उच्चतम शिखरपर पहुँचनेके पूर्व मानसिक विकासकी सीढ़ियोंका वर्णन करते हैं और सच्ची भक्तिका उदय होनेमें पूर्व विनय एवं अपने मन इत्यादिके सम्पूर्ण समर्पणका होना आवश्यक बताते हैं ।

षट्पदीमें वे कहते हैं—

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥

'हे विष्णुभगवान् ! मेरी उद्दण्डता दूर कीजिये । मेरे मनका दमन कीजिये और विषयोंकी मृगतृष्णाको शान्त कर दीजिये, प्राणियोंके प्रति मेरा दयाभाव बढ़ाइये और इस संसार-समुद्रसे मुझे पार लगाइये ।'

वहाँ उन सोपानोंका वर्णन है, जिनके द्वारा मन धीरे-धीरे पूर्णताकी ओर अग्रसर होता है । वेदपादस्तोत्रमें देवीके प्रति अपना सम्पूर्ण समर्पण वे बड़े भावपूर्ण शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

यत्रैव यत्रैव मनो मदीयं
तत्रैव तत्रैव तव स्वरूपम् ।
यत्रैव यत्रैव शिरो मदीयं
तत्रैव तत्रैव पदद्वयं ते ॥

'माँ ! जहाँ-जहाँ मेरा मन जाय, वहीं-वहीं तुम्हारी स्थिति रहे और जहाँ-जहाँ मेरा सिर झुके, वहाँ-वहाँ तुम्हारे चरण-युगल रहें ।'

इसके पश्चात् श्रीशंकराचार्य उस व्यक्तिकी भक्तिका वर्णन करते हैं, जिसने भगवान्‌की सत्ताका, उनके साथ एकात्मताका अनुभव करना आरम्भ कर दिया है ।

केनापि गीयमाने हरिगीते वेणुनादे वा ।
आनन्दाविर्भावो युगपत् स्यादष्टसात्त्विकोद्रेकः ॥
तस्मिन्ननुभवति मनः प्रगृह्यमाणं परात्मसुखम् ।
स्थिरतां याते तस्मिन्याति मदोन्मत्तदन्तिदशाम् ॥

'कोई भगवत्सम्बन्धी गीतका गान करे अथवा बाँसुरी बजावे तो (उसके सुनते ही) आनन्दके आविर्भावसे एक साथ ही कई सात्त्विक भावोंका उद्रेक हो जाय। उस शब्दमें फँसा हुआ मन परात्मसुखका अनुभव करता है और जब चित्त स्थिर हो जाता है, तब उसकी अवस्था मतवाले हाथीके समान हो जाती है ।'

श्रीसदाशिवेन्द्र सरस्वती तथा श्रीशुकदेवजी भक्तिकी इस अवस्थाके उदाहरण हैं ।

फिर श्रीशंकराचार्यजी उच्चतम शिखरपर पहुँचे हुए उस सच्चे भक्तका वर्णन करते हैं जिसने भगवत्साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है, जिसके लिये संसार भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है और जो सभी भूतोंमें केवल अपने आत्माको ही देखता है तथा जिसे भगवान्‌की विश्वके साथ एवं स्वयं अपने आत्माके साथ एकताका पूर्ण ज्ञान हो गया है । श्रीशंकराचार्य उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

जन्तुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः ।
एतादृशी दशा चेत् तदैव हरिदासवर्यः स्यात् ॥

'क्रमशः वह समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌को और भगवान्‌में समस्त प्राणियोंको देखने लगता है; जब ऐसी अवस्था हो जाय, तब उसे भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ समझना चाहिये ।'

यद्यपि श्रीशंकराचार्यके मतानुसार आत्मज्ञानके उदय होनेपर, जैसे प्रकाश पड़नेपर स्थाणुमें दीखा हुआ चोर अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार जीव शिवके साथ मिल जाता है तथा उसका व्यष्टिभाव जो कल्पित था, नष्ट हो जाता है, फिर भी जबतक इस प्रकार पूर्णरूपसे एकता न हो जाय, तबतक वे भगवान् एवं जीवकी पृथक् सत्ता मानते हैं । जीव और शिव जब मिलकर एक हो जाते हैं, उस अवस्थाकी भक्ति श्रीशंकरके मतसे साधककी भक्तिसे कुछ भिन्न होती है । शिव सर्वदा प्रभु और पूर्ण हैं एवं जीव शिवका केवल एक सेवक—एक अंश है । मोटे रूपमें कहें तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीशंकर चित्तवृत्तिकी तीन भूमिकाएँ स्वीकार करते हैं—

'तस्यैवाहम्', 'ममैवासौ' तथा 'स एवाहम्'।

पहली भूमिका वह है जहाँ भक्त मानता है कि वह प्रभुका सेवकमात्र है तथा प्रभु-आज्ञा-पालन मात्र ही उसका कर्तव्य है । यहाँ भक्त प्रभुसे कोई ऊँचा सम्बन्ध जोड़नेका दावा नहीं कर सकता । वह इस प्रकार कहता है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

'हे नाथ ! मुझमें और आपमें भेद न होनेपर भी मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं; क्योंकि तरङ्ग ही समुद्रकी होती है, तरङ्गका समुद्र कहीं नहीं होता ।'

जब कोई सेवक अपनी दीर्घकालीन, सतत एवं भक्ति-पूर्ण सेवाद्वारा स्वामीसे अधिकाधिक घनिष्ठ होता जाता है,

तब वह स्वामीके प्रति भी एक प्रकारकी आसक्ति एवं अधिकारकी भावनाको व्यक्त करने लगता है और यह अनुभव करने लगता है कि स्वामी उसीके स्वामी हैं। वह स्वामीके आदेशोंकी रूप-रेखाके निर्माणका उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर ले लेता है। वह उनके साथ स्वतन्त्रता बरतने लगता है और स्वामी भी उसे इसके लिये छूट दे देता है। कभी-कभी तो वह स्वामीको यह आदेश देता देखा जाता है कि उन्हें उसे कौन-सी आज्ञा देनी चाहिये। भक्तके इसी रूपमें श्रीशंकराचार्यने भगवती लक्ष्मीको राजी ही नहीं किया वर बाध्य कर दिया एक दरिद्र गृहस्थके घरपर स्वर्णामलक-फलोंके रूपमें अपनी दयाकी वर्षा करनेके लिये। 'मर्मैशानो' इसी भूमिकाका वाचक है। अनेक संतोंकी जीवन-कथाओं तथा कृतियोंसे भारतवर्षका इतिहास भरा पड़ा है। बहुत बार उनकी क्रियाओंका हमारी बुद्धि अथवा दृष्टिकोणके द्वारा समाधान नहीं हो सकता है। वे प्रायः इसी श्रेणीके संत होते हैं और भगवान्के साथ उनका घनिष्ठत्वविषय उन्हें कभी-कभी परम स्वतन्त्र बना देता है। किंतु उनके उदाहरण-को सामने रखकर हमलोगोंको, जिनके अंदर अभी भक्तिका बीज बोना और उसे उगाना है, अपनेको इस योग्य नहीं मान लेना चाहिये कि जीवनके सामान्य नियमोंकी अवहेलना करके हम उनके असाधारण व्यवहारोंकी नकल करने लगें। बृहदारण्यक उपनिषद्के अपने भाष्यमें उपास्तिप्रसङ्गमें श्रीशंकराचार्यजीने हमें ऐसी दुर्बलताके विरुद्ध चेतावनी दी है।

भक्तिकी अन्तिम भूमिकाका वर्णन 'स एवाहम्'—'वही मैं हूँ।' इस वाक्यमें हुआ है। यहाँ जीव एवं शिवका पूर्ण एकीकरण हो गया है। इस अवस्थामें उदय होने-वाले आनन्दका शब्दोंद्वारा वर्णन सम्भव नहीं है। यह एक आन्तरिक अनुभूति है, जो स्वसंवेद्य है। इस प्रकारका आनन्द ही सबसे उच्चकोटिकी भक्ति है। यह मानसे कोई पृथक् वस्तु नहीं है। जब [illegible] अपने पतिका निर्देश करनेको कहा [illegible] कहती रहती है; किंतु अन्तमें जब उसे अपने [illegible] लाकर खड़ा कर दिया जाता है तब वह [illegible] कहती, वरं मौन हो जाती है। यह मौन [illegible] पतिके पहचान अथवा ज्ञान [illegible] दोनोंका द्योतक है। ज्ञानी भक्ति [illegible] क्योंकि वह भिन्न नहीं है उन भगवान्से [illegible] वशीकरण करते समय कहते हैं—ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् अर्थात् मैं ज्ञानीको अपना स्वरूप ही मानता हूँ।

यह आनन्द वाणीके परे है। इस बातको श्रीशंकराचार्यजी इस प्रकार कहते हैं—

> क्षीरक्षौद्राक्षामधुमधुरिमा कैरपि पदैः
> विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
> तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयः
> कथंकारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे॥

'दूध, दाख तथा मधुकी मिठासका [illegible] शब्दोंद्वारा नहीं किया जा सकता; इसको तो [illegible] जान सकती है। इसी प्रकार देवि! आपके [illegible] आस्वादन केवल आपके पति भगवान् [illegible] सकते हैं। फिर भला मैं कैसे उसका वर्णन [illegible] जब कि आपके गुण सम्पूर्ण [illegible] भी [illegible]।'

ऐसा होता है भक्त प्राप्त [illegible] हमलोगोंमेंसे प्रत्येकको भक्ति अथवा [illegible] चाहिये और फिर सच्चा भक्त बनना [illegible] भावी जीवनका उद्देश्य मानकर [illegible] शील एवं सच्चा भक्त [illegible] कामोंमें हमारी सहायता करें।

भगवत्प्रेमीका क्षणभरका संग भी मोक्षसे बढ़कर है

भक्तगण कहते हैं—

> तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
> ([illegible])

'हम तो भगवत्प्रेमीके क्षणभरके सङ्गके सामने स्वर्ग और मोक्षको भी कुछ [illegible] तो बात ही क्या है।'

सनकादिकी भक्ति

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

राम चरन पंकज रति जिन्हही। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हही।
रमा बिलास राम अनुरागी। तजहिं बमन जिमि जन बड़भागी॥

श्रीसनकादि (सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन) श्रीब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं और अवस्थामें श्रीशंकरजीसे भी बड़े हैं। इनके मुखमें निरन्तर 'श्रीहरिः शरणम्' मन्त्र रहता है तथा इनकी अवस्था सदा पाँच वर्षके शिशुकी-सी रहती है।

जब ब्रह्माजीने सृष्टिके आरम्भमें इन्हें मनोमय सङ्कल्पसे उत्पन्न किया और सृष्टि बढ़ानेके लिये कहा, तब इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इनका मन सर्वथा भगवान्‌के आत्मारामगणाकर्षी मुनि-मन-मधुप-निवास पद-पङ्कजमें लगा था, इनमें रज-तमका लेश भी नहीं था; अतः इन्होंने भगवत्प्रीत्यर्थ तपमें ही मन लगाया।

भगवद्भक्तिके तो ये साक्षात् प्राण हैं। श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें आता है कि जब भक्ति अपने पुत्रों (ज्ञान-वैराग्य)के दुःखसे बड़ी दुःखी थी और उनका क्लेश किसी प्रकार दूर नहीं हो रहा था, तब श्रीनारदजीके आग्रहपर सनकादिने ही भागवतकी कथा सुनाकर इनका दुःख दूर किया। भगवच्चरित्रके ये इतने प्रेमी हैं कि सर्वोत्तम समाधि-सुखका भी परित्याग करके भगवल्लीलामृतका पान करते हैं—

नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥
सनकादिक नारदहि सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं॥
सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥
जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान॥

इनको भगवत्-चरितामृत सुननेका पूरा व्यसन है—जहाँ भी रहते हैं, भगवान्‌का चरित्र ही सुनते रहते हैं—

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

नारदजी भक्ति-मार्गके आचार्योंके भी आचार्य हैं, पर ये तो उनके भी उपदेष्टा हैं। नारदपुराणका पूरा पूर्वभाग इनके द्वारा ही श्रीनारदजीको उपदिष्ट है। उसमें भक्तिकी बड़ी ही उत्तम बातें हैं। इन्होंने कहा था—नारदजी! भगवान्‌की उत्तम भक्ति मनुष्योंके लिये कामधेनुके समान मानी गयी है, उसके रहते हुए भी अज्ञानी मनुष्य संसाररूपी विषका पान करते हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है! नारदजी! इस संसारमें ये तीन बातें ही सार हैं—भगवद्भक्तोंका सङ्ग, भगवान् विष्णुकी भक्ति और द्वन्द्वोंके सहनका स्वभाव—

हरिभक्तिः परा नृणां कामधेनूपमा स्मृता।
तस्यां सत्यां पिबन्त्यज्ञाः संसारगरलं ह्यहो॥
असारभूते संसारे सारमेतदजात्मज।
भगवद्भक्तसङ्गश्च हरिभक्तिस्तितिक्षुता॥

(१।४।१२-१३)

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् (७।१।१—२६), महाभारत (शान्तिपर्व २२७, २८६ कुम्भको०), अनुशासनपर्व (१६५—१६९ कुम्भको०) आदिमें इन्होंने नारदजीको भगवत्तत्त्वका उपदेश किया है। इन्होंने सांख्यायनको श्रीमद्भागवत पढ़ाया था। श्रीमद्भागवतमें इनके द्वारा महाराज पृथुको भी बहुत सुन्दर उपदेश दिया गया है। उसमें उन्होंने श्रीभगवच्चरित्र-श्रवणको ही परम साधन बतलाया है। भगवद्भक्तिके सहारे बन्धनोन्मुक्ति जितनी सरल है, उतनी इन्द्रियनिग्रह आदि योग अथवा सन्याससे नहीं—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

(श्रीमद्भा० ४।२२।३९)

जब ये भगवान् राघवेन्द्रका राज्याभिषेकके बाद अयोध्यामें दर्शन करते हैं, तब इनके मानसिक आनन्दका ठिकाना नहीं रहता। बस, निर्निमेष दृष्टिसे एकटक देखते ही रह जाते हैं—

मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥
स्यामल गात सरोरुह लोचन। सुंदरता मंदिर भव मोचन॥
एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरें सीस नवावहिं॥
तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा॥

इनका चित्त भगवान्‌को छोड़कर कभी अलग नहीं होता। अब भी ये निरन्तर भगवद्भजनमें ही रत रहते हैं—

सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ, भजन करत अजहूँ।

महर्षि वाल्मीकिकी भक्ति

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

रामेति परिकूजन्तमारूह्य कविताशाखाम् । शृण्वतो मोदयन्तं तं वाल्मीकिं को न वन्दते ॥

भगवन्नाम-जापकोंमें महर्षि वाल्मीकिका नाम अद्वितीय है। उनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि वे पहले रत्नाकर[1] नामके डाकू थे और प्रतिलोमक्रमसे श्रीराम-नामका जप करके ब्रह्माजीके समान पूज्य बन गये—

उलटा नामु जपत जगु जाना । बालमीकि भए ब्रह्म समाना ॥

(मानस)

जान आदिकवि तुलसी नाम प्रभाउ ।
उलटा जपत कोल तें भए ऋषिराउ ॥

(बरवै-रामायण)

भगवद्यशः-कीर्तनमें ये अद्वितीय हैं। सौ करोड़ श्लोकोंमें भगवान् श्रीरामके यशका इन्होंने विस्तारपूर्वक गान किया। योगवासिष्ठ-महारामायण, वाल्मीकि-रामायण, आनन्दरामायण, अद्भुतरामायण आदि उनकी रचनाओंके संक्षेप हैं। ये सभी देवताओंके उपासक थे। श्रीअप्पय्यदीक्षितने रामायण-सार-संग्रहमें सिद्ध किया है कि श्रीरामायणमें सर्वत्र भगवान् शंकरके परत्वकी ही ध्वनि सुनायी देती है। 'स्कन्दपुराण'में इनके द्वारा कुशस्थलीमें वाल्मीकेश्वर लिङ्गकी स्थापनाकी भी बात आयी है।

वाल्मीकि-रामायणके युद्धकाण्डमें श्रीब्रह्माद्वारा कृत श्रीरामस्तुतिमें इनकी गूढ भक्ति प्रस्फुटित होती है। वहाँ वे कहते हैं—'अग्नि आपका क्रोध तथा श्रीवत्सलक्ष्माक चन्द्रमा आपकी प्रसन्नताका स्वरूप है। पहले वामनावतारमें आपने अपने पराक्रमसे तीनों लोकोंका उल्लङ्घन किया था। आपने ही दुर्धर्ष बलिको बाँधकर इन्द्रको राजा बनाया था। भगवती सीता लक्ष्मी तथा आप प्रजापति विष्णु हैं। रावणके वधके लिये ही आपने मनुष्य-शरीरमें प्रवेश किया है और यह कार्य आपने सम्पन्न किया। देव! आपका बल, वीर्य तथा पराक्रम सर्वथा अमोघ है। श्रीराम! आपका दर्शन और स्तुति अमोघ हैं तथा पृथ्वीपर आपकी भक्ति करनेवाले मनुष्य भी अमोघ होंगे'—

अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः ।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥

वे फिर कहते हैं—'जो पुराण-पुरुषोत्तमदेव आपकी भक्ति, उपासना करेंगे, वे इस लोक तथा परलोकमें भी अपनी समस्त काम्य वस्तुओंको प्राप्त कर लेंगे'—

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम् ।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च ॥

(११७ । [illegible])

श्रीमदध्यात्म-रामायण तथा आनन्दरामायणमें यह प्रसङ्ग आता है कि वनयात्रामें भगवान् श्रीराम इनके आश्रमपर गये और उन्होंने इनसे अपने रहनेके लिये उचित स्थानका संकेत पूछा। इसपर इन्होंने हँसकर कहा—'प्रभो! तब सम्पूर्ण प्राणियोंके आप ही एकमात्र उत्तम निवास-स्थान हैं और सारे जीव आपके निवास-स्थान हैं, तब आपको उचित स्थान भला, मैं क्या बताऊँ। तथापि जब आपने पूछा है, तब सुनिये—जो शान्त, समदर्शी और राग-द्वेषसे मुक्त हैं और अहर्निश आपका भजन करते हैं, उनके हृदयमें आप विराजिये। जो आपके मन्त्रका जप करता तथा आपकी ही शरणमें रहता है, उसके हृदयमें आप सीतासहित सदा सुखपूर्वक निवास करें। जो सदा नित्य[illegible] को मनमें रखकर आपका भजन करता तथा आपके भक्तोंकी सेवा करता है, आपके नाम-जपसे जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, उसका हृदय आपका निवासगृह है'—

पश्यन्ति ये सर्वगुहाशयस्थं
त्वां चिद्घनं सत्यमनन्तमीशम् ।
अलेपकं सर्वगतं वरेण्यं
तेषां हृदब्जे सह सीतया वस ॥

(अध्यात्म० [illegible])

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी [illegible] इस प्रसङ्गको विस्तारसे निरूपित किया है। [illegible] बहुत प्रभावित हैं। [illegible] इन्होंने इनके [illegible] स्थानका बड़ी श्रद्धासे [illegible] किया है और इनकी [illegible] गायी है। व्यासदेवने '[illegible]'में इनकी [illegible] रामायणकी बहुत प्रशंसा की है। [illegible] भी इनमें अतुल श्रद्धा थी। इनकी [illegible] स्वरूप मूर्तिमती भक्ति भगवती [illegible] किया। इनकी यह पवित्रता [illegible] अवाङ्मनसगोचर ही है।

---

1. स्कन्दपुराण, आवन्त्यखण्डमें इनका पूर्व नाम अग्निशर्मा आया है।

शबरीकी भक्ति

(लेखक—पण्डित श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक, एम्० ए०)

श्रीरामचरितमानस मुख्यतः भक्तिका ग्रन्थ है, अतएव उसमें भगवान्‌की लीलाके साथ अनेक भक्तोंके चरित भी वर्णित हैं। श्रीराम-वाल्मीकि-मिलन-प्रसङ्गमें प्रभुके निवासके लिये चौदह भवनोंका वर्णन ऋषिजीने किया है और उस वर्णनके व्याजसे उतने ही प्रकारके भक्तोंकी ओर सङ्केत किया है जो रामायणमें मिलते हैं। दर्शनके लिये किसीके लोचन लालची हैं तो कोई गुण-श्रवणसे तृप्त नहीं होता; कोई चातककी नाईं रूपका प्रेमी है तो कोई बालचरित प्रत्यक्ष करनेका लोभी। किसीने शरणागति और आत्मसमर्पणको जीवनका परम ध्येय मानकर भक्तका पद प्राप्त किया और कोई प्रभुको अपना सर्वस्व मानकर भक्त-पङ्क्तिमें जा बैठा।

गीतामें जो भक्त-श्रेणी वर्णित है, उसका अक्षरशः अनुवाद करके गोस्वामीजीने उसको स्वीकार किया है। साथ ही गीतोक्त चारों श्रेणियोंसे भी ऊपर एक भक्तको उन्होंने स्थान दिया है। वे भक्त हैं—राजा दशरथ। इनके वर्णनमें कविकी कल्पना निखर उठी है।

परंतु एक भक्त, जिसे स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे प्रशंसा मिली, वह और भी विलक्षण है। इतना ही नहीं, प्रेमकी विवशतासे उसके लिये मर्यादाका उल्लङ्घन भी मर्यादापुरुषोत्तमने निस्संकोच कर दिया! कहना न होगा—वह भक्त है शबरी। शबरीकी भक्तिका प्रभुपर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा—यही इस निबन्धमें देखना है।

श्रीराम अनुजसहित सीताजीकी खोजमें जंगलमें भटक रहे हैं। परन्तु वहाँ लीलानुसार विलाप करते हुए भी आप अपने भक्तोंको नहीं भूलते, उनके आश्रमोंपर स्वयं जा-जाकर दर्शन देते हैं। अवश्य ही प्रतिज्ञानुसार गाँव, नगर या किसीके घर नहीं जाते। सुग्रीव और विभीषणकी राजधानीमें इसी कारण नहीं पधारे। परंतु शबरीकी कुटियाको आश्रम-तुल्य मानकर उसके वहाँ पधारे। शबरीके न तो कोई शिष्य थे न वहाँ और कोई भक्तमण्डली ही थी और वह किसी मन्दिर आदिमें रहती हो, ऐसा भी कोई संकेत कविने वहाँ नहीं किया है। वह स्वयं अपने स्थानको 'गृह' कहती है। फिर भी प्रभुके चरण वहाँ पधारे।

शबरीने दर्शन किया। पाद्य, आसन और नैवेद्यसे सत्कार किया। उसकी सेवा प्रभुने प्रसन्नतासे स्वीकार की—इतनी ही बात नहीं; बल्कि उसके दिये 'कंद मूल फल खाए बार बार बखान'। महाभारतमें लिखा है कि भोजन करते समय भोजनकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। शास्त्रोंमें हेतु जाननेपर बल नहीं दिया जाता। कारण कुछ भी हो, नियम यही है कि भोजन करते हुए उसकी प्रशंसा तो करनी ही नहीं, मौन भी रखना होता है। विशेषकर प्रभुके लिये तो यह पालनीय था ही; क्योंकि वे ठहरे 'तापस बेष बिसेष उदासी'। जैसे ग्राम-नगरमें जाना उनके लिये निषिद्ध था, वैसे ही भोजनकी सराहना भी निषिद्ध थी। परंतु प्रभुने इस नियमका भी उल्लङ्घन किया।

इसके पश्चात् शबरीको स्तुति करनेका अवसर आया। बेचारी संकोचमें पड़ गयी। कैसे स्तुति की जाती है, यह जानती ही न थी। उस समय प्रभु उसके संकोचको समझकर मन-ही-मन मानो कह रहे हैं—'अरी! तू क्या मेरी स्तुति करेगी, मैं स्वयं तेरी स्तुति करने तेरे द्वारपर आया हूँ!' ऋषि, मुनि, देवता आदिने कितनी ही बार प्रभुकी स्तुति की; परंतु प्रभुने किसीको कभी भी स्तुति करनेसे रोका नहीं, न उसे बीचमें टोका। आज इस बातके विपरीत, और वह भी एक ही बार, आचरण हो रहा है। शबरीको स्तुति नहीं करने दी जाती। प्रभु भक्तसे लीला करते हैं। बड़ी चतुराईसे शबरीको भुलावेमें डालते हैं। जिनका वचन है—'मोहि कपट छल छिद्र न भावा', वे ही आज प्रेमवश सीधी-सादी और विश्वास करनेवाली शबरीके साथ छल कर रहे हैं—जो प्रेम-राज्यमें, भक्त और भगवान्‌के बीच क्षम्य ही नहीं, प्रेमके उत्कर्षका एक साधन है।

शबरीसे प्रभु कहते हैं—'अरी, तू मेरी बात सुन। मैं तुझे उपदेश देता हूँ!' और यह आज्ञा करते हैं—सावधान सुनु, धरु मन माहीं। बेचारी हाथ जोड़ चुपचाप खड़ी रहती है। वह क्या समझे कि उपदेशका बहाना बनाकर मेरी प्रशंसा की जायगी। यदि उसको यह संदेह भी कहीं हो जाता कि प्रभु उसकी प्रशंसा करेंगे तो उसकी क्या दशा होती, यह कल्पनाका विषय है। अपनी हीनताके कारण वह तो पहिले ही संकोचसे ऐसी दब रही थी कि मुखसे शब्द नहीं निकलता था। वह तो आँख-कान बंदकर सिमटकर एक कोनेमें पड़ जाती। परंतु वह तो धोखेमें आ गयी और प्रभुकी चाल चल गयी।

उपदेशके लिये नियम है—जो पुराणादिमें सब जगह समानरूपसे मिलता है—कि प्रश्नकर्ताको उपदेश दिया जाता है। प्रश्नसे श्रोताके अधिकारका पता चलता है। नीतिका वचन है—नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्। शबरीने तो उपदेश-की प्रार्थना की नहीं। बिना जिज्ञासाके उपदेश करना अनुचित और जो उपदेश पालनीय न हो, वह भी व्यर्थ। यहाँ दोनों ही आपत्तियाँ की जा सकती हैं। शबरीने उपदेशकी प्रार्थना नहीं की और दूसरे जो वस्तु या स्थिति प्राप्त हो चुकी, उसके लिये उपदेश व्यर्थ ही नहीं हास्योत्पादक है। जो गन्तव्य स्थानको पहुँच गया उसको मार्ग दिखाना व्यर्थ है। यही बात यहाँ भी चरितार्थ है। नवधा भक्तिका उपदेश किया जा रहा है किसको !

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

यह व्यर्थ उपदेश है या स्तुति—उपदेशके व्याजसे स्तुति है ? और एक बड़े मजेकी बात है। उपदेश तो चरितार्थ करनेके लिये दिया जाता है। पर शबरी तो अभी-अभी प्रभुके समक्ष ही योगाग्निसे अपना शरीर भस्म कर देगी। उसको अवसर कहाँ शिक्षा ग्रहण करनेका। यदि यह कहा जाय कि उपदेश जगत्‌के लिये है, तो ठीक है; परंतु जब शबरी रहेगी ही नहीं; तब वह तो किसको सुनायेगी। इसी प्रकार एक बार फिर भक्तवत्सलतासे परवश होकर बिना जिज्ञासाके अपनी प्रजाको स्वयं आमन्त्रितकर प्रभु उपदेश देंगे। दोनों अवसरोंपर नियमभङ्गका कारण समान है।

नवधा भक्ति तो प्रसिद्ध श्लोकमें वर्णित है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

परन्तु शबरीको जो नवधा भक्ति बतायी गयी, वह इससे भिन्न है। सिद्धान्ततः तो कोई भेद न [illegible] है ही। इसके दो कारण हो सकते हैं। [illegible] भोलीभाली शबरीने जिस क्रमसे [illegible] उसीका वर्णन प्रभु कर रहे हैं। [illegible] शास्त्रकी रचना कर डाली और उनका [illegible] और यह भी साथमें बता दिया कि भक्तिके [illegible] पालनसे कहीं अधिक महत्त्व [illegible] है। [illegible] साबित भी मीठा और टूटा भी मीठा। दूसरी [illegible] पौराणिक भक्तिका क्रम प्रभुमें दृढ़ भक्ति प्राप्त [illegible] है। एक-एक सोपानमें प्रभुके प्रति प्रेम दृढ़ और [illegible] है और भक्त प्रभुके अधिकाधिक निकट पहुँचता [illegible] है। अन्तमें उनकी अनन्यताके कारण वे ही उनके [illegible] एवं प्रेम-पात्र बन जाते हैं। गीतामें जैसे अर्जुनने भगवान्‌से [illegible]— 'मामुपैष्यसि', नवधा भक्ति [illegible] परंतु शबरीकी भक्ति तो ऐसी भी [illegible] प्रभुके प्रेम पात्र हो गयी। यहाँ [illegible] है—मयि ते तेषु चाप्यहम्। प्रभुने [illegible] शबरीसे बताया। और किसी भक्तको [illegible] — सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें। जहाँ [illegible] यहाँ पूरी नौ और वे सब-की-सब दृढ़ भक्ति।

श्रीभगवान्‌ने एक और [illegible] नहीं। [illegible] 'करिवरगामिनी' कहकर सम्बोधित किया। [illegible] को सर्वप्रकार दीन समझे। [illegible] शरीरका सौन्दर्य देखते हैं। [illegible] होता है, उसका तन और [illegible] भी सुन्दर [illegible] है।

प्रेममें नियम नहीं [illegible]। [illegible] अटपटे होते हैं। साधारण नियम [illegible] निस्तेज हो जाते हैं। प्रभुकी तो [illegible] हैं, वे जैसे चाहते हैं उन्हें [illegible] मर्यादाकी सीमाएँ [illegible] हो गयीं।

मनुष्यके धर्म

नारदजी कहते हैं—

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं [illegible]।
([illegible])

सतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-[illegible] आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, [illegible] और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण (यही मनुष्योंका धर्म है)।

श्रीभरतकी भक्ति

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे साहित्यरत्न)

रसही मगति भलाई भली भाँति भरत ।
स्वारथ परमारथ पथी जय जय जग करत ॥
जो व्रत मुनिवरनि कठिन मानस आचरत ।
सो व्रत लिए चातक-ज्यों, सुनत पाप हरत ॥
(गीतावली)

'श्रीभरतने भक्ति और भलाईकी बहुत अच्छी तरह रक्षा की । वे स्वार्थ और परमार्थ दोनोंके मार्गोंपर चलनेवाले हैं, सारा संसार उनका जय-जयकार करता है । जिस (अनन्य) व्रतका मुनियोंके लिये मनसे भी आचरण करना कठिन है, उसे उन्होंने चातकके समान निभाया, जिसका श्रवण ही सब पापोंको हर लेता है ।'

श्रीभरत भक्तिके उच्चतम आदर्श थे । इनका सम्पूर्ण जीवन भगवान् श्रीरामकी भक्तिमें ही व्यतीत हुआ । ये भगवान् श्रीरामको अपना पिता, माता, स्वामी और सर्वस्व समझते तथा प्रभुके भजनमें ही जीवनकी सफलता मानते थे । इसे इन्होंने स्वयं अपने मुखारविन्दसे भगवान्‌के सम्मुख निवेदन किया था—

जद्यपि हौं अति अधम कुटिलमति अपराधिनि को जायो ।
प्रनतपाल कोमल सुभाव जियँ जानि सरन तकि आयो ॥
जो मेरें तजि चरन आन गति, कहौं हृदयँ कछु राखी ।
तौ परिहरहु दयालु दीनहित प्रभु अभिअंतर साखी ॥
ताते नाथ कहौं मैं पुनि पुनि प्रभु पितु मातु गोसाईं ।
भजनहीन नरदेह बृथा खर स्वान फेरु की नाईं ॥
(तुलसीदास)

'यद्यपि मैं बड़ा ही नीच, कुटिलमति और अपराधिनीके गर्भसे उत्पन्न हुआ हूँ, तो भी आपका कोमल स्वभाव है तथा आप शरणागतवत्सल हैं—यह चित्तमें समझकर मैं आपकी शरण ताककर आया । यदि मुझे आपके चरणोंको छोड़कर कोई और गति हो अथवा मैं चित्तमें किसी प्रकारका कपट रखकर कहता होऊँ तो हे दीन-हितकारी दयामय देव ! आप मुझे त्याग दें; क्योंकि प्रभु सबके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं । हे नाथ ! आप ही मेरे पिता, माता और स्वामी हैं; इसीसे मैं बारंबार (अपनी सेवामें रख लेनेके लिये) कह रहा हूँ; क्योंकि यह मनुष्य आपका भजन किये बिना तो गधे, कुत्ते और गीदड़के समान वृथा ही है ।'

भरतजीका अद्भुत स्नेह शैशवसे ही श्रीरामके चरणोंमें था । वे श्रीरामको अपना प्रभु मानते थे तथा संकोचवश उनसे खुलकर बात करना तो दूर रहा, जी भरकर उन्हें देख भी न पाते थे; उनमें 'मैं'पनका तनिक भी भाव न था । स्वयं उन्होंने इसे स्पष्ट किया है—

महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन ।
दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन ॥
(मानस)

जिन भगवान् श्रीरामके लिये भरतका इतना उज्ज्वल एवं प्रेममय उत्कृष्ट भाव हो, वे भला, श्रीरामको किस मूल्यपर छोड़ सकते थे । दुर्भाग्यवश कैकेयीने श्रीरामके सम्बन्धमें चौदह वर्षके लिये वनवासकी महाराज दशरथसे आज्ञा माँग ली । अपने लघु अनुज लक्ष्मण एवं साध्वी पत्नी सीताके साथ श्रीराम राज्य छोड़ वन सिधारे । श्रीभरत ननिहाल थे । लौटनेपर पिताका शव एवं प्रभुके वन-वासनका संवाद ! कितनी दारुण स्थिति थी ! जैसे किसीने लोहा गलाकर आँख एवं कानमें उँडेल दिया हो । भगवान्‌के अनन्य भक्त भरतकी दशाका चित्रण वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण, पद्मपुराण तथा रामचरितमानस आदि ग्रन्थोंमें जिन शब्दोंमें किया गया है, उन्हें पढ़कर रोमाञ्च हो आता है, नेत्र सजल हो जाते हैं ।

अवधका सार्वभौम राज्य भरतके करतलगत था । न्यायतः उन्हें कोई कुछ कहनेवाला न था और जिस साम्राज्यके लिये विश्वके इतिहासमें भयानक रक्तपात, माता-पिता एवं बन्धुकी निर्मम हत्याके वर्णन भरे पड़े हैं, उस प्राप्त साम्राज्यको भरतने ठोकर मार दी और दौड़ पड़े भगवान् श्रीरामके चरणोंमें नंगे पैर, नंगे सिर, सूखे अधर और नेत्र-हृदयमें आँसू भरे । रथपर बैठनेके लिये कहा गया तो फूट पड़े—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए । हम कहँ रथ गज बाजि बनाए ॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा । सब तें सेवक धरमु कठोरा ॥

भगवान् श्रीरामके अनन्य सेवककी पीड़ाका वर्णन सम्भव नहीं । 'मेरे प्राणाराम श्रीराम भैया लक्ष्मण एवं माता सीताके साथ मुनिवेषमें नंगे पैरों वन-वन मारे-मारे फिर रहे हैं । वे मृगचर्मसे शरीर ढककर, फलाहार करते हुए, पृथ्वी-पर कुश और पत्ते बिछाकर सोते तथा राजमहलोंमें रहनेवाले

प्रभु वृक्षोंके नीचे गर्मी, वर्षा एवं हिमपात सहते हैं! कैसे सहा जाय!' यह भरतजी प्रतिक्षण सोचते और उनका कोमल हृदय जैसे अग्निमें पड़ गया हो। वे बेचैन थे, क्षुधा-पिपासा एवं निद्रा फिर उन्हें कैसे स्पर्श करती! महर्षि भरद्वाजसे उन्होंने अपनी यह असह्य व्यथा कह भी दी—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥
अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥
एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नीद न राती॥

श्रीभरतकी भगवान् रामके चरणोंमें असीम श्रद्धा, अगाध प्रेम एवं अमित भक्ति देखकर भरद्वाजजीने कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

श्रीभरतकी भक्ति, श्रीभरतका प्रेम अकथनीय है। अवध-वासियोंके साथ वे श्रीराम-दर्शनकी उत्कट लालसासे जा रहे थे। उनके नेत्रोंमें श्रीराम, भगवती सीता एवं लक्ष्मण झूल रहे थे। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने 'मानस'में लिखा है—

आगें मुनिबर बाहन आछें। राजसमाज जाइ सबु पाछें॥
तेहि पाछें दोउ बंधु पयादें। भूषन बसन बेष सुठि सादें॥
सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। सुमिरत लखनु सीय रघुनाथा॥
जहँ जहँ राम बास बिश्रामा। तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा॥

इस प्रकार चलते उन्हें जब दूरसे प्रभुके दर्शन हुए, तब भरतजीका मन आगे बढ़नेके लिये उतावला हो उठा, किंतु शरीर रोमाञ्चित होकर शिथिल हो गया और नेत्र जल-पूरित हो गये। पैर जैसे संकोचरूपी दलदलमें गड़े जाते हैं और उन्हें वे प्रेम-बलसे धैर्यपूर्वक बाहर निकालते हैं—

मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो नलिन नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेम बल धीर॥
(गीतावली)

दूरसे ही—श्रीभरतजी लकुटकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

भरतके प्राणाराध्य श्रीरामकी दशाका वर्णन भी शक्य नहीं। भक्त भगवान्को सर्वाधिक प्यारा होता है। 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥' (गीता)—भगवान्की वाणी है। भगवान्की विचित्र दशा हो गयी, वे प्राणप्रिय भरतसे मिलनेके लिये अधीर हो उठे। श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

× × ×

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥

श्रीभरतका जीवन सम्पूर्णतया भगवान् श्रीरामपर समर्पित था। उनका अपना कुछ नहीं था। स्वार्थ, परमार्थ और जागतिक सुखोंकी ओर उन्होंने स्वप्नमें भी मनसे भी नहीं देखा। उनका पवित्र साधन और सिद्धि दोनों थीं—एकमात्र श्रीरामके चरण-कमलोंमें प्रीति। चित्रकूटमें श्रीजनकजीने यही बात सुनयना-जीसे कही थी—

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

श्रीभरतजीने श्रीरामसे लक्ष्मण एवं सीतासहित अयोध्या लौटनेकी प्रार्थना की, किंतु श्रीरामने पिताकी आज्ञाके कारण विवशता प्रकट की। श्रीभरतजीने पितृ-वचनकी रक्षाके लिये श्रीराम, लक्ष्मण एवं सीताको लौटाकर स्वयं शत्रुघ्नके साथ वनमें वास करनेकी इच्छा प्रकट की, किंतु श्रीरामको यह भी स्वीकार न था। भरत विवश थे। वे श्रीरामके बिना रह नहीं सकते थे और अपनी सम्पूर्ण प्रीतिके केन्द्र-बिन्दु, अपने लोक-परलोकके एकमात्र आधार, जीवन-सर्वस्व श्रीरामके वियोगमें मणिहीन फणीकी भाँति छटपटा रहे थे। परमोदार सर्वज्ञ श्रीराम इसे जानते थे। वे सत्यप्रतिज्ञ, धर्मभीरु एवं मर्यादा-पुरुषोत्तम थे, किंतु भरतके अगाध प्रेम एवं उनकी अनन्य-भक्ति-जनित परमाकुलताके सामने उनकी एक न चली। उन्होंने भरतसे कह दिया 'तुम संकोचशून्य प्रसन्न मनसे आज जो कहो, वही मैं करनेके लिये प्रस्तुत हूँ'—

मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करौं सोइ आजु।

भरतजी गद्गद हो गये। वे भगवान्के सच्चे सेवक थे। उन्होंने सोचा—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

फिर क्या करते। वे प्रभुकी इच्छामें ही संतुष्ट थे। प्रभुकी कृपाका अनुभव करते हुए वे मग्न हुए थे। उन्होंने प्रभुसे निवेदन भी किया—

करि दंडवत कहत कर जोरी। राखीं नाथ सकल रुचि मोरी॥
मोहि लगि सहेउ सबहिं संतापू। बहुत भाँति दुखु पावा आपू॥

भगवान्ने कृपापूर्वक अपनी चरण-पादुका उन्हें दे दी। श्रीभरतजीने उसे अत्यन्त आदरपूर्वक ग्रहण किया—

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥

भरतजी अरण्य-वासकी अवधिसे एक दिन भी अधिक भगवान्की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। भगवान् पूज्य पिताके वचन-पालनमें बँधे होनेके कारण विवश हैं, वे भले ही अपने कर्त्तव्यका पालन करें; किंतु उससे एक दिन भी अधिक यदि वियोग सहना पड़ा, तो भरत जीवित नहीं रह सकते। उन्होंने भगवान्से स्पष्ट निवेदन कर दिया कि 'हे प्रभो! वनवासकी अवधि समाप्त हो जानेपर यदि आप पहले ही दिन अयोध्यामें लौटकर न आये तो प्रभुके चरण-कमलोंकी सौगंद, आप अपने दासको जीवित न पा सकेंगे।'

तुलसी बीतें अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ।
तौ प्रभु चरन सरोज सपथ जीवित परिजनहि न पैहौ॥

(गीतावली)

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

(मानस)

भगवान् श्रीरामने भी विभीषणसे यही बात कही थी—

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।

प्रभुप्रेमियोंके लिये इतना उच्चतम आदर्श और कहाँ उपलब्ध होगा। भगवान्के भक्तोंके लिये श्रीभरतकी अनुपम भक्तिका यह प्रकाश सदा मार्ग-दर्शन कराता रहेगा। सचमुच भरतके सदृश राम-प्रेम अन्यत्र कहीं नहीं। सारा संसार जिन रामका भजन, स्मरण और चिन्तन करता है, वे निखिल सृष्टिके कर्ता, भर्ता एवं संहर्ता भगवान् श्रीभरतका जप करते हैं। भरत उनके नेत्रोंके सामने रहते हैं। वे भरतके हाथों बिके हैं—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

बलिहारी है भगवान्की भक्ति और प्रेमकी!

श्रीभरतजी चित्रकूटसे अयोध्या लौटकर नन्दिग्राममें शुभ मुहूर्तमें भगवान्की पादुकाएँ सिंहासनपर स्थापित करते हैं और तपस्वी-जीवन व्यतीत करने लगते हैं—

जब तें चित्रकूट तें आए।
नंदिग्राम खनि अवनि डासि कुस परन कुटी करि छाए॥
अजिन बसन फल असन जटा धरे रहत अवधि चित दीन्हे।
प्रभु पद प्रेम नेम ब्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हे॥
सिंहासन पर पूजि पादुका बारहिं बार जोहारे।
प्रभु अनुराग मागि आयसु पुरजन सब काज सँवारे॥
तुलसी ज्यों ज्यों घटत तेज तनु, त्यों त्यों प्रीति अधिकाई।
भए न हैं न होहिंगे कबहूँ भुवन भरत से भाई॥

'जबसे भरतजी चित्रकूटसे लौटकर आये हैं, तबसे नन्दिग्राममें पृथ्वी खोदकर उसमें कुश बिछाकर पत्तोंकी कुटी छा ली है। वहाँ मृगचर्म धारण किये, फलाहार करते हुए, सिरपर जटाएँ धारणकर अवधिमें चित्त लगाये निवास करते हैं। प्रभुके चरणोंमें उनके प्रेम, नियम और व्रतको देखकर तो मुनियोंने भी लज्जावश अपना मस्तक नीचा कर लिया है। वे प्रभु-की पादुकाओंको सिंहासनपर पूजकर बारबार उनकी वन्दना करते हैं और प्रभु-प्रेमसे भरकर उन (पादुकाओं) की आज्ञा ले पुर-वासियोंके सब कार्य सँभालते हैं। तुलसीदास कहते हैं—ज्यों-ज्यों उनके शरीरका तेज (पुष्टता) घटता है त्यों-त्यों उनकी प्रीति बढ़ती जाती है। संसारमें भरत-जैसे भाई न कभी हुए हैं न हैं और न भविष्यमें ही कभी होंगे।'

जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥

× × × ×

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥

× × × ×

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥

(मानस)

श्रीभरतजी भगवान्के आज्ञा-पालनके लिये राज्य-कार्य देख लेते हैं, किंतु उनके हृदयमें सीतासहित श्रीराम प्रतिक्षण रहते हैं; श्रीभरतजी उनकी स्मृतिसे पुलकित हो जाते हैं, जीभ-से भगवान्का नाम जपते हैं और उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी अजस्र धारा बहती रहती है। राम लक्ष्मण-वैदेहीके साथ अरण्यवास कर रहे हैं, किंतु भरतजी घरपर कठोर तपमें लगे हैं—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥

श्रीरामके साथ लङ्कासे आकर श्रीअञ्जनीनन्दन भरतजी-का दर्शन इस रूपमें करते हैं—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

चतुर्दश वर्षके अनन्तर भगवान्‌के आगमनका संवाद श्रीहनुमान्‌जीके मुखसे सुनते ही भरतजीकी विचित्र दशा हो गयी। वे अहर्निश जिनकी स्मृतिमें आकुल हो रुदन करते रहे हैं, उनके वे ही प्रेमभाजन प्रभु पधारे हैं—इस संवादसे बढ़कर और सुखका कारण उनके लिये क्या होता—

दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥

भगवान् पधारे। श्रीभरतजीकी प्रसन्नताका अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं; इसे तो भरत या श्रीराम ही समझ सकते हैं। श्रीभरतजीके रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं, आँखें भर आती हैं और जब वे भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़ते हैं, तब उठानेसे नहीं उठते हैं। प्रेमोज्ज्वलविग्रह श्रीराम उन्हें बरबस उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

भगवान् श्रीराम अपने प्राणप्रिय भक्तको हृदयसे लगा लेते हैं और उनके नेत्र भर आते हैं। वे भरतसे कुशल पूछते हैं, पर इनके मुँहसे वाणी नहीं निकल पाती। बड़ी कठिनाईसे भरतजी उत्तर देते हैं—

अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

विशुद्ध प्रेमानन्दमें भावनाके सिवा और किसीके [illegible] नहीं। श्रीभरतजी सब प्रकारसे अपने [illegible] थे। श्रीराम ही उनके प्राण थे। भगवान् [illegible] भरतकी श्रद्धा, भरतकी भक्ति और [illegible] अनुराग—सभी अद्वितीय एवं अलौकिक हैं। [illegible] भगवान्‌के कितने ही प्रेमी हुए, किंतु श्रीभरत[illegible] से बढ़ते नहीं बनती। भरतकी श्रीति [illegible] भगवान्‌के प्राणप्रिय भक्तमें श्रवण, कीर्तन, [illegible] अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन—[illegible] की भक्ति एक ही साथ देखनेमें आती है। इस [illegible] बढ़कर विस्तृत प्रकाश डालना सम्भव नहीं। [illegible] भक्तिकी जीवित प्रतिमा थे। इसी [illegible] इनके सम्बन्धमें [illegible] अपना भाव इन [illegible] शब्दोंमें व्यक्त किया है—

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

× × × ×

परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥
हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महामोह निसि दलन दिनेसू॥
पाप पुंज कुंजर मृगराजू। समन सकल संताप समाजू॥
जन रंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारू॥

× × × ×

निस्संदेह भरतका जीवन राम-प्रेमामृत[illegible] सम्पूर्ण विश्वके लिये परम पवित्र एवं [illegible] है।

सब कुछ वासुदेव श्रीकृष्णमें ही

श्रीसूतजी कहते हैं—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः। वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः। वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥
(श्रीमद्भा० १।२।२८-२९)

'वेदोंका तात्पर्य श्रीकृष्णमें ही है। यज्ञोंके उद्देश्य श्रीकृष्ण ही हैं। योग श्रीकृष्णके लिये ही किये जाते हैं और समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति भी श्रीकृष्णमें ही है। ज्ञानसे ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णकी ही प्राप्ति होती है। तपस्या श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही की जाती है। श्रीकृष्णके लिये ही धर्मोंका अनुष्ठान होता है और सब गतियाँ श्रीकृष्णमें ही समा जाती हैं।'

व्यासदेवकी भक्ति

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः। यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत् पिबति ॥

व्यासदेवजीकी भक्ति अद्भुत है। उन्होंने अठारह पुराणों, उतने ही उपपुराणों तथा महाभारत आदिमें सभी देवताओंकी भक्ति प्रदर्शित की है। श्रीमद्भागवत, महाभारत, ब्रह्मवैवर्त-पुराणादिमें श्रीकृष्णभक्तिका जो आदर्श आपने उपस्थित किया है, वह सर्वथा अलौकिक तथा अद्वितीय है। इसी प्रकार श्रीमद्देवीभागवत, कालिकापुराण आदिमें देवीभक्ति, पद्मादि पुराणोंमें श्रीरामभक्ति एवं गणेशपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण (गणपतिखण्ड) आदिमें गणेशजीकी भक्ति, स्कन्द-शिव-लिङ्ग आदि पुराणोंमें शिवभक्ति, विष्णुपुराण-वाराहपुराण आदिमें विष्णु-भक्ति, भविष्य एवं सौर आदि पुराणोंमें सूर्य-भक्ति तथा अन्यान्य पुराणोंमें भी तत्तद्देवताओं, ऋषि-मुनियों, माता-पिता, गुरु, गौ-ब्राह्मण आदिकी भक्ति दिखलायी है, उनकी महिमा गायी तथा उनकी वाङ्मयी पूजा—नमस्क्रिया की है। यों ब्रह्मसूत्र, गीता आदिमें उन्होंने एक अखण्ड ब्रह्मकी उपासना तथा चराचरभूत—प्राणिमात्रकी भी भक्ति दिखलायी है। वे भक्तिके परमाचार्य हैं।

उनका जीवन पूर्ण उपासनामय है।

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सैव विक्रिया ॥

(गरुडपुरा० २२२ । २२, स्कन्दपुरा० काशी० २१ । ५२; लिङ्गपुराण १ । ७२ । २२)

—उनका यह बार-बारका उपदेश ही प्रमाण है कि उनका एक क्षण भी भगवच्चिन्तन, भगवद्ध्यानसे खाली नहीं जाता था। भक्तिकी उपादेयताके सम्बन्धमें उन-उन पुराणोंमें उन्होंने जो प्रकरण लिखे हैं, वे भक्तिमार्गके पिपासुओंके लिये प्राणप्रद सम्बल हैं। अगणित आख्यानों तथा कथानकोंद्वारा उन्होंने जो भक्तिकी महत्ता दिखलायी है, वह बड़ी ही श्रद्धोत्पादक तथा उत्साहवर्द्धक है।

व्यासजीमें इसी प्रकार सभी प्रकारकी भक्तिके उदाहरण पाये जाते हैं। उनकी जीवनी भी स्वयं उन्हींकी निष्पक्ष लेखनीसे कृष्णैप पुरुषके रूपमें उनके ही ग्रन्थोंमें लिखी गयी है। अपने पिता पराशरजीसे उन्होंने वेदमें भगवद्यशका श्रवण किया था; भगवद्-यशःकीर्तनमें तो ये विश्वमें सबसे ही बाजी मार ले गये। प्रायः सारा भगवत्कथा-साहित्य उन्हींकी भास्वती भगवती अनुकम्पाकी देन है। आज भी साधारण कथावाचकको लोग व्यास कहकर ही सम्बोधन करते हैं।

अर्चन, वन्दन, पाद-सेवन आदि पूजाके अङ्ग भी उनके जीवनव्यापी निरन्तर कर्म हैं, यह उनकी पाद्म-स्कान्द आदिमें बतलायी पूजा-पद्धतियोंसे सुस्पष्ट है। स्कन्दपुराण प्रभास-खण्डके ११० वें अध्यायमें इन्होंने बतलाया है कि भक्ति लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक भेदसे तीन प्रकारकी होती है। गन्ध, माला, शीतल जल आदिसे की जानेवाली भक्ति लौकिक है; वेद-मन्त्र, हविर्दान, अग्निहोत्र, संक्षव-प्राशन, पुरोडाश, सोमपान आदि सब कर्म वैदिकी भक्तिके अन्तर्गत हैं। प्राणायाम, ध्यान, व्रत, संयमादि आध्यात्मिक भक्ति हैं। इसीके आवन्त्यखण्डके ७० वें अध्यायमें इन्होंने भक्तिके कायिक, वाचिक और मानसिक भेदसे तीन प्रकार बतलाये हैं। पूर्वोक्त आध्यात्मिक भक्तिके भी यहाँ सांख्य, यौगिकी—ये दो भेद बतलाये हैं। इसी प्रकार पद्मपुराण, सृष्टिखण्डके १५वें अध्यायमें श्लोक १६४से १९२ तक ब्रह्माजीकी भक्तिके त्रिविध भेदपर विस्तारसे विचार किया है। इसीके उत्तरखण्डके २८० वें अध्यायमें भगवान् विष्णुकी श्रौत, स्मार्त तथा आगमोक्त आराधना-विधिपर विस्तृत प्रकाश डाला है। 'शिवपुराण' तथा 'लिङ्गपुराण'के १ । २७, ७६; २ । २०—२६ अध्यायोंमें रुद्रदीक्षा, लिङ्ग-प्रतिष्ठा, अघोर-अर्चापर विचार किया है। 'मत्स्यपुराण'के २५७ से २६९ तकके १३ अध्यायोंमें क्रियायोग (उपासना)-विधि, देवप्रतिमाके आकार, लक्षण, प्रतिष्ठा-विधि आदिपर अति विस्तृत विचार किया है, जितना अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। स्कन्दपुराणमें उनके द्वारा कई लिङ्गोंके स्थापित किये जानेकी बात आती है। इसी प्रकार देवीभागवत आदिमें अम्बायज्ञ आदिके अनुष्ठानकी भी बात आती है।

९— भक्तिके परमाचार्य भगवान् वेदव्यास

१०— रामभक्तिके महान् प्रचारक महर्षि वाल्मीकि
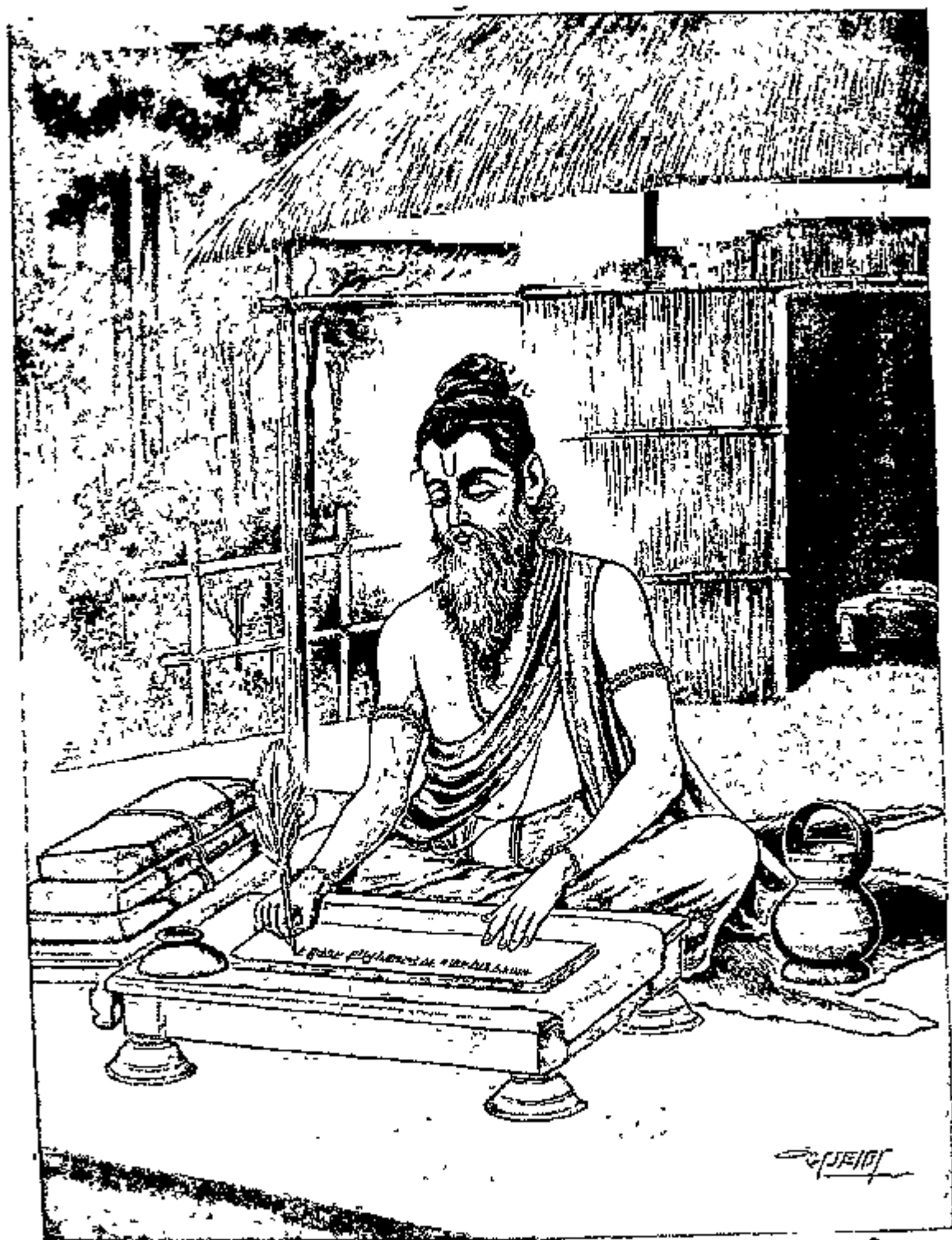
भक्ति तथा ज्ञान

(लेखक—श्रीयुत आर्० कृष्णस्वामी ऐयर)

भक्ति एवं ज्ञान—क्या ये परस्परविरोधी हैं, अथवा एक दूसरेके पूरक हैं ? और इन दोनोंमें व्यावहारिक दृष्टि तथा सैद्धान्तिक विचारसे कौन अधिक श्रेष्ठ है ? इन तथा ऐसे अन्य प्रश्नोंको लेकर विद्वज्जन वाद-विवाद करते तथा झगड़ते देखे-सुने जाते हैं। मैं इस विषयकी तार्किक विवेचनाके लिये प्रस्तुत नहीं हूँ। मैं अपनेको भगवान् श्रीकृष्णद्वारा अपनी अमर गीतामें किये गये कतिपय सरल वक्तव्योंकी व्याख्यातक ही सीमित रखना चाहता हूँ। यह बात मैं पहले ही कह देना चाहता हूँ कि भक्ति-सम्बन्धी आधुनिक दृष्टिकोणका, जो उसे व्यक्तिगत या सामूहिक संगीत, नृत्य, पाठ इत्यादिके रूपमें मानता है, गीतामें कहीं उल्लेख नहीं है, इसलिये मैं उसके विषयमें कुछ कहना नहीं चाहता।

भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गीता ७ । १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके सुकृती भक्त-जन मुझे भजते हैं।'

इससे स्पष्ट है कि भगवान् ज्ञानीको भक्तसे अलग कोई व्यक्ति नहीं मानते, पर उसे भक्तोंकी ही एक श्रेणी बताते हैं। यह दिखानेके लिये कि भक्ति एवं ज्ञान परस्परविरोधी नहीं हैं, इतना ही लिखना पर्याप्त है।

एक रोगी, जो डाक्टरके पास अपने किसी रोगकी निवृत्तिके लिये जाता है, उस डाक्टरके प्रति अत्यन्त सम्मानपूर्ण आचरण करता है और उसके निर्देशोंका पूरी तरह पालन करता है, किस लिये ? ऊपरसे देखनेपर ऐसा ज्ञात होता है कि वह आचरण डाक्टरको प्रसन्न करनेके लिये किया जा रहा है। पर क्या सचमुच ऐसा है ? या यह केवल इसलिये है कि शीघ्र-से-शीघ्र रोगसे मुक्ति प्राप्त हो ? डाक्टरके पास जाना रोगके कारण ही है; रोगीका डाक्टरके प्रति [illegible] विनीत एवं आज्ञापालनका भाव भी रोगसे मुक्ति पानेकी इच्छासे ही प्रेरित है; यदि डाक्टर दयालु है तो रोग मुक्तिके बाद भी रोगीमें उसके प्रति कृतज्ञताकी भावना हो सकती है, किंतु यदि डाक्टर शुद्ध पेशेवर प्राणी है तो कोई सम्बन्ध हुआ भी तो उसी क्षण टूट जाता है [illegible] जाती है। जो हो, रोगीका अन्तिम [illegible] है; उसका डाक्टरको [illegible] साधनमात्र है। इसी प्रकार यदि [illegible] मैं उनकी कृपाके लिये प्रार्थना करता हूँ [illegible] केवल अपने दुःखमोचनके लिये [illegible] उसके दुःखमोचनका एक [illegible] उनकी प्रार्थना करता है। यदि [illegible] दुःखसे मुक्ति प्राप्त हो सकती [illegible] प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं [illegible] अर्थ यह हुआ कि भगवान्‌का [illegible] नहीं है वरं दूसरे ही उद्देश्य [illegible] साधनमात्र है।

इसी प्रकार जो [illegible] इसलिये करता है कि [illegible] मिल जाय, उसमें [illegible] किंतु वस्तुतः [illegible] है उसका केवल [illegible] लिये नहीं वर [illegible] विषय [illegible] भक्त किसी [illegible] है, वस्तुतः उस [illegible] और भगवान्‌को उस [illegible] धर देता है। जिज्ञासु भक्त [illegible] लिये ज्ञान ही अन्तिम [illegible] उस ज्ञानकी [illegible] है। [illegible] भक्तोंमें श्रेणी-भेद ही [illegible] बात [illegible] ईश्वरको साधनमात्र [illegible] मुक्ति या [illegible] भगवान्‌को [illegible] किंतु [illegible] प्रकार [illegible]

की पूर्तिके मार्गमें एक पग भर है, इसलिये उनके लिये वे उद्देश्य मुख्य एवं ईश्वर गौण है। उनके लिये ईश्वर उनका अन्तिम या सर्वोच्च साध्य नहीं है। किंतु ज्ञानीके लिये ईश्वर न केवल भक्तिका विषय है वरं सर्वोच्च साध्य या लक्ष्य भी है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(गीता ७। १८)

'भगवान् कहते हैं कि अवश्य ही ये सभी उदार हैं, परंतु मेरा मत है कि ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है; क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही भली प्रकार स्थित है।'

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

यह भक्ति जिसमें दूसरेके लिये अवकाश नहीं है, अनन्य कहलाती है। वहाँ दूसरा कुछ नहीं है, इसलिये भक्ति भगवान्‌से दूर नहीं हटती। इसीलिये उसे 'अव्यभिचारिणी' भी कहा गया है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

(गीता ८। २२)

'हे पार्थ! वह परम-पुरुष अनन्य भक्तिसे प्राप्य है।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

(गीता ११। ५४)

'हे अर्जुन! मैं अनन्य भक्तिके द्वारा इस रूपमें जाना जा सकता हूँ।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

(गीता १४। २६)

'जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरा सेवन करता है।' निम्नलिखित श्लोकार्द्धमें दोनों बातें कही गयी हैं—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

(गीता १३। १०)

'बिना किसी दूसरी बातका विचार किये (अनन्यभावसे) मुझमें अव्यभिचारिणी भक्ति रखना।'

यही इस सूत्रोंमें चौथी वह भक्ति है, जो वस्तुतः सर्वोच्च है और इसीलिये जिसे 'परा' संज्ञा दी गयी है—

मद्भक्तिं लभते पराम्। (१८। ५४)

'उसे मुझमें परा भक्ति प्राप्त होती है।'

यही परा भक्ति मनुष्यको उस अन्तिम प्रकाशतक ले जाती है, जिसके फलस्वरूप दूसरे ही क्षण मुक्ति मिल जाती है—ऐसी बात नहीं, अपितु जिसके समकालमें ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसपर विचार करना अनावश्यक है कि यह अवस्था भगवान्‌से घनिष्ठ सम्पर्ककी है, अथवा उसमें विलीन हो जानेकी, उसके साथ घुल-मिल जानेकी है। हमलोग आज जिस स्थितिमें हैं, उसमें रहते हुए उस अवस्थाकी यथोचित धारणा नहीं कर सकते। हमारे लिये इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि इसे ही सर्वोच्च अवस्था तथा जीवनका ध्येय घोषित किया गया है। यह सर्वोच्च प्रकाशकी, सर्वोच्च आनन्दकी, सर्वोच्च सत्यकी स्थिति है। जो शब्द इस इन्द्रियलब्ध जगत्‌की धारणाओंतक ही सीमित हैं, उन धारणाओंका अतिक्रमण करनेवाली स्थितिका संतोषजनक वर्णन कैसे कर सकते हैं? पर जब हमें उसका वर्णन करना पड़ता है, तब इन शब्दोंका सहारा लेनेके अतिरिक्त हमारे पास दूसरा विकल्प ही क्या है—भले वे शब्द कितने ही अपूर्ण क्यों न हों? यदि हम शब्दोंको उनके वाच्य अर्थमें ग्रहण करेंगे और उस स्थितिकी धारणामें प्रत्यक्ष जगत्‌के संदर्भमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके तात्पर्यको संनिविष्ट कर लेंगे तो अपनेको धोखा देंगे।

कल्पना कीजिये, एक मित्र मुझसे कहते हैं कि शर्करा मीठी है। मैं उनकी प्रामाणिकतामें अक्षुण्ण विश्वास रखता हूँ, अतः मुझे उनके वक्तव्यकी सत्यतामें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है। संदेह और भ्रम—गलतफहमी—दो दोष हैं, जो ज्ञानको विकृत करते हैं। इनमेंसे कोई भी दोष मेरे मित्रके इस कथनमें नहीं है, इसलिये मैं इस ज्ञानकी यथार्थताका कि शर्करा मीठी है, निश्चयपूर्वक दावा कर सकता हूँ। परंतु क्या मैं स्वयं अनुभूत तथ्यके रूपमें इस ज्ञानका दावा कर सकता हूँ कि शर्करा मीठी है? यह दावा तो तभी किया जा सकता है, जब मैं एक चुटकी शर्करा अपनी जिह्वापर रखकर उसका स्वाद ले लूँ। तभी यथार्थरूपमें यह जाननेका दावा किया जा सकता है कि शर्करा मीठी है। इस प्रकार ज्ञान दो प्रकारका होता है—पहला निश्चयके ऊपर स्थित है; दूसरा वास्तविक अनुभवका परिणाम है। श्रीकृष्णने पहलेको ज्ञान तथा दूसरेको 'विज्ञान' नाम दिया है। जैसा कि सरलता-

पूर्वक देखा जा सकता है, पहला आरम्भिक कोटिका है और दूसरा चरम कोटिका। एकमें दूसरेका भ्रम नहीं होना चाहिये। मान लीजिये, मुझे एक मित्रसे ज्ञात हुआ कि शर्करा मीठी है, किंतु शर्कराको चखनेकी बात तो दूर रही, उसे प्राप्त करनेका भी प्रयत्न न करके मैं चुप बैठ रहता हूँ तो क्या मैं उपर्युक्त दूसरी स्थितिको पा सकता हूँ? मित्रने मुझे जो ज्ञान दिया है, उसका तो आदर मुझे करना ही चाहिये; साथ ही उस परोक्षज्ञानको वास्तविक अनुभवमें परिणत करनेकी भी निरन्तर और अथक चेष्टा करनी चाहिये। यदि आरम्भिक जानकारीको ज्ञानकी संज्ञा दी जाती है तो उसे अनुभव करनेकी निरन्तर चेष्टाको 'ज्ञान-निष्ठा' कहा जायगा और परिणाममें होनेवाले अनुभवको 'विज्ञान' अथवा 'अभिज्ञान' संज्ञा होगी। अब यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञाननिष्ठा प्राथमिक ज्ञानके पीछे आती है और द्वितीय ज्ञानके पहले आती है।

यही ज्ञान-निष्ठा, जो परोक्षज्ञानके बाद और वास्तविक अनुभवके पहले आती है, पराभक्ति कहलाती है, जो मूल सूचीमें चौथी है। इसलिये यह एक प्रकारके ज्ञानका परिणाम और दूसरे प्रकारके ज्ञानका कारण है। इस क्रमको भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायके ५०वें से ५६वें श्लोक तक भलीभाँति व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

> सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
> समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥
>
> (१८।५०)

'हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)! ज्ञानकी परानिष्ठारूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसे तू मुझसे सुन।'

> बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
> शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
> विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
> ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
> अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
> विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
>
> (१८।५१-५३)

'हे अर्जुन! जो विशुद्ध बुद्धिसे युक्त है, जिसने धैर्यपूर्वक मनको निगृहीत कर लिया है, जिसने शब्दादि विषयोंका त्याग कर दिया है, जो राग-द्वेषरहित है, जो एकान्तसेवी, मिताहारी, वाणी, शरीर एवं मनको वशमें [illegible] ध्यानमग्न रहनेवाला [illegible] काम, क्रोध और परिग्रहको छोड़कर [illegible] हो गया है, वही ब्रह्मको प्राप्त [illegible]

> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न [illegible]।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं [illegible]॥
>
> [illegible]

'इस प्रकार जिसने [illegible] अन्तःकरण निर्मल हो गया है [illegible] है, न किसी प्रकारकी [illegible] प्रति समभाव रखता हुआ [illegible]

> भक्त्या मामभिजानाति [illegible]।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते [illegible]॥
>
> [illegible]

'उस परा भक्तिके द्वारा [illegible] है कि मैं वस्तुतः क्या और [illegible] हूँ इस प्रकार मुझे तत्त्वसे [illegible] कर जाता है।'

यही भाव ग्यारहवें अध्यायके [illegible] आता है—

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य [illegible]।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन [illegible]॥

'हे अर्जुन! इस [illegible] जा सकता हूँ तथा [illegible] मुझमें प्रवेश [illegible]'

ऊपर उद्धृत किये हुए [illegible] शब्दका चरम [illegible] उपर्युक्त भक्ति [illegible] है। १३वें अध्यायके [illegible] [illegible] उल्लेख किया है [illegible] गयी है—

> मयि [illegible]

इस प्रकार [illegible] वास्तविक परोक्षज्ञान [illegible]

ठीक-ठीक समझ लेनेपर भक्ति एवं ज्ञानके बीच कोई विरोध नहीं हो सकता।

जो इन दोनोंके बीच विरोध देखते हैं, वे 'भक्ति' और 'ज्ञान' शब्दोंके अर्थका स्पष्ट ज्ञान न होनेके कारण अपने आपको तथा दूसरोंको भी भ्रममें रखते हैं। स्पष्ट धारणा न होनेके कारण ही वे भक्तिसे ज्ञानको अथवा ज्ञानसे भक्तिको श्रेष्ठ बताते हैं। ऊपरके विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आध्यात्मिक विकासकी निम्नलिखित श्रेणियाँ हैं—

१—सकाम भक्ति—व्यक्तिगत स्वार्थके साधनरूपमें भगवान्‌का आश्रय।

२—ज्ञान—शास्त्रों एवं गुरुओंसे प्राप्त ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान।

३—यथार्थ भक्ति या ज्ञाननिष्ठा—इस प्रकार जाने हुए ईश्वरके साक्षात्कारके लिये तीव्र प्रयत्न।

४—विज्ञान—अन्तिम सिद्धि या ब्रह्म-साक्षात्कार।

ध्यान देनेकी बात यह है कि क्रमाङ्क १ और ३ दोनोंको 'भक्ति' और क्रमाङ्क २ और ४ को 'ज्ञान' संज्ञा दी गयी है। जो इस अन्तरको स्पष्टरूपसे अपने सामने नहीं रखता, वह कह सकता है कि भक्ति ज्ञानसे श्रेष्ठ है; वह ठीक कहता है यदि उसका अभिप्राय क्रमाङ्क ३ की भक्ति और क्रमाङ्क २ के ज्ञानसे है। उसका कथन अयथार्थ है यदि उसका आशय क्रमाङ्क ३ की भक्ति और क्रमाङ्क ४ के ज्ञानसे है। दूसरा व्यक्ति कह सकता है कि ज्ञान भक्तिसे श्रेष्ठ है। वह ठीक कहता है यदि उसका आशय क्रमाङ्क २ के ज्ञान और क्रमाङ्क १ की भक्तिसे है। वह ठीक नहीं कहता यदि उसका अभिप्राय क्रमाङ्क २ के ज्ञान और क्रमाङ्क ३ की भक्तिसे है। फिर मैं यह समझनेमें असमर्थ हूँ कि जो बातें समानरूपसे महत्त्वपूर्ण हैं उनको लेकर बड़ाई-छुटाईका प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। यदि दोनोंमेंसे एक भी दूसरेके बिना टिक नहीं सकता और प्रत्येक अनिवार्य है, तब अपेक्षाकृत श्रेष्ठताका कोई प्रश्न उठ नहीं सकता। कौन श्रेष्ठ है—भवनके ऊपरका भाग या उसकी नींव? कौन श्रेष्ठ है, सीढ़ीका तीसरा डंडा या चौथा डंडा? ऐसे प्रश्न वस्तुतः निरर्थक हैं; ये हमारे मनको केवल भ्रमित करते हैं और जो यथार्थ समस्या हमारे सम्मुख है और यदि हम मुक्त होना चाहते हैं तो जिसका हल तुरंत आवश्यक है, उससे हमें दूर, और दूर ले जाते हैं।

फिर इस समय जिस स्थितिमें हम हैं, उसमें क्या हम ऐसे प्रश्नोंपर विचार करनेमें समर्थ हैं, जिनका हमारे आचरणसे कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं है और क्या उनपर विचार करनेसे किंचित् भी लाभ है? यदि हम अपने हृदयोंको टटोलें और जान-बूझकर अंधे न बनें तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि हम भक्तिकी उस प्रथमावस्थासे भी बहुत-बहुत दूर हैं, जिसे हमने 'सकाम' संज्ञा दी है। जब हम बीमार पड़ते हैं, तब हमें प्रथम स्मृति 'डाक्टर'की होती है; यदि हम कोई लाभ चाहते हैं तो हम अपने प्रयत्नोंपर ही भरोसा करते हैं; जब हम कोई बात सीखना, जानना चाहते हैं, तब हमें पता रहता है कि उस विषयपर बहुतेरे ग्रन्थ हैं—यहाँतक कि शिक्षक भी अनावश्यक मान लिया जाता है। यह है हमारी सामान्य मनोवृत्ति। हमारे अपने दैनिक जीवनकी व्यवस्थामें ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं है। हमें इस स्थितिसे ऊपर उठना होगा और ईश्वरपर पूर्ण निर्भरताका प्रथम पाठ सीखना होगा। क्या हम जो साँस लेते हैं, वह अपने संकल्प या अपनी इच्छासे लेते हैं? यदि यह बात होती तो दूसरी बातोंकी ओर ध्यान देते ही या निद्रामग्न होते ही हम मर जाते। क्या पाचन हमारे संकल्पसे होता है? गलेसे नीचे उतर जानेके बाद हम भोजनके विषयमें कुछ भी नहीं जानते। क्या हम अपनी इच्छासे जन्म लेते या अपनी इच्छासे मर सकते हैं? हमें अनुभव करना चाहिये कि हम कुछ नहीं कर सकते और ईश्वरके अभिकर्तृत्वके बिना हमें कुछ भी नहीं हो सकता। इस समय इतना ही अनुभव हमारे लिये पर्याप्त है। यही एक-एक पग आगे बढ़ाते हुए हमें अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचा देगा।

भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है

श्रीसूतजी कहते हैं—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥

(श्रीमद्भा० १। २। ६)

मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो—भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।

भक्ति और ज्ञान

(लेखक—श्री एन्० रघुवीरसिंह शास्त्री)

भक्ति और ज्ञान निःश्रेयस प्राप्तिके दो प्रमुख मार्ग हैं, भवजालसे छूटनेके तथा शाश्वत सुख उपलब्ध करनेके अमोघ साधन हैं। ये परमार्थके साधन ही नहीं वरं स्वयं परमार्थरूप हैं। अतएव इन दोनोंको मोक्ष-लाभका अचूक साधन मानना न्यायसंगत ही है।

किंतु भगवान् श्रीकृष्ण बड़ी चतुराईसे केवल दो ही योगोंका उल्लेख करते हैं—ज्ञानियोंके लिये ज्ञानयोग और कर्मप्रवण स्वभाववालोंके लिये कर्मयोग। वे भक्तिका पृथक् योगके रूपमें उल्लेख नहीं करते—

> लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
> ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥*
>
> (गीता ३ । ३)

क्या इसका यह अर्थ है कि श्रीभगवान्‌के मतसे भक्तिमें कर्म और ज्ञान दोनोंके लक्षण घटते हैं, अतः कर्म और ज्ञान—इन दोनों मार्गोंमें भक्तिका भी समावेश हो जाता है ? यदि भगवान् श्रीकृष्णका वास्तवमें यही भाव हो तो यह परम्परागत विचारधाराके साथ पूर्णतया मेल खाती है। वेद भी केवल दो ही मार्गोंका प्रचार करते हैं—कर्मकाण्डमें वर्णित कर्ममार्ग और ज्ञानकाण्ड अथवा उपनिषदोंमें वर्णित ज्ञानमार्ग। किंतु छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक-जैसे उपनिषदोंमें ज्ञानकाण्डके सर्वोच्च तत्त्वज्ञानके पहले बहुत-सी उपासनाओं या विद्याओं अर्थात् मानसिक पूजाकी विधियोंका उल्लेख है, जिनमें उपासकको उपास्यका इस रूपमें गाढ़ चिन्तन करनेका आदेश दिया गया है कि उपास्यका उपासकके साथ और उपासकका उपास्यके साथ अभेद है। इसीको शास्त्रीय भाषामें 'अहंग्रहोपासना' कहते हैं। उपनिषदुक्त उपासनाएँ भक्तिके ही पूर्वरूप हैं; क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया तथा उपनिषत्-प्रोक्त उपासनाओंमें अत्यन्त विलक्षण साम्य है। इसलिये परानुभूतिमें सहायकमात्र होने तथा ज्ञानप्राप्तिका एक मुख्य अङ्ग होनेके नाते वैदिक परम्परामें भक्तिकी एक पृथक् योग अथवा मार्गके रूपमें गणना नहीं हुई है। दूसरे शब्दोंमें, श्रुतियोंके अनुसार एवं वैदिक परम्पराके सर्वापेक्षा सच्चे और मूलानुसारी व्याख्याता भगवान् श्रीशंकरके मतमें अत्यन्त अहंकारशून्य कर्मयोग [illegible] क्योंकि उस निर्गुण ब्रह्मके [illegible] है—भक्ति।

मानो अपने विचारोंका स्पष्टीकरण करते [illegible] पुनः श्रीमद्भागवतमें [illegible] समझाते हैं कि मानवके परम [illegible] मार्ग हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग [illegible] कोई चौथा उपाय नहीं है—

> योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
> ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥[illegible]
>
> (श्रीमद्भा० ११ । [illegible] । ६)

यहाँ भी भक्तिका ज्ञान और कर्म दोनोंसे [illegible] श्रीभगवान् मानो यह [illegible] है कि [illegible] ज्ञान और कर्मका ही मधुर [illegible] है—[illegible] है यही बात।

किंतु कर्मयोगको तभी [illegible] अथवा साक्षात् [illegible] शास्त्रविहित और मर्यादित [illegible] मूल अहंकारकी शक्तियोंको [illegible] है। अहंकारके इस प्रकार [illegible] हो [illegible] पवित्र—निर्मल हो जाते हैं और इस प्रकार [illegible] योग्य बन जाता है कि उनमें [illegible] परानुरक्तिका भाव [illegible] प्रकारकी अनुभूतिका उदय हो [illegible] मात्र होनेके नाते इनमें [illegible] जा सकता है।

[illegible] से दो ही मार्ग [illegible] यह प्रश्न उठता है—[illegible] कि दोनोंमें [illegible] [illegible] सब क्या देनेवाली [illegible] ?

---

* हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहिले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और कर्मयोगियों-की निष्कामकर्मयोगसे।

* [illegible] कर्मयोग—[illegible] (मोक्षप्राप्ति) [illegible]

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥*
(गीता १२ । १)

पाँच सहस्र वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें जिस प्रश्नको अर्जुनने उठाया था, उसका उत्तर यद्यपि श्रीभगवान्‌ने कृपा करके संशयशून्य और स्पष्ट शब्दोंमें दे दिया है, फिर भी युग-युगमें बार-बार उस प्रश्नको दुहराया गया है। कालके प्रवाहमें कतिपय निरे बाह्य भेदोंको लेकर भक्तिमार्ग और ज्ञान-मार्ग एक दूसरेसे अधिकाधिक दूर हटते गये हैं; जिसके कारण सामान्यतया निस्संकोच यह बात कही जाती है—यद्यपि उनका यह कहना विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता—कि ज्ञान और भक्तिका एक दूसरेके साथ सर्वथा मेल नहीं है, वे एक दूसरेके साथ रह ही नहीं सकते; बल्कि दोनों निश्चय ही परस्परविरोधी हैं। अब प्रश्न यह होता है कि ऐसी धारणाका मूल क्या है।

भक्ति-सम्प्रदायोंके अनुयायियों तथा ज्ञानमार्गके समर्थकों-के बीच इस पारस्परिक अविश्वासकी भावनामें हेतु है समस्याको यथार्थ दृष्टिकोणसे समझनेकी चेष्टाका अभाव। प्रत्येक पक्ष बिना व्यक्तिगत झुकावका विचार किये यही सोचता है कि उसकी साधन-प्रणाली सबके उपयोगी है। यह सर्वविदित कहावत कि 'किसीको बैंगन पथ्य है, किसीको जहर समान' आध्यात्मिक अनुभूतिके राज्यमें भी उतनी ही सत्य है, जितनी दैनिक जीवनके व्यवहारमें। इस बातको सब लोग जानते हैं कि कुछ व्यक्ति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हैं; साथ ही अत्यन्त भाव प्रवण प्रकृतिके तथा रसिक होते हैं। भक्तिमार्ग निस्संदेह ऐसे ही लोगोंके लिये है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, यद्यपि उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है, जो आदर्शवादी होते हैं; जिनकी बुद्धि बड़ी पैनी होती है और जिनका दृष्टिकोण निरा वैज्ञानिक होता है। ऐसे व्यक्तियोंके लिये है—ज्ञानका कठोर पथ। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं इस बातको यह कहकर स्पष्ट कर दिया है कि उनके प्रति जिनकी अविचल और सच्ची भक्ति है, वे उन्हें अधिक सुगमतासे प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत जो लोग अपनी विद्रोही इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करके पूर्ण समता एवं समस्त भूतप्राणियोंके प्रति सहानुभूतिके द्वारा कूटस्थ एवं अनिर्वचनीय ब्रह्मके चिन्तनमें डूबे रहते हैं, वे भी उन्हींको प्राप्त करते हैं, यद्यपि उनका मार्ग श्रमपूर्ण तथा असंख्य विघ्न-बाधाओंसे संकुल होता है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥*
(गीता १२ । २—५)

इसलिये भिन्न-भिन्न अधिकारियों, भिन्न-भिन्न प्रकृतिके लोगोंके लिये उपयुक्त होनेपर भी भक्तिमार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनोंका ही लक्ष्य ठीक एक ही है। संक्षेपतः, उपायरूपमें साधन-प्रणालीकी दृष्टिसे भक्ति और ज्ञान परस्पर सर्वथा विरोधी होनेपर भी उपेयरूपसे दोनों एक ही हैं। यद्यपि यह बात कट्टर भक्तिवादियोंके गले कठिनाईसे उतरेगी, फिर भी हम परा भक्ति और सर्वोच्च ज्ञानकी एकताको प्रमाणित करने-की चेष्टा करेंगे।

किंतु दोनोंकी एकताकी प्रामाणिकताको ठीक-ठीक

---

* जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजनध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको अति श्रेष्ठ भावसे भजते हैं और जो अविनाशी, सच्चिदानन्दघन निराकारको ही उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकारके भक्तोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?

* मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन, अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझे योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् मैं उनको अतिश्रेष्ठ योगी मानता हूँ। और जो लोग इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें लगे हुए और सबमें समान भाव रखनेवाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं। किंतु उन सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें आसक्त-चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियोंद्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, अर्थात् जबतक शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक शुद्ध, सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें स्थिति होना कठिन है।

भिन्न किया जाती है हमारी भिन्नतापर।* अविद्यामूलक यह अनादि भेददृष्टि, यह द्वैत-भावना ही समस्त मानव-दुःखोंका मूल कारण है। ब्रह्मसे भिन्न होनेकी इस मिथ्या भावना—इस मायाको ही जीवनकी इस दुःखमय स्थितिका हेतु बतलाया गया है। कठोपनिषद् इस सत्यको यह कहकर हृदयङ्गम कराता है कि जो भी द्वैत-दृष्टि रखता है, उसे अनन्तकालके लिये जन्म-मृत्युके अनन्त प्रवाहमें बहना पड़ेगा—

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।*

(कठ० २। १। ११)

अन्यत्वकी, द्वैतकी भावना ही भयका मूल कारण है—द्वितीयाद्वै भयं भवति।

परंतु थोड़ी देरके लिये ब्रह्मकी चर्चाको स्थगित करके हम यह प्रश्न उठाते हैं कि ऐसी दशामें यह नाना-रूपोंवाला विश्व, जिसका हम अनुभव करते हैं—जिसे हम देखते हैं, सुनते हैं, जिसका स्पर्श करते हैं, जिसका स्वाद लेते हैं, जिसे सूँघते हैं तथा अन्य प्रकारसे जिसको हम जानते हैं, क्या सत्य नहीं है। यदि वह सत्य है तो फिर द्वैत-दर्शन भ्रान्त कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें उपनिषद् कहता है कि यह सब कुछ, विश्व और उसके असंख्य पदार्थ—ब्रह्म है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म।† (छान्दो० ३। १४। १) वह एक पग और आगे बढ़कर कहता है कि हमारे भीतर रहनेवाला आत्मा विश्वसे अभिन्न है—इदं सर्वं यदयमात्मा। इस प्रकार सभी जीव (जैसा कि हम अपनेको समझते हैं) ब्रह्म हैं। जगत् ब्रह्मरूप है। इस प्रकार ब्रह्म, जीव और जगत् एक, केवल एक ही हैं, तथा इस अद्वय ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

किंतु यह कैसे हो सकता है? हम अपने जीवनमें प्रत्येक मोड़पर भेद, द्वैतका दर्शन करते हैं। उपनिषद् वर्तमान उन तथ्योंकी जो हमारे सामने हैं, अवहेलना करके, जिससे भिन्न कोई और सत्ता नहीं बतायी जाती—ऐसे निर्गुण ब्रह्मकी स्थापना करनेका साहस कैसे कर सके? सहस्रों श्रुतिवाक्य भी, चाहे वे कितने ही प्रमाणभूत क्यों न हों, घटको पटमें नहीं बदल सकते—नहि श्रुतिशतेनापि घटं पटयितुमीशते। उपनिषदोंके निष्कर्ष कल्पनाप्रसूत हो सकते हैं, बुद्धिको चमत्कृत कर देनेवाले हो सकते हैं, किंतु वे सत्य तो हो नहीं सकते। उपनिषदोंके सम्बन्धमें नम्र-से-नम्र शब्दोंमें हम इतना ही कह सकते हैं।

किंतु ऐसा है नहीं। उपनिषदोंकी विशेषता यही है कि वे हमारे लिये उस विषयपर प्रकाश डालते हैं, जिसे हम जानते ही नहीं और वे हमें अबाधित परम सत्यका ज्ञान कराते हैं—अनधिगताबाधितार्थबोधजनकत्वं वेदानाम्। अथवा अज्ञातज्ञापनपरत्वमुपनिषदाम्। उपनिषद् यदि हमारी द्वैत-भावनाका ही समर्थन करते, तब तो उनकी चरितार्थता हमारी बातकी पुष्टि (अनुवादपरत्व)में ही होती; किंतु उपनिषदोंका उद्देश्य तो है उस परम सत्यका बोध कराना, जिसको यदि जाना जा सकता है तो केवल सर्वोच्च अन्तर्यामीसे, जो महावाक्योंद्वारा ही प्रबुद्ध होता है।

थोड़ी देरके लिये यह मान लें कि उपनिषद् परम सत्यको प्रकाशित करते हैं, परंतु उसकी सत्यताका क्या प्रमाण है? भोजनकी परीक्षा तो उसे चखकर ही की जा सकती है। तो उपनिषत्-प्रतिपादित सत्यका साक्षात्कार भी किसीने किया है? हाँ, इस बातके पर्याप्त प्रमाण हैं कि शुक, वामदेव, त्रिशङ्कु (एक औपनिषदिक ऋषि) और याज्ञवल्क्यने उस परिच्छिन्न आनन्दमय ब्रह्मका अपने अंदर साक्षात्कार किया था। अतएव उपनिषदोंकी शिक्षा कोरी कल्पना नहीं हो सकती। वह निश्चित सत्य होनी चाहिये।

किंतु शुक, वामदेव आदिकी आध्यात्मिक अनुभूति चाहे कुछ भी रही हो, हम अपने दैनिक जीवनमें अपने आपको तथा अपने चारों ओर स्थित संसारको सत्य पाते हैं और ब्रह्म कभी एक बार भी जाननेमें नहीं आया, अपने साथ उसके अभेदकी तो बात ही क्या हो सकती है। क्या हम तथा हमारे इर्दगिर्दका संसार असत् है? कदापि नहीं। हम और यह जगत् बौद्धोंकी परिभाषाके अनुसार अर्थात् शून्यके अर्थमें सत्तारहित नहीं हैं। जिस अर्थमें शश-विषाण सत्तारहित है, उस अर्थमें भी हम सत्तारहित नहीं हैं। तब हम और विश्व यदि सत्तारहित नहीं हैं तो हमें सत्तावान् होना चाहिये अर्थात् हम और संसार सत् होने चाहिये। हाँ, हम और विश्व सत् और असत् दोनों हैं, अथवा हम सत् और असत्‌से भी परे कोई वस्तु हैं। जगत्‌की वास्तविकताकी यथार्थ मायाका निरूपण नहीं किया जा सकता। वह अनिर्वचनीय है। अधिक बोधगम्य भाषामें कहें तो यह संसार नामरूपात्मक प्रपञ्चके रूपमें असत् है, किंतु ब्रह्मके रूपमें यह सदा ही सत्

* जो पुरुष यहाँ—इस जगत्‌में नानात्व-सा देखता है, वह एक मृत्युसे दूसरी मृत्युको जाता है।

† यह सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है।

है। इसी प्रकार हमलोग भी असंख्य जीवोंके रूपमें असत् हैं, किंतु एक ब्रह्मके रूपमें सदा सत् हैं। इस जगत्की यथार्थताकी मात्राका ठीक-ठीक निरूपण करना कठिन है। यह ऐकान्तिक तथा शाश्वतरूपसे सत् नहीं है; क्योंकि ऐसे क्षण भी आते हैं जब कि बाह्य जगत् अपनी सत्ताको खो बैठता है—जैसे हमारी स्वप्नावस्था अथवा प्रगाढ निद्राकी अवस्थामें। संक्षेपमें, यदि यह ऐकान्तिकरूपसे सत् हो तो कभी इसका भान लुप्त नहीं होना चाहिये और यदि यह ऐकान्तिकरूपसे असत् हो तो कभी इसका भान होना ही नहीं चाहिये—सच्चेत् न बाध्येत, असच्चेत् न प्रतीयेत। अतएव बाह्य संसार सत् और असत् दोनों है। सारांश, यह मिथ्या है।

सत्ताकी तीन अवस्थाएँ हैं। संसारमें रचे पचे अज्ञानीके लिये जगत् और असंख्य जीव सर्वथा सत् हैं, अर्थात् इन सबकी 'व्यावहारिक सत्ता' है। पर जिनके भीतर ब्रह्मज्ञानका आलोक उतर चुका है, उनके लिये जगत्की सत्ता केवल ऊपरी छायामात्र है, जैसे मरुभूमिमें मरीचिकाकी। इसीको 'प्रातिभासिक सत्ता' कहते हैं। किंतु जिन्होंने अपनेको ब्रह्ममें लीन कर दिया है अर्थात् जो मुक्त हो गये हैं, उनके लिये केवलमात्र ब्रह्म ही निरपेक्ष सत् है, अन्य कुछ है ही नहीं। यही 'पारमार्थिक सत्ता' है। इस पारमार्थिक सत्ताकी अनुभूतिमें सारे व्यवहार शान्त हो जाते हैं, जैसे जागनेपर स्वप्नजगत् लुप्त हो जाता है। सत्ताकी इन तीनों अवस्थाओंका तात्पर्य समझ लेना परम आवश्यक है, अन्यथा उपनिषदोंका ज्ञानमार्ग हमारे लिये नितरां अगम्य ही रहेगा।

अतएव यह निष्कर्ष निकला कि अद्वैत अथवा पारमार्थिक दृष्टिसे केवल ब्रह्म ही सत् है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

किंतु व्यवहारक्षेत्र अथवा व्यावहारिक दशामें जगत् सत् है, नाना जीव भी सत् हैं और ईश्वर अर्थात् मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत्के जीव-समूहकी नियतिका नियन्ता है। जगत्पतिके रूपमें ईश्वर अर्थात् सगुण ब्रह्म सर्वज्ञ एवं तेजोमय भास्कर है। उनका प्रत्येक सङ्कल्प परम सत्य है। वे समस्त गुणोंके आगार हैं। छान्दोग्यके शब्दोंमें वे हैं—

प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः……सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः। (३।१४।२)

सांसारिक बन्धनमें पड़े हुए मनुष्यको अविचल एवं अनुरागपूर्ण भक्तिसे युक्त होकर इन्हीं परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये तथा अपने सम्पूर्ण [illegible] अपनेको [illegible] प्रभुके अर्पण कर देना चाहिये। [illegible] आयगा, तभी [illegible] होगी और वह गुरुसे ज्ञान [illegible] उपास्य ईश्वरके साथ अपने [illegible] जाता है [illegible] होती चली जाती है [illegible] भक्तिमें ही [illegible] है [illegible] स्थिति नहीं है, क्योंकि उपनिषद् [illegible] लिये आत्मपूर्ण [illegible] जो अपने इष्टदेवसे [illegible] अपने इष्टदेवके लिये [illegible]—

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्।

([illegible] १।४।१०)

वास्तवमें जो उपासक [illegible] ईश्वरसे अभेद स्थापित कर लेता है, वह [illegible] ([illegible]) ही बन जाता है—[illegible] ([illegible])। [illegible] अभेदोपासकको सगुण ईश्वर [illegible] ब्रह्मका साक्षात्कार प्रदान [illegible] प्रपञ्च विलीन हो जाता है और [illegible] भावको नाशके लिये [illegible] है जैसे सागरमें नदी।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

([illegible] ३।२।८)

इस प्रकार [illegible] है, दोनों [illegible] रहता है, [illegible] सगुण [illegible] बिना ईश्वरकी [illegible]—

---

* [illegible]

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।

इस प्रकार ब्रह्मरूप पर्वत शिखरकी कठिन चढ़ाई चढ़नेवाला उपनिषदोंका ज्ञानमार्ग कर्म और भक्तिको अपनी सोपानशिलाएँ बनाता हुआ चलता है। निष्काम कर्म अहंकारको क्षीण करके हृदय और बुद्धिको निर्मल कर देता है। तब स्थिरताको प्राप्त हृदयमें भक्तिका उदय होता है। और उपासककी भक्तिसे आकृष्ट होकर जब भगवान्‌की कृपा उसपर उतरती है, तब भक्त ब्रह्मज्ञानमें डूब जाता है; मानो इस ज्ञानके आनन्दकी लहरोंमें वह खो जाता है। भक्तपर भगवत्कृपाका अवतरण और ब्रह्मज्ञानका उदय साथ-ही-साथ होते हैं, अथवा ब्रह्मज्ञानकी पूर्णताका नाम ही है भगवत्कृपा।

अब हम भक्तिकी ओर मुड़ें। इस शब्दकी व्युत्पत्ति 'भज्' धातुसे है, जिसका अर्थ होता है सेवा—भज सेवायाम्। सामान्यतः इसका अर्थ होता है 'अनुरागपूर्ण आसक्ति और स्वेच्छासे की जानेवाली सेवा। किंतु यह एक विशेष अर्थका वाचक हो गया है। वह है ईश्वरके प्रति ऐसी अनुरक्ति, जो अन्य सब भावोंको ग्रस्त कर ले। भक्तिके वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदाय क्रमशः विष्णु, शिव और शक्तिकी भक्तिके महत्त्वका प्रतिपादन करते हुए उस-उस भक्तिको ही अनिवार्यरूपसे मुक्तिके लिये आवश्यक बताते हैं। जहाँ ज्ञानमार्गने उपनिषदोंकी चौड़ी नींवपर अपना भव्य प्रासाद खड़ा किया है, भक्तिके सम्प्रदाय आगमों और तन्त्रोंके आधारपर खड़े हैं। भक्तिके वैष्णव-सम्प्रदायोंकी विशिष्ट साधना-पद्धतिका मूल महाभारत, शान्तिपर्वके नारायणीयखण्ड, पाञ्चरात्र-संहिताओं, श्रीमद्भगवद्गीता, भागवत-महापुराण तथा नारद एवं शाण्डिल्यके भक्ति-सूत्रोंमें निहित है। किंतु बहुधा वे उपनिषद्-वाक्योंका भी प्रमाणरूपमें सहारा लेते हैं, जहाँ वे वाक्य उनके सिद्धान्त-पक्षकी पुष्टि करते हुए दिखायी पड़ते हैं। भक्तिके शैव-सम्प्रदाय अपनी मान्यताका आधार अट्ठाईस शैव-आगमों तथा लिङ्ग और स्कन्द आदि शैवपुराणोंको मानते हैं। इसी प्रकार शाक्त-सम्प्रदाय भक्तिका क्षेत्र और स्वरूप-निर्धार करनेमें शाक्त-तन्त्रों तथा ब्रह्माण्ड एवं देवीभागवत आदि शाक्त-पुराणोंका आश्रय लेते हैं। किंतु भक्तिके सारे सम्प्रदायोंमें केवल वैष्णव-सम्प्रदाय ही ऐसे हैं, जिन्होंने बड़े उत्साहसे भक्तिकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या की है, उसे अत्यन्त उच्चकोटिकी रसमयता प्रदान की है तथा भगवान्‌के प्रति भक्तके भावोंकी गहरी छान-बीन की है।

सभी भक्ति-सम्प्रदायोंकी सामान्य विशेषता यह है कि वे केवल एक निर्गुण ब्रह्मको पारमार्थिक सत्ताके रूपमें स्वीकार नहीं करते। (कुछ भक्ति-सम्प्रदाय, जिन्हें विवश होकर निर्गुण ब्रह्मको स्वीकार करना पड़ता है, बड़े संकोचके साथ ऐसा करते हैं।) प्रत्युत ज्ञानमार्गमें जिसे व्यावहारिक सत्ताके रूपमें स्वीकार किया गया है, भक्ति-सम्प्रदायोंके मतसे वही 'पारमार्थिक सत्ता' है। दूसरे शब्दोंमें सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी सगुण ईश्वर ही उनके यहाँ परम सत्य है। असंख्य जीव भी नित्य सत् हैं। इसी प्रकार यह प्रपञ्च भी इस अर्थमें परम सत्य है कि यह भगवान्‌की दिव्य विभूतिका श्रेष्ठ निदर्शन तथा श्रीमद्भागवत-पुराणके अनुसार ईश्वरका स्थूल शरीर है। अधिकांश भक्ति-सम्प्रदायोंके अनुसार ईश्वर, जीव और प्रपञ्च—तीनोंकी एक समष्टि है, जिसके साथ प्रत्येकका वही सम्बन्ध होता है जो अंशका अंशीसे, गुणका गुणीसे तथा देहका देहीसे होता है। इस प्रकार जीव ईश्वरसे भिन्न होनेपर भी इस अर्थमें अभिन्न है, जिस अर्थमें अंशीमें अंश विद्यमान रहते हैं और वह उनसे अभिन्न होता है। भक्ति-सम्प्रदायोंकी धारणाके अनुसार मुक्तिमें भी जीव ब्रह्ममें उस प्रकार अभिन्नरूपसे विलीन नहीं हो जाता, जैसा ज्ञानमार्गके अनुयायी कहते हैं, वरं सायुज्यलाभमें भी अपने व्यष्टिभावको खोये बिना ही ईश्वरके साथ निकटतम सम्पर्क प्राप्त करता है। किंतु अधिकतर तो मुक्तिका अर्थ एक नित्य अप्राकृत लोकमें ईश्वरके साथ सालोक्य तथा उनकी अनुरागपूर्ण सेवा अथवा नित्य-लीला-रसमें योगदान ही लिया जाता है। जीवके ईश्वरके साथ संयोगके विषयमें भक्ति-सम्प्रदायोंकी सामान्य भावनाका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन श्रीजीव-गोस्वामीद्वारा रचित षट्सन्दर्भनामक ग्रन्थके 'प्रीतिसन्दर्भ'नामक प्रकरणके एक अंशमें मिलता है। यह अंश विष्णुपुराणके निम्नाङ्कित श्लोकमें आये हुए 'योग' शब्दके तात्पर्यसे सम्बन्धित है—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥*

(वि० पु० ६।७।३१)

यदि योगका अर्थ भगवान्‌में तल्लीन होकर अभेदरूपसे मिल जाना माना जाय तो जीवगोस्वामी ऐसे योगकी सम्भावनाको स्वीकार नहीं करते। विद्वद्वर गोस्वामिपाद इसका हेतु बताते हुए कहते हैं कि ऐसे योगका अर्थ यह होगा

* आत्मज्ञानके प्रयत्नभूत यम-नियम आदिकी अपेक्षा रखनेवाली जो मनकी विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्मके साथ संयोग होना ही 'योग' कहलाता है।

कि या तो जीवकी परमात्माके रूपमें परिणति हो जाय अथवा दोनों मिलकर एक सर्वथा पृथक् सत्तामें परिणत हो जायँ। पहले विकल्पको तो तुरंत ही मनसे निकाल देना चाहिये; क्योंकि ईश्वरसे तत्त्वतः भिन्न होनेके कारण जीव कभी तद्रूप नहीं हो सकता, जैसे लोहेके गोलेको चाहे जितनी ही तेज आगमें तपाया जाय और आगकी भाँति वह चाहे कितना भी दहकने लगे, वह आग कभी नहीं बन सकता, लोहाका-लोहा ही रहेगा। दूसरे विकल्पको भी त्याग देना पड़ेगा; क्योंकि उसका अर्थ होगा परमात्मामें परिणाम या विकारको स्वीकार करना, जो उनके स्वरूपके सर्वथा विरुद्ध होगा। अतः जीव कभी ईश्वरमें विलीन नहीं हो सकता। इस प्रकार भक्ति-सम्प्रदायोंकी मुक्तिके विषयमें सामान्य भावना यही है। मुक्तिका अर्थ है—आनन्द और आनन्दके लिये आस्वादक, आस्वाद्य और आस्वादन—तीनों आवश्यक हैं। अपने इस मतके अनुरूप ही भक्तिके सभी सम्प्रदाय जीवका ब्रह्ममें विलीन होना नहीं मानते हैं।

ज्ञान और भक्ति-मार्गोंकी बहुसंख्यक अन्य विषमताओंका* विवेचन न करके इस समय हम केवल इसी प्रश्नपर विचार करेंगे कि भक्ति-सम्प्रदायोंमें ज्ञानका क्या स्थान है। यद्यपि भक्तिके बहुत-से सम्प्रदाय भक्तिके सहायकरूपमें बेचारे ज्ञानकी आवश्यकताको स्वीकार करते हैं, फिर भी कुछ भक्ति-सम्प्रदाय ऐसे हैं जो ज्ञानका भक्तिके क्षेत्रसे सर्वथा बहिष्कार कर देते हैं। उदाहरणार्थ श्रीरूपगोस्वामी कर्म और ज्ञान दोनोंसे कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहते—ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।† इस मतका समर्थन करनेमें ऐसा लगता है श्रीरूप भक्तिसूत्रोंमें उल्लिखित श्रीनारदके विचारोंसे प्रभावित हुए हैं—

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके। अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये। स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमारः।

(भक्तिसूत्र २८–३०)

नारदजी कहते हैं कि 'किन्हीं आचार्योंके मतसे भक्तिका साधन ज्ञान ही है। कुछ दूसरे आचार्योंका मत है कि भक्ति और ज्ञान एक दूसरेके आश्रित हैं। किंतु ब्रह्मकुमार (नारद)

के मतसे भक्ति [illegible] भी। साधनरूपमें ही [illegible] आपत्ति है, इसमें [illegible] विकल्प नहीं होता [illegible] उसका उचित स्थान ऐसा [illegible] यह नहीं मान लेते कि [illegible] का महत्त्व घटानेमें [illegible] है। जो कुछ भी हो, भक्ति-सम्प्रदायोंमें [illegible] विरोधको घटानेमें [illegible] है। इस धारणाकी पुष्टिमें [illegible] के रूपमें कही जाती है कि [illegible] सूचक नहीं था [illegible] कर लिया।

इसी प्रश्न पर विचार [illegible] भी सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है या नहीं। [illegible] नहीं जा सकती है [illegible] श्रीकृष्णकी भागवत [illegible] पूर्णतया परिचित थीं [illegible]

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
[illegible] ।
[illegible] [illegible]
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] कर सकते हैं, [illegible] प्रेमसे मतवाली हो [illegible] उनके साथ [illegible] भी आज्ञा दी थी। [illegible]

* क्योंकि अनेक अन्य विद्वानोंने भी भक्तिपर लिखा होगा, इसलिये लेखक भक्तिका उतना ही दूरतक विवेचन करना चाहता है, जहाँतक उसका केवल ज्ञानसे सम्बन्ध है।

† ज्ञान-कर्म आदिसे आवरणसे रहित।

* [illegible]

† [illegible]

नहीं होंगे। और यदि भक्तिके लिये ज्ञान निष्प्रयोजन तथा सर्वथा बहिष्कार्य होता तो सूर्यग्रहणके अवसरपर प्रभासक्षेत्रमें गोपीजनोंके साथ पुनर्मिलनके समय भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें अपने सर्वव्यापी स्वरूपका ज्ञान क्यों कराते।

> एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः।
> उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे॥*
>
> (श्रीमद्भा० १०। ८२। ४७)

किंतु भक्तिके क्षेत्रमें ज्ञानकी महत्ता स्वीकार करनेमें शाण्डिल्य अधिक गम्भीर प्रतीत होते हैं। भक्तिमें प्रेमास्पद ईश्वरका अविचल ध्यान आवश्यक होनेके कारण उसमें योग तो स्वभावतः रहता ही है। ध्यानकी प्रक्रियामें ध्येय ईश्वरका ज्ञान भी आवश्यक है। अतएव सगुण ब्रह्मज्ञान अथवा ईश्वरज्ञानके अर्थमें ब्रह्मज्ञान आवश्यक है, जबतक कि भक्ति परिपक्व न हो जाय।

> ब्रह्मकाण्डं तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात्।†
>
> (शाण्डिल्यसूत्र २६)

जैसा इन सूत्रोंके व्याख्याता स्वप्नेश्वर निर्देश करते हैं, भक्तिका निकटतम साधन ज्ञान है—तत्रान्तरङ्गसाधनं ज्ञानम्। जबतक अनाजके दाने भूसीसे एकदम पृथक् न हो जायँ, तबतक धानको जैसे कूटते ही रहना चाहिये, उसी प्रकार परोक्ष ब्रह्मज्ञानका व्यापार तबतक चालू रहना चाहिये जबतक कि भक्ति पल्लवित और पुष्पित होकर परिपक्व न हो जाय—

> बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत्।‡
>
> (शाण्डिल्यसूत्र २७)

ज्ञानको भक्तिका उपकारक माननेवाले शाण्डिल्य एवं उनके टीकाकार स्वप्नेश्वर—इन दोनोंकी ही भाँति शाण्डिल्यके एक दूसरे व्याख्याकार नारायणतीर्थ भी ज्ञानको भक्तिका अन्तरङ्ग साधन मानते हैं—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः…… इत्यादि वेदान्तवाक्यैः भक्त्यर्थमेव श्रवणादिकं विधीयते न ज्ञानप्राधान्येन।

(भक्तिचन्द्रिका पृ० ९४, काशी-संस्कृतग्रन्थमाला)

नारायणतीर्थ एक पग और आगे बढ़ जाते हैं तथा ज्ञान और भक्ति दोनोंको समान स्थान देते हैं—

ज्ञानभक्त्योरङ्गाङ्गिनोः एकार्थत्वाद् एकप्रयोजनकत्वादिति यावत्। (भक्तिचन्द्रिका)

—क्योंकि ज्ञान और भक्तिका पर्यवसान एकमें ही होता है।

अब हमलोग भागवत-महापुराण तथा गीताके प्रकाशमें देखें कि भक्तिमार्गमें ज्ञानका क्या स्थान है। स्वयं भक्तिके दो स्तर स्वीकार किये गये हैं—अपरा अथवा गौणीभक्ति तथा पराभक्ति। आरम्भिक अवस्थाओंमें सारे शारीरिक एवं मानसिक व्यापारों, रागों तथा आसक्तियोंको जगत्की वस्तुओंसे हटाकर भगवान्की ओर मोड़ना पड़ता है। यह है विशुद्धीकरण—व्यष्टि मानवके स्थूल-वासना-जालका भगवत्प्रेमके सारोद्धार-यन्त्रमें शोधन। भक्तराज प्रह्लादके शब्दोंमें—

> या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
> त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥*
>
> (वि० पु० १। २०। १९)

स्वयं प्रह्लादके द्वारा ही वर्णित नवधा भक्ति अर्थात् भगवान्के नाम एवं गुणोंका श्रवण, उन्हींका कीर्तन, उन्हींका स्मरण तथा स्वयं भगवान्का पादसेवन, पुष्प-गन्धादिद्वारा अर्चन, सादर वन्दन, उनकी प्रेमसहित सेवा, उन्हें सखा समझकर उनके साथ प्रेमका बर्ताव तथा अन्तमें सम्पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण†—भक्तिके ये सभी भेद, जिनमें शरीर, मन एवं भावका भी संयम अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये संकल्पात्मक प्रयत्न अपेक्षित है—न्यायतः साधन-भक्ति या अपरा भक्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं। यह अपरा भक्ति

---

* इसी प्रकार प्राणियोंके शरीरमें ये पाँचों भूत कारणरूपसे व्याप्त हैं तथा आत्मा भोक्तारूपसे व्याप्त है। ये दोनों ही मुझ अक्षरस्वरूप परमात्मामें प्रतीत हो रहे हैं—यह समझो।

† श्रुतिमें जो ब्रह्मकाण्ड (ब्रह्मतत्त्वके निरूपणका प्रकरण) है, वह भक्तिके लिये ही है; क्योंकि जैसे ब्रह्मकाण्ड अज्ञात अर्थका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार जो शेष दो काण्ड हैं, वे भी अज्ञात अर्थका ज्ञान कराते हैं। इस दृष्टिसे सभी काण्ड समान हैं।

‡ बुद्धि (ब्रह्मज्ञान) के हेतुभूत श्रवण, मनन आदि साधनोंमें तबतक लगे रहना चाहिये, जबतक अन्तःकरण शुद्ध न हो जाय; जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' (धान कूटता है) इस शास्त्रवाक्यके अनुसार धानपर तबतक मूसलका आघात करना आवश्यक होता है, जबतक कि सारी भूसी अलग न हो जाय।

* अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी अविचल प्रीति होती है, वैसी ही आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।

> † श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

अन्ततोगत्वा पराभक्तिमें परिणत हो जाती है, जिसका विशेष लक्षण है भगवत्प्रेम-जनित उन्माद, इसका प्रचुर प्रमाण राजा निमिको प्रबुद्धद्वारा दिये गये उपदेशमें मिलता है—

भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ।*

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३१)

भक्त्या साधनभक्त्या संजातया प्रेमलक्षणया भक्त्या ।

(श्रीधरस्वामीकी टीका)

पराभक्तिकी इस उन्मादपूर्ण स्थितिका हृदयग्राही वर्णन स्वयं प्रबुद्धने किया है—

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३२)

दिव्योन्मादकी इस उत्कृष्ट अवस्थामें तीव्र वेदनाके आँसुओंके आगे-पीछे उल्लासकी निगूढ स्मितरेखा खिंची रहती है तथा इसके साथ-साथ बारी-बारीसे बेसिर-पैरका बड़बड़ाना भी चालू रहता है । भक्त आनन्दमें मग्न होकर नाचने लगता है, तार स्वरसे भगवान्के गुणगान करने लगता है और तुरत ही सर्वथा चुप हो रहता है; उस समय वह उनके चिन्तनमें इस तरह लीन हो जाता है मानो उनके साथ घुल-मिलकर एक हो गया हो । सारांश यह वह अवस्था है, जिसमें भक्तकी भावना-तन्त्री परमात्माके स्वरसे पूर्णतया सधकर स्वरमें बजने लगती है । परिणामतः भक्तके भावनात्मक जीवनमें एक तीव्र वेदनाशीलता, विचित्र उल्लास आ जाती है तथा ईश्वरकी सतत एवं अनन्त सब कुछ भुला देनेवाली अनुभूति होने लगती है । इस अवस्थाका श्रीमधुसूदन सरस्वती अपने 'भक्तिरसायन'में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

(१ । ३)

'भगवद्धर्मों (भजन-कीर्तन आदि भगवत्प्राप्तिके साधनों) के अभ्याससे द्रवित हुए चित्तकी वृत्तियोंका निरन्तर—तैलधारावत् सर्वेश्वर भगवान्की ओर प्रवाहित होना ही भक्ति है ।'

अब यह भगवान्की सतत अनुभूति निर्गुण ब्रह्ममें लीन हो जाने, ... [illegible] ... और क्या है? ... [illegible] ... प्रकारके साथ ... [illegible] ... तथा ... [illegible] ... अवस्था है ... [illegible] ... इस अवस्थामें ... [illegible] ... आत्मामें ... ईश्वरानुभूति ... है ।

[illegible]

[illegible] निर्गुण ... [illegible] ... सकता ।

[illegible]

* (वैधी) भक्तिसे (प्रेमा) भक्तिका उदय होनेपर शरीर पुलकित हो जाता है ।

[illegible]

धर्मोंके आक्रन्दनमें सहायता देनेवाली मानसिक वृत्ति है। और जब पूरा ज्ञान हो जाता है, तब ज्ञानात्मिका वृत्तिसे गुण स्वयं विलीन हो जाते हैं, केवल धर्मोंकी छाप रह जाती है। अतएव ईश्वरीय गुणोंका ध्यान करते समय ध्याताका मन मानो फूलके चारों ओर गुंजार करनेवाले भ्रमरकी भाँति ईश्वरके स्वरूपके चतुर्दिक् मँडराता रहता है। किंतु ठीक जिस प्रकार भौंरा मधुका पता लगा लेनेपर चुपचाप बैठकर उसे पीने लगता है, उसी प्रकार भक्तकी बुद्धि भी ईश्वरके निर्गुण स्वरूपका साक्षात्कार कर चुकनेपर गुणोंका विचार छोड़ देती है। इसलिये आपाततः असंगत प्रतीत होनेपर भी तथ्य यही है कि ईश्वरके गुणोंसे ही उनके निर्गुणत्वका अनुभव होता है। परा भक्तिमें भगवान्, भक्ति और भक्तका भेद मिट जाता है। बस, एक आध्यात्मिक संवेदनाकी स्थिति बच रहती है। यह निर्गुण ब्रह्म-साक्षात्कारके अतिरिक्त और क्या हो सकती है?

सगुण ईश्वरकी भक्तिका पर्यवसान कैसे निर्विशेष ब्रह्म-साक्षात्कारमें होता है, इसका विवेचन करते हुए श्रीमधुसूदन सरस्वती इस प्रश्नको इस प्रकार समाप्त करते हैं—

सगुणोपासकस्तु''' ' स्वहृदयगुहाधिष्ठं पुरुषं पूर्णं मत्यमभिन्नमद्वितीयं परमात्मानमीक्षते स्वयमाविर्भूतेन वेदान्त-प्रमाणेन साक्षात्करोति तावता च मुक्तो भवतीति।

(गीता (१२।६) की गूढार्थदीपिका टीका।)

सगुणोपासनाके द्वारा उपासक अपनी हृदयगुहामें स्थित, अपनेसे भिन्न पूर्णपुरुषोत्तम अद्वितीय परमात्माका स्वयमेव स्फुरित हुए वेदान्त-प्रमाणके अनुसार साक्षात्कार करता है और तत्काल मुक्त हो जाता है।'

और यह नहीं भूलना चाहिये कि कट्टर अद्वैती होते हुए भी श्रीमधुसूदन सरस्वती वेदान्तीकी अपेक्षा श्रीकृष्णभक्त अधिक थे। इसलिये उनके मतको बाध्य होकर मानना पड़ेगा।

फिर भी कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं, जो मधुसूदनकी इस उक्तिको उनकी ऐसी व्यक्तिगत धारणा मान सकते हैं, जो शास्त्रानुमोदित नहीं है। पर भागवत-महापुराणका एक ही उद्धरण इस समस्याको सुलझा देगा। उसका निम्नाङ्कित श्लोक प्रसिद्ध है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

अर्थात्—जो आत्माराम और जीवन्मुक्त हैं, वे भी श्रीहरिकी अहैतुकी भक्ति किया करते हैं; क्योंकि श्रीहरिके गुण ही ऐसे मनोमुग्धकारी और मधुर हैं। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि कोई भक्त अन्य भक्तोंके सङ्गसे भगवान्की अविचल भक्ति प्राप्त करता है, जिसके द्वारा वह ईश्वरके सगुणरूपका साक्षात्कार करता है और तब उनकी कृपासे निर्विशेष ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होता है। किंतु इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठामें परिनिष्ठित हो जानेपर भी वह विवश-सा होकर ज्ञानके निर्विशेष धरातलसे दिव्य लीलाके धरातलपर उतर आता है, जहाँ भगवद्भक्तिके मनोमोहक माधुर्यका आस्वादन करनेके लिये। इसलिये ब्रह्मज्ञानी ही परा भक्तिका सर्वश्रेष्ठ अधिकारी है। और इसीलिये स्वयं भगवान् ज्ञानीको अपना सबसे अधिक प्रीतिपात्र मानते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥*

(गीता ७।१७)

इसी प्रकार भगवान् फिर कूर्मपुराणमें भी कहते हैं—

सर्वेषामेव भक्तानामिष्टः प्रियतमो मम।
यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा॥†

(कू० पु० ब्राह्मी-संहिता ४।२४)

इस प्रकार 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है) यह कहकर स्वयं भगवान् 'भक्तिमें ज्ञानका क्या स्थान है' इसके विषयमें सारी भ्रान्तियोंको निर्मूल कर देते हैं।

इसलिये यह स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञानी ही सर्वश्रेष्ठ भक्त है और वही ऐसा भक्त हो सकता है। सम्भवतः यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंको उनके समुदायमें सर्वोच्च स्तरपर ले जानेके लिये आत्मज्ञान प्रदान करना आवश्यक समझते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥‡

(गीता १०।१०)

* उनमें भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्यप्रेम-भक्तिवाले ज्ञानी भक्त—सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

† सभी भक्तोंमें वह भक्त मुझे सर्वाधिक प्रिय है, जो ज्ञानके द्वारा नित्य मेरी आराधना करता है।

‡ उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझीको प्राप्त होते हैं।

और मानो अपने उपर्युक्त वचनको चरितार्थ करनेके लिये आतुर हो श्रीभगवान् गीताके १२वेंसे १८वें अध्यायतक अर्जुनको ज्ञानका ही स्वरूप समझाते हैं। यदि ईश्वरके विश्वरूपका दर्शन कर लेना मात्र ही भक्तिका चरम उद्देश्य होता—जैसा कि भगवान् अर्जुनको निम्नलिखित श्लोकमें कहते भी हैं—

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
> (गीता ११ । ५४)

—तब उस स्थितिमें गीताका उपदेश बारहवें अध्यायके बाद समाप्त हो जाना चाहिये था; किंतु ऐसा हुआ नहीं। बिना ज्ञानके भक्ति कभी अपने चरम उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकती। इसीलिये परवर्ती अध्यायोंमें भगवान् अर्जुनको ज्ञानका ही तत्त्व समझाते हैं और यही कारण है कि श्रीकृष्ण पुनः उद्धवको आत्मज्ञानका उपदेश देकर ब्रह्म-ज्ञानकी व्याख्यासे अपने उपदेशको समाप्त करते हैं—

> एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः। *
> (श्रीमद्भागवत ११ । २९ । २३)

इस प्रकार भक्तको उसकी सब कुछ होम देनेवाली भक्तिको निर्विशेष ब्रह्मज्ञानके द्वारा पुरस्कृत करना मानो भगवान् अपना अनिवार्य कर्तव्य समझते हैं।

भागवत-महापुराणके तात्पर्यके सम्बन्धमें दो मत नहीं हो सकते। भक्तिके सभी सम्प्रदाय इसको अपना सबसे अधिक प्रामाणिक शास्त्र मानते हैं। हमलोग भी देखें कि परीक्षित्के प्रति अपने उपदेशकी समाप्ति श्रीशुकमुनि किस प्रकार करते हैं। श्रीशुकदेवजीने भक्तिके सभी रूपोंकी व्याख्या की और परीक्षित्से ग्यारह स्कन्धोंमें भगवान्के सभी अवतारों तथा उनकी लीलाओंका वर्णन किया। इसके बाद वह घड़ी आती है, जब पाण्डवोंके इस वंशजको तक्षक नागके द्वारा डँसे जाकर प्राणत्याग करना था। इस सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण मुहूर्तमें शुकमुनि परीक्षित्को भगवान्के अवतारों अथवा लीलाओंका ध्यान करनेका आदेश नहीं देते वरं अपने वास्तविक स्वरूपको पहचानने, अपने आत्माको निर्विशेष ब्रह्ममें डुबा देने, उसमें इस प्रकार विलीन कर देनेके लिये कहते हैं, जैसे घटाकाश घड़ेके फूट जानेपर महाकाशमें विलीन हो जाता है—

> घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा।
> एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः॥ *
> (श्रीमद्भागवत १२ । ५ । ५)

इसलिये श्रीशुकदेवजी परीक्षित्को वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेके लिये, जो भक्तिके परिणामस्वरूप स्वयं उत्पन्न होता है, तथा अपनेको ब्रह्मरूप, केवल ब्रह्मरूप अनुभव करनेको कहते हैं। क्योंकि वे जानते थे कि इस प्रकार निर्विशेष ब्रह्ममें लीन हो जानेपर उनको न तो अपने पैरमें तक्षकके दाँत गड़ानेका अनुभव होगा और न उन्हें संसार ब्रह्मसे भिन्न दीखेगा—

> अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
> एवं समीक्ष्यन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले॥
> दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।
> न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः॥ †
> (श्रीमद्भागवत १२ । ११-१२)

यदि इस निर्विशेष ज्ञानसे ही भागवतके अन्तिम स्कन्धका उपसंहार होता है तो भक्तिमें ज्ञानका जो उचित स्थान है, उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। ऐसी स्थितिमें न्यायोचित निष्कर्ष यही निकलता है कि पराभक्ति और ब्रह्मज्ञान एकार्थवाची शब्द हैं, जो सर्वोच्च योगकी स्थितिके, पूर्ण ज्ञानकी आनन्दमय अवस्थाके वाचक हैं।

हम इस संक्षिप्त विवेचनको शाण्डिल्यके भक्ति-सूत्रोंसे एक उद्धरण दिये बिना नहीं समाप्त करेंगे। शाण्डिल्यपर निस्संदेह कोई भी ज्ञानका पक्षपाती होनेका संदेह नहीं करता। किंतु विलक्षण बात है कि वे भी उपसंहार करते हैं इस सूत्रसे—

> तदैक्यं नानात्वैकत्वमुपाधियोगहानादादित्यवत्॥ ९३॥

इसकी व्याख्या करते हुए स्वप्नेश्वर लिखते हैं—'और इस प्रकार जब पराभक्तिके द्वारा व्यष्टिभाव मिटा दिया जाय, तब ब्रह्मके साथ अभेद तर्क-विरुद्ध नहीं रह जायगा; क्योंकि दूसरे

---

* इस प्रकार मैंने तुम्हें यह ब्रह्मवादका सम्पूर्ण सार-संग्रह सुना दिया।

* जिस प्रकार घड़ेके फूट जानेपर घटाकाश पूर्ववत् फिर महाकाशरूप हो जाता है, उसी प्रकार तीनों प्रकारके देह नष्ट होनेपर जीव पुनः ब्रह्मरूप हो जाता है।

† जो मैं हूँ, वही परमतत्त्वरूप ब्रह्म है और जो परमतत्त्वरूप ब्रह्म है, वही मैं हूँ—इस प्रकार विचार करते हुए अपने आत्माको अखण्ड परमात्मामें स्थित कर लेनेपर तुम अपने पैरोंमें काटते हुए तथा विषाक्त ओठ चाटते हुए तक्षकको एवं अपने शरीर और सम्पूर्ण विश्वको भी अपने आत्मासे पृथक् नहीं देखोगे।

प्रतिबिम्बित करनेवाले दर्पण जब नष्ट हो जाते हैं, तब उनमें पड़े हुए प्रतिबिम्ब सूर्यमें ही विलीन हो जाते हैं'—

ततः परमवस्था जीवोपाधिबुद्धिह्रासे सति पुनरैकत्व-मप्यविरुद्धं यथाऽऽदित्यस्य प्रकाशात्मनः प्रतिबिम्बोपाधिदर्पणा-पगमे तद्वत् ॥ *

इतने प्रचुर प्रमाणोंके होते हुए भी भक्ति और ज्ञानको क्या कभी एक दूसरेसे मेल न खानेवाला और परस्परविरोधी माना जा सकता है ? मुक्तिके लिये जिसका साधन आवश्यक है, वह भक्ति अपने सर्वश्रेष्ठ रूपमें आत्मज्ञानके सिवा कुछ नहीं है ।

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥†

(श्रीशंकराचार्यकृत विवेकचूडामणि, श्लो० ३२)

भक्ति-तत्त्व या भक्ति-साधना

(लेखक—प्रो० जयनारायणजी मल्लिक एम्० ए०, डिप्० एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

भगवान्‌को प्राप्त करना ही मानव-जीवनका परम पुरुषार्थ है और इसका सर्वोत्तम साधन भक्ति है । भक्तिका अर्थ है—भगवान्‌की उपासना, भगवान्‌की सेवा और भगवान्‌की शरणागति । जब मानव-अन्तःकरण सभी भोग-विषयोंसे अपनेको पृथक् करके एकमात्र परमात्माके ही चिन्तनमें तल्लीन हो जाता है और जब सगुण-साकार परब्रह्मका ध्यान तैल-धाराके समान कभी टूटता नहीं, तब परमात्मा-का साक्षात्कार हो जाता है । इस ब्रह्मानन्दमें जो रस और मधुरिमा है, वह अवर्णनीय है । सगुण साकार परमात्माका वर्णन ऋग्वेदके द्वितीयाष्टकमें आया है—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः
दिवीव चक्षुराततम् ।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते,
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥

ऋग्वेदके दशम मण्डल तथा शुक्ल यजुर्वेदके पुरुष-सूक्तमें भी आया है—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।'

वस्तुतः भगवान्‌से मिलनेके तीन मार्ग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग । वेदके पूर्वभागमें कर्मका वर्णन है, वेदके उत्तरभाग (उपनिषद् अथवा वेदान्त) में ज्ञानका । भक्तिमें कर्म और ज्ञान दोनोंका समन्वय है । अतः सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य भक्तिमें निहित है । कर्म तथा ज्ञान एक दूसरेसे पृथक् रहकर एकाङ्गी रहते हैं । ज्ञानहीन कर्म कृत्रिम, अर्थहीन (Mechanical) तथा शक्तिहीन हो जाता है । वह अध्यात्म-मार्गमें सहायक नहीं हो सकता । पर कर्महीन ज्ञान-का भी अधिक महत्त्व नहीं । कर्महीन ज्ञान भी सामर्थ्यहीन हो जाता है और वाक्य-ज्ञानके रूपमें केवल शास्त्रार्थ और वक्तृताका विषय रह जाता है । हमारी क्रिया ज्ञानानुवर्तिनी होनी चाहिये । यदि हमारे कर्म हमारे ज्ञानके विपरीत हों तो इसका अर्थ है कि अपने ज्ञानमें हमारा विश्वास नहीं है । उपासनाका मार्ग कर्म और ज्ञान दोनोंकी अपेक्षा सुगम और आनन्दप्रद है; क्योंकि इसमें दोनोंकी एकता है । उपासनाका न तो कर्मसे विरोध है न ज्ञानसे । कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों भक्तियोगके सहकारी हैं । स्वतन्त्ररूपसे कर्म स्वर्गकी ओर संकेत करता है, ज्ञान कैवल्यकी ओर । किंतु भक्तियोगका आश्रय पाकर कर्म और ज्ञान मोक्षपथके सहायक और प्रकाशक बन जाते हैं । जहाँ कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग एक दूसरेका स्पर्श करते हैं, वहीं भक्तिकी मधुर रश्मिसे ओतप्रोत होकर एक दूसरेके पूरक हो जाते हैं । तब दोनोंका एक ही लक्ष्य हो जाता है, दोनोंमें कोई भेद नहीं रह जाता ।

भक्त कर्मकाण्डी नहीं होते, कर्मयोगी होते हैं । कर्मकाण्ड सकाम है, कर्मयोग निष्काम । जिस कर्ममें कामना, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान हैं, वह मोक्ष-पथमें बाधक हो जाता है । भक्त अनासक्त और निर्लिप्त होकर जीवनके सारे कर्म केवल कर्तव्यकी प्रेरणासे भगवत्कैंकर्य समझकर किया करते हैं,

* जीव-ईश्वरमें एकता है—दोनों एक हैं, उपाधिके संयोगसे उनमें नानात्वकी प्रतीति होती है और उपाधिभङ्ग होनेपर एकत्वका बोध स्पष्ट हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे एक ही सूर्य जलसे भरे हुए भिन्न-भिन्न पात्रोंमें पृथक्-पृथक् प्रतिबिम्बित होनेपर अनेक-सा प्रतीत होता है, परंतु जलपात्ररूपी उपाधिके न रहनेपर वह पुनः एक ही रह जाता है ।

† मुक्तिकी कारणरूप सामग्रीमें भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसंधान करना ही भक्ति कहलाता है ।

चतुर्दश परम भागवत और उनके आराध्य

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन् पुण्यानिमान् परमभागवतान्नमामि ॥

उनमें सीमित स्वार्थ-बुद्धि तथा भोग-बुद्धि नहीं रहती । वस्तुतः भागवतोंका सम्पूर्ण जीवन ही भगवत्कैंकर्य है । उनके कर्म राजसी प्रवृत्ति और वासनासे प्रेरित नहीं होते; वे विवेक, कर्तव्य और कैंकर्यकी भावनासे प्रेरित होते हैं । भक्तियोगका आधार भगवत्कृपा है । बिना भक्तिकी सहायतासे कर्मयोगकी सफलता संदिग्ध हो जाती है । कर्म-संस्कार ही जीवात्माका बन्धन है । यही अविद्याके रूपमें कारण-शरीरका निर्माण करता है । पर कर्मका हम स्वरूपतः त्याग नहीं कर सकते । जीवन-धारण करनेमें पग-पगपर कर्मकी आवश्यकता हो जाती है । कर्म स्वतः न अच्छा है न बुरा । कर्म जिस मन्तव्यसे, जिस उद्देश्यसे किया जाता है, कर्म करनेसे अन्तःकरणमें जो एक तरङ्ग उठती है, एक विकार उत्पन्न होता है, उसीपर कर्मकी अच्छाई या बुराई निर्भर करती है । कर्म तो हम स्थूल-शरीरसे करते हैं, पर उसकी प्रेरणा मनसे आती है । इसीलिये कहा गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

(बृहदा० उ० १ । ४७ । ४)

'मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है ।'

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण । प्रत्येक क्रियमाण कर्म समाप्त होनेपर सञ्चितके कोषमें चला जाता है; और वही जब फल देना प्रारम्भ करता है, तब प्रारब्ध बन जाता है । प्रारब्धका भोग अवश्यम्भावी है । प्रारब्ध हमारी वासनाका निर्माण करता है और वासना प्रवृत्ति-का; प्रवृत्ति पुनः क्रियमाण कर्मका पथ-प्रदर्शन करती है । अतः हमारा वर्तमान जीवन अतीत जीवनका फल और भविष्य जीवनका बीज है । जिस प्रकार वृक्षसे फल होता है और वही फल फिर वृक्षको जन्म देता है, उसी प्रकार जैसे हमारे अतीत कर्म थे, उसी प्रकार हमारी प्रवृत्ति बनी और जैसी हमारी प्रवृत्ति बनी है, उसी प्रकारके कर्म हम करते रहते हैं । यह जीव 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' के चक्रमें पड़ा रहता है । कभी भगवान्‌की कृपा होती है तो उनके चरणोंमें हमारा अनुराग उत्पन्न हो जाता है ।

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

ऐसे भगवान्‌को भूलकर जो जीव विषयके चिन्तनमें लग जाता है, वह सबसे बड़ा अभागा है और उसका विनाश (पतन) निश्चित है ।

विषयोंके चिन्तनसे उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, तब इच्छाका उदय होता है और वह इच्छा किस प्रकार जीवको विनाशकी ओर ले जाती है, इसका क्रम भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

(२ । ६२-६३)

'हे अर्जुन ! मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण न होनेसे मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है । कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है । स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाश होनेसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है ।'

स्थूलशरीरके नष्ट हो जानेपर भी उसके द्वारा किया हुआ कर्म नष्ट नहीं होता; क्योंकि कर्म करनेपर मानसिक जगत्‌में एक हलचल मच जाती है, अन्तःकरणमें सुख या दुःखकी लहर दौड़ जाती है और सूक्ष्मशरीरपर एक छाप पड़ जाती है । यह सूक्ष्मशरीर कर्म-संस्कार लिये हुए एक स्थूलशरीर-से दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश करता है । ये ही कर्मसंस्कार वासना तथा प्रवृत्तिको जन्म देते हैं । अच्छे कर्मोंके संस्कारसे प्रवृत्ति भी परिमार्जित हो जाती है और बुरे कर्मोंके संस्कारसे प्रवृत्ति कलुषित हो जाती है । सूक्ष्मशरीर अपनी प्रवृत्तिके अनुसार अनुकूल योनि चुन लेता है । जिस प्रकार गेहूँका बीज धानके खेतमें फूटता नहीं, उसी प्रकार यदि संयोगसे सूक्ष्मशरीर अपनी प्रवृत्तिके प्रतिकूल किसी योनिमें चला जाय तो वहाँ वह विकसित नहीं होता, माताके गर्भमें या वीर्य-कीटके रूपमें ही नष्ट हो जाता है । तो फिर इनसे छुटकारा किस प्रकार मिले ? अच्छे और बुरे दोनों कर्म ही आत्माके लिये बन्धन ही हैं । अच्छा कर्म सोनेकी हथकड़ीसे बाँधकर स्वर्ग ले जाता है, बुरा कर्म लोहेकी हथकड़ीसे बाँधकर नरक । कर्मयोग इनसे छुटकारेका हमें एक उपाय बतलाता है । यदि हम अहंकाररहित, अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करें, मनको निर्विकार रखें तथा अन्तःकरणमें कोई तरङ्ग उत्पन्न न हो तो उस क्रियमाण कर्मसे न तो प्रारब्धका निर्माण होता है न सूक्ष्मशरीरका विकास । यह कर्म

जीवात्माका बन्धन नहीं होता । भूना हुआ चना जमीनमें गिरकर भी पनप नहीं पाता, इसी प्रकार निष्काम कर्म सूक्ष्म-शरीर तथा प्राणमय एवं मनोमय कोशमें अङ्कुरित नहीं होता—

> यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
> हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥
> (गीता १८ । १७)

"हे अर्जुन ! जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कार्योंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।"

फलासक्तिरहित और निर्लिप्त कर्म करनेका नाम ही 'कर्मयोग' है । पर अनासक्त और निर्लिप्त हम होंगे कैसे ? हमारे अन्तःकरणमें जो वासना-सर्पिणी छिपी हुई है, वह कर्मोंका रस पीती रहती है। उपदेश देनेके लिये तो हम कह देते हैं कि 'वासनाका हनन करो, प्रवृत्तिको कुचलो, अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करो', पर इन उपदेशोंसे कर्म योगकी समस्या हल नहीं होती । वासनाके विराट् अन्धकार-में विवेकका टिमटिमाता हुआ दीपक प्रकाश तो देता है, पर बिना भगवत्कृपाके वह प्रकाश चिरस्थायी नहीं होता । कर्मेन्द्रियोंको निराहार रखनेसे वासना नहीं मिटती । प्रवृत्तिको बरजोरी रोकनेसे वह वैध मार्ग छोड़कर अवैध मार्ग ग्रहण करेगी । वासना असंख्य जन्मोंके प्रारब्धकर्मोंका परिणाम है । उसको हम केवल उपदेशों और वाक्यज्ञानसे नष्ट नहीं कर सकते । प्रवृत्ति प्रकृतिका सूक्ष्मरूप है, उसको कुचलनेकी चेष्टा प्रकृतिके साथ एक भीषण संग्राम है । यह सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म करनेसे कर्म आत्माका स्पर्श नहीं कर सकता, पर अनासक्त होना ही तो जीवनकी सबसे बड़ी समस्या है । यदि बिल्लीके गलेमें घंटी बाँध दी जाय तो चूहे सुरक्षित हो जायँ; पर बिल्लीके गलेमें घंटी बँधे कैसे ? यहींपर भक्तियोग आकर कर्मयोगकी सहायता करता है । अकेला कर्मयोग जिस समस्याका समाधान नहीं कर सका था, भक्ति आकर उसे सहल कर देती है । भक्ति कहती है कि 'जीवनके सारे कर्मोंको करो, पर उन्हें भगवन्निमित्त करो, भगवत्कैंकर्य समझकर करो ।' हमें भोग-वासनासे प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिये, पर कर्तव्यकी प्रेरणासे भगवत्कैंकर्य समझकर कर्म करना चाहिये । सारे कर्मोंको यदि हम भगवान्‌को समर्पित कर दें तो फिर आत्माको बाँधनेके लिये हमारे पास कर्म बच ही कहाँ जाता है । जबतक हमारे अन्तःकरणमें भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं हो जाता, जबतक हमारे मन-मन्दिरमें प्रेम-सिंहासनपर श्रीमन्नारायण भगवान् नहीं आ विराजते, तबतक लाख चेष्टाएँ करनेपर भी मोह-पाश नहीं टूटता ।

> माधव, मोह फाँस क्यों टूटै ।
> बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै ।
> घृत पूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै ॥
> ईंधन अनल लगाय कलप सत औटत नास न पावै ॥

इन्द्रियोंको बलपूर्वक विषय-भोगसे रोकने तथा निराहार रखनेसे आसक्ति नहीं मिटती; आसक्ति तो तब मिटती है, जब परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है—

> विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
> रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
> (गीता २ । ५९)

भगवान्‌के ध्यानसे, चिन्तनसे, स्मरणसे हृदयके सारे विकार अपने-आप नष्ट हो जाते हैं ।

> तब लगि हृदयँ बसत खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद माना ॥
> जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरें चाप सायक कटि भाथा ॥

भगवान्‌के चिन्मय, ज्ञानमय, आनन्दमय रूपका प्रकाश हृदयमें आते ही अन्तःकरणका अन्धकार आप-से-आप मिट जाता है ।

> ममता तरुन तमी अँधिआरी । राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥
> तब लगि बसति जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥

तिमिरमयी रजनीमें मानव एक पिच्छल पथपर रुक-रुक-कर जा रहा है । दोनों ओर खाइयाँ हैं और अन्धकारमें पैर फिसलनेका डर है । कामिनी और काञ्चनसे खेलता हुआ मानव अन्तर्द्वन्द्वसे जर्जर है, पीड़ित है, व्यथित है । वासना उसे पीछेकी ओर घसीटती है । ऐसी परिस्थितिमें भक्तिका उज्ज्वल आलोक उसका पथ-प्रदर्शन कर रहा है । भक्ति भूली-भटकी मानवताको असत्‌से सत्‌की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर तथा मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाती है ।

ज्ञानयोगकी सफलता भी भक्तियोगपर ही निर्भर करती है । वाक्य-ज्ञान तो केवल शास्त्रार्थका विषय होता है ।

> वाक्य ग्यान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई ।
> निसि गृह मध्य दीपकी बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई ॥

ज्ञानयोगकी सफलताके लिये वासनाका शमन आवश्यक है, पर असंख्य जन्मोंका जीवन-रस पीकर वासना-सर्पिणी मानव-अन्तःकरणमें फुफकार मारती रहती है । ज्ञानयोगके लिये स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है । इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

> प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
> आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
> (२ । ५५)

'हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है, और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।'

हृदयका निष्काम होना एक जटिल समस्या है, पर भक्तियोगका आश्रय पाकर हृदय अपने-आप शान्त हो जाता है । तब परमात्माके साक्षात्कारसे अपने-आप मायाका बन्धन टूट जाता है, हृदयकी गाँठ खुल जाती है और कर्म-संस्कार नष्ट हो जाते हैं—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
> (मुण्डक० २ । २)

भक्तिसे पृथक् ज्ञानका मार्ग दुर्गम और कठिन है, पर भक्ति-पथ अत्यन्त सुगम है ।

> भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृति मूल अबिद्या नासा ॥

ज्ञान भक्तिका पूरक और प्रकाशक है ।

> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।
> (ईशोप० १४)

निष्काम कर्मसे चित्तकी शुद्धि होती है और ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति । उपासनात्मक ज्ञान और भक्तिमें कोई अन्तर नहीं ।

भक्तिके दो रूप हैं—उपासना और कैंकर्य । सदैव भगवान्का चिन्तन, स्मरण और ध्यान करना, भगवान्में अखण्ड विश्वास एवं उन्हें अनवरत याद रखनेका ही नाम उपासना है । जिस प्रकार तेलकी धारा कभी टूटने नहीं पाती, उसी प्रकार जब परमात्माके अनवरत ध्यानसे परमात्मा प्रत्यक्षके समान हो जायँ, परमात्माके साथ मानव-हृदय एकाकार हो जाय, तब उसका नाम उपासना है ।

> तन ते कर्म करहु बिधि नाना । मन राखहु जहँ कृपा निधाना ॥
> मन तें सकल बासना भागी । केवल राम चरन लय लागी ॥

उपासनाकी सफलताके लिये भगवान्के ऊपर अनन्यतर प्रेम होना आवश्यक है ।

> मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । किएँ जोग तप ग्यान बिरागा ॥

भगवान्के चरणोंमें अन्तःकरणको जोड़ देना ही योग कहलाता है । उपासनामें सबसे अधिक आवश्यकता है भगवत्प्रेमकी; क्योंकि हम जिसको सबसे अधिक प्यार करते हैं, दिन-रात उसीके विषयमें सोचते रहते हैं । उसके स्मरण और चिन्तनमें आनन्दकी अनुभूति होती है । भगवान्को यदि हम हृदयसे प्यार करेंगे तो उनका ध्यान सदैव हमें बना रहेगा । उनके स्मरण और चिन्तनमें आनन्दकी अनुभूति होगी । उनके प्रेममें हम मस्त और मतवाले बने रहेंगे और एक क्षण भी बिना उनको देखे हृदय बेचैन हो उठेगा । अन्तःकरणका सबसे बड़ा आकर्षण प्रेम ही है । बिना प्रेमके यदि बरजोरी मनको भगवान्में लगाया भी जाय तो वहाँ वह अधिक देरतक नहीं टिक सकता; क्योंकि मन चञ्चल है और हठात् विषयोंकी ओर चला जाता है । भोग-रसका पान करनेवाले चञ्चल मनको प्रथम-प्रथम भगवान्में लगानेके लिये दो साधनोंकी आवश्यकता है—अभ्यास और वैराग्यकी । अभ्यासके द्वारा मनको भगवान्में टिकनेकी तथा भगवान्से प्रेम करनेकी आदत पड़ जाती है । वैराग्यके द्वारा संसारसे विरक्ति और परमात्मामें अनुरक्ति उत्पन्न होती है ।

> जब सब बिषय बिलास बिरागा । तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
> होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा ।

भगवान्से अविचल प्रेमका ही नाम 'पराभक्ति' है—

> सा परानुरक्तिरीश्वरे । (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र २)

भक्तिका दूसरा रूप कैंकर्य है । जीव शाश्वत भगवद्दास है और भगवान्की सेवा करना ही जीवका धर्म है । भक्ति चाहे माधुर्य-भावकी हो या दास्यभावकी, भगवत्कैंकर्य प्रत्येक दशामें आवश्यक है । परब्रह्म मायामण्डलसे परे त्रिपाद्-विभूतिके स्वामी श्रीमन्नारायण भगवान् हैं । मन-मन्दिरमें वासनाकी धूल झाड़कर, भक्ति-जलसे उसे प्रक्षालितकर, ज्ञान रश्मिसे दीप्त प्रेम सिंहासनपर श्रीमन्नारायण भगवान्की मूर्ति स्थापित करना ही परब्रह्मका कैंकर्य है । अन्तःकरण परब्रह्मके आलोकसे आलोकित हो जाय, हृदय परमात्माके चरणोंमें लीन हो जाय, शाश्वत प्रेम और अनवरत ध्यानके कारण भगवान् प्रत्यक्षके समान हो जायँ, तब परब्रह्मका कैंकर्य सम्पन्न हुआ समझना चाहिये । उपासना भावना इस कैंकर्यकी पोषक तथा पूरक है ।

अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र एवं सभी प्राणियोंमें वर्तमान हैं। यह रूप सूक्ष्म, व्यापक एवं घट-घटवासी है। इनका कैंकर्य तीन प्रकारसे होता है।

(१) किसी भी स्थानमें कभी छिपकर कोई पाप नहीं करना। ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ अन्तर्यामी भगवान् न हों। अतः छिपकर पाप करनेके लिये कोई भी एकान्तस्थल किसीको मिल ही नहीं सकता।

(२) अन्तर्यामी भगवान् सभी प्राणियोंमें वर्तमान हैं, अतः प्रत्येक नर-नारीका शरीर परमात्माका मन्दिर हुआ। अतः किसीके साथ ईर्ष्या-द्वेष रखना, किसीका अमङ्गल सोचना, किसीको दुखी करनेकी चेष्टा, मनसे, वचनसे और शरीरसे किसीकी बुराई करना अन्तर्यामी भगवान्‌की अवहेलना है। गरीब और दुखियोंकी सेवा, सत्य, अहिंसा, न्याय, प्रत्येक नर-नारीका कल्याण और प्रत्येक प्राणीको सुखी बनानेकी चेष्टा ही अन्तर्यामी भगवान्‌का कैंकर्य है। जीवात्मा प्रकाश-कण है और परमात्मा प्रकाशके समूह। अतः जीवात्मा परमात्माका अंश है। इसलिये प्रत्येक प्राणीका शरीर, जहाँ जीवात्मा वर्तमान है, परमात्माका ही मन्दिर है। अतएव प्रत्येक प्राणीकी सेवा अन्तर्यामी भगवान्‌की सेवा है तथा किसीकी भी निन्दा या अनिष्ट करनेकी चेष्टा अन्तर्यामी भगवान्‌का अपमान है।

(३) अपना शरीर भी अन्तर्यामी भगवान्‌का मन्दिर है। अतः भगवान्‌के मन्दिरको स्वच्छ और पवित्र रखना जीवका परम कर्तव्य है। अन्तःकरण-रूपी मन्दिरमें अविद्याका अन्धकार, वासनाकी गंदगी और अभिमानकी दुर्गन्ध नहीं रहनी चाहिये। हृदयमें गंदे विचारों और कलुषित इच्छाओंके रहनेसे अन्तर्यामी भगवान्‌की अवहेलना होती है।

परिवार, राष्ट्र तथा देशके लिये त्याग और सेवाकी भावना कैंकर्य है। संध्या, गायत्री, पूजा, जप, कीर्तन, ध्यान—ये सभी भगवत्कैंकर्यके अन्तर्गत हैं।

भक्त सर्वत्र भगवान्‌को ही देखता है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (ईशोप० १)

फिर अपने-परायेका भेद-भाव कहाँ रह जाता है और कोई ईर्ष्या-द्वेष करे तो किससे करे? सर्वत्र और सभी प्राणियोंमें भगवान्-ही-भगवान् हैं।

> सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

'सभी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सब लोग शुभका दर्शन करें, किसीको भी दुःखका भाग न मिले।'

भगवान्‌की आज्ञा है—

> यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
> (गीता ९। २७)

जब अपना भोजन, कर्म, पूजा, दान, तपस्या—सब कुछ भगवान्‌को अर्पण ही कर देना है, तब अनुचित और अपवित्र आहार एवं आचरण हम कैसे करें? क्योंकि वे तो भगवान्‌को अर्पण नहीं किये जा सकते। वस्तुतः भक्तोंका सम्पूर्ण जीवन ही भगवत्कैंकर्य होता है।

ज्ञानयोग और कर्मयोगकी सफलता संदिग्ध है, पर भक्तोंकी नैया भगवान् पार लगाते हैं। भगवान् अशरण-शरण हैं और उनकी शरणमें जानेसे महापापियोंका भी उद्धार हो जाता है।

> अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
> (गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है अर्थात् उसने भलीप्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

कर्मयोग और ज्ञानयोगके लिये योग्य अधिकारी चाहिये, पर भक्तिका द्वार सबके लिये खुला हुआ है—

> मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
> (गीता ९। ३२)

'क्योंकि हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌की माया इतनी प्रबल है कि ज्ञानियोंको भी मोह हो जाता है, पर भक्तोंपर मायाका कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(गीता ७ । १४)

फिर भी जिसकी बुद्धि मारी जाती है, वह परमात्माको नहीं भजता—उनकी शरणमें नहीं आता—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

(गीता ७ । १५)

भगवान्‌की भक्तिमें अनन्यता और अकिंचनता आवश्यक है । जबतक हम सम्पूर्ण आशा-भरोसा छोड़कर एकमात्र परमात्माकी शरणमें न चले जायँ, तबतक उनकी कृपादृष्टि नहीं मिल सकती। अनन्यताका अर्थ है—परमात्माको छोड़कर अन्य किसीको भी हृदयमें स्थान न देना, चाहे वह देवता हो या मनुष्य, कामिनी हो या काञ्चन । पत्नी जैसे आदर सभीका करती है, पर भजती है केवल पतिको ही, उसी प्रकार प्रपन्नको निन्दा किसीकी नहीं करनी चाहिये, आदर सभी देवताओंका करना चाहिये, पर भजना चाहिये केवल भगवान्‌को ही । हृदयमें केवल भगवान्‌को ही स्थान देना चाहिये, अन्यको नहीं ।

सब कर मत खगनायक एहा । करिअ राम पद पंकज नेहा ॥

भक्त चार प्रकारके होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। आर्त भक्त वे हैं, जिनपर कोई विपत्ति आ पड़ी और उस कष्टके निवारणके लिये ही जो भगवान्‌को भजते हैं। जिज्ञासु भगवान्‌को जाननेकी इच्छासे तथा अर्थार्थी किसी मनोरथ अथवा प्रयोजनकी सिद्धिके लिये भगवान्‌को भजते हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी—तीनोंकी भक्ति सकाम है, अतः सद्यः-मोक्षप्रद नहीं है । ज्ञानी कर्तव्य तथा विवेककी प्रेरणासे भगवान्‌को भजते हैं। भगवान् स्वामी है और जीव दास है । अतः जीवका स्वरूप है भगवान्‌की भक्ति करना । ज्ञानीकी भक्ति निष्काम है, अतः वह सद्यः-मोक्षप्रद है ।

भक्तिका ही एक सुगम रूप 'प्रपत्ति' है । भगवान्‌से मिलनेकी व्यग्रता प्रपत्तिका प्रधान अङ्ग है । भक्त समझते हैं कि भगवान् मेरे हैं (ममैवासौ), अतः उनकी सेवाका भार मेरे ऊपर है । प्रपन्न समझते हैं कि मैं भगवान्‌का हूँ (तस्यैवाहम्), अतः मेरी रक्षाका भार उनके ऊपर है । भक्तोंको बँदरके बच्चेसे उपमा दी जाती है, प्रपन्नोंकी बिल्लीके बच्चेसे । बँदरके बच्चे खुद बँदरीको पकड़े रहते हैं, माँको कोई चिन्ता नहीं रहती । पर बिल्ली स्वयं अपने बच्चेको पकड़ती है, बच्चेको अपनी कोई चिन्ता नहीं रखनी पड़ती। बच्चेसे भूल होना सम्भव है, पर माँसे भूल नहीं हो सकती ! प्रपन्नोंके भक्ति-निर्वाहका भार भगवान्‌के ऊपर रहता है । मृत्युकालकी बेहोशीकी अवस्थामें भगवान्‌का ध्यान रखना अत्यन्त कठिन है, पर प्रपन्नोंका यह कार्य भगवान् स्वयं सम्पन्न कर देते हैं—

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसंनिभम् ।

अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥

साधारण भक्त नौकरके समान होता है, पर प्रपन्नकी अवस्था पत्नीकी-सी होती है । स्वामी यदि अप्रसन्न हो जाय तो दास अन्यत्र भी जा सकता है, पर पत्नी कहाँ जाय । उसके लिये तो पतिको छोड़कर और कोई आश्रय ही नहीं है ! इसी तरह प्रपन्नके लिये सब कुछ भगवान् ही हैं ।

प्रपत्तिके दो भेद हैं—शरणागति और आत्मसमर्पण । प्रपत्तिका होना केवल भगवत्कृपापर निर्भर करता है । विवाहिता पत्नीकी तरह प्रपन्नोंका केवल एक कर्तव्य रहता है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।

—'स्वामीके अनुकूल कार्य करना तथा स्वामीके प्रतिकूल कार्योंका सर्वथा त्याग।' पत्नीकी प्रतिष्ठा तथा रक्षाका भार तो पतिपर है ही; पर पत्नीका भी कर्तव्य है कि जो काम पतिको रुचे, वही करे; जो न रुचे, वह कभी न करे । उसी प्रकार प्रपन्नोंको भी भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल ही आहार-विहार तथा अन्य सभी कर्मोंको करना चाहिये । भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध कोई भी शारीरिक या मानसिक कर्म नहीं करना चाहिये । जिस कामसे अपना, समाजका तथा संसारका कल्याण हो, वह भगवान्‌के अनुकूल है । जिस काममें अपना और दूसरेका भी अनिष्ट होता हो, वह प्रतिकूल है ।

शरणागतिकी सरल प्रथम प्रथम उपनिषदोंमें मिलती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वेताश्व० ६ । १८)

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है कि "जो एक बार भी शरणमें आ जाता है और हृदयसे यह कहता हुआ कि 'नाथ ! मैं आपका हूँ' मुझसे रक्षाके लिये प्रार्थना करता है, मैं उसको अभय कर देता हूँ ।"

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वाल्मीकि रा० ६ । १८ । ३३)

सभी धर्मों—सभी उपायोंको छोड़कर, संसारका सारा आशा-भरोसा त्यागकर निश्छल हृदयसे केवल भगवान्‌की शरणमें जानेसे ही भगवान् पापोंसे मुक्त कर देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

भगवान् अपने शरणागतका त्याग नहीं कर सकते—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

प्रपत्तिका दूसरा अङ्ग है आत्मसमर्पण—अपने आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप देना । जिस प्रकार पत्नी अपने आपको विवाहके समय स्वामीके चरणोंमें सौंप देती है, उसी प्रकार अपने शरीर, मन, आत्मा—सब कुछ परमात्माको दे देना—यह श्रीवैष्णवोंका पाँचवाँ संस्कार है । इसके बाद जीवको यह अधिकार नहीं रह जाता कि वह दी हुई वस्तुको वापस ले ले । जो शरीर, मन, आत्मा परमात्माको अर्पित हो गये हैं, उन्हें भगवत्कैंकर्यके अतिरिक्त अन्य किसी कार्यमें लगाना अनुचित है । आत्मसमर्पणके बाद यदि हम शरीर और मनको किसी अपवित्र कार्यमें लगायें तो हम आत्मा-पहारी (चोर) हो जायँगे । शरीर और मन हमारे रहे ही नहीं, वे भगवान्‌की वस्तु बन गये । अतः उन्हें वासनासे प्रेरित होकर हम प्रवृत्तिके अनुसार किसी भोग-कार्यमें नहीं लगा सकते । भगवान्‌की आज्ञा और इच्छाके अनुसार उसे किसी सत्कार्य अथवा भगवत्कैंकर्यमें ही लगा सकते हैं । प्रपन्नके लिये समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय और दुरुप-योग अत्यन्त वर्जनीय है । विलासितामें, निरर्थक गपशपमें, व्यसनमें तथा ऐसे कार्योंमें जिनसे संसारका, समाजका, मानवताका अनिष्ट होता हो, अपने समय, शक्ति एवं धनको लगाना प्रपत्तिका विरोधी है । भक्तोंको एक क्षण भी भगवत्-कैंकर्यसे विमुख नहीं रहना चाहिये । कर्तव्यकी प्रेरणासे किये गये भगवान्‌की आज्ञाके अनुकूल जीवनके सारे कर्म भगवत्कैंकर्यके अन्तर्गत हैं । भक्तोंको भगवान्‌से भी अधिक अन्य भक्तोंका आदर करना चाहिये; क्योंकि भक्त भगवान्‌के जीवित स्वरूप हैं । भक्तोंके लिये दैन्य भी आवश्यक है । श्रीस्वामी यामुनाचार्यने कहा है—

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥
अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे ।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु ॥
(आल० २६, ५१)

'ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है, जिसे मैंने हजारों बार न किया हो । वही मैं उन कर्मोंके फल-भोगका समय आनेपर अब आपके सामने रो रहा हूँ । हजारों अपराधोंके अपराधी, भयंकर आवागमनरूप समुद्रके गर्भमें पड़े हुए आपकी शरणमें आये हुए मुझ आश्रयहीनको हे हरि ! आप अपनी कृपासे ही अपना लीजिये ।'

सब कुछ भगवान्‌के समर्पण करो

योगीश्वर कविजी कहते हैं—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३६)

'(भागवतधर्मका पालन करनेवालेके लिये यह नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकारका कर्म ही करे ।) वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे स्वभाववश जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे । (यही सरल-से-सरल, सीधा-सा भागवतधर्म है ।)'

भक्ति

(लेखक—पं० श्रीशिवशंकरजी अवस्थी शास्त्री, एम्० ए०)

स जयति गोकुलसदनः
सरसिजवदनः शिशुर्घनश्यामः ।
मदनकदर्थितमदनः
कृतखलकदनः कृपाजलधिः ॥

(अनन्तदेव)

शुद्ध, सहज रति भक्तिका प्रथम, तथा समापत्ति[1] चरम अवयव है। सहजात, शुद्ध या सात्त्विक रतिरूप भाव या वृत्ति[2] भगवान्‌के माहात्म्य-बोधके साथ नाना भूमिकाओंमें विकसित होकर फल-भक्तिका रूप ग्रहण करती है। चित्तमें दबे हुए सात्त्विक रतिरूप संस्कार, स्मृतिरूप आभ्यन्तर निमित्तद्वारा, अथवा शास्त्रवर्णित 'अतसीकुसुमोपमेय-कान्ति' आदि कमनीय स्वरूप तथा अर्चादि विग्रहोंके दर्शनसे वृत्ति या भावके रूपमें परिणत होते हैं। स्मृति या वासनाजन्य वस्तुसे अथवा इन्द्रियप्रणालीद्वारा बाह्यवस्तुसे उपराग या आभोगके अनन्तर मनमें जो ग्राह्य-ग्रहणाकारा प्रतीति होती है, वही वृत्ति है।

वृत्तिमें स्थिरता नहीं होती। यह अन्यान्य वृत्तियोंद्वारा विच्छिन्न होती रहती है। नाम-कीर्तन तथा भावनादि साधन-भक्तिद्वारा आराध्यके साथ चित्त जब पूर्णतया समापन्न होता है, तब उस वृत्तिका उच्छेद कठिन हो जाता है। इस स्थितिमें यह वृत्तिमात्र न रहकर भक्तिका रूप ग्रहण करती है। भक्तको यहीं भक्तिरसकी अनुभूति होती है, जो विषया-वच्छिन्न चिदानन्दांशभूत लौकिक रसका साध्य-तत्त्व है।

यतिवर नारायणतीर्थने लिखा है—

इत्थं च लौकिकरसे शृङ्गारादौ विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणादानन्दांशस्य न्यूनत्वं भगवदाकारोक्त-चेतोवृत्तिलक्षणे भक्तिरसे तु अनवच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणादत्यन्ताधिक्यमानन्दस्य। अतो भगवद्भक्तिरस एव लौकिकरसाननुपेक्ष्य परमरसिकैः सेव्यः।'

(भक्तिचन्द्रिका)

सामान्य जनोंकी प्रतीतिका विषय न बननेके कारण ही भक्तिको काव्योचित[1]-लक्षण-ग्रन्थोंमें भावमात्रकी संज्ञा प्राप्त हुई है। अन्तर्यागसे परिचित व्यक्तियोंसे यह छिपा नहीं है कि किस प्रकार हृदयदेशकी कल्पना-मूर्तिके अन्तरालसे कोटि-काम-कमनीय, तडित्कान्ति, कमल-कोमल भगवद्विग्रहका आविर्भाव होकर विलक्षण रसका वर्षण होता है। फलभक्ति-रूप उत्कृष्ट रसदशामें द्वैतका परिहार हो जाता है। यहाँ पूर्ण ऐक्यकी सिद्धि होती है। यही भक्तका मोक्ष[2] है।

भजनीयेन अद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात्।

(शाण्डिल्यसूत्र)

अर्थात् परमेश्वरसे—ये सेवक, सेवा तथा तत्साधनरूप गुरुमन्त्रादि अभिन्न हैं; कारण, सम्पूर्ण जगत् परमात्मस्व-

---

१. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। (पातञ्जलयोगदर्शन १। ४१)

'सुनिर्मल स्फटिक मणिके सदृश, वृत्तियोंसे रहित चित्तका ग्रहीता, ग्रहण अथवा ग्राह्यरूपोंके द्वारा उपरञ्जित होकर उन्हींके आकाररूपमें भासित होना समापत्ति है।'

२. सर्वात्मनाभिमिश्रैव स्नेहधारानुकारिणी।
वृत्तिः प्रेमपरिष्वक्ता भक्तिर्माहात्म्यबोधजा ॥

(शाण्डिल्य-संहिता)

१. (क) भाव एवेयमित्येके।

(भक्तिमीमांसा सूत्र १। १। ३)

(ख) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः [illegible]। (काव्य-प्रकाश ४। ३५)

२. (क) स्वयं फलरूपेति ब्रह्मकुमाराः। ३०।
तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः। ३३।

(नारद-भक्तिसूत्र)

(ख) सैव मोक्षः विरक्तिः [illegible] भक्तिका
सैवान्तःसंशयादि[illegible]।
बोधश्चित्तश्च सैव [illegible]
सैवाद्वैता च मुक्तिः [illegible] ॥

(भक्तिनिर्णय)

(ग) तत्र भक्तिर्भजनं तच्च 'भज' सेवायामिति धातोरनुशासनात् सेवानामन्, समानेऽपि [illegible] भेदव्यपदेशदर्शनात्। [illegible] नवस्वरूपत्वादिज्ञानवत्यपि [illegible] धातोः शक्तिकल्पने गौरवात्। किन्तु [illegible] [illegible] मनःकरणकत्वादेव च नैष्कर्म्यम्।

(भक्तिचन्द्रिका)

जाता है। भक्तिकी स्वरूपतामें प्रायः सभी तत्त्वज्ञ एकमत हैं। कुछ लोग उसे समाधिजन्य ब्रह्मानन्द-सदृश अथवा उससे भी बढ़कर मानते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । २ ।
अमृतस्वरूपा च । ३ । (नारद०)

सा परानुरक्तिरीश्वरे । २ ।
तत्संस्थस्यामृतत्त्वोपदेशात् । ३ ।
द्वेषप्रतिपक्षभावाद् रसशब्दाच्च रागः । ६ ।

(शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र)

भक्तिर्मनस उल्लासविशेषः । १ ।
रसस्तु तन्मात्रमपि उत्पत्तेः । ४ ।

(भक्तिमीमांसासूत्र)

उपर्युक्त सूत्रोंका तात्पर्य यह है कि—परमात्मामें परमप्रेम ही भक्ति है; उसे अमृत, रस अथवा राग शब्दसे भी कहा जाता है।

समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात् । भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम् ।

(भक्तिरसायन)

समाधिसुखके सदृश भक्तिसुख भी परमानन्द रूप होनेसे स्वतन्त्र पुरुषार्थ है।

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

एक ओर ब्रह्मानन्दको परार्द्धगुना करके रखा जाय तथा दूसरी ओर भक्तिसुखके सागरका परमाणु, तो भी इसकी तुलना ब्रह्मानन्द नहीं कर सकता।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद् भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥

(४ । ९ । १०)

ध्रुवजी कहते हैं—

'नाथ! आपके चरण-कमलोंका ध्यान करनेसे और आपके भक्तोंके पवित्र चरित्र सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिलता। फिर जिन्हें कालकी तलवार काटे डालती है, उन स्वर्गीय विमानोंसे गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है।'

तथा च श्रीमन्मुरमथनपुरमथनचरणारविन्दमकरन्दमन्दाकिनीमवगाहमानस्य मनसः समुल्लासो राग-भाव-प्रेमशब्दाभिधेय एव स्वानन्दमाविर्भावयन् कार्यकारणलिङ्गादिभिरभिव्यक्तो रसरूपो रत्याख्यः स्थायी भावो मोक्षमपि न्यक्कुर्वन् फलभक्तिरिति सिद्धम् ।

(नारायणतीर्थ)

'भगवान् विष्णु अथवा भगवान् शंकरके चरण-कमलोंके मकरन्दकी मन्दाकिनीमें अवगाहन करनेवाले मनका उल्लास ही 'राग' 'भाव' अथवा 'प्रेम' शब्दसे कहा जाता है। वही आत्मानन्दको प्रकट करता हुआ, हरि अथवा हरिभक्तरूप आलम्बन-विभाव-नामक तथा माहात्म्य-गुणादिकोंका श्रवण एवं वृन्दावनादि भूमिरूप उद्दीपन-विभाव-नामक कारण, अश्रु-रोमाञ्चादि अनुभावरूप कार्य तथा हर्ष-निर्वेदादि सहकारी लिङ्गोंसे अभिव्यक्त, मोक्षको भी पराजित करनेवाला रसरूप रति-नामक स्थायीभाव ही फलभक्ति है, यह सिद्ध हुआ।'

यही नहीं, साहित्यिक-शिरोमणि श्रीआनन्दवर्धनका कहना है कि 'कवियोंकी अभिनव रस-दृष्टि तथा विद्वानोंकी ज्ञान-दृष्टि—इन दोनोंमें मुझे वह सुख नहीं मिला जो क्षीरोदधिशायी भगवान् विष्णुकी भक्तिमें प्राप्त हुआ।'

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥

(ध्वन्यालोक)

श्रवणादि नवधा भक्ति, महत्सेवादि भक्ति-भूमिकाओं[1] तथा ललितादि[2] प्रेमा-भक्तिके प्रादुर्भावमें नाम-जप ही

---

१. प्रथमं महतां सेवा[1] तद्दयापात्रता[2] ततः ।
श्रद्धा[3]ऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः[4] ॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः[5] स्वरूपाधिगमस्ततः[6] ।
प्रेमवृद्धिः[7] परानन्दे तस्याथ स्फुरणं[8] ततः ॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः[9] स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता[10] ।
प्रेम्णोऽथ परमा[11] काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः ॥

२. देखिये—श्रीनारायणतीर्थकी भक्तिचन्द्रिका।

मूल कारण है। वेदोंसे[1] लेकर आजतकके अनुभवी भक्तोंने पापों तथा तज्जन्य रोगोंके उन्मूलन एवं तत्त्वकी उपलब्धिमें भगवन्नामको ही परमाश्रय माना है—

गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम ।

(ऋग्वेद म० १, सूक्त ३३)

'हमलोग रुद्रका प्रदीप्त नाम लेते हैं।'

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥

(ऋग्वेद अ० ५ अ० ६ व० २५ मन्त्र ५)

'परितः दृश्यमान इस प्रपञ्चसे परे सूक्ष्मरूपसे निवास करनेवाले हे अन्तर्यामी! मैं अल्प प्राणी नामकी शक्ति जानता हुआ आपके श्रेष्ठ नामका तथा महिमाशाली आपके गुणोंका कीर्तन करता हूँ।'

जप करते-करते नामके अन्तरालसे वाणीके परम रस तथा पुण्यतम ज्योतिका प्रादुर्भाव होता है।

प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः ।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ॥

(वाक्यपदीय)

'अनन्त वाच्यरूपोंमें विभक्त वाणीके परम रस एवं पुण्यतम ज्योतिको उपलब्ध करनेके लिये व्याकरण एक सरल मार्ग है।' व्याकरणसे तात्पर्य है—वाक्योंको पदोंमें, पदोंको वर्णोंमें, वर्णोंको श्रुतियोंमें तथा श्रुतियोंको परमाणुओंमें तोड़नेकी विधा।

सम्पूर्ण धर्मादि पुरुषार्थोंके एकमात्र स्वामी लक्ष्मीपति परम कृपालु परमात्मा हमारे हृदय-देशमें बैठे हैं और हम फिर भी दीन बने हैं! कैसी विडम्बना है।

मया सारं सारं जठरभरणाय प्रतिदिशं
प्रयासेन व्यर्थीकृतमहह जन्मैव सकलम् ।
हृदिस्थोऽपि श्रीमानखिलपुरुषार्थैकनिलयो
दयोदारस्वामी न च गरुडगामी परिचितः ॥

(वैष्णव-माहात्म्य)

अतः अब भगवान्से प्रार्थना है—

त्वन्नामकीर्तनसुधारसपानपीनो
दीनोऽपि दैन्यमपहाय दिवं प्रयाति ।
पश्चादुपैति परमं पदमीश ते चे-
त्तद्भाग्ययोग्यकरणं कुरु मामपीश ॥

(आदित्यपुराण)

'दीन—दुःखी मनुष्य भी तुम्हारे नाम-कीर्तनरूप सुधा रसके पानसे पुष्ट होकर दीनता त्याग दिव्य-लोकोंमें चला जाता है और वहाँके भोगोंको चिरकालतक भोगकर फिर हे स्वामिन्! वह आपके परमपदको पा लेता है। हे प्रभो! मुझे भी ऐसा बना दीजिये, जिससे मेरी वाणी आदि इन्द्रियाँ इस प्रकारका सौभाग्य प्राप्तकर धन्य हो सकें।'

भक्तिसे पाप पूरी तरह जल जाते हैं

स्वयं भगवान् कहते हैं—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् । तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १९)

'उद्धव! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियोंके बड़े ढेरको भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पापराशिको पूर्णतया जला डालती है।'

---

१. ऋग्वेदमें भक्ति-सम्बन्धी मन्त्र—

१. तमु स्तोतारः ... (१ । १५६ । ३)
२. नू मर्तो दयते ... (७ । १०० । १)
३. त्रिर्देवः पृथिवीमेष (७ । १०० । ३)
४. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम् ... (१ । १५४ । ५)
५. यः पूर्व्याय वेधसे ... (१ । १५६ । २)
६. वि चक्रमे पृथिवीमेष ... (७ । १०० । ४)
७. प्र विष्णवे शूषमेतु ... (१ । १५४ । ३)
८. यो मन्त्रानं विदधाति पूर्वं ... (ऋ० ब्रा० ६ । १८)

विशेष जानकारीके लिये भक्तिनिर्णय, भागवत-माहात्म्य-संग्रह तथा भक्ति-चन्द्रिका देखें।

भक्तिकी सुलभता और सरलता

(लेखक—श्रीकान्तानाथरायजी)

भक्तिका अर्थ सेवा है, किंतु यह साधारण सेवा नहीं है। पूज्यपाद गोस्वामीजीने अपने रामचरितमानसमें भक्तशिरोमणि भरतलालजीसे एक बार राघवेन्द्र श्रीरामको कहलाया है—

प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सीवँ सुहाई॥
सो करि कहउँ हिए अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥
सहज सनेहँ स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥

'प्रभु (आप) के चरण-कमलोंकी रजकी—जो सत्य, सुकृत (पुण्य) और सुखकी सुहावनी सीमा (अवधि) है, दुहाई करके मैं अपने हृदयकी जागते, सोते और स्वप्नमें भी बनी रहनेवाली रुचि (इच्छा) कहता हूँ। वह रुचि यह है कि कपट, स्वार्थ और अर्थ, धर्म, काम, मोक्षरूप चारों फलोंको छोड़कर स्वाभाविक प्रेमसे स्वामीकी सेवा करूँ।'

भरतजी कितने बड़े महापुरुष और महात्मा थे कि महाराज जनक उनके विषयमें कहते हैं—

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥

'रानी! सुनो, भरतजीकी अपरिमित महिमाको एक श्रीरामचन्द्रजी जानते हैं, किंतु वे भी उसका वर्णन नहीं कर सकते।'

गुरु वसिष्ठजी उनको कहते हैं—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥

'भरत! तुम जो कुछ समझोगे, कहोगे और करोगे, वही जगत्‌में धर्मका सार होगा।'

इन उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि भरतलालजीके वचन सर्वथा सत्य हैं और इतर जीवोंको उन्हीं भक्त-शिरोमणिका अनुवर्तन करना चाहिये। तदनुसार भक्ति-की परिभाषा यह हुई कि श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंमें निःस्वार्थ, निश्छल और निष्काम प्रीतिको निरन्तर निबाहना—यही भक्ति है। भक्तिमें और-और अनुपम गुण रहते हुए यह भी एक अनुपम गुण है कि यह सुलभ और सरल है।

भगवान् श्रीरामके वचन हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

'कहो तो, भक्तिमार्गमें कौन-सा परिश्रम है? इसमें न योगकी आवश्यकता है न यज्ञ, जप, तप और उपवासकी! यहाँ इतना ही आवश्यक है कि सरल स्वभाव हो, मनमें कुटिलता न हो और जो कुछ मिले, उसीमें सदा संतोष रहे।'

काकभुशुण्डिजीके वचन हैं—

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भट भेरे॥
पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

'उसके (भक्तिके) पानेके उपाय भी सुलभ और सुगम ही हैं, पर अभागे मनुष्य उन्हें ठुकरा देते हैं। वेद-पुराण पवित्र पर्वत हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी नाना प्रकारकी कथाएँ उन पर्वतोंमें सुन्दर खानें हैं। संत पुरुष उनकी इन खानोंके रहस्यको जाननेवाले मर्मी हैं और सुन्दर बुद्धि (खोदनेवाली) कुदाल है। गरुड़जी! ज्ञान और वैराग्य—ये दो उनके नेत्र हैं। इन नेत्रोंसे जो प्राणी उसे प्रेमके साथ खोजता है, वह सब सुखोंकी खान इस भक्तिरूपी मणिको पा जाता है।'

भक्तिकी तुलना ज्ञानयोग और कर्मयोगके साथ करनेपर पता चलता है कि ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बहुत साधन, बहुत परिश्रम, बहुत दृढ़ता और बहुत अध्यवसायकी आवश्यकता है, किंतु भक्तियोग इतना सुकर है कि भगवान् राघवेन्द्रमें एक बार भी दृढ़ विश्वास कर लेनेपर या उनको प्रेमपूर्वक एक बार भी प्रणाम करनेसे वह प्राप्त हो जाता है। दृष्टान्तस्वरूप देखा जाय—शबरी (भीलनी), निषादराज या गीध जटायुने कब कौन-सा ज्ञान प्राप्त किया था या कौन-से धर्मकार्य उन सबने किये थे, जिनके कारण उनको भक्ति प्राप्त हुई? बात वास्तवमें यह है कि भगवान्‌का बाना इस विषयमें विचित्र है। वे सुग्रीवसे कहते हैं—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

'हे मित्र! तुमने नीति तो अच्छी विचारी, परंतु मेरा प्रण तो है शरणागतके भयको हर लेना! जिसे

करोड़ों ब्राह्मणोंकी हत्या लगी हो, शरणमें आनेपर मैं उसे भी नहीं त्यागता। जीव ज्यों ही मेरे सम्मुख होता है, त्यों ही उसके करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं।'

इस सम्बन्धमें भरतलालजी श्रीराघवेन्द्रसे कहते हैं—

रउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥

'हे नाथ! आपकी रीति और सुन्दर स्वभावकी बड़ाई जगत्‌में प्रसिद्ध है और वेद-शास्त्रोंने गायी है। जो क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुबुद्धि, कलङ्की, नीच, शीलहीन, निरीश्वरवादी (नास्तिक) और निःशङ्क (निडर) हैं, उन्हें भी आपने शरणमें सम्मुख आया सुनकर एक बार प्रणाम करनेपर ही अपना लिया। उन (शरणागतों) के दोषोंको देखकर भी आपने कभी मनमें नहीं रखा और उनके गुणोंको सुनकर साधुओंके समाजमें उनका बखान किया।'

दृष्टान्तस्वरूपमें सुग्रीव और विभीषणको लिया जाय। सुग्रीव और विभीषण आर्तभक्त थे। सुग्रीवको राघवेन्द्रने कहा—

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदयँ धरेहु मम काजू॥

'तुम अङ्गदसहित राज्य करो। मेरे कामका हृदयमें सदा ध्यान रखना।'

श्रीराघवेन्द्रने सुग्रीवसे कामको ध्यानमें रखनेको कहा, इसका कारण यह था कि बालीके मरनेके पहले सुग्रीवने राघवेन्द्रसे कहा था—

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

'हे रघुवीर! सुनिये! सोच छोड़ दीजिये और मनमें धीरज लाइये। मैं सब प्रकारसे आपकी सेवा करूँगा, जिस उपायसे जानकीजी आकर आपको मिलें।'

राज्य पानेपर सुग्रीवने क्या किया, यह भी प्रत्यक्ष है—

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा। राम काजु सुग्रीवँ बिसारा॥

'यहाँ (किष्किन्धानगरीमें) पवनकुमार श्रीहनुमान्‌जीने विचार किया कि सुग्रीवने रामकार्यको भुला दिया।'

उस ओर राघवेन्द्र क्या कहते हैं—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥

'सुग्रीव भी राज्य, खजाना, नगर और स्त्री पा गया है और उसने मेरी सुध भुला दी है।'

सेवक सुग्रीव प्रभुके बलसे पाये हुए राज्यका सुख भोग रहा है और प्रभु स्वयं एक पहाड़पर वर्षाके [illegible] दिनोंको बिता रहे हैं, हृदयमें सीता-जैसी पतिव्रता स्त्रीके वियोगका दुःख है—पता नहीं, सीता कहाँ और किस अवस्थामें है। राघवेन्द्र लखनलालजीसे कहते हैं—

बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महुँ आनौं॥
कतहुँ रहउ जौं जीवति होई। तात जतन करि आनउँ सोई॥

'वर्षा बीत गयी, निर्मल शरद्-ऋतु आ गयी; परंतु तात! सीताका कोई समाचार नहीं मिला। एक बार किसी प्रकार भी पता पा जाऊँ तो कालको भी जीतकर पलभरमें जानकीको ले आऊँ। कहीं भी रहे, यदि जीती होगी तो हे तात! यत्न करके मैं उसे अवश्य लाऊँगा।'

इस प्रकार प्रभुको चिन्ता और विषादसे युक्त देखकर जब लखनलालजी क्रोधित हो उठे, तब राघवेन्द्रने लखनलालजीसे कहा—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥

"तब दयाकी सीमा श्रीरघुनाथजीने छोटे भाई लक्ष्मणको समझाया कि हे तात! सुग्रीव सखा हैं, केवल भय दिखलाकर ले आओ (उनका और किसी प्रकारसे अनिष्ट न हो)।"

यह कृपालुताकी पराकाष्ठा है। सुग्रीवको बुलानेकी भी आवश्यकता केवल इसीलिये है कि राघवेन्द्र उनसे उनकी प्रतिज्ञाके अनुसार काम कराना चाहते हैं, ताकि भक्तके वचन भी मिथ्या न हो जायँ तथा उसकी भक्ति और ख्याति बनी रहे।

फिर विभीषणकी ही बात देखी जाय। श्रीराघवेन्द्रने प्रतिज्ञा की थी—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

'श्रीरामजीने भुजा उठाकर (मुनियोंके सामने) प्रण किया कि मैं पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित कर दूँगा। फिर समस्त मुनियोंके आश्रमोंमें जा-जाकर उनको सुख दिया।'

फिर राघवेन्द्रने दूसरी प्रतिज्ञा जटायुके सामने की थी—

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

'हे तात! सीता-हरणकी बात आप जाकर पिताजीसे न कहियेगा। यदि मैं राम हूँ तो दशमुख रावण स्वयं ही कुटुम्बसहित वहाँ आकर कहेगा।'

ऐसे-ऐसे अधम निशाचर भी जब विभीषणने आकर और अपना परिचय देकर भगवान् श्रीरामको प्रणाम किया, तब एक बारके दण्डवत् (सकृत् प्रणाम) से ही राघवेन्द्र अधीन हो गये और उसे—

भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा।

इससे यह सिद्ध है कि जिस प्रकार हजारों वर्षोंके अन्धकारमय स्थानमें भी प्रकाश पहुँचनेपर वह स्थान तुरंत प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार नीच-से-नीच जीव भी जब भगवान् श्रीरामकी शरणमें जाता है, तब वे उसे अपना लेते हैं और उसके किसी भी गुण-दोषका विचार नहीं करते। अतः भक्ति-मार्ग अत्यन्त ही सुगम और सरल है।

मुख्य विशेषता तो यह है कि एक बार प्रभुके दरबारमें जाकर प्रणाम कर लेनेसे ही फिर उस जीवपर प्रभु कभी नाराज नहीं होते। पूज्यपाद गोस्वामीजीका अनुभव है—

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥

'जिनको भक्तोंपर बड़ी ममता और कृपा है—यहाँतक कि जिन्होंने एक बार जिसपर कृपा कर दी, उसपर फिर कभी क्रोध नहीं किया।'

भक्ति सुलभ है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि इसके लिये किसी भी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है। जैसे कोई मूर्ख और अज्ञानी जीव भी कल्पवृक्षके तले आकर कोई कामना करे तो उसकी वह कामना पूर्ण होगी ही, उसी प्रकार केवल भक्तिकी चाहसे राम-नामकी शरण पकड़नेपर उसे भक्ति मिल जाती है और वह जीव सुखी हो जाता है। गोस्वामीजीने अपनी विनय-पत्रिकामें कहा है—

मोको भयो रामनाम सुरतरु सो रामप्रसाद कृपालु कृपा के।
तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के॥

'मेरे लिये तो एक राम-नाम ही कल्पवृक्ष हो गया है और वह कृपालु श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे हुआ है। अब तुलसी इस अनुग्रहके कारण ऐसा सुखी और निश्चिन्त है, जैसे कोई बालक अपने माता-पिताके राज्यमें होता है।'

भगवान् श्रीराम स्वयं नारदजीसे कहने लगे—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

'हे मुने! सुनो, मैं तुम्हें बल देकर कह रहा हूँ कि जो समस्त आशा-भरोसा छोड़कर केवल मुझको ही भजते हैं, मैं सदा उनकी वैसे ही रखवाली करता हूँ, जैसे माता बालककी रक्षा करती है।'

इन सभी प्रसङ्गोंसे यह प्रमाणित होता है कि भक्तोंकी लाज और योग-क्षेमकी रक्षा स्वयं भगवान् निरन्तर अतन्द्रित भावसे किया करते हैं और इसकी प्राप्तिके लिये आवश्यकता इस परम सुलभ उपायकी है कि एक बार भी उनकी शरणमें जाकर जीव कह दे—'प्रभो! मेरी रक्षा कीजिये।'

भक्तियोगकी सुगमता इस बातसे भी प्रत्यक्ष होती है कि इसके लिये कोई कठिन इन्द्रिय-निग्रह या तपस्याकी आवश्यकता नहीं होती। केवल कर्मको भगवत्-प्रेममें डुबा देना है। किसी भी कर्ममें इन्द्रिय-निरोध करनेकी कठोर आवश्यकता नहीं है; आवश्यकता केवल यह है कि समस्त इन्द्रियार्थोंमें भगवान्‌का रूप मिला दे और कार्य भगवन्निमित्तक हो।

प्रवृत्तिवाले कार्योंकी भी आवश्यकता इसमें नहीं है। बल्कि भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥

'भाई! यह मेरी भक्तिका मार्ग सुलभ और सुखदायक है, पुराणों और वेदोंने इसे गाया है। न किसीसे वैर करे न लड़ाई, झगड़ा करे, न आशा रखे न भय ही करे। उसके लिये सभी दिशाएँ सदा सुखमयी हैं, जो कोई भी आरम्भ (आसक्तिपूर्वक कर्म) नहीं करता, जिसका कोई अपना घर नहीं है (यानी जिसकी घरमें ममता नहीं है), जो मानहीन, पापहीन और क्रोधहीन है और जो भक्ति करनेमें निपुण और विज्ञानवान् है, संतजनोंके संसर्ग (सत्सङ्ग) से जिसे सदा प्रेम है, जिसके मनमें सभी विषय—यहाँतक कि स्वर्ग और मुक्तितक (भक्तिके सामने) तृणके समान हैं।'

असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥

'ऐसी सुगम और परम सुख देनेवाली हरि-भक्ति जिसे न सुहावे, ऐसा मूढ़ कौन है?'

अतः गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि भगवद्भक्ति गुणमें तो परम तेजस्वी सूर्यके सदृश है, किंतु इसकी प्राप्ति परम सुलभ उपायसे होती है। प्राप्तिके लिये जीवको केवल पूर्ण विश्वासके साथ भगवान्‌की शरणमें जाकर अपनेको भगवान्‌के चरण-कमलोंमें समर्पण कर देना है।

भगवान्‌की शरणमें जानेपर और भगवत्-भक्ति प्राप्त हो जानेपर जीवकी क्या दशा होती है और उसको किस-किस कामके उत्तरदायित्वसे छुटकारा मिल जाता है, इस विषयमें श्रीराघवेन्द्र स्वयं ही श्रीलक्ष्मणजीसे कहते हैं—

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि ।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि ॥

× × × ×

सुखी मीन जे नीर अगाधा । जिमि हरि सरन न एकउ बाधा ॥

'(शरद्-ऋतु देखकर) राजा, तपस्वी, व्यापारी और भिखारी हर्षित होकर नगर छोड़कर उसी प्रकार चले, जैसे भगवान्‌की भक्ति पाकर चारों आश्रमवाले श्रमको त्याग देते हैं ।'

× × × ×

'जो मछलियाँ अथाह जलमें निवास करती हैं, वे उसी प्रकार सुखी रहती हैं जैसे भगवान्‌की शरणमें चले जानेपर मनुष्यको एक भी बाधा नहीं सताती ।'

भक्तिके लक्षण

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी 'वाचस्पति')

भक्ति आर्य-जातिका सर्वस्व है । प्रत्येक मनुष्य इसीके आधारपर अपने कल्याणकी इच्छा करता है और इसीसे कल्याण होनेका दृढ़ विश्वास रखता है । उस भक्तिका क्या लक्षण है—यह विचार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है; क्योंकि हमारे शास्त्र ऐसा मानते हैं कि लक्षण और प्रमाणसे ही किसी वस्तुकी सिद्धि हुआ करती है । जिसका कोई लक्षण नहीं, वह वस्तु ही सिद्ध नहीं । इसलिये शास्त्रकार सभी वस्तुओंका लक्षण बताया करते हैं । तदनुसार भक्तिका भी कोई लक्षण होना आवश्यक है । लक्षण प्रायः वाचक शब्दकी निरुक्तिसे ही बताये जाते हैं । अतः 'भक्ति' शब्दार्थके क्रमिक विकासका विचार भी यहाँ आवश्यक है ।

'भक्ति' और 'भाग' दोनों शब्द एक ही धातुसे सिद्ध होते हैं । यद्यपि दोनों शब्दोंमें प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं, तथापि उन दोनों प्रत्ययोंका अर्थ भी व्याकरणमें एक ही माना गया है । इससे सिद्ध होता है कि 'भक्ति' और 'भाग' शब्द समानार्थक हैं । 'भाग' शब्द लोकव्यवहारमें अवयव अर्थमें भी प्रसिद्ध है, और किसी समुदायका एक अवयव जो नियत रूपसे किसीके अधिकारमें दे दिया जाय, उसे भी भाग कहते हैं—जैसे यह वस्तु देवदत्तका भाग है, यह चैत्रका या यज्ञदत्तका इत्यादि । वैदिक वाङ्मयमें 'भक्ति' शब्दका प्रयोग भी इसी अर्थमें प्रायः मिलता है । ऋग्वेदसंहिता ८ । २७ । ११में 'भक्तये' यह चतुर्थी विभक्तिका रूप आया है । उसका अर्थ भाष्यकारोंने 'सम्भजनाय'='लाभाय' अर्थात् 'विभाग' के लिये अथवा 'विभाग-जनित' लाभके लिये—यही किया है । ब्राह्मणोंमें भी ऐतरेय ब्राह्मणकी तृतीय पञ्चिकाके २०वें खण्डमें और सप्तम पञ्चिकाके चतुर्थ खण्डमें एवं दैवत-ब्राह्मणके तृतीय अध्यायकी १२ वीं कण्डिकामें 'भक्ति' शब्द मिला है । वहाँ सब जगह भाष्यकारोंने उस शब्दका 'भाग' ही अर्थ किया है । वेदमन्त्रोंके अर्थका परिचायक निरुक्त ग्रन्थ है । वह भी वेदाङ्ग होनेके कारण वैदिक वाङ्मयमें ही गिना जाता है । उसमें भी 'भक्ति' शब्दका व्यवहार हुआ है—

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ।

अर्थात् तीनों लोकोंके तीन ही मुख्य देवता हैं—अग्नि, वायु और सूर्य, यह पहले कह चुके हैं । अब उनकी भक्ति और साहचर्यकी व्याख्या करते हैं । यहाँ भी भक्तिका अर्थ भाग ही है, जैसा कि व्याख्यान करते हुए निरुक्तकारने आगे लिखा है—

अथैतानि अग्निभक्तीनि, अयं लोकः, प्रातःसवनम्, वसन्तः, गायत्री इत्यादि ।

अर्थात् यह पृथ्वीलोक, यज्ञका प्रातःसवन, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द—ये सब अग्निकी भक्ति हैं अर्थात् अग्नि देवताके भागमें आये हुए हैं । अस्तु, यह सिद्ध हो गया कि वैदिक वाङ्मयमें 'भक्ति' शब्द उस अर्थमें नहीं मिलता, जिस अर्थमें आजकल प्रसिद्ध है, किंतु 'भाग' अर्थमें ही मिलता है । पूर्वोक्त निरुक्त-वचनका यह तात्पर्य हो सकता है कि पृथिवीलोक, गायत्री छन्द आदि अग्नि देवताके अवयव हैं; क्योंकि निरुक्तकार ऐसा ही मानते हैं कि लोक, छन्द आदि सब देवताके स्वरूप ही होते हैं । इसलिये उन्हें अवयव भी कह सकते हैं । और अग्नि देवताके भागमें ये सब हैं—इस प्रकार 'अधिकार' अर्थ भी कर सकते हैं । अस्तु,

वैदिक वाङ्मयमें केवल श्वेताश्वतर उपनिषद्में वर्तमान प्रचलित अर्थमें 'भक्ति' शब्द आया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(६।२३)

'जिस पुरुषकी देवमें परम भक्ति हो और देवके समान ही गुरुमें भी भक्ति हो, उस पुरुषके हृदयमें इन उपनिषद्के कहे हुए अर्थोंका प्रकाश हो सकता है।'

यहाँ 'भक्ति' शब्दका श्रद्धा या प्रेम ही अर्थ है। किंतु यह मन्त्र उपनिषद्के अन्तमें अधिकार और फलश्रुतिके साथ पढ़ा गया है; इसलिये बहुतोंको संदेह है कि यह उपनिषद्का अङ्ग है या नहीं। सम्भव है अधिकारका निरूपण पीछे ही जोड़ा गया हो। और यहाँ भक्तिको ज्ञानका अङ्ग माना गया है, इसलिये शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रके स्वप्नेश्वर-भाष्यमें भी यह निर्णय किया गया है कि यहाँ 'देव' शब्दका अर्थ ईश्वर नहीं, किंतु ज्ञान देनेवाले देवता ही यहाँ 'देव' शब्दका अर्थ है और उनपर तथा अपने गुरुपर श्रद्धा ही यहाँ 'भक्ति' शब्दका अर्थ है। अस्तु,

पूर्वोक्त वैदिक वाङ्मयके अनुसार ही यदि शब्दका अर्थ लिया जाय तो 'ईश्वरकी भक्ति करो' इस वाक्यका अर्थ होगा कि 'ईश्वरके भाग बनो'। तब प्रश्न होगा कि ईश्वरके भाग तो सब जीव हैं ही; फिर बनें कैसा ? यह सभी ईश्वरवादियोंका अनुभव है कि हम ईश्वरके अधिकारमें हैं—जैसे ईश्वर चलाता है, वैसे ही चलते हैं और 'भाग' शब्दका 'अवयव' अर्थ लिया जाय, तो यह भी ठीक है कि सब ईश्वरके अवयव हैं; क्योंकि जीवमात्रको ईश्वरका अंश श्रुति-स्मृति और ब्रह्मसूत्रोंने कहा है। ब्रह्मसूत्रोंमें सबके अवयव होनेकी उपपत्ति तीन प्रकारसे बतायी गयी है। अग्नि-विस्फुलिङ्गके समान अंशांशिभाववादसे, प्रतिबिम्बवादसे या अवच्छेदवादसे। अंशांशिभाववादका आशय यह है कि यद्यपि लोकमें अंशसे अंशी या अवयवसे अवयवी बनता है, जैसे तन्तुओंसे पट या वृक्षोंसे वन बना करता है; किंतु यहाँ वैसी बात नहीं। यहाँ अंशोंसे अंशी नहीं बनता, किंतु अंशीसे अंश निकलते हैं। जैसे प्रज्वलित अग्निमेंसे छोटे-छोटे कण निकलकर बाहर अपना पृथक्-पृथक् आयतन बना लेते हैं और इन्धन पाकर अलग-अलग प्रज्वलित हो जाते हैं, वैसे ही ईश्वरमेंसे जीव पृथक्-पृथक् प्रकट होकर अपना-अपना शरीररूप आयतन बनाकर उसके स्वामी बन जाते हैं। अग्नि एक सावयव परिच्छिन्न पदार्थ है, इसलिये वहाँ यह शङ्का हो सकती है कि अग्निमेंसे बहुत-से कण या विस्फुलिङ्ग बराबर निकलते रहनेपर अग्नि न्यून हो जायगी या समाप्त ही हो जायगी। किंतु ईश्वर निरवयव और विभु है, इसलिये वहाँ घट जानेकी या समाप्त हो जानेकी कोई आशङ्का नहीं। अनन्तमेंसे अनन्त निकाल लेनेपर भी अनन्त ही बना रहता है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

दूसरा—प्रतिबिम्बवाद यह बताया गया है—जैसे एक ही सूर्यके हजारों जलाशयोंमें हजारों प्रतिबिम्ब बनते और चमकते हैं तथा अपनी किरणें थोड़े प्रदेशमें फेंकते हैं, उसी प्रकार एक ईश्वरके भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें प्रतिबिम्बित अनन्त जीव हैं। उनमें भी चमकरूप थोड़ा-थोड़ा ज्ञान है और उस ज्ञानका अल्प प्रसार भी है। प्रतिबिम्बोंके न रहने या नष्ट हो जानेपर भी बिम्बका कुछ नहीं बिगड़ता; जलमें कम्पन होनेपर प्रतिबिम्ब ही कम्पित होता है, किंतु बिम्बका उस कम्पनसे कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार जीवके सुख-दुःखादिका या इसके जन्म-मरण आदिका ईश्वरसे कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रतिबिम्बमें कोई नयी सजावट करनी हो तो सीधी सजावट प्रतिबिम्बमें नहीं की जा सकेगी; बिम्बको सजा दो, प्रतिबिम्ब भी अपने-आप सज जायगा; उदाहरणके लिये हमारे मुखका प्रतिबिम्ब अनेक दर्पणोंमें पड़ता है—उन प्रतिबिम्बोंमें यदि हम तिलक लगाना चाहें तो सीधे प्रतिबिम्बोंमें नहीं लगा सकेंगे, किंतु बिम्बरूप मुखमें तिलक लगा देनेपर प्रतिबिम्बोंमें अपने-आप ही वह तिलक आ जायगा। इसी प्रकार ईश्वरको हम जो कुछ अर्पण करें, उसका प्रतिफल हमें अवश्य प्राप्त होगा। यह 'प्रतिबिम्बवाद' हुआ। तीसरे—'अवच्छेदवाद' का स्वरूप यह है कि जैसे अनन्त और अपरिच्छिन्न आकाश एक चहारदीवारीके घेरेमें ले लिये जानेसे एक घरके रूपमें महाकाशसे पृथक्-सा प्रतीत होने लगता है, पर वास्तवमें पृथक् नहीं है, चहारदीवारीको तोड़ते ही महाकाशका महाकाश ही रह जायगा, उसी प्रकार अन्तःकरणके घेरेमें बद्ध होकर परमात्मा ही जीवात्मस्वरूप बन जाता है और अन्तःकरणके परिच्छेदके हटनेपर तो वह पूर्ववत् ईश्वररूप है ही।

इन तीनों दृष्टान्तोंसे जीव-ईश्वरका अद्वैतभाव वेदान्तशास्त्रमें सिद्ध किया जाता है। किंतु यह स्मरण रहे कि दृष्टान्त केवल बुद्धिको समझानेके लिये होते हैं। दृष्टान्तके सभी धर्मोंको दार्ष्टान्तपर नहीं घटाया जा सकता। अस्तु, प्रकृतमें हमें इतना ही कहना है कि किसी भी प्रकारसे विचार करें,

जीव तो स्वतः ही ईश्वरके भाग हैं; फिर इन्हें भाग बनने या भक्ति करनेका उपदेश देनेका प्रयोजन क्या रहा। इसका उत्तर होगा कि ईश्वरके भाग होते हुए भी भाग होनेका ज्ञान इन्हें नहीं है। ये अपनेको स्वतन्त्र समझ रहे हैं, ईश्वरके भागरूपमें नहीं समझते। इसलिये 'भक्ति करो'—इस उपदेशका तात्पर्य यही होगा कि अपनेको ईश्वरका भाग—अपना उनके अधिकारमें होना या उनका अंश होना समझो। बस, समझते ही परमानन्दरूप होकर सब दुःखोंसे छुटकारा पा जाओगे। तब 'भक्ति' शब्दका अर्थ हुआ—भाग होनेका ज्ञान; यही जीवका कर्तव्य रहा। किंतु यह न समझनेका दोष अन्तःकरण अर्थात् मनका है। अन्तःकरणरूप उपाधिके घेरेमें आनेसे ही जीवभाव मिला है और इसीसे सब अनर्थ उत्पन्न हुए हैं। उस घेरेको हटानेकी आवश्यकता है; किंतु, वह हटे कैसे? एकताका ज्ञान हो तब अन्तःकरण विदा हो और अन्तःकरण विदा हो तब एकताका ज्ञान हो—यह एक अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ता है।

इसका समाधान शास्त्रकार यों करते हैं कि मनरूप उपाधि भी तो कहीं आकाशसे नहीं टूट पड़ी। वह भी ईश्वरकी शक्ति मायाका ही एक अंश है और ईश्वरकी शक्ति माया ईश्वरसे अभिन्न है। तभी तो अद्वैतवाद बनता है। इसलिये मनको यदि ईश्वरकी ओर लगाया जाय तो यह भी स्वयं अपने कारणमें लीन होकर निवृत्त हो जायगा और जीवका ईश्वरका भाग होना सिद्ध हो जायगा; किंतु मन चञ्चल है, वह एक जगह टिकता नहीं। सम्पूर्ण गीताका उपदेश सुनते हुए अर्जुनने कहीं भी अशक्यताका प्रश्न नहीं उठाया, किंतु मनको रोकनेकी बात आते ही वह बोल उठा—

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

(६।३४)

—अर्थात् मनका रोकना तो वायुके रोकनेके समान एक दुष्कर कर्म है। जब अर्जुन-जैसे परम अभ्यासीके लिये भी यह दुष्कर प्रतीत हुआ, तब साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है। बस, इस दुष्कर कर्मको साध्य बनानेके लिये ही सब शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न प्रकारके उपदेश चलते हैं। बड़े-बड़े अनुभवी आचार्योंका इस विषयमें यह मत है कि मनको बलात् नहीं रोका जा सकता, प्रेमके बन्धनमें बँधकर यह स्वयं रुक जाता है। इसलिये परमानन्दकन्द भगवान्‌के प्रेमका आस्वाद यदि मनको दिया जाय तो यह रुक जायगा; रुककर वहीं लीन हो जानेपर भगवान्‌का भाग होना अर्थात् भगवद्भक्ति जीवकी सिद्ध हो जायगी। इस प्रकार भागरूप अर्थका बतानेवाला 'भक्ति' शब्द भाग बननेके कारणरूप प्रेममें चला गया और 'भक्ति' शब्दका अर्थ भगवान्‌का प्रेम ही हो गया। उस प्रेमको प्राप्त करनेके लिये उसके साधन श्रवण, कीर्तन आदिकी आवश्यकता है—इसलिये प्रेमके साधनोंमें भी 'भक्ति' शब्द चला गया और यों भक्ति दो प्रकारकी हो गयी—साधन-भक्ति और फलरूपा भक्ति।

प्रेम और प्रेमके साधन—श्रवणादि अर्थोंमें 'भक्ति' शब्दके दर्शन हमें प्रधानरूपसे सर्वप्रथम श्रीभगवद्गीतामें ही होते हैं। यहाँ भगवान्‌ने 'भक्ति' शब्दका खूब प्रयोग किया है और इसके फल, उपाय आदि सब विस्तारसे बताये हैं। इसी अर्थको लेकर इस शास्त्रके आचार्योंने भक्तिका लक्षण बनाया और पुराणादिद्वारा इस अर्थके अत्यन्त प्रसिद्ध हो जानेके कारण ही व्याकरणके आचार्य भगवान् पाणिनिने 'भज सेवायाम्' पढ़कर 'भज' धातुका अर्थ सेवा ही स्थिर कर दिया। उस सेवासे प्राप्त होनेवाला प्रेम भी भक्ति शब्दका अर्थ प्रधानरूपसे बना रहा।

भक्तिके निरूपण करनेवाले दो सूत्र प्रसिद्ध हैं—एक शाण्डिल्यका और दूसरा नारदका। दोनोंमें भक्तिका एक ही लक्षण हुआ है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

अर्थात् ईश्वरमें परम अनुराग होना ही भक्ति है। भक्तिशास्त्रके परमाचार्य महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने उपाय और फलसहित उस लक्षणको और भी स्पष्ट कर दिया—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

अर्थात् भगवान्‌का माहात्म्य जानकर उनमें सबसे अधिक दृढ़ स्नेह होना ही भक्ति है और उसीसे मुक्ति होती है। मुक्तिका कोई और उपाय नहीं है। इस प्रकार इन्होंने ज्ञानको भी भक्तिका अङ्ग बनाया; क्योंकि बिना जाने प्रेम हो ही नहीं सकता। भगवान्‌का महत्त्व न समझेंगे तो प्रेम कैसे होगा। इसलिये भगवान्‌के महत्त्वका ज्ञान पहले होना आवश्यक है। भक्तिकी परम दृष्टान्तभूता व्रजगोपियोंको भी भगवान् श्रीकृष्णके महत्त्वका पूर्ण ज्ञान था। तभी तो गोपिकागीतमें उन्होंने स्पष्ट कहा है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

> छिन्नमर्यादिनो धर्मगुप्तये
> मन्न उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥
> (श्रीमद्भा० १०।३१।४)

अर्थात् 'आप केवल गोपीके पुत्र नहीं हैं, सभी प्राणियोंके अन्तःकरणमें आप द्रष्टा रूपसे विराजमान हैं। धर्मकी रक्षाके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर आपने यह अवतार धारण किया है।' इस प्रकार उन्हें पूर्ण ज्ञान होना स्पष्ट हो जाता है और इसीलिये वे भक्तोंमें शिरोमणि कही जाती हैं। नारदभगवान् अपने सूत्रोंमें उन्हींका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि वैसे ही परम अनुरागका नाम भक्ति है, जैसा गोपिकाओंका था।

आचार्य श्रीमधुसूदनसरस्वतीने भी भक्तिका विवरण करनेके लिये 'भक्ति-रसायन' ग्रन्थ लिखा है। उनके भक्ति-लक्षणकी भी छटा देखिये—

> द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
> सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

इनका आशय है कि हमारा चित्त एक कठिन वस्तु है। जैसे लाख आदि कठिन वस्तुको अग्निके तापसे पिघलाकर फिर उसे किसी साँचेमें ढाला जाता है, उसी प्रकार श्रवण, कीर्तन आदि उपायोंसे पहले चित्तको पिघलाना चाहिये। जब वह पिघल जायगा, तब उसकी तैलकी धाराके समान एक अविच्छिन्न वृत्ति बन जायगी। वह वृत्ति जब सर्वेश्वरकी ओर लगे, तब उसका नाम भक्ति होता है।

श्रीमधुसूदनाचार्यने लक्षणमें प्रेमका नाम नहीं लिया है। किंतु तैलकी धाराके समान अविच्छिन्न वृत्ति प्रेमके बिना हो नहीं सकती। इसलिये वैसी वृत्ति कहनेसे ही प्रेम समझ लिया जाता है और आगे विवरणमें जो उन्होंने भक्तिकी ग्यारह भूमिकाएँ बतायी हैं, उनमें प्रेमका विस्पष्ट विवरण आ जाता है। भक्तिमार्गके विद्यार्थीको ग्यारह श्रेणियाँ पार करनी पड़ती हैं। उनको ही ग्यारह भूमिकाएँ कहते हैं। भक्तिरसायनमें ग्यारह भूमिकाओंका वर्णन इस प्रकार है। पहली भूमिकामें अर्थात् पहली श्रेणीमें परम भक्त महान् पुरुषोंकी सेवा करनी होती है। उनका काम करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनकी चरण-वन्दनादि सेवा करना—यही पहली श्रेणीके भक्तिमार्गके विद्यार्थीका कर्तव्य है। दूसरी श्रेणीमें सेवा करते-करते वह उन महापुरुषोंका कृपापात्र बन जाता है—यह महापुरुषोंका कृपापात्र बन जाना ही दूसरी भूमिका है। ज्यों-ज्यों वह उन महापुरुषोंका कृपापात्र बनता है, वैसे-वैसे ही उनके धर्मोंमें अर्थात् जो-जो काम वे महापुरुष करते हैं, उनमें इस भक्तिमार्गके विद्यार्थीकी भी श्रद्धा होती जाती है—यह तीसरी भूमिका हुई। तब चौथी भूमिकामें भगवान्के गुणोंका श्रवण और अपने मुखसे उन गुणोंका कीर्तन भी बनने लगता है। नवधा भक्तिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन—ये छः अङ्ग इस चौथी भूमिकामें ही आ जाते हैं। तब पाँचवीं भूमिकामें भगवान्के प्रेमका अङ्कुर इस विद्यार्थीके हृदयमें उत्पन्न हो जाता है। प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो जानेपर यह भगवत्तत्त्वको जाननेका अधिकाधिक प्रयत्न करता है। और इसका वह भगवत्तत्त्व-ज्ञान बढ़ता जाता है। यह छठी भूमिका है। स्मरण रहे कि प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न होनेसे पूर्व भी श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा सामान्य ज्ञान हो चुका रहता है—यदि सामान्य ज्ञान भी न हुआ रहे तो प्रेमका अङ्कुर ही कैसे जमे। किंतु ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता है, वैसे-वैसे ही स्वरूप-ज्ञानकी उत्कण्ठा भी बढ़ती जाती है और उत्कण्ठाके अनुसार यत्न करनेपर भगवत्-स्वरूप-ज्ञान और साथ ही अपना स्वरूप-ज्ञान भी होता जाता है। दोनोंका स्वरूप-ज्ञान होते ही अपनेमें दासभाव प्रतीत होने लगता है। इससे नवधा भक्तिके सातवें अङ्ग दास्यकी भूमिकामें भक्त आ जाता है। अब जैसे-जैसे अधिक तत्त्वज्ञान होता जाता है, वैसे-ही-वैसे परमानन्द-रूप भगवान्में प्रेम भी बढ़ता जाता है। यही सातवीं भूमिका श्रीमधुसूदन सरस्वतीने बतायी है—प्रेमवृद्धिः परानन्दे। आठवीं भूमिकामें मनमें परमात्मतत्त्वका बार-बार स्फुरण होता है। अधिक प्रेम होनेपर स्फुरण होना स्वाभाविक ही है। इस स्फुरणसे पूर्ण आनन्द प्राप्तकर वह भक्त एकमात्र भगवद्धर्म-श्रवण-कीर्तनादिमें पूर्णासक्त हो जाता है, मानो उसीमें डूब जाता है। यह भगवद्धर्मोंकी निष्ठारूप नवम भूमिका बतायी गयी है। इसमें प्राप्त हो जानेवालोंकी दशा श्रीभागवतमें वर्णित है—

> क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
> द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
> नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
> भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥
> (११।३।३२)

अर्थात् ऐसे भक्त कभी भगवद्विरहका अनुभव करते हुए रोने लगते हैं, कभी उस आनन्दके प्रवाहमें हँसते हैं कभी प्रसन्न होते हैं, कभी अलौकिक भावमें स्थित होकर कुछ

बड़बड़ाने लगते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी-कभी भगवान्‌को खोजने लगते हैं और कभी परम शान्तिका अनुभव करके चुप हो रहते हैं। इसके अनन्तर दशम भूमिकामें भगवान्‌की सर्वज्ञता और आनन्दरूपता भक्तमें भी प्रकट होने लगती है। वह सब कुछ जान जाता है और सदा आनन्दमें निमग्न रहता है। यही नवधा भक्तिके वर्णनमें सख्यरूपा आठवीं भक्ति बतायी गयी है। सख्यका अर्थ है—'समान ख्याति'—अर्थात् जिसके साथ प्रेम है, उसीके समान अपनेको पाना। इसके आगे प्रेमकी पराकाष्ठारूप पराभक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके अनन्तर और कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता। यही भक्तिरसायनमें अन्तिम ग्यारहवीं भूमिका मानी गयी है और नवधा भक्तिके प्रसङ्गमें भी इसे 'आत्मनिवेदन' रूप अन्तिम स्थान दिया गया है। यह अन्तिम भूमिका व्रजगोपियोंको ही प्राप्त हुई थी—ऐसा आचार्योंका वर्णन है।

पाठक देखेंगे कि इन ग्यारह भूमिकाओंमें भक्ति और ज्ञानका परस्पर सहयोग चलता रहता है। ज्ञानसे भक्ति बढ़ती है और भक्तिसे ज्ञानका परिपोष होता जाता है। अन्तिम भूमिकामें दोनों एकरूप हो जाते हैं—उसे चाहे पराभक्ति कहिये या परज्ञान। जगत्‌की विस्मृति दोनोंमें समान है। पराभक्तिमें यही विशेषता मानी जाती है कि वहाँ प्रेमकी अधिकता और भगवत्तत्त्वका सतत स्फुरण होनेसे एक अलौकिक आनन्दका अनुभव होता है। श्रुति और स्मृतिमें ज्ञानको भी आनन्दरूप कहा है—इसलिये परज्ञानमें भी आनन्द है, किंतु उसका स्फुरण नहीं। पराभक्तिमें परमानन्दका स्फुरण भी होता है। इसीलिये परम भक्त या अनन्य भक्त आगे कुछ नहीं चाहते। मुक्तिकी भी उन्हें इच्छा नहीं होती। वे तो उसी परम प्रेमावस्थामें निमग्न रहना चाहते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वतीने इसी आधारपर दोनोंका अधिकार-भेद इस प्रकार बतलाया है कि जो अत्यन्त विरक्त हैं, जिनके अन्तःकरणमें राग या प्रेमका लेश भी नहीं, वे ज्ञानमार्गके अधिकारी हैं। बीज न होनेसे भक्ति उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। किंतु जिनके हृदयमें प्रेमका अंश है—वह चाहे सांसारिक स्त्री-पुत्रादिमें ही हो, उस स्थितिमें उसका प्रवाह बदलकर गुरुद्वारा ईश्वरकी ओर लगाया जा सकता है—वे ही भक्तिके अधिकारी होते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वती भक्तिको अन्तिम प्राप्य कहते हैं। वे मुक्ति-प्राप्तिको भक्तिका फल नहीं मानते। भक्ति स्वयं फलरूपा है। श्रीवल्लभाचार्यने जो भक्तिसे मुक्ति कही है, उसका भी अभिप्राय यही है कि यदि मुक्ति होनी होगी तो भक्तिसे ही हो सकती है, और किसी मार्गसे नहीं। किंतु भक्तको मुक्तिकी इच्छा ही न हो, तब मुक्तिको फल कैसे कहा जाय। शाण्डिल्यसूत्रमें भी भक्तिके द्वारा मुक्ति बतायी गयी है। आगमशास्त्रमें तो भक्तोंकी मुक्ति दूसरे ही प्रकारकी कही गयी है। ज्ञानी पुरुषोंकी मुक्ति अन्तःकरणका अत्यन्त विलय होनेके बाद आत्माकी केवल रूपमें स्थितिका नाम है। किंतु भक्तोंकी मुक्ति इष्टदेवताकी नित्यलीलामें प्रवेश होना है—इसीको श्रीवल्लभाचार्य भी परममुक्ति कहते हैं। सम्भवतः भक्ति-निरूपक शास्त्रोंको यही मुक्ति अभिप्रेत है। विलयरूपा मुक्तिको भक्तिका प्राप्य नहीं कहा जा सकता। इसीसे दोनों मतोंकी एकवाक्यता हो जाती है। विलयरूप मुक्तिको भक्त नहीं चाहते और नित्यलीला-प्रवेशरूपा मुक्ति भक्तिका फल है।

श्रीमधुसूदनसरस्वतीने भक्तिरसायनमें एक विशेषता और बतायी है। वह यह है कि भक्ति केवल प्रेमरूपा भी होती है और नौ रसोंमेंसे किसी एक रससे या अनेक रसोंसे संवलित भी हो सकती है। साधनदशामें ही अवर भूमिकाओंमें यह भेद होता है, पर-दशामें तो वह रस भी भक्तिमें विलीन होकर एकरूप ही बन जाता है। यह भक्ति-लक्षणोंका संक्षेपतः समन्वय प्रदर्शन किया गया। भगवत्कृपासे पुनः देशमें इस भक्तिके तत्त्वको समझनेवालोंकी वृद्धि हो, तभी भक्तप्रवर भगवान् पूर्णरूपसे सफल हो सकता है।

भक्तिमें लगानेवाला ही यथार्थ आत्मीय है

ऋषभजी कहते हैं—

> गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
> दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ५।५।१८)

'जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।'

भक्ति धर्मका सार है

(लेखक—श्रीखगेन्द्रनाथजी मित्र, एम्० ए०)

भक्ति अथवा ईश्वरके प्रति प्रेम किसी धर्म-विशेषकी सम्पत्ति नहीं है और न यह कोई पंथ या साम्प्रदायिक भावना ही है। यह तो प्रत्येक विवेकशील धर्मकी अन्तर्वाहिनी धारा है। वास्तवमें कदाचित् ही कोई ऐसा धर्म हो, जो स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे ईश-प्रेमका आदेश न दे। यहूदी-धर्ममें जबतक बलिदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था, जबतक उस धर्मके 'पैग़म्बर' ने स्वतः यह घोषणा नहीं कर दी कि ईश्वर हिंसात्मक बलि नहीं चाहता, अपितु वह शुद्ध हृदयकी भक्तिका ही समादर करता है। तदनन्तर ईसामसीह आये और उन्होंने ईश्वरीय प्रेमका उद्घोष और प्रचार किया। हिंदूधर्ममें एक प्राचीन श्रुतिने ईश्वरके सम्बन्धमें कहा है—

प्रियो वित्तात्, प्रियः पुत्रात्, प्रियोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्।

अर्थात् ईश्वर धन, पुत्र एवं अन्य सभी पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय है। शाण्डिल्य और नारदने मानव और ईश्वरके सम्बन्धको मूलतः प्रेमका बन्धन ही कहा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

अर्थात् परिच्छिन्न जीवका अपरिच्छिन्न ईश्वरमें परम अनुराग भक्ति कहलाता है। एवं—

सा कस्मै परमप्रेमरूपा।

अर्थात् किसीके प्रति सर्वोच्च और विशुद्धतम प्रेमको भक्ति कहते हैं।

सर्वप्रथम गीताने—बारहवें अध्यायमें एवं अन्यत्र भी—भक्त बननेके लिये अपेक्षित गुणोंकी तालिका दी है। साधारणतया हम यह समझते हैं कि भावके द्वारा ईश्वरका सामीप्य सुलभ है; श्रीमद्भगवद्गीताने भक्तिका जो मानदण्ड रखा है, उसने इस विषयमें हमारी आँखें खोलकर हमें यह स्पष्ट बताया है कि इस भाव-साधनके लिये क्या-क्या आवश्यक है। गीता स्पष्ट शब्दोंमें हमें बताती है कि भक्तके लिये सर्वप्रथम वासना-जय परम आवश्यक है। तत्पश्चात् भक्तका जीवन योग अथवा यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंके अनुष्ठान, अभावग्रस्तोंको दान, समस्त स्वार्थोंका परित्याग, शान्ति और अहिंसा—इन साधनोंमें बीतता है। लाभ, लोभ और शक्ति-संचयकी भावनासे ऊपर उठ जाना भक्तके लिये अनिवार्य है। उसकी अपनी सम्पत्तिके प्रति भी ममता नहीं होनी चाहिये। अहंकार एवं अभिमानको भी त्यागकर उसे एकमात्र ईश्वरके चिन्तनमें दत्तचित्त हो जाना चाहिये। उसका शत्रु और मित्र दोनोंमें समभाव होना चाहिये तथा अपनी निन्दा और स्तुतिकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। सारांश, उसे अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं, विचारों और भावनाओंको श्रीकृष्णमें ही केन्द्रित कर देना चाहिये। गीताका वचन है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९।२७)

'हे अर्जुन! तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, हवन करते हो, दान देते हो और तपस्या करते हो, उन सबको मुझे समर्पण कर दो।'

दक्षिण-भारतमें आळवार संतोंने प्रेमके सिद्धान्तका प्रचार किया था। इन आळवारोंमें अधिकांश ब्राह्मणेतर थे और इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध थे—शठकोप स्वामी अथवा नम्माळवार, जिन्होंने भगवान् विष्णुके प्रति उस उच्चतर प्रेमका उपदेश दिया, जिसमें भक्त अपनी भी सुध भूल जाता है; और इसी प्रेमको उन्होंने भक्त-जीवनकी सबसे बड़ी कसौटी मानी है।

आळवार संतोंके दाक्षिणात्य अनुयायियोंने वेदोंको अथवा संस्कृतभाषामें लिखित किसी भी अन्य ग्रन्थको प्रमाण न मानकर केवल उक्त संतोंके परम्परागत वाङ्मयको ही धर्म-ग्रन्थके रूपमें स्वीकार किया। नाथमुनिने आळवार संतोंकी वाणियोंका संकलन करके शृङ्खलाबद्ध किया। आचार्य रामानुजके गुरु श्रीयामुनाचार्य कोलाहल नामके राज-कविको परास्त करनेपर आळवन्दार (अर्थात् विजेता) के नामसे प्रसिद्ध हुए। अपनी विजयके उपलक्ष्यमें यामुनाचार्यने आलवन्दार-स्तोत्र रचा, जिसके पद्य भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हैं। श्रीरामानुजने ग्यारहवीं शताब्दीमें प्रेममय श्रीभगवान्की उपासनाका प्रचार किया।

सोलहवीं शताब्दीमें श्रीचैतन्यने प्रेमके सिद्धान्तका प्रेमा-भक्तिके नामसे प्रचार किया। उन्होंने और उनके अनुयायी रूप, सनातन तथा जीव गोस्वामियोंने भक्तिके सिद्धान्तका बड़ा ही सूक्ष्म और मार्मिक विश्लेषण किया और वे इस निश्चयपर पहुँचे कि गोपियोंके भावका अनुसरण करनेवाला श्रीकृष्ण-प्रेम ही मानवके धार्मिक जीवनका परम साध्य है। उन्होंने भक्तिकी यह परिभाषा स्वीकार की—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

'श्रीकृष्णके अनुकूल रहकर उनकी आराधना करना ही भक्ति है । इसमें कोई अन्य कामना नहीं होती और यह ज्ञान तथा कर्मसे सर्वथा निरपेक्ष होती है ।'

अपरिच्छिन्न ईश्वरके परिच्छिन्न जीवके साथ सम्बन्धका विश्लेषण करनेवाला ज्ञान हृदयमें विशुद्ध भक्तिका सञ्चार नहीं होने देता; क्योंकि यह विवेचन वास्तवमें अत्यन्त कठिन है और साधकको एक निर्गम-हीन प्रतोलीमें ले जाकर छोड़ देता है । इसी प्रकार यज्ञ-यागादि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान भी भक्तको ईश्वरके ध्यानमें मग्न नहीं होने देता, जो भक्तिके लिये अपेक्षित है । ज्ञानके नितान्त आश्रयसे नीरस तत्त्वज्ञान हाथ लगता है; शांकर-सिद्धान्त इसका निदर्शन है । और केवल कर्मकाण्डमें लगे रहनेसे भी मनुष्यका जीवन यन्त्रोपम—कठोर बन जाता है । भक्तिका मार्ग इन दोनोंके बीचमें चलता है । उसमें ज्ञान अनावश्यक नहीं है और न दैनिक कर्मकाण्ड ही व्यर्थ है । अपितु ये दोनों ही अपने-अपने ढंगसे लाभप्रद हैं और भवाटवीमें भटकती हुई आत्माओंको भक्तिमार्गमें प्रवृत्त करानेमें सहायक बनते हैं ।

श्रीचैतन्यका जन्म १५वीं शताब्दीके अन्तमें नवद्वीपमें हुआ था । वे मार्टिन लूथरके समकालीन थे । उन्होंने अपने जीवनमें वृन्दावनकी गोपियोंकी आनन्दमयी भाव-विह्वलताकी अनुभूति की थी । उन्हें स्वयं श्रीराधाकी गम्भीर विरह-वेदनाकी भी पूर्ण अनुभूति हुआ करती थी और उस अवस्थामें उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुधारा प्रवाहित होती, शरीरपर रोमाञ्च हो आता और वे बाह्य-ज्ञान शून्य हो जाते थे । इस प्रकारकी अनुभूतियाँ ईसाई संतों और मुसलमान सूफियोंको भी हुई हैं ।

श्रीचैतन्यके मतकी विलक्षणता यह है कि उन्होंने भगवान्‌के प्रति रागमयी भक्तिपर अधिक बल दिया है, जिस प्रकारकी रागमयी आसक्ति किसी प्रेमिकाकी अपने प्रेमीके प्रति होती है—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥

(पञ्चदशी ९ । ८४)

अर्थात् जिस प्रकार कोई पर-पुरुषानुरक्ता स्त्री गृह-कार्योंमें व्यस्त रहती हुई भी अपने हृदयमें उस अवैध प्रेम-की आनन्दानुभूति करती रहती है, ठीक उसी प्रकार भक्त भी अपने लौकिक कर्तव्योंमें संलग्न होनेपर भी प्रियतम प्रभुके रसमय ध्यानमें मग्न रहता है । वैष्णव धर्मके जिस स्वरूपका श्रीचैतन्यने बंगालमें प्रचार किया, उसमें भगवन्नाम और भगवत्-प्रेमके तत्त्वोंपर ही अधिक महत्त्व दिया गया है ।

यही भक्तिका सिद्धान्त अथवा प्रेमका तत्त्व है । भगवान्‌के नामका निरन्तर जप करनेसे भगवान्‌के प्रति आसक्ति (रति) उत्पन्न होती है और तदनन्तर प्रेमकी । प्रेम ही धार्मिक जीवनका आनन्दमय चरम लक्ष्य है ।

भक्तिसे रहित ज्ञान और कर्म अशोभन हैं

नारदजी कहते हैं—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥

(श्रीमद्भा० १ । ५ । १२)

'यह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती । फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही अमङ्गलरूप है, वह काम्य-कर्म, और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है—ऐसा अहैतुक (निष्काम) कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है ।'

भक्तिका फल

(लेखक—श्रीकृष्णमुनिजी 'शार्ङ्गधर' महानुभाव)

अपनी आन्तरिक श्रद्धा, प्रेम तथा हृदयके अनुरागसे मन, वाणी और शरीरद्वारा किसी अन्यको रिझानेका नाम भक्ति है। भक्तिका इष्ट अथवा लक्ष्य एक होता है। भक्त अपनी भावनाका स्थान एक बना लेता है, जहाँ उसकी श्रद्धा जम जाती है। इसे असाधारण भक्ति, विशेष भक्ति अथवा अनन्यभक्ति कहा जाता है। अनेक लक्ष्य स्थिर करना, कभी किसीको और कभी किसीको इष्ट बनाकर उनमें अपनी श्रद्धाको बाँट देना साधारण भक्ति अथवा सामान्य भक्ति कही जाती है। भक्तिका विधान भी एक ही है, अर्थात् अपने इष्टको प्रसन्न करने, रिझानेका मार्ग भी एक ही है। इसमें प्रथम अपने हृदयकी विशुद्ध भावनासे उस परमेश्वरके अवतारको अथवा दूसरे किसी इष्टदेवको अपने हृदय-मन्दिरमें बिठा लेना होता है, जिसपर हमारी पूर्ण श्रद्धा है, आन्तरिक प्रेम है। फिर एकाग्र मनसे इन्द्रियोंको विषय-वासनाओंके अनेक मार्गोंसे रोक लेना होता है, ताकि हमारा मन इन्द्रियोंके साथ-साथ उन-उन रास्तोंसे बाहर निकलकर उन-उन विषय-भोगोंकी लालसामें न फँस जाय। किंतु यह बात सरल नहीं। इसके लिये सतत, नित्य अभ्यास करना चाहिये। तब मनकी एकाग्रता होती है। अतएव भक्तको एकान्तकी आवश्यकता पड़ती है, जहाँ किसी प्रकारका शब्द न सुनायी दे, रूप-रंग न दीख पड़े, सुगन्ध और दुर्गन्धका भान न हो, खट्टे-मीठे-चटपटे आदि अनेक रसवाले पदार्थोंका संयोग न हो अथवा शीतल, उष्ण, मृदु और कठोर वस्तुओंका स्पर्श न हो, जिससे इन्द्रियोंको मनमानी क्रीडा करनेका तथा स्वेच्छासे कामनाओंके खुले मैदानमें घूमनेका समय न मिल सके। इस प्रकार मनकी एकाग्रता कर देना भक्ति-मार्गकी प्रथम सीढ़ीपर पग धरना है।

मनको एकाग्र कर अपने इष्टको हृदयके विशुद्ध आसन-पर बिठला, प्रभुकी श्रीमूर्तिका प्रथम चरण-कमलसे ध्यान तथा चिन्तन करना चाहिये। मुखसे नाम-स्मरण और हृदयसे प्रभुकी श्रीमूर्तिके एक-एक अङ्गका ध्यान करता जाय। साथ ही प्रभुने उस-उस अङ्गसे प्राणिमात्रके कल्याणार्थ जो-जो क्रीडा की हो अथवा कर्म किया हो, उस-उस कर्म अथवा लीलाका चिन्तन करता जाय। हमारा ध्यान, हमारी एकाग्रता, हमारा लक्ष्य, स्थिर हो जानेपर नामस्मरणकी सिद्धि पूर्ण होती है। इस विधिसे प्रभुके नामस्मरणद्वारा हृदयमें एक विशेष आनन्द, अलौकिक सुखका अनुभव होने लगता है, जिसको वही जान सकता है।

ध्यान-विसर्जन अर्थात् लक्ष्य छूट जानेके बाद मन उकता जाता है। इसलिये ध्यान छोड़कर भक्ति-मार्गके दूसरे अङ्गोंको अपनाना चाहिये। उस समय प्रभु-स्तुतिसे भरे स्तोत्र, भजन, आरतियाँ, मूर्ति-वर्णन—आत्मनिवेदन तथा अपने पाप-कर्मोंके क्षालनार्थ प्रायश्चित्तविधानके स्तोत्र एवं प्रभु-लीलापूर्ण ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये।

भक्तिका फल

ऊपर कह आये हैं कि भक्तिका इष्ट एक है अर्थात् एक परमेश्वर-अवतारको ही सम्मुख रखना चाहिये। भक्तिका साधन, भक्ति करनेका प्रकार अथवा विधि भी प्रायः एक ही है; किंतु भक्तिके फलमें अनेक भेद हो जाते हैं, जिसके प्रधान दो कारण हैं। एक, भक्तकी अनेकविध कल्पना। दूसरा, इष्टदेव-का कृपा-प्रसाद। प्रत्येक मनुष्यकी विचार-धारा निराली होती है। प्रत्येकका स्वार्थ तथा कामना भिन्न-भिन्न होती हैं। इसलिये फलमें भेद हो जाना आवश्यक है। और जहाँ कामना ही नहीं, उसका फल भी अलग ही होता है। फल-भेदका दूसरा कारण इष्टदेवकी प्रसन्नता और उदासीनता है। भक्त-का आचार-विचार अच्छा होना चाहिये। यदि वह कुव्यसनी, व्यभिचारी, शराबी, कबाबी, ईर्ष्यालु, क्रोधी, द्वेषी, दम्भी, हिंसक, दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन करनेवाला, छली-कपटी हो तो प्रभु उसपर प्रसन्न नहीं होते। अतः यह आवश्यक है कि हमारा व्यवहार प्रभुको प्रसन्न करनेवाला हो। शक्तिका सूत्र-चालन अवतारकी कृपापर निर्भर होता है। अतः फल-प्राप्तिके लिये अपने इष्टदेव अवतारकी तथा देव-मूर्तियोंमें रहनेवाली शक्ति-की कृपा—प्रसन्नता प्राप्त कर लेना जरूरी है।

भगवान् उसीपर प्रसन्न होते हैं, जो सदाचारी, धर्मात्मा, परहितचिन्तक, सरल-हृदय, शान्त-स्वभाव, निर्लोभी, क्रोध और ईर्ष्या आदि दोषोंसे दूर हो और साथ ही ऊपरके दुर्गुणोंसे भरा न हो। दक्षिण महाराष्ट्रमें, जहाँ प्रभुकी दिव्य-लीलाओंके अनेकों स्थान हैं, यह अनुभव प्रत्यक्ष होता है। साधारण-से-साधारण स्थान भी प्रभु-अवतारकी कृपापूर्ण दृष्टिसे धन-धान्यसे पूर्ण हैं। कई स्थान ऐसे

देखनेमें आये हैं, जहाँ आजसे बीस-पचीस वर्ष पहले अति उत्साहपूर्ण कार्य होता रहा। ऊपर लिखे दोष आ जानेपर उस स्थानकी शक्तिने काम करना छोड़ दिया। 'मनुष्यके अच्छे आचार-विचार और व्यवहारसे प्रभुशक्ति उत्साहित हो विशेष कार्य करती है तथा कुत्सित व्यवहारसे कार्य करना छोड़ देती है।' परमेश्वर शुद्ध, निर्गुण, परिष्कृत, परिमार्जित-स्वरूप हैं। उनमें राजसी और तामसी भावना त्रिकालमें भी नहीं होती। उनमें किसीके विषयमें विरोधी भावना नहीं होती। वे समदर्शी हैं। इसीलिये वे हमारी विरोधी भावनाओंको, जो औरोंके लिये हानिकर हों, पूर्ण नहीं करते।

इसलिये भक्तको चाहिये कि वह अपनी शुद्ध भावनासे तथा पवित्र आचारसे अपने स्वामीका कृपा-पात्र बन जाय और अपनी शुभ-कामनाकी पूर्तिके लिये प्रभुसे अथवा शक्तियोंसे याचना अथवा प्रार्थना करे। नहीं तो केवल परिश्रम ही होगा और ऐसी भक्तिका यथायोग्य फल मिलनेमें भी संशय ही रह जायगा।

भक्ति और उसकी अद्भुत विशेषताएँ

(लेखक—श्रीकृष्णबिहारीजी मिश्र शास्त्री)

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

(नारदपाञ्चरात्र)

'तत्पर होकर इन्द्रियोंके द्वारा सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित विशुद्ध भगवत्सेवा ही भक्ति कही जाती है।' इसीका स्पष्टीकरण भक्तिरसामृतसिन्धुमें किया गया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

'श्रीकृष्णको उद्देश्य करके उनकी रुचिके अनुकूल शरीर, मन, वाणीकी क्रियाओंका अनुशीलन—जो भक्तिसे भिन्न सम्पूर्ण भोग-मोक्ष आदिकी वासनासे रहित एवं ज्ञान-कर्मादिसे अनाच्छादित हो, उत्तम भक्तिका लक्षण है।'

(१) क्लेशोंका नाश, (२) शुभदातृत्व, (३) मोक्षमें लघुबुद्धि, (४) सुदुर्लभता, (५) सान्द्रानन्दविशेषरूपता, (६) श्रीकृष्णको आकर्षित करना—भक्तिदेवीकी ये छः अपनी विशेषताएँ हैं। अर्थात् जिस व्यक्तिके हृदयमें भक्तिदेवी विराजती हैं, उसमें उपर्युक्त छः विशेषताएँ आ जाती हैं—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

सम्पूर्ण विश्व जिनके कारण छटपटा रहा है और निरन्तर उन्हींमें फँसता जा रहा है, जिनसे बचनेके लिये थोड़े-से इने-गिने लोग मोक्षकी कामना करते हैं, उन्हीं क्लेशोंका नाश करना भक्तिकी प्रथम विशेषता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥

['भज सेवायाम्' धातुसे क्रमशः ल्युट् तथा क्तिन् प्रत्यय लगानेपर 'भजन' एवं 'भक्ति' शब्दकी निष्पत्ति होती है, अतः यहाँ भजनका भक्ति अर्थ लेनेमें कोई बाधा नहीं।]

तथा—

राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

यों तो क्लेशनाशमें ज्ञानको भी कारण माना गया है, परंतु उसके साधन तथा साध्यमें भक्तिकी अपेक्षा कुछ अन्तर है। यथा—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर।

(रामचरितमानस)

भक्तिकी द्वितीय विशेषता 'शुभदातृत्व' है। शुभका सामान्य अर्थ सुख है। भक्ति सम्पूर्ण सुखोंकी खान है। काकभुशुण्डि-द्वारा भक्तिका वर माँगनेपर भगवान् श्रीरामने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—

'सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥'

(मानस)

यह भी निश्चित सिद्धान्त है कि भक्तिके बिना शाश्वत सुखोपलब्धि हो ही नहीं सकती। ज्ञानसे भार [illegible] का भार उतरनेके समान सांसारिक क्लेशोंकी निवृत्ति तो शास्त्रों तथा आचार्योंने बतायी है, परंतु उससे अन्य सिद्धि सुखकी उपलब्धिका कोई वचन नहीं है। वह सुख तो भक्तिसे ही मिल सकता है। तभी तुलसीदासजीने कहा है—

तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई। (रा० मा०)

क्लेशनाश तथा शुभदानके अनन्तर 'भोग तथा मोक्षमें तुच्छबुद्धि कराना' भक्तिकी तीसरी विशेषता है; क्योंकि भुक्ति तथा मुक्ति तो भक्तिकी दासियाँ हैं। नारदपाञ्चरात्रमें कहा है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥

'सम्पूर्ण अद्भुत भुक्तियाँ (भोग) तथा मुक्ति आदि सिद्धियाँ हरिभक्ति महादेवीकी दासीकी तरहसे सेवामें पीछे पीछे लगी रहती हैं।' अतएव तुलसीदासजीने कहा है—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अन इच्छित आवइ बरिआईं॥
(रा० मा०)

श्रीभागवत-माहात्म्यमें भी नारदजीने भक्तिसे कहा है—

मुक्तिं दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ।
(२।७)

'हे भक्ति! श्रीभगवान्‌ने तुम्हें दासीरूपमें मुक्ति तथा पुत्ररूपमें ज्ञान-वैराग्य दिये हैं। इसीलिये समझदार व्यक्ति मुक्तिका भी निरादर करके भक्तिपर ही लालायित रहते हैं।'

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

तथा—

सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं।

श्रीभरतजीने तीर्थराजसे माँगा—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

चतुर्थ विशेषता—'दुर्लभता'के लिये नारदपाञ्चरात्रका वचन है—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा॥

'ज्ञानके द्वारा मुक्ति सहजमें ही प्राप्त होती है और यज्ञ आदि पुण्योंसे भोगोंकी प्राप्ति भी सुलभ है; परंतु इस हरि-भक्तिका तो हजारों साधनानुष्ठानसे भी प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।' तभी तो परम भक्त श्रीबिल्वमङ्गलजी कहते हैं—

क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते कृष्णभावरसभाविता मतिः।
तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥

'कृष्णभक्तिरूप रससे सराबोर मति जहाँ कहीं भी मिले, खरीद लो; अधिक उत्कण्ठा ही उसका मूल्य है। अन्यथा करोड़ों जन्मोंके पुण्योंसे भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।' श्रीभगवान् भी मुक्ति तो दे देते हैं, परंतु भक्ति नहीं—

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥
(श्रीमद्भागवत ५।६।१८)

'श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण आपके तथा यादवोंके पति, गुरु, उपास्य, प्रीतिपात्र, स्वामी तो हैं ही, कहीं-कहीं सेवक भी हो गये; वे ही मुकुन्द अपना भजन करनेवालोंको मुक्ति तो दे देते हैं, परंतु भक्ति कभी नहीं देते।'

भगवान् श्रीराम प्रसन्न होकर काकभुशुण्डिजीसे कहते हैं—

काकभसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

'हे काकभुशुण्डि! मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धियाँ, सम्पूर्ण सुखोंकी खान मोक्ष तथा ज्ञान-विज्ञान-विवेक-वैराग्यादि मुनिदुर्लभ समस्त इच्छित गुणोंको माँग लो, मैं सब देनेको प्रस्तुत हूँ—इसमें कोई संशय नहीं है।' इसपर परम कुशल भुशुण्डिने विचार किया—

प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥

पञ्चम वैशिष्ट्य 'सान्द्रानन्दविशेषरूपता' के विषयमें भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥

'यदि ब्रह्मानन्दसुखको परार्ध संख्यासे गुणा किया जाय, तो भी वह सुख भक्ति-सुधा-सिन्धुके एक परमाणुकी भी समता नहीं कर सकता।'

छठी विशेषता 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' के सम्बन्धमें श्रीभगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
(श्रीमद्भागवत ११।१४।२०)

'हे उद्धव! जिस प्रकार उत्कृष्ट भक्ति मुझे अपने वशमें कर लेती है, वैसे योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग नहीं कर सकते।'

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यके नारद-भक्ति-संवादमें नारदजी कहते हैं—

त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका ।
त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि ॥
(२ । १)

'हे भक्ति ! तुम तो श्रीभगवान्‌की प्राणाधिक प्रिया हो, तुम्हारे बुलानेपर तो भगवान् नीचोंके घर भी चले जाते हैं ।'

इस भक्तिके आकर्षणसे ही व्यापक, निरञ्जन, निर्गुण, अनादिक तथा अजन्मा ब्रह्म कौसल्याकी गोदमें विराजे थे—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥

ऐसी विशेषताओंवाली भक्तिको हमने यदि न अपनाया, हम केवल आपसके वाद-विवादोंमें लगे रहे; तो यह हमारे जन्मकी विफलता होगी—यही हमें बतानेको 'कल्याण' ने यह अङ्क निकाला है ।

भक्ति-तत्त्वकी लोकोत्तर महत्ता

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

प्रेम मानव-हृदयका लोकोत्तर प्रिय एवं प्राणप्रद शब्द है । प्रेम-पात्रके ध्यान, मिलन एवं सत्सङ्गमें मनुष्यको जो आनन्द मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

बलिदान, कुर्बानी और उत्सर्ग-जैसे शब्द प्रेमकी स्तुति मालाके ही मनके हैं । पातिव्रत्य और एक-पत्नीव्रत शब्द भी प्रेम-माहात्म्यके ही अभिव्यञ्जक हैं ।

मातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम, कुटुम्ब-प्रेम, देश-प्रेम और विश्व-प्रेम इसी व्यापक तत्त्वके एकदेशीय रूप हैं । लोक-पावन और त्रैलोक्य-वन्द्य जौहर-व्रत भी प्रेम-धर्मकी अकथ कहानीका ही परिचायक है ।

यह प्रेम-शब्द ही है, जिसके माध्यमसे बहुत बड़े-बड़े त्याग किये गये और किये जा सकते हैं एवं जिसके सम्मुख सभी आकर्षण और प्रलोभन तथा भयसमूह त्रस्त-ध्वस्त होते प्रतीत होते हैं, अपितु मृत-प्राय और मृतक-तुल्य हो जाते हैं; किंतु धर्म-कर्म, तप-त्याग, सुख-शान्ति और हर्ष-आनन्द जीवित-से और यौवनोन्मुख रहते हैं ।

परंतु यह 'प्रेम' शब्द ईश्वर-भक्तिमें परिवर्तित होनेपर ही वास्तविक प्रेम-शब्द-वाच्य होता है । लौकिक जगत्‌में तो प्रायः प्रेमके नामपर न्यूनाधिक रूपसे निजसुखेच्छारूप 'काम'-की ही क्रीडा होती है । इस 'प्रेम'को ही 'निर्गुणा भक्ति' कहते हैं । इस निर्गुणा भक्तिमें स्वार्थ लेशमात्र भी नहीं रहता । लोकैषणा, धनैषणा और पुत्रैषणा इससे सदाके लिये विदा माँग लेती हैं । यह वह परिस्थिति है, जहाँ वरदान दिये जानेपर भी भक्तके मुखसे यही निकलता है—

प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ।

भक्त वस्तुतः तपा-तपाया सोना होता है, और होता है वह धर्म और त्यागका प्रतीक और प्रेमका मूर्त-रूप । यही कारण है, भक्तिसे मनुष्य ईश्वर-तुल्य हो जाता है; यही नहीं ईश्वर स्वयं उसका वशवर्ती हो जाता है, उसके नचाये नाचता है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥*
(श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६३)

भक्तिसे व्यष्टि-समष्टि घातक सभी तत्त्व नाशोन्मुख होने लगते हैं एवं ऐसा निर्दोष, निर्मल और निष्पाप तथा सुखद वातावरण बन जाता है, जिसमें प्रवेश करके पतनोन्मुख मनुष्य भी मुक्तोन्मुख हो जाता है और भक्त पुरुष तो ऋषि-महर्षितक बन जाता है एवं एकान्तसेवी विरक्त महात्मा ।

भक्ति-वाङ्मयमें ऐसे भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भक्तोंने बड़े-से-बड़े पद और साम्राज्यको भी ठुकराकर भगवद्भजनमें ही आयुके लाखों वर्ष बिताये हैं ।

ऐसी दशामें यह तो सहज सुलभ और अवश्यम्भावी सम्भव बात है कि विश्वमें भक्तिका वातावरण बननेपर निखिलके आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक क्लेश बातकी बातमें दूर हो जायँ और मनुष्य चैनकी साँस ले ।

यह भी सत्य है कि जब-जब जगत्‌का वायुमण्डल ऐसा बन पाया, तब-तब ही मनुष्यको ऐसा अनुभव हुआ कि जगत्‌में भगवत्-भक्ति ही वस्तुतः सर्वातीत, सुविलक्षण, सर्वतोमधुर एवं सर्वतोभद्र वस्तु है । ऐसा अनुभव क्यों हुआ और कैसे हो सकता है, इसका उत्तर यह है—

१. भक्ति स्वयं एक विलक्षण आनन्द है । भक्ति-रस

* हे द्विज ! मैं भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ; मेरे हृदयपर साधु भक्तोंका सम्पूर्ण अधिकार है, भक्त मुझे प्यार ही किया करते हैं ।

समस्त रसोंका मधुर निर्यास एवं समस्त सौन्दर्योंका सौन्दर्य है। इसके स्वादके सम्मुख लोक-परलोकका कोई भी आनन्द नहीं ठहर सकता। भक्ति न केवल साधन है अपितु स्वयं साध्य और फल-स्वरूपा है।

२. भक्ति-रसके आनन्दातिरेकसे साधक भक्त आत्म-सम्पृक्त और परसम्पृक्त भाव-भावनाओंसे सर्वथा असंस्पृष्ट और निरा चिदानन्दमय हो जाता है। ऐसी दशामें वह भाव, कर्म और इच्छाकी व्यावहारिक सकाम सीमाको पार कर जाता है। फिर वह किसी भी भय-शङ्का, दुःख-शोक अथवा प्रलोभनका शिकार तो हो ही कैसे सकता है।

३. परमात्मतत्त्व आराध्य देवके आनन्द-सायुज्यसे भक्त सदैव प्रफुल्ल एवं संतुष्ट रहता है। अतएव सांसारिक दुःख और प्रलोभन उसे आकर्षित नहीं कर सकते।

४. इष्टके धारणा-ध्यान और समाधि-जन्य फलसे भक्त आत्मस्थ हो जाता है। फिर वह न केवल व्यवहार अपितु संसारके सभी कार्य करता हुआ जाग्रदवस्थामें भी समाधिस्थ-सा बना रहता है।

५. भक्त, भजन और भजन-साध्य इष्ट-तत्त्वकी त्रिपुटी अथवा निरपेक्ष तुर्यावस्थाकल्प सक्रिय समन्वयसे साधकका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता और वह केवल परमात्म-तत्त्वमय हो जाता है। इस स्थितिमें संसारके स्थानमें ब्रह्मानन्द ही उसका अपना विषय रह जाता है। तब मायाजनित कष्ट उसतक पहुँच ही कैसे सकते हैं।

६. संसारको परमात्मतत्त्वका विराट् रूप मानकर भक्त जब उसके विविध और विभिन्न प्रकारके सौन्दर्यके आस्वादनमें संलग्न होता है अथवा विश्व-सौन्दर्य-स्वरूप प्रभुके विराट् रूपका आनन्द लेता है, तब वह स्वयं सत्य-शिव-सौन्दर्यमय होकर प्राकृतिक प्रपञ्चसे मुक्त हो जाता है।

७. भक्ति-साधनाद्वारा अज्ञानोपहत एवं मायोपहत जीव मल-विक्षेप एवं आवरणसे मुक्त होकर अपनेमें ब्रह्मानन्दका अनुभव करके निर्विकार, अकुतोभय और आनन्द-स्वरूप हो जाता है। ऐसी दशामें व्यावहारिक दुःखोंसे उसका सर्वथा छुटकारा हो जाता है।

८. वेदान्तकी दृष्टिसे जीव परमात्मतत्त्व ही है। भक्ति-साधनाद्वारा इस दृष्टिको व्यापक बना लेनेपर जीवमात्र ही भक्त साधककी दृष्टिमें आनन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व दीख पड़ता है। फिर जीव-जन्य दुःख उसे नहीं हो पाते।

९. अतः ब्रह्मकी भक्तिमें लीन होनेपर फिर भक्त जीव उसके अपने आनन्दसे वञ्चित कैसे रह सकता है और सांसारिक दुःखोंका भोगायतन भी कैसे बन सकता है।

१०. आनन्दस्वरूप भगवान्‌से समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है एवं आनन्दके द्वारा ही संसारका लालन-पालन भी होता है। उसी आनन्दमय परमात्मामें ही जीव-मात्रका लय होता है। ऐसी परिस्थितिमें भक्तिद्वारा परमात्मतत्त्वके साथ कैसा भी—उल्टा-सीधा सम्बन्ध भी भक्तको आनन्दरूप बना देता है। यही कारण है कि वह दुःखमात्रसे सदाके लिये विमुक्त हो जाता है।

भगवान्‌के नाम-गुणोंका श्रवण मङ्गलमय

योगीश्वर कवि कहते हैं—

> शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
> गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। २। ३९)

'संसारमें भगवान्‌के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्‌के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये।'

दास्य-रस-रसिक श्रीभरत

७—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ॥ (रामचरित० २ । ३२५)

विरहिणी श्रीजानकी

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट ॥ (रामचरित० ५ । ३०)

सत्सङ्ग और भगवद्भक्तोंके लक्षण, उनकी महिमा, प्रभाव और उदाहरण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

'सत्' जो भगवान् हैं, उनके प्रति प्रेम और उनका मिलन ही वास्तविक एवं मुख्य सत्सङ्ग है। भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्माओंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। भगवत्प्रेमी उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग तीसरी कोटिका सत्सङ्ग है। चौथी श्रेणीमें सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग है।

सत्स्वरूप भगवान्में प्रेम होना और उनका मिलना तो सब साधनोंका फल है। जो भगवान्को प्राप्त हो चुके हैं तथा जिनका भगवान्में अनन्य प्रेम है, ऐसे भगवत्प्राप्त भक्तोंका मिलन या सङ्ग भगवान्की कृपासे ही मिलता है। वही पुरुष भगवान्की कृपाका अधिकारी होता है, जो अपनेपर भगवान्की कृपाको मानता है। वह फिर उस कृपाको तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त हो जाता है (गीता ५। २९)। जिसकी भगवान्में और उनके भक्तोंमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम होता है एवं जिसके अन्तःकरणमें पूर्वके श्रद्धा-भक्तिविषयक संस्कारोंका संग्रह होता है, वह भी भगवान्की कृपाका अधिकारी होता है।

श्रीरामचरितमानसमें भक्त विभीषणने हनुमान्‌जीसे कहा है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

'हे हनुमान्! अब मुझे विश्वास हो गया कि श्रीरामजीकी मुझपर कृपा है; क्योंकि हरिकी कृपाके बिना संत नहीं मिलते।'

श्रीशिवजी भी पार्वतीजीसे कहते हैं—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥

'हे गिरिजे! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। पर वह श्रीहरिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है, ऐसी बात वेद और पुराण कहते हैं।'

पूर्वके उत्तम संस्कारोंके प्रभावसे भी भक्तोंका मिलन होता है। स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाको उपदेश देते हुए कहा है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

'भक्ति स्वतन्त्र साधन है और सब सुखोंकी खान है। परंतु सत्सङ्गके बिना प्राणी इसे नहीं पा सकते। भारी पुण्य-समूहके बिना संत नहीं मिलते। सत्सङ्गति ही जन्म-मृत्युके चक्रका अन्त करती है।'

अब ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं, जिनको गीतामें स्वयं भगवान्ने अपना प्रिय बतलाया है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(१२। १३-१४)

'जो पुरुष जीवमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे शून्य, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें कर लिया है, जिसका मुझमें दृढ़ निश्चय है तथा जिसके मन एवं बुद्धि मुझमें अर्पित हैं, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषोंका सभी प्राणियों एवं पदार्थोंके प्रति समान भाव होता है (गीता १४। २४-२५)। उनका किसीसे भी व्यक्तिगत स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होता (गीता ३। १८)। उनका देह और संसार आदिमें ममता, आसक्ति और अभिमानका अत्यन्त अभाव होता है (गीता १२। १९) एवं उनका स्वाभाविक ही प्राणियोंपर दया, प्रेम और समभाव रहता है (गीता १२। १३)। उन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंके समभावका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

यहाँ भगवान्ने ज्ञानीको समदर्शी बतलाकर यह भाव व्यक्त किया है कि उनका इनके साथ शास्त्रोचित यथायोग्य व्यवहारका भेद रहते हुए भी उनमें समभाव रहता है।

सबके साथ समान व्यवहार तो कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि विवाह या श्राद्धादि कर्म ब्राह्मणसे ही करवाये जाते हैं, चाण्डाल आदिसे नहीं; दूध गायका ही पीना जाता है, कुतियाका नहीं; सवारी घोड़ेकी ही की जाती है, गायकी नहीं; घास और दाना आदि घोड़ों और गायको ही खिलाये जाते हैं, कुत्ते या मनुष्योंको नहीं। अतः सबके हितकी ओर दृष्टि रखते हुए ही आदर-सत्कारपूर्वक सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही समव्यवहार है, न कि एक ही पदार्थसे सबकी समानरूपसे सेवा करना। किंतु सबमें व्यवहारका यथायोग्य भेद रहनेपर भी प्रेम और आत्मीयता अपने शरीरकी भाँति सबमें समान होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरमें प्रेम और आत्मभाव (अपनापन) समान होते हुए भी व्यवहार अपने ही अङ्गोंके साथ अलग-अलग होता है— जैसे मस्तकके साथ ब्राह्मणकी तरह, हाथोंके साथ क्षत्रियकी तरह, जङ्घाके साथ वैश्यके समान, पैरोंके साथ शूद्रके समान एवं गुदा-उपस्थादिके साथ अछूतके समान व्यवहार किया जाता है; उसी प्रकार सबके साथ अपने आत्माके समान समभाव रखते हुए ही यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

> आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
> सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
>
> (गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम दृष्टि रखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

श्रीरामचरितमानसमें भरतके प्रति संतोंके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

> बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
> सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
> कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
> सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
> बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
> सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
> ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
> सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
>
> निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
> ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

'संत विषयोंमें लंपट (लिप्त) नहीं होते, वे शील और सद्गुणोंकी खान होते हैं। उन्हें पराया दुःख देखकर दुःख और सुख देखकर सुख होता है। वे सबमें सर्वत्र सब समय समदृष्टि रखते हैं, उनके मनमें उनका कोई शत्रु नहीं होता। वे घमंडसे शून्य और वैराग्यवान् होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भयके त्यागी होते हैं। उनका चित्त बड़ा कोमल होता है। वे दीनोंपर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे मेरी निष्कपट (विशुद्ध) भक्ति करते हैं। सबको सम्मान देते हैं पर स्वयं मानरहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी (सज्जन) मुझे प्राणोंके समान प्यारे होते हैं। उनमें कोई कामना नहीं होती। वे मेरे नामके परायण (आश्रित) होते हैं तथा शान्ति, वैराग्य, विनय और प्रसन्नताके घर होते हैं। उनमें शीतलता, सरलता, सबके प्रति मित्रभाव और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति होती है, जो (सम्पूर्ण) धर्मोंकी जननी है। हे तात! ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों, उसको सदा सच्चा संत जानना। जिनका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, जो नियम (सदाचार) और नीति (मर्यादा) से कभी विचलित नहीं होते और मुखसे कभी कठोर वचन नहीं बोलते, जिन्हें निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं और मेरे चरण-कमलोंमें जिनकी ममता है, वे गुणोंके धाम और सुखकी राशि संतजन मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं।'

इन लक्षणोंमें बहुत-से तो आन्तरिक होनेके कारण स्वसंवेद्य हैं, अतः उनको वे भक्त स्वयं ही जानते हैं; और बहुत-से आचरण ऐसे भी हैं, जिन्हें देखकर दूसरे लोग भी उनकी स्थितिका कुछ अनुमान लगा सकते हैं। किंतु वास्तवमें तो ईश्वर और महात्माओंकी जिनपर कृपा होती है, वे ही उनको जान सकते हैं। जिनके सङ्ग, दर्शन, भाषण और वार्तालापसे अपनेमें भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये तो, वे ही भगवत्प्राप्त संत हैं—यों समझकर उन सत्पुरुषोंसे लाभ उठाना चाहिये। जो सत्पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करके उनकी आज्ञाका पालन करता है, वही उनसे विशेष लाभ उठा सकता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

> अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
> तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
>
> (१३। २५)

'दूसरे (मन्दबुद्धि लोग जो ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोगकी बात नहीं जानते) इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे—तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना

करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्संदेह पार कर लेते हैं।'

ऐसे संतोंके सङ्गकी महिमा और प्रभावका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सत संगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

'जलमें रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले नाना प्रकारके जड-चेतन जो भी जीव इस जगत्‌में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी उपायसे बुद्धि (ज्ञान), कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई (अच्छापन) पायी है, वह सब सत्सङ्गका ही प्रभाव समझना चाहिये। वेदोंमें और लोकमें भी उनकी प्राप्तिका दूसरा कोई साधन नहीं है। सत्सङ्गके बिना विवेक (सत्-असत्‌की पहचान) नहीं होता और श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाके बिना वह सत्सङ्ग सहजमें मिलता नहीं। सत्सङ्गति आनन्द और कल्याणकी जड़ है। सत्सङ्गकी सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है, अन्य सब साधन तो फूल हैं। दुष्ट भी सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुहावना हो जाता है—सुन्दर सुवर्ण बन जाता है।'

इसी विषयमें श्रीमहादेवजीने गरुड़जीसे कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

'सत्सङ्गके बिना श्रीहरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, हरिकथा-श्रवणके बिना मोह नहीं भागता और मोहके गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ (अचल) प्रेम नहीं होता।'

श्रीकाकभुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे कहा है—

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

'सुन्दर हरिभक्ति ही समस्त साधनोंका फल है। परंतु उसे संत (की कृपा) के बिना किसीने नहीं पाया। यों विचारकर जो भी संतोंका सङ्ग करता है, हे गरुड़जी! उसके लिये श्रीरामजीकी भक्ति सुलभ हो जाती है।'

फिर जिनको भगवान्‌ने सदाचार, सद्भाव और भक्तिके प्रचारके लिये ही संसारमें भेजा है, उन परम अधिकारी पुरुषोंकी तो बात ही क्या है! उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और वार्तालापसे भी विशेष लाभ हो सकता है। जैसे किसी कामी पुरुषके अंदर कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे कामकी जागृति हो जाती है, वैसे ही भगवत्प्रेमी पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे भगवत्प्रेमकी जागृति अवश्य होनी चाहिये। प्रसिद्ध है कि पारसके स्पर्शसे लोहा सोना बन जाता है; किंतु महात्माके सङ्गकी तो इससे भी बढ़कर महिमा बतलायी गयी है; किसी कविने कहा है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आपु समान॥

'पारसमें और संतमें बहुत अन्तर समझना चाहिये। पारस लोहेको सोना अवश्य बना देता है, किंतु संत तो अपने सङ्गमें आनेवालेको अपने समान ही बना लेते हैं।'

पारसके साथ सम्बन्ध होनेपर लोहा अवश्य ही सोना बन जाता है। यदि न बने तो यही समझना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है या वह लोहा लोहा नहीं है। इसी प्रकार महापुरुषोंके सङ्गसे साधक अवश्य ही महापुरुष बन जाता है। यदि नहीं बनता तो यही समझना चाहिये कि या तो वह संत पुरुष महापुरुष नहीं है अथवा साधकमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेमकी कमी है।

उन भगवत्प्राप्त अधिकारी पुरुषोंकी तो जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, वे जिनका मनसे स्मरण कर लेते हैं या जिनका दर्शन कर लेते हैं, उन व्यक्तियों और पदार्थोंमें भगवत्प्रेम परिपूर्ण हो जाता है। किसी जिज्ञासुके मरनेके पूर्व यदि वे वहाँ पहुँच जाते हैं तो कथा-कीर्तन सुनाकर उसका उद्धार कर देते हैं। श्रीनारद-पुराणमें तो यहाँतक कहा गया है—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥
(नारद पूर्व० [illegible])

'जिनपर महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ जाती है, वे महापातकों या उपपातकोंसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृत कलेवरको, उसकी चिताके धूएँको अथवा उसके भस्मको भी देख लेते हैं तो वह मृतक पुरुष परम गतिको पा लेता है।'

इसीलिये महापुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें विशेषरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी (भगवत्प्रेमी) पुरुषके लव (क्षण) मात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्गकी तो क्या, मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते; फिर मनुष्यके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है?'

श्रीरामचरितमानसमें भी लङ्किनी राक्षसीका हनुमान्‌जीके प्रति इसी तरहका वचन मिलता है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

'हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको यदि तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय, तो वे सब मिलकर भी (दूसरे पलड़ेपर रखे हुए) उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्रके सत्सङ्गसे प्राप्त होता है।'

ऐसे महापुरुषोंकी कृपाको भक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन बतलाते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा।
(नारद० ३८)

'भगवान्‌की भक्ति मुख्यतया महापुरुषोंकी कृपासे ही अथवा भगवान्‌की कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है।'

नारदजी फिर कहते हैं—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।
(ना० भ० सू० ३९)

'उन महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ एवं अगम्य होते हुए भी मिल जानेपर अमोघ होता है।'

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव। (ना० भ० सू० ४०)

'और वह भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है।'

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
(११।२।२९)

'जीवोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना कठिन है। यदि वह प्राप्त हो भी जाय तो है यह क्षणभङ्गुर। और ऐसे अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्‌के प्रिय भक्तजनोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है।'

ऐसे महापुरुषोंका मिलन हो जाय तो हमलोगोंको चाहिये कि हम उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करें, उनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रश्न करके भगवान्‌के तत्त्वको जानें, उनकी आज्ञाका पालन करें और उनकी सेवा करें। उनकी आज्ञाका पालन करना ही उनकी वास्तविक सेवा है। तथा इससे भी बढ़कर है—उन महापुरुषोंके सकेत, सिद्धान्त और मतके अनुकूल चलना, अपने मन-इन्द्रियोंकी डोरको उनके हाथमें सौंप देना और उनके हाथकी कठपुतली बन जाना। इस प्रकारकी चेष्टा करनेवाले परम श्रद्धालु मनुष्यके अंदर उन सत्पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे सद्गुण-सदाचारका प्रादुर्भाव तथा उनके दुर्गुण-दुराचारका नाश ही नहीं, अपितु भगवान्‌की भक्ति, उनके तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्राप्ति आदि सहजमें ही हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें सत्सङ्गके प्रभावके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हमलोगोंको उनपर ध्यान देना चाहिये। भगवान्‌के प्रेम और मिलनरूप सत्सङ्गके श्रेष्ठ उदाहरण हैं—सुतीक्ष्ण और शबरी। इनकी कथा श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देखनेको मिलती है। तथा जीवन्मुक्त ज्ञानी या भगवत्प्राप्त भक्तोंके सत्सङ्गसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके तो बहुत उदाहरण हैं। श्रीनारदजीके सङ्ग और उपदेशसे ध्रुवको भगवान्‌के दर्शन हो गये और उनके अभीष्टकी भी सिद्धि हो गयी (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४, अध्याय ८-९)। श्रीकाकभुशुण्डिजीके सत्सङ्गसे गरुडजीका मोहनाश ही नहीं, उन्हें भगवान्‌का अनन्य प्रेम भी प्राप्त हो गया (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड) तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके सङ्ग और उपदेशसे श्रीवास, रघुनाथ भट्ट और हरिदास आदिका उद्धार हो गया। इसी प्रकार महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन करनेसे जबालापुत्र सत्यकामको और सत्यकामके सङ्ग और सेवासे उपकोशलको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ४, ख० ४ से १७)। राजा अश्वपतिका सङ्ग करनेपर उनके उपदेशसे महात्मा उद्दालकको साथ लेकर उनके पास आये हुए प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नामक पाँच ऋषियोंको ज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ५ ख० ११)। आरुणपुत्र उद्दालकके सत्सङ्गसे श्वेतकेतुको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ६ ख० ८ से १६)। श्रीसनत्कुमारजीके सङ्ग और उपदेशसे नारदजीका अज्ञानान्धकार दूर हो गया तथा उनको ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी

(छान्दोग्य-उप० अ० ७)। याज्ञवल्क्य मुनिके उपदेशसे मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (बृहदारण्यक० अ० ४ ब्रा० ५)। श्रीधर्मराजके सङ्ग और उपदेशसे नचिकेता आत्मतत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये (कठोपनिषद् अ० २)। महात्मा जडभरतके सङ्ग और उपदेशसे राजा रहूगणको परमात्माका ज्ञान हो गया (भागवत स्कन्ध ५। अ० ११ से १३)। इस प्रकार सत्सङ्गसे भगवान्में प्रेम, उनके तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके उदाहरण श्रुतियों तथा इतिहास पुराणोंमें भरे पड़े हैं। हमलोगोंको चाहिये कि शास्त्रोंका अनुशीलन करके सत्सङ्गका प्रभाव समझें और उसके अनुसार सत्पुरुषोंके सङ्गका लाभ उठायें; क्योंकि मनुष्य जैसा सङ्ग करता है, वैसा ही बन जाता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—जैसा करै सङ्ग, वैसा चढ़ै रंग। और देखनेमें भी आता है कि मनुष्य योगीके सङ्गसे योगी, भोगीके सङ्गसे भोगी और रोगीके सङ्गसे रोगी हो जाता है। इस बातको समझकर हमें संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग न करके महात्मा पुरुषोंका ही सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग मुक्तिदायक है और संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग बन्धनकारक है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

संत संग अपबर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥

'संतका सङ्ग मोक्ष (भव-बन्धनसे छूटने) का और कामीका सङ्ग जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़नेका मार्ग है। संत, ज्ञानी और पण्डित तथा वेद-पुराण आदि सभी सद्ग्रन्थ ऐसी बात कहते हैं।'

किंतु यदि महात्मा पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त न हो तो उनके अभावमें विरक्त दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग करना चाहिये। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करते हुए उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत लाभ होता है; क्योंकि वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे वैराग्यके भाव जाग्रत् होते हैं और मनकी एकाग्रता हो जाती है। श्रीपातञ्जलयोगदर्शनमें बतलाया है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (१। ३७)

'जिन पुरुषोंकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, ऐसे विरक्त पुरुषोंको ध्येय बनाकर अभ्यास करनेवाला व्यक्ति स्थिरचित्त हो जाता है।'

जो उच्चकोटिके वीतराग साधु-महात्मा होते हैं, उनके लिये त्रिलोकीका ऐश्वर्य भी धूलके समान होता है। वे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको कलङ्क समझते हैं। इसलिये वे न अपनेको पुजवाते हैं, न अपने पैरोंकी धूल किसीको देते हैं और न पैरोंका जल ही। न वे अपना फोटो खिंचवाते हैं और न मान-पत्र ही लेते हैं। वे अपनी कीर्ति कभी नहीं चाहते, बल्कि जहाँ कीर्ति होती है, वहाँसे वे दूर भागते हैं। फिर अपनी आरती उतरवाने और लोगोंसे उच्छिष्ट खिलानेकी तो बात ही क्या है। यदि ऐसे विरक्त महापुरुषोंका सङ्ग न प्राप्त हो तो मनुष्यको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग तो कभी न करे। दुष्ट पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

× × × ×

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

× × × ×

मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा॥

ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेताँ नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥

'अब असंतों (दुष्टों) का स्वभाव सुनो। कभी भूलकर भी उनकी संगति नहीं करनी चाहिये। उनका सङ्ग उसी प्रकार सदा दुःख देनेवाला होता है, जैसे हरहाई (बुरी जातिकी) गाय कपिला (सीधी और दुधार) गायको अपने सङ्गसे नष्ट कर डालती है। दुष्टोंके हृदयमें बहुत अधिक संताप होता है। वे पराई सम्पत्ति (सुख) देखकर सदा जलते रहते हैं। वे जहाँ-कहीं दूसरेकी निन्दा सुन पाते हैं, वहाँ ऐसे हर्षित होते हैं, मानो रास्तेमें पड़ा खजाना उन्हें मिल गया हो। वे काम, क्रोध, मद और लोभके परायण तथा निर्दयी, कपटी, कुटिल और पापोंके घर होते हैं। वे बिना ही कारण

सब किसीसे वैर किया करते हैं। जो उनके साथ भलाई करता है, उसका भी अपकार करते हैं। × × ×

वे दूसरोंसे द्रोह करते हैं और परायी स्त्री, पराये धन तथा परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। वे पामर और पापमय मनुष्य नर-शरीर धारण किये हुए राक्षस ही हैं।... वे माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण—किसीको नहीं मानते। स्वयं तो नष्ट हुए ही रहते हैं, अपने सङ्गसे दूसरोंको भी नष्ट करते हैं। वे मोहवश दूसरोंसे द्रोह करते हैं। उन्हें न संतोंका सङ्ग अच्छा लगता है न भगवान्‌की कथा ही सुहाती है। वे अवगुणोंके समुद्र, मन्दबुद्धि, कामी तथा वेदोंके निन्दक होते हैं और बलपूर्वक पराये धनके स्वामी बन जाते हैं। वे ब्राह्मणोंसे तो द्रोह करते ही हैं, परमात्माके साथ भी विशेषरूपसे द्रोह करते हैं। उनके हृदयमें दम्भ और कपट भरा रहता है, परंतु वे ऊपरसे सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं। ऐसे नीच और दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतामें नहीं होते, द्वापरमें थोड़े होते हैं; किंतु कलियुगमें तो इनके झुंड-के-झुंड होंगे।'

आगे फिर कलियुगका वर्णन करते हुए पूज्यपाद गोस्वामीजी कहते हैं—

> कलि मल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
> दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥

× × × ×

> मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
> मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
> सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥

× × × ×

> निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
> जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
> असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
> तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

× × × ×

> सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
> गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
> हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

× × × ×

> जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
> नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
> ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥

'कलियुगके पापोंने सारे धर्मोंको ग्रस लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये, दम्भियोंने अपनी बुद्धिसे कल्पना करके बहुत-से पंथ प्रकट कर दिये। कलियुगमें जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो आचारहीन और वेदमार्गका त्यागी है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लंबी-लंबी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य)—सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं। शूद्र ब्राह्मणोंको ज्ञानोपदेश करते हैं और गलेमें जनेऊ डालकर कुत्सित दान लेते हैं। गुरु और शिष्य क्रमशः अंधे और बहरेके समान होते हैं—एक (शिष्य) गुरुके उपदेशको सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं (उसे ज्ञानदृष्टि प्राप्त नहीं है)। जो गुरु शिष्यका धन तो हर लेता है, पर शोक (अज्ञान) नहीं मिटा सकता, वह घोर नरकमें पड़ता है। तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्णमें नीचे हैं, वे स्त्रीके मरनेपर अथवा घरकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर सिर मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। वे अपनेको ब्राह्मणोंसे पुजवाते हैं और अपने ही हाथों यह लोक और परलोक—दोनों नष्ट करते हैं।'

सुना और देखा भी जाता है कि आजकल दम्भीलोग भक्त, साधु, ज्ञानी, योगी और महात्मा सजकर अपने नामका जप और अपने स्वरूपका ध्यान करवाते हैं तथा अपने पैरोंका जल पिलाकर एवं अपनी जूठन खिलाकर अपना और लोगोंका धर्म भ्रष्ट करते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंसे सब लोगोंको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यमें दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होती है और परिणामतः उसका पतन हो जाता है। इसके विपरीत जिस पुरुषके दर्शन, भाषण, वार्तालाप और सङ्गसे हमारे अंदर गीताके १६ वें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक बतलाये हुए दैवी-सम्पदाके लक्षण प्रकट हों और भगवान्‌की भक्तिका उदय हो, उसे दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिका साधक भक्त समझना चाहिये। ऐसे साधक भक्तोंके लक्षण गीताके ९वें अध्यायके १३वें, १४वें श्लोकोंमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित—अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढनिश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

ऐसे पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करनेसे दैवी-सम्पदाके लक्षणोंका और ईश्वर-भक्तिका प्रादुर्भाव अवश्य ही होना चाहिये। यदि नहीं होता तो समझना चाहिये कि या तो जिस साधक भक्तका हम सङ्ग कर रहे हैं, उसमें कोई कमी है अथवा हममें श्रद्धा-भक्तिकी कमी है।

किंतु यदि ऐसे उच्चकोटिके वीतराग साधकोंका भी सङ्ग न मिले तो सत्-शास्त्रोंका सङ्ग (अध्ययन) करना चाहिये; क्योंकि सत्-शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है। श्रुति-स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि इतिहास-पुराण तथा इसी प्रकारके ज्ञान, वैराग्य और सदाचारसे युक्त अन्य शास्त्रोंके श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अनुशीलन तथा उनमें कही हुई बातोंको हृदयमें धारण और पालन करनेसे भी मनुष्यका संसारसे वैराग्य और भगवान्‌से प्रेम होता है और आगे चलकर वह सच्चा भक्त बन जाता है एवं भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।

गौणी और परा भक्ति

(लेखक—महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
(श्रीरामचरित० अरण्य०)

भक्ति किसीके पीछे चलनेवाली नहीं है कि प्रथम अन्य साधन किया जाय तब उसकी प्राप्ति हो; वह स्वतन्त्र है, कोई भी मनुष्य उसको प्राप्त कर सकता है। जैसे व्याकरण पढ़नेसे शब्दोंका ज्ञान तो होता ही है, साथ ही साहित्य, दर्शन, नीति एवं धर्म-शास्त्रका भी उद्धरणोंद्वारा ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञानका भी भक्तिके द्वारा ज्ञान हो जाता है।

क्रमानुपपत्तिश्च। (दैवीमीमांसा)

अर्थात् क्रम माननेके लिये कोई प्रमाण नहीं है। भक्ति-लाभके लिये साधनका कोई क्रम नहीं है कि प्रथम हृदय शुद्ध किया जाय, तब उसका आरम्भ हो। ज्ञानादिके लिये तो ऐसी विधि है, परंतु भक्तिमें ऐसा नियम नहीं है। जिस प्रकारकी साधन-विधि अथवा क्रम कर्मकाण्ड, योग तथा ज्ञानमार्गमें है, वैसा भक्ति-मार्गमें नहीं है; आनन्दकन्द भगवान्‌का कृपाप्राप्त भक्त अलौकिक भावसे विधि-बन्धनको अतिक्रम करके आनन्द-सागरमें निमग्न होता है।

भक्तिको 'ऐश्वर्यप्रदा' नामसे पुकारते हैं। आचार्य भृगु-कश्यप, नारद आदि महर्षिगणने ज्ञानमार्गमें पारंगत होते हुए भी भगवान्‌की उपासना भक्तिमार्गसे ही की है।

जो जल-समूह समुद्रमें मिल जाता है, उसमें फिर पृथक्‌रूपसे द्वारा अन्य जलसमूहको प्रवाहरूपमें प्रेरित करनेका सामर्थ्य नहीं रहता, अतः वह परोपकार करनेसे वञ्चित हो जाता है। इसी प्रकार जीव ज्ञानमार्गसे ऊर्ध्वगमन करता हुआ उसकी उच्चतम चोटीतक पहुँच जाता है, उसे वहाँ भी एकाकीपनका अनुभव होता है। इसीलिये वह पुनः भक्तिमार्गकी ओर मुड़ जाता है।

अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥
(मानस)

ज्ञानमार्ग जहाँ स्वशक्तिपर निर्भर है, भक्तिमार्गमें स्वत्व प्रभुको समर्पित कर दिया जाता है। वह स्वत्व निर्भर होकर प्रभु-पाद-पद्मोंमें अपनेको भी समर्पित कर देता है; उसके द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक जो कोई भी कार्य होते हैं, उन सबका कारण वह प्रभु श्रीरामको समझता है।

प्रश्न होता है कि 'केवल भाव रखना तो कल्पना ही उड़ान मात्र है। जलेबी खानेका विचार मनमें लानेसे क्या मुखमें जलेबीका स्वाद आ सकता है?' इसका उत्तर यह है कि जैसे अक्षराभ्यासके समय ही बालक विद्वान् नहीं बन जाता पर विद्वान् होनेका क्रम आरम्भ करता है, वैसे ही [illegible] गौणीका

[illegible] होगी। निर्मूल [illegible] होनेके समान वह भक्त कालान्तरमें [illegible] को पा लेता है।

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

'जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ वह मेरी सुखप्रदा भक्ति है'; उसे प्राप्त करनेके लिये न तो धर्म, वैराग्य, योग, ज्ञान आदि-की आवश्यकता है न किसी बुद्धिकी। भक्ति किसी भी अन्य पदार्थपर आश्रित नहीं है। उल्टे उसीकी प्राप्तिसे धर्म, वैराग्य, योगयुक्ति, शान्ति, समाधि, ज्ञान, विवेक आदि सब गुण उसमें आप आ जाते हैं। इसका कारण यह है कि आरम्भसे ही भक्तका मन प्रभुमें लग जाता है। यद्यपि आरम्भमें उसके अंदर वासना अधिक रहती है, फिर भी ज्यों-ज्यों वह भक्तिमार्गपर बढ़ता है, त्यों-त्यों उसकी प्रवृत्तिमें प्रभु-प्रीतिका अङ्कुर नित्यप्रति बढ़ता जाता है और प्रभु-कृपा मालिन बन उसको सींचती, पालन करती है तथा षड् विकाररूपी पशुओंसे उसकी रक्षा करती है। धीरे-धीरे उसके हृदयमें प्रभुके लिये प्रेम एवं अनुराग सदाके लिये स्थिर हो जाता है। तब भगवान् कहते हैं, 'मुझको स्वयं उसमें प्रेम हो जाता है। यह रहस्यका रहस्य है कि मेरी कृपाकी छत्र-छायामें जो आ जाता है, वह निश्चित ही मेरा भक्त बन जाता है। जिसका एक पग मेरी ओर बढ़ता है, उसकी ओर मेरे सहस्र पग बढ़ते हैं; क्योंकि मैं ऐसा न करूँ तो भवसागरमें पड़ा जीव अपनी ओरसे मुझको कहाँ पा सकता है।'

एक बार श्रीलक्ष्मणजीने पूछा—'प्रभुवर! जो भक्त आपकी ओर अग्रसर होता है, क्या उसको विषय-वासना नहीं सताती?' श्रीरामजीने हँसकर उत्तर दिया कि 'कभी-कभी सताती है। परंतु मैं उसपर दृष्टि रखता हूँ। जैसे पिता अपने बालकके नदी-स्नान करते समय उसपर दृष्टि रखता है, उसे गहरे जलमें नहीं जाने देता, उसी प्रकार मैं अपने भक्तको विषयमें लिप्त नहीं होने देता।' यहाँ प्रश्न होता है कि प्रारब्ध-कर्म भक्तपर कैसा प्रभाव रखते हैं। उत्तर यह है कि शरीरके साथ प्रारब्ध कर्मका अभिन्न सम्बन्ध रहता है। परंतु यदि भक्तने अपनेको प्रभु-चरणोंमें समर्पित कर दिया है तो जैसे पथिक प्रचण्ड घामसे व्याकुल हो सघन वृक्षकी छायामें पहुँचकर शान्ति पाता है, उसी प्रकार भक्त प्रभुकी भक्तिका आश्रय लेकर प्रारब्धके चंगुलसे निकल आता है। ऐसी दशा भक्तकी गौणी-भक्तितक रहती है। प्रारब्ध-कर्म उसको बरबस् विषयोंकी ओर ढकेलते हैं; उस समय भी वह प्रभुका स्मरण करता हुआ उनसे बचानेकी प्रार्थना भगवान्‌से करता है। तब उदार-शिरोमणि प्रभु उसकी विषय-वासनाकी भी पूर्ति कराकर उसे झट अपने चरणोंकी प्रीतिमें लगा लेते हैं।

फिर प्रश्न होता है कि 'क्या भगवान् अपने भक्तके लिये प्रारब्ध कर्मको नष्ट नहीं कर सकते?' उत्तर यह है कि मल त्याग करनेपर मल-स्थानको धोनेके लिये हाथसे स्पर्श करना ही पड़ता है, परंतु हाथमें मिट्टी लगानेसे मलिनता दूर होकर हाथ शुद्ध हो जाते हैं। शरीरधारीके लिये प्रारब्ध भोगना अनिवार्य होता है, परंतु भक्तको साधारण जीवकी भाँति भोगना नहीं पड़ता। भगवान्‌की कृपा उसके लिये सहायक होती है, जिससे उसका प्रभाव कम हो जाता है—जैसे ज्येष्ठका घाम होनेपर भी बादल घिर आनेसे सूर्यकी गरमी उतना व्याकुल नहीं करती। व्यक्तिविशेषके प्रारब्ध-नाशसे संसारमें उथल-पुथल हो सकती है। जैसे एक पिन मोटरकारको बिगाड़ देनेका कारण बन सकती है, वैसे ही किसी व्यक्तिविशेषके प्रारब्धका नाश करनेमें प्रलयकाल सम्मुख आ सकता है; क्योंकि कर्मकी कड़ियोंके ही आधारपर यह संसार आधारित है। एक व्यक्तिके कर्म असंख्य व्यक्तियोंके कर्मोंके साथ जुड़े रहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, जड पदार्थ, पर्वत, सागर, भूमि—सब एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। अतः पूर्णरूपसे किसीके भी प्रारब्धका नाश नहीं किया जा सकता; परंतु श्रीरामकी कृपासे भक्तको नाममात्रके लिये प्रारब्ध भोगना पड़ता है। शेष कर्मोंको वह अपनेमें लय कर लेती है। जैसे स्रोतसे नदीको जलकी सहायता मिलती है, वैसे ही प्रारब्धका संचित-राशिसे सम्बन्ध रहता है। पराभक्तिप्राप्त भक्तका संचित नाश हो जाता है; तब प्रारब्धका सहारा टूट जाता है और भगवत्-स्मरणरूप सूर्यके तापसे प्रारब्धका मूल भी रस पहुँचानेमें समर्थ नहीं होता। तब प्रारब्ध-वृक्ष खोखला पड़ जाता है, पूर्णरूपसे रस न पहुँच पानेके कारण अपना विकास पूर्णरूपसे नहीं कर पाता। जितनी शक्ति बिजलीकी लैम्पमें होती है, उतना ही प्रकाश चारों ओर विस्तृतरूपसे फैल जाता है। इसी प्रकार जैसा भजन-भाव होता है, उसी अनुपातसे प्रारब्धकी शक्ति कम हो जाती है—यहाँतक कि तीव्र भजन होनेपर वह नाममात्रके लिये रह जाती है।

अब प्रश्न यह है कि 'भक्ति कितने प्रकारकी होती है?' उत्तर यह है कि भक्ति दो प्रकारकी होती है—एक गौणी और दूसरी परा। और भक्ति कहते किसे हैं? इस सम्बन्धमें महर्षि नारदका वाक्य है—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।

(भक्ति-सूत्र १९)

अर्थात् समस्त आचार भगवान्‌के अर्पण कर देना और उन्हें थोड़ी देरके लिये भूल जानेपर भी विस्मरणसे अत्यन्त व्याकुल हो जाना।

शाण्डिल्यजीका कथन है—

आत्मरत्यविरोधेनेति   शाण्डिल्यः ।

(नारद-भक्ति सूत्र १८)

जब जगत्‌का नितान्त ध्यान न रहे और साधक एकमात्र आत्मचैतन्यमें ही सदा स्थिर रहे, इसीका नाम आत्मरति है। उसी आत्मरतिके साथ-साथ सगुणरूप भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्णके साथ एकरूप हो जाना ही भक्ति है।

महर्षि नारद इसीको बढ़ाकर कहते हैं कि "जब साधकका ऐसा स्वभाव हो जाय कि वह अपने सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर दे, प्रभुके स्मरणको कभी न भूले और यदि भूल जाय तो उसके चित्तमें विकलता हो, तब इस अवस्थाको 'भक्ति' कहते हैं।"

यहाँ फिर प्रश्न होता है कि आप्तजनोंने जिस मार्गको निर्धारित कर दिया है, उसी मार्गका अवलम्बन उचित है और वह है शास्त्रानुसार आचरण। दर्शनशास्त्रमें वेदान्त सर्वोपरि माना जाता है और वेदान्तका सिद्धान्त है—ज्ञानार्जन करके ब्रह्मको प्राप्त करना। तब शास्त्रका उल्लङ्घन करके भक्ति-मार्गपर चलना क्या उचित है? पक्की सड़क छोड़ अन्य मार्गसे जाना तो क्लेशकारक ही होता है।

दूसरा प्रश्न है कि 'बिना ज्ञानके भक्ति कैसे हो सकती है? जबतक ईश्वरका ज्ञान आपको न होगा, तबतक उनकी भक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है? बिना परिचय प्राप्त किये सम्भाषण कैसे हो सकता है?' उत्तर यह है कि जननीके साथ शिशुको परिचय करनेकी आवश्यकता नहीं है। उन दोनोंका परिचय स्वाभाविक है। अज्ञानी शिशुको ज्ञान कहाँ हो सकता है। उसकी देख-रेख स्वतः जननी करती है। इसी प्रकारका सम्बन्ध जीव और ईश्वरका है। जीव मायाके वश होकर ईश्वरसे विमुख हो जाता है और विषय-वासनाओंमें फँसकर ईश्वरको भूल जाता है। शक्ति-सम्पन्न तपस्वियोंने अपने विचारबलसे कामादि षड्विकारोंको शमन करनेका प्रयत्न किया और तब ईश्वरका अन्वेषण किया था। कोई ब्रह्मको उच्च सुमेरु पर्वतके उच्च शिखरके समान अगम्य—अचिन्त्य, कोई उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर अपना ही स्वरूप, कोई विराट्‌रूपमें विश्वभरमें व्याप्त कहते हुए बिना किसी आधारके ब्रह्मरूपी प्रासादपर चढ़ते थे और कभी-कभी [illegible] भरांकर नीचे आ गिरते थे। पुनः उसी ब्रह्मरूपी [illegible] शिखरपर आरोहण करते थे। यही क्रम अनेक [illegible] लगा रहता था। ब्रह्मके अन्वेषण करनेका यह प्रयत्न [illegible] की शक्तिपर अवलम्बित था। उस मार्गके पथिक आधुनिक कालमें भी हैं और भविष्यमें भी रहेंगे। यह मार्ग ब्रह्मके विराट् ऐश्वर्यकी छानबीन करता हुआ उसका पता लगाता है, परंतु अगाध अगम सागरका पार पाना क्या सम्भव है! भक्ति-मार्गका पथिक पथके शोधनकी चिन्ता नहीं करता, अर्थात् वह हृदयकी मलिनता-विक्षेपादिको दूर करनेमें समय नष्ट नहीं करता। प्रत्युत वह नाम तथा ध्यानका सहारा लिये भगवत्-चरणारविन्दमें अपने मलिन मनको लगाता आगे बढ़ता है।

'यहाँ प्रश्न यह होता है कि जो अभीष्ट स्थानके मार्गसे परिचित नहीं है, वह वहाँ कैसे पहुँच सकता है। भक्ति-मार्गपर चलनेवाले निर्बल और दीन होते हैं, जैसे नदीमें प्रस्तुत रहनेवाली नावके द्वारा घोर धारवाली नदी पार की जाती है, उसी प्रकार भक्तिके पथिकका [illegible] पथ-प्रदर्शन करती है। इसका कारण यह है कि आरम्भसे ही जीव पुकारता है—'हे नाथ! मैं दीन-निर्बल हूँ, करुणाकरकी कृपा मुझको सँभाले।' इस आर्त-पुकारको सुन भगवान् अपनी कृपाका सहारा देते हुए उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ऐसा क्रम गौणी भक्तितक ही रहता है; और जब वह भक्त गौणी विभागकी उत्तम सीढ़ीको भी पार कर जाता है और पराभक्तिके प्रथम सोपानपर पग रखता है, तब करुणासागर भक्तवत्सल दीनबन्धु राम स्वयं उस भक्तके पास उपस्थित होते हैं। जिसने मन-वचन-कर्मसे प्रभुकी शरण स्वीकार कर ली है, उसके साथ जो कोई भी घटना घटती है, उसमें वह अनुभव करता है कि उदार-शिरोमणि रामने मेरे हितके ही ऐसा किया है। फिर तो घोर-से-घोर दुःख आ पड़नेपर भी वह घबराता नहीं; क्योंकि उसको विश्वास रहता है कि मुझ अल्पबुद्धि दीन-जनकी रक्षा वे करुणाकर अवश्य करेंगे। अतः ज्ञान और भक्तिमें यही भेद है कि ज्ञानी ब्रह्मके निकट स्वयं जाता है और भक्तके पास प्रभु राम स्वयं आते हैं। अर्थात् ज्ञानी अपनी शुद्ध बुद्धिद्वारा पथ-प्रदर्शन करता है और उसके सहारे जाता है; श्रीराम भक्तके पास आते हैं और [illegible] फिर लौटकर जाते नहीं।

यहाँ एक प्रश्न होता है—क्या प्रभु श्रीरामके आनेकी बात भी सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे स्तनंधय-दशामें बालक जननीको केवल स्तनपान करानेवाली समझता है और कौमार्य वयकी प्राप्ति हो जानेपर जब उसे पहचानने लगता है, तब वह माताके साथ प्रेम करने लगता है। उसी प्रकार प्रभु-आगमनके आरम्भमें भक्तके द्वारा कोई कार्य हो जानेपर वह अपनी अनुपम-विवेकोत्पत्तिसे अनुभव करता है कि मुझमें ऐसी सामर्थ्य नहीं थी कि इस कार्यको कर पाता, यह उन्नायक-परिवर्तन प्रभुकी कृपाद्वारा ही सम्पन्न हुआ है। इसके पश्चात् उसमें ज्ञान, वैराग्य, धर्म, सत्य, शान्ति, धैर्य, क्षमा, शौच आदिकी मात्रा बहुत बढ़ जाती है। जैसे सावनके आते ही मेघ गगनको मेदुर बनाते हुए गुम्फित कर लेते हैं, उसी प्रकार जब भक्तार्जन जगत्पति राम हृदयमें आकर डेरा जमा लेते हैं तब भक्तमें उपर्युक्त गुण बिना ही प्रयत्न किये आ जाते हैं और पराभक्तिके उत्तर भागमें प्रभु स्वतः अव्यक्त, अगोचर नहीं रह सकते। जैसे सघन श्याम घन-घटाको बरसना ही पड़ता है, उसी प्रकार एक बार प्रभु जब हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं, तब और अभिन्नता होनेपर वे कृपालु साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। चर्म-चक्षुओंके लिये जो अलुलभ हैं, वे सुलभ ही जाते हैं। पेट्रोल, जो द्रवित दशामें बिना भड़के टंकियों और बैरलोंमें भरा रहता है, जरा-सी चिनगारी पाकर भड़क उठता है। जल प्राकृतिक रूपमें तरलप्रवाहमय रहता है, परंतु शीताधिक्यको पाकर पत्थर-सा दुर्गरूप धारण करता है। उसी प्रकार ब्रह्म राम अगोचर—अव्यक्त होते हुए भी पराभक्तिकी विकासावस्थामें अपने साधारण गोपनीय रूपसे विरत हो साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। मनु-शतरूपा एवं उनके परवर्ती अनेक परम भक्त सूरदास-तुलसीदास आदि इसके साक्षी हैं।

फिर प्रश्न होता है—गौणी और पराभक्तिके क्या लक्षण हैं ? गौणी भक्ति नवधा भक्तिका बीज है। भगवान्‌की महिमा और दया-वत्सलता आदिके स्मरणसे साधकके हृदयमें भक्तिकी जो प्रथम अवस्था उदय होती है, उसको गौणी भक्ति कहते हैं। उपासना एवं योग आदिसे गौणी भक्तिका विकास होता है। संकीर्तन, सामूहिक भजनसे मनकी प्रवृत्तियाँ पवित्र होने लगती हैं और फिर साधक एकान्त सेवन करने लगता है। उस दशामें उसके अन्तःकरणके रजोगुण तथा तमोगुण कुछ दब जाते और सत्त्वगुणका विकास होता है। उसमें गम्भीरता, मौन, मितभाषण एवं अन्तर्मुखी वृत्तिका आरम्भ हो जाता है। अभिमान कुछ दब जाता है। एकान्तमें उसको स्वतः सविकल्प समाधिका अनुभव होने लगता है। योगशास्त्रमें लिखा है कि जब मनमें रज और तमका क्षय और सत्त्वगुणका आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, तब रज-तमकी सूचक क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं और तब निरुद्ध अवस्था प्राप्त होती है। तभी समाधिका उदय होता है। परंतु भक्ति-साधनमें अन्तःकरण प्रभु-गुण-गान तथा नाम-जपसे स्वतः शुद्ध हो जाता है और उसकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है। जब अनुरागका आरम्भ होता है, बिना तारके तारकी तरह श्रीप्रभुके साथ साधकका सम्बन्ध हो जाता है और गङ्गा-यमुनाके संगमकी भाँति भक्त और भक्तवत्सलका संयोग अप्रच्छन्नरूपसे होता है। जैसे धाय बालकको माताके पास ले जाती है, उसी प्रकार प्रभु-कृपा भक्तके हृदयमें नव-अनुराग उत्पन्न कराती हुई उसे आगे बढ़ाती रहती है। ऐसी ही दशामें भक्तके मनमें जगत्‌से वैराग्य उत्पन्न होता है और ज्यों-ज्यों वैराग्य दृढ़ और प्रगाढ़ होता है, त्यों-त्यों प्रभुमें अचल प्रीति होती जाती है और जब भक्त अपनेको पूर्णरूपसे प्रभु-पाद-पद्ममें समर्पित कर देता है, तब पराभक्तिका आरम्भ हो जाता है। परंतु ऐसे समर्पणमें छल नहीं होना चाहिये—छल यह कि प्रीति तो की जाय, परंतु स्वार्थ-साधनकी वासना भी साथ-साथ चलती रहे।

ऐसा विचार मनमें दृढ़ रहना चाहिये कि जो कुछ करें प्रभु श्रीराम ही करें। उन्हींको अपना सारा उत्तरदायित्व सौंप देना चाहिये। जब ऐसी दशा भक्तकी हो जाती है, तब बलात् कृपालु रामको भक्तका योगक्षेम निबाहना पड़ता है। अर्थात् जो वस्तु उसको प्राप्त है, उसकी रक्षा और जो पदार्थ उसे प्राप्त होनेको है, उसके लिये प्रयत्न अनुरागाधीन श्रीरामको स्वयं करना पड़ता है। इतना ही नहीं, उसको वे अपनी ओर आकर्षित भी करते हैं। इस प्रकार उसका लौकिक और पारलौकिक सारा भार प्रभु स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं। इधर आगे चलकर भक्तकी दशा प्रमत्तकी-सी हो जाती है—वह देखता हुआ भी नहीं देखता, कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता। कारण, उसका मन श्रीरामके चरणारविन्दमें अचलरूपसे लगा रहता है और चक्षु, हाथ, जिह्वा आदि इन्द्रियोंमें विचारशक्ति है नहीं। प्रतिक्षणका प्रभु-स्मरण तथा सप्रेम ध्यान संचित कर्मराशिको नष्ट कर देते हैं और नया क्रियमाण बनता ही नहीं। केवल प्रारब्ध शेष रह जाता है। जैसे चारों ओरसे

घिर जानेपर शत्रुको आत्मसमर्पण करना ही पड़ता है, उसी प्रकार मन-वचन-कर्मसे भगवत्-भजन होते रहनेके कारण, जैसे जलधारा बालूकी राशिको बहा ले जाती है, उसी प्रकार निरन्तर भजनमें लगा चित्त प्रारब्धको बिल्कुल कमजोर कर देता है । केवल बाह्य शरीरके अङ्ग-अवयव जो प्रारब्धके अनुसार गर्भमें बने और प्रादुर्भूत हुए थे, वे तो दीखते हैं; परंतु उनपर भी भजनके गुणोंका प्रभाव रहता है । आगे चलकर जीवित दशामें ही भक्त और भक्तवत्सल एक-से हो जाते हैं ।

विधिनिषेधागोचरत्वमनुभवात् । (दैवीमीमांसा)

अर्थात् स्वरूपका अनुभव हो जानेपर मनुष्यके लिये विधि-निषेध नहीं रहता । जब भक्त पराभक्ति प्राप्त कर लेता है, तब मुझे यह कर्म करना चाहिये और वह नहीं करना चाहिये—इसका विचार वह त्याग देता है । यहाँ यह प्रश्न होता है कि साधकको शरीर रहते हुए इन्द्रिय, मन और बुद्धिको साथ रखना ही पड़ता है । तब ये सब व्यापार अवश्य करेंगे । यदि करेंगे तो विधि-निषेध इनपर लागू अवश्य होगा ? इसका उत्तर यह है कि मोटरकारका इंजिन चलता रहता है, परंतु उसकी पहिया नहीं हिलती । क्योंकि स्टीयरिंग और क्लच न घुमानेसे उसकी पहिया नहीं हिलती । इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि साधारणरूपसे अपना व्यवहार प्राकृतिक शरीरकी रक्षाके रूपमें करते हैं, परंतु भक्तको उसका विशेष अनुभव नहीं होता; क्योंकि मन और बुद्धि संयुक्तरूपसे भगवान् श्रीरामके चरण-चिन्तनमें लगे रहते हैं ।

जैसे स्थिर जलमें पवन-वेगसे लहरें उठती हैं अथवा ढेला फेंकनेसे जलमें उछाल होती है और लहरें दौड़ पड़ती हैं, उसी प्रकार परमहंसवृत्तिधारी संतको कोई छेड़ता है तो उसमें उसके अनुसार ही आचरण देखनेमें आते हैं । उसका ऊपरका व्यवहार अपना नहीं रहता, सङ्ग उसमें कारण होता है । पुजारीने मूर्तिको पीतवस्त्रसे सजाया तो वह पीतवस्त्रके साथ देख पड़ी; और नीले वस्त्र पहना दिये तो नीले रूपमें दृष्टिगत हुई । उन सबका कारण पुजारी है ।

पराभक्तिमान भक्त भगवान्‌के अतिरिक्त [illegible] भिन्नरूपसे नहीं देखता । भक्तिमार्गमें [illegible] न होनेपर भी यह सालोक्य प्राप्त करता है—

अविपक्वभावानामपि तत्सालोक्यम् । ([illegible])

अर्थात् भाव दृढ़ न होनेपर भी [illegible] प्राप्त होती है । कहनेका तात्पर्य यह कि मिश्री [illegible] मधुरताका अनुभव कराता है । अब प्रश्न होता है—[illegible] प्राप्त कैसे हो ? उत्तर है कि इसके उपाय [illegible] प्रकारके वर्णन किये हैं—

महिमाख्यान इति भरद्वाजः ।

अर्थात् भगवान्‌की महिमा वर्णन करना ही [illegible] है, यह महर्षि भरद्वाजका मत है ।

जगत्सेवा प्रवृत्ताविति वसिष्ठः ।

जगत्-सेवामें प्रवृत्ति ही [illegible] है, यह [illegible] वसिष्ठका मत है ।

तदर्पिताखिलाचरण इति [illegible] ।

अर्थात् भगवान्‌को समस्त धर्म समर्पण करना ही [illegible] उच्च स्थितिका लक्षण है, यह महर्षि [illegible] मत है ।

तद्विस्मरणादेव व्याकुलतास्वरूपेति नारदः ।

अर्थात् उनका (श्रीरामका) विस्मरण होनेपर व्याकुल[illegible] होना ही ऐसी उच्चस्थितिका लक्षण है, यह महर्षि नारदका मत है ।

माहात्म्यज्ञानमपेक्ष्यम् । ([illegible])

अर्थात् पराभक्तिमें माहात्म्य ज्ञानकी भी [illegible] है । भगवान्‌के लीला-चरित्रोंको सुनकर प्रेम [illegible] होता है, मनोमोहक लीलाओंसे अनुराग [illegible] है । उनके लीला-कार्योंको स्मरणकर भक्त गद्गद हो [illegible] है और उनकी स्तुतिसे अपनी भक्तिको [illegible] है । माहात्म्यके जाने बिना मनुष्यको [illegible] है कि भगवान्‌ने अवतार लेकर क्या किया ? यदि [illegible] न किया जाता तो शबरी, [illegible] यहाँ प्रभुके पधारनेका वृत्तान्त [illegible] भावानुकूल श्रीरामके [illegible] ।

भक्ति और योग

(लेखक—डा० मनुशङ्कर नीलकण्ठ आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान् वेदव्यासने अपने योगभाष्यमें 'योग' की व्याख्या करते हुए कहा है—योगः समाधिः[1]। अर्थात् योगका अर्थ है समाधि । इस प्रकार भारतीय दर्शन-शास्त्रोंमें योग और समाधिको पर्यायवाची शब्द माना गया है । भगवान् पतञ्जलिने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—योगके ये आठ अङ्ग बतलाये हैं। इनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये योगके बहिरङ्ग साधन हैं तथा धारणा, ध्यान और समाधि—योगके अन्तरङ्ग साधन हैं—ऐसा भगवान् पतञ्जलिका कहना है[2]।

धारणाकी व्याख्या करते हुए योगसूत्रमें कहा गया है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । (३ । १)

अर्थात् किसी एक देशमें—ध्येय पदार्थमें चित्तको लगानेका नाम 'धारणा' है । इस प्रकार ध्येयमें लगा हुआ चित्त उसमें स्थिर रहे और वह वृत्ति एकतार बनी रहे तो उसको 'ध्यान' कहते हैं । योगसूत्रका वचन है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । (३ । २)

अर्थात् ध्येय वस्तुमें चित्तकी एकतानताका होना 'ध्यान' कहलाता है । और इस प्रकार ध्यान सिद्ध होनेके बाद जब साधककी केवल ध्येयकी ही प्रतीति होती है, तो वह स्थिति 'समाधि' कहलाती है ।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

(३ । ३)

अर्थात् जब ध्यानमें केवल ध्येयकी ही प्रतीति होती है और चित्त अपने स्वरूपसे शून्यवत् हो जाता है, तब उस स्थितिको 'समाधि' कहते हैं । समाधिका प्रथम सोपान धारणा और द्वितीय सोपान ध्यान है । धारणा सिद्ध होनेके बाद ध्यान और ध्यान सिद्ध होनेके बाद साधक समाधि-स्थितिमें पहुँच सकता है । ध्येय वस्तुमें जब चित्त अखण्ड धारारूपमें स्थिर रहता है, तभी समाधि स्थिति प्राप्त होती है । चित्तको ध्येयमें जोड़ना धारणा है, ध्येयमें स्थिर करना ध्यान है और ध्येयमें तन्मय हो जाना समाधि है ।

१. योगसूत्र १ । १ व्यासभाष्य ।

२. योगसूत्र २ । ७ ।

इस प्रकार समाधिका जो लक्षण योगसूत्रमें दिखलाया है, वही लक्षण भक्तिका 'भक्तिरसायन' ग्रन्थमें यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीने बतलाया है । जैसे—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

(१ । ३)

अर्थात् सर्वेश्वर भगवान्‌में भगवद्धर्मोंके अनुष्ठानसे द्रवित हुए मनकी धारावाहिकताको प्राप्त वृत्ति 'भक्ति' कहलाती है। इस व्याख्यामें यम-नियम आदिके द्वारा इन्द्रियोंको संयममें रखकर भगवान्‌के गुणोंका श्रवण करना 'भगवद्धर्म'के रूपमें समझाया गया है और भगवद्धर्मसे पवित्र हुआ मन जब अखण्ड धाराके रूपसे सर्वेश्वर परमात्मामें स्थिर होकर तन्मय हो जाता है, तब उस वृत्तिको 'भक्ति' नामसे पुकारते हैं । इस प्रकार भगवान् पतञ्जलिने 'योग' की जो व्याख्या की है, वही व्याख्या 'भक्ति'की श्रीमधुसूदन सरस्वतीने की है । चित्त जब भगवान्‌को ही अपना ध्येय बनाकर उसमें अखण्ड धारावाहिकतासे तन्मय बन जाता है, तभी उसको भक्ति कहते हैं ।

अन्य आचार्योंने इसी भक्तिको पराभक्ति नाम प्रदान किया है । महर्षि शाण्डिल्य अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

सा परानुरक्तिरीश्वरे । (१ । १ । २)

अर्थात् ईश्वरमें परम अनुराग ही भक्ति है । संसारके सब विषयोंसे मन हट जाय और भगवान्‌में ही परम प्रीति-युक्त होकर जुड़ जाय तो उस स्थितिको भक्ति कहेंगे—यही इस सूत्रका अभिप्राय है । शाण्डिल्य मुनिने ईश्वरमें अखण्ड प्रेम-प्रवाहको ही 'भक्ति' नाम प्रदान किया है।

ईश्वरको ही ध्येय बनाकर, उसमें तन्मय होकर, चित्तका ईश्वरके प्रति परम अनुरक्त होना—इसको 'परम प्रेमरूपा भक्ति' नाम महर्षि नारदजीने दिया है । अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी व्याख्या करते हुए नारदजी कहते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । (ना० भ० २)

अर्थात् भगवान्‌में अनन्य परम प्रेम-प्रवाहका ही नाम भक्ति है ।

इस प्रकार भक्ति ही सम्प्रज्ञात समाधि है । भक्ति ही

योग है। भक्तिसे सम्प्रज्ञात योग और फिर असम्प्रज्ञात योगकी भूमिका प्राप्त होती है, और साधकको सायुज्य मुक्ति मिल जाती है।

भगवान् पतञ्जलिने 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१ । २३) इस सूत्रमें योगके अष्टाङ्गोंको अलग रखकर 'केवल ईश्वरकी भक्तिसे ही योग-समाधि सिद्ध होती है' यह बतलाया है। क्योंकि जब भक्त भगवान्‌को ही ध्येय बनाकर, उसमें अपने चित्तको अखण्ड प्रवाहवत् ध्यानद्वारा युक्त करके तन्मय करता है, तब उस धाराप्रवाहिकतासे चित्त ध्येयाकार बन जाता है और वही समाधिकी स्थिति है। इस प्रकार भक्ति ही समाधिका रूप ले लेती है। नारदजी आगे चलकर यह भी कहते हैं कि भगवान्‌में स्थित चित्त यदि थोड़ी देरके लिये भी भगवान्‌को भूल जाता है तो उसको परम व्याकुलता होती है—

तद्विस्मरणे परमव्याकुलता। (ना० भ० १९)

इसीसे इसको 'अनन्य प्रेम' या 'पराभक्ति' कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(६ । ४६)

—यह कहकर प्रतिपादन किया गया है कि भक्ति ही योग है, और उस भक्तियोगको तप, ज्ञान और कर्मसे भी श्रेष्ठ बतलाया है।

भक्तिका स्वरूप

(लेखक—डा० श्रीनृपेन्द्रनाथ राय चौधरी एम० ए०, डी० लिट्०)

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम है योग। मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है—श्रीभगवान्‌को पाना। शास्त्रोंमें भगवत्प्राप्तिके उपायस्वरूप कर्म, ज्ञान और भक्ति—त्रिविध योगका विषय विस्तारसे वर्णित है। कोई-कोई अष्टाङ्गयोगको भी स्वतन्त्र योग समझते हैं। परंतु गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे प्रतीत होता है कि वह कर्मयोगके ही अन्तर्गत है। अष्टाङ्गयोगके अङ्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि बिना कर्मके निष्पन्न नहीं हो सकते। वस्तुतः कर्मयोगको सारे योगोंकी भित्ति कह सकते हैं। भक्ति और ज्ञान दोनोंका ही अनुशीलन करनेके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता होती है। स्वयं श्रीभगवान्‌ने कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
(गीता ३ । ५)

'कर्म किये बिना कोई क्षणमात्र भी नहीं रह सकता।' तथापि शुद्ध भक्त और शुद्ध ज्ञानी, दोनों ही आसक्ति-रहित होकर केवल कर्तव्य मानकर कर्म करते हैं। भगवत्प्राप्तिके इन तीनों उपायोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है, इस विषयको लेकर विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्योंमें पूर्वापर मतभेद चला आ रहा है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इनके सामञ्जस्य-का प्रयास दीख पड़ता है। परंतु वहाँ भी वही पुराना विवाद विद्यमान है। कर्मयोगके विषयमें चाहे उतनी बात न हो, परंतु ज्ञान और भक्तिमें कौन बड़ा है—इसकी मीमांसा आजतक न तो हुई और न ऐसा लगता है कि भविष्यमें भी हो सकेगी। शिव-महिम्नस्तोत्रकी भाषामें इतना कह सकते हैं कि जब तक मनुष्योंमें रुचिवैचित्र्य बना रहेगा, तबतक ऋजु और कुटिल नाना मार्गोंका अवलम्बन करके ही मनुष्य भगवान्‌को पानेकी चेष्टा करता रहेगा। तथापि यह बात अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं कि ज्ञानका पथ बड़ा ही दुर्गम है और भक्तिका पथ बहुत कुछ सहज है। स्वयं श्रीभगवान् भी कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

'जो अव्यक्त अर्थात् निर्गुण ब्रह्मके प्रति आसक्त हैं उनको अधिक कष्ट उठाना पड़ता है।' भागवतमें भी ब्रह्माजीने भक्तिके मार्गको [illegible] है। जैसे—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(१० । १४ । ४)

अर्थात् हे विभो! जो तुम्हारी भक्तिके [illegible] पथ भक्तिका त्याग करके केवल अद्वैतज्ञानकी प्राप्तिके लिये कष्ट उठाते हैं, उनको अपनी [illegible] भूसी कूटनेवालेके समान केवल क्लेश ही हाथ लगता है।'

इस प्रकारकी भक्ति है क्या वस्तु—इस सम्बन्धमें

[illegible]
गया है।

उपनिषद् ग्रन्थ आर्य जातिके श्रेष्ठ अवदान हैं। मुक्तिकोपनिषद्में १०८ उपनिषदोंका नामोल्लेख है। इनके सिवा और भी बहुतसे उपनिषद् हुए होंगे। अष्टोत्तरशत उपनिषदोंमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक—इन दस उपनिषदोंको सभी सम्प्रदायके लोग प्रधान या मुख्य उपनिषद् मानते हैं। इनमें किसी एकमें भी 'भक्ति' शब्दका उल्लेख नहीं है। भक्ति पदार्थके स्थानान्तर-रूपमें किसी-किसी उपनिषद्में 'श्रद्धा' शब्दका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। 'श्रद्धा' शब्दकी व्याख्यामें आचार्य शंकर कहते हैं—

गुरुवेदान्तवाक्येषु दृढविश्वासः श्रद्धा।

अर्थात् आचार्य और शास्त्रके वचनोंमें दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा है। गीतामें कहा गया है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।' श्रद्धाके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। परंतु कहीं भी यह बात नहीं कही गयी है कि श्रद्धाके द्वारा भक्ति प्राप्त होती है। भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य कहते हैं कि श्रद्धा और भक्ति एक ही वस्तु हैं। श्रद्धाद्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है, परंतु भगवान्‌की प्राप्तिका उपाय है भक्ति—

नैव श्रद्धा तु साधारण्यात्।

(भक्तिसूत्र १।२४ तथा साम्नायसूत्र ५७)

परंतु 'श्रद्धा' शब्दकी भक्तिके अनुकूल ही व्याख्या की गयी है। जैसे—

श्रद्धा त्यक्तोपायवर्जं भक्त्युन्मुखचित्तवृत्तिविशेषः।

अर्थात् कर्म, ज्ञान आदि उपायोंका त्याग करके भक्तिके प्रति उन्मुख चित्तवृत्तिविशेषका नाम श्रद्धा है। ईशादि मुख्य दस उपनिषदोंमें 'भक्ति' शब्दका उल्लेख न प्राप्त होनेपर भी श्वेताश्वतर उपनिषद्‌के अन्तिम मन्त्रमें 'भक्ति' शब्दका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

'जो देवताके प्रति (परमेश्वरके प्रति) परम भक्तिमान् हैं तथा गुरुके प्रति भी वैसे ही भक्तिमान् हैं, यह उपनिषत्-तत्त्व उन्हींके सम्मुख प्रकाशित होता है।' उपनिषदोंमें भक्तिवादकी खोज करनेवाले कोई-कोई आचार्य कठोपनिषद्‌के इस मन्त्रकी भक्तिवादके अनुकूल व्याख्या करते हैं—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।

'जिसपर वे परमात्मा कृपा करते हैं, उसीके सामने वह अपने तनुको प्रकाशित करते हैं।' परंतु आचार्य शंकर आदि अद्वैतवादी इस मन्त्रकी निर्विशेष ब्रह्मवादके अनुकूल व्याख्या करते हैं। छोटे-छोटे उपनिषदोंके अन्तर्गत गोपालतापनीय, नृसिंहतापनीय, रामतापनीय आदि ग्रन्थोंमें तत्तत् देवताकी उपासना और भजनकी बात विस्ताररूपसे वर्णित है। भक्तिके द्वारा भजन ही इन सब ग्रन्थोंकी प्रतिपाद्य वस्तु है।

'भक्तिसूत्र'के नाम दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—एकके रचयिता हैं देवर्षि नारद और दूसरेके महर्षि शाण्डिल्य। दोनों ही ग्रन्थ विष्णुपुराण, महाभारत, हरिवंश और श्रीमद्भागवतके बाद रचे गये हैं, इसका प्रमाण स्थान-स्थानपर ग्रन्थस्थ सूत्रोंमें ही प्राप्त होता है। नारदीय भक्तिसूत्र ८४ सूत्रोंमें समाप्त होता है। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रोंकी संख्या एक सौ है। नारदके भक्तिसूत्रमें शाण्डिल्यका नाम आता है। परंतु शाण्डिल्यके सूत्रोंमें नारदका उल्लेख नहीं है। देवर्षि नारद ब्रह्माके मानसपुत्र हैं। अतएव महर्षि नारद शाण्डिल्यके पूर्वज तथा भक्ति-धर्मके अन्यतम आदिप्रचारक हैं; परंतु शाण्डिल्यने अपने भक्तिसूत्रमें अन्यान्य आचार्योंके नामका उल्लेख करते समय देवर्षि नारदका नामतक नहीं लिया है—यह क्या आश्चर्यकी बात नहीं है? नारदीय भक्तिसूत्रकी कोई टीका हमारे देखनेमें नहीं आयी। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रकी एक टीका हमने देखी है। इसके रचयिताका नाम स्वप्नेश्वर है। ये स्वप्नेश्वर वैष्णव-साहित्यमें सुपरिचित वासुदेव सार्वभौमके पौत्र थे। उनके पिताका नाम जलेश्वर वाहिनीपति था। जलेश्वर उत्कलके राजा गजपति प्रतापरुद्रके अन्यतम सेनापति थे, अतएव 'वाहिनीपति' उनकी उपाधि हो गयी। स्वप्नेश्वरने प्रधानतः गीता और श्रीमद्भागवतका आश्रय लेकर ही अपनी टीकाकी रचना की है।

भक्तिकी संज्ञा और स्वरूपका निर्णय करते हुए देवर्षि नारद कहते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ २॥

अमृतस्वरूपा च॥ ३॥

अर्थात् भगवान्‌के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही भक्ति है तथा भक्ति अमृतस्वरूपा है। भक्ति प्राप्त होनेपर त्रितापकी ज्वाला दूर होती है, मनमें विमल शान्तिका उदय होता है। 'योग-सारस्तव' में भी कहा गया है—

इसीका नाम आत्यन्तिक भक्तियोग है। इसके द्वारा मेरे भक्त त्रिगुणात्मिका मायाका अतिक्रम करके मेरे विमल प्रेमको प्राप्त करते हैं।'

> स एष भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
> येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

गीतामें भी श्रीभगवान्ने मायाको 'दैवी' और 'दुरत्यया' कहा है। मायाको जीतना बहुत कठिन है। परंतु—

> मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'जो मेरी शरण ले लेते हैं, माया उनको फिर आबद्ध नहीं कर सकती।' इसी कारण गीताका चरम उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

भक्तिके लक्षणके सम्बन्धमें पूर्वाचार्योंके मतकी आलोचना करते हुए देवर्षि नारदने कहा है कि 'पराशरपुत्र व्यासजीके मतसे श्रीभगवान्की पूजा आदिमें जो अनुराग है, उसीका नाम भक्ति है।' गर्ग मुनिके मतसे भगवान्की कथामें (अर्थात् नाम, रूप, गुण और लीलाके कीर्तनमें) अनुरागका नाम भक्ति है। महर्षि शाण्डिल्यके मतसे अपने आत्मामें (परमात्माके अभिन्न अंशरूपमें) अबाध अनुरागका ही नाम भक्ति है।' शाण्डिल्यका मत आपातदृष्टिसे अभेदवाद-मूलक जान पड़ता है, तथापि वस्तुतः ऐसा नहीं है। जीव भगवान्का अंश अवश्य है; परंतु भगवान् विभुचैतन्य हैं और जीव अणुचैतन्य है। अतएव दोनोंमें सेव्य-सेवक-भावका सम्बन्ध नित्य विद्यमान है।

> जीवेर स्वरूप हय नित्य कृष्ण दास।
> कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥
>
> (चैतन्यचरितामृत)

पुराणोत्तर युगमें भक्तिके सर्वश्रेष्ठ विश्लेषणकारी श्रीपाद रूपगोस्वामीके मतसे—

> अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् अन्य अभिलाषसे शून्य, ब्रह्म-ज्ञान तथा फल-युक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म आदिसे अनावृत, कृष्णमें रुचियुक्त प्रवृत्तिके साथ कृष्णानुशीलन ही उत्तमा भक्ति है। पहले नारद-पाञ्चरात्रसे भक्ति-लक्षण-विषयक जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसके साथ इस श्लोकका जो तात्त्विक ऐक्य है, उसके विश्लेषणकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

गीताके प्रसिद्ध टीकाकार और सुविख्यात 'अद्वैत-सिद्धि' ग्रन्थके प्रणेता श्रीमधुसूदनसरस्वती अपनी वृद्धावस्थामें लिखे (सम्भवतः अन्तिम) ग्रन्थ 'भक्ति-रसायन'में भक्तिके लक्षणका निर्देश करते हुए कहते हैं—

> द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
> सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

अर्थात् 'भगवान्के गुण, महिमा आदि श्रवण करके सत्त्व-गुणके उद्रेकवश मन द्रवीभूत होकर भगवान्के प्रति अविच्छिन्न तैलधाराके समान जिस चिन्तनधारामें लीन हो जाता है, उसीका नाम भक्ति है।'

जो लोग भक्तिके सम्बन्धमें अधिक जाननेकी अभिलाषा रखते हों, उनको श्रीजीवगोस्वामीकृत 'भक्ति-संदर्भ' और 'भक्तिरसामृत-शेष', श्रीविष्णुपुरीगोस्वामीकृत 'विष्णुभक्ति-रत्नावली' तथा उसकी 'कान्तिमाला' नामक टीका, एवं गौडीय वैष्णवाचार्य श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीकृत 'माधुर्य-कादम्बिनी'-के अध्ययनसे अपार आनन्दकी प्राप्ति होगी।

भगवान्का भक्त विषयोंसे पराजित नहीं होता

भगवान् कहते हैं—

> बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः। प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।१८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार जिसे बाधा पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी क्षण-क्षणमें बढ़नेवाली मेरी प्रगल्भ भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

भक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीताराचन्दजी पाण्ड्या, बी० ए०)

यहाँ भक्तिका तात्पर्य भगवान्की अर्थात् परमात्माकी भक्तिसे है। विषय-भोगोंकी भक्ति तो सभी सांसारिक प्राणी करते हैं—सदासे करते आ रहे हैं। इस भक्तिको भगवान्की ओर मोड़ना है, जैसा कि तुलसीदासजीने कहा है—

> कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
> तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

भक्ति, श्रद्धा, प्रतीति, भाव, प्रेम या रुचि—ये सब मूलतः एवं परिणामतः एक ही हैं।

जन्मसे भेड़ोंके झुंडमें पलकर अपने-आपको भेड़ समझनेवाले सिंहको दूसरा सिंह देखकर एवं जल आदिमें अपनी परछाईं देखकर अपने सिंह होनेका तथा भेड़ न होनेका बोध होता है। कीट भ्रमरका चिन्तन करते-करते भ्रमर बन जाता है। ऐसा ही फल भक्तिका होता है।

अनादिकालसे यह संसारी आत्मा (जीव) अपने ब्रह्मस्वरूपको भूला हुआ है—अपने सत्-चित्-आनन्दमय रूप अर्थात् अपने अजर, अमर, अनन्त ज्ञानमय तथा अनन्त आनन्दमय स्वरूपको भूलकर उससे प्रेम न करके बाहरी, तुच्छ, पराधीन वस्तुओंमें निजपना मानता या उनमें सुख ढूँढ़ता गाफिल हो रहा है। भगवद्-भक्तिसे जीवको भगवान्से प्रेम होकर उनके स्वरूप—सच्चिदानन्दमय रूपके प्रति प्रेम एवं श्रद्धा होती है। इससे तुच्छ, पराधीन, सुखाभासप्रद सांसारिक भोगोंसे रुचि हटकर शाश्वत आनन्द आदिकी इच्छा होती है और अपने स्वरूपका बोध होकर उसकी उपलब्धि होती है; क्योंकि आत्माके और परमात्माके स्वरूपमें भिन्नता नहीं है और मन जो कुछ सोचता है, जिस किसीका ध्यान करता है, वैसा ही बन जाता है। सच्चे प्रेम तथा प्रेमीके ध्यानमें प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पदकी, ध्यान-ध्याता-ध्येयकी एकता हो जाती है।

उपनिषदोंके प्रसिद्ध वाक्य हैं—सोऽहम् (वही परमात्मा मैं हूँ), तत्त्वमसि (तू वही परमात्मा है) ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही बन जाता है)। यहाँ जाननेका अर्थ शास्त्रीय या शाब्दिक ज्ञान नहीं है, किंतु प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध ज्ञान—एक प्रकारसे आत्माद्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन या साक्षात्कार है। मनुस्मृतिमें भी अन्तमें कहा गया है—आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। (१२ । ११९) अर्थात् अपनी आत्मा ही सर्वदेवतास्वरूप है—सब आत्मामें ही स्थित हैं। बाइबल भी कहती है कि 'परमात्माने मनुष्यको अपने-जैसा ही बनाया' (जैनेसिस १ । २६, ५ । १); 'तुम ही देव हो' (सेंट जॉन १० । ३४; पद-संग्रह ८२ । ६); 'मानवमात्र प्रभुके पुत्र हैं' (१ जॉन ३ । १-२); 'परमात्माका राज्य तुम्हारे अंदर है' (सेंट ल्यूक १७ । २१); और 'तुम भी वैसे ही पूर्ण बनो, जैसा कि स्वर्गमें तुम्हारा पिता (परमात्मा) पूर्ण है।' (सेंट मैथ्यू ५ । ४९)।

जो आत्मासे प्रेम करेगा, वह परमात्मासे भी प्रेम करेगा और इसी तरह जो परमात्मासे प्रेम करेगा, वह आत्मासे भी प्रेम करेगा; क्योंकि आत्मा और परमात्मा दोनोंका स्वरूप [illegible] एक-सा है और जिसे आत्मा या परमात्मासे प्रेम है, उसे उनके गुणोंसे भी प्रेम है।

जो परमात्मासे प्रेम करेगा, वह उनके भक्तों, उनके गुणोंका अनुसरण करनेवालों और उनके उपदेशों [illegible] प्रेम करेगा। इसी प्रकार भक्तों, संतों या उनके [illegible] उपदेशों [illegible] प्रेम करनेवालेका परमात्मासे भी प्रेम हो जाता है।

माला, तस्वीर, जप, मूर्तिपूजा आदि सभी [illegible] हैं, जब उनके साधनसे परमात्मामें भक्ति हो।

परमात्माकी चाहे आत्मस्वरूप समझकर या [illegible] स्वरूप समझकर भक्ति करें, फल एक-सा ही होगा। [illegible] गुणोंके प्रेमी होकर तत्स्वरूप या तन्मय बन जायँगे। [illegible] श्रद्धा तथा ध्यानका यही फल है।

जो विभूति, शक्ति, सौन्दर्य आदिके प्रेमी [illegible] की याद विभूति, शक्ति, सौन्दर्य आदिके [illegible] भक्त बन सकते हैं और फिर उनके [illegible] गुणोंके प्रेमी बन जाते हैं। [illegible] भी [illegible] है।

क्षीरसागरका प्रेमी पोखरके गँदले पानीसे प्रेम [illegible] अमृतका इच्छुक क्या [illegible] पानकी इच्छा करेगा? इसी तरह यदि भगवान्में प्रेम है तो सांसारिक विषय-भोगोंसे प्रेम नहीं [illegible] भगवान्के प्रेमीको [illegible] पदार्थोंकी इच्छा नहीं रहती; अतः वह किसी पदार्थके लिये दुःखी नहीं हो सकता।

भगवान्की भक्तिमें [illegible] है,

इससे स्पष्ट है कि यहाँ मोक्षकी भी इच्छाके लिये अवकाश नहीं है।

भगवान्‌से भौतिक पदार्थोंकी इच्छा करना वैसा ही है जैसा कि अमृतसागरके पास जाकर भी जीवनके लिये विष-का इच्छा करना।

जिन भगवान्‌के स्मरणसे ही विषयेच्छा दूर हो जाती है, उन भगवान्‌का भक्त दुश्चरित्र कैसे रह सकता है। इसीलिये भगवान्‌से प्रेम होते ही वाल्मीकि, बिल्वमङ्गल आदि भक्तोंका चरित्र सुधर गया। गीतामें अहिंसा, समता, अपरिग्रह आदिको भक्तोंका लक्षण बताया गया है (अध्याय १२) और कहा गया है कि भक्त होनेपर दुराचारी भी तुरंत धर्मात्मा बन जाता है (९ । ३१)। साथ ही यह भी बताया गया है कि भक्तोंको भगवान्‌से बुद्धियोग (तत्त्व-ज्ञान) मिलता है, जिसकी सहायतासे वे परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं (१० । १०)।

चाहे आत्माका उपासक होनेके कारण सब जीवोंको आत्म-स्वरूप या अपने-ही-जैसा समझ लेनेसे या भगवान्‌का भक्त होनेके नाते सब जीवोंको तत्त्वतः भगवत्स्वरूप समझ लेनेसे या उनको भगवान्‌की सृष्टि अथवा संतान समझ लेनेसे या भगवान्‌को दयामय समझानेसे या उनकी कृपाका आसरा ही बन जानेसे—किसी भी तरह हो, भक्तमें अहिंसा अथवा सर्व-जीवोंके प्रति मैत्रीभावका गुण अवश्य आ जाता है। भागवतमें आया है कि प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमके बिना पूजा-उपासना ढोंग है (३ । २९ । २०-२७; ७ । १४ । ३९-४२)। बाइबल भी कहती है कि 'दया, न्याय और समझदारी बलिकी अपेक्षा अधिक स्वीकार्य है' (सेंट मैथ्यू ९ । १३; तथा कहावतें २१ । ३) और 'परमात्मा-जैसे ही दयालु बनो' (सेंट लूक ६ । ३६)।

इस तरह भक्तिमें ज्ञान तथा चारित्र्यका भी समावेश है।

अक्षय आनन्द, अनन्त ज्ञान, अमरत्व, आत्मा आदि-से प्रेम करना कितना स्वाभाविक और सरल है, परंतु अनादि कालसे इनसे विमुख तथा इन्हें भूले रहनेसे इनसे प्रेम करना कितना कठिन भी है। किंतु साधनासे सब कुछ सरल हो जाता है और यह प्रेम-साधना तो यदि इस जन्ममें सफल नहीं हुई तो आगामी जन्ममें भी इसकी सफलता निश्चय ही रहती है। यदि इस सच्चे प्रेमके कणका भी उदय हो जाय तो अनादि कालसे छाया—अन्धकार एकदम नष्ट हो जाता है।

आराध्या माँ

माँ, शरणमें आ गया हूँ!
दीनता थी, था झुका अधिकार-मदके सामने मैं;
ज्वलित थी तृष्णा, सतत था झूमता लघु मानमें मैं,
अब तुम्हारी चरण-रजकी सुरभि-सुस्मिति पा गया हूँ॥
देखता हूँ, प्रलयकारिणि! ध्वंसमें निर्माण तेरा,
ध्वनि यही श्रुति खोलती है, 'जाग वत्स! हुआ सवेरा।'
शब्दमयि! नव-नव प्रभा तव देख-देख लुभा गया हूँ॥
वर्णमें नव अर्थ होकर कर रही क्रीड़ा सजग तू;
छन्दमें रस-स्रोत निर्झर, आत्म मंगलसे सुभग तू।
नष्ट हुई, प्रिय मुक्ति की ध्वनि गूँजती, घर पा गया हूँ॥
माँ, शरणमें आ गया हूँ॥

—गङ्गाधर मिश्र, साहित्यरत्न

भक्तिका मर्म

(लेखक—डा० बलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्०)

भक्तिकी परिभाषा है 'परानुरक्तिः ईश्वरे'। इसमें 'ईश्वर' और 'परम अनुराग' इन दो शब्दोंका मर्म अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

'ईश्वर' को लोग तीन दृष्टिकोणोंसे समझनेका प्रयत्न किया करते हैं। एक है—देहबुद्धिका दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोणसे मनुष्य अपनेको सदेह व्यक्ति मानता हुआ किसी ऐसे सजीव आदर्शकी ओर उन्मुख होता है, जो उसके मनोभावोंको समझता हुआ उसको ऊँचा उठानेमें सहायक हो। वह संकटमें उसका त्राता होगा, उसका रक्षक होगा और सुखमें उसका सब प्रकार साथ देगा। कोई सामान्य देहधारी संत, नेता अथवा महापुरुष भी ऐसा आदर्श हो सकता है। परंतु नश्वर देहधारी महापुरुषकी अपनी सीमाएँ हुआ करती हैं। ससीम व्यक्तिका सर्वोत्तम आदर्श तो असीम व्यक्ति ही हो सकेगा। अतएव ऐसे असीम आदर्शको ही वह अपना परम आराध्य मानता है और उसे ही ईश्वर कहता है। आदर्शकी ओर मनुष्यकी उन्मुखता या तो शक्तिके मार्गसे या ज्ञानके मार्गसे या आनन्दके मार्गसे होती है। अतएव अपने ईश्वरमें वह अनन्त सत्, अनन्त चित् और अनन्त आनन्दकी भावना करता है। अपनी भावनाके अनुसार वह उसे शिवरूपमें, विष्णुरूपमें (राम या कृष्णरूपमें), देवीरूपमें या ऐसे ही अन्य रूपोंमें देखता है और उसका दासत्व स्वीकार करनेमें ही अपनी कृतार्थता समझता है। कभी-कभी वह इस महामहिम ईश्वरीय सत्ताको सहज सुलभ न जानकर किसी परम भक्त या महापुरुषको सहायक रूपसे ग्रहण करके उसे ही अपना इष्ट बना लेता और उसकी ही भक्तिमें दत्त-चित्त हो जाता है। हनुमान् आदिको इष्टदेवके रूपमें ग्रहण करनेका यही रहस्य है।

दूसरा दृष्टिकोण है—जीव-बुद्धिका। इस दृष्टिकोणसे मनुष्य अपनेको देहसे भिन्न एक चेतन व्यक्तित्व मानता है और इस दृष्टिसे ऐसे आदर्शकी ओर उन्मुख होता है, जो केवल चेतनधर्मा है—अर्थात् जिसमें नाम, रूप, लीला और धामकी कोई सीमाएँ नहीं हैं, इनके कोई बन्धन नहीं हैं। उसका कोई खास रूप नहीं, खास नाम नहीं। वह घट-घट-वासी है—देश-कालके बन्धनोंसे परे। परंतु उसमें मनिव-मनोभावोंको समझकर उनके अनुकूल अपना प्रेम और अपनी करुणा वितरित करनेकी [illegible] है। [illegible] जीवकी तरह परिच्छिन्न अथवा [illegible], [illegible] मनोभावोंके स्पन्दनमें [illegible] [illegible] जीवका ही आदर्श। इस रूपमें ईश्वर [illegible] है। वह जीवके लिये [illegible] है और [illegible] वह विभु है, जीव अणु है। वह पूर्ण और [illegible] है, जीव अपूर्ण और परिच्छिन्न है।

तीसरा दृष्टिकोण है—आत्मबुद्धिका। इस दृष्टिसे [illegible] मनुष्य केवल अपने चेतन [illegible] अपना व्यक्तित्व [illegible] परिच्छिन्न [illegible] अतएव अपने और अपने आदर्शमें [illegible] नहीं जान पड़ता। [illegible] ईश्वरमें न [illegible] ईश्वरमें न किसी [illegible] कृतित्व। यह तो एक अनिर्वचनीय [illegible] की दशा है। यहाँ आराध्य और आराधक [illegible] है।

अध्यात्मरामायणमें [illegible] कहा गया है—

> देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
> आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः।

वस्तुतः इन तीनों दृष्टियोंमें [illegible] ही है। अन्तरका तत्त्व भी वही है। [illegible] कर्ता भी वही है और राम-कृष्ण आदि [illegible] बननेवाला भी वही है। सार्वभौम [illegible] है और सार्वभौम नियामक भी है। [illegible] नहीं है तथा जीव और [illegible] नहीं है।

अब रही बात परम अनुरागकी। [illegible] तो सभी समझते हैं क्योंकि [illegible] प्रति अनुरागकी [illegible] किसी किसीमें [illegible] हो जाता है। [illegible] वस्तुके लिये एक [illegible] [illegible] होनेसे पूर्ण [illegible] हो जाते [illegible] कोटिमें पहुँच गया। [illegible]

[illegible] होगा और विनोद [illegible] होगा । वह इससे अधिक उच्च महत्त्व न तो स्वप्नमें भी कल्पना करेगा न उसे एक क्षणके लिये भी भुला सकेगा । ऐसा भाव रखना चाहिये अपने ईश्वरके प्रति ।

धन और सम्मान, कामिनी और कीर्ति आदि ईश्वरके ही नामरूप हैं; परंतु वे नश्वर और परिच्छिन्न होनेके कारण स्वयं ईश्वर नहीं हो सकते । अतएव उनमेंसे किसी पदार्थकी ओर यदि हमने अपना समग्र अनुराग अर्पित कर दिया तो यह हमारी घोर मूढता ही होगी । अनुरागका जो पाठ हम उनसे सीखते हैं, उसकी सार्थकता तभी है, जब हम उसे अपने परम आदर्श आराध्यकी ओर अर्पित करें । तभी हमें पूर्ण शान्ति और परम आनन्द मिलेंगे ।

यह अर्पण क्यों नहीं होता ? इसका प्रधान कारण यह है कि विषय प्रत्यक्षके प्रभावके कारण हमारी मूल प्रवृत्ति ही दब जाती है और हम प्रत्यक्ष जगत्‌को ही सब कुछ मान बैठते हैं । जीवकी मूल प्रवृत्ति है अनन्त सत्, अनन्त चित् और अनन्त आनन्दकी स्थितिमें पहुँचनेकी । अपने इस आदर्शकी ओर उसका सहज स्नेह रहा करता है । यह आदर्श उसका सहज सङ्गी है । गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू ।

अथवा—

ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती ॥

परंतु रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दके भौतिक आधारोंके प्रभावसे उन्हींमें बुद्धि रमा लेनेवाला जीव उन्हींको सब कुछ मानकर उन्हींकी उपलब्धिमें अपनी मूल प्रवृत्ति चरितार्थ करनेकी चेष्टा करने लगता और दुःख उठाता है । आवश्यकता है कि नश्वर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दकी सुन्दरता तथा मनोरमता देनेवाले अविनश्वर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दके परमधाम परमात्मातक अपनी दृष्टि फैलायी जाय और इस प्रकार अपने अनुरागका उदात्तीकरण किया जाय । यदि हम रूपपर रीझ रहे हैं तो श्रीकृष्णके रूपपर क्यों न रीझें । यदि हम गुणपर रीझ रहे हैं तो श्रीरामके गुणोंपर क्यों न रीझें । यदि हम शासककी शक्तिपर रीझ रहे हैं तो महेश्वरकी शक्तिपर क्यों न रीझें ।

कुछ लोग जन्मसे ही अच्छे संस्कारी हुआ करते हैं । थोड़े ही प्रयत्नसे उनके मनोभाव ईश्वरकी ओर लग जाते हैं । इन्हें सच्चे प्रीतिमार्गी समझिये । कुछके संस्कार मध्यम श्रेणीके होते हैं । उनकी प्रीति ईश्वरकी ओर सहज ही नहीं उमड़ती । उन्हें ईश्वर-विषयक मनन और चिन्तनद्वारा बारंबार अपने संस्कारोंपर ठोकरें लगानी पड़ती हैं । सत्सङ्ग उनके लिये परम आवश्यक है । सत्सङ्ग, सत्-चिन्तन आदिके द्वारा जब उन्हें ईश्वरमें प्रतीति (विश्वास) होने लगेगी, तब धीरे-धीरे उसके प्रति प्रीति भी होने लगेगी । श्रद्धा और विश्वास उस प्रतीतिके बाह्य रूप हैं । श्रद्धा-विश्वासवाले ऐसे सज्जनोंको प्रतीतिमार्गी समझिये । कुछके संस्कार इतने दब जाते हैं—इतने निकृष्ट हो जाते हैं कि वे ईश्वरके विषयमें सोचना ही नहीं चाहते । परंतु—

'मीचु बुढ़ापा आपदा' जो 'सब काहू पै होय'

—उससे वे भी डरते हैं । वस्तुतः वे ही सबसे अधिक डरते हैं, अतः उनके इस डरकी भावनाका लाभ उठाकर उन्हें ईश्वराभिमुख किया जा सकता है । 'परमात्माको रुष्ट करोगे तो दण्ड पाओगे; संकटसे बचना हो तो उसीकी शरणमें जाओ; मनुष्यका किया-कराया जहाँ व्यर्थ हो जाता है, वहाँ ईश्वरका सहारा ही काम देता है'—ये तथा ऐसी ही बातें यदि किसी अनुकूल परिस्थितिमें ऐसे लोगोंके मानसपर अङ्कित की जायँ तो ये भी ईश्वरकी ओर उन्मुख हो सकते हैं । ऐसे लोगोंको भीतिमार्गी कहना चाहिये । भीतिका भाव भी मनुष्यमें तन्मयता ला देता है । जिससे हम बहुत ज्यादा डरें, वही हमारे मनमें छा जाता है, अर्थात् उसीमें हम तन्मय हो जाते हैं । यह तन्मयता ही अनुरागकी महत्त्वपूर्ण सीढ़ी है । गोस्वामीजीने ऐसे ही लोगोंको लक्ष्य करके कहा है—'बिनु भय होइ न प्रीति ।'

संसारमें प्रभुके प्रीतिमार्गी बहुत कम हैं । सामान्य साधक प्रतीतिमार्गी कहे जा सकते हैं, जो पर्याप्त हैं; परंतु उन्हें चिर प्रयत्नके अनन्तर ही वह स्थिति प्राप्त होती है । भीतिमार्गी तो कई हो सकते हैं, परंतु उन्हें भी मार्ग दिखानेवाला कोई व्यक्ति, कोई अवसर, कोई आघात मिलना ही चाहिये । तभी तो वे यह मार्ग भी देख सकेंगे । गोस्वामीजीने कहा है कि जीव तीन प्रकारके हैं—विषयी, साधक और सिद्ध । भीतिमार्ग विषयी जीवोंके लिये समझिये, प्रतीतिमार्ग साधक जीवोंके लिये और प्रीतिमार्ग सिद्ध जीवोंके लिये । भीतिमार्गकी परिपक्वतामें प्रतीतिमार्ग सधता और प्रतीतिमार्गकी परिपक्वतामें प्रीतिमार्ग सधता है ।

जिन विषयी जीवोंमें दैवी सम्पत्तिका भी अंश है, उनके लिये प्रपत्तिमार्ग अथवा शरणागतिका मार्ग उत्तम है ।

इसमें तीनों उपर्युक्त मार्गोंके तत्त्व किसी-न-किसी रूपमें आ जाते हैं। आराध्यके अनुकूल आचरण करना और प्रतिकूल आचरण न करना; वह रक्षा करेगा, इसका विश्वास रखकर इस रक्षाके लिये उसका वरण करना; और पूरी निरभिमानिताके साथ अपनेको उसके अधीन कर देना—यही षड्विधा शरणागति है। यदि ईश्वरसे रागात्मक सम्बन्ध सहज ही नहीं जुड़ पाता है तो इस प्रकारके अभ्याससे यह रागात्मकता क्रमशः आप-ही-आप प्रकट हो जायगी।

किया करना हुआ भी मनुष्य [illegible] मानकर चले तो उसे [illegible] आता।

अनुरागमें आदर और [illegible] परन्तु जब वह अनुराग परमात्मामें [illegible] आवश्यकता भावातिरेक हो उठता [illegible] वह तो अनिर्वचनीय दैनंदिन [illegible] अतएव उसका वर्णन ही क्या किया जाय।

मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा और भक्ति

(लेखक—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्यामार्तण्ड प० श्रीमाधवाचार्यजी)

मूर्ति, भगवान्, पूजा और भक्ति—ये चार पदार्थ विचारणीय हैं। इनमें भी प्रथम भगवत्तत्त्वपर विचार करना होगा। इसके पश्चात् भगवान्‌की मूर्तिकी विशेषताएँ बतलानी होंगी। मूर्तितत्त्वके निर्णयके अनन्तर पूजा तथा भक्तिके रहस्यको समझाना होगा।

निरूपण पदार्थ-क्रमसे ही होने चाहिये। इसीमें उनका सौकर्य समाया हुआ रहता है। इस कारण पदार्थ-क्रमको कभी न छोड़ना चाहिये। हम भी यहाँ पदार्थ-क्रमका ही अनुसरण करते हैं।

ब्रह्मसूत्रके सभी भाष्यकारोंने—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति-वाक्यको ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण माना है। इसके साथ 'आनन्दं ब्रह्म' इसे और सम्मिलित कर देते हैं। तभी वेदान्तधरने ब्रह्मको—'अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्' कहा है।

इन सबका एक साथ अर्थ करें तो यह होता है कि 'सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे शून्य, अविनाशी, स्वप्रकाश चैतन्य परमानन्दस्वरूप भगवान् हैं।'

श्रीमद्रामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें श्रीशंकराचार्यके द्वारा किया हुआ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिका अर्थ इस प्रकार उद्धृत किया है कि 'सद्रूप, चिद्रूप और काल, देश तथा वस्तुके परिच्छेदसे शून्य ब्रह्म है।'

इतना ही नहीं, श्रीभाष्यने यहाँ शंकरका मत भी इस प्रकार उद्धृत किया है कि ''सारे विशेषोंका प्रतिद्वन्द्वी चिन्मात्र ब्रह्म ही परम पुरुषार्थ है। वही एक सत्य है, तदितर अन्य सब मिथ्या हैं; क्योंकि श्रुतिका 'सत्य' पद विकारास्पद असत्य वस्तुसे ब्रह्मको व्यावृत्त करता है। [illegible] अनन्याधीन स्वत-प्रकाश ब्रह्मको [illegible] है। 'अनन्त' पद ब्रह्म या भगवान्‌को [illegible] रहित बताता है।

'यह व्यावृत्ति न तो भावरूप है और न [illegible] है, किंतु ब्रह्मसे इतर सारे पदार्थोंका निराकरण है।

'चैतन्यमात्र ही ब्रह्मका स्वरूप है। [illegible] पदार्थ चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं, पर कल्पनासे भिन्न-से [illegible] प्रतीत हो रहे हैं। ब्रह्ममें कोई गुण नहीं है; वह निर्विशेष, निराकार, अदृश्य, अग्राह्य, चिन्मात्र है।'

भट्ट भास्करने कहा है कि [illegible] धर्मोंका व्यपदेश है। चैतन्य उसका धर्म है। [illegible] देश और काल, उनकी दृष्टिसे अनन्त है।

'जिस प्रकार [illegible] गुणोंसे रहित नहीं होता [illegible] ब्रह्म भी गुणोंसे रहित नहीं है।'

श्रीभाष्यके अनुसार 'भगवान् [illegible] अनन्त हो, यह बात नहीं, उनके गुण [illegible] है। भगवान् स्वरूप और गुण दोनोंकी दृष्टिसे [illegible] है। भगवान्‌की सत्तामें किसी भी प्रकारसे इस [illegible] इस कारण वे ही एकमात्र [illegible] है। [illegible] कहाते हैं।

'निरतिशय सर्वदा भगवान्‌में ही [illegible] मात्र भगवान् ही चरम सीमाके [illegible] गुणोंसे युक्त हैं।

श्रीसम्प्रदायके प्रवर्तक-[illegible]—

क्लेशकर्मविपाकैस्तु वासनाभिस्तथैव च ।
अपरामृष्ट एवैष पुरुषो ह्यीश्वरः स्मृतः ॥

—यह भगवान्‌का लक्षण किया गया है। यह एक प्रकारसे योगसूत्रमें किये गये ईश्वरके लक्षणका ही छायानुवाद है। इसका भाव यह है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँचों क्लेशोंसे; पाप, पुण्य और मिश्र—इन तीन कर्मोंसे; इनके विपाक—जाति, आयु और भोगसे तथा वासनाओंसे असंस्पृष्ट पुरुषोत्तमका नाम भगवान् है।

इस प्रकार हम वेदान्तमें सगुणवाद और निर्गुणवाद, सविशेषवाद और निर्विशेषवाद—सब कुछ पाते हैं। यही बात हम उपनिषदोंमें भी देखते हैं। 'सगुण'से 'निर्गुण' तथा 'सविशेष'से 'निर्विशेष' शब्द नितान्त विरुद्ध पड़ते हैं; फिर भी हम भारतीय विचार-परम्पराओंमें ऐसी वस्तुएँ भी देखते हैं, जिनसे दोनोंका समन्वय हो जाता है।

निर्विशेषवादी शंकरने भी विचार करते-करते ब्रह्मसूत्र ३। २। १२ पर कह दिया है कि 'सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम्।' अर्थात् भले ही परमार्थमें निर्विशेष ब्रह्म हो, किंतु उसे सविशेष भी मानना ही चाहिये।

यह निर्विशेषवादमें भी एक प्रकारसे उसके साथ सविशेषवादकी एकताकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है।

ब्रह्मसूत्र १। २। १४ के भाष्यमें आचार्य शंकरने कहा है—

निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यते।

'ब्रह्म निर्गुण रहता हुआ भी नाम और रूपमें रहनेवाले गुणोंसे सगुण हो जाता है। उपासनाके लिये सगुण ब्रह्मका ही उपदेश दिया जाता है।' दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह कह सकते हैं कि ब्रह्म भले ही निर्गुण हो, पर उपासनासे वह सगुण भी हो जाता है। अथवा जिसकी उपासना की जा सकती है वह उपासनाके लिये सदा सगुण रहता है।'

जिस प्रकार वह निर्गुण और सगुण दोनों है, उसी प्रकार वह निराकार भी है। यही बात ब्रह्मसूत्र ३। २। १५ के भाष्यमें शंकराचार्यजी महाराजने कही है—'आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते।'

—ब्रह्मके सम्बन्धमें उपासनाके उद्देश्यसे यह कहना कि आकार विशेष ग्रहण करता है, सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है—

अथ''''य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद। (छा० उ० १। ६। ६-७)

'भगवान् सूर्यदेवके भीतर जो तेजोमय पुरुष दीखता है, जिसके दाढ़ी-मूँछ ही नहीं, किंतु नखसे शिखातक सब कुछ तेजोमय है, उसकी गुलाबी कमलकी पखड़ीके समान आँखें हैं। उसका 'उत्' नाम है; क्योंकि वह सारे पापोंके ऊपर है। जो उपासक उसे इस रूपमें जान जाता है, वह भी उसकी उपासनाके बलसे सारे पापोंसे ऊपर उठ जाता है।'

यहाँ छान्दोग्य-उपनिषद्‌ने सूर्यमण्डलमें साकार ब्रह्म अथवा मूर्तिमान् पुरुषोत्तम भगवान्‌को बताया है तथा उन्हींकी उपासनाका उपदेश भी दिया है।

'भगवान् पुरुषविध हैं' इस विषयमें विचार भी उपनिषदोंके साथ है। देवता भी प्रायः मानवीय शरीरों-जैसे ही शरीर धारण करते हैं। यही कारण है कि ब्रह्म-स्तुतिमें ब्रह्मा भी अपनेको सात ही वितस्तिका बताते हैं; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने हाथसे सात विते (साढ़े तीन हाथ) का ही होता है।

भगवान् वास्तवमें सर्वव्यापक हैं, तो भी वे एकदेशीय होते हैं। इस विषयमें श्रीशंकर ब्रह्मसूत्र १। २। १४ के भाष्यमें कहते हैं—

सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते शालग्राम इव विष्णोः।

'निस्सन्देह ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, फिर भी उपलब्धिके लिये उसका स्थानविशेष भी होता है। इस स्थानविशेषका सर्वगतत्वके साथ कोई विरोध नहीं होता—जैसे कि भगवान् विष्णु सर्वव्यापक है, फिर भी उनकी उपलब्धि शालग्राममें होती है।' इस तरह व्यापक भी एकदेशीय हो जाता है।

यहाँ आचार्य शालग्रामका भगवान् विष्णुकी संनिधिके रूपमें दृष्टान्त दे रहे हैं।

यदि उपमेय सूर्य और उपमान शालग्रामकी तुलना करके एकवाक्यतासे कहें तो यह कह सकते हैं—

'भगवान् विष्णुकी संनिधि शालग्राममें है। इसी प्रकार ब्रह्मकी संनिधि सूर्यमण्डलमें है। या शालग्राम भगवान् विष्णुकी संनिधि तथा आदित्यमण्डल ब्रह्मकी संनिधि है।'

शालग्राम सूर्यमण्डलकी पूर्णोपमा है। क्योंकि सूर्यमण्डल और शालग्राम दोनों गोल हैं। सूर्यमण्डल तेजोमय तथा उसका अन्तिम रूप कृष्णाल्पर नील है तथा शालग्राम भी कृष्णाल्पर नील है। सूर्य और शालग्राम दोनों व्यापक ब्रह्मकी सन्निधि हैं। ब्रह्मकी व्यापकता दिखानेके लिये 'विष्णु' शब्दसे व्यापक ब्रह्मका उल्लेख किया गया है।

दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह कह सकते हैं कि उपासकोंके लिये शालग्रामकी पिण्डी सूर्यमण्डल है। वे इसीमें भगवान्‌की झाँकी पा सकते हैं। पर उपासना विधिपूर्वक यौगिक ढंगसे होनी चाहिये। भट्ट भास्करने कहा है—

सर्वगतस्य स्थानव्यपदेश उपासनार्थम्, यथा हृदये पुण्डरीके आदित्ये चक्षुषि च तिष्ठन् इति च तत्र तत्र संनिधानं दर्शयति।

'हृदय-कमल, आदित्य और चक्षुमें भगवान्‌की सन्निधिका उपदेश श्रुति देती है। अतः इन स्थानोंमें सर्वव्यापक भगवान्‌की संनिधि उपासकोंके लिये होती है।'

इतना ही नहीं, ब्रह्मसूत्र १।२।१४ में 'आदि' शब्द आया है, जिससे प्रतीत होता है कि—

उपासनार्थं नामरूपग्रहणमपि अस्य निर्दिश्यते।

'व्यापक सर्वदा उपासकोंके लिये सन्निधिमें संनिहित होते हैं—इतना ही नहीं, अपितु नाम और रूपका ग्रहण भी करते हैं; क्योंकि वहाँ उनका नाम और रूप भी निर्दिष्ट होता है।'

सर्वव्यापक होते हुए भी वे सर्वदा नाम-रूपयुक्त होकर सन्निधिमें कैसे सन्निहित हो जाते हैं, इसका उत्तर श्रीभाष्यने दिया है—

सर्वगोऽपि भगवान् स्वमहिम्ना स्वासाधारणशक्तिमत्तया च उपासककामपूरणाय चक्षुरादिस्थानेषु दृश्यो भवति।

'सर्वव्यापक होनेपर भी भगवान् अपनी असाधारण महिमा और शक्तिसे उपासकोंकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये बतायी हुई संनिधियोंमें दृष्टिगोचर हो जाते हैं।'

यहाँ आनन्द-भाष्यने—'भावनाप्रकर्षाद् मत्स्यैदंरूप-मानसत्वाद्' इतना और जोड़ दिया है। इसका अर्थ यह होता है कि भक्तजन भावनाके प्रकर्षसे उन्हें जैसे रूप और जिस स्थानमें देखना चाहते हैं, देख सकते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यके शिष्य श्रीनिवासाचार्यने कहा है कि 'छा० उ० १।६।७-८ की श्रुतिमें 'पुरुषो दृश्यते' —पुरुष दीखता है, यह कहा गया है। इस कथनसे ब्रह्मके रूपका निर्देश हो जाता है। एवं [illegible] है, भगवान् यहाँ [illegible] सकते हैं—यह सूर्यमण्डलमें तेजोमय [illegible] हो जाता है।'

ब्रह्मसूत्र १।१।२० के भाष्यमें [illegible] है—परमेश्वरस्यापि इच्छावशात् [illegible] रूपं [illegible]ग्रहार्थम्।

'परमेश्वर भी साधकोंपर अनुग्रह करनेके लिये अपनी इच्छासे इच्छानुसार विग्रह धारण कर लेते हैं।'

ब्रह्मसूत्र ४।३।११ के श्रीभाष्यमें [illegible] भी कहा है—

ब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वगतस्य [illegible]-कल्पिताः स्थानविशेषा अप्राकृताः [illegible] सन्ति, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धाः।

'सर्वत्र परिपूर्ण सर्वगत [illegible] परिकल्पित अप्राकृत वैकुण्ठादि लोक हैं, [illegible] स्मृति, इतिहास और पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं।' [illegible] ३।१० के शांकरभाष्यमें भी आया है—

अतः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पदं प्रतिपद्यते।

'इसके अनन्तर मुक्त पुरुष विष्णुके [illegible] परिवर्जित) परमपदको पा जाते हैं।'

इससे प्रतीत होता है कि [illegible] भी अवश्य है।

इस निरूपणसे सिद्ध होता है कि [illegible] इच्छासे भक्तोंकी प्रसन्नताके लिये [illegible] ग्रहण करते हैं। [illegible] मूल उपादान भगवान्‌की [illegible] मन्त्रों और श्रुतियोंमें इन [illegible] भी [illegible]

यह लोक [illegible] वृन्दावन, [illegible] अयोध्या है। [illegible]

इन लोकोंमें नित्य [illegible] करते हैं। [illegible] है। वासुदेव, [illegible] व्यूह हैं। इनमें [illegible] कारण [illegible] व्यूह [illegible]

[illegible] प्रद्युम्न और [illegible] अभिमानी [illegible] हैं। ये तीनों भगवान्के व्यूहावतार हैं। [illegible] आदि भी मानते हैं।

[illegible] भगवान् [illegible] प्राप्तिपर ही निर्भर [illegible] हैं। [illegible] प्राप्ति [illegible] शक्तिकी प्राप्तिपर [illegible] है। [illegible] भी इनसे बहुत दूर है।

[illegible] कि ज्ञानयोगकी परम सिद्धि [illegible] है। [illegible] भी [illegible] परम कठिन है।

[illegible] भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं एवं भक्तोंपर [illegible] कृपा करते हैं। सर्वत्र सबको प्राप्त होते हैं। गोपियाँ श्रीकृष्णको [illegible] समझती थीं। अर्जुन भी उन्हें जान [illegible] थे। भगवान् निम्बार्कने परब्रह्म परमात्माके पूर्णावतार श्रीकृष्ण भगवान्को ही वेदान्तवेद्य परब्रह्म परमात्मा माना है। उन्होंने वेदान्तकामधेनुमें ब्रह्मका लक्षण इस प्रकार [illegible] है—

> स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
> मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
> व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
> ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥

'जिनमें स्वभावसे ही कोई दोष नहीं, जो सारे कल्याणमय गुणोंकी एक मात्र राशि हैं, उन निर्दिष्ट व्यूहोंके अङ्गी परम [illegible] परब्रह्म कमलेक्षण श्रीकृष्णका मैं ध्यान करता हूँ।'

> अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
> विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
> सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
> स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

'उनके वाम अङ्गमें परम प्रसन्नताके साथ वैसे ही मनो[illegible] लावण्यवाली वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजी सहस्रों [illegible] साथ विराजमान रहती हैं। मैं उन्हीं देवीका स्मरण करता हूँ। वे ही मेरे सारे अभीष्टोंको पूर्ण करती हैं।'

[illegible] नहीं, इनके द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रका भाष्य भी इसी [illegible] साथ कहता है कि 'मैं श्रीकृष्णमें सम्पूर्ण शास्त्रोंका [illegible] करता हूँ।' गीताके भाष्यमें भगवान् शंकरने भी [illegible] है—

> ॐ आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवांशेन कृष्णः किल सम्बभूव।

'[illegible] आदिकर्ता नारायण नामक भगवान् विष्णु भूमिदेव ब्राह्मणोंके ब्राह्मणत्वकी रक्षाके लिये देवकीके यहाँ वसुदेवसे कृष्णके रूपमें अवतरित हुए।'

ब्रह्मसूत्र ४।४।२२ के भाष्यमें रामानन्दाचार्यजीने कहा है—

> न वाखिलवात्सल्यसौजन्यसौशील्यकारुण्यजलधिर्भगवान् भक्तवात्सल्यानुकम्पापरायणः परमपुरुषः श्रीरामचन्द्रः परमात्मा स्वानन्यभक्तं ज्ञानिनं स्वलोकमानीय कर्हिचिदप्यावर्तयिष्यति।

'भगवान् श्रीरामचन्द्र सदा ही भक्तोंपर कृपा रखते हैं। वे सम्पूर्ण वात्सल्य, सौजन्य, सौशील्य-कारुण्यके परिपूर्ण समुद्र हैं। अतः वे अपने अनन्योपासकको अपनी दिव्य अयोध्यामें निवास देकर फिर कभी वहाँसे नहीं हटाते।'

छान्दोग्य-उपनिषद्में 'कृष्णाय देवकीपुत्राय प्राह'—यह विषय मैंने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण भगवान्से कहा था; इस रूपमें देवकीपुत्र श्रीकृष्णका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसके सिवा मुक्तिका, रामरहस्य, हंस, सीता, रामतापिनी, कृष्णतापिनी, वराह, हयग्रीव, दत्तात्रेय, नृसिंह आदि उपनिषद् अवतारोंकी कथाओंसे भरे पड़े हैं। वेदोंमें भी अवतारोंकी कथाओंका आभास मिलता रहता है।

यह सच है—

> जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
> तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

'जब-जब धर्मका ह्रास होता तथा अभिमानी विघातक तत्त्व बढ़ते हैं, तब-तब भक्तोंकी रक्षा करने एवं भूमिका भार उतारनेके लिये भगवान्का अवतार होता है।'

पर मधुरताके साथ सारे कार्य अवतारोंसे भी पूरे नहीं होते। इनके समयमें भी सब इन्हें सर्वेश नहीं समझ पाते।

इस कारण भगवान्को फिर सोचना पड़ा कि 'मैं विभव-अवतारसे भी जिस कामको पूरा नहीं कर सका, उसके लिये अब मुझे क्या करना चाहिये।'

> परव्यूहविभवैरपर्याप्तस्य संग्रहः।
> अन्तर्यामी तद्वाहमर्चारूपेण तं लभे॥

'जो कार्य मैं पर, व्यूह और विभवरूपसे नहीं कर पाया, उसे अब अन्तर्यामी मैं अर्चावतारसे पूरा करूँगा।'

अर्चाका अर्थ है—पूजा-उपासना; इसके लिये होनेवाले अवतारका नाम अर्चावतार है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो मूर्तियोंका ही दूसरा नाम 'अर्चावतार' है।

भक्तोंके परम उपजीव्य श्रीसीता-राम

गण्डकी नदीमें भगवान् शालग्रामके रूपमें प्रकट हैं। श्रीरङ्गादि धामोंमें वेङ्कटेशादिके रूपमें अर्चावतारकी झाँकी स्पष्ट दिखायी देती है । इन दिव्य धामोंके अतिरिक्त व्रजमें भी अनेकों स्थल हैं, जहाँ उपासकोंने अपनी उपासनाके बलसे भगवान्को स्वयं प्रकट किया है । इस विषयमें बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं, मेरे सप्तम पुरुष आदिगौड़ अद्विवासीवंशोद्भव आहिताग्नि परमोपासक श्रीकल्याणदेवजीने अपनी उपासनाके बलसे बलदेवजीको स्वतः प्रकट किया था । व्रजके श्रीबलदाऊजीके मन्दिर एवं बलदेव ग्रामके आप ही आदि संस्थापक थे। स्वतः प्रकट प्रतिमाएँ भगवान्के स्वयं अर्चावतार हैं । वे किसीकी भी बनायी हुई नहीं होतीं । समयपर अपने भक्तोंको अपने प्राकट्यका निर्देश करती हैं। भक्त संकेतित स्थलपर जाकर खोदकर उन्हें प्राप्त कर लेते हैं ।

सर्वलक्षणसम्पन्न मनोहर प्रतिमा उतने समयतक ही प्रतिमाके रूपमें परिलक्षित होती है, जबतक उपासक उसमें भगवान्की दृढ भावना नहीं कर पाता ।

यही समय मूर्तिमें भगवद्भावके आरोपका अथवा मूर्तिमें भगवान्की पूजाका रहता है ।

पर जब मूर्तिमें भगवान्के आरोपकी परिपूर्णता हो जाती है, तब फिर वह मूर्ति दारु-पाषाणमयी—जड नहीं रह जाती। वह तो अपने उपासकके लिये भगवान् ही जाती है ।

भक्त उसे मूर्ति नहीं देखता, प्रत्युत अपना भगवान् देखता है । उसके सामने आरोप और आरोपितका भेद नहीं ठहर पाता । वह मूर्ति नहीं, किंतु सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् होते हैं ।

स्वतःसम्भूत मूर्तियाँ यों ही नहीं मिल जातीं । ये उपासकोंके लिये ही प्रादुर्भूत होती हैं । अतः ये शीघ्र ही भगवान् भासने लगती हैं । इनकी उपासना शीघ्र ही सिद्ध हो जाती है । इस कारण इन्हें प्रथम कोटिका 'अर्चावतार' स्वीकार किया जाता है । जहाँ ये प्रकट होती हैं, वे स्थल तीर्थस्थान हो जाया करते हैं ।

कवि कृष्णजीने कह दिया—'आप सो जावें' तो भगवान् स्वयं सो गये । मीराको देखते-देखते श्रीरणछोड़रायजीने अपने अंदर लीन कर लिया । उपासिका मीराके लिये द्वारकाधीश निरी जड मूर्ति नहीं, स्वयं चिन्मय भगवान् थे। मीराकी इच्छामात्रसे उन्होंने उसे अपनेमें लय कर लिया ।

दूसरी कोटि देवता और [illegible] होती है । इनमें भी [illegible] मानवोंके द्वारा निर्मित [illegible] करना है । इन [illegible] उपासकोंद्वारा [illegible] हैं, जो इन्हें [illegible] बातको [illegible] मैक्समूलरने कहा था—[illegible] कि जिसने [illegible] दिया ।'

उपासना, भक्ति और [illegible] श्रुतिमें इन सबके [illegible] तो उपनिषदोंमें [illegible] द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः [illegible] मूल्यवती प्रतीत होती [illegible] साधन बताये गये हैं । [illegible] शास्त्रोंमें भगवान्का स्वरूप, [illegible] फल, भक्तिक्रम और उसके [illegible] जान लेना चाहिये ।

योगभाष्यमें [illegible] गुणानुवाद सुननेपर [illegible] और शरीरमें रोमाञ्च हो जाय [illegible] हृदयमें मोक्षके बीज [illegible] है ।'

श्रवण और [illegible] विषयक बातोंको [illegible] विनयपूर्वक सुनना चाहिये ।

रुक्मिणीने—[illegible] श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर [illegible] कहती हैं—[illegible] आपके गुणोंको सुना—[illegible] गये । [illegible] दलित हुई हैं ।'

[illegible] आगे नहीं बढ़ [illegible] ।

[illegible] उनके सभीप नहीं । [illegible] जाता है । [illegible] बड़ी [illegible]

भी भक्त नहीं होता कि जिसको वह उपदेश दे। प्रारम्भका शिष्य भी उपदेश देनेका अधिकारी नहीं होता।

कबीर, सन्तोंके गुरुओंको 'गुरुआ' कहा करते थे। गुरु नहीं मानते थे। यों तो वे कभी-कभी यह भी कह दिया करते थे कि—

जो गुरु मिला सो गुरु मिला, चेला मिला न कोय।

'गुरु-ही-गुरु मिले। अबतक शिष्य कोई नहीं मिला।' क्योंकि श्रद्धाके साथ सुनने और सुनी हुई बातको जीवनमें उतारने, काममें लानेवाले व्यक्ति मिलने कठिन होते हैं।

भगवत्तत्त्व क्या है? मूर्ति कैसे भगवान् हो जाती है? कबतक मूर्तिमें भगवान्की पूजा हो सकती है? भक्ति-तत्त्व वास्तविक रूपमें क्या है? ये सारी चीजें सुनने और समझनेकी हुआ करती हैं। सायणाचार्यने भी एक स्थलपर कहा है कि जगत्, जीव और परमात्माके विषयमें श्रवण और विचार सदा होना चाहिये। किसी भी परमार्थ-सम्बन्धी निरूपणसे श्रोताको ही लाभ होता हो—यह बात नहीं है, अपितु वक्ताको भी लाभ पहुँचता है। याज्ञवल्क्य जनकसे त्याग-वैराग्यकी बात कहते-कहते स्वयं सर्वत्यागी हो गये थे।

मननका अर्थ निम्बार्कने 'निरन्तर चिन्तन' किया है। वे कहते हैं—'मननं नाम निरन्तरं चिन्तनम्', अखण्ड चिन्तनका नाम ही मनन है। यह भगवान्की ओर जानेके लिये प्रथम सोपान है। इसमें अखण्ड स्मृति साधिका है; यही कारण है कि भगवान् सनत्कुमारने श्रीनारदसे कहा है—'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७। २६। २) 'अखण्ड एवं अचल स्मृतिकी प्राप्ति हो जानेपर जीवकी सारी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं।' तभी ब्रह्मसूत्र १। १। ४ के श्रीभाष्यमें श्रीरामानुजाचार्यने कहा है—'चिन्तनं च स्मृतिसंततिरूपं न (तु) स्मृतिमात्रम्।' 'भगवान्का निरन्तर स्मरण बना रहना चाहिये। कभी-कभी एवं किसी प्रकार स्मरण कर लेना चिन्तन नहीं कहलाता।'

अतः चिन्तन वह स्मृति है, जिसके उद्भासित या उद्बुद्ध होते ही सारी दुनिया भूल जाती है, यह भी ध्यान नहीं रहता कि 'मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ;' क्योंकि चित्तमें केवल ध्यातव्य ही रह जाती है, अन्य व्यापारोंसे वृत्तियाँ विरत हो जाती हैं।

इसी मननसे उर्दूके एक कविने किसी अनन्य-स्मृतिशीलसे कहा है—

जो उस गुल पै कहीं तबियत तेरी आई होती।
बागे आलमकी ना आँखोंमें समाई होती॥

'जो उस अद्वितीय पुष्पपर तेरा मन चल गया होता तो फिर इस दुनियाकी बहारके लिये तेरी आँखोंमें कोई जगह न रह जाती।'

क्योंकि उनकी स्मृतिमें गाफिलको और तो क्या, अपनी स्मृति भी नहीं रहती। 'सोऽहम्' की प्रत्यभिज्ञा भी चली जाती है।

तेरी ही यादमें हैं गाफिल प सुफ़िर खल्क!
पूछने गैरसे हम अपनी खबर जाते हैं॥

कोई अनन्य स्मरणशील व्यक्ति भगवान्से भी कह उठा कि 'तेरी यादमें मैं इतना तल्लीन हूँ कि अब मैं अपना ही समाचार पूछने दूसरेके घर जाता हूँ।'

भले ही वे पूछने जायँ; फिर भी 'मैं कौन हूँ' यह भेद वही बतला सकता है, जो उनका बन चुका है।

कविवर बिहारीजीके यहाँ तो—

जब जब वै सुधि कीजियै,
तब तब सब सुधि जाहिं।

'जब कभी भी उनकी याद आ जाती है, अन्य सारी यादें उसके आते ही चली जाती हैं।' दिलपर इलेदीगर होनेपर इज पूरी नहीं होती। इसीका नाम अनन्यस्मृति है। यह मननका ही एक रूप है।

निदिध्यासन ध्यानको कहते हैं। आचार्य मध्वने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्यमें 'निदिध्यासन' शब्दका सीधा ध्यान अर्थ किया है। आनन्दभाष्यने बारंबारके ध्यानको निदिध्यासन माना है। निम्बार्कने बताया है कि भगवान्के साक्षात्कारका असाधारण कारण निदिध्यासन (ध्यान) है।

ध्यान—योगसूत्रमें ध्यानकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'—धारणाके स्थलोंमें ध्येयका आलम्बन रखनेवाली वृत्तिका प्रवाह, तेलकी धाराके समान निरन्तर चलता रहे, ध्येयसे इतर किसीका भी आलम्बन करनेवाली वृत्तिके साथ टकराकर ध्येयसे हट न जाय, तब वह 'ध्यान' कहाता है।

'निदिध्यासन' ध्यान, ज्ञान, पराभक्ति और अचलस्मृतिका ही एक पर्याय है—ऐसी बात 'वेदान्त-कौस्तुभ' भाष्यमें कही गयी है। भाष्यकारका यह भी कहना है कि स्वयं व्यासजीने 'निदिध्यासन' शब्द इन्हींके पर्यायरूपमें प्रयुक्त किया है।

इस विषयमें श्रीशंकराचार्यजीने भी इनका साथ दिया है। उन्होंने ब्रह्मसूत्र १ । १ । ४ के भाष्यमें लिखा है—

विदि-उपास्त्योश्च अव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते ''...... ध्यायति प्रोषितनाथा पतिम् इति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सा एवम् अभिधीयते ।

'वेदन (ज्ञान) और उपासन दोनोंका एक ही अर्थमें प्रयोग दीखता है। प्रोषितपतिका (पतिवियोगिनी) स्त्री पतिका ध्यान करती है, यह प्रयोग उसी पतिप्राणाके विषयमें हो सकता है, जो अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर पतिका स्मरण करती है।' यही बात उपासनामें भी होती है। अतः ध्यान, वेदन, उपासन, पराभक्ति, ज्ञान, ध्रुवा स्मृति—इन शब्दोंका एक ही अर्थ है।

श्रीशंकराचार्यके द्वारा 'प्रोषितपतिका'का उल्लेख यहाँ विशेष अभिप्राय रखता है। ध्यान कैसे और क्या होता है, यह वियोगिनीको देखनेपर सीधे समझमें आ जाता है। उसे सिवा अपने प्रियतमके स्मरणके दूसरे किसी भी पदार्थका भान नहीं रहता।

शकुन्तलाको यदि कुछ भी संसारका अनुसंधान रहा होता तो वह महातपस्वी दुर्वासाकी कभी उपेक्षा नहीं करती। दुर्वासा अपने तपके माहात्म्यसे जान गये थे कि यह अनन्य मनसे अपने प्रेष्ठका चिन्तन कर रही है। ऋषिने अपनी शक्तिसे दुष्यन्तके हृदयपर विस्मृतिकी यवनिका डालकर शकुन्तलाकी मूर्तिको तिरोहित कर दिया, पर सदाके लिये नहीं।

वियोगमें अपार शक्ति है—हठयोगकी सारी शक्तियाँ यह अपने साधकको क्षणभरमें प्रदान कर देता है।

> देह गति योगिनि की जिन में वियोगिनि को,
> विरह महंत की अनोखी यह बान है।

यही कारण है कि शंकर प्रोषितपतिकाओंको उपासनाके दृष्टान्तरूपमें अपने भाष्यमें उपस्थित कर रहे हैं।

अन्य कोई स्मारक हो या न हो, प्रेमी या उपासकको इसकी कोई अपेक्षा नहीं होती। नामश्रवण ही उसके लिये पर्याप्त है। गोपियोंके कानमें जहाँ कृष्णका नाम गया कि वे—

> सुनत स्याम को नाम बाम गृह की सुधि भूली।
> भरि आनंद रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली॥
> पुलक रोम सब अंग भए, भरि आए जल नैन।
> कंठ घुटे गदगद गिरा बोल्यौ जात न बैन॥
> विवस्था प्रेम की॥

'कृष्ण' शब्द कानमें पड़ते ही [illegible] घर-द्वार सब कुछ भूल गयीं। [illegible] के साक्षात्कारका ही आनन्द उन्हें [illegible]। [illegible] मूर्तिमान् होकर प्रेमकी धाराओंको [illegible] उनका पूर्णरूपसे हो गया। [illegible] आँखोंमें पानी उमड़ आया। [illegible] एक भी शब्द वे न बोल सकीं।'

यह है [illegible] भला, संन्यासी होकर भी [illegible]।

ध्यानकी वास्तविक प्रक्रिया इसीमें [illegible] तन्मयतासे मिलती है। वे जो कुछ भी [illegible] सब ही देखते-सुनते हैं—[illegible] इतनी बढ़ जाती है कि—

> [illegible]
> [illegible]

ध्याता और ध्येयमें कोई [illegible] तभी श्रीकृष्ण उद्धवसे कह सकते हैं—

> उन मे मोमें है [illegible]

[illegible] मुझमें और उन (गोपियों)[illegible] नहीं रह गया है। [illegible] मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।'

श्रीकृष्ण और गोपियोंमें [illegible] एक ऐसी वस्तु है, जहाँ [illegible] प्रत्युत सारे विश्वके सारे धर्म [illegible] है। पूर्व या पश्चिम, उत्तर [illegible] भी भगवान्‌के पास [illegible] परम साधन है। इसमें [illegible] नहीं हो सकता।

श्रवण शब्दोंका ही हो [illegible] शब्द चाहिये, जो [illegible] शब्द [illegible]।

अनेक [illegible] आलम्बन माना है। [illegible]

[illegible] है—[illegible] भगवान्‌का वाचक [illegible] है।'

भगवान्‌के [illegible]

[illegible] (ॐ) [illegible] है। इस कारण भगवान्‌के नामोंमें [illegible] है।

[illegible] जैसे [illegible] [illegible] योगियोंको [illegible] है—'ईश्वरप्रणिधानाद् वा।' (१।२३) '[illegible] (भक्ति) से [illegible] प्राप्त हो जाती है, जो [illegible] है।'

[illegible] कृष्णद्वैपायनने भक्तिविशेष किया है। [illegible] 'ॐ' के जपके साथ ब्रह्मके ध्यानको [illegible] कहते हैं—'प्रणवजपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानम्।'

क्योंकि 'प्रणवस्मरणेन सह यस्य सार्वज्ञ्यादिगुण-युक्तस्य ईश्वरस्य स्मृतिरुपजायते।' प्रणवके स्मरणपूर्वक जपके [illegible] सर्वज्ञत्वादिक गुणोंसे युक्त ईश्वरकी स्मृति हो जाती है।'

अतः स्मरणयुक्त प्रणवका जप करते हुए प्रणवके अर्थरूप भगवान्‌का स्मरण करते हैं—केवल स्मरण ही नहीं अपितु उन्हें बारम्बार चित्तमें स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं करते, अपने सारे कर्मोंके फलोंको भी भगवान्‌की भेंट कर देते हैं।

ब्रह्मको अपनी आत्माका आत्मा माननेवाले हृदय-कमलमें स्थित जीवके भीतर अन्तर्यामीके रूपमें भगवान्‌का ध्यान करते हैं। आत्माको ब्रह्म अथवा आत्मामें ब्रह्म या ब्रह्मको अपने आत्माका परम प्रिय मानकर भी ध्यान किया जाता है। इनमें अनुरक्ति परम ऐकाग्र्य-सम्पादन करती है।

भगवान् शालग्रामपर निर्निमेष एकाग्र-दृष्टि रखकर प्राण-की गतिके साथ ॐ का जप और भगवान्‌का ध्यान शीघ्र ही शिलाको सर्वेशके रूपमें झलका देते हैं।

मूर्तियोंपर इसी प्रकार ध्यान करनेसे वे भी उपासनाके बलसे उपासकोंके लिये भगवान् बन जाती हैं।

अव्यक्त भगवान् भी उपासनासे भक्तकी इच्छाके अनुसार व्यक्त होते हैं। ब्र० सू० ३। २। २४ में प्रणिधानको संराधनके नामसे भी स्मरण किया गया है। विज्ञान-भिक्षु भगवान्‌के सम्यग्-आराधनका साधन श्रवण, मनन, धारणा, ध्यान और समाधिको मानते हैं। यही तात्पर्य शंकरका है।

भगवान् रामानुजने स्पष्ट कह दिया है कि भक्तिरूप संराधन भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर देता है।

सत्य है—भगवान् अपनी संनिधिमें भी व्यापक हैं। जब भक्त अपनी अविचल भक्तिकी शक्तिसे भगवान्‌को प्रकट करना चाहते हैं, भगवान्‌की मूर्ति उसी समय भगवान् हो जाती है। निराकार भी साकार एवं व्यापक भी एकदेशस्थित बन जाता है।

भगवान्‌की चरण-धूलिका महत्त्व

नागपत्नियाँ कहती हैं—

> न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
> न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥
>
> (श्रीमद्भा० १०। १६। ३७)

'प्रभो! कितनी महिमामयी है तुम्हारे श्रीचरणोंकी धूलि! जो इस परम दुर्लभ धूलिकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उनके मनमें सागर-समन्वित सम्पूर्ण धराका आधिपत्य पा लेनेकी इच्छा नहीं होती। इसकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट, जरा आदि दोषोंसे रहित देहके द्वारा एक मन्वन्तर-कालपर्यन्त भोगने योग्य स्वर्गसुखकी भी कामना उन्हें नहीं होती। इससे भी अत्यधिक मात्रामें लोभनीय एवं विघ्न-बाधाशून्य पातालसुख—पाताललोकका आधिपत्य भी उन्हें आकर्षित नहीं करता। इस सुखसे भी अत्यधिक महान् ब्रह्मपदको पा लेनेकी वासना भी उनमें कभी नहीं जागती। ब्रह्मपदसे भी श्रेष्ठ योगसिद्धियोंकी ओर भी उनका मन नहीं जाता। इससे भी श्रेष्ठ जन्म-मृत्युविहीन मोक्षपदतककी इच्छा उनमें उत्पन्न नहीं होती। यह है तुम्हारी चरणरजकी शरणमें चले आनेका परिणाम, प्रभो!'

भक्ति और मूर्तिमें भगवत्पूजन

(लेखक—पं० [illegible] त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)

श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अनन्य भावसे अपने इष्टदेवके पाद-पद्मोंमें हृदयकी आसक्तिको ही 'भक्ति' कहते हैं। यह भक्ति तामसी, राजसी, सात्त्विकी, निर्गुणा—इन भेदोंसे चार प्रकारकी होती है। चारों भक्तियोंमें तामसी-राजसी भक्ति करनेवाले भक्त तो शत्रुनाश, राज्यलाभ आदिकी कामनासे तामस-राजस देवोंका आराधन करके उनसे अभीष्ट फल प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं, और अपने उद्धारक परमेश्वरसे विमुख बने रहते हैं। ऐसे भक्तोंका प्रयास किसी प्रकार सफल हो जानेपर भी वे वस्तुतः कोरे ही रह जाते हैं। सात्त्विकी भक्ति सकाम-निष्काम भेदसे दो प्रकारकी होती है। इन दोनों प्रकारकी भक्तियोंको करनेवाले भक्त निष्कपट भावसे अपने प्रियतम परमेश्वरकी ही उपासना करते हैं, अन्य देवी-देवोंको अपने प्रभुकी ही विभूतियाँ समझकर उन सबका उन्हींमें अन्तर्भाव मानते हैं। सकाम सात्त्विकी भक्ति करनेवाले भक्त वैकुण्ठ-लोकादिकी प्राप्तिको लक्ष्यमें रखकर अपने प्रभुको रिझाते और उनसे अभीष्ट फल पाकर कृतार्थ होते रहते हैं। ऐसे भक्त कुछ विलम्बसे मुक्तिके भागी होते हैं। निष्काम सात्त्विकी भक्तिकी महिमा तो वर्णनातीत है। यह भक्ति तो उन्हीं महाभागोंके हृदयमें अङ्कुरित होती है, जिनका अनेकों जन्मोंका पुण्यफल सञ्चित है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन—इन नौ विभागोंमें यह भक्ति विभक्त रहा करती है। इसी भक्तिमें यह शक्ति है कि प्रभुको भक्तके अधीन बना दे। इसी भक्तिकी प्रशंसामें भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा है कि 'उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप पाठ और तप-त्याग मेरी प्राप्ति उतनी सुगमतासे नहीं करा सकते जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति।

> न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
> न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। १४। २०)

श्रीभगवान्‌का यह भी कहना है कि 'मैं सज्जनोंका प्रिय आत्मा हूँ, मैं केवल श्रद्धापूर्वक की हुई भक्तिसे ही ग्रहण किया जा सकता हूँ। मेरी भक्ति करनेवाले भक्त यदि जन्मसे चाण्डाल भी हों, तो भी मेरी भक्ति उन्हें पवित्र कर देती है—'

> भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
> भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। १४। २१)

उन्हीं प्रभुने यह भी कहा है कि '[illegible] और तपोयुक्त विद्या मेरी भक्तिसे रहित मनुष्यको [illegible] पवित्र नहीं कर पाते, यह निश्चित है'

> धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
> मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। १४। २२)

भक्तवत्सल श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं कि '[illegible] बिना, चित्तके द्रवीभूत हुए बिना, [illegible] बहाये बिना, भला [illegible] अन्तः-करणकी शुद्धि कैसे हो सकती है।'

> कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
> विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। १४। २३)

पुन भगवान् निष्काम सात्त्विकी भक्ति करनेवाले [illegible] भक्तकी महत्ताका वर्णन करते हुए कहते हैं कि '[illegible] वाणीसे गद्गद [illegible] जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी [illegible] स्वरसे गाता है और नाचने [illegible] त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।'

> वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
> रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
> मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिस प्रकार अग्नि [illegible] देता है और फिर अपने शुद्ध [illegible] उसी प्रकार आत्मा [illegible] मनको [illegible]

> यथाग्निना हेम मलं जहाति
> ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।

आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २५)

इस प्रकार निष्काम सात्त्विकी भक्तियोंमें वैसे तो कोई भी कम नहीं है, पर उन सबमें श्रवण एवं कीर्तनकी बड़ी महत्ता है, जिसे भगवान् उद्धवजीके समक्ष इस प्रकार प्रकाशित करते हैं—'मेरी पवित्र कथाओंके श्रवणरूप व्यापारोंसे जैसे-जैसे अन्तःकरण परिमार्जित होता जाता है, वैसे-वैसे वह सूक्ष्म वस्तु (परमतत्त्व) को देखने लगता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अञ्जनके प्रयोगसे नेत्र सूक्ष्म वस्तुएँ देखने लगता है।'

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २६)

'समस्त भुवनके मध्य वे निर्धन मनुष्य भी धन्य हैं, जिनके हृदयोंमें एक भगवान्‌की ही भक्ति निवास किया करती है; क्योंकि भक्तिसूत्रमें बँधे हुए श्रीभगवान् सब भाँति अपना वैकुण्ठलोक भी छोड़कर उन निर्धन भक्तोंके हृदयोंमें समा जाया करते हैं।'

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका ।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः ॥
(पद्मपु० उ० खं०)

जिस निष्काम सात्त्विकी भक्तिका हम वर्णन कर रहे हैं, उस भक्तिके धारण करनेवाले भक्त किसी प्रकारका लोभ नहीं करते। वे अपने प्रभुकी सेवाके अतिरिक्त अपने प्रभुकी दी हुई सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व (सायुज्य)—ये पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ भी ग्रहण नहीं करते, अन्य विभवों-की तो बात ही क्या। उनके इस त्यागकी बात स्वयं भगवान् कपिलदेवने अपनी माता देवहूतिसे कही है, जिसे पूर्ण प्रमाण समझना चाहिये—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३)

वे भक्त विचारते हैं कि 'यदि हम सालोक्य और सामीप्य मुक्तियाँ अङ्गीकार कर लेंगे तो निरन्तर हमारा उनका एक ही लोकमें अथवा समीप-समीप निवास होगा। ऐसी दशामें हम उनकी उस लगनके साथ सेवा न कर पावेंगे, जैसी उनके विरहमें व्यथित होकर प्रतिदिन अश्रुपात करते हुए किया करते हैं। यदि सार्ष्टि-मुक्ति ग्रहण कर लेंगे तो हमारा उनका विभवसे साम्य हो जायगा, जिससे हम सदाकी भाँति दासभावसे उनकी सेवा न कर पायेंगे। सारूप्य मुक्तिके अङ्गीकार करनेपर स्वामी-सेवकका रूप-साम्य हो जायगा। वैसी अवस्थामें भी हम उनकी यथोचित सेवा न कर सकेंगे; क्योंकि जबतक हमारे उनके रूपमें विषमता है, तभीतक हम उनकी रूप-माधुरीपर विमुग्ध हैं और उसकी पिपासामें निरन्तर दर्शनाभिलाषी बने रहते हैं। रूपकी समता हो जानेपर सम्भव है, दर्शनोंका यह चाव न रह जाय। यदि एकत्व (सायुज्य)-मुक्ति ग्रहण कर लेते हैं, तब तो अपने स्वामीकी सेवासे सर्वदाके लिये वञ्चित हो जायँगे; क्योंकि इस मुक्तिके पाते ही हम प्रभुमें समा जायँगे और हमारा अस्तित्व ही मिट जायगा। अतः हम सेवा करनेवाले ही नहीं रह जायँगे तब सेवा कैसे कर सकेंगे।' इन्हीं विचारोंसे वे निष्काम सात्त्विकी भक्ति करनेवाले भक्त पाँचों प्रकारकी मुक्तियाँ देनेपर भी ग्रहण नहीं करते।

त्यागकी वृत्ति रखनेवाले इन भक्तोंकी वह निष्काम सात्त्विकी भक्ति शनैः-शनैः निर्गुणरूप धारण कर लेती है और ज्ञान-वैराग्यकी जननी बनकर आत्मजनित ज्ञान-वैराग्यनामक पुत्रोंको उन भक्तोंका सहायक बना देती है। इन सच्चे सहायकोंकी अनुकम्पासे उक्त भक्तोंको ज्ञेय परमतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है और असार संसारसे विरक्ति होने लगती है। यही निर्गुणा भक्ति 'आत्यन्तिक भक्तियोग' के नामसे स्वीकृत की गयी है। कपिल भगवान् अपनी मातासे कहते हैं कि 'इसी आत्यन्तिक भक्तियोगके द्वारा भक्त तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके हमारे भावको प्राप्त हो जाता है।'

अर्थात् निर्गुणा भक्ति भक्तको भी निर्गुण बना देती है और वह विदिततत्त्व होकर परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। उसे उस परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जिसके समक्ष कोई प्राप्य विषय अवशिष्ट नहीं रह जाता।

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १४)

इस भक्तिको प्राप्त जो भाग्यशाली भक्त भगवान्‌के पदारविन्दोंकी धूलकी शरण ले लेते हैं, वे उस धूलके समक्ष स्वर्ग, चक्रवर्तीका पद, ब्रह्माका पद, पातालका आधिपत्य, योगसिद्धियाँ तथा मुक्तिपद—इनमेंसे किसीकी भी चाह नहीं रखते—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ३७)

इस अहेतुकी निर्गुणा भक्तिका अनुसरण करनेवाले जो परम भाग्यवान् भक्त पवित्र, कीर्ति प्रभुके पद-पल्लवरूप नौकाका आश्रय ले लेते हैं, जो कि आश्रय लेने योग्य सर्वश्रेष्ठ स्थान है, उनके लिये संसार-सागर बछड़ेके पद-चिह्नकी भाँति सरलतासे पार करने योग्य बन जाता है। उन्हें स्वतः परम पदकी प्राप्ति हो जाती है और जो विपत्तियोंका स्थान है, वह संसार उनके लिये रह ही नहीं जाता—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५८)

अहेतुकी निर्गुणा भक्ति करनेवाले महान् भक्तोंको कोई सता नहीं सकता। यदि कोई सताता है तो उसे स्वयं कर्मोंका भागी बनकर नीचा देखना पड़ता है। इतना ही नहीं, उन्हें दुःख देनेवाला शीघ्र ही यमलोकका अतिथि बन जाता है। इस विषयमें भक्त अम्बरीष और भक्त प्रह्लादके चरित्र सर्वोपरि प्रमाण हैं। भक्तिकी वृद्धि करनेमें सत्सङ्ग, सच्चरित्रता, भगवत्कथालाप, भगवत्कथा-श्रवण, भूतदया—ये विशेष सहायक हैं। भक्तोंके लिये तो यह आदेश है कि जहाँ भगवत्कथारूप अमृतकी नदी न बहती हो और जहाँ भगवान्‌के आश्रित परमवैष्णव साधुजन न रहते हों, एवं जहाँ भगवान्‌के निमित्त यज्ञ-यागादि तथा उनके जन्म-महोत्सव आदि न होते हों, वह चाहे इन्द्रलोक ही क्यों न हो, उसका भी सेवन न करें—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥
(श्रीमद्भा० [illegible])

प्रह्लादजी तो अपना [illegible] पुरुष भगवान्‌के [illegible] धन, भाग्यादिका [illegible] शारीरिक बल, पुरुषार्थ, बुद्धि और [illegible] कोई भी अपेक्षित नहीं है, [illegible] रीझते हैं। इसका उदाहरण [illegible] भगवान् केवल भक्तिसे प्रसन्न हो गये थे—

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥
(श्रीमद्भा० [illegible])

भक्त-शिरोमणि प्रह्लादजीका यह भी मत है कि [illegible] बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि [illegible] चरण-कमलोंसे विमुख है तो उसकी [illegible] श्रेष्ठ है जिसने मन, वचन, [illegible] अपने उन प्रभुको समर्पित कर दिये हैं। [illegible] अभिमान रहित परम भक्त अपने कुलको [illegible] परंतु अभिमानसे भरा हुआ वह [illegible]—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखात्श्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥
(श्रीमद्भा० [illegible])

इन सब बातोंसे सिद्ध हो [illegible] करनेके लिये भक्तिसे बढ़कर दूसरा [illegible] पूर्व महर्षियोंने मूर्ति-पूजनका [illegible] भक्तोंके लिये निराकार और निर्गुण [illegible] निराकार ब्रह्ममें सदा स्थित [illegible] थी। कारण, उस युगमें [illegible] दर्शनाभिलाषी [illegible] करना कठिन हो रहा था। [illegible] विश्वास था कि वह निराकार है [illegible] कणमें व्याप्त है। इसी [illegible]

करके खोज जाय तो वह मिल सकता है। यही निश्चितकर उन कुशाग्रबुद्धि महर्षियोंने स्थूल बुद्धिवाले भक्तोंको मूर्तिमें ईश्वरकी आस्था करा दी थी। मूर्तिमें आस्था कर लेनेके पश्चात् वे जब श्रद्धापूर्वक मूर्ति-पूजन करने लगे, तब उनके हृदयोंमें शनैः-शनैः मूर्तिके प्रति, वैसा ही अनुराग हो गया, जैसा किसी अपने प्रिय सम्बन्धीके प्रति हुआ करता है। जब वे भगवन्मूर्तिपर विमुग्ध होकर ईश्वरभावसे उसकी पूजामें संलग्न हो गये, तब उन्हें मूर्तिमें ही अपने प्रभुके शुभ दर्शन हो गये। उनकी देखा-देखी जब अन्य भक्त भी मूर्ति-पूजन करने लगे, तब पूर्णरूपसे मूर्ति-पूजनका प्रचार हो गया।

मूर्ति-पूजनसे ईश्वरका ज्ञान उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार छोटे बच्चेको अक्षर-बोध कराते समय उलटी लेखनीसे अक्षरोंका प्रतिबिम्ब बनाकर उसपर उससे लिखवाया जाता है और धीरे-धीरे उसे अक्षरोंका ज्ञान हो जाता है। फिर वह सरलतासे अक्षर लिखने लगता है। मूर्तिमें भगवत्पूजन करनेवाले भक्तोंको भी उसी परमतत्त्वकी प्राप्ति होती है, जो पूर्ववर्णित सद्भक्तोंको प्राप्त होती है। सच्चा भाव होना चाहिये। मूर्ति शैली, दारुमयी, लौही, लेप्या, लेख्या, सैकती, मनोमयी और मणिमयी—इन भेदोंसे आठ प्रकारकी होती है। आठों प्रकारकी मूर्तियोंके चला-अचला, ये दो भेद और हैं। चला मूर्तियाँ वे हैं, जो पिटारी आदिमें रखकर सर्वत्र ले जायी जा सकती है। उनमें आवाहन-विसर्जनके साथ, अथवा आवाहन-विसर्जनके बिना, दोनों प्रकारसे पूजा की जा सकती है। अचला मूर्तियाँ वे हैं, जिनमें इष्टदेवका आवाहन और प्राण-प्रतिष्ठा करके उन्हें किसी मन्दिरमें स्थापित किया जाता है। उनकी पूजामें आवाहन-विसर्जनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। भगवद्भक्तोंका मूर्ति-पूजन देखकर अन्य देवोंके उपासकोंने भी मूर्ति-पूजनकी रीति स्वीकृत की थी। वास्तवमें अनन्यभावसे देखिये तो अन्य देवी-देव भी ब्रह्मके ही रूप हैं। मूर्तिमें भगवान्‌की आस्था रखनेवाले भक्तोंके समक्ष भगवान् कैसे प्रकट हो जाते हैं, इस विषयमें हम कुछ उदाहरण दे रहे हैं।

एक महात्मा एक दिन अपने एक ब्राह्मण शिष्यके घर पहुँचे। दैवयोगसे उन्हें वहाँ कई दिन रहना पड़ गया। महात्माजीके पास कुछ शालग्रामजीकी मूर्तियाँ थीं। उनके शिष्य ब्राह्मणकी एक अबोध बालिका प्रतिदिन महात्माजीके समीप बैठकर उनकी पूजा देखा करती थी। एक दिन कन्याने महात्माजीसे पूछा कि—'बाबाजी! आप किसकी पूजा करते हैं?' महात्माजीने कन्याको अबोध समझकर हँसी-हँसीमें उससे कह दिया कि—'हम सिलपिले भगवान्‌की पूजा करते हैं।' कन्याने पूछा कि 'बाबाजी! सिलपिले भगवान्‌की पूजा करनेसे क्या लाभ है?' महात्माजीने कहा, सिलपिले भगवान्‌की पूजा करनेसे मनचाहा फल प्राप्त हो सकता है।' कन्याने कहा—'तो बाबाजी! मुझे भी एक सिलपिले भगवान् दे दीजियेगा, मैं भी आपकी भाँति उनकी पूजा किया करूँगी।' महात्माजीने उसका सच्चा अनुराग देखकर उसे एक शालग्रामजीकी मूर्ति दे दी और पूजनका विधान भी बतला दिया। महात्माजी तो विदा हो गये। कन्या परमविश्वास तथा सच्ची लगनके साथ अपने 'सिलपिले भगवान्'की पूजा करने लगी। वह अबोध बालिका अपने उन इष्टदेवके अनुराग-रंगमें ऐसी रँग गयी कि उनका क्षणभरका वियोग उसे असह्य होने लगा। वह कुछ भी खाती-पीती, अपने उन इष्टदेवका भोग लगाये बिना नहीं खाती-पीती। वयस्क हो जानेपर जब कन्याका विवाह हुआ, तब दुर्भाग्यसे उस बेचारीको ऐसे पतिदेव मिले, जो प्रकृत्या हरिविमुख थे। कन्या अपने 'सिलपिले भगवान्'को ससुराल जाते समय साथ ही ले गयी थी। एक दिन उसके पतिदेवने पूजा करते समय उससे पूछा कि 'तू किसकी पूजा करती है?' उसने कहा, ''मैं सारी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेवाले अपने 'सिलपिले भगवान्' की पूजा करती हूँ।'' पतिदेवने कहा—'ढकोसले कर रही है!' यह कहकर उस मूर्तिको उठा लिया और बोले कि 'इसे नदीमें डाल दूँगा।' कन्याने बहुत अनुनय-विनयके साथ कहा—'स्वामिन्! ऐसा न कीजियेगा।' किंतु स्वामी तो स्वभावतः दुष्ट ठहरे; भला, वे कब मानने लगे। वह बेचारी साथ-ही-साथ रोती चली गयी, किंतु उन प्रकृत्या हरिविमुख पतिदेवने सचमुच उस मूर्तिको नदीमें फेंक दिया। कन्या उसी समयसे अपने सिलपिले भगवान्‌के विरहमें दीवानी हो गयी। उसे अपने इष्टदेवके बिना सारा संसार शून्य जँचने लगा। उसका खाना-पीना-सोना सब भूल गया। लज्जा छोड़कर वह निरन्तर रटने लगी—'मेरे सिलपिले भगवन्! मुझ दासीको छोड़कर कहाँ चले गये, शीघ्र दर्शन दो; नहीं तो दासीके प्राण जा रहे हैं। आपका वियोग असह्य है।'

एक दिन वह अपने उक्त भगवान्‌के विरहमें उसी नदीमें डूबनेपर तुल गयी। लोगोंने उसे बहुत कुछ समझाया, किंतु उसने एक न सुनी। वह पागल-सी बनी नदीके किनारे पहुँच गयी। उसने बड़े ऊँचे स्वरसे पुकारा—'मेरे प्राणप्यारे सिलपिले

भगवन्! शीघ्र बाहर आकर दर्शन दो, नहीं तो दासीका प्राणान्त होने जा रहा है।' इस करुण पुकारके साथ ही एक अद्भुत शब्द हुआ कि 'मैं आ रहा हूँ।' फिर उस कन्याके समक्ष वही शालग्रामजीकी मूर्ति उपस्थित हो गयी। जब वह मूर्तिको उठाकर हृदयसे लगाने लगी, तब उसी मूर्तिके अंदरसे चतुर्भुजरूपमें भगवान् प्रकट हो गये, जिनके दिव्य तेजसे अन्य दर्शकोंकी आँखें झप गयीं। इतनेमें एक प्रकाशमान गरुडध्वज विमान आया, भगवान् अपनी उस सच्ची भक्ताको उसीमें बिठलाकर वैकुण्ठ धामको लिये चले गये। उसके वे हरिविमुख पतिदेव आँखें फाड़ते हुए रह गये।

मूर्तिमें सच्चे भावसे भगवत्पूजन करनेपर भगवान् कैसे प्रकट हो जाते हैं और भक्तका समर्पित किया हुआ नैवेद्य किस प्रकार ग्रहण करते हैं—इसका एक उदाहरण नीचे देते हैं।

एक महात्माजीने एक लक्ष्मी-नारायणका मन्दिर बनवाया था, जिसमें लक्ष्मी-नारायणके सिवा अन्य देवोंकी भी मूर्तियाँ स्थापित थीं। महात्माजीने एक अबोध बालकको चेला भी बना रखा था, जो मन्दिरकी सफाई और पूजन-पात्रोंका मार्जन आदि किया करता था। वह कभी-कभी महात्माजीसे उन देव-मूर्तियोंके विषयमें पूछा करता था कि 'गुरुजी! ये कौन हैं और ये कौन हैं?' महात्माजी लक्ष्मी-नारायणकी ओर संकेत करके उसे समझा देते थे कि 'ये लक्ष्मी-नारायण हैं, ये ही दोनों जने मन्दिरके स्वामी हैं।' तथा अन्य देवोंके नाम बतलाकर उन सबको लक्ष्मी-नारायणके सेवक आदि बतला दिया करते थे। सरलहृदय बालकके हृदयमें महात्माजीके कथनानुसार ही मन्दिरस्थ देवी-देवताओंके प्रति निष्ठा हो गयी थी, जो निष्ठा तरुण हो जानेपर भी उसके हृदयस्थलका परित्याग नहीं कर पायी। एक बार महात्माजी एक मासके लिये तीर्थयात्री बन गये। चलते समय मन्दिरका भार उसी चेलेपर छोड़ गये। वे उससे कह गये कि 'बेटा! प्रतिदिन लक्ष्मी-नारायण आदि देवी-देवताओंकी धूप आदिके द्वारा पूजा करना और पवित्र भोजन बनाकर सबको भोग लगाना।' महात्माजीके चले जानेपर उस चेलेने उनके कथनानुसार लक्ष्मी-नारायण आदिकी प्रेमके साथ पूजा की और भोजन बनाकर वह पहले लक्ष्मी-नारायणके सामने ले गया। आँखें मूँदकर घंटी बजाने लगा और बोला—'भोजन कीजिये। आप दोनों जने मन्दिरके स्वामी हैं; अतः प्रथम आपका भोजन हो जाना आवश्यक है, पश्चात् अन्य देवी-देवताओंको भोग लगाऊँगा।' चेला बहुत देर-तक खड़ा रहा, किंतु उन्होंने भोजन नहीं किया। [illegible] विचार किया कि 'मुझसे कोई अपराध हो गया है। [illegible] स्वामिनी-स्वामीजी रूठ गये हैं।' उसने [illegible] सामने धूप देते समय स्वामिनी-स्वामीजी [illegible] धुआँ पहले नहीं पहुँचा, अन्य देवी-देवताओंके [illegible] गया। इसीलिये ये रूठ गये [illegible] उसने लक्ष्मी-नारायणके अतिरिक्त अन्य सब देव[illegible] नाकोंमें रूई लगा दी और पुनः सामग्री [illegible] विधिपूर्वक लक्ष्मी-नारायणको [illegible] धूप दी। फिर [illegible] नाकोंमें रूई निकालकर [illegible] देवी-देवताओंको भी धूप दी। फिर लक्ष्मी-नारायणके समक्ष भोजन [illegible] तो कोई त्रुटि है नहीं, [illegible] भोजन [illegible] नारायणने फिर भी भोजन नहीं किया। [illegible] भोजन-सामग्रीमें कोई त्रुटि रह गयी है। [illegible] भोजन नहीं करते।' [illegible] पवित्रतासे पुनः भोजन बनाकर उनके [illegible] लक्ष्मी-नारायणने फिर भी भोजन नहीं किया। [illegible] उठा लाया और उनके [illegible] कहने लगा—'अभी मैं [illegible] करता हूँ तो [illegible] देता हूँ।' उस चेलेकी [illegible] रूपमें श्रीलक्ष्मी-नारायण भोजन करने लगे। [illegible] भोजन करानेका सरल उपाय ज्ञात हो गया। [illegible] देवताके समक्ष भोजन रखता, उनके [illegible] हो जाता और कहता कि 'भोजन करो। [illegible] जड़वाऊँगा।' उसकी बात सुनकर [illegible] रूपमें ही भोजन करने लगता था। इस [illegible] प्रतिदिन उसका [illegible] सारी मूर्तियाँ प्रतिदिन भोजन करने [illegible] भोजन-सामग्रीकी [illegible] कुछ सामान [illegible] गया। जब [illegible] करने [illegible] पश्चात् जब महात्माजी [illegible] देव! लक्ष्मी-नारायण [illegible] उसने कहा कि [illegible] करते हैं, फिर [illegible] कीजिये, [illegible]

[illegible] खा गये हैं, जो आठ ही दिनोंमें समाप्त हो गयी। [illegible] अधिक [illegible] नहीं है।' महात्माने बिगड़कर कहा कि [illegible] था, वह किसने खा डाली!' चेलेने कहा, 'गुरुजी! क्या यह भी पूछोगे! आपने जो [illegible] यहाँ बैठा रखे हैं, आखिर अबतक इसने क्या [illegible] है? मुझे प्रतिदिन [illegible] आँटा मँगना पड़ता था; जो कष्ट मुझे भोगना पड़ा है, वह मैं ही जानता हूँ।' महात्माजी बिगड़ पड़े और कहने लगे—'क्यों झूठ बकता है! कहीं देवी-देवता भोजन करते हैं; वे तो केवल सुगन्ध लिया करते हैं। तूने कुसंगमें मिठाई ले-लेकर खायी होगी। मैं तेरी बात नहीं मान सकता। अच्छा, तू भोजन बनाकर दे; मैं देवी-देवताओंको भोग लगाकर देखूँ कि वे खाते हैं या नहीं।' चेला भोजन बनाकर लाया, महात्माजीने उसे लक्ष्मी-नारायणके समक्ष रखकर घंटी बजायी और आँखें मूँदकर खड़े रहे; किंतु उक्त देवी-देवताने भोजन नहीं किया। तब महात्माजीने चेलेको डाँटकर कहा कि 'देख मूढ़े! कहो, देवी-देवताओंने भोजन किया है?' उसने देखा, सचमुच किसीने भोजन नहीं किया है। तब वह लट्ठ उठाकर लाया और लक्ष्मी-नारायणके सिरोंपर तानकर खड़ा हो गया और कहने लगा कि 'फिर आप वही लीला करने लगे? भोजन करते हो या लट्ठ जड़वाना चाहते हो?' यह सुनते ही सब-के सब भोजन करने लगे। महात्माजी यह देखकर चकित हो गये और चेलेसे सारा रहस्य पूछा। तब उसने प्रारम्भसे समस्त वृत्तान्त बतलाया। महात्माजी चेलेके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'बेटा! तुम गुरु हो, मैं चेला हूँ; क्योंकि तुमने सच्ची आस्था रखकर मूर्तियोंमें देवी-देवताओं और भगवान्‌के दर्शन करा दिये। मीराँबाईको भी भगवान्‌की चित्र-मूर्तिसे अनुराग करनेपर परम तत्त्वकी प्राप्ति हुई थी। मूर्तियोंमें भगवत्पूजन करनेवाले भक्तोंको चाहिये कि वे जब मूर्तियोंमें भगवान्‌को देखें, तब प्राणिमात्रके हृदयमें ईश्वरकी आस्था रखकर सबका ईश्वरभावसे सत्कार करें और सबकी सेवा करें; तभी वे ईश्वरको प्रसन्न कर सकते हैं।

अवधविहारी एवं विपिनविहारीके चरण

(रचयिता—श्रीरामनारायण त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)

(१)

ध्येय हैं मुनीश्वर, मयंक-मौलि, मारुतिके,
सेव्य हैं सुमित्रा-सूनु, जनकदुलारीके।
गेय हैं सुपर्ण-शेष-शारदा-भुशुण्डिजीके,
पूज्य हैं भरत प्रेम पूरित पुजारीके॥
शरण शरण्य हैं कपीश-रावणानुजके,
पावन-करण हैं अपूत ऋषिनारीके।
दाता शान्तिके हैं भव-ताप-तापितोंके 'मित्र'
देववृक्ष-छंद पद अवध-विहारीके॥

(२)

सम्पति-निधान हैं प्रधान व्रज-भूतलके,
प्राणाधार जो हैं वृषभानु-सुकुमारीके।
देवकी-यशोदा, वसुदेव-नन्दके हैं हिय,
जीवनके फल हैं विवेकी जन्म-धारीके॥
मंजु मानसर हैं परमहंस-हंसोंके वे,
स्नेह-सुधा-सिन्धु हैं सनेही सदाचारीके।
जानेको अपार भव-पारावार पार 'मित्र'
पोत हैं विशद पद विपिन-विहारीके॥

भक्तिकी दुर्लभता

(लेखक—आचार्य [illegible])

'भक्ति दुर्लभ है'—यह बात जो सुनेगा, उसीका चित्त आश्चर्यसे भर जायगा; क्योंकि इससे अधिक स्पष्ट तथा विशद और कुछ नहीं है कि पारमार्थिक साधनाके क्षेत्रमें भक्ति ही सबसे सुगम साधन है। ज्ञान, योग एवं कर्मकी तुलनामें भी भक्तिकी सर्वाधिक सुगमता तथा सरलता सुविख्यात है। सारे पुराण और सभी संत एक स्वरसे पुकार-कर कहते हैं कि भक्ति सुगम है। यह उस राजपथके समान है, जिसपर एक अंधा और लँगड़ा भी बिना कठिनताके चला जा सकता है, जैसा श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह।

(११। २।३५)

सबसे सुगम होनेके कारण लाखों व्यक्तियोंद्वारा यह मार्ग अपनाया जाता है। हम सहस्रों नर-नारियों और बालकोंको मन्दिरों, गिरजाघरों तथा मस्जिदोंमें जाते देखते हैं। धार्मिक समारोहोंमें हम लाखों रुपये व्यय होते देखते हैं और यह बात भी कोई कम महत्त्वकी नहीं है कि भक्ति-समाजोंकी संख्या भी पर्याप्त है। ऐसी स्थितिमें यह कहना अवश्य ही मूर्खतापूर्ण होगा कि भक्ति दुर्लभ वस्तु है। फिर भी हम यह कहनेका साहस कर रहे हैं कि एक अर्थमें भक्ति दुर्लभ है। आपाततः यह उक्ति मूर्खतापूर्ण प्रतीत होनेपर भी हमें यह कहनेमें कोई भय नहीं है; क्योंकि भक्तिके महान् आचार्य हमारी बातका समर्थन कर रहे हैं।

भक्तिके सबसे बड़े आचार्य नारदजी कहते हैं—

प्रकाशते क्वापि पात्रे। (भक्तिसूत्र ५३)

'इसका किसी विरले व्यक्तिमें ही प्रकाशन होता है, जिसने सतत साधनाके द्वारा अपनेको इसके योग्य बना लिया हो।'

महाराष्ट्रके महान् संत एकनाथजी कहते हैं—'लोग भक्त कहानेमें गौरव मानते हैं, परंतु भक्ति दुर्लभ है; क्योंकि भक्तिका तत्त्व अत्यन्त निगूढ है। वेद भी इसे पूरा-पूरा समझ लेनेमें असमर्थ हैं।' महाराष्ट्रके एक दूसरे संत तुकारामजी कहते हैं—'भक्ति कठिन है, यह सूलीपर चढ़कर रोटीका स्वाद लेनेके समान है।' अतएव आइये, हमलोग भक्तिके स्वरूपको समझनेकी चेष्टा करें। भक्तिके स्वरूपको ठीक-ठीक समझ लेनेपर इस ऊपरी विरोधका परिहार हो जायगा।

श्रीमद्भागवतमें [illegible] प्रकार करते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः [illegible]।

अर्चनं वन्दनं दास्यं [illegible]॥

([illegible])

'भगवान्‌के गुणोंका श्रवण, [illegible] सेवन, अर्चन, [illegible] यह नौ प्रकारकी भक्ति है। [illegible]

चतुर्विधा भजन्ते मां [illegible]।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी [illegible]॥

([illegible])

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! [illegible] मेरा भजन करते हैं—[illegible]

किंतु श्रीनारदने [illegible] परिभाषा दी है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। [illegible]

'वह भक्ति ईश्वरके प्रति परमप्रेमरूप है।'

दूसरे सूत्रकार श्रीशाण्डिल्य भी [illegible] परिभाषा करते हैं—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

भागवत और गीताकी [illegible] शब्दों है, क्योंकि भगवान् [illegible] विभिन्न रूपोंमें [illegible] होती है—[illegible] भाव है। ये भक्तिकी [illegible] स्वरूपका नहीं, क्योंकि [illegible] श्रीकृष्णके गुणोंको [illegible] हरिकीर्तनमें [illegible] हो सकता है [illegible] नाम स्मरणके प्रति अनुराग है, [illegible] में वह [illegible] निरूपित किया है और [illegible] नहीं करना चाहता। [illegible] उनके [illegible] दूसरी [illegible] वह [illegible] आलोचना [illegible] भक्त कहकर पुकारना [illegible]

इसी प्रकार कोई व्यक्ति केवल अपने [illegible] [illegible] भगवान्के [illegible] कह सकता है [illegible] [illegible] है, जिसमें [illegible] तुम और मुझे [illegible] [illegible] सकते, किंतु ऐसे [illegible] भक्त नहीं कहा जा सकता।

एक व्यक्ति वेतनभोगी मन्दिरोंका पुजारी हो सकता है और [illegible] अपना सारा समय मन्दिरस्थ देवताओंकी सेवामें दिया करता है, किंतु मूर्तिपर वह व्यक्ति यदि इस प्रकारका विचार करे कि 'चलो मुझे छुट्टी मिल गयी, मैंने मूर्तिका अभिषेक कर दिया और मेरा कार्य समाप्त हो गया!' तो उसे भक्त नहीं कह सकते। यदि प्रतिमाका अभिषेक, उसे स्नान कराना, उसे वस्त्र धारण कराना आदि-में किसीको परिश्रम अथवा बोझका बोध होता है तो सारे दिन ऐसी सेवाओंमें रत रहनेवाला व्यक्ति भी भक्त नहीं कहला सकता।

तथ्य यह है कि ऐसे व्यक्ति भक्तिके केवल बाह्य नियमोंका पालन करते हैं। इसका नाम है—'वैधी भक्ति'। परंतु भक्तिके विषयमें सबसे महत्त्वकी बात तो यह है कि सदाचारकी भाँति यह भी आन्तरिक वस्तु है। इसका उद्गम हृदयसे होना चाहिये।

भक्तिके अन्तिम प्रकार आत्मनिवेदनको छोड़कर शेष सभी प्रकार प्रत्यक्ष देखनेमें आ सकते हैं। उनका भक्तिके रूपमें आदर तभी होगा, जब वे आन्तरिक भगवत्प्रेमकी बाह्य अभिव्यक्ति बनें। यदि अन्तरमें प्रेम हो तो यह आवश्यक नहीं कि वह विधिपूर्वक प्रार्थनाके रूपमें बाहर प्रकट हो ही। व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध तथा भलीभाँति चुने हुए शब्दोंमें भगवत्कथा कहनेकी अपेक्षा भक्त 'भगवान्' को गाली भी दे सकता है और फिर भी उस [illegible] गणना भक्तिमें ही होगी। इसके विपरीत एक विद्वान् ब्राह्मण वेदमन्त्रोंसे भगवान्की स्तुति करता है, फिर भी यह आवश्यक नहीं कि उसे भक्तिकी श्रेणीमें भी गिना जाय। महाराष्ट्रके महान् संत तुकारामने भक्तिके प्रामाण्य भगवत्प्रेम तथा अर्चन आदि भक्तिके बाह्य आचरणोंका सम्बन्ध दिखलानेके लिये एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। वे कहते हैं कि शून्यके पहले [illegible] भी अङ्क [illegible]—चाहे वह एक ही क्यों न हो—[illegible] [illegible]। किंतु यदि शून्यके पहले कोई संख्या न हो तो [illegible] शून्योंका मूल्य एकके बराबर भी नहीं होगा *। इसी प्रकार यदि हृदयमें प्रेम है तो जैसा हम ऊपर कह आये हैं, गालीका भी भक्तिमें समावेश हो जायगा। किंतु यदि प्रेम नहीं है तो ईश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य अनुष्ठानोंको भी भक्तिका नाम नहीं दिया जा सकता; क्योंकि उन क्रियाओंके द्वारा अनुष्ठानकर्ता भगवान्को न खोजकर धन, बड़ाई या प्रतिष्ठा जैसी कोई सांसारिक वस्तु चाहता है। इस प्रकार भगवान्का भक्त न होकर वास्तवमें वह धनका भक्त है। इसीलिये इस क्षेत्रके अधिकारी पुरुष कहते हैं कि सच्ची भक्ति तो रागानुगा ही है। वह परम प्रेमस्वरूपा है।

यहाँ कोई कह सकता है—'अच्छा, मान लिया कि भक्ति परमप्रेमस्वरूपा है; किंतु क्या ऐसा प्रेम ऐसी दुर्लभ वस्तु है?' इसपर हमारा कहना यह है कि 'हाँ, भगवत्प्रेम दुर्लभ है। भोगोंके प्रति प्रेम सर्वत्र पाया जाता है। विषयोंके प्रति आसक्तिमें हेतु विषयोंके साथ हमारा चिरकालीन सम्बन्ध ही है। वे हमारे सूक्ष्मशरीरपर संस्कार छोड़ जाते हैं और हम जहाँ-कहीं, जिस योनिमें भी जाते हैं, उन्हें साथ लिये जाते हैं। भगवत्प्रेम ऐसा नहीं है। वह तो भगवान्की कृपा-का फल है। अतः हमें भगवत्प्रेमके उस स्वरूपका अनुसंधान करना चाहिये, जिसे देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रोंमें निर्धारित किया है। उससे हमें यह समझनेमें सहायता मिलेगी कि सच्ची भक्ति क्यों दुर्लभ है। नारदजी कहते हैं—

प्रकाशते क्वापि पात्रे। (५३)

इस प्रेमका जो स्वरूप उन्होंने समझा है, उसका निरूपण करनेके पूर्व नारदजी अन्य आचार्योंके मतोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं—

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥ १६॥

पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्की पूजा आदि अनुष्ठानोंमें अनुराग ही भक्तिका स्वरूप है।

कथादिष्विति गर्गः॥ १७॥

श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्की कथा आदिमें अनुराग ही भक्तिका लक्षण है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥ १८॥

शाण्डिल्य ऋषिके मतमें इसका आत्मरतिके साथ

---

* गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपनी दोहावली(१०)में राम-नाम-की महिमाके विषयमें इसी आशयका निम्नलिखित दोहा कहा है—

नाम राम को अंक है, सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं, अंक रहें दसगुन॥

विरोध नहीं होना चाहिये । अन्तमें नारदजी स्वयं अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ १९ ॥

परंतु नारदजीकी रायमें अपने सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल हो जाना ही भक्ति है ।

किंतु आगे चलकर वे कहते हैं कि वास्तवमें भक्तिका यथार्थ स्वरूप अनिर्वचनीय है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

अर्थात् प्रेमके वास्तविक स्वरूपकी ठीक-ठीक एवं निश्चित परिभाषा अथवा व्याख्या सम्भव नहीं है ।

इसे अनिर्वचनीय बताकर वे अगले सूत्रमें एक दृष्टान्त देते हैं, जिससे इस अलौकिक वस्तुकी कुछ धारणा हो सकती है । वे कहते हैं—

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

'यह उस आनन्दकी अनुभूतिके समान है, जिसे कोई गूँगा किसी मीठी वस्तुको चखनेपर प्राप्त करता है ।'

इसके बाद वे इस प्रेमके कुछ लक्षण बताते हुए कहते हैं—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

'यह प्रेम गुणरहित है, स्वार्थप्रेरित कर्मप्रवृत्तियोंसे शून्य है और एकरस अखण्ड अनुभवरूप है, जो प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है तथा कतिपय शर्तोंके पूर्ण हो जानेपर अपने-आप प्रकट होता है ।'

क्या हम कह सकते हैं कि जिन बहुसंख्यक मनुष्योंको हम देवालयों, गिरजाघरों एवं मस्जिदोंमें जाते अथवा तीर्थयात्रा करते देखते हैं, उनमें ये सब लक्षण पाये जाते हैं ?

क्या ऐसी बात नहीं है कि उनमेंसे बहुत से लोग भगवत्प्रार्थना एवं पूजा आदि उतना प्रेमसे प्रेरित होकर नहीं करते जितना स्वार्थके वशीभूत होकर करते हैं और नियमोंका पालन केवल उतनी ही दूरतक करते हैं, जितना मोक्षकी प्राप्तिके लिये आवश्यक होता है ।

ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं, जो भगवान्‌की महिमा यथार्थरूपमें समझते हैं और जो प्रेमसे प्रेरित होकर उनकी सेवामें पूर्ण आत्मोत्सर्ग कर देते हैं । [illegible] क्योंकि भगवान्‌के प्रति प्रगाढ़ [illegible] आत्मसमर्पण, सम्पूर्ण त्याग और पूर्ण [illegible] गुण है । अर्थात् बच्चोंकी भाँति इसमें [illegible] मङ्गलमय, उनके [illegible] होना है । भक्तको इस दुनिया [illegible] साथ अपनी अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये [illegible] भी अवलम्बन करते हैं । [illegible] व्यक्ति प्रार्थना भी कर सकता है और [illegible] लिये डाक्टरके यहाँ भी जा सकता है । [illegible] सच्चा भक्त एकनिष्ठ होता है । [illegible] प्रत्येक पदार्थके लिये भगवान्‌ [illegible] भावसे निर्भर रहता है । [illegible] प्रति अडिग विश्वास [illegible] यह मिल सकता है । [illegible] इनमेंसे अधिकांश इस दिशामें [illegible]

भगवान्‌के प्रति [illegible] हृदयमें उनका दर्शन करने, [illegible] निकट सम्पर्कमें आनेकी [illegible] लालसाका नाम है भक्ति । [illegible] नारदजीने अपने सूत्रोंमें बताये हैं ।

वैष्णवके [illegible] श्रीज्ञानेश्वरजीद्वारा [illegible] एकादश स्कन्धकी मराठी [illegible] उद्धृत करते हैं, क्योंकि उनमें सुन्दर [illegible] विभिन्न रूपोंका विवेचन किया गया है—

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] निडिचनो ।
[illegible] ।
[illegible] भक्ति ॥
(एकनाथी भागवत अ० १२ ओ० ५८)

[illegible] मनुष्य गौरवका बोध करता है; किंतु सच्चा [illegible] बहुत ही कठिन है; भक्तिका तत्त्व बड़ा ही गहन है। उसका ज्ञान वेदों और शास्त्रोंसे भी नहीं है। ज्ञान सुगम है, क्योंकि उसे एक व्यक्ति दूसरेको प्रदान कर सकता है। परंतु भक्ति अर्थात् भगवत्प्रेम ऐसी वस्तु नहीं है। यदि कोई दूसरेके मनमें उसके संस्कार डालनेका प्रयत्न करे तो भी सम्भव है वे संस्कार उसकी मनोभूमिमें न जमें; क्योंकि भक्ति मानवीय पुरुषार्थका फल नहीं है। यह सहसा ऊपरसे उतर आती है। यह तो भगवत्कृपाका फल है।

इस प्रेमके स्वरूपकी कुछ धारणा निम्नलिखित दृष्टान्तोंसे हो सकती है। कोई कृपण व्यक्ति उस स्थानको छोड़कर जा सकता है, जहाँ उसने अपनी निधि छिपाकर रखी है। किंतु जहाँ भी वह जायगा, उसे हर समय अपनी उस निधिकी स्मृति बनी रहेगी। इसी प्रकार भक्त चाहे मन्दिरसे बाहर चला जाय और अपने इष्टदेवसे शरीरद्वारा अलग हो जाय, फिर भी उनकी स्मृति उसे निरन्तर बनी रहेगी।

वन्ध्या स्त्रीको यह जानकर कि वह गर्भवती हो गयी है—उसके पेटमें बच्चा है, अपार आनन्द होता है। अथवा सासको भी अपने भाग्यवान् जामाताके आगमनपर असीम आनन्द होता है। इसी प्रकार भक्तके आनन्दका भी पार नहीं रहता, जब उसे यह अनुभव होता है कि प्रभुकी स्मृति उसकी चित्त-भूमिमें स्थिर हो गयी है।

किंतु अपने प्रेमास्पदसे वियुक्त होनेपर भक्तको तीव्र यन्त्रणा होती है। इस व्यथाको हृदयंगम करानेके लिये एकनाथजी निम्नलिखित दृष्टान्त देते हैं। वे कहते हैं—'अपने कुलीन, रूपवान्, सम्पन्न और अनुरागभरे पतिने जिसका सहसा परित्याग कर दिया हो, उस नारीकी वेदनाका कौन वर्णन कर सकता है। इसी प्रकार उस सच्चे भक्तकी व्यथाको चित्रित करनेकी किसमें सामर्थ्य है, जो अपने प्रेमास्पदके दर्शनके लिये छटपटा रहा हो, परंतु जिसे दर्शनका सौभाग्य न मिला हो।

प्रियतम प्रभुके दर्शनकी ऐसी तीव्र लालसाका नाम ही भक्ति है।

नारदजी कहते हैं कि ऐसा प्रेम स्वयं भगवान् अथवा उनके भक्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव । भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८-३९ ॥

कौन नहीं कहेगा कि ऐसी भक्ति दुर्लभ है। अनेक जन्मोंतक की गयी प्रार्थना, अर्चना, सत्कर्म आदिकी सतत साधनाके कठोर परिश्रमसे प्राप्त करने योग्य है, यह पुरस्कार।

मुचुकुन्दका मनोरथ

मुचुकुन्दजी कहते हैं—

न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिंचनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम्॥
(श्रीमद्भा० १० । ५१ । ५६)

'अन्तर्यामी प्रभो! आपसे क्या छिपा है? मैं आपके चरणोंकी सेवाके अतिरिक्त और कोई भी वर नहीं चाहता, क्योंकि जिनके पास किसी प्रकारका संग्रह-परिग्रह नहीं है अथवा जो उसके अभिमानसे रहित हैं, वे लोग भी केवल उसीके लिये प्रार्थना करते रहते हैं। भगवन्! भला, बतलाइये तो सही— मोक्ष देनेवाले आपकी आराधना करके ऐसा कौन श्रेष्ठ पुरुष होगा, जो अपनेको बाँधनेवाले सांसारिक विषयोंका वर माँगे।'

भक्तिकी दुर्लभता

(लेखक—[illegible])

श्रीरामचरितमानसमें भक्तिकी दुर्लभता बतलाते हुए माता पार्वतीने श्रीशंकर भगवान्‌से कहा—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी ॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई । बिषय बिमुख बिराग रत होई ॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई । सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई ॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ । जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी । दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी ॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी । जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी ॥
सब ते सो दुर्लभ सुर राया । राम भगति रत गत मद माया ॥

'हे त्रिपुरारि ! सुनिये, हजारों मनुष्योंमें कोई एक धर्मव्रतका धारण करनेवाला होता है और करोड़ों धर्मात्माओंमें कोई एक विषयसे विमुख (विषयोंका त्यागी) और वैराग्य-परायण होता है। श्रुति कहती है कि करोड़ों विरक्तोंमें कोई एक सम्यक् (यथार्थ) ज्ञानको प्राप्त करता है और करोड़ों ज्ञानियोंमें कोई एक ही जीवन्मुक्त होता है। जगत्‌में कोई विरला ही ऐसा (जीवन्मुक्त) होगा। हजारों जीवन्मुक्तोंमें भी सब सुखोंकी खान, ब्रह्ममें लीन विज्ञानवान् पुरुष और भी दुर्लभ है। धर्मात्मा, वैराग्यवान्, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन—इन सबमें भी हे देवाधिदेव महादेवजी ! वह प्राणी अत्यन्त दुर्लभ है, जो मद-माया-रहित होकर रामभक्तिके परायण हो।'

तुलना करते हुए भगवान् श्रीरामने भी अपने मुखसे ही भक्तका स्थान और सभी प्रकारके मनुष्योंसे ऊँचा बतलाया है—

मम माया संभव संसारा । जीव चराचर बिबिधि प्रकारा ॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए । सब ते अधिक मनुज मोहि भाए ॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी । तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी ॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी । ग्यानिहु तें अति प्रिय बिग्यानी ॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥
भगति हीन बिरंचि किन होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥

'यह सारा संसार मेरी मायासे उत्पन्न है। इसमें अनेकों प्रकारके चराचर जीव हैं। वे सभी मुझे प्रिय हैं, क्योंकि सभी मेरे उत्पन्न किये हुए हैं। इनमें मुझको मनुष्य सबसे अधिक अच्छे लगते हैं। [illegible] द्विजोंमें भी वेदोंको धारण करनेवाले, [illegible] चलनेवाले, इनमें भी [illegible] वैराग्यवानोंमें फिर ज्ञानी और [illegible] विज्ञानी हैं। विज्ञानियोंसे भी प्रिय मुझे [illegible] मेरी ही गति है, और दूसरी [illegible] बार सत्य (सिद्धान्त) [illegible] समान प्रिय कोई भी नहीं [illegible] हो, वह मुझे सब जीवोंके [illegible] अत्यन्त नीच भी प्राणी [illegible] मेरी घोषणा है।

इन सभी [illegible] ज्ञानी इत्यादि [illegible] जीव [illegible] है। इसलिये वह दुर्लभ है।

काकभुशुण्डिजी [illegible] रामने कहा था—

सब सुख खानि [illegible]
जो मुनि कोटि [illegible]
[illegible]

'तुमने [illegible] तुम्हारे समान [illegible] जप और योगकी [illegible] यत्न करके भी [illegible] भक्ति तुमने माँगी है। तुम्हारी [illegible] यह चतुरता मुझे बहुत [illegible]

[illegible] मुनियोंके लिये भी दुर्लभ [illegible] [illegible] कहा है [illegible] हुआ। [illegible] गवाहमेंसे [illegible] वचन [illegible]—

[illegible] भक्ति नहीं होती, भक्तिके बिना श्रीराम[illegible] (कृपा नहीं) और श्रीरामजीकी कृपाके [illegible] भजनसे भी [illegible] नहीं [illegible]।'

और श्रीरामजीकी कृपा प्राप्त करनेके लिये पूज्यपाद [illegible] अपने रामचरितमानसमें बतलाया है —

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥

'[illegible] त्यागकर अर्थात् छल-कपट त्यागकर मन, [illegible] और कर्मसे भजन करनेपर श्रीरामचन्द्रजी कृपा करेंगे।'

भक्ति प्राप्त करनेके लिये श्रीरामकी कृपा प्राप्त कर लेना [illegible] है। यह अनुभव प्राप्त करनेपर काकभुशुण्डिजी-ने कहा है—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

'हे पक्षिराज ! सुनिये, श्रीरामजीकी कृपा बिना श्रीराम-जीकी प्रभुता नहीं जानी जाती। प्रभुता जाने बिना उनपर विश्वास नहीं जमता, विश्वासके बिना प्रीति नहीं होती और प्रीति बिना भक्ति वैसे ही दृढ़ नहीं होती, जैसे हे पक्षिराज ! जलकी चिकनाई नहीं ठहरती।'

भक्ति मुनियोंके लिये भी परम दुर्लभ होनेपर भी श्रीरामकी कृपासे सुलभ हो जाती है, अतएव श्रीरामकृपाकी प्राप्तिके लिये भजन करना चाहिये और राम-कृपाका लाभ करके दुर्लभ भक्ति प्राप्त करनी चाहिये। यह भक्ति जिसने भी प्राप्त कर ली, वही सफल जीवन तथा परम धन्य हो गया।

पतित और पतित-पावन

[एक झाँकी]

(रचयिता—श्री 'विप्र-तिवारी')

मानसके मुक्ता चुन-चुनकर
चला गूँथने अभिनव हार।
क्या उनको स्वीकार न होगा ?
यह मेरा लघुतम उपहार॥

लो ! झाँकी कर लो, स्वर्णिम यह
फैल रही आभा भू-पर।
पुण्य जाह्नवीकी गोदीमें
बैठे विहँस रहे रघुवर॥

यह आता है कौन लजाता ?
क्यों अपनेमें सिकुड़ रहा ?
दूर-दूर ही खड़ा हुआ क्यों
प्रभु-चरणोंको ताक रहा॥

यह निषाद है ! जिसकी छाया-
तक छू जानेपर ये लोग।
छींटे लेते हैं, पर देखो !
है कैसा सुखकर संयोग॥

उसी अपावन-सी कायाको
प्रभुने अपने हृदय लगाकर।
पावन किया अपावनको यों
जगसे सारा भेद मिटाकर॥

किसने पतित पतंगोंको यों
पावन करके पार लगाया ?
इस करुणाके बलपर ही यह
पतित पावन नाम कहाया॥

वसुधाके कण-कणमें अङ्कित
"रघुपति राघव राजा राम"।
दिग्-दिगन्तमें गूँज रहा है
पतित-पावन सीताराम॥

भक्तिका मनोविज्ञान

(लेखक—श्री[illegible] [illegible] [illegible])

भारतकी संस्कृतिके विकास और उत्कर्षमें भक्तिका भाग श्रेष्ठ है। हमारे साहित्य, संगीत एवं विविध कलाओंपर भक्ति-रसकी अमिट छाप है। हमारी मातृभूमिके मनोहर मन्दिर, महान् मेले तथा विशाल स्तूप-स्तम्भ भक्तिकी भावनाके साकार स्वरूप हैं। श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌को 'भक्त-भक्तिमान्' एवं 'भक्त-पराधीन' बतलाया गया है। सीताकी व्यथासे व्याकुल हुए महाकवि भवभूति अपने 'उत्तर-रामचरित'-नाटकमें 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्' कहकर करुण-रसके अन्तर्गत शृङ्गारादि अन्य आठों रसोंका समावेश करते हैं। मनोविज्ञान भक्तिको रस-राशि सिद्ध करता है। भक्ति-रसका यह विश्लेषण और विवेचन ही इस लघु लेखका लक्ष्य है।

भक्ति मनकी एक वृत्ति या भाव है। श्रीशंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (२।४।६) में लिखते हैं—'मनस्त्वेकमनेक-वृत्तिकम्' अर्थात् मनकी अनेक वृत्तियाँ हैं। मनोविज्ञान मनकी मुख्य वृत्तियाँ तीन मानता है—(१) ज्ञान, (२) भावना और (३) क्रिया। इन तीनोंमेंसे प्रत्येककी पुनः अनेक शाखाएँ हैं। इस वृत्तित्रयीकी विशेषता यह है कि कोई भी मानसिक अवस्था हो, उसमें तीनोंका अविच्छिन्न सान्निध्य रहता है तथा किसी एककी प्रधानता रहती है। जैसे राज्यमें प्रधानमन्त्रीके साथ अन्य मन्त्री सहयोगसे कार्य करते हैं, वैसे ही एक वृत्तिके प्राधान्यमें अन्य दोनों वृत्तियाँ सामञ्जस्यपूर्वक व्यवहार करती हैं। उदाहरणके लिये जो पुरुष 'सन्तन ढिंग बैठि' मीराँके भजन गाता है, उसकी वृत्तिमें प्रधानता तो भावनाकी होती है, पर उसे पदोंका बोध रहने तथा गानेके रूपमें शारीरिक चेष्टा होनेके कारण अन्य दोनों वृत्तियाँ गौण-रूपसे विद्यमान रहती हैं। फुटबॉल खेलते समय खिलाड़ीकी वृत्तिमें क्रियाकी मुख्यता रहती है, साथ ही गेंदको 'गोल'तक पहुँचा देनेके लक्ष्यका ज्ञान बराबर बना रहता है और सफल प्रयासमें आनन्द आता है एवं विफल प्रयाससे दुःखका अनुभव होता है। इसी प्रकार 'गीता' पर किसी विद्वान्‌का व्याख्यान सुननेमें ज्ञान-वृत्तिकी प्रमुखता होती है, पर व्याख्यानपर ध्यान देने और उसके श्रवणसे मोद मिलनेमें अन्य दोनों वृत्तियाँ सतत सम्पर्क रखती हैं। सारांश, नियम यह है कि समष्टिरूपसे तीनों वृत्तियोंका समाहार प्रत्येक मानसिक व्यापार

में रहता है और व्यष्टिरूपसे [illegible] होती है। प्रस्तुत लेखके अनुसार ही [illegible] तीनों मुख्य वृत्तियोंके अन्तर्गत [illegible] भावनाका पलड़ा भारी [illegible] अन्तर्गत है।

भक्ति-सम्बन्धी [illegible] लेना आवश्यक है कि भावना [illegible] शाखाओंके [illegible] से विभक्त की जा सकती है—

(१) [illegible]

(२) [illegible]

(३) [illegible]

[illegible] की वृत्तियोंकी संख्या [illegible] अधिक है। [illegible] क्रोध, लोभ, [illegible] ममता इत्यादि [illegible] इन्हीं भावनाओंको [illegible] उसको कि मनुष्य [illegible] भगवान्‌ने कहा है—

[illegible]

[illegible] भावनाओंके [illegible] हैं और आगे भी होते रहेंगे। [illegible] जाती है। ये [illegible] शरीरको कमजोर [illegible] प्रतिपादन [illegible] होते हैं, [illegible] है—[illegible] जाती है। [illegible] दीन हो जाता है। [illegible] रखता है। [illegible] है। [illegible]

[illegible] Charles Darwin [illegible]

[illegible] है [illegible] निरखने लगते हैं।' [illegible] अभिव्यक्ति होती है। भावावेशमें चैतन्य महाप्रभु और श्रीरामकृष्ण परमहंस कभी हँसने लगते थे तो कभी रोने लगते थे। प्रभु-प्रेम-मतवाली मीराँकी भी यही दशा [illegible] करती थी। श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीकृष्णने भक्तोंकी ऐसी दशाका वर्णन करते हुए उद्धवसे कहा है—

> वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
> रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
> मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
> (११।१४।२४)

अर्थात् जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, हृदय पिघल जाता है, जो कभी रोता है तो कभी जोरसे हँसता है, कहीं निर्लज्ज होकर गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है—ऐसा मेरा भक्त संसारको पवित्र करता है। ऐसे लक्षणोंको साहित्यिक भाषामें 'अनुभाव' भी कहा जाता है।

प्रश्न उठता है कि भक्तिमान् पुरुषके शरीरमें उद्वेग-जन्य लक्षण क्यों प्रकट होते हैं। मनुष्य दुःखमें रोता है और सुखमें गाता है और नाचता है। इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये हमें भावनाके आवेगों (Emotions) और रसों (Sentiments) के अन्तरके गहन सलिलमें डुबकी लगानी होगी—

> जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।

आवेश या आवेग भावनाकी भाप है। यह प्रकृतिका नियम है कि मनोमय कोशमें विकार होनेपर उसकी प्रतिक्रिया अन्नमय कोश या स्थूलशरीरमें लक्षणोंद्वारा प्रकट होती है; क्योंकि 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि।' प्रत्येक रसमें अनेक आवेग सुप्तरूपमें रहते हैं और अवसर आनेपर प्रकट होते हैं। प्रेम-रसमें परिस्थितिके अनुरूप कौन-कौन-से आवेगोंका प्रादुर्भाव होता है, यह उदाहरणोंद्वारा स्पष्ट किया जाता है। शकुन्तलाका लालन-पालन करनेसे पहले महर्षि कण्व '[illegible] न जाना, मूढ़से नाता' की कहावतको चरितार्थ करते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटकके चतुर्थ अङ्कके '[illegible]' में कालिदासने ऋषिके मुखसे जो भाव व्यक्त कराये हैं, वे 'वात्सल्य-वियोग-दुःख' की अमर कहानी है। [illegible] श्लोकमें [illegible] रहा है—

> यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
> कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
> वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
> पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥
> (४।६)

अर्थात् इस विचारमात्रसे कि शकुन्तला आज चली जायगी, मेरा हृदय विषादसे व्याप्त हो गया है, अश्रुप्रवाह रोकनेके कारण कण्ठ अवरुद्ध हो गया है और चिन्ताके कारण नेत्र जड (निश्चेष्ट) हो गये हैं। जब स्नेहके कारण मुझ-सरीखा वनवासी इतना विकल हो जाता है, तब दुहिताके वियोगके नवीन दुःखोंसे गृहस्थियोंको व्यथा क्यों न होगी! भवभूतिने तो सीताके विरहसे व्याकुल रामके साथ-साथ पत्थरको रुलाया है और वज्रका भी दिल दहलाया है—

> अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।
> (उत्तररामचरित १।२८)

भावनावेशमें रामके तनमें दुःखके जो लक्षण प्रकट होते हैं, उनका वर्णन भी कितना सरस है—

> निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
> परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः॥ २९॥

अर्थात् आवेगको रोकनेपर भी अधर और नासिकापुटके कम्पनसे अन्य पुरुष अनुमान कर सकते हैं कि (रामका) हृदय अत्यन्त संतप्त है। जब श्रीकृष्ण-प्रेम-रत मीराँ विरह-वेदनासे दुर्बल हो गयी, तब इलाजके लिये उसके पिता रतनसिंह-जी मेड़ता (जोधपुर) से वैद्य लेकर मेवाड़ आये। तब उसने यह पद गाकर सुनाया—

> हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाणै कोय।
> सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोणा होय॥
> गगन मँडळ पर सेज पिया की, किस विध मिलणा होय॥ १॥
> घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होय।
> जौहरि की गति जौहरि जाणै, की जिन जौहर होय॥ २॥
> दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय।
> मीराँ की प्रभु पीर मिटै, जब बैद साँवळियो होय॥ ३॥

उपर्युक्त अवतरणोंसे स्पष्ट है कि रस-सरोवरमें आवेगकी लहरें क्या-क्या दृश्य दिखाती हैं।

सारांश यह है कि प्रियजनके मिलनमें हर्ष और उसके वियोगमें विषाद, उसके सफल प्रयासमें उल्लास और विफल कार्यमें निराशा, उसके उपकारकके प्रति राग और अपकारकके प्रति रोष तथा उसकी बीमारीमें नीरोग होनेकी आशा और

अनिष्टकी आशङ्कासे भय इत्यादि आवेगोंकी अनुभूति होती है। प्रेम-रस इन आवेगोंका सतत स्रोत है, स्थायी भाव है और आवेग अनुभाव हैं, जो प्रियजनकी परिस्थितिके अनुसार आते-जाते रहते हैं। मनोविज्ञानके पण्डितप्रवर शैंड (Shand) रसको किसी व्यक्ति या वस्तुमें केन्द्रित आवेगात्मक प्रवृत्तियोंकी ग्रन्थि या पद्धति (System) मानते हैं। मनोविज्ञानका धुरन्धर विद्वान् मैकडूगल (McDougall) प्रत्येक आवेगका किसी-न-किसी सहजात प्रवृत्ति (Instinct) से घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। भयका आवेग तभी आता है, जब आत्मरक्षाकी नैसर्गिक प्रवृत्तिका अनिवार्य प्रतीत होता है; इसीलिये प्राणी—नर या पशु—यन्त्रवत् व्यवहार करता है। अनेक महान् पुरुष, जो भावुक होते हैं, आवेशमें आकर विचित्र व्यवहार कर बैठते हैं। गीताका सम्यक् प्रारम्भ अर्जुनकी आवेगात्मक अवस्थासे ही होता है। उस रथीज महारथी वीर प्रियजनोंके प्रेमके कारण युद्धक्षेत्रकी सेनाओंके बीचमें अश्रुमोचन करता हुआ हथियार डालकर बैठ जाता है। भक्तिमें प्रेमकी प्रधानता होनेसे विविध आवेगोंका उत्थान होता है और भक्तके शारीरिक लक्षण उनकी पहचान हैं। जिस प्रकार 'साहित्य-दर्पण' में विश्वनाथने रसको काव्यकी आत्मा कहा है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (१।१।३), उसी प्रकार प्रेम भक्तिका प्राण है। नारदने भक्तिको 'प्रेमरूपा' ही बतलाया है। नारदपाञ्चरात्रमें भी 'स्नेहो भक्तिरिति' कहा गया है।

भक्ति प्रेमरूपा होनेके साथ-साथ श्रद्धा-विश्वासरूपिणी भी है। जहाँ भक्ति है, वहाँ प्रेम, श्रद्धा और विश्वास अवश्य विद्यमान रहते हैं। कहा है—'बिनु बिस्वास भगति नहिं।' अमरीकन मनोविज्ञानवेत्ता जेम्स (James) ने विश्वासको 'वास्तविकताका भाव' (The sense of reality) बतलाया है। किसी बातमें विश्वास करनेका अर्थ यह होता है कि वह वस्तुतः विद्यमान है। संशय या संदेह और विश्वासका विरोध है। इस संसारके समस्त व्यवहारका आधार विश्वास है। इसीलिये गीताका वचन है—'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।' (४।४०) अर्थात् संदेहशील पुरुषके लिये न यह लोक है न परलोक और न सुख ही है। अपने यहाँ सभी आस्तिक दर्शनोंमें विश्वासके बलपर ही 'शब्द' को भी प्रमाण माना जाता है। विश्वासके [illegible], फिर, बौद्धों और ईसाइयों [illegible] [illegible] है—इसका [illegible] [illegible] मिश्र [illegible] ज्ञानि है। ई० पू० [illegible] हुए थे, पर वे इस [illegible] विश्वास [illegible] सुदिन फिर आयेंगे और इसको [illegible]

श्रद्धाका आरम्भ विश्वाससे होता है, [illegible] है। साधारणतया [illegible] [illegible] उसपर श्रद्धा नहीं होती। [illegible] उत्कटता होती है, वह [illegible] नैतिक आदर्श [illegible] पुरुषमें [illegible] (Superiority) पर [illegible] जाता है। एक आधुनिक उदाहरण [illegible] बादमें स्वामी विवेकानन्द [illegible] परमहंसके पास आना जाना करते थे। [illegible] माँगनेपर कोई [illegible] परमहंसके सामने प्रस्तुत हुए। [illegible] कर दिया। [illegible] यह बतलाया कि यह [illegible] जब यह दान [illegible] को आध्यात्मिक शक्तिद्वारा [illegible] देखकर [illegible] इसी प्रकार विश्वरूप-दर्शनके [illegible] अर्जुन श्रीकृष्णसे प्रार्थना करते हैं—

सखेति मत्वा [illegible]
हे कृष्ण हे [illegible]
अजानता [illegible]
मया [illegible]

[illegible]

अर्थात् मित्र [illegible] न जानकर [illegible] सखा!' इस प्रकार [illegible] लिये मैं आपसे क्षमा [illegible] प्रोफेसर वार्ड[1] (Ward) [illegible]

1. A. F. Shand "Character of the Emotions".

2. William McDougall—"Social Psychology".

3. William James—"Principles of Psychology, Vol.II.

1. James Ward [illegible], p. 358

[illegible] (Objective situation) पर आधारित [illegible] है; दूसरी ओर हमारा [illegible] है; परंतु श्रद्धामें हमारा भाव आत्मनिष्ठ (Subjective attitude) होता है—आदर्शका विचार हमारे मन[illegible] है। पुनर्जन्मके विषयमें [illegible] अर्थ है कि पुनर्जन्म [illegible] है। अमुक ग्रन्थमें हमारी श्रद्धा होनेका अर्थ है [illegible] अर्थात् हमारे भावके अनुसार [illegible] जैसा हमें जँचता है। गीता श्रद्धाको [illegible] मानती है और कहती है—

> सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
> श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
> (१७। ३)

अर्थात् सभी लोगोंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय होता है; इसलिये जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह स्वयं भी वैसा ही है। यूनानी पण्डित प्लेटो[1] (Plato) ने भावों (Ideas) को शाश्वत माना है और कहा है कि सत्यम् (Truth), शिवम् (Goodness) और सुन्दरम् (Beauty) के आदर्श भी सहजात हैं। वे हमारे अन्तःकरणमें ही निवास करते हैं।

विश्वास और श्रद्धामें एक विशेष भेद यह है कि विश्वास एकाकी या निःसङ्ग वृत्ति है। परंतु श्रद्धाके अन्तर्गत अनेक वृत्तियोंका आवास है और वे परिस्थितिके अनुरूप व्यक्त होती रहती हैं। श्रद्धा प्रेमकी तरह रस मानी जाती है। उसमें आभार, आदर, भय, विस्मय और विनयकी भावनाएँ निहित हैं। जिन श्रद्धालु पुरुषोंको किसी महात्माकी संगतिका सौभाग्य प्राप्त है, उनका अनुभव है कि महात्मासे प्रश्न करते समय उन्हें भय होता है कि कोई अनुचित शब्द उनके मुखसे न निकल जाय। महात्माकी असाधारण शक्तिसे विस्मयके और उनके अनेक उपकारोंके स्मरणसे आभारके भाव उठते हैं; उनकी तुलनामें निज लघुताके विचारसे विनय उत्पन्न होती है और उनकी सौम्य मूर्ति देखकर हृदय आदरसे भर जाता है। इन सभी भावनाओंका केन्द्र महात्माका व्यक्तित्व होता है। अतएव मैलोनेका[2] मत है कि श्रद्धाका व्यक्तित्वसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो नैतिक आदर्श हमारे मनमें प्रच्छन्न रहता है, वह इस व्यक्तित्वमें प्रकट होता है। मैक्डूगल्ने श्रद्धाको [illegible] भावना कहा है। भगवान् भी कहते हैं कि—

> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।
> (गीता ६। ४७)

अर्थात् जो मुझे श्रद्धासे भजता है, वह मुझे सर्वश्रेष्ठ मान्य है।

उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन प्रतिपादित करता है कि भक्ति भावनाओंका रसायन है। भक्ति ही वह पुनीत त्रिवेणी-संगम है जहाँ पावन प्रेम, अटल श्रद्धा और दृढ़ विश्वासकी सरिताओंका सुधा-सलिल आकर मिलता है। भक्तिकी शक्ति अपार है।

भक्तिका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है—(१) सामान्य और (२) विशेष। सामान्य अर्थके अन्तर्गत गुरुभक्ति, पितृभक्ति, स्वामिभक्ति, देशभक्ति इत्यादि हैं। भक्तिका विशेष अर्थ है—परमेश्वरकी भक्ति। अतएव नारद-भक्ति-सूत्र (२) में कहा गया है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' अर्थात् परमात्मामें परम प्रेम ही भक्तिका स्वरूप है। और शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र (२) कहता है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् भक्ति ईश्वरमें परम अनुरागका नाम है। भगवान्‌ने गीतामें अनेक बार कहा है कि 'मेरी भक्ति अनन्य होनी चाहिये।' अनन्यभावसे ही 'परा भक्ति' होती है। जिस पुरुषकी भावनामें समस्त संसार प्रभुमय है, उसके लिये सभी प्रकारकी भक्ति ईश्वरभक्तिमें परिणत हो जाती है। देशभक्तिके भगवद्भक्तिका प्रकार हो जानेसे कितना पावन वातावरण उत्पन्न हो जाता है—इसका ज्वलन्त उदाहरण महात्मा गांधीकी भारत-भक्ति थी। इसी सिद्धान्तको मानते हुए महामना श्रीराजगोपालाचारीने आगरा विश्वविद्यालयके गत दीक्षान्त समारोहके अभिभाषणमें देशभक्तिके लिये ईश्वर-भक्तिको अनिवार्य बतलाया था। उनकी रायमें इस समय भारतको चरित्रवान् पुरुषोंकी परम आवश्यकता है और चरित्र-निर्माणमें परमात्माकी सत्तामें विश्वास होना बहुत जरूरी है।

भौतिकवादके वर्तमान युगमें भक्तिके सम्बन्धमें एक विख्यात विज्ञानवेत्ताने जो भव्य भाव प्रकट किये हैं, उनका उल्लेख करके यह लेख समाप्त किया जाता है। उनका नाम डा० कैरेल[1] (Dr. Carrel) है। चिकित्सामें मौलिक अनुसंधानों-के लिये उन्हें सन् १९१२ में नोबल पुरस्कार (Nobel Prize) प्राप्त करनेका सम्मान मिला। प्रारम्भमें वे फ्रांसके लियों (Lyons) नगर विश्वविद्यालयमें अध्यापक नियुक्त

1. Plato 'Republic'.
2. J. B. H. Mellone: 'Elements of Psychology', pp. [illegible]-231.

1. Dr. Alexis Carrell 'Man the unknown', pp. 141—143.

हुए थे। प्रभु-प्रार्थनासे असाध्य रोग मिट सकते हैं—इनकी वैज्ञानिक खोज उन्होंने सन् १९०२ में आरम्भ की। जिस लूर (Lourdes) तीर्थका नाम हमारे केन्द्रीय वित्तमन्त्री श्रीकृष्णमाचारीने 'व्यय-कर'के प्रसङ्गमें कुछ दिनों पूर्व लोकसभामें लिया था, उस तीर्थमें जाकर डा० कैरलका एक रोगी, जो राजयक्ष्मा (Tuberculosis) की असाध्य एवं मरणासन्न अवस्थाको सन् १९१३ में पहुँच चुका था, सहसा पूर्ण स्वस्थ होकर घर लौटा, तब उन्होंने इस आध्यात्मिक चमत्कारकी चर्चा विश्वविद्यालयमें कर डाली। इसपर उनके विरुद्ध वैज्ञानिक मण्डलोंमें प्रबल आन्दोलन उठा, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अपना पद-त्याग करना पड़ा। सौभाग्यसे सन् १९०५ में उन्हें न्यूयार्क (अमरीका) की चिकित्सा-खोजकी रॉकफेलर संस्था (*Rockfeller Institute*) में उच्चपद प्राप्त हुआ और वहाँ वे तीस वर्षतक कार्य करके विश्व-विख्यात हो गये। वे आजन्म अन्वेषण और अनुशीलनके पश्चात् इस निश्चयपर पहुँचे हैं कि प्रभु-प्रार्थना (Prayer) की शक्ति संसारकी सबसे बड़ी शक्ति है।

ईश्वर-भक्ति और प्रार्थनाके विषयमें डा० कैरलने निज ग्रन्थमें जो विचार प्रकट किये हैं, वे प्रत्येक साधक और दार्शनिकके लिये मनन करने योग्य हैं। मनुष्यको अपने आपको भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये। प्रार्थना तपस्याके तुल्य है। प्रार्थनामें प्रार्थीको तल्लीन हो जाना चाहिये और प्रभुके समक्ष उसकी स्थिति वैसी ही होनी चाहिये, जैसी स्थिति पटकी चित्रकारके सामने होती है। अनेक वर्षोंके परीक्षणके पश्चात् उन्होंने अपने अनुभवसे लिखा है कि 'प्रार्थनाके ही प्रभावसे कोढ़, कैन्सर, यक्ष्मा इत्यादि रोगोंके असाध्य बीमार कुछ मिनटोंमें ही पूर्ण स्वस्थ होते हुए देखे गये हैं। इस प्रकारकी आध्यात्मिक क्रियासे विलक्षण मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] कहता हूँ।'

[illegible] जड पदार्थों और [illegible] और आहट [illegible] सभ्यताका [illegible] यन्त्रोंकी सृष्टि कर [illegible] स्थान, [illegible] और [illegible]

[illegible] कहा गया है, [illegible] भक्तोंके [illegible] स्पष्ट है कि [illegible] जीवनको [illegible] करता है। [illegible] दिया है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता १८। ४६) [illegible] भगवान्‌की पूजा करके [illegible] [illegible] ऐसे देश भक्तोंके लिये भगवान् [illegible] नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। [illegible] अर्थात् उन नित्य [illegible] मैं उठाता हूँ।

मृत्युके प्रवाहको रोकनेका उपाय

श्रीकुन्तीजी कहती हैं—

> शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
> त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥
>
> ([illegible])

'भक्तजन बार-बार आपके चरित्रका श्रवण, गान, कीर्तन एवं स्मरण करके आनन्दित [illegible] अविलम्ब आपके उस चरण-कमलका दर्शन कर पाते हैं, जो जन्म-मृत्युके प्रवाहको सदाके [illegible]

भक्तिका मनोवैज्ञानिक स्रोत

(लेखक—[illegible] मिनहा, एम० ए०, एल-एल० बी०)

[illegible] मनमें [illegible] है। जिस प्रकार पौधेका पोषण [illegible] ही होता है, उसी प्रकार हमारा हृदय भक्तिके [illegible] ही स्वस्थ और सुखी होता है।

भक्तिको हम [illegible] विश्वास (Belief) कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो भक्तिके विचार हमारे [illegible] स्लेट (Blank Slate) पर [illegible] चित्र बनाते हैं, जिनपर हमारा भावी [illegible] होता है। उदाहरणार्थ—यदि हमारे मनमें भक्तिका अङ्कुर स्फुटित हो चुका है तो हमको भक्ति-[illegible] अभिरुचि होगी, हमारी इच्छाएँ भक्तवत्सल राम या कृष्णमें सन्निहित होंगी। इसके विपरीत यदि हमारे मनमें भक्तिका कोई भाव नहीं है तो हमें भक्तिकी चर्चा दारुण दुःख[illegible] और भक्तोंकी कथा यमराजके दरबार-जैसी लगेगी।

समस्त धर्म-ग्रन्थोंका सार (Essence) भक्ति ही है। भक्तिके ही संचारणके हेतु भागवत आदिकी विभिन्न कथाओंका प्रचार एवं गङ्गा-यमुना, त्रिवेणी सरयूका नित्य स्नान किया जाता है। मनोविज्ञान कहता है कि 'प्रत्येक लघु-से-लघु कार्य, जिसे हम करते हैं, मानस पटलपर अमिट प्रभाव डालता है।' गङ्गा-स्नान करनेसे मनमें गङ्गाजी या ईश्वरके प्रति भक्तिका भाव अङ्कुरित होता है। भगवान् शंकरके [illegible] लिङ्गपर गङ्गाजल, बेलपत्र, पुष्पादि अर्पित करनेसे भक्तिकी भावना बलवती होती है।

भक्तिका स्रोत मनुष्यकी परिस्थितियोंके प्रभावसे प्रस्फुटित होता है। मनुष्य अपनी परिस्थितियोंका ही दास होता है। एक उच्चकुलमें उत्पन्न बालक प्रायः सुशिक्षित एवं सुशील होता है। वह अपने कुलकी मर्यादाकी रक्षाके हेतु बड़े-से-बड़े कार्य कर सकता है। परंतु जो अर्थहीन है, वह [illegible] साधनोंका दास है, उसे अर्थका अभाव पागल बनाये रखेगा। नदी-तटके निवासी, मन्दिरके पुजारियोंके [illegible], तीर्थस्थानोंके निवासी, कथा-वाचकोंकी सन्तान तथा भक्तोंकी सन्तान प्रायः धार्मिक भावनाओंसे ओत-प्रोत होते हैं; क्योंकि चरित्र-निर्माणमें वंश परम्परा (Herediy) का पश्चात् प्रतिशत उत्तरदायित्व होता है। भक्तोंकी संतानें भक्ति-प्रधान होती हैं और दुर्जनोंकी संतानें प्रायः चोर, डाकू, चरित्रहीन ही होती हैं।

भक्तिकी भावनाओंको चरम सीमापर पहुँचानेके हेतु हमें स्वाध्याय करना चाहिये। स्वाध्याय धर्मका निचोड़ (सार) है। स्वाध्यायके बिना कोई धार्मिक नहीं बन सकता। स्वाध्यायका अर्थ है—सद्ग्रन्थोंका विचारपूर्वक अध्ययन तथा मनन करना। प्रतिदिन पाँच मिनट मौन रहकर, कम-से-कम पाँच मिनट किसी धार्मिक ग्रन्थका स्वाध्याय करना श्रेयस्कर है। जो भी सत्कर्म करना हो, नित्यप्रति करना चाहिये; इससे सच्चरित्रके निर्माणमें सहायता मिलती है। मनोविज्ञानका सिद्धान्त यही है—जो कार्य बार-बार किया जाता है, वह आगे चलकर अभ्यासवश स्वतः भी होने लगता है। स्वतः होनेको ही स्वभाव (Habit) बन जाना कहते हैं। अश्लील विचार भी क्रमशः बलवान् होते देखे जाते हैं। यदि कोई किसी युवतीको बार-बार देखता है और प्रफुल्लित होता है तो बार-बार उसको देखनेका ही प्रयत्न करेगा। कुछ दिनों बाद उसका स्वभाव पड़ जायगा उस युवतीको बार-बार घूरनेका। फिर स्वप्नमें भी उसका रूप उसके मस्तिष्कमें नाचेगा और फलतः वीर्यपात भी हो सकता है। यदि उस युवतीका प्राप्त करना सुगम हो तो वह उसे प्राप्त करनेका प्रत्येक सम्भव प्रयत्न भी करेगा। यही बात साधु-महात्मा, भक्त-सज्जन पुरुषोंको तथा भगवान्‌के चित्रादिको देखनेसे उनके सम्बन्धमें होती है। यह है विचारोंका मनोविज्ञान।

भक्तिकी भावनाओंका उद्गमस्थान हमारे मस्तिष्कमें अङ्कुरित भाव होते हैं। ये भाव हमारे मनमें परिस्थितियोंको जाग्रत् करते हैं। कुछ परिस्थितियाँ प्राकृतिक होती हैं, तो कुछ कृत्रिम होती हैं। उन कृत्रिम परिस्थितियोंको हम परिवर्तन कर सकते हैं। हमको चाहिये कि हम सज्जनोंका सत्सङ्ग करें। सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करें। इनके समान कोई उपदेशक या सुधारक नहीं। अतः स्वाध्याय और सत्सङ्ग ही हमारी भक्तिकी-भावनाके स्रोत हैं।

भक्ति

(लेखक—श्री[illegible] शर्मा)

पैगम्बर महम्मद साहबने एक जगह कहा है—

'प्रार्थना धर्मका स्तम्भ है, स्वर्ग-प्राप्तिके लिये सुलभ मार्ग है और मोक्ष-मन्दिरके द्वारको खोल देनेवाली सुनहली चाबी है।'

जब-जब इस पृथ्वीपर हम किन्हीं अद्भुत, अवर्णनीय, विचित्र और समझमें न आ सकनेवाले पदार्थोंको देखते हैं और उन्हें सूक्ष्म दृष्टिसे देखते हैं, तब-तब हमको सहज ही भान होता है कि अपनेसे कोई महान् दैवी सत्ता इस जगत् और जगत्के पदार्थोंपर शासन करती हुई विलसित हो रही है और ऐसा होते ही स्वाभाविक मानवी दृष्टिसे उसकी विभूतियोंके प्रति सिर अवनत हो जाता है। जिस प्रकार नदियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति समुद्रमें जाकर मिलनेकी होती है, उसी प्रकार हम सूक्ष्मदृष्टिसे देखते हैं तो जान पड़ता है कि इस जगत्के यावन्मात्र प्राणी और पदार्थ इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर पाप-पुण्य करते हुए अपने मन्द-तीव्र विकासकी गतिके अनुसार ज्ञात या अज्ञात-रूपसे अपने लक्ष्य-बिन्दुको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसी नियमका अनुसरण करके इस अद्भुत रचनाके विषयमें विचार करने, इसके रहस्यको जानने तथा इसके अपूर्व नियम और बुद्धिमत्ताको समझनेके लिये मनुष्यका अन्तःकरण प्रेमसे भरपूर होकर, जिज्ञासु बनकर अनेक प्रकारके प्रयत्न करने लगता है। जिन प्रयत्नोंमें पहले प्रेमके साथ-साथ कुछ अंशमें भय मिला हुआ जान पड़ता है, वही प्रेम, वही जिज्ञासा और वे ही प्रयत्न भक्तिके ढाँचेको तैयार करनेवाले धुँधले अङ्ग हैं। जब वे अपने पूर्ण स्वरूपको प्राप्त होते हैं, तब हम उसको 'भक्ति' कहते हैं।

भक्ति और ज्ञान—ये कुछ एक-दूसरेसे नितान्त पृथक् विषय नहीं हैं, अपितु ये एक ही शृङ्खलाकी अलग-अलग कड़ियाँ हैं। जब वे अलग-अलग होते हैं, तब उनको हम कड़ियाँ कहकर पुकारते हैं, परन्तु उनके एकत्र होते ही 'कड़ियाँ' शब्द छोड़कर उसको हम 'शृङ्खला' शब्दसे पुकारने लगते हैं।

जो अनन्य भक्ति है, वही अभेद-ज्ञान है। जो परम भक्त है, वही पूर्ण ज्ञानी है। जिस प्रकार ज्ञानीको सत्य ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर उसकी भेदभावना दूर हो जाती है और वह इस जगत्से [illegible] अलग नहीं मानता अर्थात् [illegible] उसी प्रकार भक्त अपनी भक्तिमें [illegible] और कुछ नहीं देख सकता। [illegible] ऐसा नहीं है, जिसमें उसको ईश्वरके [illegible] होती हो। इसी कारण [illegible] श्रीकृष्णके मिलनेके लिये [illegible] और वासनाँमें [illegible]

इस प्रकारके स्वरूपमें [illegible] लीला है, जिसके लिये [illegible] स्वरूप है। वह [illegible] भी सत्य, [illegible] प्रकारसे अनुभव होता ही [illegible] वेद और पुराण [illegible] है।

एक ओर ज्ञानीको इस प्रकार [illegible] दूसरी ओर भक्त अपनी भक्तिमें [illegible] हुए प्रेमयोगका [illegible] अन्तिम हेतु भेदभाव [illegible] होना ही होना है। [illegible] ज्ञानी है, वही भक्त [illegible] रहे अनुसार भक्ति [illegible] सूक्ष्म रहस्य [illegible] को अपने [illegible] शृङ्खलाका [illegible] साधन है, जिससे [illegible] जा सकती है।

भगवान् श्री[illegible] हुए श्री[illegible] —

[illegible]

[illegible] दृष्टिसे देखनेसे [illegible]

रहता है। [illegible] कर्मोंके लिये ही उसके अन्त[illegible] [illegible] दोनोंमें उनके [illegible] ही रहता है।'

भक्ति एक ऐसा स्वच्छ और अनुपम विषय है, जिसमें [illegible] और श्रद्धाके सिवा दूसरे किसी भी तर्क-वितर्क [illegible] प्रमाणकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशमान होकर अपने प्रकाशको प्रकट करनेके लिये किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार भक्ति एक ऐसा विषय है, जो स्वयं प्रमाणरूप है, जिसके लिये किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती।

जबतक मनुष्य आशा और अहंकारसे मुक्त नहीं होता, प्रभुके साथ ऐक्य-सम्पादन करनेमें प्रयत्नशील नहीं होता, तबतक उसकी भक्ति शून्याकार ही होती है। परंतु जब उसमें सच्चा प्रेम उत्पन्न होता है और तीव्र इच्छा उसको पूर्णरूपसे दबा देती है, तब इस उत्तम योगका प्रारम्भ होता है, जो अन्तमें उसके अधिकारके अनुसार उत्तम, मध्यम या कनिष्ठ फलकी प्राप्ति कराता है।

जब अहंकार-वृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले सारे विकार, वचन और कर्म उस महान् शक्तिके प्रति पूज्यभावमें तथा शुद्ध प्रेममें तन्मय बन जाते हैं और क्रमशः शुद्ध होते जाते हैं, तब वह महान् शक्तिप्रेरक हो रही है—ऐसा भास होने लगता है और यह स्थिति निरन्तर बनी रहे तो अन्तमें वासनाओंसे निर्मित अज्ञानरूपी अन्तरपट दूर होकर अन्तरात्माका भान हो जाता है और वही हमारा सच्चा स्वरूप होनेके कारण उसकी ओर हम स्वाभाविक ही आकर्षित हो जाते हैं।

भक्ति चाहे जिस प्रकारसे शुरू हुई हो, होना चाहिये उसे उच्च भावनासे सराबोर। नीच, तुच्छ तथा हलके हेतुओंको इस उत्तम विषयमें कहीं भी स्थान नहीं मिलना चाहिये। ऐसा होनेपर ही हम प्रभुमय होने तथा उसके प्रेम-पात्र बननेके योग्य हो सकेंगे।

भक्ति इतनी अधिक शुद्ध और खरी होनी चाहिये कि उसका हेतु केवल प्रभु-स्वरूपका उच्च अनुभव करके आनन्द प्राप्त करनेके सिवा और कुछ न हो। तभी उससे उत्कृष्टतम परिणाम प्राप्त हो सकेगा; क्योंकि भक्तिका जितना उच्च हेतु होगा, फल भी उतना ही उच्च प्राप्त होगा। प्रभु हमारी भावना, प्रेम और हेतुके पारखी हैं और तदनुकूल फल प्रदान करते हैं। इसीसे सिद्ध होता है कि प्रभु भक्तकी भावनाके अनुसार सगुण अथवा निर्गुण हो सकते हैं; क्योंकि यदि प्रभु केवल निर्गुण ही हों, उनको हम स्पर्श न कर सकें, उनके साथ बोल न सकें—ऐसे हों तो इस प्रकारका प्रत्यक्ष-प्रत्युत्तर मिलना असम्भव ही कहा जायगा।

भक्ति एक अत्युत्तम मार्ग है। इस मार्गपर चलकर हम अपनी इच्छाके अनुसार प्रभुके सगुण स्वरूपकी प्राप्ति कर सकते हैं। यहाँ प्रभुके निर्गुण स्वरूपको ही माननेवाले तथा सगुणरूपको भ माननेवालेके लिये मीरा, नरसिंह, तुकाराम, प्रह्लाद और ध्रुव आदि समर्थ भक्तोंका दृष्टान्त ही पर्याप्त है। यह एक ऐसा उत्तम साधन है, जो मनुष्यभावको प्रभुभावमें, दूसरे बहुत से साधनोंकी अपेक्षा अधिक सरलतासे बदल देता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भगवद्गीतामें अर्जुनकी शङ्काका समाधान करके भक्तिकी श्रेष्ठता बतलाते हुए कहते हैं—

> मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
> श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

'मुझमें चित्त स्थिर करके नित्य-युक्त होकर जो उत्कृष्ट श्रद्धासे मुझको भजते हैं, वे ही भक्तियोगको उत्तम रीतिसे जानते हैं—ऐसा मेरा मत है।'

भक्तिमें एक और सर्वोत्तम गुण है सर्वात्मभाव प्रदान करनेका, और उसीके सहारे हम सरलतासे गुणातीत हो सकते हैं। फिर जैसे-जैसे हम अपने मार्गमें आगे बढ़ेंगे, वैसे-ही-वैसे मार्गमें आनेवाली सारी कठिनाइयाँ स्वभावतः दूर होती जायँगी। क्या यह इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि प्रभु हमारी पूर्ण या अपूर्ण भक्तिकी अपेक्षा न करके हमपर अनुग्रह करनेके लिये ही प्रत्युत्तर प्रदान करते हैं? अर्जुनको इसपर पूर्ण विश्वास दिलाते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

> मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

'तुम मुझमें ही मन लगाओ तथा मुझमें ही बुद्धिको स्थिर करो। ऐसी चेष्टा करनेपर तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है।'

इस प्रकार विविध प्रकारके मनुष्योंके लिये प्रभु-भक्ति नाना प्रकारकी, विविध रूपकी हो सकती है; परंतु उनमेंसे प्रत्येकका हेतु—लक्ष्य-बिन्दु तो एक प्रभुके दर्शनमें कृतार्थ होकर प्रभुमय होनेका ही होना चाहिये। तभी वह उत्तम

भक्ति कही जा सकेगी, तभी यह अनेक योगोंमें एक उत्तम योग गिना जायगा ।

हम भी इस प्रकारके उत्तम योगको अनुभवमें लाकर उसके उत्तम फलको प्राप्त कर सकते हैं । परन्तु इसके लिये, जैसा कि ऊपर [illegible] भावना और शुद्ध [illegible] तभी हम अति [illegible] समर्थ हो सकते हैं ।

कदाचित् मैं भक्त बन पाता !

(लेखक—पं० श्रीहरिदत्तजी भट्ट)

बात है कोई बीस-बाईस साल पुरानी । सुना कि अमुक ज्योतिषी सच्ची भविष्यवाणी करता है, यहाँतक कि मृत्युकी सही तारीख भी बतला देता है । मैंने भी कुछ प्रश्न उसके पास भेज दिये । मेरा एक प्रश्न यह भी था कि 'जीवनमें कभी सच्चा भक्त बन सकूँगा क्या ?'

उत्तरमें उसने लिखा था—'भजन-पूजन, भक्तिभाव आदिका विचार तो बहुत होता है, किंतु सफल नहीं । भजन-पूजन आदि शुभ कर्मोंमें विघ्न-बाधाएँ अधिक उपस्थित हो जाती हैं, जिससे चित्तमें खेद भी होता है; तथापि आपके अन्तःकरणका झुकाव अध्यात्मविद्या, आत्मज्ञान, वेदान्त, धर्म-कर्म, ईश्वर-पूजा, उपासना आदि परमार्थकी ओर अधिक है । भविष्यमें सच्चे ईश्वरभक्त बन जानेकी शुभ-सूचना है .... ।'

× × ×

ज्योतिषीके और कई उत्तर तो समयके कुछ थोड़े हेर-फेरके साथ सही उतरे, पर यह 'शुभ-सूचना' अभीतक सही नहीं उतर पायी । ऊहापोहकी जो स्थिति आजसे पचीस साल पहले थी, वही आज भी है । भक्त बननेकी इच्छा तो बहुत होती है, पर भक्त बन कहाँ पाया ! वही हाल है—

दिल तो चलता है, मगर टट्टू नहीं चलता !

× × ×

जहाँतक मैं सोच पाया हूँ, इसका कारण यही लगता है कि मैंने सच्चे दिलसे कभी भक्त बननेकी चेष्टा ही ही नहीं, जी जानसे कभी इसके लिये प्रयत्न किया ही नहीं । पानीमें डूबते समय, गोता खाते समय प्राण बचानेके लिये जैसी छटपटाहट होती है, प्रभुको पानेके लिये वैसी ही छटपटाहट मुझमें पैदा हुई नहीं; फिर मैं अपने उद्देश्यमें सफल होता भी तो कैसे ! भक्त बनता भी तो कैसे !

केवल Wishful thinking [illegible] है कहीं ?

मन [illegible]

× × ×

और फिर [illegible] गाड़ीमें; बनना [illegible] तब मैं भक्त [illegible] ।

[illegible]

× × ×

भक्त बननेकी [illegible] कालसे हमारे [illegible] आ रहे हैं ।

[illegible]

[illegible]
[illegible] प्रिय [illegible] है,
[illegible] है,
[illegible] है,
[illegible] है,
[illegible] नहीं [illegible],
[illegible],
[illegible] निश्चिन्त रहता है,
वह वैराग्यवान् होता है,
[illegible] समता रहता है,
[illegible] रहता है,
[illegible] दूर रहता है,
काम और क्रोधको मार भगाता है।

× × ×

गीतामें भक्तकी राह बतायी गयी है बारहवें अध्यायमें। एक दिन मैं उसे खोजने लगा तो उसमें भक्तके ४०, ४१ लक्षण मिले। ये १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक बताये गये हैं।

भक्तके इन लक्षणोंको मैंने यों समेटा—

अहिंसा

वह किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता।
सबका मित्र होता है।
सबपर दया करता है।
अपराधीको क्षमा करता है।
उससे लोगोंको उद्वेग नहीं होता।
उद्वेगोंसे वह मुक्त रहता है।
वह तटस्थ रहता है।

आसक्तित्याग

किसी पदार्थमें उसका ममत्व नहीं रहता।
उसमें किसी बातका अहंकार नहीं रहता।
किसीके दुःख भी करनेपर वह उद्विग्न नहीं होता।
दूसरेकी उन्नतिसे उसे संताप नहीं होता।
इच्छाओंसे वह शून्य रहता है।
दुःखोंसे वह मुक्त रहता है।
[illegible] त्याग कर देता है।
वह [illegible] नहीं बाँधता।
वह शुभ-अशुभ दोनोंका त्याग करता है।
संसारमें उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती।
किसी स्थान या घरसे उसे ममता नहीं होती।

स्थितप्रज्ञता

वह सुख-दुःखमें समान रहता है।
जो मिले, उसीमें संतुष्ट रहता है।
हर्षमें वह फूलता नहीं।
किसीसे वह डरता नहीं।
किसीसे कभी द्वेष नहीं करता।
किसी बातका सोच नहीं करता।
शत्रु-मित्रमें समभाव रखता है।
मान-अपमानमें समभाव रखता है।
गर्मी-सर्दी उसके लिये बराबर हैं।
सुख-दुःख उसके लिये एक-जैसे हैं।
निन्दा-स्तुति उसके लिये बराबर हैं।
उसकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है।

योगयुक्तता

वह योगयुक्त रहता है।
इन्द्रियनिग्रही होता है।
दृढ़ निश्चयवाला होता है।
पवित्र होता है।
दक्ष और सतत सावधान रहता है।
मौनी, मननशील होता है।

भगवत्परायणता

मन और बुद्धि भगवान्‌को अर्पित कर देता है।
श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है।
भगवत्परायण होता है।

भक्तके लक्षणोंका यह विभाजन अन्तिम नहीं है। इनमें पुनरुक्ति तो है ही, एक श्रेणीका लक्षण दूसरी श्रेणीमें भी आ सकता है। मूल बात इतनी ही है कि भक्तमें अहिंसा, आसक्तित्याग, स्थितप्रज्ञता, योगयुक्तता और भगवत्परायणता होनी ही चाहिये। बिना इन सब गुणोंके भक्त कैसा! गलेमें माला डाल लेनेसे, त्रिपुण्ड्र लगा लेनेसे, रामनामी ओढ़ लेनेसे ही कोई भक्त नहीं हो जाता।

जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।

भक्त बननेके लिये तो सारा जीवन-क्रम ही बदल देना पड़ेगा।

× × ×

अहिंसा तो भक्तमें कूट-कूटकर भरी होनी चाहिये। प्राणिमात्रके प्रति उसके हृदयमें प्रेमभाव होना चाहिये। वह न तो किसीसे द्वेष करे, न घृणा। प्रत्येक जीवकी सेवा और सहायताके लिये, दुःखियोंका कष्ट दूर करनेके लिये वह सदैव तत्पर रहे। अपराधीके लिये भी, वह वैरियोंके लिये भी उसके हृदयमें प्रेम होना चाहिये। उत्तेजना, क्रोध, घृणा द्वेष आदि विकार तो उसके पास भी न फटकने चाहिये। उसका रोम रोम पुकारता हो—

करूँ मैं दुश्मनी किससे, अगर दुश्मन भी हो अपना
मुहब्बतने नहीं दिलमें जगह छोड़ी अदावत की!

× × ×

भक्तका हृदय प्रेम और दया, करुणा और उदारतासे लबालब भरा रहना चाहिये। उसके किसी कोनेमें भी हिंसाके लिये कोई गुंजाइश न हो। कैसी भी स्थिति, वह उत्तेजित न हो। न तो वह किसीपर कभी क्रोध करे न किसीको कभी सताये। उसके मुखसे कभी किसीके लिये भी कटु, कठोर या अप्रिय शब्द न निकले। किसीपर भी उसकी भौंहें टेढ़ी न हों। अपकारीके प्रति भी वह उपकार करे। विरोधी, अन्यायी और अत्याचारीके लिये भी उसके हृदयमें क्षमा होनी चाहिये, स्नेह होना चाहिये।

× × ×

भक्तमें लौकिक या पारलौकिक किसी भी वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं रहनी चाहिये। किसी भी पदार्थ, स्थिति, व्यक्ति, भाव, स्थान, पदके प्रति आसक्ति या ममता न रहनी चाहिये। उसके चित्तमें कोई कामना न रहे। और जब कोई कामना ही नहीं, तब कैसा दुःख, कैसा शोक—

न ऊधाका लेना, न माधोका देना।

भक्तको हर्ष-शोक, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान, निन्दा स्तुति आदि द्वन्द्वोंसे कभी विचलित न होना चाहिये। जब जैसी स्थितिमें पड़ जाय, सदा उसीमें सन्तोष माने, उसीसे लाभ उठावे। उसका मूलमन्त्र हो—

जाही बिधि राखै राम, ताही बिधि रहिये।

× × ×

और इस स्थितिको पानेके लिये भक्तको सदा योगयुक्त होना पड़ेगा। इन्द्रियोंको काबूमें रखना पड़ेगा। उसके लिये सदा निष्काम [illegible] रखनी होगी। [illegible] करना होगा। [illegible] जा सूझे कि नहीं! [illegible] मस्तलीन रहते हुए [illegible]

× × ×

पर मनुष्यके प्रयत्नकी [illegible] वह स्वाभाविक कैसे उठेगा। [illegible] प्रसन्न होनेका भी तो [illegible] है। [illegible] एकमात्र उपाय है—[illegible] समर्पण। उसे तन, मन, बुद्धि [illegible] देना होगा। सच्चे हृदयसे कहना हो

Take my life and let it [illegible]
Consecrated, Lord ! to Thee
Take my will [illegible] it [illegible]
It shall be no longer [illegible]
Take my heart, it is [illegible]
It shall be Thy [illegible]
Take my intellect [illegible]
Every power as [illegible]
Take my self, and [illegible]
Ever, only, all for Thee

मेरा जीवन [illegible]
मेरी [illegible]
मेरा हृदय [illegible]
मेरी बुद्धि [illegible]
और सब [illegible]

[illegible]

× × ×

[illegible]

* जिस सम्बन्धमें दूसरा [illegible]

भक्ति और विपत्ति

(लेखक—श्री[illegible] पाराशर्य)

[illegible] ऐसा [illegible] भगवान् भक्तकी [illegible]—

[illegible] ॥

[illegible] मेहताकी आर्थिक संकटमें की गयी [illegible] भी अनुकरणीय है—ऐसा वे मानते हैं और [illegible] मानते हैं। भक्त होना मानो भीड़ पड़नेपर भगवान्‌को रक्षाके लिये बुलानेका उपाय है, इसी रूपमें वे भक्त और भगवान्‌के सम्बन्धको देखते हैं और अपनी विचार-[illegible] समर्थनमें ध्रुव, कुब्जा, जरासन्धके द्वारा कैद किये गये राजा लोग तथा सुदामा आदिके दृष्टान्त सामने रखते हैं।

भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तको चाहे जैसी स्थितिमें-से तारें और उबारें, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं, आश्चर्यजनक नहीं, वरं यह स्वाभाविक है। परित्राणाय साधूनाम्—इस गीतावाक्यके अनुसार भक्तोंकी मुक्ति तथा रक्षाके लिये भगवान् स्वयं युग-युगमें अवतार लेते हैं। एकनिष्ठासे जो ईश्वरकी भक्तिमें लगे हुए हैं, ऐसे नित्ययुक्त भक्तोंका कष्ट हरनेमें भक्तवत्सल करुणानिधि ईश्वरकी महत्ता और तत्परता दोनों ही स्वीकार्य हैं।

परंतु भक्त अपनी ऐकान्तिक ईश्वरोपासना छोड़कर, पशु बनकर अपने सांसारिक व्यवहारमें संकट आनेपर भगवान्‌को कष्ट देनेके लिये प्रेरित हो और उसके औचित्यको स्वीकार करे, उसकी यह वृत्ति ठीक नहीं कही जायगी। समझना चाहिये कि ईश्वर-प्राप्तिके लिये आतुर मनुष्यके लिये भक्ति कर्म नहीं, [illegible] स्थिति है, अवस्था है। भक्ति एक गति (साध्य) है, साधन नहीं। भक्ति तादात्म्यके लिये प्रेरणा प्रदान करती है। श्रीमद्भागवतमें नृसिंह भगवान्‌की स्तुति करते समय भक्त प्रह्लादने ठीक ही कहा है कि जो भक्त बनकर अपने लौकिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ईश्वरसे करुणाकी याचना करता है, वह भक्त नहीं—बल्कि लाभार्थी व्यापारी है। भक्ति सौदेकी वस्तु नहीं है, बल्कि [illegible] होनेवाले आत्मसमर्पणका चिह्न है।

[illegible] हृदयकी भक्ति ईश्वरके साथ तादात्म्यके लिये प्रेरणा प्रदान करती है। दूसरी इच्छाएँ उस समय कम होने लगती हैं। उस समय भक्तके ऊपर विपत्ति आनेपर, कोई क्षति होनेपर, ईश्वरप्राप्तिके लिये नहीं, परंतु किसी दूसरी सांसारिक साधन प्राप्तिके लिये भगवान्‌की सहायता माँगना भक्ति नहीं है, किंतु लौकिक दीनवृत्ति है। इसमें प्रेममय माधुर्यके साथ विरोध खड़ा हो जाता है और वह भक्त तथा भगवान्‌के बीच एकरागतासे विमुख द्वैत खड़ा करके उस वैषम्य पैदा कर देता है। भक्तकी वहाँ (तादात्म्यकी इच्छामें) मर्यादा दीखती है, यह हीनपात्रता है। भागवत-धर्मका अनुसरण करनेवालोंके लिये यह उचित नहीं।

भगवत्प्राप्ति या भक्तिके सिवा जिसने अन्य वरदानकी इच्छा की है, वही ठगा गया है। ध्रुव, प्रह्लाद तथा गोपियोंने केवल अनन्य भक्तिकी याचना की है। दुःखमें इन्होंने ईश्वर-स्मरण किया है, परंतु वह दुःखसे छूटनेकी प्रार्थनाके लिये नहीं। पशु कहलानेवाले गजेन्द्रने ग्राहसे मुक्ति पानेके लिये ही भगवान्‌का स्मरण नहीं किया। जलमें रहनेवाले ग्राहसे भी अधिक बाधक यह सांसारिक सुखकी इच्छावृत्ति है, जो जीवको ईश्वर-ज्ञानसे विमुख करती है। इस प्रकारका परमात्म-ज्ञानसे रहित जीवन बितानेकी इच्छा गजेन्द्रको नहीं थी। गजेन्द्रने तीनों कालसे अबाधित मुक्तिपदकी याचना की। वह तो गजेन्द्र था, परंतु मनुष्य-भक्त तो ईश्वरकी महिमा जाने और देखे हुए होते हैं। अतः ईश्वर जो स्थिति प्रदान करे, उसीमें वे रहनेके लिये तैयार रहते हैं। केवल उनको यही अपेक्षा रहती है कि उनका मन ईश्वरकी भक्तिमें लीन रहे।

सांसारिक सुखद स्थितिकी अपेक्षा विपत्तिके प्रसङ्ग भक्तके हृदयको बहुत उत्कटताके साथ ईश्वरकी ओर प्रेरित करते हैं। ईश्वर जिसको तारना चाहते हैं, उसको विशेष कष्टकी अग्निमें तपाकर शुद्ध और निर्मल बना लेते हैं। इस स्थितिको समझनेवाले भक्त कभी विपत्तिसे डरते नहीं, उलटा उनका स्वागत करते हैं। श्रीमद्भागवतमें माता कुन्ती श्रीकृष्णकी स्तुति करती हैं—

> विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
> भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
>
> (श्रीमद्भागवत १।८।२५)

हे जगद्गुरो! हमपर सदा सब जगह विपत्ति ही आया करे, जिससे जिनके दर्शनसे संसारका आवागमन बंद हो जाता

है, ऐसी अपार महिमावाले आपका दर्शन हम पा सकें ।'

माता कुन्तीने यह प्रार्थना अपनी प्रथमावस्थाके सुखमय दिनोंमें नहीं की थी। पाण्डवोंके वनवासके बाद, कुरुक्षेत्रके युद्धमें उभयपक्षके सर्वनाशके बाद, पाण्डव-कुलके एकमात्र आधाररूप उत्तराके गर्भस्थको अश्वत्थामाके द्वारा हानि पहुँचानेके यत्नके बादकी यह प्रार्थना है। जीवनभर संकट-पर-संकट सहनेके बाद इस प्रकार ऐसी विपत्तिकी स्वेच्छापूर्वक प्रार्थना करते हुए ईश्वरकी अपार महिमाका गान करनेवाले भक्तहृदयमें परमात्मदर्शनकी कितनी उत्कट अभिलाषा होगी, साधारण मनुष्य तो इसकी केवल कल्पना ही कर सकता है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि विपत्ति और कष्ट भक्तोंके लिये नश्वर सांसारिक विषमता तथा ईश्वरकी शाश्वत परम-गहन महत्ताको प्रत्यक्ष प्रदर्शित करानेवाले प्रसङ्ग होते हैं। ऐसे प्रसङ्गोंमें सच्चे भक्तकी ईश्वरमें लगी हुई वृत्ति विशेष दृढ़ हो जाती है। विपत्तिको इष्टस्थिति समझकर आतुर भक्त उससे लाभ उठा लेता है। जागतिक दुःखानुभवरूपी विषम तरङ्गें भक्तकी जीवन-नौकाको ईश्वररूपी बंदरगाहकी ओर प्रेरित करती हैं, अतः वे वाञ्छनीय होती हैं। विपत्तिके अनुभव भक्त-हृदयको ईश्वरकी ओर ले जानेवाले वेगवान् वाहन हैं, वैकुण्ठवासी जगन्नाथको बुला मँगानेवाले तार-टेलीफोन नहीं हैं।

भक्तिके विषयमें जिज्ञासु प्रायः यह प्रश्न उठाते हैं कि भक्ति सकाम होती है या निष्काम। इस प्रश्नके दो पहलू हैं। भक्ति सकाम होनी चाहिये या निष्काम? यह भक्तकी आदर्श स्थिति दिखलाता है। दूसरा पहलू है—भक्ति कितनी और किस प्रकारकी होनी चाहिये? यह पहलू भक्तिकी वस्तुस्थितिको जानना चाहता है।

प्रश्नके समान ही उत्तरके भी दो पहलू हैं। वस्तुस्थितिको जाननेकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि भक्ति सकाम और निष्काम दोनों प्रकारकी दृष्टिगोचर होती है तथा सकामसे निष्काममें परिणत होती हुई भी दीखती है। परन्तु भक्तिके आदर्शकी दृष्टिसे विचार करें तो ऐसा जान पड़ता है कि भक्ति अपने विशिष्ट स्वरूपमें सकाम नहीं, निष्काम ही है। भक्ति किस प्रकारकी होनी चाहिये?—देवहूतिके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीकपिलदेवजीने निष्काम भक्तिकी ही महिमाका वर्णन किया है—

> देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
> सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥
> अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
> जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥

[illegible]

[illegible] ग्राहसे [illegible] गजेन्द्र [illegible] [illegible] भी [illegible] उसको [illegible] [illegible] पूर्व [illegible] सुखभोग [illegible] हो गया। [illegible] क्या और अनन्त [illegible] आवश्यकता तनिक भी नहीं [illegible] प्रेममय—भक्तिमय तादात्म्यसे [illegible] होनी चाहिये—यह भान होते ही गजेन्द्र [illegible] कहा—

> जिजीविषे नाहमिहामुया कि-
> मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
> इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव-
> स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥
> (श्रीमद्भा० ८ । ३ । २५)

'इस ग्राहके चंगुलसे छूटकर मैं जीनेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि बाहर और भीतर—सब ओर अविवेक—अज्ञानसे ढके हुए इस गजदेहसे मुझे क्या लेना है। परंतु जिस अज्ञानसे आत्मज्ञान प्रकाश ढक गया है तथा (एक ज्ञानको छोड़कर) उसे काल भी जिसका नाश नहीं कर सकता, मैं उस अज्ञानकी निवृत्ति चाहता हूँ।'

इसके बाद गजेन्द्रको मोक्ष-लाभ होता है; परन्तु उस समय उसका गजशरीर गिर जाता है। वह ईश्वरके पार्षदके रूपमें मुक्त हो जाता है। यह स्थिति है। दूसरी (सौतेली) माताके तिरस्कार ध्रुव राज्यकी आकाङ्क्षासे तप करते हैं। परंतु तपके प्रभावसे ईश्वर-दर्शनके साथ ही उनकी सकामवृत्ति नष्ट हो जाती है और ध्रुव ईश्वरसे केवल भक्ति माँगते हैं, भक्तोंका संग माँगते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सकाम उपासना, भक्तिके प्रभावसे, सकामसे हटकर निष्काममें परिणत हो जाती है। सकाम भक्ति बुरी नहीं है। भक्तिका होना ही बड़े भाग्यकी बात है। [illegible] भी औचित्य है; परंतु सकामसे विशिष्ट, निर्मल, पवित्र और उचित—ऐसी भक्ति तो निष्काम भक्ति है, [illegible] भक्तिका परिपक्वरूप है—यही दिखलाना [illegible] है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तोंके चार प्रकार बतलाये गये हैं—

> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
> (७ । १६)

'आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त होते हैं।' भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।......
> (गीता ७ । १७)

> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
> (७ । १८)

'उन (चारों) में ज्ञानी भक्त, जो मुझसे नित्य जुड़ा रहता है तथा अनन्य भक्तिसे मेरी उपासना करता है, सर्वश्रेष्ठ है।'—यों कहकर भगवान् श्रीकृष्ण आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी—इन तीनों प्रकारके भक्तोंको गौण बतलाते हुए नित्ययुक्त, अनन्य भक्तिवाले ज्ञानीको महत्त्व देते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारके भक्तोंको यद्यपि हीन नहीं बतलाया, फिर भी उनका स्थान निष्काम ज्ञानी भक्तसे निम्नकोटिका है—यह बात भी स्पष्ट कर दी।

श्रीमद्भगवद्गीताके भक्तियोगनामक बारहवें अध्यायमें भक्तके लक्षणोंको देखना चाहिये। श्रीकृष्ण कहते हैं—

> श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
> ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
> (१२ । १२)

'अभ्याससे ज्ञान श्रेयस्कर है, ज्ञानसे ध्यानका विशेष मूल्य है। ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग विशेष मूल्यवान् है, जिस त्यागके द्वारा परम शान्तिकी प्राप्ति होती है।'

यहाँ कर्मफलत्यागकी बात कही गयी है, इसके अंदर सकाम उपासनामें रहनेवाली इच्छावृत्ति, स्पृहा या कामनाके सम्पूर्ण त्यागका भी समावेश समझना चाहिये। जो पारमार्थिक फलानुसंधानका भी निषेध करते हैं, वे लौकिक कामनाको क्योंकर छूट दे सकते हैं। भक्तके लक्षणोंको दिखलाते हुए भगवद्गीतामें जो विशेषण दिये गये हैं, उन्हें देखनेसे भी यह बात स्पष्ट हो जायगी कि 'अनपेक्षः', 'उदासीनः', 'सर्वारम्भपरित्यागी', 'संतुष्टो येन केनचित्', 'न काङ्क्षति', 'निर्ममः' इत्यादि जो प्रिय भक्तोंके लक्षण श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहे हैं, वे अधिकांश निष्काम भक्तके ही हैं, सकाम भक्तके नहीं; क्योंकि भक्ति स्वयं पराकाष्ठाको पहुँचकर भक्तको आप्तकाम बना देती है और आप्तकाममें स्पृहा या कामना रह नहीं सकती। यह श्रेणी ही ऊँची है। इस निष्काम भक्तके तो प्रभु स्वयं ही भक्त बने रहते हैं।

अविचल भक्ति

(लेखक—[illegible])

प्रायः सभी भगवत्प्रेमी, भक्त, साधु-संत, महात्मा और आचार्य यही चाहते हैं कि अपने सुहृद् परमदयालु भगवान्से उनकी भक्ति अविचल हो—कभी विचलित अथवा चलायमान न होने पावे। वह सदा-सर्वदा अडिग रहे, अचल रहे, अक्षुण्ण रहे। अविच्छिन्न, अव्यभिचारिणी, अविरल, अभङ्ग और अखण्ड भी बनी रहे एवं नित्य-निरन्तर दृढ़से दृढ़तर होती जाय। अस्तु!

राजा द्रुपद गरुडध्वज श्रीहरिसे कहते हैं—

त्वयि भक्तिर्दृढा मेऽस्तु जन्मजन्मान्तरेष्वपि ॥
कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु
रक्षःपिशाचमनुजेष्वपि यत्र यत्र ।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात्
त्वय्येव भक्तिरचलाव्यभिचारिणी च ॥

(पाण्डवगीता १७)

'प्रभो! जन्म-जन्मान्तरमें भी मेरी आपके चरणोंमें अविचल भक्ति सदा बनी रहे। मैं कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, सर्प-अजगर, राक्षस-पिशाच या मनुष्य—किसी भी योनिमें जन्म लूँ, हे केशव! आपकी कृपासे आपमें मेरी सदा-सर्वदा अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे।'

× × × ×

भक्तराज प्रह्लाद नृसिंहरूपधारी भगवान्से प्रार्थना करते हैं—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

(विष्णुपुराण १ । २० । १८, १९)

'नाथ! सहस्रों योनियोंमेंसे जिस-जिसमें मैं जाऊँ उसी-उसीमें हे अच्युत! आपके प्रति मेरी सदा-सर्वदा अक्षुण्ण भक्ति रहे। अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी अविचल प्रीति होती है, वैसी ही प्रीति आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

× × × ×

बालभक्त ध्रुवजी श्रीअनन्त भगवान्से निवेदन करते हैं—

'अनन्त [illegible]! मुझे [illegible] महात्मा भक्तोंका सङ्ग दीजिये, [illegible] भक्ति-भाव हो।'

× × × ×

महर्षि [illegible] माँगते हुए कहते हैं—

[illegible]

हे प्रभु! मुझे [illegible] आपके [illegible] में [illegible]।

× × × ×

[illegible]

× × × ×

भारतेन्दु [illegible] करते हैं—

[illegible]

× × × ×

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] दृढ़भक्ति [illegible] करते हैं।

[illegible] हुए [illegible]—[illegible]।

[illegible]! [illegible] चरणोंमें [illegible] [illegible]!

दृढ़ताके साधन

भक्ति—ईश्वरभक्ति, गुरुभक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति, देशभक्ति आदि क्या हैं? और किस प्रकार इनमें दृढ़ता आ सकती है? इन प्रश्नोंका उत्तर जिस सुन्दर, सुगम, सरल और सुस्पष्टरूपसे भक्तशिरोमणि पूज्य महात्मा श्रीतुलसीदासजीद्वारा निर्मित श्रीरामचरितमानसमें मिल सकता है, वैसा अन्यत्र नहीं। भक्तिकी जो अनेक धाराएँ मानसमें प्रवाहित हो रही हैं, उन सबका यहाँ विवेचन करके लेखका कलेवर बढ़ाना प्रथम तो हमें अभीष्ट ही नहीं, दूसरे यह कि अन्य विषयोंकी तरहसे हमारी जिज्ञासा भक्तिके नामसे कोसों दूर भागती है। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमें अपने अहैतुक दयालु भगवान्‌का ज्ञान हो जाय, उनसे हमारी जान-पहचान हो जाय और उनके चरणकमलोंमें प्रीति लग जाय। बस, फिर क्या! कल्याण हो गया।

जानें बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।

× × × ×

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और मायाके सम्बन्धमें अपने अनुज भ्राता लक्ष्मणजीद्वारा पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीरामने [illegible]में बहुत कुछ बतलाया है कि किस प्रकार—

[illegible] मन भक्ति दृढ़ाई॥

परन्तु इन सब झंझटोंमें पड़े कौन। अविचल भक्ति प्राप्त करनेके लिये हम तो 'विनयपत्रिकामें' जैसी रहनी श्रीतुलसीदासजी चाहते हैं, वैसी-ही रहनी स्वयं भी माँगते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाउ गहौंगो॥
जथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगतमान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि भगति लहौंगो॥

'क्या मैं कभी इस रहनीसे रहूँगा? क्या कृपालु श्रीरघुनाथजीकी कृपासे कभी मैं संतोंका-सा स्वभाव ग्रहण करूँगा? अर्थात् जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहूँगा; किसीसे (मनुष्य या देवतासे) कुछ भी नहीं चाहूँगा। निरन्तर दूसरोंकी भलाई करनेमें ही लगा रहूँगा। मन, वचन और कर्मसे संयम-नियमोंका पालन करूँगा। कानोंसे अति कठोर और असह्य वचन सुनकर भी उससे उत्पन्न हुई (क्रोधकी) आगमें न जलूँगा। अभिमान छोड़कर सबमें समबुद्धि रखूँगा और मनको शान्त रखूँगा। दूसरोंकी निन्दा-स्तुति कुछ भी नहीं करूँगा। शरीरसम्बन्धी चिन्ताएँ छोड़कर सुख और दुःखको समानभावसे सहूँगा। हे नाथ! क्या तुलसीदास इस (उपर्युक्त) मार्गपर रहकर कभी 'अविचल हरि-भक्ति' को प्राप्त करेगा?'

यमराजका अपने दूतोंके प्रति आदेश

यमराज कहते हैं—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥

(श्रीमद्भा० ६। ३। २९)

'जिनकी जीभ भगवान्‌के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, उन भगवत्-सेवा-विमुख पापियोंको ही मेरे पास लाया करो।'

हुए उन्हें परशास्त्रके साथ चेतावनी देते हैं कि 'ईश्वरसे व्यापार नहीं करना चाहिये। केवल नारियल समर्पण करनेसे वह तुम्हारा रोग दूर नहीं कर देगा। जो काम तुमलोग करते हो, वह व्यापार है न कि भक्ति।' भक्तश्रेष्ठ इतना तो अवश्य जानते हैं कि नास्तिकोंकी बातोंका कोई मूल्य नहीं है; परमात्मा श्रीकृष्णकी बातोंका ही अधिक मूल्य है। जब स्वयं भगवान् ही अपना भजन करनेवाले गरीबों, पीड़ितों और जिज्ञासुओंको 'उदार'की उपाधि देते हैं, तब ये नास्तिक उनको भक्त न कहें तो इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

(भगवद्गीता ७। १६, १८)

अच्छा स्वभाव या उत्तम चरित्र

इन लोगोंका यह भी एक आक्षेप है कि 'जब लोगोंमें यह भावना स्थिर हो जायगी कि भक्ति ही श्रेष्ठ है और भक्ति ही इनको भवसिन्धुसे तार देगी, तब लोग अच्छे स्वभाव तथा उच्च चरित्रकी अवहेलना करके भक्तिके भरोसे रहकर मार्गभ्रष्ट हो जायँगे। इससे, लोगोंकी पहले जो शीलपर श्रद्धा थी, उसको बड़ी ठेस लगेगी।'

वस्तुतः इस प्रकारका आक्षेप करनेवाले यह नहीं समझ पा रहे हैं कि भक्तिका मुख्य फल क्या है। भक्तिका पहला काम होता है—भक्तके अन्तरात्माको शुद्ध कर देना। जिसपर ईश्वरकी कृपा होती है, वही पुरुष धर्म-बुद्धिवाला समझा जाता है। और भक्तिसे ईश्वरकी कृपा प्राप्त होती है। ये लोग भगवान् श्रीकृष्णके निम्नाङ्कित वचनपर ध्यान नहीं देते—

अपि चेद् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
....
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

(गीता ९। ३०, ३१)

—इन वाक्योंमें भगवान्‌ने यह स्पष्ट कहा है कि 'मेरी भक्ति करनेवाला मेरी प्राप्तिसे पहले निश्चय ही धर्ममार्गपर चलनेवाला धर्मात्मा हो जायगा।' भगवान् अपने भक्तोंका इतना उपकार तो निश्चित ही करते हैं कि वे उसे दुराचारसे मुक्त कर देते हैं। वह भगवान्‌की कृपासे तुरंत धर्मात्मा होकर शाश्वती शान्तिको पा जाता है। इससे यह सिद्ध है कि भक्तिसे उच्च चरित्रके निर्माणमें कोई बाधा नहीं आती। व भक्तिसे तुरंत पूर्ण तथा विशुद्ध निष्कलङ्क चरित्रकी नित्य-प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

सीनेमें समाने हेतु

(रचयिता—श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')

लोक-लाज छोड़, दौड़-दौड़ हरि-मन्दिरको,
साधु-संग बैठने को मजबूर हो गई।
निरख-निरख नूर नन्दलालजीका,
सरक-सरक दुनियासे दूर हो गई॥
कौड़ी-तौल बेच अपनेको गिरधारी-हाथ,
दिव्य अनमोल हीरा कोहिनूर हो गई।
प्रेमी श्यामसुन्दरके सीनेमें समाने हेतु,
'मीराँ' नाच-नाचके पसीने-चूर हो गई॥

अथवा—

चिन्तामणिश्चरणभूषणमङ्गनानां
शृङ्गारपुष्पतरवस्तरवः सुराणाम् ।
वृन्दावने व्रजधनं ननु कामधेनु-
वृन्दानि चेति सुखसिन्धुरहो विभूतिः ॥

'हे मुरारे ! छप्पन कोटि यादव आपकी आराधना करते हैं। प्रसिद्ध अष्ट निधियाँ आपके प्रयोजनीय धनराशिकी वर्षा करती हैं, अन्तःपुरके नौ लाख प्रासाद आपके विलासके स्थान हैं। आपकी इस समृद्धिको देखकर कौन नहीं विस्मित होगा !'

अथवा—

'अहो ! वृन्दावनके ऐश्वर्यकी बात कहाँतक कहें । यहाँ चिन्तामणि स्त्रियोंके चरणोंके आभूषण हैं, कल्पवृक्ष उनके शृङ्गार-साधनके लिये पुष्प प्रस्तुत करते हैं, कामधेनुओंके झुंड ही यहाँका गोधन है ! वृन्दावनकी विभूति सुखका अनुपम सिन्धु है !'

इस जन्ममें अथवा किसी पूर्व जन्ममें भगवदनुरागी भक्तोंके सङ्गके फलस्वरूप हृदयमें भगवत्प्रीतिका उदय होता है। शास्त्रोंका विचार करनेसे या पापोंका दण्ड देनेवाला मानकर भयसे प्रभुकी जो भक्ति की जाती है, उसको 'विधि-भक्ति' कहते हैं और प्राणोंके स्वतःस्फूर्त आवेगसे भगवान्‌के रूप-गुण-लीला-माधुर्यकी बातें सुनकर मनमें यदि लालसाका उदय होता है, प्रियतम प्रभुके प्रति नैसर्गिक रसमयी आविष्टता दीख पड़ती है तो उसको 'राग भक्ति' कहते हैं। इस राग-भक्तिका सर्वश्रेष्ठ उद्गम कृष्णावतारके समय व्रजमण्डलमें हुआ था। व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णके प्रति भक्ति राग-भक्ति या रागात्मिका भक्ति थी। उनके अनुगत होकर की जानेवाली भक्ति रागानुगा कहलाती है। श्रीराधाके प्रेममें रागात्मिका भक्तिका चरम उत्कर्ष हुआ है।

श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा साधकके जीवनमें भक्ति आकार ग्रहण करती है। जो अबतक विमुख रहा, वह उन्मुख होता है। जो अपवित्र था, वह पवित्र होता है। कोई इस भयसे कि भक्ति न करनेसे शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन होगा और कोई भगवत्प्राप्तिकी लालसाके वश साधन-भक्तिका अनुशीलन करते हैं। भक्तिका क्रम यह है—(१) श्रद्धा, (२) साधुसङ्ग, (३) भजन-क्रिया, (४) अनर्थ-निवृत्ति, (५) निष्ठा, (६) रुचि, (७) आसक्ति, (८) भाव तथा (९) प्रेम। तृतीय पर्याय यानी भजन-क्रियामें प्रवृत्त होनेपर साधकके सामने अनेक अनर्थ आते हैं। किसके भाग्यमें कौन अनर्थ उपस्थित होगा—यह निश्चय नहीं है। भजनकी अवस्थामें अनर्थोंसे बचना बड़े ही भाग्यसे होता है। भजनमें प्रवृत्तिके साथ जो एक उत्साह देखा जाता है, उसको 'उत्साहमयी दशा' कहते हैं। उस समय साधक समझता है कि थोड़ी ही चेष्टासे सब कुछ हो जायगा, भगवत्प्राप्ति हो जायगी। उसके पश्चात् आती है तीव्र चञ्चलावस्था, उस समय कभी उत्साह होता है तो कभी अनुत्साह। इसके बाद साधक दृढ़तापूर्वक भजनमें आग्रहशील होता है, इस अवस्थाका नाम है व्यूढ़-विकल्प। इस अवस्थाको पार करनेपर 'संसार छोड़ दूँ, या संसारमें रहकर ही भजन करूँ' इस प्रकार खींचतानका भाव उत्पन्न होता है। इस समय उसको मनोराज्यमें भोग-विषयोंको लेकर युद्ध करना पड़ता है। अतएव यह अवस्था 'विषय-सङ्गरा' कहलाती है। दृढ़-सङ्कल्प करके तब वह नियमपूर्वक भजन करनेमें लगता है, पर समय-समयपर उस नियममें शिथिलता आ जाती है; इस अवस्थाको 'नियमाक्षमा' कहते हैं। इस अवस्थाके बीतनेपर 'तरङ्गरङ्गिणी' नामक अवस्थामें साधक भक्तिकी तरङ्गोंमें हिलोरे खाता रहता है। जन्म-जन्मान्तरके सुकृत-दुष्कृत अथवा अपराधोंसे जो अनर्थ उत्पन्न होते हैं, वे साधकके साधनाके प्रति आग्रहसे तथा श्रीगुरु-वैष्णवकी कृपासे जब दूर हो जाते हैं, तब साधक अनिष्ठिता भक्तिकी अवस्थासे निष्ठिता भक्तिकी भूमिकामें प्रवेश करता है। रोगी पुरुषको जिस प्रकार स्वादिष्ट अन्न-जलके प्रति रुचि नहीं होती, उसी प्रकार अनिष्ठिता भक्तिकी अवस्थामें साधककी भजनमें रुचि नहीं होती। निष्ठाका उदय होनेपर धीरे-धीरे रुचिका आविर्भाव होता है। यह रुचि क्रमशः आसक्तिमें परिणत होती है। गाढ़ आसक्तिका नाम ही भाव है। तन्त्रमें कहा गया है कि प्रेमकी प्रथमावस्था भाव है; इसमें अश्रु-रोमाञ्च आदि प्रकट होते हैं। भावुक साधकके जीवनमें कुछ चिह्न देखकर समझा जा सकता है कि उसके हृदयमें भावका अङ्कुर उत्पन्न हो गया है। (१) क्षान्ति, (२) अव्यर्थकालत्व, (३) विरक्ति, (४) मान-शून्यता, (५) आशाबन्ध, (६) समुत्कण्ठा, (७) नाम-गानमें सदा रुचि, (८) भगवान्‌के गुण-वर्णनमें आसक्ति और (९) उनके धाममें निवासके लिये प्रीति—ये ही उत्पन्न भावाङ्कुर भाग्यवान् साधकके परिचायक लक्षण हैं। राजा परीक्षित् तक्षकके द्वारा डसे जानेके भयसे भीत या क्षुब्ध नहीं हुए। वे बोले—'भगवान्‌का गुण-गान,

भागवतकी कथा हो रही है, ऐसे समयमें मुझको [illegible] तक्षक डँसता है तो डँस ले, मेरा चित्त उससे विचलित नहीं होगा।' भक्तलोग वाणीके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते हैं, देहद्वारा उनको नमस्कार करते हैं, मनद्वारा सर्वदा उनका स्मरण करते हैं। इससे भी उनकी सम्यक् तृप्ति नहीं होती, इसी-से वे नेत्रोंके जलसे हृदयको आप्लावितकर अपना सारा जीवन श्रीहरिके चरणोंमें समर्पण कर देते हैं। राजर्षि भरतके विराग-वैराग्यकी कथा चिरकालसे प्रसिद्ध है। उन्होंने परमपुरुषोत्तम श्रीभगवान्‌की महिमाके प्रति सम्मानित होकर अपने यौवनके भोगकालमें ही दुस्त्यज स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव तथा राज्यको तुच्छ समझकर त्याग दिया। राजा भगीरथ राजाओंके मुकुट-मणि होनेपर भी अभिमानशून्य हो गये, जिससे उनके हृदयमें श्रीहरि-भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। वे शत्रुके नगरमें भी निरभिमान होकर भिक्षा माँगते और [illegible] जनको भी अभिवादन करते। भगवान्‌को पानेकी दृढ़ आशाका नाम ही 'आशाबन्ध' है। 'हे गोपीजनवल्लभ! मुझमें प्रेम रंचमात्र भी नहीं है। साधन, ध्यान, धारणा, ज्ञान, पवित्रता—कुछ भी मुझमें नहीं है; तथापि तुम दीनोंके प्रति अधिक दयालु हो—यह सोचकर तुम्हारी प्राप्तिकी जो मुझे आशा होती है, वही मुझे कष्ट दे रही है। हाय! बतलाओ—मैं क्या करूँ? कहाँ तुमको पाऊँ!' इस प्रकार प्यारे प्रभुको पानेका जो सुन्दर लोभ है, वही 'समुत्कण्ठा' कहलाता है। लीलाशुक कहते हैं—'जिनके कृष्णवर्णकी दोनों भृकुटियाँ थोड़ी टेढ़ी हुई हैं, [illegible] बड़ी-बड़ी और घनी हैं, दोनों नेत्र अनुरागीके दर्शनसे [illegible] हो रहे हैं, मधुर और कोमल वाणी है, अधरामृत कुछ-कुछ [illegible] है, जिसकी वंशीध्वनिका माधुर्य मनको मतवाला कर देता है, उस भुवनमोहन व्रजकिशोरको देखनेके लिये मेरे नेत्र लोलुप हो रहे हैं। हे गोविन्द! आज बाला राधिका अपने [illegible] नेत्रोंसे अश्रुवर्षण करती हुई गद्गद कण्ठसे तुम्हारी नामावलीका गान कर रही है।' इस वर्णनसे यह समझमें आ जाता है कि 'नामगाने सदा रुचि' किस प्रकार होती है। श्रीकृष्णके मन्मथ-मन्मथ किशोर रूपकी बात सुनकर उस परमसुन्दरके सुधा-वर्णनमें किसकी आसक्ति न होगी? [illegible] गण उस लीला-स्थली दिखलाकर कहते हैं कि यहाँ गोविन्द-गोपालने ऐसे लीलाएँ की थीं, तब इनकी बात सुनकर भक्तिभाव [illegible] लालसा जाग्रत् होती है। [illegible] गुणवान्, सुन्दर दूसरी जगहका वास [illegible]

करते हैं। [illegible]

[illegible]

प्रेम अथवा निर्मल निविड भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावोंके संयोगसे श्रीकृष्ण-रतिमें चमत्कार आता है। स्थायीभाव ही भक्तिरसका मूल उपादान है। जो अविरुद्ध या विरुद्ध सब प्रकारके भावोंको आत्मसात् करके सम्राट्की तरह इन सबको वशमें करके विराजित है, उसको स्थायीभाव कहते हैं। इसीका दूसरा नाम है—श्रीकृष्ण-प्रीति। यह कृष्ण-प्रीति पाँच मुख्य और सात गौण अलौकिक पारमार्थिक रसोंका आस्वादन कराती है। (१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) मधुर—ये पाँच मुख्य रस हैं। (६) हास्य, (७) अद्भुत, (८) वीर, (९) करुण, (१०) रौद्र, (११) भयानक और (१२) वीभत्स—ये गौण सात रस हैं। द्वादश रसोंका वर्ण है—(१) श्वेत, (२) विचित्र, (३) अरुण, (४) शोण, (५) श्याम, (६) पाण्डुर, (७) पिङ्गल, (८) गौर, (९) धूम्र, (१०) रक्त, (११) काला और (१२) नीला—इन बारह रसोंके देवता क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) कपिल, (२) माधव, (३) उपेन्द्र, (४) नृसिंह, (५) नन्दनन्दन, (६) हलधर, (७) कूर्म, (८) कल्कि, (९) राघव, (१०) परशुराम, (११) वराह, (१२) मीन या बुद्ध।

कृष्ण-प्रीति भक्त-चित्तको उल्लसित करती है, ममता-बुद्धिका उदय करती है, विश्वास उत्पन्न करती है, प्रियत्वका अभिमान जाग्रत् करती है, हृदयको द्रवित करती है, अतिशय लालसापूर्वक स्व (श्रीकृष्ण) के साथ युक्त करती है, प्रतिक्षण नये-नये रूपमें अनुभूत होती है, अतुलनीय एवं निरतिशय चमत्कृतिके द्वारा उन्मत्त कर देती है। जिस अवस्थामें अतिशय उल्लास होता है उसका नाम है 'रति'। वही रति ममत्वकी अधिकता होनेपर 'प्रेम' कहलाती है। प्रेम जब सम्भ्रमरहित विश्वासमय होता है, तब उसका नाम 'प्रणय' होता है। अतिशय प्रियत्वके अभिमानसे प्रणय-कौटिल्यका आभास ग्रहण करनेपर जो भाव वैचित्र्यको ग्रहण करता है, उसका नाम है 'मान'। चित्तको द्रवित करनेवाला प्रेम 'स्नेह' कहलाता है। स्नेह अतिशय अभिलाषासे युक्त होनेपर 'राग'रूपमें परिणत होता है। राग अपने विषयको नये-नये रूपोंमें अनुभव कराके तथा स्वयं भी नया-नया रूप धारण करके 'अनुराग' नाम ग्रहण करता है। अनुरागमें प्रिय और प्रियाके प्रेमवैचित्र्यका अनुभव होता है तथा प्रियके सम्बन्धसे अप्राणीमें भी जन्म लेनेकी लालसा जाग्रत् होती है। अनुराग असमोर्ध्व चमत्कारिता प्राप्त करके जब उन्मादक हो जाता है, तब उसको 'महाभाव' कहते हैं। महाभाव-का उदय होनेपर मिलनावस्थामें पलकका गिरना भी असह्य हो उठता है। कल्पका समय भी क्षणके समान अनुभव होता है और विरहमें क्षणकाल भी कल्पके समान दीर्घ जान पड़ता है।

महाभावस्वरूपिणी श्रीराधा श्रीकृष्णके प्रेयसीगणोंमें सर्व-श्रेष्ठ हैं। परमसुन्दर, असमोर्ध्व लीला-चातुर्यकी सम्पदा-से समलंकृत नन्दनन्दन श्रीराधाके प्रेमके आलम्बन हैं। श्रीराधा मधुर-रसका श्रेष्ठतम आश्रय है। श्रीराधा-गोविन्दकी परस्पर रति इतनी प्रगाढ़ है कि सजातीय अथवा विजातीय किसी भी भावके समावेशसे कहीं भी कभी भी उसमें व्याघात नहीं होता। यथा—

> स्तोऽदूरे राज्ञी स्फुरति परितो मित्रपटली
> दृशोरग्रे चन्द्रावलिरुपरि शैलस्य दनुजः।
> अपसव्ये राधायां कुसुमितलतासंवृततनौ
> दृगन्तश्रीर्लोला तडिदिव मुकुन्दस्य वलते॥
>
> (भक्तिरसामृतसिन्धु २।५।७ में उद्धृत)

'कुछ दूरपर माता यशोदा हैं, चारों ओर सखागण सुशो-भित हैं, आँखोंके सामने चन्द्रावली है, समीप ही पर्वतके टीलेपर अरिष्टासुर है; तथापि दाहिनी ओर कुसुमित लताकी ओटमें स्थित श्रीराधाके प्रति मुकुन्दकी चञ्चल दृष्टि विद्युत्के समान बारबार पड़ रही है।' श्रीकृष्णकी सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी—इन तीन शक्तियोंमें श्रीकृष्ण एवं भक्तोंका सुख-विधान करनेवाली ह्लादिनी शक्तिका सार है मादन नामक भाव, जिसमें सब प्रकारके भावोंको उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य है। यह महाभावस्वरूपा श्रीराधाका असाधारण गुण है। इसी कारण श्रीराधाके भावका नाम है—'मादनाख्य महाभाव'।

श्रीराधाके कायिक गुण छः हैं—(१) मधुरा, (२) नववया, (३) चलापाङ्गा, (४) उज्ज्वलस्मिता, (५) चारुसौभाग्यरेखाढ्या, (६) गन्धोन्मादितमाधवा।

वाचिक गुण तीन हैं—(१) सङ्गीत प्रसराभिज्ञा, (२) रम्यवाक्, (३) नर्मपण्डिता।

मानस गुण दस हैं—(१) विनीता, (२) करुणा-पूर्णा, (३) विदग्धा, (४) पाटवान्विता, (५) लज्जा-शीला, (६) सुमर्यादा, (७) धैर्यशालिनी, (८) गाम्भीर्य-शालिनी, (९) सुविलासा, (१०) महाभाव-परमोत्कर्ष-तर्षिणी।

श्रीराधाके और भी कई गुणोंका उल्लेख किया गया

है। महाभाव-परमोत्कर्षिणी राधाके रूपका वर्णन करते हुए श्रीरूपगोस्वामिपाद कहते हैं—

> अश्रूणामतिवृष्टिभिर्द्विगुणयन्त्यर्कात्मजानिर्झरं
> ज्योत्स्नीस्यन्दिविधूपलप्रतिकृतिच्छायं वपुर्बिभ्रती।
> कण्ठान्तस्त्रुटदक्षरात्र पुलकैर्लब्धा कदम्बाकृतिं
> राधा वेणुधर प्रवातकदलीतुल्या क्वचिद् वर्तते॥

श्रीराधाकी कलहान्तरिता अवस्था देखकर उन्हींकी सखी उदात्त अलंकारपूर्ण वाक्यमें श्रीकृष्णसे कहती है—'हे वंशीधारी! तुम्हें देखे बिना आज राधाकी क्या दशा हो रही है, जानते हो? राधाके नेत्रोंसे इतनी जल-वृष्टि हो रही है कि उससे यमुनाका जल बढ़ गया है। उनके शरीरसे पसीना इस प्रकार चू रहा है, जैसे चाँदनी रातमें चन्द्रकान्तमणि पसीज उठती है। उनके देहका रंग भी उसी मणिके समान पीला पड़ गया है। कण्ठकी वाणी अर्द्धस्फुट एवं स्वरभङ्गयुक्त हो गयी है, कदम्बके केसरके समान सर्वाङ्ग पुलकित हो रहा है। अङ्ग-लता भीषण आँधी-पानीमें केलेके पेड़के समान काँपकर भूमिपर लुटी पड़ी है।' अश्रु, कम्प, पुलक, स्वेद, वैवर्ण्य, कण्ठरोध, दशमी दशाके समान भूमिमें लुण्ठन आदि सात्त्विक सुदीप्त भाव-अनुभाव श्रीराधाकी महाभावस्वरूपताको प्रकट करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके श्रीविग्रहमें श्रीरूप-गोस्वामी उन्हीं महाभावस्वरूपाकी प्रेम-रस-वृष्टि देखनेकी अभिलाषासे कहते हैं—क्या वे चैतन्यमहाप्रभु फिर हमारे नयनपथके पथिक होंगे? जो अपनी अश्रुधारासे समीपकी भूमिको पङ्किल कर देते थे, आनन्दसे जिनके अङ्गमें कदम्ब-केसरके समान घनी पुलकावली दृष्टिगोचर होती थी, शरीर पसीनेसे लथपथ होता रहता था, उच्चस्वरसे अपने प्रियतम श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करते हुए आनन्दमें मग्न रहते थे, वे ही प्रभु मुझे दर्शन दें। यथा—

> भुवं सिञ्चन्नश्रुस्रुतिभिरभितः सान्द्रपुलकैः
> परीताङ्गो नीपस्तवकनवकिञ्जल्कजयिभिः।
> घनस्वेदस्तोमस्तिमिततनुरुत्कीर्तनसुखी
> स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥

राय रामानन्दके साथ श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी मिलन-कथामें महाभावस्वरूपिणी श्रीराधाका प्रेम विलास-विवर्त वर्णित है। अनन्तविलासमय प्रेमके विवर्त या विचित्र परिपाक-दशामें रमण-रमणी-भावके रूपमें [illegible] पृथक् अभिमान किस प्रकार दूर होकर प्रेममें [illegible] हो जाता है, इसका सवाद यहाँ पाया जाता है। [illegible] अपनी सखीसे कहती हैं—

> पहिलहि राग नयन भङ्ग भेल। अनुदिन [illegible]॥
> ना सो रमण ना हाम रमणी। दुहुँ मन [illegible]॥
> ए सखि से सब प्रेम काहिनी। [illegible]॥
> ना खोजलुँ दूती ना खोजलुँ आन। दुहुँ केरि मिलने [illegible]॥

नेत्रोंके कटाक्षसे ही प्रथम राग [illegible] हो गया। [illegible] प्रीति बढ़ने लगी, [illegible] नहीं। न तो वह रमण है और न मैं रमणी हूँ। दोनोंके [illegible] पूर्ण करके एक कर दिया। [illegible] यह [illegible] प्रेम-[illegible] प्रिय कान्हसे ही कहनी है। [illegible]। न मैं दूती खोजने गयी और न किसी दूसरेकी [illegible] मिलन हो गया। इसमें प्रेम ही [illegible]।

महाभाववती वृषभानुनन्दिनी [illegible] अधिरूढ़-अवस्थामें परमानन्दघन गोविन्दको [illegible] प्रदान करनेमें समर्थ हैं तथा [illegible] श्रीराधा और गोविन्दकी परस्पर [illegible] है, उस प्रेमा-भक्तिको प्राप्त करनेके [illegible] आनुगत्य आवश्यक है।

श्रीललिता विशाखा प्रभृति [illegible] आदि भक्तगण भोगतृष्णा [illegible] निष्ठ भावका अनुगमन करते हुए [illegible] ही भक्तिराज्यका चरम फल है।

इस भक्तिका [illegible] युगलकी अष्टयाम प्रेम-सेवाको प्राप्त कर [illegible] है। इस भक्तिमें जीवमात्रका [illegible]—

> केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
> येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥

[illegible]

केवल भक्तिभावसे [illegible] यमलार्जुन आदि [illegible] कालिय आदि नाग [illegible] अनायास ही प्राप्त करते [illegible]

———

भक्ति-साधन और महाप्रभु श्रीगौरहरि

(लेखक—डा० श्रीमहानामव्रत ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्)

मनुष्यकी आवश्यकताका अन्त नहीं। वह निरन्तर किसी-न-किसी अनुसंधानमें रत रहता है। चाह मिटती नहीं। इसका कारण है जीवकी अपूर्णता। अपूर्ण जीव पूर्ण होना चाहता है। अतृप्त जीव तृप्ति खोजता है। मरणशील जीव अमृतकी ओर दौड़ लगा रहा है। जबतक उसको अमृतमय मार्गकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक कामनाकी निवृत्ति नहीं।

जीवनकी तात्कालिक आवश्यकताओंको हम भलीभाँति जानते हैं। सम्पूर्ण जीवनकी आवश्यकताको नहीं समझते, नहीं सोचते। कर्मकी आवश्यकता है भोजन-वस्त्रके लिये, भोजन-वस्त्रका प्रयोजन है जीवन-धारणके लिये। इतना स्पष्ट है। परंतु जीवन-धारण किस लिये है—यह स्पष्ट नहीं है। हम कलाईमें घड़ी बाँधते हैं, दस-पाँच मिनटका हिसाब रखनेके लिये। परंतु सारा जीवन बीत गया है, इसका कोई हिसाब-किताब नहीं है।

इस समग्र जीवनके प्रयोजनको ही वैष्णव-शास्त्रोंमें प्रयोजन-तत्त्व कहा गया है। जीवनकी जो अन्तिम परम प्रयोजनीय वस्तु है, वह क्या है? श्रीमन्महाप्रभुने सनातन-गोस्वामिपादको इस प्रश्नका निम्नाङ्कित उत्तर दिया था—

पुरुषार्थ-शिरोमणि प्रेम महाधन।

'जिस प्रयोजनके पूर्ण होनेपर सारी आवश्यकताएँ निवृत्त हो जाती हैं, वह है प्रेम। 'प्रेम प्रयोजन।''

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि महाप्रभु यह नहीं कहते कि 'भगवान् श्रीकृष्ण प्रयोजन हैं।' क्योंकि यदि हृदयमें प्रेम न हो तो मनुष्यको भगवान् प्राप्त हो जानेपर भी प्राप्त नहीं होंगे। कंस, शिशुपाल आदिने भी श्रीकृष्णको प्राप्त किया था; परंतु उनके प्राण प्रेमहीन थे, अतएव वे उस प्राप्तिका आस्वादन न कर सके। भोजन हो और भूख न हो तो भोगकी प्राप्ति न होगी। अतएव पहले आवश्यक है भूख। कृष्णास्वादनकी भूख ही प्रेम है। प्रश्न हो सकता है कि 'भोजन हो और भूख न हो'—यह जैसी कष्टप्रद अवस्था है, उसकी अपेक्षा भी 'भूख है, परंतु भोजन नहीं' यह क्या अधिक कष्टप्रद नहीं है? यह विचार लौकिक जगत्के भोजन और भूखके सम्बन्धमें बिल्कुल यथार्थ है, परंतु अलौकिक—अप्राकृत क्षुधा अर्थात् 'प्रेम' के सम्बन्धमें सर्वथा सत्य नहीं है। प्रेम नहीं, पर कृष्ण हैं—ऐसे दृष्टान्त तो हैं, जैसे कंस आदिका। परंतु प्रेम है और कृष्ण नहीं आये हैं—ऐसा दृष्टान्त कहीं नहीं मिलता। श्रीकृष्णको आकर्षित करना प्रेमका एक अनिर्वचनीय स्वभाव है। प्रेमरूपी क्षुधाके हृदयमें जाग उठनेपर आस्वाद्य वस्तु, प्रेमका मूर्तिमान् विग्रह वहाँ दौड़कर आनेके लिये बाध्य है; क्योंकि वे इतने अधिक प्रेमके अधीन रहते हैं।

इस परम प्रयोजनीय वस्तुको प्राप्त करनेके उपायका नाम साधन है। प्रेमधनकी प्राप्तिके साधनका नाम है भक्ति। 'भक्ति प्राप्तिका साधन है।' भक्ति बड़ी ही दुर्लभ वस्तु है। श्रीरूपको शिक्षा देते समय महाप्रभुने भक्तिकी सुदुर्लभता-का वर्णन किया है।

ब्रह्माण्डमें अगणित जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण कर रहे हैं। पृथ्वीपर चलनेवाले, जलमें विचरनेवाले और आकाशमें उड़नेवाले असंख्य जीवसमूहोंमें मनुष्योंकी संख्या अति अल्प है। उनमें सनातन वैदिक सिद्धान्तकी शीतल छायामें आश्रय लेनेवाले मनुष्योंकी संख्या और भी न्यून है। जो वेदोंके माननेवाले हैं, उनमें आधेके लगभग लोग कहनेमात्रको ही वेदोंको मानते हैं। उनके जीवनके आचरणमें वैदिक सत्यका प्रकाश नहीं है।

जिनके जीवनके आचरणमें वैदिक धारा अक्षुण्ण है, उनमें अधिकांश लोग याग-यज्ञ आदि क्रिया-कर्मोंमें ही रत रहते हैं। प्रकृत तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति उनको नहीं होती। तत्त्वज्ञानियोंमें भी सभी अनुभूति-सम्पन्न नहीं होते। तत्त्वकी अनुभूति हुए बिना मुक्ति नहीं होती। ज्ञान-सम्पन्न कोटि मनुष्योंमें कोई एक अनुभूति प्राप्त करके मुक्तिलाभ करता है। इस प्रकारके कोटि मुक्त जीवोंमें कृष्ण-भक्त एक भी अत्यन्त दुर्लभ है। मिले न मिले—निश्चितरूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता।

'मुक्ति' शब्द अभाववाचक है और 'भक्ति' भाववाचक। दुःखसे परित्राण, बन्धनसे छुटकारेका नाम है मुक्ति। परंतु भक्ति एक भाववाची वस्तुका आस्वादन है। दोनों उसी प्रकार एक नहीं हो सकते, जैसे पराधीनताके बन्धनसे मुक्ति, और स्वाधीनताका उपभोग एक वस्तु नहीं हैं। कहीं कोई देश बहुत प्रयत्न करके पराधीनताके नाग-पाशको छेदन करता है, परंतु तत्काल ही उसे स्वाधीनताका

पूर्ण सुख भोगनेको नहीं मिलता। स्वाधीनताका आस्वादन एक भाववाची वस्तुका सम्भोग है, वह सर्वथा चेष्टा-सापेक्ष है। उसी प्रकार मुक्तिकी साधना एक है, भक्तिकी साधना उससे भिन्न है। दृष्टि और लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न हैं।

'कोटि मुक्त पुरुषोंमें एक कृष्णभक्त दुर्लभ है।' इसका कारण यह है कि मुक्तिसुखमें एक आपात-पूर्णतृप्तिका आभास रहता है। उसमें जो मस्त हैं, उनके लिये भक्ति-साधनका पथ ही बन्द हो जाता है।

ज्ञानी जीवन्मुक्त दशा पाइनु करि माने।

वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहे कृष्णभक्ति विने॥

'ज्ञानी अपनेको जीवन्मुक्त हुआ मानता है। परंतु वास्तवमें कृष्णभक्तिके बिना बुद्धि शुद्ध नहीं होती।'

भक्त निष्काम होता है। मुक्तिकामी भी सकाम है। भक्त कामनाहीन होनेके कारण शान्त होता है और शान्त होनेके कारण ही शान्तिका अधिकारी होता है। भक्तिकी दुर्लभताका वर्णन करते हुए महाप्रभुने श्रीरूपगोस्वामीसे कहा था कि संसार-चक्रमें भ्रमण करते-करते कहीं किसी भाग्यवान् जीवको भक्तिलताका बीज प्राप्त होता है। कौन है वह भाग्यवान्? संसार पथपर चलते-चलते कदाचित् किसीके मनमें इस प्रकारके विचारका उदय होता है कि अपार धन-जन, विद्या-बुद्धि, सामर्थ्य-सौन्दर्यके होते हुए भी मैं इस कारण नितान्त अभागा हूँ कि मुझे हरि-भक्ति प्राप्त नहीं हुई। यह भावना तीव्र होकर यदि चित्तमें उद्वेगकी सृष्टि करती है तो वही व्यक्ति भाग्यवान् हो जाता है।

इस प्रकारकी भावना भी अकारण ही उदय होती हो—ऐसी बात नहीं है। जिस मनुष्यके पड़ोसी उसकी अपेक्षा दरिद्र होते हैं, वह अपनेको धनी समझता है। पक्षान्तरमें जिसके पड़ोसी उसकी अपेक्षा धनशाली होते हैं, वह अपनेको दरिद्र समझता है। इसी प्रकार जो लोग भक्तिधनके धनी हैं, उनका सङ्ग—सान्निध्य प्राप्त होनेपर अपनेमें इस धनका अभाव-बोध होनेके कारण वेदनाका उदय होता है। इसके विपरीत अभक्तके सङ्ग-सान्निध्यसे हृदयमें रही हुई भक्ति भी नष्ट हो जाती है। 'लव मात्रके साधु-सङ्गमें सर्वसिद्धि होती है'—इस कथनमें अतिशयोक्ति नहीं है।

भक्तिमान् सज्जनोंके सङ्गसे जिनके हृदयमें भक्ति-वासना जाग गयी है, वही मनुष्य भाग्यवान् है। ऐसा भाग्यवान् मनुष्य ही 'गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज'।

'प्रसादे पाय'—यह श्रीगुरुकी [illegible] है [illegible] भक्ति-बीज चेष्टा करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। [illegible] कृपासे ही प्राप्त हो सकता है। यह [illegible] ही है। प्रयासद्वारा [illegible] नहीं। [illegible] प्रयासकी कोई [illegible] नहीं है [illegible] होती तो इतना [illegible] भजन करनेके लिये क्यों कहा जाता।

बहुत [illegible] प्रयास या भजन-साधनसे [illegible] ज्ञात होगा कि [illegible] द्वारा प्राप्त [illegible] नहीं है। भक्तकी अपनी चेष्टाकी [illegible] अन्तःकरणमें अनुभव [illegible] वास्तविक अनुभूतिकी प्राप्ति तो कृपासे ही होती है। [illegible] आता है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' [illegible] वरके वरण करते हैं, वही उसको प्राप्त कर सकता है। [illegible] इन लोगोंकी अन्य सब प्रकारकी आशा [illegible] अनुग्रह-शक्तिकी [illegible] श्रीगुरुदेवकी [illegible] मार्ग नहीं है।

हृदयमें भक्ति-बीजके [illegible] उसको बचानेकी साधना करनी पड़ती है। [illegible] एवं परव्योम (वैकुण्ठ) को भी [illegible] श्रीकृष्ण-चरणरूपी कल्पतरुके नीचे [illegible] लतामें प्रेम-फल फलेगा। [illegible] भी चलना ही रहेगा—[illegible] श्रवण-कीर्तन ही [illegible] अन्य सब प्रकारके साधनोंकी [illegible] इस भागवतीय [illegible] साधनोंमें पहले [illegible] जाता है, उसके बाद [illegible] पालन किया जाता है। यह [illegible] केवल [illegible] ही [illegible] माध्यमसे ही प्रेम-प्राप्ति [illegible] नयी बात है। [illegible] यह [illegible] इसका गूढ़ हेतु [illegible]।

[illegible]

उसे कार्यरूपमें परिणत करनेसे ही वाञ्छित लाभ होता है। भागवत-शास्त्रका मुख्य कथन 'इतिकर्तव्यता' नहीं है। भागवतका लक्ष्य है—पुराणपुरुषकी नित्य नवीन रहनेवाली लीला-कथाका वर्णन करना—जो शाश्वत सत्य व्रजवनमें प्रकटित हुआ था, उसके संवादको घोषित करना। इस घोषणाके कानोंमें पड़ते ही कल्याणका स्रोत खुल जाता है। यही भागवत-शास्त्रका दावा है। यह रहस्य और भी स्पष्ट होना चाहिये।

जीवके साथ भगवान् श्रीकृष्णका सम्बन्ध अनादि और नित्य है। नित्य वस्तुका किसी कालमें भी नाश नहीं हो सकता। जो मनुष्य सदा ही उसको भूला रहता है—यहाँतक कि मुँहसे उसको अस्वीकार भी करता है, उसका भी कृष्णके साथ नित्य-दासत्वका सम्बन्ध नष्ट नहीं होता, केवल विस्मृतिके आवरणसे ढका रहता है।

जिस प्रकार लौकिक बाल्य-जीवनके अनेकों प्रियजनोंकी बातें कर्मजीवनमें स्मृतिपटपर नहीं रहतीं, किंतु कोई यदि दैवात् किसी बाल्यबन्धुका नाम उच्चारण करे तथा उसके रूप, गुण, कार्य आदिका वर्णन करके सुनाये तो उसे सुनकर प्राण आकुल हो उठते हैं। जितना ही सुना जाता है, उतना ही विस्मृतिका आवरण दूर होता है। अन्तमें भ्रान्तिका पर्दा एकदम हट जानेपर प्राचीन प्रीति पुनः नवीन हो उठती है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण जीवके नित्य निजजन हैं। व्रजका रस-तत्त्व ही जीवका शाश्वत वासस्थान है। यह नित्य-सम्बन्ध उसको याद नहीं रहा है। सम्बन्धके शाश्वत सूर्यको स्मृति-भ्रंशरूपी मेघने ढँक दिया है। 'मार्जन होय भजन'। केवल भजनके द्वारा ही यह मेघ हट सकता है। नित्य व्रज-कथा-श्रवणरूपी पवनके झकोरेसे यह आवरणकारी मेघ दूर हो जायगा। व्रजकी रसलीलाकी कथा सुनते-सुनते ही प्राण प्राणवल्लभके लिये आकुल हो उठेंगे। रासलीलाके उपसंहारमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है—'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।'

माधुर्यघन व्रज-प्राप्तिका उपाय है—नित्य नवायमान माधुर्यमयी व्रजकथाका पुनः-पुनः श्रवण और अनुशीलन। भ्रान्तिका पर्दा बहुत ही मोटा और घना हो गया है, अतएव इसके हटानेके लिये बारंबार इस कथाके आस्वादनकी आवश्यकता है। हमारे कानोंमें मल है, इसी कारण यह कथा सुननेपर भी हमें सुनायी नहीं देती, कानके भीतर जाकर भी हृदयमें प्रवेश नहीं करती। इसीलिये 'नित्यं भागवतं शृणु'—भागवतको नित्य सुनो, नियमपूर्वक सुनो। अभिनिविष्ट चित्तसे सम्पूर्ण मन लगाकर सुनो। श्रवण-कीर्तन ही परम कल्याणप्रद हैं। वे भी अमृत हैं, उनकी कथा भी अमृत है। उस अमृतकथाका जो कीर्तन करता है, वह भी पूर्णामृतका आस्वादन करता है। जो श्रवण करता है, उसको भी परमामृतका स्वाद मिलता रहता है।

इस श्रवण-कीर्तनरूपी जलसिञ्चनसे भक्तिलता बढ़ती है। श्रीनारद-भक्तिसूत्रमें भक्तिको 'अमृतस्वरूपा' बतलाया गया है। श्रीगीतामें भगवान् कहते हैं—'**भक्त्या मामभिजानाति**' 'भक्तिके द्वारा मुझको सम्यक् रूपसे कोई भी जान सकता है।' श्रुति कहती है—'**भक्तिवशः पुरुषः**', '**भक्तिरेव भूयसी।**' 'श्रीभगवान् भक्तिके वश हैं।' 'भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है।' 'भक्तिरेव विष्णुप्रिया'—भक्ति ही भगवान् विष्णुको प्यारी है।

भक्तिलताकी वृद्धिके मार्गमें दो प्रबल बाधाएँ हैं; एक है वैष्णवापराध, दूसरा है लाभ-पूजा-प्रतिष्ठाकी चाह। '**विष्णोरयं पुमान् वैष्णवः**'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीवमात्र ही वैष्णव हैं। उनको पीड़ा पहुँचाना, उनकी अवज्ञा करना, निन्दा करना—इत्यादि वैष्णवापराध हैं। अपराध मुख्यतः नैतिक होते हैं। प्रतिदिनके व्यवहारमें नैतिक अपवित्रता ही अपराध है। नैतिक जीवन अपनाये बिना आध्यात्मिक साधना फलवती नहीं हो सकती। निरपराध होकर भजन करनेका एक अर्थ यह भी है। मनुष्यके प्रति, भक्तके प्रति, शास्त्रके प्रति दृष्टि और आचरण जिसका जितना ही निर्मल होगा, उसकी साधना भी उतनी ही शक्तिशालिनी होगी।

प्रतिष्ठाका लोभ साधन-पथका दूसरा विघ्न है। लक्ष्य वस्तु परम प्रभुके आसनपर जब हम अपने मलिन 'अहम्' को बैठा देते हैं, तब भक्तिलताकी वृद्धि रुक जाती है। इतनी ही बात नहीं, बड़ी ही जटिल विपदा आ पड़ती है। साधककी दृष्टि हरि-पदसे विच्युत होकर निज पद-प्रतिष्ठामें निबद्ध हो जाती है। फलतः श्रवण-कीर्तन आदि जल-सिञ्चनका फल भी प्रतिकूल होने लगता है। तब जल-सिञ्चनसे प्रतिष्ठारूपी टहनियाँ ही बढ़ती हैं, मूल भक्तिलता सूख जाती है।

आराध्य वस्तुके प्रति लक्ष्य सुस्थिर रखनेपर ही इस विपत्तिसे छुटकारा मिल सकता है। अहंताको पूर्णरूपसे विसर्जित करके भक्तिलताके मूलमें जल-सिञ्चन करना होता है। जो कुछ मेरा है, वह सभी तुम्हारा है—इस प्रकारकी

भावनाके द्वारा मैं-पनको मूल्य देना पड़ेगा। चन्द्रकी किरणें मूलतः सूर्यकी ही सम्पत्ति हैं 'तोमारी गर्वे गर्विनी हाम'—मैं तुम्हारे ही गर्वसे गर्विणी हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिमें स्थित होकर भजकथाका श्रवण-कीर्तन करना होगा।

इस प्रकार साधन करनेपर ही भक्तिलता श्रीकृष्ण-पाद-पद्ममें पहुँच जायगी। तब नवघन और हृदयघन एकाकार हो जायँगे। कृष्णके साथ जीवका जो नित्य सम्बन्ध है, उसकी अन्तःकरणमें अनुभूति होने लगेगी। भक्तिलतामें परम पुरुषार्थरूप प्रेम फल फलेगा।

श्रीश्रीगौरसुन्दरने यह भागवतीय साधन-तत्त्व जगत्‌को प्रदान किया है, केवल इतना ही नहीं। महाप्रभु श्रीगौरसुन्दर-के दानमें और भी कुछ महत्त्व है। [illegible] ही नहीं प्रदान किया, बल्कि [illegible] महाभावमयी श्रीराधाभावसे [illegible] वितरण किया है। केवल [illegible] स्वयं आचरणमें लाकर आस्वादनके [illegible] किया। और वितरण किया [illegible] बल्कि बिना विचारे, बिना [illegible] रो-रोकर जिस-तिसके द्वार-द्वारपर [illegible] इस प्रकारसे और कभी वितरित नहीं हुआ [illegible] सुन्दरको भक्तगण 'वदान्यशिरोमणि' [illegible] महादाता श्रीश्रीगौरहरिकी जय हो [illegible]

—

'भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासका जन्म'

(रचयिता—श्रीविबुधेश्वरप्रसादजी उपाध्याय 'निर्झर', एम्० ए०)

× × × ×

जागा प्रभात शुभ्र।
यामिनी विदा हुई;
औ' सिन्धुकी अपार जलराशिकी तरङ्गोंमें,
रुन-झुन कर, छुम-छुम कर,
पायल छनछनाया क्यों?
बोला सिन्धु—
'सुन रे, थल
मानव-जग,
आजका प्रभात
युग-युगको दिखायेगा—
पावन पथ,
ज्ञान-पंथ,
अभिनव प्रकाश-लोक।
सुप्त विश्व-संज्ञाको,
धर्म और संस्कृतिको—
देगा गति,
निर्मल मति,
शाश्वत अपार ज्ञान।

सहसा नभ-बीच,
रश्मि-रथपर आरूढ़ हुए,
पूर्व-अद्रि-शृङ्ग पर कञ्चन बिखेरते
श्वेत-हरित मण्डलमें,
प्रकृतिकी पीठिकापर,
रज-रज, सजीव-से हो,
चेतन उल्लास-से,
कृष्ण मेघ-मण्डलके घूँघटमें
झाँके रवि,
मूर्त्त जातरूप-से।
मन्द स्वर्ण-स्मिति-से पुलकित थे
अधर-द्वय
आकुल थे युगल नयन,
व्याकुल थे प्राण-मन।
आगत अनुभूतिकी
हर्ष-वीचि व्याप्त हुई
ज्योतिर्मय वपुके उस
एक-एक रोममें।
भावोंकी गतिसे
अनुप्रेरित थे दिनमान
और तूर्ण गतिसे हो
चञ्चल था स्यन्दन-व्यूह

(द्रुत-भीतिसे हों ज्यों चञ्चल शश)
रह-रहकर कँपता था मरुत्पथ।
ऐसे ही भावोंका वेग लिये,
व्यतिरेक-भ्रम;
आगत-आभास के मधुमें,
आकण्ठ डूब,
झन्-झन् कर अंतरके
तार झनझना उठे।
······देखा तो धरतीके व्योमपर
घिरे थे मेघ;
रिमझिम कर मेघ-पुष्प सावनके झरते थे।
ऐसा क्यों ?
बोल उठीं हँसकर दिशाएँ सब,
नील व्योम-रन्ध्र-से,
समवेत कण्ठसे—
और जगे पक्षीगण,
वृन्त-पुष्प, तरु औ' तृण;
धरतीके लघु-लघु कण;
मानवके अन्तरतम।
··· ''सरिताकी लहरोंमें,
यौवन-प्रवाह क्यों ?
अम्बुधिपर रह-रहकर
मारुत क्यों करता नृत्य ?
आजकी नवेली उषा
जाने क्यों लिपटी है
विद्युत् परिधान में,
बूँदोंके गानमें ?'
सोच ही रहे थे सब,
निर्झर,
सर,
सिन्धु,
थल;
झाँकती कहीं थी प्रकृति
मेघ-अवगुण्ठनसे·
आकुल,
समाकुल,
उस स्वर्णिम विहानको।
धीरेसे डोल उठा धरतीका आँचल नव,
पर्वत-पयोधर पीन।
दुग्ध धवल फूट चला,
तरल-मधुर,
शक्ति-प्रखर,
जननीका जीवन-रस।
जाग उठी धरती माँ—धीरेसे चीख उठी,
मानो थी पीड़ित वह प्रसवकी पीड़ासे।
''सुन, सुन रे, भोले जग,
कैसा नाद, कैसी ध्वनि;
नभका आशीर्वचन;
देवोंकी वाणी शुभ—कौन हुआ ?
किसने अवतार लिया ?
बोला नभ—तुलसीने, जय हो जय तुलसीकी !''
बोलीं दिशाएँ—'जय ज्ञानी महर्षिकी !'
हुई नभ-वाणी शुभ—
'होगा यह भारतका, नहीं-नहीं, विश्वका,
महान कवि,
मनीषी श्रेष्ठ।
भारतीय संस्कृति, साहित्य और धर्म भी,
युग-युगतक फूलेगा, पनपेगा इसके पाणि-पद्मोंसे।
ज्ञानका प्रकाश शुभ्र, धर्मकी अनन्त गति,
भक्तिकी अनन्य द्युति इससे ही फैलेगी।
विश्वको देगा यह 'रामबोला' राम को,
और शुचि आत्मज्ञान, शक्ति-ज्ञान, भक्ति-मान·
जिससे भव पायेगा सत्-चित्-आनंदको।
और तब होगा यह धरतीका महाप्राण,
भारतकी भक्ति-धर्म-संस्कृतिका देवदूत,
प्रतिनिधि श्रेष्ठ,
रामका अनन्य भक्त !'

प्रेम-भक्तियुक्त अजपा-नाम-साधनद्वारा भगवान् वासुदेवकी उपासना

(लेखक—श्रीनरेशजी ब्रह्मचारी)

प्रेम-भक्तिका स्वरूप

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।

(नारद-भक्ति-सूत्र)

'वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति ऐकान्तिक प्रेम-स्वरूपा है।'

भक्ति प्राप्त करनेका साधन भक्ति ही है। भक्ति-साधनके द्वारा चरम अवस्थामें जो ऐकान्तिक प्रेम प्राप्त होता है, वह भी भक्ति ही है। वही वास्तविक भक्ति है। साधन-भक्ति ही चरम अवस्थामें सिद्ध-भक्ति अथवा परम प्रेम नामसे पुकारी होती है। इसीको 'परा-भक्ति' कहते हैं। भगवान् नारद कहते हैं—परम प्रेम ही श्रीभगवान्की पराभक्तिका प्रकृत स्वरूप है।

'जिसके द्वारा अभीष्ट सिद्ध होता है, जिसके द्वारा भगवान्का भजन किया जाता है, उन्हें प्राप्त किया जाता है, वही भक्ति है'—श्रीश्रीविजयकृष्ण गोस्वामीके इस वचनका समर्थन श्रीमद्भागवतोक्त निम्नलिखित श्लोकसे होता है—

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥

(३ । २९ । १४)

'यही आत्यन्तिक भक्तियोग कहलाता है, जिससे जीव त्रिगुणात्मिका मायाको पारकर मद्भाव—मेरे विमल प्रेमको प्राप्त होता है।'

इस भक्तिकी पराकाष्ठा प्रेम है। प्रेमकी पराकाष्ठा ही श्रीभगवान् हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृतकार लिखते हैं—

साधन-भक्ति हइते हय रतिर उदय ।
रति गाढ़ हइले तार प्रेम नाम कय ॥
भक्ति धन कृष्णे प्रेम उपजय ॥

'साधन-भक्तिसे रति उत्पन्न होती है, रतिको ही गाढ़ होनेपर प्रेम कहते हैं। भक्तिसे ही कृष्णप्रेम उपजता है।' प्रेम-रसमय ही श्रीभगवान् हैं। अथवा प्रेम-रस ही श्रीकृष्णका स्वरूप है, इनकी शक्ति इनके साथ एकरूप होती है।

श्रीचैतन्यचरितामृतकारने और भी स्पष्ट करके अन्वय किया है—'ह्लादिनीका सार है प्रेम, प्रेमका सार है भाव, भावकी पराकाष्ठाका नाम है महाभाव, महाभावस्वरूपा श्रीराधा-ठकुरानी हैं।'

सर्वगुण [illegible] ।

परमानन्द और परमानन्दरूप [illegible]—प्रेम [illegible] है। यही बात देवर्षि नारद [illegible] कहते हैं—

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च । [illegible]

श्रुति भी कहती है—आनन्द ब्रह्म ।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रेम ही परमात्मा [illegible] प्रेममूर्ति ही स्वयं श्रीभगवान् हैं। श्रीभगवान्का [illegible] नाम प्रेममय है। [illegible] मेरे जीवनको प्रेममय बना दो।' [illegible] 'ईश्वर! तुम प्रेमस्वरूप हो, [illegible] निर्माण करता हूँ।' (God! Thou art Love. I build my faith on that.)

तात्पर्य, प्रेम ही परमेश्वर है, प्रेम [illegible] ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें पुरुषोत्तम [illegible] कहा है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

([illegible])

परमात्मस्वरूप, परमानन्दस्वरूप, [illegible] पुरुषोत्तम ही [illegible] वासुदेव [illegible] देहमें [illegible] हैं।

प्राकृत प्रेम ही प्रेममयकी प्रेमज्योति

जीवदेहमें [illegible] हैं। इसीलिये जीवनाके आन्तर और [illegible] प्रेमका ही विकास परिलक्षित होता है। [illegible] ज्योति आवरणरूप समस्त [illegible] स्थूल देहके वासियोंको प्रकाशित [illegible] है। [illegible] निकट अनेक भी [illegible] सम्पूर्ण तेजोनिधान [illegible] प्रेमच्छटा भी [illegible] द्वारा प्रभावित होकर [illegible] सूर्यकिरण [illegible] समस्तमें [illegible] प्रेमच्छटा प्रेममयकी ही है। [illegible] ही होती है।

संस्कारमात्र ही कामनापूर्ण होता है। अतः संस्कारजालको भेदकर यह जो प्रेम बाहर आता है, वह काम-गन्धयुक्त होता है और काम-गन्धयुक्त होनेके कारण ही फिर इसे प्रेम न कहकर 'काम' कहते हैं। कामनायुक्त होनेसे 'काम' और कामनामुक्त होनेसे वही वस्तु 'प्रेम' कहलाती है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें काम-प्रेमका पार्थक्य इस प्रकार निरूपित है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा, धरे प्रेम नाम॥

मतलब यह कि अपने सुखकी इच्छा काम है, और श्रीकृष्णके सुखकी इच्छा प्रेम। वस्तुतः काम-प्रेममें कोई पार्थक्य नहीं है, पार्थक्य केवल उसके प्रयोग-भेदमें है और प्रयोग भी हुआ करता है कामनानुयायी ही।

श्रीमद्भागवतका वचन है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
(१०।२९।१५)

अर्थात् काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता, सौहार्द—इन सबको जो भगवान्की ओर लगा सकता है—भगवन्मुखी बना सकता है, वह अन्तमें निश्चय ही प्रेममें तन्मयताको प्राप्त होता है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़ जाना चाहिये। जिस किसी भावसे भी वृत्ति भगवान्में लगनेपर मन भगवन्मय हो जाता है।

कामादिके वर्तमान बहिर्मुखी भावोंको बाहरसे खींचकर अन्तर्मुखी करके, जहाँसे ये भाव आये, वहीं इन्हें पहुँचा देनेसे सब कर्तव्य समाप्त हो जाता है, सब झगड़ा मिट जाता है। काम अर्थात् कामना-वासनासे ही अहंता-ममता, क्रोध-भय आदि सबकी उत्पत्ति होती है।

अतः कामकी साधनामें लगनेसे अर्थात् काम क्या वस्तु है, इसे पूर्णरूपसे जाननेकी साधनाके द्वारा कामको सम्यक्-रूपसे जाननेपर काम अर्थात् कामना-वासनाकी उत्पत्तिके मूलका पता लग ही जाता है—यह विज्ञानसम्मत सत्य है।

जीवात्माके संस्कार-जालका भेद करते हुए प्रेम मलिनता-को प्राप्त होकर कामना-वासनापूर्ण स्वार्थयुक्त प्राकृत स्नेह, प्यार, माया, मोह, ममता आदिका रूप धारण करता है। अतः विमल प्रेमके संस्कारयुक्त मलिन रूपोंका आश्रय लेकर ही परम प्रेममयके अनुसंधानमें अग्रसर होना होगा। इस मलिनताप्राप्त प्रेम अर्थात् कामादिको अन्तर्मुखी या भगवन्मुखी करनेकी जो साधना है, वही भक्ति है। साध्य वस्तु है अप्राकृत भगवत्प्रेम ही।

वासुदेव-तत्त्व

प्रेम ही पराशान्ति है, पराशान्ति ही प्रेम है। पराशान्ति ही किस प्रकार प्रेम है, यह समझना हो तो पहले यह जानना होगा कि अशान्ति क्या है। इस अभावका भी कोई अन्त नहीं है, चाहनाका भी कोई शेष नहीं है। चाहनेकी जो-जो चीजें हैं, उन सबके मिल जानेसे ही अभावका अन्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह सब चाहना-पाना किस प्रकार होता है—यह सब चाहनेका मूल क्या है? कामना ही सबका मूल है। पर इस वासनाका मूल क्या है? वासनाकी सृष्टि भगवान्से ही होती है। महाभारतका वचन है—

वासना वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासीनां वासुदेव नमोऽस्तु ते॥

वासुदेवकी वासनासे ही विश्वकी सृष्टि होती है। वासना-से ही श्रीभगवान् वासुदेवरूपसे भुवनत्रयमें सब प्राणियोंके अंदर निवास करते हैं। श्रीभगवान्से ही वासनाकी सृष्टि होती है। वासनामात्र उन्हींकी है। अतः 'मेरी वासना', 'मेरी कामना' इत्याकारक स्वभावजात अज्ञानरूप 'अहं'-भाव और संस्कारको भुलाकर, वासना वास्तवमें जिनकी है, उन्हींको सर्वथा लौटा देनेसे मनकी वासना-कामनाका अन्त हो जाता है। इस प्रकार वासनारूप संस्कारोंसे मनके मुक्त होनेपर मनका फिर कोई काम ही नहीं रह जाता। वासनासे मन बनता है, अतः मन भी वासनाके साथ-साथ ही 'उन'में लय हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कपिलमाता देवहूतिको उपदेश करते हुए कहते हैं—'मन ही जीवके बन्धन और मोक्षका कारण है। मन जब विषयोंमें आसक्त होता है, तब वह बन्धनका कारण होता है और जब परमेश्वरमें अनुरक्त होता है, तब मोक्षका कारण होता है। जब वह मन 'मैं' और 'मेरा' के भावसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोध-लोभादि विकारोंसे मुक्त हो जाता है, तब वह सुख-दुःखसे अतीत होकर शुद्ध और द्वन्द्वातीत अवस्थाको प्राप्त होता है। तब जीव ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-युक्त हृदयसे आत्माको प्रकृतिसे अतीत, अद्वितीय, भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड और निर्लेप (सुख-दुःखशून्य) देख पाता और प्रकृतिको शक्तिहीन अनुभव करता है। योगियोंके लिये भगवत्प्राप्तिके हेतु सर्वात्मा श्रीहरिकी भक्तिके सदृश अन्य कोई मङ्गलमय मार्ग नहीं है।'

इसी प्रसङ्गमें श्रीश्रीविजयकृष्ण गोस्वामीजी कहते हैं—'जबतक मन रहता है, तभीतक स्त्री-पुरुष एवं विविध विषयोंका आकर्षण रहता है, मनके लय होनेपर भी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंका कार्य तो होता ही है, पर उसका प्रकार भिन्न होता है।' इस प्रकार 'अहं'के निकल जानेपर, श्रीभगवान्‌में लय हो जानेपर रहते हैं केवल जीवात्मा और परमात्मा। परमात्माके साथ जीवात्माका यह मिलन हो जानेपर भगवच्चरणोंमें निवेदित देह-मनके द्वारा—यन्त्रिचालित यन्त्रके द्वारा कर्मरूप सेवा ही जीवका चरम लक्ष्य है।

सर्वभावेन उनकी शरण लेनेसे हमारी समस्त वासनाएँ भी उन्हींकी हो जाती हैं। सारी वासनाएँ उन्हें समर्पित होनेपर 'हम' और 'हमारा' नामकी कोई चीज ही नहीं रह जाती। तब अभाव भी नहीं रहता, दुःख भी नहीं रहता। प्रेममय शरणागतपाल शान्तिमय सुशीतल श्रीचरणोंमें आश्रय पाकर सुख-दुःख, आनन्द निरानन्द, मान-अपमान आदि विषयोंके अनुभूतिरूप तापोंसे दग्ध जीव क्षुधा-तृष्णा, रोग शोकसे अतीत शान्त, शीतल होता हुआ पराशान्ति लाभ करता है। श्रीश्रीगोस्वामी प्रभु कहते हैं—'कर्तृत्वाभिमानके रहते मनुष्य मुक्त नहीं होता। मुक्त होनेपर भी मनुष्यमें कर्म देखा जाता है। पर वह होता है बालक्रीडावत्, उन्माद-नृत्यवत्। केवल यन्त्रवत् देहके द्वारा कार्य होते रहते हैं। परंतु मनुष्य जबतक अपने-आपको दीन हीन कंगाल नहीं समझ पाता, तबतक कुछ भी नहीं हो सकता; दीन-हीन होनेपर ही दीनानाथ दया करते हैं। अभिमानी दयाका पात्र नहीं।'

श्रीभगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८। ६२)

'सर्वभावेन उन्हींकी शरण लो, उन्हींके प्रसादसे शाश्वती पराशान्तिरूप भूमि प्राप्त होगी।'

अन्यत्र श्रीगीतामें भगवान्‌ने सर्वगुह्यतम परमपुरुषार्थ-साधनका उपदेश करते हुए कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
(१८। ६५-६६)

'अपना चित्त मुझमें लगा दो, मेरे भक्त और पुजारी बन जाओ, मुझे नमस्कार करो। इसी विधिसे मुझे प्राप्त होओगे, यह तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ। [illegible] स्वभावजात सकल धर्म मुझमें ही [illegible] मेरी शरणमें आ जाओ।' [illegible] धर्मोंकी सृष्टि होती है। [illegible] सब धर्म भगवान्‌से पृथक् [illegible]

भक्ति-साधन-रहस्य

साधन वस्तु श्रीभगवान्‌के [illegible] जो आकर्षण अर्थात् अनुराग होता है, [illegible] स्थूल-जगत्‌के वैषयिक सम्बन्धसे [illegible] श्रीभगवान् वासुदेवकी तुष्टिके [illegible] आकर्षणसे आकृष्ट हो [illegible] प्रवृत्तिसे निवृत्त होनेके हेतु [illegible] जगत्‌में सर्वत्र वासुदेवरूपसे [illegible] विलास-माधुर्यके दर्शन और [illegible] से श्रीभगवान्‌की ओर प्रवृत्ति [illegible] की जाती है, उसे भक्ति-साधना कहते हैं।

वासना-समर्पणरूप भक्ति-साधनाके द्वारा जीवात्मा-परमात्मा-मिलन

आत्मज्ञान [illegible] अपनी वासना [illegible] चुकनेपर भगवदिच्छासे [illegible] जाती है, वही भक्ति है। [illegible] प्राप्त होता है, वही 'भगवद्योग' है। प्रेमके [illegible] सेवा ही प्रेमिकका एकमात्र [illegible] रूप है। इसीसे इसके नाना नाम और [illegible] से ही प्रेमके नाना विभाग [illegible] धारण किये हुए है, प्रेममें ही [illegible] द्वारा ही जीव अपना [illegible] प्रेम ही जीवका [illegible] है। अनादिकालसे [illegible] होती चली आती है और [illegible] और स्वभावसे प्रभावित होकर [illegible] जलबिन्दु [illegible] बुद्धिरूपमें [illegible] सद्योग पाकर [illegible] प्रभावित होकर [illegible] शक्तिमें कैसे कोई नियम नहीं [illegible] [illegible] भी कोई [illegible] नहीं है [illegible]

मिलनसे अनन्त महासमुद्रमें जिस प्रकार कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती, विश्व-सृष्टि-स्थिति-प्रलयमें भी अनन्त प्रेममयकी सत्ता उसी प्रकार अनन्त ही बनी रहती है। महासमुद्रमें नदीका जैसा मिलन होता है, परमात्माके साथ जीवात्माका मिलन भी वैसा ही है। श्रीगीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५५)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

महासमुद्रमें मिल जानेपर नद-नदीके जल-कणोंकी पृथक् सत्ता रहती तो है, पर उसका कोई अनुमान नहीं किया जा सकता। परमात्माके साथ जीवात्माके मिल जानेपर ठीक वैसे ही जीवात्माकी पृथक् सत्ता रहनेपर भी उसकी धारणा नहीं की जा सकती।

विधिहीन भक्ति उत्पातका कारण, भक्ति ही श्रेष्ठ

वासना-निवृत्ति अर्थात् वासनाको तन्मुखी करनेका सबसे सहज उपाय भक्ति है। यह भक्ति वैधी है। विधिहीन भक्ति उत्पातका कारण बनती है, यही श्रीश्रीगोस्वामी प्रभुने कहा है। भक्तिकी श्रेष्ठता समझाते हुए स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२।२)

अर्थात् मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें अनुरक्त रहकर पराभक्तिके साथ जो मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं श्रेष्ठतम योगी मानता हूँ।

सांख्यशास्त्रकार भगवान् कपिल कहते हैं—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥
(भागवत ३।२५।१९)

'योगियोंके लिये भगवत्प्राप्तिके निमित्त सर्वात्मा श्रीहरिके प्रति की हुई भक्तिके समान और कोई मङ्गलमय मार्ग नहीं है।'

देवर्षि नारदने कहा है—

'अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ।' 'त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।'

'सब प्रकारके साधनोंमें भक्ति-साधन सबसे श्रेष्ठ, सहज और सुलभ है। भूत, भविष्य, वर्तमान—त्रिकालमें रहनेवाले भगवान्‌की भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ, सबसे श्रेष्ठ है।'

भगवत्तत्त्व एवं वासुदेवतत्त्व; शरणागति-अभ्यास-योग

विषयोंमें लगी हुई प्रवृत्तिको त्यागकर भगवान्‌में लगानेके उपायको प्रवृत्ति-मार्गका साधन कहते हैं। यही प्रेम-भक्ति-साधन है। यही वास्तविक प्रवृत्ति है। विषय-वासनाकी निवृत्ति ही श्रीभगवान्‌की ओर प्रवृत्ति है और श्रीभगवान्‌की ओर प्रवृत्ति ही विषय-वासनाकी निवृत्ति है।

निवृत्तिमार्गका साधक सबसे निवृत्त होकर, केवल एक भगवान्‌को ही प्राप्त करनेके साधन-क्रमसे तपस्याके द्वारा जब उनके दर्शन पा जाता है, तब सब मूर्तोंमें उसे उन्हीं भगवान्‌के दर्शन होते हैं। इस प्रकार वासुदेव-तत्त्वकी उपलब्धि होती है। इस उपलब्धिके होनेपर साधक 'एक'के भीतर सबको और सबके भीतर 'एक'को देख पाता है।

श्रीगीतामें श्रीभगवान्‌ने श्रीअर्जुनको उपदेश करते हुए सारा विषय समझाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रवृत्ति या निवृत्ति—जिस किसी मार्गका जो कोई साधक हो, उसके लिये भक्तिपथ ही सबसे सहज है। श्रीगीताने गृहस्थाश्रम या संन्यासाश्रमके सम्बन्धमें पृथक्‌रूपसे कोई उपदेश नहीं किया है। सम्पूर्ण गीताका सार है—शरणागति-अभ्यासयोग अर्थात् भक्तियोगके द्वारा शरणागत होना। इस शरणागतिका अर्थ है—सब कामना-वासनाओंकी निवृत्ति एवं श्रीभगवान्‌की ओर प्रवृत्ति अर्थात् सब वासना-कामनाओंका उन्हींके सुखमें विनियोग करना। यहाँ यह प्रश्न होता है—'उनका सुख किस बातमें है?' उनका जो सबसे प्रिय कार्य हो, उसके सम्पादनसे उन्हें सुख हो सकता है। इसलिये गीताके बारहवें अध्यायमें भक्तियोगका उपदेश करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२।२०)

अर्थात् जो श्रद्धायुक्त मत्परायण भक्त हैं, वे ही मेरे अति प्रिय हैं।

'एकमात्र मेरी शरणमें आकर संयत चित्तसे सम्पूर्ण कर्म-फलोंका त्याग करो; अभ्याससे ज्ञान महान् है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ

है। ध्यानसे कर्मफलत्यागकी महिमा विशेष है—इस त्यागके होनेपर शान्तिभूमि प्राप्त होती है।' यही श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश है।

श्रीगीताके अठारहों अध्यायोंमें श्रीभगवान्‌ने जो कुछ उपदेश किया है, सब भक्तियोग ही है; मामेकं शरणं व्रज (१८।६६)—यही श्रीभगवान्‌का गुह्यतम परम उपदेश है। यह शरणागति कैसे प्राप्त होती है, इसीका श्रीगीतामें विधिवत् वर्णन हुआ है। सम्पूर्ण शरणागतिको ही पूर्णभक्ति कहते हैं, भक्तिकी पराकाष्ठा ही प्रेम है।

अजपा-नाम-साधन-रहस्य

सब कर्मोंको करते हुए शरणागतिका अभ्यास करनेके लिये सहज, सरल, श्वास-प्रश्वासके साथ अप्राकृत शक्तियुक्त मनोवैज्ञानिक श्रीभगवन्नाम-साधन शास्त्रोंमें निर्दिष्ट है। श्रीमद्भागवत-श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्र-ग्रन्थोंमें भी संकेत-से इसका उल्लेख है। रथी श्रीअर्जुनने सारथि श्रीकृष्णका शिष्यत्व स्वीकार करते हुए शरणागत होकर तथा इस प्रकार योग्य अधिकारी बनकर श्रीभगवान्‌के संकेत-वचनोंको हृदयंगम किया था। श्रीश्रीगोस्वामी प्रभुने कहा है—'भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत—ये दो ग्रन्थ उपनिषदोंके भाष्यस्वरूप हैं। गीता और भागवतकी पद्धतिके अनुसार साधन करनेसे ऋषियोंके हृदयकी बात—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'(तैत्ति० उ० २।१) आदि वचनोंकी सत्यता प्रत्यक्ष होती है, इसमें संदेह नहीं। ब्रह्मके दो भाव हैं—नित्य और लीला। नित्य-साधन गीताके द्वारा होता है और लीला-साधन भागवतके द्वारा।

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति नान्यथा॥

'ब्रह्मवेत्ता परमपद प्राप्त करता है, आत्मज्ञानी शोकसे मुक्त हो जाता है, रसस्वरूप ब्रह्मका रस पाकर ही जीव आनन्दित होता है, अन्य उपायसे आनन्द नहीं मिलता। ब्रह्मज्ञान, योग, भगवत्तत्त्व—ये तीन प्रकारके साधन यहाँ कहे गये हैं।'·····यही सत्पुरुषका ऋषिपथ है।' यह अति अद्भुत मनोविज्ञानसम्मत साधना है। कर्म होनेसे उसके साथ श्वास-प्रश्वासका चलना भी जारी रहेगा ही। अतः कर्मके साथ श्वास-प्रश्वाससे नाम-जपका अभ्यास कोई कर सके तो उससे विधियुक्त कर्म भी होगा और भगवन्नाम-जप भी; साथ-साथ सदा ही प्रणामके द्वारा अहंभाव दूर होकर शरणागतिका अभ्यास भी होता रहेगा। प्रेमलाभ अर्थात् भगवत्प्रेमकी [illegible] वेष्टा/चेष्टा [illegible] श्रीगीताके [illegible] चेष्टा करनेसे भी भगवत्स्मृति सदा ही [illegible] श्रीभगवन्नाम-जप करते हुए [illegible] 'श्रीभगवान्‌का ही नाम मैं ले रहा हूँ [illegible] आरम्भसे धारण किये रहनेसे भगवत्स्मृति [illegible] इसके साथ प्रणाम अर्थात् [illegible] शरणागत-भाव रहनेसे निश्चय ही भक्तियोगका [illegible] होगा। इस प्रकार साधन करते रहनेसे [illegible] भगवान्‌के [illegible] प्रभावसे [illegible] आसक्तिके प्रबल होनेपर [illegible] असम्भव हो जायगा। यह 'नाम' [illegible] है; भाव और विश्वास हृदयमें [illegible] साथ प्रीति इत्यादि रहेगी और [illegible] प्रेममग्न होकर रहेगा।

प्राण-मनोवैज्ञानिक साधन-तत्त्व

देह, प्राण, मन और आत्मा [illegible] सम्बद्ध हैं। आत्मा ही [illegible] और देह है। ऐतरेय आरण्यकमें [illegible] है। देहमें सर्वत्र और [illegible] इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—सबके ऊपर प्राणकी क्रिया और [illegible] है। [illegible] इन्द्रियोंकी भी क्रिया प्राणके [illegible] है; पर बुद्धि, मन और इन्द्रियादि [illegible] कारण इनकी क्रिया देहके [illegible] देहके साथ जितना विशेष सम्बन्ध है, [illegible] मनको वशमें करना [illegible] करनेकी अपेक्षा अधिक सुगम है।

अतः प्राणका [illegible] उपर्युक्त प्रकारसे [illegible] देह और मन दोनों ही [illegible] देह और मनमें [illegible] क्रिया प्राणके [illegible] 'नाम-भगवान्' [illegible] होता है, [illegible] स्थूल विकाररूप [illegible]

पहुँचकर आत्माका पता चलता है। आत्मा ही प्राण है—प्राण ही आत्मा है। इसीलिये तैत्तिरीय उपनिषद्में प्राणको 'शारीर आत्मा' कहा है। यह प्राण-मन-संयुक्त भगवन्नाम-साधना ही भक्ति-साधनका मुख्य अवलम्बन है, यही 'अजपा-साधन' है।

प्रियतम भगवान्; प्रेमभक्ति-साधनमें व्याकुलता

यह अजपा-साधन ही परमप्रेममयके प्रेमलाभका सुगमतम श्रेष्ठ उपाय है। पर यह मानना पड़ेगा कि यह साधन जैसा सुगम है, वैसा ही कठिन भी है। श्रद्धावान्के लिये सुगम और श्रद्धाहीनके लिये अत्यन्त कठिन है। कारण, श्रद्धा-भक्तिसे ही साधना होती है। विषय-वासना पाप है, अतः त्याज्य है। भगवत्-प्राप्तिकी वासना पुण्य है, अतः ग्राह्य है। भगवत्-प्रेम-लाभकी यह इच्छा ही व्याकुलताका कारण है। व्याकुलतासे ही श्रद्धा आदि भक्तिका उदय होता है। प्रेमी-जन-चूडामणि देवर्षि नारद कहते हैं—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। (भक्तिसूत्र १९)

'भगवान् नारदका यह मत है कि स्वकृत समस्त कर्म भगवान्को अर्पण करना और उनका विस्मरण होनेपर चित्तमें व्याकुलताका होना ही भक्ति है।'

प्रेमलाभमें 'आदौ श्रद्धा' अवश्य प्रयोजनीय है। भगवान्के प्रति अनुरागको ही श्रद्धा कहते हैं। महर्षि शाण्डिल्यने कहा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (भक्तिसूत्र २)

'ईश्वरके साथ सम्पूर्ण अनुरागको ही भक्ति कहते हैं।' भगवान्को अपना प्रियतम बनाना होगा। श्रुति भी यही कहती है। बृहदारण्यक उपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रसे यह प्रमाणित होता है—

प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृहदा० उप० १।४।८)

आत्मा अर्थात् भगवान् वित्तकी अपेक्षा प्रिय हैं, पुत्रकी अपेक्षा प्रिय हैं, अन्य सब प्रियोंकी अपेक्षा प्रिय हैं, सबकी अपेक्षा प्रिय अर्थात् प्रियतम हैं।

इस श्रद्धाको लानेके लिये नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य-कर्म, सत्सङ्ग, विचार और अजपा-नाम-साधन नियमितरूपसे करना होता है। इससे क्रमशः साध्यवस्तुके सम्बन्धमें ज्ञान-लाभ होकर आसक्तिके बढ़नेपर व्याकुलता आती है। इस व्याकुलतासे शरणागतपर भगवान् कृपा करते हैं। कृपासे प्रकृत श्रद्धाका उदय होता है। यही श्रीमद्भागवतका सिद्धान्त है।

विषयोंमें वैराग्य एवं भगवान्में अनुराग

स्वभाव या पूर्व संस्कार इस व्याकुलता या श्रद्धाकी प्राप्तिमें प्राथमिक कारण है। तथापि पुरुषार्थके द्वारा साधनाभ्यास और वैराग्य-अभ्याससे विषयसे वैराग्य और भगवान्में अनुराग—दोनों ही बढ़ते हैं। जीवका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति अथवा परम प्रेममयको प्रियतमरूपसे प्राप्त करना है। प्रेमभक्तिके द्वारा ही भगवान्को प्रियतमरूपसे देख और पा सकते हैं। भगवान्की भक्ति पानेके लिये अनुराग उपजाना ही होगा। भगवान्से अनुराग विषयसे विराग है। इस अनुरागके लिये विषयसे वैराग्य और भगवान्की भक्ति—दोनोंका ही अभ्यास करना होगा। उभयविध अभ्यास ही साधना है। एक साथ दोनों अभ्यास करनेसे साधना सुगम होती है। प्रकृतिकी विकृतिका त्याग ही वैराग्य है। इस विकार-त्यागका अभ्यास ही वैराग्य-अभ्यास है। प्राकृत प्रेम विकृत है। यथार्थमें प्रेम विकृत नहीं है, अज्ञान-चक्षुमें विकृत दीख पड़ता है। ज्ञान-चक्षुके खुलनेके लिये प्रकृतिके विकारके त्यागका अभ्यास करना होगा।

अखिलाश्रय वासुदेव-साधन-रहस्य

प्रेमच्छटासे मोहग्रस्त जीवके विषयासक्त न होकर सभी वैध कर्तव्य-कर्मोंके अंदर सर्वत्र प्रेममयके दर्शन करनेकी चेष्टा करनेसे मन क्रमशः तन्मय हो जायगा। सदा सर्वत्र प्रेममयकी प्रेमच्छटाका ही म्लान प्रकाश फैला है, सब कुछ प्रेममयके ही विकृत प्रेमसे परिपूर्ण है—यही भाव और विश्वास हृदयमें रखकर मनुष्यके स्वाभाविक प्रेम-प्यार आदिके द्वारा प्रेमच्छटाका आश्रय लेकर प्रेममयका पता लगाना होगा। विषयासक्त मन विषयोंमें प्रेममयकी खोज करते हुए कहीं प्राकृत—जागतिक प्रेम (काम) के बन्धनमें न जा फँसे अर्थात् प्रेममयके म्लान प्रेमच्छटारूप प्रेममें मुग्ध और मोहग्रस्त होकर 'सत्'के अनुसंधानसे विरत न हो जाय, इसके लिये सबमें उन्हीं एक भगवान्को देखनेकी चेष्टा करते हुए सर्वविध वैध कर्तव्य-कर्मोंके साथ 'श्वास-प्रश्वासमें अजपा-नाम-साधन'

करते रहना चाहिये। इसमें पूर्व-संस्कार और मनकी मलिनताके कारण संयम और निष्ठा आदिमें शिथिलता भी आ सकती है। परंतु प्रातः तथा सायंकाल दृढ आसनसे बैठकर चित्तवृत्तियोंको विषयोंसे खींचकर एक भगवान्‌में सब कुछ देखनेके हेतु प्रेम-भक्तियुक्त मनसे गुरुदत्त अप्राकृत शक्तियुक्त अजपा-नाम-साधन करनेसे आसक्ति एवं निष्ठा आदिकी दृढ़ता बढ़ेगी और प्रेमिक मन क्रमशः प्रेममयको समर्पित होगा।

भगवत्-कृपापूर्ण सेवास्वादनमें ही चरितार्थता

आकाशके मेघमुक्त होनेपर जैसे सूर्य-दर्शन होता है, परंतु फिर मेघ आकर सूर्यको ढक देते हैं और पृथिवी मलिन रूप धारण करती है, वैसे ही कभी-कभी श्रीभगवान् भक्तको अपनी ओर खींचनेके लिये अहैतुकी कृपा करके थोड़ी देरके लिये संस्कारावरण हटाकर नाना देव-देवी, ज्योति आदि ऐश्वर्यरूपसे दर्शन दिया करते हैं और फिर पर्दा डाल देते हैं, जिससे सर्वत्र अन्धकार छा जाता है। फिर थोड़ी देरके लिये अपनी झाँकी दिखा देते हैं। [illegible] आलोक ही आता है। इस [illegible] अन्धकारमें भी मार्गपर चलना है। [illegible] या सिद्धिका कारण है। प्रेममय भगवान् [illegible] या दर्शनरूप अमृतबिन्दु [illegible] लिये कराकर विच्छेद—[illegible] अदर व्याकुलताकी आग लगा देते हैं। [illegible] की इस अग्निमें उसकी अपनी [illegible] है। रह जाती है तब केवल [illegible] अनुमान या धारणाके परे है। प्रेमी [illegible] सागरमें तैरता-उतराता रहता है—[illegible] कुछ प्रेममय हो जाता है। [illegible] है। अन्तमें इस प्रेम-रस-सिन्धुमें [illegible] है। उस समय उसकी क्या अवस्था होती है, [illegible] जानता है या नहीं—कुछ कहा नहीं जा सकता।

भगवद्भक्ति-साधन-सिद्ध [illegible] होता है—नान्यः पन्थाः। [illegible] ही [illegible] है।

भक्ति

(रचयिता—श्रीवीरेश्वर उपाध्याय)

सार नहीं जप-तप-जोगादि में, साधन में,
नाहीं अरु अन्य कोऊ साधन ही कार है।
कार है न तीर्थ व्रत संयमहू करने का,
याते भव बेड़ा नहिं होनहार पार है॥
पार है तुम्हारी तभी नैया—यह सत्य मानु,
सुंदर 'वीरेस' सिख देत बारम्बार है।
बार है न यामें नेक मुक्ति के साधना एक
भगवन्नाम कलिमें बस भक्ति सार है॥

आसा है कौन, जिहि ते फिरता गुमानभरे,
चंद ही दिनों की जग जिंदगी की आसा है।
आसा है न तात-मात-वनितादिक साथी की,
औ ना संग आवै धन-धामादिक खासा है॥
खासा है इहि ते कार करौ उपकार तुम,
देहु निज चित्त पुनि दया-धर्म-वासा है।
वासा है भगवत् का सभी प्रानियों में, यही—
भक्ति 'वीरेश्वर' भव-मुक्ति होन आसा है॥

भक्ति-तत्त्व

(लेखक—डा० श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०, डी० लिट्)

भक्तिका अर्थ है प्रेम । भक्ति प्रेमका सर्वोत्तम विभाव है । प्रकृत प्रेम आत्मसमर्पणमय होता है । पुरुष-स्त्रीके बीच जो प्रेम होता है, वह चाहे जितना गहरा हो, चाहे जितना निर्मल हो, आत्मसमर्पणकी भूमिपर आरोहण नहीं कर सकता । आत्माको समर्पण करना जितना कठिन कार्य है, समर्पित आत्माको ग्रहण करना उससे भी अधिक दुष्कर है । स्त्री-पुरुषका प्रेम अन्ततक स्वार्थ-विजडित रहकर किसी एक क्षुद्र मायिक भावमें पर्यवसित हो जाता है । पार्थिव प्रेमसे कभी अमृतत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती । निःस्वार्थ, अन्तरतम, सुमधुर भावसे भरा सुधा-सिञ्चित अनुराग जब श्रीभगवान्‌में निवेदित होता है, तभी प्रेमकी पराकाष्ठा—परिपूर्णता होती है । यही अमृत है । स्वयं भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतकी कुरुक्षेत्र-मिलन-लीलामें प्राण-प्रिया गोपीजनोंको उपदेश दिया है—

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।

(१० । ८२ । ४५)

इस भक्तिकी तुलनामें पाँचों प्रकारकी मुक्ति भी हेय जान पड़ती है । भगवान् स्वयं अपनी ओरसे भक्तको मुक्ति देनेके लिये आते हैं, किंतु भक्त उस मुक्तिको लौटाकर भक्तिके लिये प्रार्थना करता है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।

(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३)

इस मुक्ति और भक्तिके सम्बन्धमें, ब्रह्मज्ञान तथा भगवदनुरागके विषयमें मानवकी मनोवृत्ति, विशेषतः आधुनिक शिक्षित लोगोंकी रुचि-प्रवृत्ति किस प्रकार विभक्त हो गयी है—इस विषयमें कुछ आलोचना की जायगी । उसके पहले भक्तिके सम्बन्धमें यत्किंचित् श्रीमद्भागवतरूपी अध्यात्मदीपके आलोकमें विचार करनेकी चेष्टा की जाती है ।

श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें शौनकादि ऋषियोंको उपदेश देते हुए श्रीसूतजी कहते हैं—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥

(१ । २ । ६)

इस भागवत-वाक्यमें हमको 'धर्म-समुदायमें भक्ति-धर्मका स्थान क्या है'—इसके निर्देशका संकेत मिलता है । श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध, प्रथम अध्यायके तृतीय श्लोकमें कहा गया है कि श्रीमद्भागवत ग्रन्थ वेद-वेदान्तरूप कल्पवृक्षका मधुरतम रसमय फल है, और यहाँ भागवत-वक्ता सूतजी कहते हैं कि सुर-नर-गणके लिये अनुसरणीय जितने धर्म हैं, उन सबमें जिस धर्मकी सर्वोत्तम परिणति भक्तिमें होती है, वही परम धर्म है । इस श्लोकमें भक्तिके सम्बन्धमें कई विशेष बातें कही गयी हैं । शुद्धाभक्तिका प्रयोग होता है—अधोक्षज तत्त्वमें । 'अधोक्षज' (Transcendent divinity) शब्दकी निष्पत्ति दो प्रकारसे होती है—(१) 'अधःकृत अक्षजः' अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञान जिसके द्वारा पराभूत होता है यानी प्राकृतिक ज्ञान-विज्ञानके द्वारा जिसका संधान नहीं मिल सकता । (२) अथवा सारी इन्द्रियोंके पराभूत या प्रविलुप्त होनेपर शुद्ध चिन्मय चित्तमें जो भगवत्स्वरूप प्रकाशित होता है, वही अधोक्षज है । भक्तिके प्रसङ्गमें भक्तिके परमसाध्य वे अधोक्षज परम पुरुष श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द-विग्रह सर्वकारणोंके कारणस्वरूप ही हैं । श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

तुरीय कृष्णेते नाहिं मायार सम्बन्ध ।

जो मायातीत लीला-पुरुषोत्तम हैं; वे ही श्रीकृष्ण हैं, वे ही सर्वोत्तम प्रेमके पात्र हैं; और वे ही सर्वोत्तम प्रेमसाधनाकी सिद्धि प्रदान करके भक्तको कृतार्थ करनेमें समर्थ हैं । भक्ति अहैतुकी है । शुद्धा भक्तिका कोई अवान्तर उद्देश्य नहीं होता । इस भक्तिका दूसरा विशेषण है 'अकिंचना' । इसमें ज्ञान-कर्म आदिका कोई सम्पर्क नहीं रहता । श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

उपर्युक्त भागवतके श्लोकमें भक्तिका द्वितीय विशेषण है 'अप्रतिहता' । भक्ति सर्वविधायिनी है, अपराजिता है । सारी प्रतिकूल शक्तियाँ भक्तिके सामने पराजित हो जाती हैं । भक्ति एक बार जिस चित्तमें जाग उठती है, उसमें कोई विरुद्ध शक्ति प्रवेश नहीं कर सकती । भक्ति ही चिर-विजयिनी, चिर-संजीवनी रूपमें विराजती है ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

(गीता ७ । १४)

—यह जो दुरन्त-शक्तिशालिनी माया है, वह माया भी इस भक्तिके द्वारा पराजित हो जाती है, भक्तिके प्रभावसे

छिन्न-भिन्न होकर विलीन हो जाती है। इसी कारण भागवतमें भक्तिको 'अप्रतिहता' कहा गया है।

भक्तिका तीसरा विशेषण है—ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति।

मनुष्यके जीवनमें आत्मतत्त्व निर्मल, उज्ज्वल होकर अपने स्वरूपमें बहुत कम प्रकाशित होता है। वह तप, शौच, स्वाध्याय, योगसाधना, ध्यान-धारणा प्रभृति किसीके भी द्वारा प्रसन्न होकर या प्रोज्ज्वल होकर प्रकाशित नहीं होता। अकिंचना भक्तिके प्रभावसे, अति गम्भीर अनुरागके अमृत-स्पर्शसे आत्मप्रकाश एवं आत्मप्रसन्नताके सारे विघ्न, सारे आच्छादन-आवरण हट जाते हैं, मिट जाते हैं। ध्यान, ज्ञान, जप-तप आदि किसी भी साधनसे यह आश्चर्यजनक परिणाम. सिद्ध नहीं होता, परन्तु अमृतमयी भक्तिके द्वारा यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है।

इस श्लोकमें चौथी बात यह बतलायी गयी है कि धर्म क्या है और धर्मके साथ भक्तिका क्या सम्बन्ध है। धर्म वही अनुशीलन, वही भावना या साधना है, जिससे भक्ति प्रकाशित होती है, जिससे भक्ति उत्पन्न होती है—यह बात कहना ठीक नहीं; क्योंकि भक्ति अन्तरके अन्तर्देशमें चिरस्थायिनी, सर्वविजयिनी शक्तिके रूपमें सदा विराजमान रहती है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती। उसका उल्लास होता है, प्राकट्य होता है। उसी उल्लास और प्राकट्यमें जो सहायता करती है, अर्थात् विघ्न-बाधाओं और अन्तरायोंको दूर करती है, वही साधना, वही अनुशीलन धर्म है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें कहा गया है—

> नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कभू नय।
> श्रवणादि-शुद्ध चित्ते करये उदय॥

यह भक्ति जब हृदयमें समुदित होती है, निर्मल अन्तरमें सुप्रकाशित होती है, तभी भगवान्‌के साथ अनन्त आनन्दमय मधुर मङ्गल सम्बन्धका समारम्भ होता है, अन्यथा नहीं।

भक्ति जीवके हृदयका नित्य तत्त्व है—यह सत्य भागवत, तृतीय स्कन्ध, २५वें अध्यायके दो चिरस्मरणीय श्लोकोंमें अति विचित्रभावसे प्रकाशित हुआ है। जिस चित्तमें कोई विक्षेप नहीं, कामना-वासना और काम-क्रोधादिका उत्पात नहीं, जो शास्त्रानुसार निर्मल जीवन बिता रहा है, जिसे श्रीकृष्णकी सेवाके अतिरिक्त और कोई आकाङ्क्षा नहीं है, उस चित्तमें, उसी जीवनमें सारी इन्द्रियाँ सत्त्व-पथमें प्रवर्तित होती हैं, रजोगुण और तमोगुणका कोई प्रभाव नहीं रह जाता। इन्द्रियाँ और मन सत्त्वपथपर [illegible] श्रीभगवान्‌में शुभ संयोग प्राप्त करते हैं [illegible] प्रभावसे मुक्त होकर धीरे-धीरे [illegible] उनी भक्तिवृत्तिमें विलीन हो जाते हैं। [illegible] भक्तिकी अमृत किरणोंसे आलोकित हो उठता है। [illegible] साधनामें ज्ञान, विज्ञान, योग-तप [illegible] कुछ नहीं रहती। अति [illegible] जीवन-पथ पूर्णतः प्रकाशित हो उठता है। [illegible] श्रीकृष्ण-सेवाकी प्राप्तिके लिये आकुल [illegible] ऊपर समाहित होता है। यही भक्ति 'दैवानां गुणलिङ्गानां' (३। २५। ३२-३३)—आदि श्लोकोंका निगूढ़ रहस्य है।

भागवतमें अन्यत्र कहा गया है कि भक्तिके बिना [illegible] तप आदिसे भी चित्त शुद्ध नहीं होता। [illegible] ही जाता है। चित्त मायाधीन नहीं हो सकता। [illegible] मुक्त हो गये हैं, अपनेको मुक्त [illegible] तथा वस्तुतः योगादिकी उच्च भूमिपर [illegible] अन्तमें निम्न भूमिमें आ पड़ते हैं। [illegible] उनके इस पतनका कारण है।

> आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
> पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।
> (१०। २। ३२)

> वे पद सुख दुर्लभ पाकर भी [illegible]।
> ([illegible])

श्रीभगवान् कपिलदेवने तृतीय स्कन्धके [illegible] जो भक्तियोगकी व्याख्या की है, उसमें भी [illegible] भाषामें यही बतलाया गया है कि भक्ति [illegible] शक्ति है। लीला पुरुषोत्तम भगवान्‌की [illegible] का श्रवणमात्र करनेसे भक्तके हृदयमें भगवान्‌में [illegible] भक्तियोग उमड़कर [illegible] प्रकार जैसे भागीरथीका [illegible] प्रवाहित होता है। [illegible]

श्रीमद्भागवतमें [illegible] विभाग [illegible] हैं। वे हैं—[illegible] धान्। [illegible] निर्गुण, निर्विकल्प और [illegible] [illegible] स्वरूप [illegible]। भगवान् [illegible] हैं। [illegible] वे अनन्त गुण रत्नाकर हैं, [illegible] जो भक्तिकी [illegible]

भगवान्‌के सांनिध्य, सेवा तथा लीला-विलासादिके सङ्गकी कामना करते हैं। ज्ञान-साधनाका फल ब्रह्म-सायुज्य-मुक्ति अथवा ब्रह्म-निर्वाण है। योग-साधनामें जीवात्मा मायाके बन्धनसे मुक्त होकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके भेदको लाँघ जाता यानी परमात्मामें विलीन हो जाता है। भक्ति-साधनामें भक्त श्रीभगवान्‌के लीलाराज्यमें प्रवेश करता है। मायासे तो वह अवश्य ही मुक्त हो जाता है। गीताकी भाषामें 'विशते तदनन्तरम्'। ज्ञान और भक्तिका भेद अति विलक्षण है। ज्ञानका चरमफल है—महाशून्यमय आकाशमें विलीन हो जाना। भक्तिका चरम फल है—अनन्त-रूप-रस-ऐश्वर्य-गुण-शाली सर्व-भाव-परिपूर्ण तत्त्वस्वरूप श्रीभगवान्‌के आनन्द-चिन्मय राज्यको प्राप्त करना।

यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक उठता है कि यदि भगवान् और ब्रह्ममें इतना अन्तर है तो साधकलोग भगवान्‌को छोड़कर ब्रह्मभावनामें क्यों लगते हैं ? इसका कारण है स्वाभाविक व्यक्तिगत प्रवृत्ति और रुचिका भेद। सैकड़ों-हजारों ज्ञानी-विज्ञानी अद्वैत-तत्त्व निर्विकल्प ब्रह्मकी ओर स्वभावतः ही आकृष्ट होते हैं। निर्विशेष तत्त्वमें ही उनका विश्वास है। वही उनकी एकमात्र शक्ति है। सर्वाश्रयी, सर्वाश्रयी परम ब्रह्म स्वयं भगवान्‌के रूप-रस-लीला-धाम-परिकर प्रभृतिमें उनका विश्वास नहीं है। वे इन सब बातोंको कल्पना समझते हैं। आनन्द-चिन्मय सत्ताका अमृतमय तत्त्व उनके शुष्क चित्तमें कभी प्रतिभात नहीं होता। वे लोग गोलोक-वृन्दावन आदि धामोंके तत्त्वोंको बिल्कुल ही मिथ्या मानते हैं। वे लोग समझते हैं कि जड जगत् रजस्तमोमय विश्व है। जो कुछ है, इतना ही है। इसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। परव्योम तथा उसके भीतरके भगवद्धाम आदि उनके निकट मिथ्या कल्पनाके विलास हैं। किसीका भी अस्तित्व नहीं है। है केवल माया-विनिर्मित विपुल विश्व। परंतु वह भी अद्वैत तत्त्व-विज्ञानकी प्रज्वलित अग्निमें भस्मी-भूत हो जाता है। रहता है केवल निराकार निर्विशेष ब्रह्म। साधक स्वयं भी नहीं रहता, वह ब्रह्माग्निके समुद्रमें स्फुलिङ्गके समान विलीन हो जाता है। अद्वैत-विज्ञान इस प्रकार पर्यवसित होकर परम सिद्धिको प्राप्त होता है और इधर भक्ति-साधनामें भक्त, कोटिकल्पके अन्तमें भी जो विनाशको प्राप्त नहीं होता, उस परमानन्द, लीलामय, मनोरम, मधुरतम, मञ्जुलतम, नित्य धाम गोलोक-वैकुण्ठमें चिरंतन चिन्मय जीवनमें प्रवेश करके कृतार्थ होता है।

इसी कारण सब शास्त्रोंमें भक्तिकी महिमा कीर्तित हुई है। गीतामें कहा गया है—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
>
> (६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

फिर सबके अन्तमें श्रीभगवान् कहते हैं—

> सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।...
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
>
> (गीता १८।६४-६५)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन।......तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें श्रीभगवान् श्रीउद्धव-जीसे कहते हैं—

> न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
> न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
>
> (११।१४।२०)

सहस्रों योग-साधनोंमें, सहस्रों सांख्यज्ञान-साधनोंमें, सहस्रों वेदाध्ययनोंमें, सहस्रों धर्म-साधनोंमें, त्याग-तपस्यामें जिन भगवान्‌के पादपद्मोंका स्पर्श भी प्राप्त नहीं होता, उन्हीं भगवान्‌को भक्तिके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। दास्य-सख्य-मधुरादि रसोंके सम्बन्धको प्राप्त होकर भक्ति प्रधानतः चार भागोंमें विभक्त होती है—(१) सामान्या भक्ति, (२) साधन-भक्ति, (३) भाव-भक्ति और (४) प्रेम-भक्ति। नियमित साधनानुष्ठानके पहले भगवान्‌के प्रति सामान्यतः जिस श्रद्धा-प्रीति-आसक्तिरूपिणी भक्तिका उदय जीवके हृदयमें होता है, वह 'सामान्या भक्ति' है। यह भक्ति साधनानुष्ठानकी प्रणालीमें नियोजित होनेपर 'साधनभक्ति' के नामसे पुकारी जाती है। जब साधना ठीक तौरपर होती है, तब अन्तरके अन्तर्देशमें जो अति गम्भीर भक्तिका भाव उत्पन्न होता है—सूर्योदयके पूर्व अरुण-किरणोंके आभासके समान, जो आगे चलकर प्रेममें परिणत होता है, उसीका नाम 'भाव-भक्ति' है। भाव-भक्तितक भगवान्‌के साथ कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं जुड़ता। जब भगवान्‌के साथ विशेष-विशेष सम्बन्ध स्फुरित होने लगते हैं, तभीसे प्रेमभक्तिके

प्रादुर्भावका शुभ समारम्भ होता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर—भक्तिके ये पाँचों प्रकार प्रेम-भक्तिके अन्तर्गत हैं। शान्तभक्ति ज्ञानमिश्रा भक्ति है। सनक-सनातन-सनन्दन-सनत्कुमारकी भक्ति ज्ञानमिश्रा शान्त-भक्ति है। उपनिषदोंमें स्थान-स्थानपर जिस भक्तिकी किरणें आभासित होती हैं, वह भी शान्त-भक्ति है। अक्रूर, अम्बरीष, हनुमान्, विभीषण आदिकी भक्ति 'दास्य भक्ति' है। अर्जुन, उद्धव तथा गोप-बालकोंकी भक्ति 'सख्य-भक्ति' है। नन्द-यशोदाकी भक्ति 'वात्सल्य-भक्ति' है। श्रीराधा, ललिता, विशाखा आदिकी भक्ति 'मधुरभक्ति' या 'कान्ता-भक्ति' है। मधुर-भक्तिका नाम मधुरा रति है। मधुरा रतिकी गम्भीरसे गम्भीरतर, मधुरसे मधुरतर स्तर-परम्परा क्रमशः प्रकाशित होती है—स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव आदि। चित्तमें जब स्नेह आविर्भूत होता है, तब समस्त बुद्धि, मन और प्राण कोमल और स्निग्ध भावको प्राप्त होते हैं। सब निर्मल और मञ्जुल हो उठते हैं। तत्पश्चात् मनका विकास होता है। अन्तःकरणमें गम्भीर आत्मोपलब्धि उत्पन्न होती है। क्षण-क्षण मनमें आता है कि 'मैं प्रेम करूँगा'। वह सोचता है कि प्रेम करनेकी योग्यता मुझमें कितनी है? मैं प्रेम-सेवा कर सकूँगा या नहीं? प्राणाधिक मेरी सेवा ग्रहण करेंगे या नहीं?' इस विचारके साथ-साथ कुछ आत्ममर्यादाका बोधरूप अभिमान भी जाग्रत् हो उठता है। आत्मसम्प्रदानमयी रतिके भीतर भी—'मैं अपना अपमान सह सकता हूँ, परंतु प्रेमका अपमान नहीं सह सकता। जो प्रेम अमरलोकसे इस मृत्युलोकमें आया है, वह प्रियतमसे भी बढ़कर महिमान्वित है।'—इस प्रकारका एक अभिमानका भाव निगूढरूपसे निहित रहता है। मानके पश्चात् प्रणय उत्पन्न होता है। प्रणयके उदय होनेपर नायक और नायिकाकी सुमधुर प्रीति और भाव इतने मधुमय हो उठते हैं कि अभिमानकी अभिव्यक्तिके लिये अवकाश नहीं रह जाता। प्रणय-रतिके इसी स्तरमें जब दोनोंके बीच घनीभूत अमृतरसका आदान-प्रदान होता है, तब दोनों आमने-सामने आते हैं, आँख-से-आँख मिलती है, देखा-देखी होती है और परस्पर जान-पहचान होती है। प्रणयके बाद राग उत्पन्न होता है। रागमें रति नील, श्याम, लोहित आदि वर्णोंको प्राप्त होती है। जिस प्रकार पुष्पके अनेक वर्ण होते हैं, रतिके भी उसी प्रकार अनेक रंग होते हैं। वे रंग ही रतिके अन्तरङ्गका रूपाभास हैं। रागके बाद अनुराग होता है। इसमें एकके अन्तरका वर्ण दूसरेके अन्तरमें प्रतिभासित होता है। एकके अन्तरमें जब जो भाव जाग्रत् होता है, दूसरेके अन्तरमें भी उसी समय उसी भावकी प्रतिमूर्ति स्फुटित हो उठती है। प्राणका प्राणसे, चित्तका मनसे जो गम्भीर मिलन होता है, जिसका नाम प्रेम है, उसका इस अनुरागमें ही सुन्दर प्राकट्य होता है। प्रेममें जो एक अचिन्त्य द्वैताद्वैत भाव रहता है, वह प्रकट होता है अनुरागमें। इसी कारण प्रेमका नाम अनुराग है। अनुरागके बाद आता है भाव; 'भाव' शब्द यहाँ पारिभाषिक है। 'चैतन्यचरितामृत' ग्रन्थमें लिखा है—

प्रेमेर परम सार [illegible] नाम [illegible]।

अर्थात् प्रेमका जो परम निर्यास है, उसीका नाम भाव है। इस भावके परम भावको 'महाभाव' कहते हैं। महाभावमें ही प्रेमकी पराकाष्ठा है। प्रेमके भीतर जितना आश्चर्यमय, अपूर्व चिन्मय उल्लास तथा उन्माद निहित है, उसका अनिर्वचनीय प्राकट्य महाभावमें होता है। इसकी अभिज्ञता मानव-जीवनमें नहीं होती। एक [illegible] दिव्य मानव इस मर्त्यलोकमें महाभावकी जिन [illegible] लीलाका प्रदर्शन करा गये हैं। वे हैं नदियाके [illegible] श्रीकृष्णचैतन्यदेव, जो प्रेमभक्तिके [illegible] आविर्भूत हुए थे। महाभाव रूढ और अधिरूढ भेदसे दो प्रकारका होता है। अधिरूढ महाभाव भी मादन और मोदन भेदसे दो प्रकारका होता है। यह महाभाव श्रीराधा तथा उनकी सखियोंकी सम्पदा है। प्रेमकी अनुभूति, उसका [illegible] विभाव परम्पराजनित प्रवाह पाता है इसी [illegible] भावमें। अनुराग, जो महाशक्तिशाली [illegible], [illegible] विद्युत्-स्फुरण प्रवाह है, वह प्रतिबिम्बित होता है इसी मादनाख्य महाभावमें। भक्ति क्या वस्तु है— [illegible] लिये अधिरूढ महाभावका अनुशीलन [illegible] है। जो लोग भक्तिको मधुर मनोराग (Sweet Sentimentality) मानकर उसकी [illegible] करते हैं, वे [illegible]। [illegible] प्राकृतिक अनुभूति (Feeling) मात्र नहीं है। [illegible] एक [illegible] चिन्मयी शक्ति है। इस शक्तिके प्रभावसे भगवान् वशीभूत होते हैं। यह शक्ति ही [illegible] है। रासमण्डलमें अन्तर्हित होकर भी [illegible] प्रभावसे भगवान् जिस रूपमें उनके सामने [illegible] हुए थे, उसी मूर्तिका ध्यान करते हुए हम इस प्रसङ्गको समाप्त करते हैं—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२)

वैष्णव-भक्ति और भारतीय आदर्श

(लेखक—श्रीमती शैलकुमारी बाना)

प्रेम-भक्तिकी चर्चा करते समय पहले वैष्णव-समाजकी चर्चाका विषय सामने आता है। भारतका जो सनातन आदर्श है, उसके साथ प्रेम-भक्तिका सम्बन्ध ओत-प्रोत होकर जुड़ा हुआ है। अतएव प्रेम-भक्तिके विषयमें कुछ कहनेके पहले भारतीय आदर्शके विषयमें कुछ कहना आवश्यक है।

आदर्श सृष्टिकी ओर लक्ष्य रखकर विचार करनेपर कई स्तरोंकी बात विशेषरूपसे मनमें आती है। उनमें पहला वैदिक-युगका आदर्श है। वैदिकयुगकी प्रज्ञा विचित्र और विभिन्न-पथगामिनी थी और उसका लक्ष्य था ऋद्धि। वैदिक इतिहासमें हम देखते हैं कि ऋषि और ब्रह्मवेत्तागण अग्निमें आहुति डालकर प्रार्थना करते हैं—

'हमारे शत्रुओंका नाश हो, हमें धनकी प्राप्ति हो तथा गार्हस्थ्य-सुख प्राप्त हो।' वे कहते हैं—'हे हुताशन! तुम हमारी कामनाओंको सिद्ध करो। शत्रुके तेजको पराभूत करो और दाम्पत्य-जीवनको सुखमय बनाओ।' यह प्रार्थना हम सुनते हैं अपाला, जुहू आदिके मुखसे; यह प्रार्थना सुनते हैं शचीके तथा देवमाता अदितिके मुखसे। अर्थात् श्रेष्ठ देवताओंके मुखसे ही हमें ज्ञात होता है कि उनका प्रेम ऋद्धि और सिद्धिकी सार्थकता और पार्थिव प्रतिष्ठाके बीच निवास करता था।

इसके कुछ ही पश्चात् हम आरण्यकयुगमें प्रवेश करते हैं। जो अग्नि 'रत्नधातमम्' था, वही यहाँ 'सूर्याचन्द्रमसावुभौ नक्षत्राण्यग्नी' है। विराट् उन्मुक्त नभ उस समय आराध्यका प्रतीक बना। यहाँ गीताकी वाणी याद आती है—

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।

अर्थात् नाम-रूपसे अतीत एक पराशक्ति इस आदर्शका विभु स्वरूप है। यहाँ सारी प्राकृतिक वस्तुएँ उसी एकसे उद्भूत और उसीमें स्थित हैं तथा समस्त साधनाओं और आराधनाओंका केन्द्रिय आदर्श है वही एक।

इस युगमें शान्त प्राकृतिक आरण्यके परिवेशमें ध्वनित होता है केवल—

नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्॥

फिर ध्वनित होता है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ० २। २। १५)

'वहाँ (उस आत्मलोकमें) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत् ही चमचमाती है; फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ भासता है।'

पुनः सुनते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम्॥
(कठ० १। २। २३)

'यह आत्मा वेदाध्ययनद्वारा प्राप्त होनेयोग्य नहीं है और न धारणाशक्ति अथवा अधिक श्रवणसे ही प्राप्त हो सकता है। यह [साधक] जिस [आत्मा] का वरण करता है उस [आत्मा] से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको अभिव्यक्त कर देता है।'

—इत्यादि।

अर्थात् इस उपनिषद्-युगके ब्रह्मवेत्ताओंका प्रेम उद्बुद्ध होता है अपार्थिवतामें। भक्ति अन्तर्मुखी होती है। उन्होंने जान लिया था कि भूमा इस पृथिवीकी सम्पद् नहीं है। इसीलिये उन्होंने कहा था—

यन्नुम इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्याम?

(बृहदा० उप० २। ४। २)

अतएव हमने देख लिया कि वैदिकयुगका वित्तके प्रति आकर्षण इस युगमें परिवर्तित हो गया है नित्य वस्तुके आकर्षण-में। फलतः ये दोनों मानो दो स्वतन्त्र धाराएँ हैं।

इसके बाद हमको पौराणिक युगमें इन दोनोंके बीच सामञ्जस्य खोजनेकी एक चेष्टा प्राप्त होती है। यह आदर्श और भी पूर्णतर होता है। इस युगमें रामायण और महाभारतके देवता श्रीराम और श्रीकृष्णको परम श्रद्धा-

भावसे ग्रहण किया गया है। उनके कार्य-कलाप, उनकी बतायी हुई नीति—यहाँतक कि उनकी चरित्रगत विशेषताओं-को भी इस युगमें आदर्शरूपसे ग्रहण किया गया है। सारांश यह कि परम पुरुष श्रीराम और श्रीकृष्णके पाद-पद्मोंमें पूर्ण आत्म-समर्पण सम्पन्न हो गया है।

अब अपनी बात कही जाती है। वैष्णव-भक्ति आज और भी पूर्णतर—सम्भवतः पूर्णतम आदर्शसे अनुप्राणित है। इसके आदर्शमें गृह और गृह-देवता स्वतन्त्र नहीं हैं। आजके वैष्णव प्राणमें ही प्रियको प्रतिष्ठित करते हैं। सब मिलकर एकाकार हो जाते हैं। वृक्ष जैसे प्रकाश, वायु और आकाश—सबसे प्राण-रस संग्रह करके प्राणमय हो उठता है, वैष्णव भी ठीक उसी प्रकार परम प्रियतमको परिपूर्ण भावसे भक्ति अर्पण करते हैं; देह और देही एक हो जाते हैं।

वैष्णव-भक्ति-तत्त्व अद्वैतवादका प्रत्याख्यान करता है। उसकी भित्ति बादरायणका ब्रह्मसूत्र है। यहाँ निम्बार्क या वल्लभाचार्यके मतवादकी पृथक्ताके लिये कोई स्थान नहीं है। अर्थात् वादकी दृष्टिसे, द्वैतवाद या अद्वैतवाद—किसी भी वादके लिये यहाँ स्थान ही नहीं है। ब्रह्म क्यों जगत्का निमित्त-कारण है, उपादान-कारण क्यों नहीं है, द्वैतवादमें जगत् और ब्रह्मका पृथक् अस्तित्व क्यों स्वीकार्य है—इस प्रकारके प्रश्नोंके लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है। श्रीकृष्ण ही आराध्य-देवता हैं, वे ही इष्ट हैं, फिर चाहे किसी रूपमें उनका भजन क्यों न किया जाय। वैष्णव-भक्ति-तत्त्वमें इस आदर्शवादने प्रेमके आवरणमें कैसा अपूर्व-रूप धारण किया है, श्रीराधिका उसका मूर्तिमान् स्वरूप हैं।

श्रीराधिका श्रीकृष्ण-भक्तिका सजीव विग्रह हैं। उनका स्थान संसारसे बहुत ऊपर है। इस प्रेममें मन और प्राण मुग्ध हो जाते हैं, परंतु उन्मत्त नहीं होते। जैसे एक हीरकखण्डमें सूर्यरश्मि प्रतिफलित होकर हमारे नयनोंको मोह लेनेवाली वर्णच्छटाकी सृष्टि करती है, उसी प्रकार इस प्रेमने अनुराग, मिलन, विरह, संताप प्रभृति नाना रूपोंमें प्रकट होकर भारतकी सनातन भक्तिके आदर्शको परिपुष्ट किया है।

भारतका समाज सम्मिलित परिवारके आदर्शमें गठित है। उस संसारमें पति-पत्नी हैं, पुत्र-कन्या हैं, मीत-सखा सखी है। इन सबके प्रेमको लेकर ही यह संसार है। यही प्रेम है। परंतु जो इसके भी बहुत ऊपर हैं, उनके प्रति जब हम प्रेमके आकर्षणसे आकर्षित होते हैं, तब उनके विरहमें हमारे प्राण व्याकुल हो उठते हैं, उनके [illegible] व्यथा और उद्विग्नताकी अभिव्यक्तिमें [illegible] हुआ करता है—

प्यारे दरसण दीज्यो आय, तुम बिन [illegible]।
जल बिनु कमल, चंद बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी,
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन, [illegible]॥
दिवस न भूख, नींद नहिं रैना,
मुखसूँ कथत न आवै बैना,
कहा कहूँ, कछु कहत न आवै, [illegible]॥
क्यूँ तरसावो अंतरजामी,
आय, मिलो किरपा कर [illegible]
मीराँ दासी जनम जनमकी पड़ी तुम्हारे [illegible]॥

—तब हृदयसे जो असीम प्रेम और [illegible] उनके प्रति अर्पित होती है, वह प्रेम ही [illegible] उपजीव्य है। इसी भक्तिकी मस्तीमें एक दिन [illegible] विभोर हो गये थे। श्रीपरमहंस रामकृष्णने [illegible] आस्वादनमें बाह्य सुध-बुध खो दी थी और [illegible] आविष्ट होकर देखी आनन्द—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो
मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥

—कहते-कहते [illegible] उन्मत्तवत् हो उठते थे। [illegible] तुलना नहीं है। [illegible]

श्रीराधिकाका प्रेम [illegible] है। [illegible] प्रेम हो तो उसमें कामके लिये स्थान नहीं। [illegible] दर्शन है। प्रेम विशुद्ध है, प्रेम [illegible] मूल है। श्रीराधिका इसी प्रेमकी [illegible] राधिकाने श्रीकृष्णको देखा नहीं, [illegible] परंतु जिस दिन उनका नाम सुना, उसी दिनसे [illegible] नाम—

कानेर भीतर दिया [illegible]
आकुल करिल मोर प्राण।

'कानोंके भीतर प्रविष्ट होकर मर्मस्थलमें पहुँच गया और उसने मेरे प्राणोंको व्याकुल कर दिया।'

और फिर कहती हैं—

ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो
वदन छाड़िते नाहिं पारे !
जपिते-जपिते नाम अवश करिल गो
केमने पाइब सइ तारे ॥

'अरी ! मैं नहीं जानती कि श्यामसुन्दरके नाममें कितनी मधुरता है, वदन इसको छोड़नेमें असमर्थ हो रहा है । नाम जपते-जपते मैं अवश हो गयी, सखी ! अब मैं उनको कैसे पाऊँगी ?'

भाव ही रागात्मिका भक्ति है । भारतके भक्ति-मार्ग-का यही आदर्श है ।

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रेमकी आन्तरिकता और गम्भीरतामें श्रीराधिका भारतीय भक्तिकी आदर्श हैं । वैष्णव-भक्तिका चरमस्वरूप 'राधा-भाव' है । इस भावका प्रकृत स्वरूप, श्रीराधिकाके सिवा, विश्वके दर्शनमें और कहीं नहीं मिलता । 'मैं तुम्हारी ही हूँ । मैंने अपना सर्वस्व तुमको अर्पण कर दिया । मेरी सारी इन्द्रियोंके अधीश्वर तुम्हीं हो, तुम सब कुछ ले लो ।' पूर्णतम निष्काम-भावसे ऐसी बात राधाके सिवा क्या और कोई कह सका है ? सारांश यह कि श्रीराधिका दुविधा, शङ्का, संकोच, संशय आदिसे विरहित चित्तसे, आदर्श भक्तके स्वभावसिद्ध अकुण्ठित रूपमें, निष्ठावान् जगत्के सम्मुख आत्मनिवेदनके एक अपूर्व आदर्शके रूपमें स्थित हैं । वह आदर्श है—

बन्धु ! तुमि ये आमार प्राण ।
देह मन आदि तोमाते सँपेछि
कुल शील जाति मान ॥
अखिलेर नाथ तुमि हे कालिया ।
योगीर आराध्य धन ॥
गोप-गोयालिनी हम अति हीना
ना जानि भजन-पूजन ॥
पिरीति-रसे ते ढालि तन-मन
दियाछि तोमार पाय ॥
तुमि मोर गति, तुमि मोर पति
मन नाहिं जाय आन ॥
कलंकी बलिया डाके सब लोके
ताहाते नाहिक दुःख ।
बंधु तोमार लागिया कलंकेर हार
गलाय परिते सुख ॥
× × × ×
भाल-मन्द नाहि जानि ।
कहे चण्डीदास पाप-पुण्य मम
तोमार चरण खानि ॥

'हे बन्धु ! तुम मेरे प्राण हो ! मैंने देह-मन आदि तथा कुल, शील, जाति और मान—सब तुमको सौंप दिये हैं । कृष्ण ! तुम अखिल जगत्के नाथ हो, योगियोंके आराध्य धन हो ! हम गोप-ग्वालिनियाँ अति हीन हैं, भजन-पूजन नहीं जानतीं । प्रेमके रसमें ढालकर मैंने अपना तन-मन तुम्हारे चरणोंमें डाल दिया है । तुम्हीं मेरी गति हो, तुम्हीं मेरे पति हो; मेरा मन और किसीको नहीं चाहता । मुझे सब लोग कलङ्किनी कहकर पुकारते हैं, इसका मुझे दुःख नहीं है । बन्धु ! तुम्हारे लिये कलङ्कका हार गलेमें धारण करनेमें मुझे सुख है ।......—क्या भला है और क्या बुरा—यह मैं नहीं जानती । चण्डीदास कहते हैं कि हे प्यारे ! मेरा पाप-पुण्य सब केवल तुम्हारे चरण ही हैं ।'

भारतीय वैष्णवी-भक्ति यही बात कहती है । यही वैष्णवोंकी कामना है । पता नहीं, ऐसी आन्तरिकतापूर्ण सकरुण भाषामें, ऐसी मर्मस्पर्शिनी निर्भरतासे समुच्छ्वसित ऐकान्तिक भक्ति—ऐसी हृदयभरी, विनतीभरी, मन-प्राणको विवश करनेवाले कोमल मधुरस्वरमें आराध्य देवताके श्रीचरणोंमें आत्मनिवेदन करनेकी बात—अन्यत्र कहीं सिखलायी गयी है या नहीं । परंतु भारतीय आदर्शमें यह नित्यनवीन, नित्यमधुर और नित्यस्थायी प्रेम ही भारतीय वैष्णवी-भक्ति-का अटल आदर्श है ।

भजन बिना बिना पूँछका पशु

काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान ।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान ॥
(उत्तरकाण्ड)

साध तेरी

(रचयिता—वैद्यराज श्रीधनाधीशजी गोस्वामी)

अमर वैभव सृजन करना,
एक ही हो साध तेरी॥

साधना-पथ-पथिक बनकर, कोटि कष्टोंको सहनकर।
विपद्-हिमगिरि, तीव्र तपसे, विलय होगा स्रोत बनकर॥
दुःखके गम्भीर तलमें, सुख लगाते नित्य फेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥ १॥

जाल फैला वासनाका, चमकतीं मृगतृष्णिकाएँ।
मोह-तमसे पथ समावृत, मुग्ध करती हैं छटाएँ॥
सजग हो मग पग बढ़ाना, बज रही अविवेक-भेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥ २॥

मानपर जय विजय होगी, आत्मविजयी तब बनेगा।
अङ्कुरित तृष्णा हुई तो, गर्त अपना तू खनेगा॥
ज्ञान-दीपक बुझ न जाये, है अविद्या-निशि अँधेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥ ३॥

इन्द्रियोंपर विजय पाकर, अटल संयम-साधना कर।
सत्यसे, तप-त्यागसे, निज इष्टकी आराधना कर॥
स्वतः धुक्षित हो उठेगी, किल्बिषोंकी विशद ढेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥ ४॥

कर्मयोगी बन अनवरत, सफल होकर फूलना मत।
कर्मका फल है पराश्रित, विफल हो दुख भूलना मन॥
त्यागकर अधिकार-शासन, बना रह कर्तव्य-चेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥ ५॥

'अटल साहस' ले निरन्तर, साधना-पथ जगमगाना।
यह निराशा-निशि विलयकर, सुप्त कातरको जगाना॥
श्रान्तिका अनुभव न करना, सिद्धि होगी चरण-चेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥ ६॥

सिन्धु-सरिता-निर्झरोंको, घाटियोंको, कन्दरोंको।
पार करता, भेदता चल, मोहके सुन्दर-मन्दिरोंको॥
जा पहुँच, शुचि सुधा-सरि-तट, पान कर झट, कर न देरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥ ७॥

पुष्टि-भक्ति

(लेखक—सौ० श्रीरुचिरा बहिन बि० मेहता)

सृष्टिमें भक्तको रसभावके प्रेममें डुबाकर, अलौकिक तत्त्वका स्मरण कराकर, अहंता-ममताको भुलाकर दीनतापूर्वक प्रभुकी सेवा करानेवाली भक्ति पुष्टि-भक्ति कहलाती है। यह भक्ति प्रभुकी या गुरुकी कृपाके बिना नहीं प्राप्त होती। इसीलिये पुष्टि-मार्गको अनुग्रह-मार्ग भी कहते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके लीला-रसके आनन्दमेंसे निकले हुए आनन्दात्मक, रसात्मक भावोंने जो भक्तिका स्वरूप ग्रहण किया, वही पुष्टिमार्ग है। इस मार्गमें जीवात्मा अंश और परमात्मा अंशी हैं। धर्म और धर्मी प्रभुको मानकर प्रभुका दास होकर प्रभुकी भक्ति करनेसे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

पुष्टिमार्गमें गीता, भागवत और वेद प्रमाणस्वरूप माने गये हैं। गीताके बारहवें अध्यायमें बतलाये गये भक्तोंके लक्षण पुष्टिमार्गकी उत्तमता प्रदर्शित करते हैं। पुष्टिमार्गको आधुनिक बतलाना ठीक नहीं। जैसे सूर्य आज ही उगा है—यह कहना ठीक नहीं होता—सूर्य तो था ही; वह रातके समय नहीं दीखा, सबेरा होनेपर दीखने लगा—यही बात पुष्टिभक्तिके विषयमें है। वह नित्य होनेपर भी बीच-बीचमें तिरोहित होकर प्रभुकी इच्छासे पुनः आविर्भावको प्राप्त होती है। लुप्त हुई पुष्टिभक्ति प्रभुकी इच्छा और आज्ञासे पुनः श्रीवल्लभाचार्यके द्वारा आविर्भूत हुई है।

श्रीमद्भागवतके अनुसार नन्द-यशोदा, गोप-गोपिकाओं तथा गायोंको अनुग्रहपूर्वक प्रभुने भक्तिका दान किया। अर्जुनको भी गीतामें भगवान्ने शरणागति ग्रहण करनेके लिये—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (१८। ६६)—का उपदेश दिया।

पुष्टिमार्गके भक्त मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, सर्वात्मभावसे प्रभुके शरण जाकर, प्रभुकी तन-मन-धनसे सेवा करके, सेवाके फलस्वरूप सेवाकी प्राप्तिके लिये निष्काम भावसे सर्वस्व प्रभुको अर्पण करते हैं। प्रभुकी प्राप्तिमें होनेवाला विलम्ब और उससे प्राप्त होनेवाला विरह-ताप इस मार्गकी साधनामें मुख्य माने जाते हैं। पुष्टिमार्गमें प्रभुकी तनुजा, वित्तजा और मानसी—त्रिविध सेवा की जाती है। इनमें मानसी सेवा श्रेष्ठ है। तनुजा और वित्तजा सेवा सिद्ध हो जाय तो अहंता और ममता दूर हो जाय। दीनताकी प्राप्ति होनेपर मानसी सेवा सिद्ध होती है। तब हृदयमें अलौकिक प्रेमका झरना बहने लगता है, जिससे एकात्मकभाव, सेवात्मकभावके उदय होनेपर 'वासुदेवः सर्वमिति' (७। १९)—इस दृष्टिसे जगत्में प्रभुके रसरूप-रसनिधि स्वरूपको आँखोंसे देखकर कृतार्थ होकर भक्त प्रभुकी लीलामें पहुँच जाता है।

इस मार्गकी प्राप्तिके लिये श्रीमहाप्रभुने पुष्टि-भक्तिका उपदेश करके दैवी जीवोंको प्रभु-सांनिध्य सिद्ध करके बतलाया। पुष्टिभक्तिके मार्गमें कोई बालस्वरूप, कोई किशोरस्वरूप तथा कोई प्रौढ़स्वरूपकी सेवा करते हुए वात्सल्य, मधुर और सख्यभक्तिके द्वारा सर्व-समर्पण करके आत्मनिवेदनरूप भक्तिको प्राप्त करते हैं। वे भगवान्के सुखके लिये भक्तिमें मस्त रहते हैं; उन्हें देहका अनुसंधान नहीं रहता और वियोगका ताप प्रभुका सांनिध्य प्राप्त कराता है।

पुष्टिभक्तिका साधन नवधा भक्ति है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य—इस क्रमसे साधना करनेपर अन्तमें आत्मसमर्पण सम्पन्न होता है; तब प्रेमलक्षणा भक्तिसे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

भक्ति करते-करते वैराग्य होनेपर ज्ञानका प्रकाश होता है। उस प्रकाशसे हृदयमें मान-अपमान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे उपरति प्राप्त होती है। सुख-दुःख मनके कारण होते हैं। यदि मन प्रभुको अर्पण हो जाय, प्रभु-सेवामें अहर्निश लगा रहे, प्रभुके प्रेममें सदा मस्त रहे तो जगत्के काम-क्रोध, राग-द्वेष और लोभ छूट जाते हैं। तब सारे काम प्रभुके सुखके लिये, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये होने लगते हैं। यही पुष्टिमार्गकी भक्ति है।

सब भावोंमें मधुरभाव प्रभुके विशेष निकट पहुँचाता है। उसमें जाति-वर्णका भेद नहीं रहता। विजातीय, चमार तथा स्त्रियोंने भी इस भावके द्वारा प्रभुको प्रसन्न किया है। मधुरभावमें प्रेमकी मुख्यता है। प्रभुके प्रति प्रेम द्वैतको अद्वैतमें परिणत करता है। प्रेममें त्यागकी भावना मुख्य होती है। प्रियतमके सुखके लिये जब प्राणोंको आनन्दसे समर्पण कर दिया जाता है, तब इस जगत्के तुच्छ सुखका त्याग करनेमें तो कोई क्लेश नहीं होता। जो लौकिक प्रेमको त्यागता है, उसे अलौकिक प्रभु-प्रेम प्राप्त होता है। एक प्रभुका सेवक प्रभुकी सेवा करता था। सेवा करते समय आँखें बंद रखता। बहुत दिन इस प्रकार सेवा करते बीत गये।

तब प्रभुने उसको आँखें खोलनेके लिये कहा। भक्तने उत्तर दिया—'प्रभो! यदि मैं आँखें खोलूँगा तो तुम्हारे दर्शनसे होनेवाले आनन्दके लोभसे तुम्हारी सेवा भलीभाँति नहीं हो सकेगी; इससे तुमको कष्ट होगा और वह मुझे सहन नहीं हो सकता। इसलिये मैं आँखें नहीं खोलूँगा।' यह उत्तर सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गये और तत्काल ही साक्षात् प्रकट होकर उसका हाथ पकड़कर आँखें खुलवाकर दर्शन दिये।

प्रभुके सुखके सामने अपने सारे सुख दुःख, मान [illegible] को तुच्छ समझकर, अहंता-ममताको मिटाकर, [illegible] सर्वभावोंको प्रभुमें केन्द्रित करके, उनके ही सुखमें [illegible] नयी सेवाके तन्मय होकर प्रेमरसके प्रभुकी [illegible] पुष्टिभक्ति है।

कैसा सुंदर जगत बनाया !

(रचयिता—श्रीश्यामनन्दनजी शास्त्री)

कैसा सुंदर जगत बनाया !

नीला यह आकाश न नयनोंके नभमें छिप पाता।
ध्वनित ऋचाओंसे पल-पल हो तेरी महिमा गाता॥
नभ-गंगाके स्वर्ण-कमल ले सूरज अर्घ्य चढ़ाता।
स्वागतमें तेरे यह चंदा रजत-कुसुम बिखराता॥
रजनीने ले धागे तमके हीरक-हार सजाया !
कैसा सुंदर जगत बनाया !

मर्मरके स्वरमें ये तरुगण तव संदेश सुनाते।
पाकर थपकी मलयानिलसे सादर शीश नवाते॥
पत्तोंकी नीलम-थालीमें फूल-सुदीप जलाते।
मीठे कलकल-छल द्विजगण गा गुणगण नहीं अघाते॥
पा करके संकेत तुम्हारा नाच रही है माया !
कैसा सुंदर जगत बनाया !

महारूप लखकर ज्यों तेरा मौन बना है सागर।
लहरें हँसतीं शशिमें तेरी छविका दर्शन पाकर॥
झूम रही नदियाँ प्रमुदित हो विकसाये तट कलियाँ।
छूते ही तुमको हो जातीं गीली मनकी गलियाँ॥
नटनागर! क्योंकर यह तुमने इन्द्रजाल फैलाया !
कैसा सुंदर जगत बनाया !

विश्व रङ्गस्थल, जीवन नाटक अनुपम खेल रचाया।
अनल-अनिल-घन-गिरि-वन-भू-कण नाटक-हेतु बनाया॥
जन्म-मरणके झूलेमें झूले मानवकी काया।
कौन कहे तेरी लीलाको, सबपर उसकी छाया॥
दीनबन्धु! सबके प्यारे तुम, एक भाव अपनाया !
कैसा सुंदर जगत बनाया !

श्रीराधाभाव

(लेखक—साहित्याचार्य, रावत श्रीचतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी)

सम्मोहन-तन्त्रान्तर्गत श्रीगोपालसहस्रनाममें यह स्पष्टरूपसे अङ्कित है कि जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्‌की आराधना जगत्-जननी श्रीराधिकाजीकी भक्तिके बिना अपूर्ण है। भगवान् शंकर माता पार्वतीसे कहते हैं—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद् वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे ॥१७॥

अर्थात् आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी उपासना, जपात्मक अथवा ध्यानात्मक—किसी प्रकारकी करनी हो तो इससे पूर्व गौर-तेजयुक्ता भगवती श्रीजीकी समाराधना आवश्यक होती है; क्योंकि श्रीजीकी उपासनाके बिना जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्रकी उपासना करनेका मनुष्य अधिकारी नहीं होता। यदि कोई मनुष्य हठधर्मीसे शक्तिरहित केवल ब्रह्मकी उपासना करता है तो वह प्रायश्चित्तका भागी होता है। अतः भगवान्‌की आराधना शक्तिसहित ही करनी चाहिये।

राधा-शक्तिके माननेवाले भक्तशिरोमणि श्रीहितहरिवंश गुसाईंजीने वि० सं० १६०१ में 'श्रीवृन्दावन-शत' नामकी पुस्तक रची है, जिसमें श्रीराधाजीको प्रधान माना है। आपने लिखा है—

बृंदावन सत करन कौं कीनौ मन उत्साह।
नवल राधिका कृपा बिनु कैसें होत निवाह ॥
दुर्लभ दुर्घट सबनि तें बृंदावन निज भौन।
नवल राधिका कृपा बिन कहि धौं पावै कौन ॥
सर्व अंग गुन हीन हैं, ताको जतन न कोय।
एक किसोरी कृपा तें जो कछु होय सु होय ॥
प्रिया चरन बल जानि कै बरनौं हिऐं हुलास।
तेई उर में आनिहैं बृंदा बिपिन प्रकास ॥
कुमरि किसोरी लाडिली करुना निधि सुकुमारि।
बरनौं बृंदा बिपिन कौं तिन के चरन सभारि ॥

गुसाईंजी श्रीराधिकाजीके मुख्य भक्त थे और गौणरूपसे युगल-सरकारके। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि वृन्दावनमें निवास तभी सफल हो सकता है, जब श्रीराधेजूकी कृपा हो; और उन्होंने वृन्दावनकी अधिष्ठात्री देवी राधिकाको मान उनके चरणोंको अपने हृदयमें स्थापित करके ही वृन्दावनमें वास किया। आपने लिखा है—

न्यारौ है सब लोक तें बृंदावन निज गेहु।
खेलत लाडिलि लाल तहँ भीजे सरस सनेहु ॥
गौर स्याम तन मन रँगे प्रेम स्वाद रस सार।
निकसत नाहिं तहँ पेन तें अटके सरस बिहार ॥
जद्यपि राजत एक रस बृंदावन निधि धाम।
ललितादिक सखियन सहित बिहरत स्यामा स्याम ॥

वैराग्य होनेसे ही संन्यास होता है और तब जीव सब कुछ छोड़कर सच्चिदानन्दकी प्रीतिमें पगा सर्वत्र और सबमें एक उसी प्रेमी इष्टको देखता है, जैसे कि ऊपर गुसाईंजीने भाव प्रकट किये हैं। गुसाईंजी आत्मसमर्पण-योगमें दीक्षित हैं। यह आत्मसमर्पण तन्मना, तद्भक्ति तथा तद्याजी होनेसे होता है। तन्मना अर्थात् प्राणियोंमें उनका ही दर्शन करना, हर समय उनका ही स्मरण करते रहना, सब कार्योंमें और सब घटनाओंमें उन्हींकी शक्ति, ज्ञान और प्रेमका प्रभाव समझकर परमानन्दित रहना। 'तद्भक्ति' अर्थात् उनपर पूर्ण श्रद्धा और प्रीति रखकर उनमें लीन रहना। 'तद्याजी' अर्थात् अपने समस्त कार्योंको, चाहे वे कैसे भी हों, अपने इष्टदेवके प्रति अर्पण करना और स्वार्थ तथा कर्मफलकी आसक्तिका त्याग करके उसके लिये कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त होना। पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण करना मानव-समाजके लिये कठिन है। फिर भी, यदि ऐसा कोई विरला वीर होता है तो भगवान् उस आत्मसमर्पण-कर्त्ताकी प्रत्येक विधिसे रक्षा करते हुए उसे अभयदान देकर और स्वयं उसके गुरु, रक्षक तथा मित्र बनकर उसे योग-पथपर अग्रसर करते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको सम्बोधन करके कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(१८। ६५)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दकी परम आराध्या देवी स्वयं राधिकाजी थीं। उनकी छविपर मोहित होकर वे कहते हैं—

राधा की छबि देख मचल गयौ साँवरिया।
हँस मुसुकाय प्रेम रस चाखैं, ताय नैनन बिच ऐसौ राखूँ,
ज्यौं काजर की रेख परैगी साँवरिया ॥ १ ॥

भक्तिके पाँच भाव

२५— वात्सल्य-मूर्ति कौसल्या अम्बा

तू गोरी वृषभानु दुलारी, मैं छलिया, मेरी चितवन न्यारी,

कारो ही मेरो भेष कि कारी कामरिया ॥ २ ॥

मैं राधा ! तेरे घर कों जाऊँ, अँगना में बाँसुरी बजाऊँ,

नृत्य करूँ दृग खोल कमल पर पामरिया ॥ ३ ॥

अपनी सब सखियाँ बुलवा लैं, हिलमिल के मोद नाच मचा लैं,

गढ़ प्रेम की भेख ठुमुक चले पामरिया ॥ ४ ॥

बरसाने की राधा रानी, वृंदावन के बाँके मानी,

सुख सागर यह खेल खेल तू ग्वालिनियाँ ॥ ५ ॥

(ब्रजका एक लोकगीत)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र राधामय थे तथा राधाभावसे ओत-प्रोत रहते थे ।

महाकवि बिहारीने श्री [illegible] अपनी इस सतसईके प्रथम दोहेमें लिखा है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित दुति होइ ॥

रसनिधि रसखानने लिखा है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन, बेद रिचा सुनि चौगुने चायन ।
देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितै, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ॥
टेरत टेरत हारि परयौ 'रसखानि', बतायौ न लोग लुगायन ।
देख्यौ दुर्यौ वह कुंज कुटीर में बैठ्यौ पलोटत राधिका पायन ॥

भुवनमोहिनी कुमरि किशोरी लाडिली प्रिया श्रीराधिका जीके चरणोंको अपने हृदयमें स्थापितकर बारबार यही कहें—

जय राधे, श्रीराधे !
राधावर गोपाल जय मन [illegible] ।

विनय

(रचयिता—प्रो० जयनारायण मल्लिक, एम्० ए०, डिप्०, एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

तिमिरमयी रजनीमें हूँ मैं
भ्रान्त पथिक, हे नाथ !
पिच्छल पथपर चलता हूँ प्रिय !
कर दो मुझे सनाथ ॥ १ ॥

अशरण-शरण, दयामय, स्वामी,
मेरा मार्ग दिखाना ।
मुझे यहाँसे तुम प्रकाशके
मन्दिरमें ले जाना ॥ २ ॥

ऐसा निन्दित कर्म नहीं है,
जिसे न शतशः कर पाया हूँ ।
जीवनकी झोलीमें प्रभुवर !
कंकड़, कण्टक चुन लाया हूँ ॥ ३ ॥

जीवन-नौका जीर्ण पड़ी है,
उठती प्रबल पयार ।
कैसे पहुँचेगी यह तेरे
स्वर्ण-धामके द्वार ? ॥ ४ ॥

चलते-चलते कर्म-मार्गमें
नाथ ! शिथिल मैं हो जाऊँ ।
भवसागरकी तरल वीचिमें
पड़कर जब घबरा जाऊँ ॥ ५ ॥

कृपाशील होकर तुम मुझको
गीता-ज्ञान बता देना ।
अपने चरण-कमलमें प्रियतम !
मेरा चित्त लगा देना ॥ ६ ॥

ईर्ष्या-द्वेष नष्ट हो जायें,
हृदय प्रेमसे भर जाये ।
मन-मोहनकी सुन्दरतामें
मेरा मानस मिल जाये ॥ ७ ॥

जभी कामना और अन्य-
स्थलमें दौड़ मचायेगी ।
उथल-पुथल जब हो जायेगी ।
हृत्तन्त्री बज जायेगी ॥ ८ ॥

प्रियतम ! मुझको तब तुम एकदा
वंशी-तान सुना देना ।
पाप-पङ्कसे मुझे बचाना,
अपनी शरण दिखा देना ॥ ९ ॥

भगवत्सेवासे प्रक्षालित
हो जायें निर्मल संस्कार ।
प्रभुके चरणोंमें अर्पित हो
मानव-जीवन बारंबार ॥ १० ॥

मञ्जरी-भाव-साधना

(लेखक—आचार्य श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी)

सीता-राम, गौरी-शङ्कर, राधा-कृष्ण—ये शक्ति एवं शक्तिमान्‌के विविध युगलरूप हैं। विभिन्न समुदाय बहुत दिनोंसे इनकी आराधना करते हैं। जो लोग शक्तिकी नित्यमूर्ति और सच्चिदानन्दमय परब्रह्मके नित्यविग्रहको स्वीकार करते हैं, वे भगवान्‌के नित्यधाममें पार्षद-सहित आराध्य-स्वरूपकी भावना करते हैं। उनकी अनादिसिद्ध जीवस्वरूपमें नित्य भगवत्सेवा चलती रहती है। नित्यसिद्ध सेवामय जीवस्वरूपका एक विशेष परिचय वैष्णवाचार्योंने स्पष्ट भाषामें प्रदान किया है।

श्रीनिम्बार्काचार्यके अनुयायी श्रीभट्टने आदिवाणी या युगलशतकमें श्रीराधा-गोविन्दके नित्य विलासका, जो उनके नित्यधाममें चलता रहता है, वर्णन किया है। आठों पहर युगलकिशोरके रस-विलासकी भावना ही उनका श्रेष्ठ अवलम्ब है। नित्य-विलासी युगलकिशोरकी नित्य सेवा ही उनकी अभिलाषाका विषय रहता है। वे कहते हैं—

जनम जनम जिन के सदा हम चाकर निसि भोर।
त्रिभुवन पोषन सुधाकर ठाकुर जुगल किसोर॥

युगलकिशोर हमारे प्रभु हैं, हम जन्म-जन्मान्तरके उनके चाकर हैं—यह नित्य-सेव्य-सेवकभाव श्रीश्रीभट्टाचार्यजीसे हमें प्राप्त होता है। आचार्यके प्रचलित नामके अतिरिक्त श्रीगुरु-द्वारा प्रदत्त, युगल-सेवाके उपयुक्त, सखियोंके अनुगत दासी-स्वरूपका भी एक नाम मिलता है। श्रीराधा-श्यामसुन्दर कुञ्जलीलामें भोजन करने बैठे हैं; हाथमें ग्रास लिये हैं और परस्पर रसमय अलाप कर रहे हैं। उस समय श्रीभट्ट अपनी सुध-बुध भूलकर युगलकिशोरकी सेवामें लग गये हैं। यही उनके जीवनका श्रेष्ठ फल है। वे चरणोंमें सिर झुकाकर विनय कर रहे हैं और अपने हाथोंसे भोजन करा रहे हैं।

बिनय करत पाऊँ जु मैं नाऊँ चरननि माथ।
देह धरे कौ फल यही, हितू जिमाऊँ हाथ॥

श्रीभट्ट सखीसमाजमें श्रीहितूनामसे अपने स्वरूपकी भावना करते हैं। श्रीहितू उनका सिद्ध नाम है। सुप्रसिद्ध श्रीहरिव्यासाचार्य इनके ही शिष्य हैं। श्यामस्नेहियोंके लिये परम आदरणीय 'महावाणी' श्रीहरिव्यासजीकी रस-प्राणरूपताका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। योगपीठ-वर्णनमें प्रधान नित्य सखियाँ आठ हैं और उनमें प्रत्येककी अनुगत आठ दासियाँ—यों कुल मिलाकर चौंसठ दासियाँ हैं। पहला रङ्गदेवीका यूथ है। इन्हींकी कृपाका भरोसा करके महावाणीमें अष्टयाम-सेवाका क्रम दिखलाया गया है।

श्रीहरिव्यासजी कहते हैं—

प्रथमहिं रँग श्रीदेवि मनाऊँ। तिन की कृपा यहे जस गाऊँ॥

रङ्गदेवीकी अनुगामिनी सखियोंमें एक श्रीहितसुन्दरी भी हैं। कन्दर्पा नामकी रङ्गदेवीकी अनुगामिनी सखीकी सङ्गिनी भी एक 'हितू' है।

प्रधान सखीकी अनुगामिनी दासीको अलबेली कहते हैं। इसका अर्थ है—तरुणी विलासिनी। साधक-जीवनमें श्री-गुरु-कृपासे इस तरुणी-स्वरूपका आविष्कार पहले किसने, कब और कहाँ किया था—यह तो नहीं बतलाया जा सकता। परंतु यह लौकिक भोगराज्यसे दिव्य रसराज्यमें प्रवेशका एक विराट् संकेत है, इस बातको मैं मुक्तकण्ठसे स्वीकार कर सकता हूँ। संसारमें आसक्त एक पुरुष साधना-मार्ग ग्रहण करके अपने पुरुष-अभिमानको त्यागकर अपनेको तरुणी, विलासिनी सेवाकारिणीके रूपमें चिन्तन करे और इसी भावसे अपने प्रियतम प्रभुकी सेवा करे—रस-साधनाके क्रममें यह अत्यन्त अभिनव विचारणीय भाव है।

'सिद्धान्तसुख'में श्रीहरिव्यासजी कहते हैं—

विविध विनोद विहारिनि जोरी, गोरी स्याम सकल सुख रास।
हितु सहचरि (श्री) हरिप्रिया हरषत, निरखत चरन कमल के पास॥

श्रीगुरु-मूर्ति सखी श्रीहितूकी अनुगता सहचरी श्रीहरि-व्यास सिद्धस्वरूप श्रीहरिप्रिया दासीके रूपमें मधुर, मोहनीय, सकल सुखके धाम, विचित्र-लीलाकारी युगलकिशोरके चरणोंके समीप रहकर दर्शनानन्दकी अभिलाषा करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके अनुगामी छः गोस्वामियोंमें सुप्रसिद्ध गौडीय वैष्णवाचार्य श्रीरूपगोस्वामीने 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थमें साधकके इस नित्य विलासमय रूपकी बात बहुत स्पष्टरूपसे कही है। योगपीठमें प्रधाना हैं—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, सुदेवी, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी। इनमें प्रत्येककी अनुगता दासी-किंकरियाँ आठ हैं। इनके सिवा सेवा-परायणा मञ्जरीगण भी हैं।

श्रीमन्महाप्रभुद्वारा प्रवर्तित प्रेम-साधनाका रहस्य साधक-जीवनमें नित्यविलासी युगलकिशोरकी सेवाभिलाषिणी नित्य-किशोरी-स्वरूपका प्राकट्य है। नवीनरूपमें साधककी अभिव्यक्ति और परिणतिका नाम है—मञ्जरी। तुलसी आदि कुछ वृक्षोंमें जो छोटे-छोटे फूल निकलते हैं, उनको मञ्जरी कहते हैं। इसका अर्थ कोशमें लिखा मिलता है—पल्लवाङ्कुर, नवोद्गत पल्लवका अग्रभाग। सेवाकी अभिलाषाके साथ-साथ साधकके हृदयमें नये भाव प्रस्फुटित होनेकी अवस्थाको समझानेके लिये ही इस 'मञ्जरी' पदका व्यवहार किया जाता है। किसी-किसीके मतसे 'मञ्जरी' का अर्थ होता है—मञ्जुरा या सुन्दरी। श्रीरूपगोस्वामीने, और आगे चलकर श्रीनरोत्तम ठाकुरने भी 'मञ्जरी' शब्दका ही व्यवहार किया है।

श्रीरूपमञ्जरी सार श्रीरतिमञ्जरी आर लवङ्गमञ्जरी मञ्जुलाली।
श्रीरसमञ्जरी सङ्गे कस्तूरिका आदि रंगे प्रेमसेवा करे कुतूहलि॥

सेवापरायण ये मञ्जरीगण प्रेममयी तृष्णा लेकर अत्यन्त आनन्दके साथ युगलसरकारकी सेवा करती हैं। इनमें श्रीरूपमञ्जरी प्रधाना हैं। इनके अनुगत होकर भजन करनेके सिवा साध्य वस्तुको प्राप्त करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

ए सब अनुगा हये प्रेमसेवा लब चेये इङ्गिते बूझिब सब काले।
रूपे गुणे डगमगि सदा हब अनुरागी बसति करिब सखी माझे॥

'इन सब मञ्जरियोंकी अनुगता होकर मैं युगल-सेवाकी याचना करूँगी। उनके कुछ न बोलनेपर भी उनके हृदयका भाव इशारेसे समझकर मैं सेवामें लग जाऊँगी; उनके इशारेके बिना सेवा नहीं करूँगी; क्योंकि उससे राधा-श्यामके विलास-सुखमें बाधा पड़ सकती है। श्रीललिताके हाथसे ताम्बूल ग्रहण करनेमें श्यामको सुख मिलता है। श्रीरूपमञ्जरीके द्वारा पद-सेवासे ही उन्हें आनन्द मिलता है। श्रीरतिमञ्जरीके चामर-व्यजनसे श्रीगोविन्दको उल्लास मिलता है। मैं अयोग्य हूँ। अपनी सेवाके द्वारा क्या मैं उनको सुखी कर सकती हूँ? इसी कारण मैं सदा उनकी कृपाका निर्देश पानेकी इच्छासे स्थित रहती हूँ।'

साधक दासको इन नित्यमञ्जरीगणके अनुगत होकर जो-जो गुरुमञ्जरीकी परम्परा है, उसी सिद्ध परम्पराका आश्रय लेना चाहिये। श्रीगुरुदेव युगल-सेवाके लिये उपयोगी उसके सिद्धस्वरूपके नाम, वेश, वास, वयस्, भाव और सेवाके सम्बन्धमें भावनाका द्वार खोल देंगे तथा उसको स्वाभाविक रसमय भजनके द्वारा सेवामें नियुक्त कर देंगे।

सखीर अनुगा हैया ब्रजे सिद्ध देह पाइया सेइ भावे जुड़ाबे पराणे॥

मञ्जरी-स्वरूपका विशेष लक्षण यह है कि वह नायिका-भावके सम्बन्धमें पूर्णतः निरपेक्ष रहती है। श्रीराधा-गोविन्द-युगलके प्रति प्रीति-सम्पन्न करके ही वह कृतार्थ है। स्वतन्त्र नायिकारूपमें विहार करना वह नहीं चाहती। श्रीराधाको श्रीकृष्णके साथ मिला देनेमें जो सुख मिलता है, वही उसे अभीष्ट है।

सखीर [illegible]।
कृष्ण सह निज [illegible] नाहि सखीर मन॥
कृष्ण सह [illegible]।
निजसुख हैते [illegible]॥

साधकका भाव परिपुष्ट होनेपर प्रेमके अभ्युदयके साथ-साथ सिद्धदेह या भावनामय मञ्जरीदेह प्रकट हो जाती है। लौकिक प्राप्त देहका अवसान हो जाता है। [illegible] भावना और सिद्ध अवस्थामें उसकी पूर्ण [illegible] होती है। सखीर संगिनी हई, तब [illegible] [illegible]

मञ्जरी शुद्ध सेवाकी मूर्ति है। [illegible] तनिक भी नहीं होता। दूसरेका सौभाग्य देखकर [illegible] नहीं होती। एक दिन श्रीराधाने श्रीमणिमञ्जरीको [illegible] श्रीकृष्णके समीप भेजनेका अनुरोध करके [illegible] उस सखीने मणिमञ्जरीको बहुत कुछ [illegible] वह उसे श्रीकृष्णके समीप नहीं ले जा सकी। [illegible] पास लौट आयी और बोली—'[illegible] मैं मणिमञ्जरीको सन्तुष्ट करने गयी थी। [illegible] 'श्रीललिता-विशाखा सभी [illegible] श्रीकृष्णके साथ नायिकाका सुखभोग भी [illegible] सखि! तुम भी उसी प्रकार श्रीकृष्णके [illegible] प्राप्त करो। कृष्ण-मिलनमें जो सुख मिलता है, [illegible] त्रिभुवनमें नहीं है। तुम उससे वञ्चित क्यों [illegible] दूसरोंकी अपेक्षा किस सुखसे कम हो? [illegible] सुनकर मणिमञ्जरी बोली—'[illegible] जो सुखभोग करती हैं, वही मैं [illegible] मुझे अधिक सुखदायक है। [illegible] नहीं है। मैं तो नित्य राधागोविन्दके [illegible] ही देखना चाहती हूँ।' [illegible] लिया कि मणिमञ्जरीका चित्त [illegible] प्रलोभन और चाटुवाक्यसे तनिक भी विचलित नहीं हुआ। [illegible]

स्वया यदुपभुज्यते [illegible]
सदैव यह [illegible] सुखदं [illegible]।

मया कृतविलोभनाप्यधिकचातुरीचर्यया
कदापि मणिमञ्जरी न कुरुतेऽभिसारस्पृहाम् ॥

एक मञ्जरी वनमाला बनानेके लिये पुष्पचयन कर रही थी। श्रीकृष्ण उसको देखकर बोले—'सुन्दरि! इस कुञ्जमें प्रवेश करो। यहाँ और कोई नहीं है। मेरे साथ विलास करके जन्मको सफल करो।' यह बात सुनकर वह मञ्जरी बोली—'श्यामसुन्दर! सुनो, मैं अपने मनका यथार्थ भाव तुमसे कहती हूँ। श्रीराधारूपी सुन्दर विलास-भूमिमें तुम जो अपने मधुरभावकी विभिन्न सब चतुराइयाँ दिखाते हो, उसीसे हम सब गोपियोंके मनकी वासना पूर्ण होती है। तुम्हारा अङ्ग-सङ्ग पानेके लिये मेरा मन कभी उत्सुक नहीं होता। तुम श्रीराधाके साथ विलासमें मग्न रहोगे, तब हम श्रीराधाका सुख देखकर परम आनन्दित होंगी। हमें बस, इस दर्शनकी ही आनन्द-सेवा देते रहो। साक्षात् अङ्ग-सङ्ग नहीं।' इन बातोंपर विचार करनेसे मञ्जरीभावका आदर्श समझमें आ जायगा। श्रीरूप-रति आदि मञ्जरियाँ श्रीराधा-कृष्ण युगलके सुखसे ही सुखी हैं। साधक दासको चाहिये कि वह उन्हींके आदर्शसे अनुप्राणित होकर मञ्जरी-देहकी भावनासे अष्टयाम-सेवामें लगी हुई सखीके रूपमें अवस्थान करे।

श्रीरतिमञ्जरीके, जिन्होंने श्रीरघुनाथदास गोस्वामीके रूपमें प्राणोंकी सेवा-निष्ठाको बताया है, वाक्यामृतका आस्वादन करनेसे ज्ञात होता है कि सेवापरायणा मञ्जरियाँ श्रीराधाके प्रति प्रीतिकी अधिकतासे श्रीकृष्ण-प्रीतिकी भी परवा नहीं करतीं। इसका कारण भी है। श्रीराधाकी प्रीतिमें ही श्रीकृष्णकी प्रीति है और श्रीराधाके सुखमें ही श्रीकृष्णका सुख है—यह गोपनीय सत्य सेवापरायणा मञ्जरियोंको अज्ञात नहीं। इसी कारण श्रीराधाके समीप श्रीकृष्णको लानेमें वे सेवापरायणा देवियाँ परम उल्लास प्राप्त करती हैं।

मणिमञ्जरीने किसी एक नव मञ्जरीको शिक्षा देकर कहा—'अरी चतुरे! मैं स्वयं अनुभव करके तुझे उपदेश दे रही हूँ। तुम श्रीराधाके साथ सखीभाव प्राप्त करो। यदि मनमें संदेह हो कि जब श्रीकृष्णके साथ प्रणय करना प्रयोजन है, तब राधाके साथ प्रणय करनेके लिये मैं क्यों कहती हूँ तो सुनो, बतलाती हूँ—श्रीराधाके साथ प्रणय सिद्ध होनेपर श्रीकृष्ण-प्रेमरूप धन स्वयं आकर उपस्थित होगा। अतएव श्री-राधाके चरणोंमें प्रीति-लाभ करना ही सर्वश्रेष्ठ लाभ है। प्रेम-सेवा-लाभकी तृष्णा हृदयमें लेकर श्रीराधाके पाद-पद्मोंके समीप रहना ही श्रीमन्महाप्रभुके अन्तरङ्ग जनोंका परम अभि-मत है। कृष्ण-कान्ताओंकी अपेक्षा मञ्जरी-जीवनका यह वैशिष्ट्य साधकमण्डलीद्वारा अनुमोदित है। आत्मसुखकी आशाका त्याग करके सेवाभिलाषीका जीवनयापन करना प्रेमधर्मका आदर्श है।

श्रीराधा महाभावरूपा हैं। महाभावसे सब प्रकारके भावोंका उदय होता है। कृष्ण-चमत्कारकारिणी, कृष्ण-सुख-दायिनी तथा कृष्ण-सेवामयी सारी वृत्तियोंकी खान महाभाव है। महाभावको अङ्गीकृत करके ही रसराज श्रीगोविन्द श्रीगौराङ्ग-रूपमें आविर्भूत हुए। श्रीगौराङ्गमें श्रीराधा, सखी और मञ्जरी—सारे भावोंका प्रकाश समय-समयपर हुआ है। एक दिन गम्भीरामें शयन करके आविष्ट भावमें वे श्रीरास-नृत्य देख रहे थे। मुरलीकी ध्वनि, सुन्दर श्यामल रूप, पीतवसन, त्रिभङ्ग-ललित शरीर, गलेमें वनमाला धारण किये मन्मथ-मदन श्रीगोविन्द! श्रीकृष्ण श्रीराधाके वामभागमें गोपीमण्डलीसे वेष्टित होकर नृत्य कर रहे हैं। यह दर्शनका आनन्द श्री-गौराङ्गको मञ्जरीभावके आवेशमें ही हुआ था, यह कहना पड़ेगा।

पुनः एक दिन चटक पर्वतको देखकर उन्हें गोवर्द्धनका भ्रम हो गया। उस दिन महाप्रभु भावावेगमें दौड़कर मूर्छित हो गिर पड़े। उनके शरीरमें अश्रु-कम्प-पुलकादि सात्त्विक भाव दीख पड़े। कुछ क्षण इसी प्रकार बीत जानेपर भक्तगण हरि-नाम-उच्चारण करने लगे। आवेश-भङ्ग होनेके बाद वे बोले—'स्वरूप! मुझको गोवर्धनसे यहाँ कौन ले आया? मैंने श्रीकृष्णको गौएँ चराते देखा। वंशीध्वनि सुनकर श्रीराधा आ गयीं; श्रीकृष्णने श्रीराधाको लेकर कुञ्जमें प्रवेश किया। प्रियसखियाँ पुष्पचयन कर रही थीं। यह दृश्य देखकर मैं आनन्दमग्न हो रहा था। तुमलोग शोर मचाकर उस मधुर विलास-भूमिसे मुझको यहाँ क्यों ले आये?' इस प्रसङ्गमें भी महाप्रभुके मञ्जरीभावका ही परिचय प्राप्त होता है।

श्रीमन्महाप्रभु प्रेमोन्मादवश समुद्रमें कूद गये। उस विशाल तरङ्गोच्छलित जलराशिसे धीवरोंने उनको बाहर निकाला। वे सब प्रेमके स्पर्शसे प्रेमोन्मत्त हो उठे। भक्तोंके प्रयत्नसे क्रमशः आवेश-भङ्ग होनेपर महाप्रभु बोले—'मैं वृन्दावनमें यमुनामें श्रीराधा-श्यामकी जलकेलि देख रहा था। सखियोंके साथ युगल श्रीराधा-कृष्ण यमुनामें केलि कर रहे थे। मैं उस समय दूसरी सेवा-परायणा सखियोंके साथ तीरपर खड़ा होकर वह लीला देख रहा था।'

तीरे रहि देखि आमि सखीगण संगे।
एक सखी सखीगणे देखाय से रंगे॥

जो जलमें घुसकर श्रीकृष्णके साथ जल-केलि करती हैं, वे कृष्णभोग्या हो सकती हैं। परन्तु जो तीरपर खड़ी होकर उस लीलाके दर्शनका आनन्द लेती हैं, वे ही सेवापरायणा मञ्जरी हैं। उनके बीच श्रीमहाप्रभु भी आवेशमें मञ्जरीरूपमें अवस्थान करते हैं। श्रीराधाके महाभावकी किरण-छटा यह मञ्जरीभाव है—उसीके आश्रित, उसीके अन्तर्गत है; इसी लिये तो श्रीमहाप्रभुमें भी इस भावका उदय हुआ।

श्रीकृष्ण-भोग-पराङ्मुखी, श्रीराधाके पाद-पद्ममें अधिकतर प्रीति रखनेवाली मञ्जरी की जय हो! इस मञ्जरीभावमें प्रतिष्ठित होनेमें ही जीवकी साधनाकी चरम सार्थकता है।

प्रेम-भक्ति-रस-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीअतुलानन्दजी गोस्वामी)

पतितपावनी गोदावरी गङ्गाके पवित्र तटपर हुए प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु और भक्तिरसज्ञ श्रीरामानन्दरायके संवादमें जो शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुररस-प्रधान भक्ति-तत्त्वका रहस्य है, उसका दिग्दर्शनमात्र इस लेखमें है। शान्तरसमयी भक्तिमें एक निष्ठा और दास्य-रस-प्रधान भक्तिमें सेवा-सुखके आस्वादनके अतिरिक्त, अखिल-कोटिब्रह्माण्डनायक मायातीत श्रीभगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यका प्रभाव भी उपासकोंपर पड़ता है; किंतु सख्य-रसके उपासक तो अपने आराध्यके सम-सम्बन्ध-युक्त प्रेमभावमें ही मग्न रहते हैं। कारण यह है कि चैतन्यघन श्रीभगवान् और चैतन्यकण जीवमें तत्त्वगत समभाव है। अतः जीवका स्वाभाविक भाव सख्य ही है।

यदि कभी किसी प्रकार सखाके सम्मुख भगवान्‌का ऐश्वर्य प्रकटरूपमें आ ही जाता है तो वह उसे सहन करनेमें अपनेको असमर्थ मान व्याकुल हो उठता है।

विश्वरूप-दर्शनके समय सखा अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना करने लगे—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
(गीता ११। ४५)

सख्यप्रेममें सङ्कोचरहित व्यवहार और समभाव होते हुए भी सापेक्षता तो है ही। सखा परस्पर समान प्रेमकी अपेक्षा तो रखते ही हैं।

श्रीमन्महाप्रभुके पुनः प्रश्न करनेपर रामानन्दजी कहने लगे—प्रभो! प्रेमका प्रवाह जिसमें किसी भी प्रकारकी अपेक्षा किये बिना ही प्रवाहित होता रहे, ऐसा तो एकमात्र वात्सल्य रस-प्रधान प्रेम है।

यशोदादेस्तु वात्सल्यरतिः प्रौढा निसर्गतः।
प्रेमवत् स्नेहवद् भाति कदाचित् किल रागवत्॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु ३।४।५४)

इसमें शान्तरसकी तन्मयता, दास्यकी सेवा एवं आमोद प्रमोदमें सङ्कोचरहित प्रीति तो है ही, [illegible] भी है। साथ ही पाल्य-पालकका सम्बन्ध होनेसे [illegible] भी है ही। इसके अतिरिक्त [illegible] कर्तव्य एवं धर्माधर्मका विचार भी रहता है।

अधिकं सम्यक्भावेन [illegible]
([illegible])

उक्त व्याख्याके श्रवण [illegible] श्रीअङ्गकी शोभा देख [illegible] गये कि प्रेमावतार प्रभु प्रेम-[illegible] निमग्न हैं। अधिक आनन्द और [illegible] माधुर्य प्रेमका वर्णन करने लगे। [illegible] साधन हैं। जिन साधनके द्वारा [illegible] आनन्दानुभव [illegible] है, उसके लिये वही उत्तम है; परंतु [illegible] भावमें भेद प्रतीत होता है। किंतु मधुर [illegible] रसोंके सारे गुण एवं भावोंके [illegible] हो [illegible] भेद नहीं रहता। इसके आलम्बन तो श्रीकृष्ण ही हैं

आश्रयत्वेन मधुरे हरि[illegible]।
([illegible])

श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्तिमें [illegible] मधुर प्रेम। यह प्रेम [illegible] नार महाभाव है।

अन्तमें प्रेमविभोर [illegible] भिन्न रूप [illegible] लगे—प्रभो! मैं इन [illegible] जानता। आपने ही [illegible] किया [illegible] मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

[illegible]
[illegible]

सखी-भाव और उसके कुछ अनुयायी भक्त

(लेखक—पं० श्रीसियाशरणजी शर्मा शास्त्री)

ईश्वरको प्राप्त करनेके कई साधन हैं। पर उन सबमें भक्ति श्रेष्ठतम साधन है, यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। ईश्वरके साथ रागात्मक सम्बन्धको ही हमारे शास्त्रोंने विभिन्नरूपसे व्याख्या करते हुए 'भक्ति' संज्ञा दी है। वैधी और रागात्मिका—ये दो भक्तिके मुख्य भेद हैं। नारदीय पाञ्चरात्रादि ग्रन्थोंमें इसका विशद विवेचन मिलता है। स्थिति-भेदानुसार एक भक्तिके ही कई अवान्तर भेद हो जाते हैं। इसमें रसिक-सम्प्रदायद्वारा प्रचलित सखीभावकी भक्ति भी भक्तिका एक प्रधान अङ्ग मानी जाती है।

सखी-भावनाकी भक्तिके प्रवर्तक कौन थे, इसका विकास कब और कैसे हुआ—इस विषयमें इसके मर्मज्ञ ही प्रामाणिकतौरपर कुछ कह सकते हैं। हाँ, मेरे दृष्टिकोणके अनुसार इस रसिक-सम्प्रदायका प्रादुर्भाव गोपियोंकी प्रेमा-भक्तिके आधारपर ही रसिक हृदयोंद्वारा किया गया। सूरके समयसे बहुत पूर्व ऐसी भावना देशमें प्रस्फुटित हो गयी थी। अग्रदासजी महाराजमें भी, जो अष्टयामादि ग्रन्थोंके रचयिता हैं, यह भावना पायी जाती है।

अस्तु, सखी-भावकी प्रमुख विशेषता है, जो इसके नामसे स्पष्ट हो रही है। इस भावनाकी विशेषताके विषयमें कह सकते हैं कि महात्माजन अपनी आत्मामें ईश्वरीय प्रेमके बीज रखते हैं। उनकी आत्माका परमात्मासे मिलन होता है तो वे मोक्ष-जैसे पदार्थकी भी कामना नहीं करते और उस दिव्य स्वरूपके साथ साकेत धाम या गोलोकमें नित्य-विहारकी कामना करते हैं। उस दिव्य लोकमें पंखा, मोरछल आदि सेवाके उपकरण भी ईश्वरेच्छित रूप धारणकर सेवानन्द लूटते हैं। इस लोकमें भी उन महात्माओंका अवतरण होता है तो वे साकार भगवान्की इहलौकिक लीलाएँ रसिक-भावनासे प्रकट करते हैं। इस प्रकार यह प्रेम-बीज क्रमशः अङ्कुरित होकर वल्लरीका रूप धारण करता है, फिर पुष्पित होता है। उसके पुष्पकी नित्य अविनाशी सुगन्ध उन रसिकोंद्वारा गुम्फित ग्रन्थरूपी हारोंमें पायी जाती है।

सखी-भाव भगवान् राम-कृष्णकी लीलाओंसे ओतप्रोत है। इसका साहित्य हिंदीमें या यों कहिये व्रज-भाषा, अवधी आदि बोलियोंमें पर्याप्त मिलता है। इसको विशेषरूपमें सामान्य जनतामें महत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता। इसका कारण यह है कि इसकी भावना सर्वसाधारणके अनुकूल नहीं रही। यह भावना रसिक या शृङ्गारिक प्रवृत्ति लिये हुए है। ईश्वरीय दृष्टिकोणसे यह भावना वास्तविक रूपमें मधुर लीलाओंका आनन्दानुभव करा सकती है। परंतु जिस प्रकार सूरकी पवित्र दैवी भावनाओंको रीतिकालके राज्याश्रित कवियोंने केवल नायिकारूप दे दिया, उसी प्रकार इन भावनाओंका दुरुपयोग हो सकता है। परंतु ईश्वरानुरागी रसिक-जन इन भावनाओंके द्वारा उन रसिकशिरोमणिके निकट भी सहज ही जा सकते हैं। यही इस साहित्यकी विशेषता कही जा सकती है।

सखी-भावनाके कुछ प्रमुख भक्तोंका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत करते हैं, जिनके साहित्यमें यह भावना प्रौढ़ हुई। यहाँ जिन भक्तोंका परिचय दिया जा रहा है, वे श्रीराम-सम्बन्धी साहित्यके निर्माता हैं। इस रसिक-सम्प्रदायके अन्य अनेक प्रसिद्ध प्रवर्तक हुए होंगे। अन्य महानुभाव इसका अवसरानुसार परिचय प्रदान करेंगे।

अग्रअलीजी

अग्रदासजी भक्तमाल-रचयिता नाभादासजीके गुरु एवं रैवासा धर्मस्थानके प्रथम अधिष्ठाता थे। इनके अष्टयामपरक पद्य, कुण्डलिया आदि प्रसिद्ध हैं। परंतु इन्हीं अग्रदासजीने अग्र-अली नामसे राम-जन्मोत्सवादिके बड़े सुन्दर सरस पदोंकी रचना की है, जो प्राचीन ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं। निश्चयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, परंतु सम्भवतः आप ही रामोपासकोंमें इस भावनाके प्रथम प्रवर्तक हैं।

सियासखीजी

गोपालदासजीके नामसे आप झाँझदासजी महाराज हरसौली के अनुयायी थे। परंतु सियासखी नामसे ही आप ख्याति-प्राप्त हैं। जयपुर राज्य एवं अयोध्यामें आपकी रचनाएँ मिलती हैं। आपके राम-जन्म एवं राम-विवाह तथा विनयके पद अत्यन्त उत्कृष्ट भक्तिसमन्वित साहित्यिक सामग्री हैं। राम-विवाहके पदोंमें जो आन्तरिक भावना आपने व्यक्त की है, उससे इनके नामको पूर्ण चरितार्थता प्राप्त होती है। संगीतज्ञ होनेसे पदोंमें और भी चार चाँद लग गये हैं। प्रत्येक पदकी अन्तिम पंक्तिमें अपने नामके साथ आपने महलकी टहल एवं दर्शनादिकी

कामना मार्मिक अभिव्यञ्जनासे प्रकट की है। आपका काल १७०० वि० सं० माना जा रहा है।

रामसखीजी

रामसखीजी भी सखी-भावनामें अनन्य थे। आपके पद सभी उत्सवोंके प्राप्त होते हैं। होरी आदिमें रामसखीजी-की पिचकारीका रंग सब रंगोंसे निराला एवं मनोहर प्रतीत होता है। आपका इन उत्सवोंका साहित्य मौलिक है।

जुगलमञ्जरीजी

आप अवधके प्रसिद्ध संत थे। आपकी प्रेरणासे आपके अनुयायी सखी-भावके प्रमुख पुजारी बने। इस प्रकार आप इस भावनाके निर्मातारूपमें हैं।

चन्द्रअलीजी

जुगलमञ्जरीजीके अनुयायी एवं सियासखीजीके अनुज हैं। 'नवरस-रहस्य-प्रकाश' आपकी रचना है, जिसमें पचीस कुञ्जोंकी केलिका वर्णन ललित पदावलीमें किया गया है। आप जयपुर राज्यके निवासी एवं १७५० वि० में विद्यमान थे।

रूपलताजी

कनक-भवन अयोध्याके प्रसिद्ध संत हैं। आपने स्वयं सखी-भावनाका साहित्य सृजन किया एवं अन्य निर्माताओं-का निर्माण किया।

रूपसरसजी

रूपलताजीकी प्रेरणासे ही आपने 'सीता-राम-रहस्य-चन्द्रिका' ग्रन्थका निर्माण किया—जिसमें अष्टयाम, द्वादशमास, षड्ऋतु एवं भावना-प्रकाश, जुगल-प्रकाश आदि प्रसङ्गोंद्वारा विस्तारसे सखी-साहित्यका वर्णन किया गया है। सीताराम-मन्दिर, जयपुरमें १९३६ से पूर्व आपका रचना-काल रहा। आप सियासखीजीके दत्तक पुत्र कहे जाते हैं। रामानुजदास आपका व्यावहारिक नाम था।

रसिकप्रियाजी

आप रूपसरसके पूर्व वंशधरोंमें हैं। आपके पद बहुत कम परंतु सरस मिलते हैं, जिनमें [illegible] मूल्यके हैं। लौकिक नाम [illegible] था।

ज्ञानअलीजी

'सियवरकेलि' पदावलीके रचयिता [illegible] में प्रसिद्ध हैं। यह पुस्तक [illegible] आपमें अवधी एवं फारसीकी [illegible]

चन्द्रसखीजी एवं रतनअलीजी

—श्रीकृष्णचरित्रके गायक प्रसिद्ध [illegible] जीके गीत मीरांके बाद [illegible] रतनअलीजी दादूपंथी [illegible] फिर भी श्रीकृष्णके [illegible] भावनाओंपर आपने बहुत पदरचना की है। [illegible] नागर' की भाँति उपर्युक्त चन्द्रसखी एवं [illegible] 'चन्द्रसखी भज बाल कृष्ण छवि' [illegible]

शुभशीलाजी

आप चंदेरीके राजा थे। इन्होंने [illegible] भावके साहित्यकी प्रेरणा [illegible] निर्माण किया। जयपुर-मन्दिरमें [illegible] वहाँ आपकी विशेष प्रसिद्धि है।

सुखप्रकाशजी

जयपुरके [illegible] थे। [illegible] नाम था। 'मिथिलाविहार' [illegible] है, जिसमें [illegible] सुकाव है। आप [illegible] शिष्य थे।

हरिसहचरीजी

जाटोताके [illegible] थे। [illegible] सियासखीजीके पदोंसे प्रेरणा [illegible] पदोंकी रचना प्रारम्भ की [illegible] १९२० वि० के आसपास थे।

भजन करनेवाला सब कुछ है

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

(मानस, उत्तरकाण्ड)

भक्तिका एक श्लोक[1]

(लेखक—देवर्षि भट्ट-श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

विप्र नम जो होइ, ए बारह गन युक्त जव।
हरि पद मर्म न सेव, तहि तें स्वपच बरिष्ठ अति॥
भूरि गर्व द्विज कुल अभिमाना। नहिं पवित्र गुन कहहिं निदाना॥
भक्ति हीन गुन सब अघ रूपा। तरै न सो कबहूँ भव कूपा॥
स्वपच स्वमप तन धन प्राना। सो कुल तारै सकल निदाना॥

भगवान् दिव्योपलभ्य हैं अर्थात् स्वर्गतक पहुँचनेवाले देवता-मुनि आदिके द्वारा ही प्राप्य हैं। अवाङ्मनसगोचर हैं—वाणी तो क्या, मन भी वहाँतक नहीं पहुँच सकता। पराकाष्ठा यह है कि जिस समय वैकुण्ठमें आप विराजते रहते हैं, उस समय दिव्यगति देवता-मुनि आदिके सिवा वहाँ किसीकी पहुँच नहीं। कभी-कभी तो सनकादि भी पार्षदोंके द्वारा रोक दिये जाते हैं; फिर वहाँ दीनोंकी गुजर कहाँ। यदि यही दशा रही तो फिर दीनोंके लिये उद्धारका द्वार कौन-सा होगा। कल्याणगुणाश्रय भगवान्के गुणोंसे साधारणतया क्या लाभ हुआ। यदि कोई करामाती योगी हों, अलौकिक चमत्कार दिखाते हों, किंतु कभी किसी आवश्यकता-वालेपर कृपा करनेका मौका ही न आये तो उसकी सिद्धिसे लोगोंको क्या लाभ। इसलिये भक्तिशास्त्रोंमें भगवान्के और-और गुणोंके साथ एक प्रकृष्ट गुण है—'करुणा-वरुणालयता'। अपने भक्त और सांसारिक प्राणियोंके उद्धारके लिये आप यहाँ (भूमण्डलपर) पधारते हैं। आपका यही व्रत है कि जो इस दुस्तर भवसागरमें एक बार भी मेरे अभिमुख हो गया, उसे मैं अभय कर दूँगा। आपकी घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वाल्मीकिरामायण ६। १८। ३५)

'जो एक बार भी मेरे अभिमुख हो गया, 'मैं तुम्हारा हूँ' यह कहकर मुझसे जिसने रक्षा चाही, उसको भयके कारण सभी प्राणियोंसे मैं अभय कर देता हूँ—यह मेरा 'व्रत' (दीक्षा) है।' दीक्षित यदि अन्यथा आचरण करे तो प्रत्यवाय (पातक) होता है। ऐसी दशामें दीनोद्धारव्रती भगवान् प्राणियोंके उद्धार-अनुग्रहके लिये भूमण्डलमें विचरते हैं। यही सब देखकर शास्त्रमजन भगवान्की स्तुति करते हैं—'सदनुग्रहो भवान्' आप सज्जनोंपर अनुग्रह करते हैं। यह तो अर्थ ठीक है ही, किंतु इसका दूसरा पक्ष भी है—'सद्-अनुग्रहः', अर्थात् आपका अनुग्रह बड़ा अच्छा है। और-और देवताओंका अनुग्रह तो पुण्यकी गठरी लिये हुए लोगोंपर ही होता है, किंतु दयाके निधान आप निस्साधनोंपर भी अनुग्रह करते हैं।

भक्तिशास्त्रोंके अनुसार दीनोंको अभिमुख करनेके लिये जब आप भूमण्डलपर प्रकट होते हैं, तब आपका उद्देश्य रहता है—भक्तोंका उद्धार, उनको अपने अभिमुख करना। भगवान्के उद्देश्यमें, प्राणियोंके उद्धारमें, भगवान्के व्रत-निर्वाहमें जो सहायता पहुँचाते हैं, भगवान् उनके ऊपर अति प्रसन्न होते हैं, उनका आभार मानते हैं। इसीलिये आपने कहा था कि 'विभीषण यदि लङ्कामें बैठा हुआ ही मेरा स्मरण करता तो मुझको वहाँ जाना पड़ता। यह स्वयं यहाँ आ रहा है—यह तो मेरी मेहनतकी बचत है, उसका अहसान है।' अतः भगवान्की इच्छा और लोकालयमें पधारनेके उद्देश्यके अनुकूल जो भगवान्के अभिमुख होते हैं, वे ही अवतारके समय भगवत्प्रिय और श्रेष्ठ होते हैं।

और कोई कितने ही बड़े ज्ञानी, ध्यानी हों, यज्ञ-यागादि-साधनाभिमानी हों, किंतु जो भगवान्के सम्मुख अनुकूल बनकर आते हैं, भगवान्की सवारीमें सम्मुख होते हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी रहे और ठीक उद्धारके समय कुछ ढीले पड़ गये, अभिमुख न हुए अथवा दुस्सङ्गादिसे उन्हें कुछ साधनाभिमान हो गया, जिस तरह चाहिये उस तरह अनुकूल नहीं बन सके, अतएव उनके लिये यदि कहना पड़े कि वे 'विमुख हैं', तो उनकी अपेक्षा वे दीन, निस्सहाय गरीब ही अच्छे, जो भगवान्की इच्छापूर्तिमें सहायक हुए। यही सब मीमांसा करके भक्तप्रवर श्रीप्रह्लादके मुखसे कहलाया गया है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भागवत ७। ९। १०)

'अर्थात् धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पुरुषार्थ, बुद्धि और योग—इन बारह गुणोंसे युक्त पूज्यजातिवाला ब्राह्मण भी यदि भगवान् पद्मनाभके चरणारविन्दसे विमुख है तो उसकी अपेक्षा वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन

[1] श्रुति—मदल। 'पद्ये यशसि च श्लोकः' (अमरकोष)।

और प्राण भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर रखे हैं; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है, जब कि बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता ।'

यह न समझिये कि भक्तिका महत्त्व दिखलानेके लिये यह 'अर्थवाद' (प्रशंसावाक्य) ही कहा गया है । यहाँ भगवान् व्यासका विशेष अभिप्राय है । यदि प्रशंसामात्रमें तात्पर्य होता तो वे कहते—भगवान्‌से विमुख, अथवा भगवान्‌के उपदेशामृतसे विमुख, किंवा वञ्चित । किंतु यह सब नहीं कहकर वे कहते हैं 'भगवान्‌के पादारविन्दसे विमुख'—अर्थात् उन चरणारविन्दोंसे विमुख, जो दीनजनोंके उद्धारार्थ, दिव्यकाष्ठा, सर्वतोमुख विभूति, वैकुण्ठधाम, परमप्रिय श्रीलक्ष्मीका सतत सांनिध्य छोड़कर इस धराधाममें असद्भावोंके प्रति करुणाको हृदयमें रखकर इसलिये विचरते हैं कि निस्साधन—जिनकी दिव्यधाममें पहुँच नहीं, वे दीन भी अभिमुख हो सकें । इसीलिये धरामण्डलमें विचरण करनेके साधन श्रीचरणारविन्दपर ही श्रीव्यासजीका लक्ष्य गया । अतएव आपने कहा है—'पादारविन्दविमुखात्' ।

जिनके यहाँ दिव्य भी नहीं पहुँच सकते, सनकादि भी ड्योढ़ीपर ही रोक दिये जाते हैं, वे दीनोद्धारक भगवान्, करुणासागर परमेश्वर, कमल-कोमल श्रीचरणोंसे कठिन कण्टकाकीर्ण इस भवाटवीमें स्वयं विचरण करते हैं और हमें अवसर देते हैं कि अब भी हम उनके अनुकूल हो जायँ—केवल एक बार 'आपका हूँ' यही कह दें—तो बस, काम बना-बनाया है । किंतु हम अपने साधनोंके बलपर इतने अभिमत्त हो रहे हैं कि इस ओर हमारा कोई ध्यान ही नहीं है । 'अनुकूलताका संकल्प' लेकर हम उनके सम्मुख नहीं जाते । अतएव कण्टकाकीर्ण भवारण्यमें घूमते हुए कमल-मृदुल श्रीचरणोंको उनके लिये तो केवल परिश्रम ही हो रहा है । इसीलिये भगवान्‌की दयालुता, दिव्यमूर्तिशालिता आदि सूचित करते हुए कहते हैं—देवता जिन कोमल चरणोंको अपने मुकुटमें रखी मन्दारमालाओंसे अनुरञ्जित करते हैं, जिन कोमल चरणोंके सम्बन्धमें गजगोपिकाएँ अधीरतासे निवेदन करती हैं कि "आप इन कोमल चरणोंसे कण्टक-सङ्कुल वनोंमें क्यों घूम रहे हैं; उन कण्टकोंसे तो यह वक्षःस्थल शायद कठिन नहीं, अतएव इन चरणोंको हमारे स्तनोंपर रख दीजिये, जिससे हमको आश्वासन मिले—'कृणु कुचेषु नः' ।" इन्हीं चरणोंकी कोमलता और सौन्दर्य दिखानेके लिये चरणोंपर अरविन्दका रूपक बाँधते हुए प्रह्लादजी कहते हैं—'पादारविन्दविमुखात्' ।

जहाँ भगवान्‌के धराधाममें पधारनेकी ही बात [illegible] रखा गया है, जिससे कि प्रभुको [illegible] उद्धार तो हो जाय । यहाँ 'उपदेशामृतसे विमुख' [illegible] कहनेमें कोई स्वारस्य न था । जब यहाँ पधारे [illegible] उपदेशामृत-पान करनेका सुअवसर मिलेगा । [illegible] यहाँ आनेका कष्ट ही न करना चाहिये [illegible] उनतक पहुँचानेवाला, दिव्यशक्ति [illegible] है । अतएव चरणारविन्दोंका ही यह [illegible] यहाँ पधारकर हमारा उद्धार करते हैं । [illegible] यह कहा गया है—'पादारविन्दविमुखात्' ।

'विमुखात्' [illegible] पादारविन्दोंका ध्यान नहीं करते, [illegible] अर्जन नहीं करते—और तो क्या, [illegible] तक नहीं करते (आतिथ्य नहीं)—[illegible] यहाँ कहा गया है 'विमुखात्' । अर्थात् [illegible] (विरुद्ध दिशामें) मुख किये हुए । [illegible] अपने पाण्डित्य-धन आदिके गर्वसे [illegible] इतने अभिमानी हो रहे हैं कि [illegible] पौर्णमासादि इष्टि सम्पादन कर रहे हैं, [illegible] यह कहते हुए जो भगवान्‌पर [illegible] अपने यज्ञपर अपनेको [illegible] प्रपत्तिमें जिनको [illegible] 'प्रपत्ति' आदिको मानते [illegible] निर्भर नहीं रहते, [illegible] अकड़कर, चरणारविन्दोंकी [illegible] रहा, जिन्हीं अखिल [illegible] नहीं होता—ऐसे शास्त्राभिमानियोंसे [illegible] यह भाव हृदयमें रखते हुए [illegible] (जिनका अभाग्यवश [illegible]) ।

भगवान्‌से [illegible] चरणारविन्दोंका [illegible] कर्मोंसे विमुख [illegible] 'श्वपचं वरिष्ठम्' ([illegible]) [illegible] अच्छा मानता है । [illegible] उद्धार हो जाता है [illegible] [illegible]

हैं और अन्य बड़ी-बड़ी प्रलोचनाओं (लालच) की ओरसे विमुख है।

'क्यों ?' कदाचित् कोई उन्नतकाष्ठाधिरूढ सज्जन दावा कर बैठना चाहते हों तो वह नहीं चल सकता। आप कहते हैं—'अहं वरिष्ठं मन्ये'। 'यह मेरे मनकी बात है कि मैं ऐसे उन्नत पुरुषसे उस अधम समझे जानेवालेको ही श्रेष्ठ मानता हूँ। मेरी दृष्टिमें तो वही उन्नत और श्रेष्ठ है, जो भगवान्‌के अभिमुख है। जो विमुख हैं, वे चाहे जितना अपनेको ऊँचा मानते हों, वास्तवमें अधम हैं, अभागे हैं। सीधी-सी बात है—जो भगवान्‌के प्रिय हैं, जो भगवान्‌के लोकोद्धार-व्रतमें हाथ बँटाते हैं, जो उन चरणारविन्दोंकी ओर ही टकटकी लगाये रहते हैं, भगवदीय तो उसे ही श्रेष्ठ कहेंगे। हमें उन उन्नतमानियोंसे क्या लेना-देना ? अतएव आप अपनी भावनासे कह रहे हैं—'विमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्'।

विस्तारके लिये क्षमा करना पड़ेगा। कई दुर्दुरूढ (अड़ियल) पण्डितोंके लिये कुछ अधिक भूमिका बाँधनेकी जरूरत पड़ जाती है। श्वपच, चाण्डाल क्यों बड़ा ? बड़ा ही नहीं, 'वरिष्ठ'। यहाँ 'सुपरलेटिव डिग्री' दी है, यह क्यों ?—यह बहुतोंको शङ्का हो सकती है। किंतु प्रसङ्गवश अपने साक्षात् अनुभवके आधारपर एक दृष्टान्त यहाँ दूँगा। उच्च श्रेणीमें पढ़नेके लिये जिस समय सम्पूर्ण क्लासके विद्यार्थी—धनी, अमीर, गरीब, जागीरदार, प्रतिदिन मजदूरी करके पेट भरनेवाले भी—आजकलके प्रवाहके अनुसार हाईस्कूल परीक्षा पास करके कालेजमें जा पहुँचते हैं, वहाँका अपना स्वानुभव निवेदन करता हूँ। यहाँ कोई बड़े अच्छे-अच्छे वस्त्र पहने, ठाटसे बैठते हैं। बड़े फैशनसे रहते हैं। बड़ी गम्भीरता और अमीरी दिखाना चाहते हैं। किंतु जरा बारीकीसे लक्ष्य दीजिये—अध्यापकको वहाँ कौन विद्यार्थी प्रिय होगा ? जो पढ़नेमें चित्त देगा, यथेष्ट अभ्यास करके पढ़ाये हुएको ग्रहण कर लेगा। अथवा यों कहिये कि जो पढ़-पढ़ाकर पास हो जायगा और अच्छी श्रेणीमें आकर अध्यापकके उत्तम 'रिजल्ट' (परीक्षापरिणाम) में सहायक होगा। पाँच विद्यार्थियोंमें जिसकी शिष्यतापर गुरुको अभिमान और प्रसन्नता होगी, वही अध्यापकको प्रिय होगा। वहाँ उनके ठाट-बाटसे हमारे पाठमें कौन-सी सहायता हो गयी ? सब कुछ सौन्दर्य-सौकुमार्य रहते हुए भी हमारा हृदय उसी विद्यार्थीकी ओर झुकता रहेगा जो पढ़नेमें दत्तचित्त होगा। बस, बुद्धिमानोंको यहाँ दार्ष्टान्त समझानेकी अधिक जरूरत नहीं पड़ेगी। भगवान्‌के यहाँ भी, आप ही कहिये, किसको उत्तमताका सम्मान मिलेगा ? जो निस्साधन चाहे हो, किंतु सदा भगवान्‌की ओर जिसकी भावना है, उसके चरणारविन्दकी ओर जिसका मुख है, चरण-कमलोंपर जिसकी प्रेममयी दृष्टि बँध रही है, वही उस महत्त्वाभिमानी पुरुषसे श्रेष्ठ है, जिसका मुख भगवान्‌की ओर नहीं है। भगवान्‌को, उसकी उन्नत जाति लेकर क्या करना है ? वे अपने दिव्यधामको छोड़कर, वैकुण्ठ-भूमिकासे उतरकर अपने उद्धार-व्रतके कारण यहाँ पधारे। अब कहिये—जो उनके उद्धार-व्रतमें सहायक होते हैं, अपना उद्धार करके स्वयं ही लाभ नहीं उठाते, अपितु भगवान्‌को लोगोंकी दृष्टिमें दीनोद्धारक, निर्धनके धन भी सिद्ध कर देते हैं—भगवान्‌की करुणा-वरुणालयता (दीनदयालुता)-को प्रमाणित करनेके साधक बनते हैं, उनपर भगवान्‌की अनुकूल दृष्टि होगी या कोरे बड़प्पनके अभिमानमें चूर रहकर उनकी ओर मुख ही न मोड़नेवालोंपर ? क्या भगवान् उनके ठाट और अभिमानके लालची हैं ? भगवान् भक्ति-भावके भूखे सुने जाते हैं। भला, भक्तकी जाति और उन्नतिसे भगवान्‌को क्या लाभ हुआ ? प्रत्युत भगवान् ऊँचेपनके गर्वसे तो 'विमुख' हैं, उसकी ओर आँख उठाकर देखतेतक नहीं। ऐसोंसे दीनोद्धारक, सर्वप्राणियोंके लिये अभय-सत्र खोलनेवाले भगवान्‌का कौन-सा उद्देश्य पूर्ण होता है ? साफ ही समझनेमें आता है कि ऐसी परिस्थितिमें उनकी साधनसम्पन्नता और उच्चाधिकारिताका कोई मूल्य नहीं। इधर वह नीच है तो क्या हुआ; काम तो इस समय वह कर रहा है जो ऊँचे-से-ऊँचेको करना चाहिये—भगवान्‌की उद्देश्यपूर्तिमें सहायक हो रहा है। इसीलिये भगवान् व्यास कहते हैं—

'अहं तु श्वपचं वरिष्ठं मन्ये'

'श्वपचम्' इस पदपर भी लक्ष्य करना आवश्यक हो गया है। 'नीच' चाण्डाल, अधम इत्यादि शब्द ही उसके धिक्कारके लिये बहुत थे, फिर 'श्वपच' (कुत्तेको राँधकर खानेवाला) क्यों कहा ? कोई जन्मतः चाण्डाल हो, फिर भी यदि वह सत्सङ्ग और बड़े भाग्यसे अपने अधम व्यवसायको छोड़कर अच्छी चर्यामें आ गया हो, सज्जनोंकी तरह रहता हो और उसी प्रकार जीवननिर्वाह करता हो तो उसके ऊपर अत्यधिक घृणा नहीं होनी चाहिये। आजकल तो यह भी कहते हुए सुना जाता है कि यदि उसकी घृणित अवस्था, अपना खास पेशा करनेकी हालत न हो और वह उजला जीवन बिताता हो तो फिर उसको दुरदुरानेसे समाजका कौन-सा भला है ?

परंतु व्यासजीका शब्द है 'श्वपचम्'। वह अपनी वृत्ति भी नहीं कर रहा है, जो उसकी अधमताको प्रत्यक्ष सामने लाती है। किंतु वे कहते हैं—हमें उसकी इन करतूतोंसे क्या मतलब? वह चाहे जिस वृत्तिसे जीता हो, है तो भगवान्के अभिमुख न! सदा भगवान्पर ही तो भरोसा रखता है? फिर उसकी उस जात्युचित वृत्तिसे भगवान्को क्यों घृणा होनी चाहिये? गोविन्द भी यदि उजले वस्त्रोंपर रीझते हों, अच्छे कर्मोंको देखकर ही उद्धार करते हों तो फिर उन साधारण देवता और इन भगवान्में क्या अन्तर रहा? पुण्यकार्य करनेसे तो अन्यान्य देवता भी भला करते हैं। परम भागवत लोग तो भगवान्से कहते हैं कि जो सत्कर्म और ऊँचे अधिकारको देखकर भक्तोंके मनोरथ सिद्ध करते हैं, वे देवता तो 'वणिक्' हैं—अच्छे कर्म, पुण्यको लेकर, बदलेमें मनोरथपूर्ति करते हैं। साक्षात् भगवान् अर्थात् सर्वसमर्थ तो आप ही हैं, जो अधमोंपर भी उद्धारका अनुग्रह करते हैं। बस, फिर जो बेचारा जातिके कारण अपनी पारंपरिक अधम वृत्ति चलाता हुआ भी सदा हृदयमें भगवान्के चरणोंकी एकनिष्ठा रखता है, क्या वह त्यागने योग्य है? क्या धर्मव्याध आदिको भूल गये, जिनसे तपस्वियोंने भी शिक्षा ग्रहण की थी? वह तो उस द्विषट्-कर्मा विप्रसे भी बढ़कर है, जो साधन-सामग्री और उत्तम अधिकार रखता हुआ भी भाग्यका मारा उनसे कुछ लाभ उठा न सका, भगवान्से विमुख रह गया। इसी तिरस्कारको सूचित करते हुए कहते हैं—

पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठं (मन्ये)।

ठीक है, यह भक्तिकी महिमा है, उसका माहात्म्यानु-कीर्तन है, जिससे भक्तिके विषयमें औरोंको शिक्षा दी जा सके। किंतु ऐसी बात नहीं है। यह प्रशंसावाद नहीं। यह सत्यार्थ-कथन है। लोकमें मानी हुई बात है। अन्य जातिके लोगोंकी अपेक्षा आप उस चाण्डालको क्यों बुरा मानते हैं? एक ऊँची जातिका ब्राह्मण है, और वह है अधम चाण्डाल। यही न? अब विचारना चाहिये कि जिसे हम चाण्डाल कहते हैं, वहाँ चाण्डाल क्या है? क्या उसके शरीरके भीतर रहनेवाला 'अन्तरात्मा' चाण्डाल है? नहीं, इतना मूर्ख भागवतको सुननेवाला 'शुश्रूषु' तो क्या, कोई भी भारतीय नहीं हो सकता। सब जानते हैं आत्माके साथ कोई उपाधि नहीं। उसका ब्राह्मण, चाण्डाल आदि व्यपदेश (प्रसिद्धि) देहके साथ सम्बन्ध रहनेपर ही है। अकेला आत्मा न ब्राह्मण न चाण्डाल। फिर आत्माके [illegible] 'चाण्डाल' यह व्यपदेश [illegible] यह बोलना नाम (आत्माका) [illegible] है, उस समय ब्राह्मण, चाण्डाल [illegible] सकता। 'मिट्टी' है, [illegible] नहीं। किसी चाण्डाल [illegible] देहमें जबतक ये प्राण रहते हैं, [illegible] 'चाण्डाल' कहा करते हैं।

इससे यह माना गया कि हम [illegible] प्राण आदि चैतन्योचित [illegible] दोनों अर्थात् देह और आत्माकी [illegible] 'चाण्डाल' कहा करते हैं। यदि देहमें [illegible] वह चाण्डाल भी नहीं [illegible] आप ही देख लीजिये। [illegible] ईहित (चेष्टा यानी कर्म) और [illegible] भनादि) तथा प्राण भी [illegible] तब यह देह और प्राणकी [illegible] देहमें प्राण ही नहीं, तब [illegible] कह सकते हैं? आपने [illegible] प्राण रहे, तब उस [illegible] सकते हैं। किंतु यहाँ [illegible] शरीरोंके साथ [illegible] ईश्वरमें लगा दिये गये, [illegible] मानते रहेंगे!

कदाचित् शङ्का हो कि [illegible] धात कर चुके तब [illegible] प्राणके साथ ही तो ये [illegible] प्राण लगा देना [illegible] अन्य [illegible] अति कठिन है। [illegible] कहा है—

तस्याहं [illegible] [illegible]।

[illegible]

[illegible] अति दुष्कर (कठिन) [illegible]।'

[illegible]

हुए भी खूब कड़ाईपर कमर कस लेनेपर भी हमारा मन-मधुप भ्रमण करता रहता है और ही तरफ। किंतु जो भगवान् इन तरहके 'प्रमाथी' मनको भी ईश्वरमें लगा देता है और प्राण भी वहीं जोड़ देता है, यह देह तो केवल खोली-सी पड़ी रह जाती है, फिर क्या उसको भी आप अपनी परिभाषाके अनुसार चाण्डाल ही कह सकते हैं !

अब आप ही देखिये कि 'भक्ति' का कितना प्रबल प्रभाव है जो नीचातिनीच गिने जानेवाला भी सबसे अच्छा ही नहीं, वरिष्ठ (अत्यन्त श्रेष्ठ) माना जाता है। इसी लिये सम्पूर्ण वाङ्मयका तत्त्व समझनेवाले परमहंस, ऋषि-मुनि, विद्वत्प्रवर भी भोग अथवा दिव्यलोकोंकी तो बात ही क्या, मोक्षतककी इच्छा नहीं करते, वे भगवान्से उनकी भक्ति ही माँगते हैं। वे कहते हैं—

(दोहा)

न हि मुक्तिं मुक्तिं न किल यदुनायक याचामि।
भक्तिं तव पदसरसिजे देहि शरणमुपयामि॥

भक्तिरसके सर्वतोमधुर आलम्बन भगवान् श्रीकृष्ण !

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

मनुष्य सुख चाहता है। वैकुण्ठ और इन्द्रलोकके नाम मनुष्यकी सुख-पिपासाके ही अभिव्यञ्जक हैं। मुक्ति तो इसका एकान्त सत्य निर्देश है; किंतु सुख मनचाही, प्रिय एवं सर्वतोभद्र वस्तुओंकी प्राप्तिसे ही आसानीसे प्राप्त हो सकता है। ऐसी इष्ट वस्तुएँ मानव-मनके स्वभावानुसार विविध और विभिन्न हैं।

यह भी सर्वमान्य सत्य है कि प्रिय वस्तु एवं इष्ट-देवके सांनिध्यसे जो सुख प्राप्त होता है, उसका कारण वस्तुगत अनन्य प्रेम और अनुराग ही है और अव्यभिचारी, पूर्ण निर्दोष अनुरागका नाम ही भक्ति है।

शाण्डिल्यसूत्रमें इस पूर्णानन्दका वर्णन इस तरह हुआ है—

अथातो भक्तिजिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे। (१-२)

ईश्वर ही आनन्दघन और सच्चिदानन्दस्वरूप है। वही सब आनन्दों एवं भक्ति-रसका एकान्त स्रोत है।

भक्तिकी एक विलक्षणता यह भी है कि वह स्वयं निरपेक्ष फलरूपा है—

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमारः। (ना० भ० सू० ३०)

अनेक आचार्योंने भक्तिको परम पुरुषार्थ और ज्ञानका कारण स्वीकार किया है—

उपायपूर्वकं भगवति मनःस्थिरीकरणं भक्तिः।

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते।

भक्ति शान्ति एवं परमानन्दरूपा भी कही गयी है—

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च। (ना० भ० सू० ६०)

भक्ति ज्ञान-कर्मात्मक, सुलभ, प्रमाणनिरपेक्ष और कर्म, ज्ञान एवं योगसे भी श्रेष्ठतर है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये। (ना० भ० सू० २९)

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ। (ना० भ० सू० ५८)

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात्।
(ना० भ० सू० ५९)

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। (ना० भ० सू० २५)

भागवतकार श्रीव्यासदेव भक्तिकी सरलताके विषयमें कहते हैं—

अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्।
(श्रीमद्भा० १०।२४।१८)

यही कारण है कि ज्ञान-कर्मकी अपेक्षा भक्ति ही आनन्दघन ईश्वरकी प्राप्तिका सरलतम साधन है—

तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः। (ना० भ० सू० ३३)

भक्तिकी भी दो शाखाएँ हैं—१. निर्गुण, २. सगुण। इनमें सगुणशाखा सरल, सार्वभौम और सार्वजनीन है। उसमें भी पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णपरक भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि श्रीकृष्ण ही भगवान्के पूर्णावतार हैं।

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
(१।३।२८)

ईश्वरके साकार-विग्रह पूर्णावतार श्रीकृष्णकी भक्तिकी विशेषताका यह भी एक कारण है कि श्रीवल्लभाचार्यके मतसे ईश्वर परस्पर-विरोधी गुणोंके आश्रय हैं। अतः वे सर्वदेश, सर्वकाल एवं सर्वजनके हृदयावलम्बन हैं। ऐसे भगवान्के विग्रह-स्वरूप श्रीकृष्ण भी विविध और विभिन्न गुणोंके सदाश्रय ही हैं। विशेषतः रूप-माधुरी और चरित्र-माधुरीके तो वे समन्वय—सामञ्जस्य ही हैं।

इसीलिये श्रीव्यासने उनके विषयमें कहा है—

जगत्त्रयं मोहयन्तम्[१]।

१. भगवान् श्रीकृष्णका व्यक्तित्व त्रिलोकीको मुग्ध करनेवाला है।

नन्दरायके मूर्तिमान् भाग्य

नागपत्नियोंद्वारा सुभूषित नटवर

एवमुक्तो भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा । तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥
दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः । दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥
(भागव० १० । १६ । ६४-६५)

शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत्।[1] (भा० १०। ३३। १०)

यह भी एक विद्वन्मान्य मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य मनुष्यकी आत्मसादृश्यके नाते ही प्यार करता है। अर्जुनने भगवान्‌के विराट् रूपसे घबराकर यही तो कहा था—

> तदेव मे दर्शय देव रूपं
> प्रसीद देवेश जगन्निवास।[2]
> (गीता ११। ४५)

यह भी सर्ववादिसम्मत बात है कि भगवान् श्रीकृष्ण समानतः माधुर्य और ऐश्वर्यके प्रतीक हैं। मुख्यतः उनका सर्वजनमोहक माधुर्यरूप तो कोटि-कोटि-काम विनिन्दक है। इसका कारण यही है कि पुराणोंमें श्रीकृष्णचन्द्र मानवोचित गुणोंके मूर्त्त-रूप बताये गये हैं। वे गुण इस प्रकार हैं—

(१) रूप, (२) वर्ण, (३) प्रभा, (४) राग, (५) आभिजात्य, (६) विलासिता, (७) लावण्य, (८) लक्षण, (९) छाया[3]।

यहाँ एक यह भी विचारणीय बात है कि श्रीकृष्णके अङ्ग-प्रत्यङ्ग लोकालोकदुर्लभ सौन्दर्य-माधुर्यमाण शुद्धसत्त्वगुण-निर्मित हैं—

> सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि।
> (श्रीमद्भा० १०। २। २९)

> स्वच्छमसुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि।
> (श्रीमद्भा० १०। २। ३०)

श्रीकृष्णचन्द्रकी रूप-माधुरीपर मोहित होकर भक्तिमती देवी आन्डाल कहती हैं—

> मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोः
> मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
> मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो
> मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्।

इसी विषयमें स्वयं श्रीकृष्ण[illegible] कहा है—

> विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
> परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्।
> ([illegible] ३। २। १२)

श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका [illegible] है—
विभाजकानाम्[4]।

'गोविन्दलीलामृत' में [illegible] रूप माधुरीका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

> सौन्दर्यामृतसिन्धुभङ्गललनाचित्ताद्रिसम्प्लावकः
> कर्णानन्दिसनर्मरम्यवचनः कोटीन्दुशीताङ्गकः।
> सौरभ्यामृतसम्प्लवावृतजगत् पीयूषरम्याधरः
> श्रीगोपेन्द्रसुतः स कर्षति बलात् पञ्चेन्द्रियाण्यालि मे॥

श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीका [illegible] भी [illegible] सुनिये—

> तोमार मधुर रूपे [illegible]।
> [illegible] नयन मन [illegible]॥

भगवती श्रीरुक्मिणीजीने [illegible] श्रीकृष्णको पत्र लिखते हुए उनके विषयमें कहा था—

> का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
> विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।

---

१. भगवान् श्रीकृष्णको देखकर तारा और नक्षत्र-मण्डलसहित चन्द्रदेव चकित और विस्मित हो गये।

२. हे भगवन्! मुझे तो आप शीघ्र ही अपना वही मानव-रूप दिखाइये।

३. शारीरिक अवयवोंकी सुस्पष्टता—रूप है। गौर-श्याम आकर्षक रंग—वर्ण है। सूर्यके समान प्रकाशमान कान्ति—प्रभा है। आकर्षक मन्दस्मितधर्म—राग है। कुलमोचित मृदुता, स्पर्श-कोमलता—आभिजात्य है। यौवनोचित अङ्ग-उपाङ्ग-जनित पदाङ्ग-भुजक्षेप-सम्पृक्त विभ्रम—विलासिता है। चन्द्र-सदृश आह्लादकारक एवं अवयव-सुषमा-समुत्पन्न सौन्दर्य-उत्कर्ष-भूत स्निग्ध मधुर धर्मजन्य सुषमा-व्यक्ति—लावण्य है। अङ्गोपाङ्गोंकी असाधारण शोभा एवं महत्ताका कारणभूत स्थायी धर्म—लक्षण है। नाना शिष्टाचार एवं विभ्रम-विलास-समन्वित, ताम्बूल-सेवन, वस्त्र-परिधान, मूल्य-आकर्षण-जन्य सहृदयात्मक वस्तु—छाया है।

१. अहा! भगवान् [illegible] मधुर [illegible] स्मित कितने मधुर लगते हैं।

२. श्रीकृष्णका रूप माधुर्य [illegible] है। उनके श्रीअङ्ग आभूषणोंको भी भूषित करनेवाले हैं।

३. विशालनयनोंकी [illegible] मात्र निहारने योग्य है।

४. अरी सखी! श्रीकृष्ण [illegible] आकर्षण करते हैं। वे अपने [illegible] के चित्तरूप पर्वतको डुबो देते हैं, [illegible] कानोंको आनन्दित कर देते हैं, [illegible] समान सुशीतल हैं, वे अपने [illegible] को व्याप्त कर देते हैं, उनके [illegible] है।

५. [illegible] भुवन भरे हैं। उन्हींने [illegible] है और मन सुदर्शन और सुदृढ़ है।

धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम्[1] ॥
(श्रीमद्भा० १०।५२।३८)

इन्हीं तथाकथित कृष्ण-सौन्दर्यपर कालिदासके परिवर्तित शब्दोंमें एक भक्त कहता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
अयमधिकमनोज्ञो गोपवेषेण कृष्णः
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्[2] ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोपाल कृष्ण मानव-मनकी रूप-पिपासाके एकान्त सदाश्रय होनेसे जड-चेतनात्मक जगत्के भक्ति-भाजन हैं। ऐसे अविकल गम्भीर रूप-रसके मधु-सिन्धु होनेके कारण श्रीकृष्ण भक्ति-रसके एकान्त आलम्बन सिद्ध होते हैं—वह भी विविधरसात्मक, उल्लेखालंकार-भोग्य एवं अनन्वयालंकार-प्राण।

श्रीव्यासजीने श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण-रूपकी झाँकी इस प्रकार करायी है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः[3] ॥
(१०।४३।१७)

यही हेतु है कि भगवान् श्रीकृष्णका भक्ति-साहित्यमें तुल्य स्थान है; प्रत्युत यह कहना भी समुचित है कि—

(अ) भक्ति-साहित्यमें श्रीकृष्णका निराला स्थान है।

(आ) भक्ति-साहित्यमें श्रीकृष्ण प्रेम-रसके मूलरूप हैं।

(इ) श्रीकृष्णभक्तिपरक साहित्य वाङ्मयकी एक भिन्न किंतु सरस वस्तु है।

(ई) श्रीकृष्ण-भक्ति-रससे वाङ्मयको बल मिला है, विशेषतः भक्ति-साहित्यको—या यों कहना चाहिये कि साहित्यमें भक्तिरसकी एक अभिनव स्वतन्त्र शाखाका प्राकट्य हुआ है। किंतु इसमें कृष्ण-भक्ति-विषयक रति ही स्थायी भाव है—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ॥
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्[1] ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु २।१।५-६)

श्रीकृष्णभक्तिगत विस्मय-रति किस प्रकार अद्भुत रसमें परिणत हो जाती है, इसपर भक्तोंके उद्गार इस प्रकार हैं—

आत्मोचितविभावाद्यैः स्वाद्यत्वं भक्तचेतसि।
सा विस्मयरतिर्नीताद्भुतभक्तिरसो भवेत् ॥
भक्तः सर्वविधोऽप्यत्र घटते विस्मयाश्रयः।
लोकोत्तरक्रियाहेतुर्विषयस्तत्र केशवः ॥
तस्य चेष्टाविशेषाद्यास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः।
क्रियास्तु नेत्रविस्तारस्तम्भाश्रुपुलकादयः[2] ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु ४।१।१—२)

इसी तथ्यको भक्ति-सूत्रमें इस प्रकार भी समझाया गया है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। (ना० भ० सू० २)

'भगवान्‌में सर्वोपरि अनुरागका नाम ही भक्ति है।'

अमृतस्वरूपा च। (ना० भ० सू० ३)

---

१. श्रीकृष्ण! आप प्रत्येक दृष्टिसे महामहिम हैं। कुल, शील-स्वभाव, सौन्दर्य, विद्या, रमणी युवावस्था, धन-धाम—सभीमें आप अनन्वयालंकारके विषय हैं। मनुष्यमात्र आपके दर्शनोंसे आत्मशान्तिका अनुभव करते हैं। ऐसी दशामें कौन ऐसी कुलवती, गुणवती और धैर्यवती कन्या होगी, जो विवाहके योग्य समय आनेपर आपको पतिरूपमें वरण करना न चाहेगी?

२. कमल सिवारोंसे परिव्याप्त होकर भी सुन्दर प्रतीत होता है। हिमांशुका कलङ्क भी उसकी शोभाका ही कारण होता है। इसी तरह गोपवेषमें भी श्रीकृष्ण बहुत अधिक सुन्दर ही प्रतीत होते हैं। सच है, रूपवान् व्यक्तिके लिये कौन-सी वस्तु सौन्दर्यवृद्धिका कारण नहीं बन जाती? अर्थात् उनके लिये सब कुछ शृङ्गाररूप ही होता है।

३. श्रीकृष्णचन्द्र अपने अग्रज बलरामके साथ कंसके सभा-मण्डपमें प्रवेश करते हुए इस प्रकार दिखायी दिये—मल्लोंको वज्र, मनुष्योंको मनुष्यश्रेष्ठ, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्डधर, अपने माता-पिताको पुत्र, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको न्यूनबल एवं निरे बालक, योगियोंको परमतत्त्व और वृष्णिगणको परम देवता।

१. जब स्थायी-भावरूपा कृष्ण-रति विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारीभावोंके द्वारा श्रवणादि इन्द्रियोंके साहाय्यसे भक्त-हृदयमें आकर आस्वादकी वस्तु बनती है, तब शास्त्रीय भाषामें वही भक्तिरस कहलाती है।

२. भक्तोंके हृदय-पटलमें आत्मोचित विभाव आदिके द्वारा विस्मय-रति ही स्वाद्य-वस्तु होकर अद्भुत भक्तिरसमें परिणत हो जाती है। इसमें साहित्यिक दृष्टिसे सर्वविध भक्तोंका हृदय ही उसका आश्रय, अलौकिक क्रियाके हेतु भगवान् श्रीकृष्ण-विषय, उनका चेष्टा-विशेष-समुदाय उद्दीपन तथा नेत्र-विस्तार, स्तम्भ, अश्रु-समूह और पुलकादि क्रियायें विभाव हैं।

'वह अमृतके समान मधुर तथा अमर कर देनेवाली है।'

इसी भक्तितत्त्वका शास्त्रमें इस प्रकार भी वर्णन हुआ है—

आराध्यदेवविषयकं रागत्वमेव भक्तित्वम्* ॥

इस भक्ति-रसका आस्वादन ऐसा लोकोत्तर रसास्वादन है कि भक्त-साधक किसी भी प्रकार इससे विचलित और भ्रमित नहीं हो सकता और न किसी स्वार्थकी ओर आकर्षित ही हो सकता है। ऐसी दशामें वह विश्व-प्रलोभन और विश्वशान्ति-नाशक शास्त्रों और कामोंसे तो सर्वथा असंस्पृष्ट-सा ही रहता है।

ऐसे लोकोत्तर भक्तिरसके सर्वोत्कृष्ट [illegible] भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जिनके विषयमें [illegible] इस प्रकार कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

'भगवान् गोविन्द सर्वेश्वर, परम [illegible] मूर्ति, अनादि, सबके आदि तथा [illegible] कारण हैं।'

भक्तिकी चमत्कारिणी अचिन्त्य शक्ति

(लेखक—श्रीश्रीपालजी जैन, 'विशारद')

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥
(भक्तामरस्तोत्र)

अर्थात् हे जगत्के भूषण, हे प्राणियोंके स्वामी भगवान्! आपके सत्य और महान् गुणोंकी स्तुति करनेवाले मनुष्य आपके ही समान हो जाते हैं। परंतु इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है; क्योंकि जो कोई स्वामी अपने आश्रित पुरुषको विभूतिके द्वारा अपने समान नहीं बना लेता, उसके स्वामीपनसे क्या लाभ?

मानव-हृदयमें भक्तिका प्रादुर्भाव 'दासोऽहम्' की भावनासे होता है। 'मैं तेरा दास हूँ' ऐसी भावनासे भक्त भगवान्की भक्ति करता है और वह अपनेको भगवान्का एक विनीत, विश्वासी सेवक समझता है। साथ ही वह भगवान्से अपने दुःख-संकट दूर करनेकी भी प्रार्थना करता है। यह भक्तिका प्रसव-काल होता है।

इसके पश्चात् उसकी दृष्टि भगवान्का गुण-गान करते हुए, चिन्तन करते हुए अपने आत्माकी ओर जाती है। तब वह अपने आत्माके और भगवान्के द्रव्यगुण-पर्यायकी समानता करता है। तब उसे थोड़ा ही अन्तर प्रतीत होता है। उसे लगता है कि 'जो अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यादि) गुण भगवान्में हैं, वे ही गुण मेरे आत्मामें हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि भगवान् कर्मोंसे रहित हैं, जिससे उनके [illegible] प्रकट हैं। और वे ही मेरे गुण [illegible] हैं, इस कारण मैं [illegible] यह 'सोऽहम्'की भावना है—[illegible] है, वही मैं हूँ। यह [illegible] बाद भक्त, विषय भोगोंसे राग और [illegible] मोह छोड़ एकान्त स्थानमें [illegible] है। [illegible] शारीरिक कष्टों एवं उपसर्गोंसे [illegible] भ्रष्ट नहीं होता, इस प्रकार उसके [illegible] कर्मोंका झड़ना और नवीन कर्मोंका [illegible] जिससे राग-द्वेषादि विकार नहीं [illegible] उसका आत्मा यह निश्चय करता है कि [illegible] हूँ' और वह वास्तवमें पूर्ण शुद्ध [illegible] भावना कोरी भावना नहीं होती [illegible] ही बन जाता है। यह भक्तिका [illegible] उसकी सर्वोच्च सीढ़ी है।

एक भक्त भगवान्की भक्ति [illegible] बन जाता है। इसीलिये कहा गया है कि [illegible] जो अपने भक्तको [illegible] है, जो भगवान्की भक्तिके द्वारा [illegible]।

भगवान् वीतराग हैं। वे [illegible] प्रसन्न नहीं होते। फिर भी [illegible] स्वीकार किया है। [illegible] भगवान् और अपने [illegible] भिन्न-भिन्न और कभी [illegible] है

---

* आराध्यदेव-विषयक राग ही भक्तिका स्वरूप है।

वह अपने वास्तविक गुणको भूल जाता है और भूल जाता है भगवान्‌के वीतरागत्व गुणको। भक्तिमें वह ऐसा तन्मय हो जाता है कि उसे अपने और भगवान्‌के सिवा कुछ भी दिखायी नहीं देता; यह तन्मयता ही 'दासोऽहम्' रूप भक्ति है।

एक ढोंगी भक्तकी भक्ति और सच्चे भक्तकी भक्तिमें बड़ा अन्तर है।

ढोंगीकी भक्ति-भावना—

शास्त्र सुने, मालाएँ फेरीं, प्रतिदिन बना पुजारी।
किंतु रहा जैसा-का-तैसा, हुआ न मन अधिकारी॥
साठ सालकी उम्र हो चली, फिर भी ज्ञान न जागा।
सच तो यह होगा कह देना, जीवन रहा अभागा॥
नहा लिया, हो गया शुद्ध, आ खड़ा हुआ प्रभु-पद में।
त्याग न सका वासना मनकी, डूबा गहरे मद में॥
इधर धूप-खेवण करता, मन उधर सुलगता जाता।
भाव-शून्य केवल शरीर पूजाका पुण्य कमाता॥
कहता—फिर पूजा है निष्फल, संकट नहीं मिटाती।
वही मसखत, वही गरीबी, सुख न सामने लाती॥
बढ़ा न पैसा भी इतना, जो सबपर रोब जमाता।
विद्युत्-वायु फेनसे लेता, या मोटर दौड़ाता॥
नहीं समझता, यह पूजा क्या, जिसमें चित चंचल है।
वह्-चैटियोंपर कुदृष्टि, या फिर कोई छल-बल है॥

सच्चे भक्तोंकी भक्ति-भावना—

(१) महाकवि धनञ्जय भगवत्-पूजामें संलग्न थे। उसी समय एक व्यक्ति यह कहता हुआ आया कि 'आपके पुत्रको सर्पने डँस लिया है, आप चलिये।' उस समय धनंजयका क्या उत्तर था—

सुनता है, सुनकर कहता है—मैं ही क्या कर लूँगा।
पूजन छोड़ भगूँ, आखिर जीवन तो डाल न दूँगा॥

समाचारवाहक उत्तर सुनकर लौट गया और उसने कवि-पत्नीसे कहा कि वे तो भगवत्-पूजामें संलग्न हैं। इतना सुन पत्नी दुःख और शोकसे संतप्त होकर मन्दिरमें गयी।

× × × ×

कहती है—कठोर हो, क्या पूजा अब भी भाती है॥
अरे छोड़ चल दो, पूजा को फिर भी समय मिलेगा।
चला गया बच्चा तो दुख दिलसे कभी न निकलेगा॥
ऐसी भी पूजा क्या, जो बच्चेका दर्द भुलाती।
जल्दी चलो, शोकसे मेरी धड़क रही है छाती॥

इतनेपर भी धनंजय जब पूजासे न उठे, तब किंकर्तव्य-विमूढ पत्नी अचेत पुत्रके शरीरको मन्दिरमें ही ले आयी। फिर भी उनकी भक्तिमें कोई बाधा न आयी। तल्लीनता देखकर सब नर-नारी चकित थे। तब उन्होंने विषापहारस्तोत्रकी रचना की, जिसका स्पष्ट प्रभाव हुआ—

विषापहारं मणिमौषधानि
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति
पर्यायनामानि तवैव तानि॥

अर्थात् 'शरीरका विष उतारनेके लिये लोग मणि, मन्त्र, तन्त्र, औषध एवं रसायनके लिये भागते फिरते हैं, किंतु आपका स्मरण नहीं करते। उन्हें यह ज्ञात नहीं कि ये सब आपके ही नाम हैं, विष उतारनेवाले तो आप ही हैं।' फिर क्या—

उठा कुमार नींदसे, सोकर ही जैसे जागा हो।
जीवनकी दुंदुभी श्रवणकर महाकाल भागा हो॥

धनंजय फिर भी भगवान्‌की स्तुतिमें लीन रहे। सभी उपस्थित लोगोंने कहा—

कहने लगे धन्य पूजा और धन्य अनन्य पुजारी।
श्रद्धा और भक्तिमय पूजा है अतीव सुखकारी॥

(२) मानतुङ्ग आचार्य बंदीगृहमें थे, कड़ा पहरा था। उस समय भक्तिमें तल्लीन होकर उन्होंने 'भक्तामर-स्तोत्र' की रचना कर डाली। स्तोत्रका ४६ वाँ श्लोक पढ़ रहे थे—

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति॥

अर्थात् 'किसी मनुष्यको पैरसे गर्दनतक जंजीरोंसे बाँधकर बंदीगृहमें डाल दिया गया हो, मोटी लोहकी छड़ोंसे उसकी जाँघें छिल गयी हों, तब भी आपके पवित्र नामका स्मरण करते ही उसके सारे बन्धन टूट जाते हैं।' बस, अचानक बंदी-गृहके ताले खुल गये एवं बेड़ियाँ तथा जंजीरें चूर-चूर हो गयीं। प्रहरीगण अचेत हो गये और आचार्यजी मुक्त थे।

यह है भक्तिकी बानगी और उसकी अचिन्त्य शक्ति। उसका चमत्कार अवर्णनीय है।

भक्ति और वर्णाश्रम-धर्म

(लेखक—पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम्॥*

(श्रीमद्भा० ७। ११। २)

छप्पय

बरनाश्रम शुभ धरम करम निज निज बतरावैं।
जो जन पालन करैं यथोचित लोकनि पावैं॥
क्रम क्रम तें लहि उच्च जनम पुनि विप्र कहावैं।
करम न्यास करि ब्रह्मलोक द्विज कूँ पहुँचावें॥
भक्ति भाव तैं निज बरन आस्रम धरमनि पालि कैं।
सो तहँ पावैं परमपद, प्रभु पद मन कूँ घालि कैं॥

समाजको, लोकको जो धारण करे, समाज जिससे स्थिर रह सके, उसीको धर्म कहते हैं। ऋषियोंने विविध भाँतिके धर्म बताये हैं; उनमें वर्णाश्रम-धर्म समाजके लिये ऐसा परिपूर्ण है कि इसमें सभीके लिये स्थान है, सभी इस धर्मका पालन करके अपने इष्टको प्राप्त कर सकते हैं, सभी इसकी छत्रछायामें पनप सकते हैं, सभी क्रमशः उन्नतिके शिखरपर पहुँच सकते हैं। आज जो साम्यवाद, समाजवाद तथा अन्य नाना प्रकारके वाद जगत्में प्रचलित हैं, जिनका लक्ष्य अन्न-वस्त्र एवं बाहरी समतातक ही सीमित है, वे वर्णाश्रम-धर्मके उच्च लक्ष्यतक कभी नहीं पहुँच सकते। वर्णाश्रम धर्मका वर्णन करते समय भगवान् वेदव्यासने यह बात स्पष्ट कह दी है—'प्राणियोंका अधिकार केवलमात्र उतने ही द्रव्यपर है, जितनेसे उसका पेट भर जाय। जो इससे अधिक अपना समझता है, वह चोर है, डाकू है; उसे दण्ड मिलना चाहिये†।' अब बताइये, इससे बढ़कर साम्यवाद क्या हो सकता है।

आजकल लोग कहते हैं—हम विषमता मिटा देंगे, सबको समान कर देंगे, सम्पत्ति व्यक्तिगत न होकर सम्पूर्ण राष्ट्रकी होगी। भोजन-वस्त्रका अधिकार सबको एक-सा होगा।' ये बातें सुननेमें बड़ी मधुर और आकर्षक लगती हैं, किंतु व्यवहारमें उनको [illegible] स्वभाव, [illegible] प्रकृति तथा अन्यान्य सभी बातें [illegible] दूसरेसे मिलता नहीं, [illegible] भी किसीके किसीसे मिलते नहीं, [illegible] सबकी सबसे भिन्न है, [illegible] सबको समान कैसे कर देंगे। [illegible] सबकी बात [illegible] भोजन, सबकी [illegible] तब आप सबकी समान [illegible] थोड़ा भेदभाव [illegible] रहेगा। किंतु [illegible] यहाँ [illegible] सदा त्यागी [illegible] एवं पूजनीय [illegible]

वर्णाश्रम-धर्ममें [illegible] धर्म है तथा [illegible] आश्रम हैं। ब्राह्मण [illegible] सर्वश्रेष्ठ है। [illegible] धर्म [illegible] त्यागकी मात्रा [illegible] निम्न माने गये हैं। [illegible] ब्राह्मण चारों [illegible] संन्यासका अधिकारी [illegible] दो ही आश्रम [illegible] एकलता। इस प्रकार [illegible] परमपदकी प्राप्ति [illegible] वर्णाश्रम [illegible] मुख्य [illegible] को [illegible] [illegible] जिनके [illegible]

* धर्मराज युधिष्ठिर नारदजीसे कहते हैं—'भगवन्! अब मैं वर्णों एवं आश्रमोंके सदाचारके साथ मानवमात्रका सनातन धर्म सुनना चाहता हूँ, जिसके द्वारा मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेते हैं।'

† यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

* [illegible]
[illegible]
[illegible]

हैं; वे अपने कर्तव्यका पालन करें और अपने वर्णके लिये बतायी हुई वृत्तिद्वारा ही अपनी आजीविका चलायें। उदाहरणके लिये ब्राह्मणका कर्तव्य वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना है; अतः वह अपनी आजीविका भी वेद पढ़ाकर, यज्ञ कराकर तथा दान लेकर कर सकता है। इस प्रकार सब मिलाकर उसके छः कर्म हैं। क्षत्रिय और वैश्य वेद पढ़ें, दान दें, यज्ञ करें; किंतु वे पढ़ा नहीं सकते, यज्ञ नहीं करा सकते, न दान ही ले सकते हैं। क्षत्रिय अपनी आजीविका प्रजा-पालन करके दण्ड और करों-द्वारा कर सकता है, वैश्य कृषि-गोरक्षा तथा वाणिज्यद्वारा।

ब्राह्मणोंमें भी दान लेना उत्तम नहीं माना गया है। उनमें जो जितना ही त्यागी होगा, वह उतना ही श्रेष्ठ माना जायगा। सबसे श्रेष्ठ तो वह है, जो पक्षियोंकी भाँति खेतोंमें तथा बाजारमें पड़े अन्नोंके दानोंको नित्य बीनकर उन्हींसे निर्वाह करे। मध्यम वह है, जो नित्य अपने निर्वाह योग्य ही अन्न या फल वृक्षोंसे या गृहस्थियोंसे माँग लाये, एक दाना भी कलके लिये न रखे। अधम वृत्तिवाला वह है, जो बिना माँगे जो भी कुछ कोई दे जाय, अनायास प्राप्त हो जाय, उसीपर निर्वाह करता है; और निकृष्ट वृत्तिवाला वह है, जो यज्ञ, अध्ययन तथा दानद्वारा अपना निर्वाह करता है। इस प्रकार जिनका सम्पूर्ण जीवन त्याग और तपोमय है, उन्हें समाजमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा ऐसे त्यागी तपस्वियोंसे थर-थर काँपते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंकी 'द्विज' संज्ञा है, क्योंकि इन तीनोंका उपनयन-संस्कार होता है। एक जन्म तो माताके उदरसे होता है। दूसरा जन्म गुरुकुलमें उपनयन-संस्कार करानेसे होता है। द्विज बालक जब पढ़ने योग्य हो जायँ, तब वे घर छोड़कर गुरुकुलमें जायँ, वहाँ गुरु, अग्नि, अतिथि तथा सूर्यकी उपासना करते हुए वेदाध्ययन करें। वहाँ भी तीनों वर्णोंके ब्रह्मचारियोंके पृथक्-पृथक् नियम हैं, उनके वर्णके अनुरूप ही उन्हें शिक्षा दी जाती थी। शूद्रबालक अपने घर ही रहकर अपने माता-पितासे अपनी कुलागत वृत्तिको सीख ले। अध्ययन समाप्त करके अपने वर्णकी कन्याके साथ विवाह करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे। शूद्र धर्मपूर्वक कर्तव्य समझकर गृहस्थीमें ही रहकर यावत्-जीवन तीनों वर्णोंकी सेवा करता रहे। केवल सेवाके पुण्यसे ही वह मरकर स्वर्गका अधिकारी बन जायगा। जब उसके पुण्य थोड़े शेष रह जायँगे तब उसका जन्म वैश्यकुलमें होगा। वैश्यको भी घर छोड़कर वनमें जाकर घोर तप करनेका अधिकार नहीं। वह जीवनपर्यन्त गृहस्थीमें ही रहकर कर्तव्यबुद्धिसे स्वधर्मका यदि पालन करता रहेगा तो उस पुण्यका स्वर्गमें फल भोगकर अगले जन्ममें क्षत्रियके घर उत्पन्न होगा। क्षत्रिय ब्रह्मचर्यके पश्चात् गृहस्थ होकर प्रजापालनरूपी धर्मको करे। जब वृद्धावस्था देखे, तब प्रजापालनका कार्य पुत्रको सौंपकर स्त्रीको साथ ले या स्त्रीको पुत्रोंपर छोड़कर अकेला ही वनमें जाकर घोर तप करे और कन्द-मूल-फलका आहार करता हुआ इस शरीरको त्याग दे तो उसे तपोलोककी प्राप्ति होती है। वानप्रस्थ चाहे क्षत्रिय हो या ब्राह्मण, जो भी तपस्या करते-करते मरेगा, उसे तपोलोककी प्राप्ति होगी। यदि उसका उत्कट त्याग और तप है और वह ब्राह्मण है तो उसे पुनः पृथ्वीपर आना नहीं होगा। तपोलोकसे ही सत्यलोकको चला जायगा और वहाँ भी अपने ज्ञानको पूर्ण करके ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जायगा। जिसका ज्ञान अपूर्ण है, वह तपोलोकसे पृथ्वीपर लौटकर ब्राह्मणकुलमें जन्म लेगा और फिर सन्यास-धर्मका विधिवत् पालन करके ब्रह्मलोक जायगा और वहाँ ज्ञान पूर्ण करके मुक्त हो जायगा। वर्ण-धर्मका और आश्रम-धर्मका यही विकासक्रम है। इसमें स्वधर्मका पालन ही मुख्य ध्येय है; यह धर्म कर्मपरक है। अपने वर्णके परम्परागत कर्मको कभी नहीं छोड़ना चाहिये, चाहे वह कर्म दोषयुक्त ही क्यों न हो*; क्योंकि अपना वंश-परम्परागत कर्म करते हुए मर जाना भी अच्छा है, दूसरेके धर्मको बिना आपत्तिके कभी अपनाना नहीं चाहिये; क्योंकि परधर्म भयावह होता है।†

यहाँ 'धर्म' शब्दका वंश-परम्परागत कार्यसे ही अभिप्राय है, तभी तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको युद्ध करनेके लिये बारंबार प्रेरणा देते हैं। वे कहते हैं—भाई! तुम्हारा जन्म क्षत्रिय-कुलमें हुआ है, क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर कल्याण-मार्ग दूसरा है ही नहीं। मान लो, तुम युद्ध करते-करते मर गये तो तुम्हें निश्चित ही स्वर्गकी प्राप्ति होगी; यदि जीत गये तो सम्पूर्ण पृथ्वीका आधिपत्य मिलेगा। तुम्हारे तो दोनों हाथोंमें लड्डू हैं, भैया!‡

यह कितनी अच्छी व्यवस्था है कि मनुष्य अपने कुलागत कर्मको कभी न छोड़े। तेलीका लड़का है तो तेल

---

* सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

(गीता १८। ४८)

† स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। (गीता ३। ३५)

‡ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

(गीता २। ३७)

फेरना ही उसका धर्म है; धोबीका लड़का है तो उसे कपड़े ही धोने चाहिये; चमार है तो उसे जूते ही बनाने चाहिये; बुनकर है तो उसे कपड़े ही बुनते रहना चाहिये। यदि आपत्ति-विपत्तिमें अपना काम छोड़ना भी पड़े तो आपत्ति हट जानेपर उसे फिर अपना ही काम सम्हाल लेना चाहिये। सदाके लिये दूसरेकी वृत्ति—अन्य जातिका पेशा कभी ग्रहण न करे। हाँ, तीन काम मनुष्य छोड़ सकता है। यदि अपने पूर्वज प्राणिवध करते रहे हों या स्त्रीका वेश बनाकर नाटक करते रहे हों अथवा चोरी-डाका डालते रहे हों तो इन कामोंको सर्वथा छोड़ देनेमें भी कोई दोष नहीं है। दूसरे परम्परागत कर्मोंको आग्रहपूर्वक करते रहना चाहिये। यही वर्णाश्रम-धर्मका मर्म है। पाण्डवोंने राज्यके लिये युद्ध नहीं किया था। उन्होंने तो अपने क्षात्र धर्मकी रक्षाके लिये ही युद्ध किया था। धर्मराज बार-बार कहते थे—हमें धन नहीं चाहिये, ऐश्वर्य नहीं चाहिये; अवश्य ही हमारे धर्मका लोप नहीं होना चाहिये। समर्थ होनेपर भी बिना आपत्ति विपत्तिके जो क्षत्रिय प्रजा-पालनरूप धर्मको नहीं करता, उसे धर्म-त्यागका पाप लगता है। हाँ, विपत्तिकालमें वह वैश्यका व्यापार आदि कर सकता है या ब्राह्मण-वेषमें घूम सकता है; किंतु कभी भी, कैसी भी विपत्तिमें शूद्रवृत्ति ग्रहण नहीं कर सकता*। इसीलिये लाक्षागृहसे भागकर पाण्डव ब्राह्मण-वेषमें ही घूमे थे और भिक्षापर ही निर्वाह करते थे। उस समय उनपर विपत्ति आयी हुई थी, इसलिये उन्हें भिक्षारूप ब्राह्मणवृत्ति स्वीकार करनेमें दोष नहीं लगा। यदि बिना विपत्तिके वे भिक्षापर निर्वाह करते तो उन्हें दोष लगता, वे पापके भागी बनते। पाण्डव नहीं चाहते थे कि हम युद्ध करें, समरमें अपने सगे-सम्बन्धियोंका ही संहार करें; इसीलिये धर्मराजने दुर्योधनके अधीन रहना भी स्वीकार कर लिया था। पाँच भाइयोंके लिये केवल पाँच गाँव लेकर ही वे संतोष कर लेना चाहते थे।

पहले एक गाँवके भूपतिको भी राजा ही कहते थे। 'राजा' शब्द क्षत्रियका ही वाचक था। कुछ-न-कुछ भूमिका स्वामी उसे अवश्य होना चाहिये। दस-बीस ही क्यों न हों, उसके प्रजाजन अवश्य होने चाहिये। क्षत्रिय जहाँ भी रहे, भूपति—नरपति बनकर ही रहे। भूमिका स्वामित्व क्षत्रियोंका वर्णाश्रम-व्यवस्थामें जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता था। इसी प्रकार कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्य ही कर सकते थे। शूद्र इन [illegible] सम्पूर्ण भरण-पोषण [illegible] था। स्मृतियोंमें भी [illegible] धर्मपत्नी, बच्चे, वृद्ध [illegible] भोजन करना चाहिये। [illegible] अन्न नष्ट जाते थे। यदि [illegible] उनके स्वामीको पाप लगता है। [illegible] भारतके गाँवोंमें कितनी सुन्दर [illegible] सच्ची और दृढ़ [illegible]

गाँवोंमें नहीं [illegible] भूमिके स्वामी [illegible] थे। पण्डित पुरोहित [illegible] और बदलेमें उन्हें [illegible] उनका काम [illegible] व्यापार करते थे। [illegible] है, यह वर्षभर किया हुआ [illegible] नाई उनके बाल [illegible] उनका काम किया हुआ [illegible] सब लोग भी काम करेंगे। [illegible] खेतपर पहुँच जायँगे, [illegible] एक-एक बोझा [illegible] पानी लेकर पहुँचेगा, [illegible] समय कृषकके सामने [illegible] उपजका कुछ भाग [illegible] भी कृषक है। ऐसी [illegible] जोते-बोये भी [illegible] हो गया। [illegible] देना कृषक अपना धर्म मानता है।

सब लोगोंमें परस्पर [illegible] चमार, कुम्हार, धोबी, [illegible] नाऊ, [illegible] [illegible] पुरुषोंमें भी [illegible] देते थे, भाई [illegible] इन [illegible]

---

* चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथंचन। (श्रीमद्भा० ११। १७। ४८)

गये। केवल वह इतनी छूती नहीं थी। गाँवके लोग कहीं विवाह करने जाते और उस गाँवमें अपने गाँवकी कोई भंगी-चमारकी भी लड़की होती तो स्वयं उसके घर जाकर लड़कीको नेग देते थे। यह कोई पुरानी बात नहीं। बीस-पचीस वर्ष पहिले तो खूब थी, अब भी गाँवोंमें है; किंतु अब उतना ममत्व नहीं रह गया।

वर्णाश्रम-धर्ममें ऊँच-नीचपन कोई घृणाकी दृष्टिसे नहीं था। पूरा वर्णाश्रम एक शरीरकी भाँति है। शरीरमें मुख, हाथ, पैर, शिश्न, गुदा आदि सभी अङ्ग हैं। हैं सारे अङ्ग शरीरके ही। किंतु कुछ मुखमें दिये जाते हैं, कुछ भूमिपर चलते हैं, कुछको स्पर्श करनेपर मिट्टी लगाकर जलसे हाथ धोने पड़ते हैं। चार वर्णोंके अतिरिक्त एक पञ्चम वर्ण भी होता था। उसमें दो भाँतिके लोग होते थे। एक तो वे शूद्र, जो सेवा छोड़कर चोरी करने लगे थे, ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी लड़कियोंको उठा ले जाते थे अथवा ब्रह्महत्या आदि दूसरे जघन्य पाप करके भी उनका प्रायश्चित्त नहीं करते थे। समाज उन्हें द्वेष दृष्टिसे देखता था। उनकी संतानोंको ग्रामसे बाहर रखते, उनसे फाँसी दिलाना, मल-मूत्र उठवाना या ऐसे ही अन्य छोटे कार्य कराये जाते थे। उनका स्पर्श वर्जित था। वे वर्णाश्रमसे बहिष्कृत समझे जाते थे। फिर भी थे वे समाजके एक अङ्ग ही। समाजका उनसे काम चलता था। इसलिये उन्हें पञ्चम वर्ण या अतिशूद्र कहते थे। दूसरे पञ्चमवर्णमें वे भी माने जाते थे, जो वनोंमें रहते थे, जिनके वर्णोचित संस्कार नहीं होते थे। जंगली जातियोंमें निषाद, हूण, शबर, किरात, आन्ध्र, पुलिन्द, आभीर, यवन आदि अनेक वर्गोंके लोग होते थे। इनके घर-द्वार नहीं होता था। ये अरण्योंमें दल बनाकर घूमते थे।

वर्णाश्रमी जब किसीको दण्ड देते थे, तब उसे वेद-बहिष्कृत कर देते थे। अर्थात् वर्णाश्रम-धर्मसे निकाल देते थे। महाराज सगरने अनेक जातिके क्षत्रियोंको वेद-बहिष्कृत कर दिया, उन्हें क्षत्रियत्वसे च्युत कर दिया। वे सब दूसरे देशोंमें चले गये और इन दलवालोंमें मिल गये। भगवान् श्रीकृष्णके पुत्रोंमेंसे भी कुछ म्लेच्छोंके राजा हुए। इस प्रकार ये लोग उन जंगली जातियोंमें जाकर राजा बन गये। इनमें क्षत्रियोंके संस्कार, बल-पौरुष, धर्म-भावना तो थी ही; केवल बड़े लोगोंके कोपके भाजन बनकर ये वर्णाश्रम-धर्मसे निकाले गये थे। वहाँ जाकर इन्होंने विवाह तो उन जंगली जातियोंमें ही किये; क्योंकि वर्णाश्रमी उन्हें अपनी लड़की देनेको तैयार नहीं थे। किंतु संस्कार ये अपने क्षत्रियोचित कराते रहे। पुरोहित भी मिल ही गये। राज्य भी हो गया। शनैः-शनैः ये फिर वर्णाश्रम-धर्ममें मिल गये। राजगौड़ आदि ऐसे ही क्षत्रिय हैं। आभीर और निषादोंको जो पञ्चम कहा गया है, वह वनमें रहनेके कारण। वर्णाश्रम-धर्मका पालन आसेतु-हिमालय—कन्याकुमारीसे कश्मीरतक ही होता है। समुद्रपार जानेसे द्विजातियोंको पुनः संस्कार कराने पड़ते थे। आज जो उन्नत राष्ट्र माने जाते हैं, उनका इतिहास अधिक-से-अधिक दो-ढाई सहस्र वर्षोंका ही है। भारतवर्ष और चीनको छोड़कर शेष सभी देशोंके लोग या तो निषाद, मछलियोंपर निर्वाह करनेवाले मछुए या वनोंमें पशुओंको साथ लेकर विचरनेवाले आभीर थे। इन सबके साथ ब्राह्मण-पुरोहित भी रहते थे, जो प्रायः सङ्गदोषसे इन्हींके-जैसे आचरणवाले बन जाते तथा इन्हींकी लड़कियोंसे विवाह कर लेते थे। ये सब-के-सब भारतसे ही जाकर अन्य द्वीप-द्वीपान्तरोंमें बस गये। ये जो बिना घर-द्वारके—खानाबदोशोंके कबीले घूमते हैं, इनका मूलस्थान भारत ही है। कहनेका अभिप्राय इतना ही है। महाभारतसे पूर्व दो ही प्रकारके लोग थे, वर्णाश्रमी आर्य अथवा वर्णाश्रमसे रहित निषाद या आभीर आदि अनार्य।

विशुद्ध वर्णाश्रम-धर्ममें परमपदका अधिकारी ब्राह्मणको ही माना गया है। संन्यास-आश्रमका अधिकारी एकमात्र ब्राह्मणको ही बताया गया है।* अन्य वर्णोंके लोग जो संन्यास ग्रहण करते थे, वे सांख्य (ज्ञानमार्ग) के अनुयायी होते थे या अलिङ्ग-संन्यासी। संन्यास तो केवल ब्राह्मण ही ग्रहण कर सकता है। इसीलिये लोग वर्णाश्रम-धर्मको ब्राह्मणधर्म भी कहते हैं। पीछे बौद्धों आदिने इस बातका खण्डन किया कि केवल ब्राह्मण ही नहीं, सभी मोक्षके अधिकारी हैं। इसीलिये उन्होंने वर्णाश्रम-धर्मका भी खण्डन किया।

भक्तिमार्ग अथवा वैष्णव-धर्म वर्णाश्रम-धर्मका खण्डन नहीं करता, प्रत्युत समर्थन ही करता है; किंतु वह इस बातको नहीं मानता कि केवल ब्राह्मण संन्यासी ही परमपदका अधिकारी है। भक्तिमार्गका सिद्धान्त है—तुम किसी भी

---

* आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्। (मनु० ६।३८)
ब्राह्मणाः प्रव्रजन्तीति श्रुतेः। (मिताक्षरा ३।४।५७)
चीर्णे वेदव्रते विद्वान् ब्राह्मणो मोक्षमाश्रयेत् (आङ्गिरसस्मृति, पू०)
एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः। (मनु० ६।९७)

वर्णके हो, किसी भी आश्रममें क्यों न हो—जहाँ भी हो, वहीं भगवद्भक्ति करते हुए निष्कामभावसे प्रभुकी सेवा समझकर वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए कालक्षेप करो तो तुम्हें भगवल्लोककी—परमपदकी प्राप्ति हो जायगी। गृहस्थाश्रमका अधिकार चारों वर्णोंको है। भक्तिमार्गके आचार्य कहते हैं—स्वधर्मका पालन करते हुए जो भक्ति-भावपूर्वक प्रभुकी आराधना करता है, वह गृहस्थमें ही रहकर परमपदका अधिकारी बन जाता है*।

आप ब्रह्मचारी हैं। आपको कोई आवश्यकता नहीं कि आप ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण—इन तीनों ऋणोंसे उऋण होनेके लिये गृहस्थी बनें-ही-बनें। वैसे वर्णाश्रम-धर्म तो कहता है कि जो इन तीनों ऋणोंको बिना चुकाये, बिना सन्तानोत्पत्तिके मरता है, उसकी सद्गति नहीं होती। किंतु भक्तिमार्गवाले स्पष्ट कहते हैं—'जो सर्वात्मभावसे उन शरण्य प्रभुकी शरणमें आ गया है, वह देवता, पितर तथा ऋषियों-मनुष्योंका न तो ऋणी ही रहता है न उनका किंकर बनके उनके लिये कर्म करनेको ही विवश है; भगवान्‌की भक्ति करनेसे ही सब ऋण अपने आप चुक जाते हैं†।' यदि आप गृहस्थ हैं तो गृहस्थीमें ही रहकर भगवान्‌की भक्ति कीजिये। वानप्रस्थ हैं तो वनमें ही बसते हुए कर्तव्य-बुद्धिसे हरिसेवा समझकर स्वधर्मपालन कीजिये; आप तपोलोक जायँगे भी तो लौटकर नहीं आयेंगे, आप सीधे भगवद्धामको चले जायँगे। यदि आप संन्यासी हैं तो भक्ति-भावद्वारा भगवान्‌को पा जायँगे। आप ब्राह्मण हैं तो पूछना ही क्या है। बड़े भाग्यसे उत्तम कुलमें जन्म हुआ है; किसी भी आश्रममें रहकर भगवद्-भक्ति कीजिये, आप बिना सन्यास लिये ही भगवल्लोकको जायँगे, परमपदके अधिकारी बनेंगे, यद्यपि वैष्णव-सम्प्रदायमें संन्यासका निषेध नहीं है। वैष्णवलोग भी त्रिदण्ड धारण करके संन्यास लेते हैं। भगवान् रामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्यचरणोंने भी सन्यास-दीक्षा ली थी। महाप्रभु चैतन्यदेवने भी अपने जीवनका उत्तरकाल संन्यासीके रूपमें ही बिताया था। भक्तिमार्गमें भी दण्ड लेनेका अधिकार ब्राह्मणको ही है*; किंतु यह आवश्यक नहीं है कि सन्याससे ही परमपद प्राप्त हो। यदि भक्ति नहीं है तो आप चाहे ब्राह्मण हों, देवता हों, ऋषि हों, विद्वान् हों अथवा बहुज्ञ हों, भगवान् आपसे प्रसन्न नहीं हो सकते। इसके विपरीत यदि भक्ति है तो आप चाहे क्षत्रिय हों, वैश्य हों, शूद्र या अन्त्यज ही क्यों न हों, आप निर्मल भक्तिके प्रभावसे परमपदके अधिकारी बन सकते हैं; भक्तिके बिना अन्य सब कुछ विडम्बनामात्र है†।

भगवान्‌के भक्तका यदि किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस तथा अन्य पाप योनिवाले भी आश्रय ले लें तो वे भी विशुद्ध बन जाते हैं‡। भक्ति-मार्गमें प्रपन्नतापर सबसे अधिक बल दिया गया है। सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्र ही नहीं, कोई भी प्राणी भगवान्‌की शरणमें चला जाय, अन्तःकरणसे कह भर दे—'हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारी शरणमें हूँ' तो वह सबसे निर्भय बन जाता है—उसे अभय पद, मोक्ष या भगवल्लोककी प्राप्ति हो जाती है×।

भक्तिमार्गमें वर्णसे नहीं अपितु भगवद्भक्तिसे श्रेष्ठता है। यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्‌की भक्तिसे रहित है+। यदि ब्राह्मणोचित बारह गुणोंसे संयुक्त विप्र भी है, किंतु भगवद्भक्तिसे हीन है तो उस ब्राह्मणसे भगवान्‌का भक्त श्वपच कहीं श्रेष्ठ है। चारों वेदोंका ज्ञाता ब्राह्मण भी यदि वह भगवान्‌का भक्त नहीं तो वह

---

* यज्ञैस्त्वैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः ।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ् नरः ॥
(श्रीमद्भा० ७।१५।६७)

† देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

* मुख्यजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।
राजन्यवैश्ययोर्नेति दत्तात्रेयमुनेर्वचः ॥ (बौधायन)

† नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥
(श्रीमद्भा० ७।७।५१-५२)

‡ किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(श्रीमद्भा० २।४।१८)

× सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वाल्मीकीय रामायण ६।१८।३३)

+ न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः ।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥
(महाभारत)

भगवान्‌को प्रिय नहीं; भगवद्‌भक्त श्वपच भी है, तो उस ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है।

इस प्रकार भक्ति-मार्गके आचार्योंने वर्णाश्रम-धर्मका खण्डन न करते हुए, प्रत्युत उसे मान्यता देते हुए भी भगवद्‌भक्तिको ही सर्वोपरि माना है। अन्य युगोंमें वर्णाश्रम-धर्मकी ही प्रधानता रहती है, किंतु इस कलिकालमें तो भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भक्तिमें भी भगवन्नाम-कीर्तनकी प्रधानता है। कोई श्वपच—चाण्डाल ही क्यों न हो, यदि उसकी जिह्वापर भगवान्‌का नाम नाचता रहता है, वह सदा भगवन्नामोंका उच्चारण करता रहता है तो वह सबसे श्रेष्ठ है। भगवान् कपिलदेवकी माता देवहूतिजी कहती हैं—उसने सभी यज्ञ, तप तथा उत्तम कार्य इस भगवन्नामके गानसे ही कर लिये* ।

इस कलिकालमें जो जहाँ है, जिस वर्णमें है, जिस आश्रममें है, वहीं रहकर शुद्ध सदाचारपूर्वक जीवन बिताते हुए भगवन्नामोंका निरन्तर स्मरण करता रहता है, उसे जो गति प्राप्त होती है, वह सबसे श्रेष्ठ योगियोंको भी दुर्लभ है। इस भक्तिमार्गमें देशका, कालका, वर्णका, जातिका, आश्रमका तथा अन्य किसी बातका नियम नहीं है। मनुष्यको केवल इतना ही चाहिये कि वह भगवन्नामका निरन्तर गान करे और भागवती कथाओंका श्रवण करे। इसीसे अविच्छिन्न भगवत्-स्मृति रह सकती है। यही जीवका चरम लक्ष्य है। भागवतकारने तो यहाँतक कहा है—वर्णाश्रम-धर्मके पालन, तप और शास्त्र-श्रवणादिमें जो महान् परिश्रम किया जाता है, उसका फल इतना ही है—यशकी प्राप्ति, श्रीकी प्राप्ति एवं उत्तम लोकोंकी प्राप्ति; किंतु जीवका जो मुख्य लक्ष्य—भगवान् श्रीधरके चरण-कमलोंकी स्मृति है, वह तो भगवान्‌के गुणानुवादोंके श्रवणसे, भगवन्नाम-कीर्तनसे ही होती है † । कलिकालके लिये यही सरल, सुगम, सर्वोपयोगी, सुन्दर साधन है; परंतु कलियुगी लोगोंका ऐसा दुर्भाग्य है कि सर्वोत्तम गति प्राप्त करनेके ऐसे सरल साधनको पाकर भी भगवन्नामोंका उच्चारण नहीं करते, भगवान्‌की भक्ति नहीं करते। इसीसे दुखित होकर भगवान् वेदव्यासने बड़ी ही पीड़ाके साथ कहा है—

> यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
> पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
> विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
> प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥ ‡
> (श्रीमद्भा० १२।३।४४)

छप्पय

> जा आश्रममें रहौ, बरन चाहे जो होवै।
> होवै हिय हरि भक्ति, मलिनता मनकी धोवै॥
> भागीरथी समान भगवती भक्ति कहावै।
> जो जस आश्रम केहिं, पार तिन अवसि लगावै॥
> सब धरमनि तजि सरन इक सरबेस्वर प्रभु की गहौ।
> तौ अति उत्तम परमपद भक्ति मात्र ही तैं लहौ॥

> राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
> तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
> नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
> जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

* अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३।३३।७)

† यशःश्रियामेव परिश्रमः परो वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु। अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयोर्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।५२)

‡ मरते समय अत्यन्त आतुर अवस्थामें विवश होकर गिरते-पड़ते भी जिन श्रीहरिका नाम लेनेसे प्राणी सभी प्रकारके कर्म-बन्धनोंसे विमुक्त होकर सर्वोत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है, हाय! कलियुगमें ऐसे भगवान्‌की भी भक्ति प्राणी नहीं करेंगे।

वर्णाश्रम-धर्म और भक्ति

(लेखक—श्रीनारायण पुरुषोत्तम सांगाणी)

मनुष्य मोह या अज्ञानके कारण संसारके पदार्थ—स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, सम्पत्ति-सत्ता, शरीर आदिमें सुख-आनन्द मानकर उनको प्राप्त करनेके लिये प्रयास करता है। परंतु बुद्धिपूर्वक विचार करने तथा प्रत्यक्ष देखने और अनुभव करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सब क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और नाशवान् हैं।

प्राचीन ऋषि-मुनियोंने तप, योग तथा आत्मज्ञानके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर इन सबका त्याग किया था और यह निश्चय किया था कि वास्तविक सुख-शान्ति और आनन्द एकमात्र जगन्नियन्ता श्रीहरिके चरणारविन्दमें है।

शाश्वत सुख, आनन्द और शान्तिके धाम सर्वशक्तिमान् परमात्मा श्रीहरिने अपनी क्रीडाके लिये इस अत्यन्त अद्भुत अनुपम जगत्‌की रचना की है। उन सर्वज्ञ प्रभुमें ही ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य आदि भग (ईश्वरताके लक्षण) सदा-सर्वदा सम्पूर्णरूपसे रहते हैं। वह परम कृपालु ईश्वर अजन्मा होकर भी, अपने स्थापित वर्णाश्रम-धर्म तथा भक्तोंके ऊपर जब-जब संकट आता है, तब-तब अवतार धारण करके धर्म और धर्मज्ञोंकी रक्षा करता है।

जीव उस परम ब्रह्म परमात्माका अंश है। शाश्वत सुख, आनन्द और शान्तिके भण्डारस्वरूप भगवान् श्रीहरिसे पृथक् होते ही जीवका आनन्द तिरोहित हो जाता है और वह दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापोंसे संतप्त होने लगता है। शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार चौरासी लाख योनियोंमें भटकता हुआ वह जन्म-मरणके संकटको भोगता है और जब वह प्रभुकी शरणमें आकर उनकी आराधना करता है, तभी भवसागरके दुःखोंसे छूटता है।

भगवान् श्रीहरि आनन्दस्वरूप हैं। गीता और उपनिषद् आदि शास्त्र कहते हैं कि वे जगत्‌के पिता, माता, धाता, पितामह, वेद्य, पावनकारी, ॐकार, ऋक्-साम-यजु, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, प्रभव और प्रलयस्थान, निधान, अव्यय बीज और अमृत हैं। ऐसे भक्तवत्सल परम कारुणिक प्रभुको प्राप्त करनेके लिये ज्ञान, योग, यज्ञ, तप आदि अनेक साधन हैं। परंतु वे सब कठिन हैं तथा अधिकार-योग्यताहीन लोगोंके द्वारा उनका आचरण शक्य नहीं है; भक्ति ही एक ऐसा सरल, सुगम और श्रेष्ठ साधन है कि चाहे जिस जाति, देश या अवस्थाका स्त्री अथवा पुरुष हो, उसका अवलम्बन करके सहज ही प्रभुपदको प्राप्त कर सकता है।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्तिके ये नौ प्रकार हैं। महाराज परीक्षित्, देवर्षि नारद, प्रह्लाद, लक्ष्मीजी, राजा पृथु, अक्रूर, हनुमान्, वीरशिरोमणि अर्जुन तथा राजा बलिने इस नवधाभक्तिका क्रमशः आश्रय लेकर प्रभुकी कृपा प्राप्त करके अपने नामको अजर-अमर कर दिया है।

परंतु नवधाभक्तिके उपरान्त प्रेमलक्षणा नामकी भक्तिका स्वरूप दिखलाते हुए भक्तिमार्गके आचार्य देवर्षि नारद तथा महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं कि भगवान्‌के प्रति परमप्रेम ही भक्तिका सर्वोत्तम लक्षण है और ऐसा परमप्रेम व्रजकी गोपियोंमें था। शरीर और संसारसे सारी ममता हटाकर अनन्त ब्रह्माण्डके अधिपति अन्तर्यामी प्रभु श्रीकृष्णके चरणारविन्दको अनन्य श्रद्धा-भक्तिके साथ सर्वात्मभावसे भजते हुए उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था। अतएव शिव, विरञ्चि, शेष, सनकादि तथा नारद और लक्ष्मीजीको भी परमधाममें जो अनिर्वचनीय आनन्द नहीं प्राप्त हुआ था, वह गोपियोंको प्राप्त हुआ। इसी कारण पितामह ब्रह्माजीसे लेकर उद्धवपर्यन्त महानुभाव उस पदकी प्राप्तिके लिये शुनिचयी गोपियोंकी चरण-रजकी सदा आकाङ्क्षा किया करते हैं।

विश्वके निवासी संसारमें सुखी जीवन व्यतीत करते हुए भक्तिद्वारा मृत्युके बाद परमपद प्राप्त कर सकें, इस शुभ प्रयोजनसे विश्वस्रष्टा श्रीहरिने सृष्टिके प्रारम्भमें ही वेद-शास्त्रका निर्माण करके वर्णाश्रम-धर्मकी अति उत्कृष्ट योजना कर दी थी।

देशकी सुव्यवस्था तथा कल्याणके लिये लाखों मनुष्योंको काममें लगाने तथा ज्ञान प्रदान करनेके लिये प्रतिवर्ष करोड़ों-अरबों रुपये खर्च करना और उसकी आमदनीके लिये लोगोंपर अरबों रुपयोंके कर लादना पड़ता है। झंझटका काम है; परंतु वर्णाश्रम धर्मकी मर्यादाके संरक्षणमें वह झंझट सर्वथा नहीं करनी पड़ती; क्योंकि वर्णाश्रम-व्यवस्थामें वेद-शास्त्रके ज्ञानमें समर्थ ब्राह्मण लोगोंको ज्ञान—शिक्षा निःशुल्क देते हैं। क्षत्रिय प्रजाकी रक्षा करते हैं। वैश्य खेती-बारी, गाय आदि पशुओंके पालन

तथा व्यापारके द्वारा प्राप्त धनको बावली, कूप, तालाब, बाग, अन्नक्षेत्र, औषधालय, धर्मशाला, पाठशाला, गोशाला, मन्दिर तथा यज्ञ-याग प्रभृति प्रजा-कल्याणके कार्योंको सम्पन्न करनेमें लगाते हैं और शूद्र शिल्पकलाके विकासके साथ-साथ उपर्युक्त तीनों वर्णोंकी सेवा करके कृतार्थ होते हैं।

इसी प्रकार स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्मका पालन करती हुई पति तथा सास-ससुरकी सेवा करती हैं। शिष्य गुरुकी सेवा करते हैं। पुत्र माता-पिताकी आज्ञामें चलते हुए माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा 'प्राणिमात्रके हृदयमें भगवान् श्रीहरि विराजते हैं' इस भावनासे सबके कल्याणकी कामना करके, सबका हित हो—ऐसा प्रयत्न करते हुए लोग दिन-रात प्रभुका स्मरण-चिन्तन करते हैं। यों करनेसे सबको स्वतः ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती है और अन्तमें सहज ही मोक्षपद मिल जाता है। धर्म-व्याध, सती नर्मदा, तुलाधार वैश्य, सत्यकाम जाबाल, तोटकाचार्य और एकलव्य आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

नरपुङ्गव अर्जुन सर्वसद्गुणसम्पन्न पुरुष थे। वे भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त और सखा थे। उनके-जैसा वीर योद्धा उस समय त्रिलोकीमें कोई न था। महाराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञके अवसरपर उन्होंने भगवत्-कृपासे दुनियाके सभी राजाओंको जीत लिया था। कहीं भी इस महापुरुषकी पराजय नहीं हुई थी। परंतु दुर्योधनकी दुष्टतासे जब कौरव-पाण्डवोंका युद्ध प्रारम्भ होनेका समय आया, तब दोनों सेनाओंके बीचमें अपने रथके खड़े होते ही अपने सामने लड़नेके लिये संनद्ध गुरु, काका, दादा, मामा आदि कुटुम्बी और सगे-सम्बन्धियों-को देखकर वे विषाद और व्यामोहसे व्याप्त हो गये और क्षात्रधर्मको त्यागकर भिक्षुकका धर्म अङ्गीकार करनेके लिये तैयार हो गये।

इसपर भगवान् श्रीकृष्णने विषादग्रस्त और कर्तव्य-विमूढ़ होकर शरणमें आये जिज्ञासु अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त संसारके लोगोंको जो दिव्य उपदेश प्रदान किया, वह आज श्रीमद्भगवद्गीताके नामसे प्रसिद्ध है। इस सर्वग्राही उपदेशमें श्रीकृष्ण परमात्माने अर्जुनसे कहा कि 'देह और आत्मा एक नहीं, बल्कि पृथक्-पृथक् हैं। देह नाशवान् है और आत्मा अविनाशी है। तुमने क्षत्रियजातिमें जन्म लिया है, इसलिये युद्ध करना तुम्हारा परम धर्म है। आग लगानेवाले, विष देनेवाले, शस्त्र लेकर सामने लड़नेके लिये आनेवाले, धर्मका दमन करनेवाले, धनका हरण करनेवाले, भूमिका हरण करनेवाले और स्त्रीका हरण करनेवाले 'आततायी' कहलाते हैं तथा इनकी सहायता करनेवालोंकी भी आततायियोंमें ही गणना है। अतएव ऐसे आततायियोंको मारनेमें तनिक भी पाप नहीं है।' श्रीकृष्ण फिर कहते हैं कि 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंकी सृष्टि मैंने की है। उन-उन वर्णोंके लोगोंको अपने-अपने धर्म-कर्मका यथाविधि पालन करना चाहिये। स्वधर्मका पालन करते हुए मृत्यु हो जाय तो श्रेयस्कर है, परंतु परधर्मका आश्रय तो भयावह है। प्रत्येक मनुष्य अपने जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंके अनुसार चेष्टा करता है। तुमने क्षत्रियजातिमें जन्म लिया है, युद्ध करना तुम्हारा स्वधर्म है। यदि मोहवश या कायरतासे युद्ध नहीं करोगे तो प्रकृति (स्वभाव) बलपूर्वक तुम्हें युद्धमें लगायेगी। प्रकृतिका निग्रह करना शक्य नहीं। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयका विचार छोड़कर निष्काम बुद्धिसे मेरा स्मरण करते हुए युद्धरूप कर्तव्यका पालन करोगे तो तुमको दोष नहीं लगेगा और बन्धन नहीं होगा।'

परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि 'इस विश्वको मैंने उत्पन्न किया है। विश्वमें मुझसे पर—श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है। मैं ही युग-युगमें अवतार लेकर धर्म और धर्मजोंकी रक्षा करके दुष्टोंको—धर्मका नाश करके पाखण्ड फैलानेवालों-को, आसुरी वृत्तिके नास्तिकोंको दण्ड देकर धर्मकी पुनः स्थापना करता हूँ। मैं क्षर-अक्षरसे अतीत पुरुषोत्तम हूँ। मेरे धामको सूर्य या चन्द्र प्रकाशित नहीं करते, प्रत्युत मैं उनको प्रकाशित करता हूँ। दूसरे सारे लोक ऐसे हैं, जहाँ जाकर जीवको मर्त्यलोकमें लौटना पड़ता है; परंतु मेरे धामको प्राप्त करनेके बाद जीवात्माको फिर संसारमें नहीं लौटना पड़ता। संसारमें जो कोई देवी-देवता या सत्त्वगुण-प्रधान पदार्थ देखनेमें आते हैं, उनको मेरी विभूति समझो। मेरे विश्वरूपका दर्शन वेद, यज्ञ या उग्र तपसे भी सम्भव नहीं है। वह केवल अनन्य भक्तिसे ही हो सकता है। तुम मेरे अनन्य भक्त हो, इस कारण मैं तुमको दिव्यचक्षु प्रदान करता हूँ, उससे तुम मेरा दर्शन करो।'

भगवान् पुनः आदेश देते हैं कि 'शास्त्रविधिका परित्याग करके जो स्वच्छन्द चेष्टा करता है, उसको न तो इस लोकमें सुख या सिद्धि मिलती है और न मरनेपर परमगति ही मिलती है। अतएव तुमको कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयके विषयमें शास्त्रज्ञानको ही प्रमाण मानकर व्यवहार करना चाहिये। यज्ञ, दान और तप—ये मनुष्योंको पावन करनेवाले हैं; इसलिये नरकके द्वाररूप काम, क्रोध और

लोभ—इन तीनों शत्रुओंका त्याग करके यज्ञादि तीनोंका अनुष्ठान करना चाहिये। अन्नसे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है और यज्ञ-यागादिसे प्रसन्न होकर देवता वृष्टि करते हैं; अतएव परस्पर-कल्याणार्थ यज्ञ-यागादि कर्म करने चाहिये। अब तुम्हारे परम हितकी बात कहता हूँ—तुम मुझमें ही मनको लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरा ही भजन-पूजन और आराधन करो।' भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैं सत्य कहता हूँ, इससे तुम मुझको ही प्राप्त होगे। ढिंढोरा पीटकर तुम घोषणा कर दो कि मेरा भक्त यदि कोई दुराचारी और पापी भी हो, तो भी वह सत्सङ्ग और मेरे भजनके प्रभावसे तुरंत ही धर्मात्मा बनकर तर जायगा। तुम जो कुछ धर्म-कर्म करो, वह सब मुझको अर्पण कर दो और एक मेरी ही शरणमें चले आओ, मैं तुमको सब पापोंसे छुड़ाकर मुक्त कर दूँगा। हे परंतप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताका त्याग कर तुम उठ खड़े हो और मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो।' भगवान्‌की आज्ञाको सिर चढ़ाकर अर्जुनने युद्ध करके वर्णाश्रम-धर्मका पालन किया, जिससे उसकी अपूर्व विजय प्राप्त हुई और विश्वमें उसकी कीर्ति-पताका फहरायी।

वर्णाश्रम-धर्म किसी मनुष्यका बनाया नहीं है, किंतु साक्षात् ईश्वरकी रचना है। इसे नष्ट करनेका उद्योग करनेसे ईश्वरके प्रति अपराध होता है और अन्तमें अपराध करनेवालेका बुरी तरहसे नाश होता है। वर्णाश्रम-धर्मके नष्ट होनेपर देशमें अंधा-धुंध मच जायगी, प्रजामें वर्णसंकरता फैलेगी और लोगोंकी भयंकर दुर्गति होगी। अतएव अपना तथा समाजका श्रेय चाहनेवाले जो भी लोग हों, उनके लिये वर्णाश्रम-धर्मका रक्षण और पालन अवश्य-कर्तव्य है।

स्पृश्यास्पृश्य-विवेक अथवा आचार-विचारका पालन, पवित्र खान-पान, वेदोक्त विधिके अनुसार विवाह और सुदृढ़ जाति-निर्माण—ये वर्णाश्रमधर्मकी सुरक्षित रखनेवाले अभेद्य दुर्ग हैं। ये चारों दुर्ग दृढ़ हों, तभी वर्णाश्रम-धर्मका अस्तित्व रह सकता है और अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है; तथा अन्तःकरणको शुद्ध करनेके निर्मल हेतुसे ही वर्णाश्रम-धर्मके पालनरूप भगवदाज्ञाका अवलम्बन करनेसे जगदीश्वर श्रीहरि प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं।

अम्बरीष, ध्रुव, प्रह्लाद, रुक्माङ्गद आदि उच्चकोटिके भगवद्भक्त थे। अनन्य भक्तिके वेगमें भी उन्होंने कभी वर्णाश्रम-धर्मका त्याग नहीं किया और इस हेतु भक्तके अधीन रहनेवाले श्रीभगवान्‌को उनके योगक्षेमकी व्यवस्था करनी पड़ी।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्त भगवान्‌की भक्ति करते हैं। इनमें निःस्पृही ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ समझा जाता है। तथापि आर्त (दुःखी), तत्त्व-जिज्ञासु और द्रव्यप्राप्तिके इच्छुक भक्त भी प्रभुको प्रिय होते हैं। अतएव श्रेयोऽभिलाषी मनुष्यको सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, कृपालुता, भक्त-वत्सलता एवं उदारताके निधि और थोड़ा सा भी धर्माचरण एवं भक्ति करनेवालेको भी अनन्त फल प्रदान करके महान् भयसे बचानेवाले विश्वम्भर श्रीहरिकी शरणमें सर्वभावसे जाकर उनका भजन करना चाहिये।

जगदीश्वर श्रीहरि सबके प्रति समदृष्टि रखनेवाले तथा समभावापन्न हैं। उनके लिये कोई अपना पराया या शत्रु मित्र नहीं। तथापि कुन्तीपुत्र अर्जुनके प्रति अत्यधिक स्नेहवश उन्होंने दूत और सारथिका काम तथा राजसूय यज्ञके समय ब्राह्मणोंके चरण धोने जैसा कार्य करनेमें भी संकोच नहीं किया, यह देखकर बहुतोंको आश्चर्य होता है।

परंतु भक्ताधीन रहनेवाले श्रीभगवान्‌के इस विलक्षण व्यवहारमें तनिक भी आश्चर्यकी बात नहीं है। परम कृपालु भगवान् भावके भूखे हैं और एकगुना करनेवालेको सहस्र-गुना फल देते हैं। सूरदास, चैतन्य महाप्रभु, जयदेव कवि, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, पुण्डरीक, नरसिंह मेहता, मीराँबाई और ऐसे ही दूसरे असंख्य भक्तोंके लिये प्रभुने विविध रूप धारणकर, महान् कष्ट उठाकर उनका मनोरथ पूर्ण किया है।

नारायणके सखा नरके अवतार अर्जुन कितनी उच्च कोटिके भक्त थे, इसका अब हमको विचार करना है। एक समय अर्जुन सख्त बीमार पड़े। बहुत अधिक ज्वर हो जानेके कारण वे बेसुध होकर सोये पड़े थे। सती सुभद्राजी उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं। अर्जुनके रुग्ण होनेका समाचार पाते ही भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीके साथ उनकी स्थिति जाननेके लिये पधारे और अर्जुनका पैर दबाने लगे। भगवान्‌के यहाँ पधारनेकी बात जानकर लोक-पितामह ब्रह्मा नारदजीके साथ पधारे और भगवान् शंकर भी पार्वतीजीको लेकर पहुँचे। जब सब लोग अर्जुनकी ओर देखने लगे, तब उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि अर्जुनके रोम-रोमसे 'जय श्रीकृष्ण'की

ध्वनि निकल रही है और जगत्‌के प्राणियोंको भक्ति-भावमें निमग्न कर रही है। इसका प्रभाव आस-पास खड़े हुए महानुभावों-के ऊपर भी पड़ा; फलतः नारदजी वीणा बजाने लगे, ब्रह्माजी वेदोच्चार करने लगे, उद्धवजी करताल बजाकर नाचने लगे तथा शिवजी डमरू बजाकर ताण्डव-नृत्यमें प्रवृत्त हो गये। अर्थात् अर्जुनके अद्वितीय भक्तिभावको देखकर सब-के-सब शरीरकी सुध-बुध भूल गये!

उसी प्रकार जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण इस लोकको छोड़कर अपने निजधाम गोलोकको पधारे और अर्जुनको इसका समाचार मिला, तब वे भगवान्‌के विरहसे व्याकुल हो तत्काल राज-पाट तथा संसारके सारे पदार्थोंको छोड़ वल्कल वस्त्र धारणकर अवधूत-वेषमें, कहीं इधर-उधर बिना देखे, भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करते हुए उत्तराखण्डमें स्वर्गारोहण करनेके लिये निकल और प्रभुपदको प्राप्त हुए। ऐसे भक्त-शिरोमणि भक्तके भक्तवत्सल भगवान् दासत्व करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

प्रभुकी अनुकम्पासे हमलोग भी अनन्य भक्ति तथा वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए इस पदको प्राप्तकर भाग्यवान् बनें, यही प्रभुके चरणोंमें अभ्यर्थना है।

हरिः ॐ तत् सत्

शिव-ताण्डव

(रचयिता—कविवर श्री'गोपाल'जी)

घन घुमंड सी घुमरि जटा घन घोर घमंडति।
लोल लहर लहि लास्य लटनि लहराति उमंडति॥
नीराजन-सो करत भाल लोचन अमंद द्युति।
रजत धार सी बनत परिधि ससधरकी सुचि रुचि॥
आपुस में लहि घात को, मुंडमाल अति कडु-कड़त।
कटि पिनद्ध अति वेग सों व्याघ्र चर्महू फड़फड़त॥

डगमगाति अति उर्वि सेस के फनहू असरन।
आदि कूर्म कसमसत, धसत गिरि उठत नभ चरन॥
डमडम डमरू डमत सूल चमकत अति दमकत।
सर्पन की फुफकार सपि, अति धुनि सों धमकत॥
भुवन मंडि भूतेस की भुवन भीति की छय करनि।
साध्य नटनि नटराजकी अनपायिनि मंगल करनि॥

नाग नाचैं अंगनि पै, वक्ष भुजदंडनि पै
जटाभार नाचै चहूँ लहरि लहरि कै;
सृंगी अधरनि नाचै, डमरू उमाचि रहै,
मुंडमाल नाचै उरदेस पै हहरि कै।
'सुकवि गोपाल' भूतपति भव्य ताण्डव में
कविता रसीली नाचै कवि पै सहरि कै;
चंद्र नाचै भाल पै, जटाटवी विसाल बीच
गंग नाचै छींटनि सों छहरि छहरि कै॥

रामायणमें भक्ति

(लेखक—श्रीयुत के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

हिंदुओंमें संस्कृति-प्रेमी एवं धार्मिक वर्गोंकी यह एक विख्यात मान्यता है कि सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक जनप्रिय हिंदू महाकाव्य एवं शास्त्र वाल्मीकीय रामायणका प्रधान विषय है भक्ति, प्रपत्ति अथवा शरणागति । यद्यपि भक्ति, प्रपत्ति तथा शरणागति—इन तीन शब्दोंके भावमें सूक्ष्म अन्तर दिखानेका हठधर्मीके साथ प्रयास किया गया है, वास्तवमें वे एकार्थक ही हैं और उनका अभिप्राय है—'जीवकी ईश्वरपरायणता' । यों तो गीतामें 'शरणं व्रज' इन शब्दोंका अन्तके प्रसिद्ध श्लोकों (१८ । ६५, ६६) में स्पष्ट प्रयोग किया गया है, परंतु 'भजते' और 'प्रपद्यते' पदोंका उसी अर्थमें स्थान-स्थानपर प्रयोग हुआ है (देखिये—४ । ११; ७ । १४, १९; ९ । ३०, ३३; १० । १०; ११ । ५४; १४ । २६; १५ । ४; १८ । ५५) । 'उपासते' शब्दसे भी वही भाव व्यक्त होता है (९ । १४, १५; १२ । २, ६, २०; १३ । २५) । इनके अतिरिक्त जिन शब्दोंका प्रयोग हुआ है, वे ये हैं—मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । (१२ । ८) उत्तरकालीन लेखक चाहे जो कहें, सच बात तो यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण 'परज्ञान' और 'पराभक्ति' दोनोंको समानता देते हैं । पीछेके विचारक दोनोंका भेद दिखानेके लिये कुछ भी कहें, भगवान्‌की उक्ति तो यही है कि परम ज्ञानी तथा परम भक्त दोनों ही उन्हें प्राप्त करते हैं (१२ । १ से ४) और अक्षरोपासक एवं ईश्वरोपासक भी उसी लक्ष्यपर पहुँच जाते हैं । वस्तुतः भगवान् 'ज्ञानी', 'नित्ययुक्त' तथा 'एकभक्त'—इन तीनों शब्दोंका ऐसा समन्वय स्थापित करते हैं कि उनका पृथक्करण सम्भव नहीं है । (देखिये—७ । १७, १८, १९; १२ । २०) श्रीकृष्ण 'प्रवेष्टुम्' (११ । ५४) तथा 'विशते' (१८ । ५५) शब्दोंका भी प्रयोग करते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरसे पृथक् रहते हुए उनके समान आनन्दके उपभोगकी सम्भावनाके साथ-साथ श्रीकृष्ण ब्रह्मसायुज्यके सुखको भी स्वीकार करते हैं ।

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें 'ईश्वरके प्रति अनुराग' को ही भक्तिकी संज्ञा दी गयी है—सा परानुरक्तिरीश्वरे । (२) प्रपत्तिकी व्याख्या करनेवाले निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रचलित हैं—

> आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ।
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

'भगवान्‌के अनुकूल चलनेका संकल्प, उनके प्रतिकूल आचरणका त्याग, वे हमारी रक्षा करेंगे—इसपर विश्वास, रक्षाके लिये उनसे प्रार्थना, आत्मनिवेदन तथा दैन्य—ये छः शरणागतिके लक्षण हैं ।'

ये सभी बातें साथ-साथ रहती हैं । कुछ लोग भक्तिका लक्षण बतलानेके लिये उसके निम्नाङ्कित नौ रूपोंका उल्लेख कर देते हैं—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
> इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
> क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥

(श्रीमद्भागवत, प्रह्लादोपाख्यान, ७ । ५ । २३, २४)

'विष्णुभगवान्‌की भक्तिके नौ भेद हैं—(१) भगवान्‌के गुण-लीला-नाम आदिका श्रवण, (२) उन्हींका कीर्तन, (३) उनके रूप-नामादिका स्मरण, (४) उनके चरणोंकी सेवा, (५) पूजा-अर्चा, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन । यदि भगवान्‌के प्रति समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति की जाय तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ ।'

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य—इन शब्दोंसे भक्तिसम्बन्धी एक और तथ्यका ज्ञान होता है । वस्तुतः भगवान्‌के प्रति अनुरक्तिजनित सुखका ही नाम 'भक्ति' है ।

वैष्णव-सिद्धान्तके अनुसार रामायण शरणागति-परक शास्त्र है । शरणागतिकी भावना सम्पूर्ण ग्रन्थमें व्याप्त है, इसलिये यह वास्तवमें ऐसा ही शास्त्र है । परंतु साथ-ही-साथ यह धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र और मोक्ष-शास्त्र भी है ।

'शरणागति' शब्दका निम्नलिखित श्लोकोंमें स्पष्ट प्रयोग हुआ है—

> यथार्थं पथ्यमायातान्यस्य ये मुनिभिः स्तुत ।
> सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च तत्त्वां शरणं गताः ॥*

([illegible])

* देवलोकमें भगवान् नारायणसे कहते हैं—हम लोग मुनियोंके साथ निरन्तर इस लोक [illegible] (रावण) के वधके लिये

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।
परिपालय नो राम वध्यमानान् निशाचरैः ॥[१]
(अरण्यकाण्ड ६ । १९)

शरणागति (शरणापेक्षा तथा शरणदान) का सर्वाधिक पूर्ण उदाहरण वास्तवमें विभीषणकी शरणागतिमें ही मिलता है । वे एक श्लोक ऐसा कहते हैं, जिसमें शरणागतिके पूर्वोक्त छहों अवयवोंका समावेश हो गया है—

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने ।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम् ॥[२]
(युद्ध० १७ । १७)

श्रीरामद्वारा शरणागतवत्सलताके व्रतका निरूपण निम्नलिखित श्लोकोंमें हुआ है, जो उतने ही प्रसिद्ध हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम् ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥[३]
(युद्ध० १८ । ३, ३३, ३४)

इसी उदात्त और उदार भावनासे श्रीसीता राक्षसियोंको अभय प्रदान करती हैं, यद्यपि राक्षसियाँ उनसे रक्षा चाहती भी नहीं ।

अवेक्षयदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः ।[४]
(सुन्दर० ५८ । ९२)

उसी भावनासे प्रेरित होकर वे हनुमान्‌को उन राक्षसियोंको दण्ड देनेसे मना करती हैं, जिन्होंने उन्हें डराया-धमकाया तथा व्यथित किया था । वे क्षमाके दिव्य एवं सर्वोच्च सिद्धान्तका इस प्रकार निरूपण करती हैं—

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा ।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥[५]
(युद्ध० ११३ । ४२)

रामायणमें आदिसे अन्ततक सभीने—यहाँतक कि रावणने भी भगवान् विष्णुके रूपमें श्रीरामकी भगवत्ताका प्रतिपादन किया है, यद्यपि श्रीराम स्वयं अपनेको मानव ही बतलाते हैं—

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ।[६]
(युद्ध० ११७ । ११)

ब्रह्माके नेतृत्वमें सभी देवताओंने रामभक्तिकी सर्वश्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है—

अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥[७]
(युद्ध० ११७ । ३०)

वाल्मीकिजी विशेष करके अरण्यकाण्डमें यह दिखलाते हैं कि ऋषि शरभङ्गसे लेकर शबरीतक सबके लिये भगवान्‌की कृपाका द्वार खुला है और भगवद्भक्ति सभीको मुक्तिका अधिकारी बना देती है ।

आपके पास आये हैं । सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष आदि सभी आपकी शरणमें आये हैं ।'

१. 'अतः हे राम ! शरण लेने योग्य आपके समीप हमलोग रक्षाकी इच्छासे ही उपस्थित हुए हैं । राक्षसोंके द्वारा मारे जाते हुए हमलोगोंको आप त्राण दें ।'

२. 'सब प्राणियोंद्वारा शरण लेने योग्य उदारहृदय श्रीरघुनाथजीसे शीघ्र जाकर कहिये कि विभीषण आया है ।'

३. 'मित्रभावसे आये हुए विभीषणका त्याग मैं कभी नहीं कर सकता । सम्भव है उसमें दोष हो; पर दोषी शरणागतकी भी रक्षा करना सज्जनोंके लिये निन्दित नहीं है । जो शरणमें आकर एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' कहकर मुझसे रक्षा चाहता है, उसको मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ । यह मेरा व्रत है—मेरा नियम है । वानरश्रेष्ठ ! उसे मेरे पास ले आओ । सुग्रीव ! अब वह चाहे विभीषण हो या स्वयं रावण ही क्यों न हो, मैंने उसे अभय दे दिया ।'

४. सीताजी बोलीं, 'यदि यह बात ठीक हुई तो मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी ।'

५. 'पापी हो, पुण्यात्मा हो अथवा वधके योग्य ही क्यों न हो, सज्जनोंको अपराधियोंपर दया करनी चाहिये, क्योंकि अपराध किससे नहीं होता ।'

६. 'मैं अपनेको दाशरथि रामके रूपमें मनुष्य ही मानता हूँ ।'

७. 'आपके जो भक्त होंगे, वे कहीं असफल नहीं होंगे ।'

श्रीमद्भगवद्गीताका स्वारस्य—प्रपत्ति

(लेखक—शास्त्रार्थ-महारथी प० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

वेदोंका सार उपनिषद् और उपनिषदोंका सार 'श्रीमद्भगवद्गीता' है—यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। इसलिये 'सर्वशास्त्रमयी गीता' यह शास्त्रीय प्रवाद सर्ववादि-सम्मत है। श्रीमद्भगवद्गीतामें यद्यपि कर्मयोग, सांख्ययोग, उपासनायोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि सभी योगोंका निरूपण पाया जाता है, तथापि गीताका हृदय शरणागति किंवा प्रपत्तियोग ही है।

मीमांसकोंने ग्रन्थका तात्पर्य निर्णय करनेके साधनोंमें (१) उपक्रम, (२) उपसंहार और (३) अनुवृत्ति—ये तीन साधन सर्वोपरि स्वीकार किये हैं। अर्थात् ग्रन्थका आरम्भ किन शब्दोंमें होता है और उपसंहार—परिसमाप्ति किन शब्दोंमें होती है तथा बीच-बीचमें भूयोभूयः किन शब्दोंको आम्रेडित किया गया—दुहराया गया है—बस ! ये तीन बातें ग्रन्थका हृदय प्रकट करनेमें अपरिहार्य हेतु हैं। अब इस निकष (कसौटी) पर गीताको कसकर देखना चाहिये, जिससे गीताका स्वारस्य 'बावन तोले, पाव रत्ती' जाना जा सके।

उपक्रम

यों तो गीताका आरम्भ 'धृतराष्ट्र उवाच' से होता है; परंतु वास्तवमें पूरे प्रथम अध्याय और दूसरे अध्यायके छठे श्लोकतक तात्कालिक सामरिक स्थिति और गीताकी उपक्रमात्मक पृष्ठभूमिके साथ-साथ भगवान्‌ने एक लौकिक मित्रकी भाँति अर्जुनको जो उचित परामर्श दिया है, उसका वर्णन है। तभी तो दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
>
> पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।

अर्थात् (हे भगवन् !) बुद्धिकी कृपणतारूप दोषके कारण मेरा शौर्यतेजोधृतिसम्पन्न क्षत्रियस्वभाव बदल गया है और धर्माधर्मनिर्णयमें मेरा चित्त सर्वथा मूढ हो गया है, इसलिये मैं आपको स्वकर्तव्य पूछता हूँ।

गीताध्यायी जानते हैं कि युद्धमें अर्जुन एक 'रईस' की भाँति रथी हैं और श्रीभगवान् भक्तिवश आज्ञाकारी सेवककी भाँति 'साईस' बने हुए हैं। अर्जुनने स्वामियोंके स्वरमें ज्यों ही भगवान्‌को आदेश दिया कि—

> सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ! (१ । २१)

अर्थात् हे अच्युत ! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरा रथ खड़ा करो।

—भगवान्‌ने तत्काल हुक्मकी तामील की। परंतु अब जब उपर्युक्त 'कार्पण्य' आदि श्लोकमें अर्जुन अपनी बौद्धिक निर्बलता और किंकर्तव्यविमूढताको साफ स्वीकार करता हुआ कर्तव्योपदेश चाहता है, तब भगवान् मौन हैं, कुछ बोलते ही नहीं। अर्जुनने भगवान्‌की चुप्पीपर चकित होकर पुनः कहा—

> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे (२ । ७)

अर्थात् (हे प्रभो !) जो मेरे लिये कल्याणकारी बात हो, उसे निश्चितरूपेण कहिये।

भगवान् फिर भी चुप रहे। उन्होंने मनमें विचार किया कि "मैं यहाँ सारथ्य करने आया हूँ, गुरु बनकर उपदेश देने नहीं। 'रईस' को 'साईस' कभी उपदेश नहीं दे सकता। तत्त्वोपदेश गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय-पद्धतिसे ही देय और ग्राह्य हो सकता है। मैत्रीपूर्ण परामर्श तो मैं अबसे पूर्व दे ही चुका हूँ। अतः जबतक अर्जुन साम्प्रदायिक पद्धतिमें शिष्यत्व स्वीकार नहीं करता, तबतक तत्त्वोपदेश नहीं दिया जा सकता।"

अब तो अर्जुन भगवान्‌के मौनावलम्बनपर अत्यधिक विचलित हो उठा और विनयपूर्वक बोला—

> शिष्यस्तेऽहम् (२ । ७)

अर्थात् (हे गुरो !) मैं आपका शिष्य हूँ। (आप मुझे शिक्षा दीजिये।)

भगवान् फिर भी चुप रहे और मन-ही-मन अर्जुनकी अवसरवादितापर मुस्कराने लगे। 'अहो ! ये संसारी जीव अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये कैसे-कैसे प्रपञ्च रचते हैं। अर्जुन जब किंकर्तव्यविमूढ हुआ, तब झटपट मेरा वाचिक शिष्य बनकर अपना काम निकालनेको हाथ-पैर मारने लगा। भला ! मैं तुझसे पूछता हूँ कि तू मेरा शिष्य किस दिन बना था ? तूने कब, कौन दीक्षा ग्रहण की थी ? क्या वाचिक अर्जी देनेमात्रसे कोई किसीका शिष्य बन जाता है ! फिर तू ही तो मेरा शिष्य होनेकी बात अपने मुखसे कह रहा है ! तूने भी पूछ देखा है कि मैं भी तेरा गुरु बननेको प्रस्तुत हूँ या नहीं !' इत्यादि।

अब तो अर्जुनको भगवान्‌का यह मौन-धारण असह्य हो उठा ! वे अतीव आतुर होकर साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक गद्गद कण्ठसे बोले—

शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (गीता २ । ७)

अर्थात् (हे देवाधिदेव !) मैं आपकी शरणमें आ पड़ा हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये ।

बस, जब अर्जुनके मुखसे 'प्रपन्नम्' शब्द निकला, तब भगवान्‌ने सोचा कि अब मौन धारण किये काम न चलेगा । अब तो शरणागत अर्जुनको तत्त्वोपदेश देना ही पड़ेगा । संसारके अन्यान्य सभी सम्बन्ध उभय पक्षकी सम्मतिसे ही स्थिर होते हैं । उदाहरणके लिये किसीकी लड़की और किसी-का लड़का है; ज्यों ही दोनों पक्षोंके अभिभावक 'समधी'—समान बुद्धिवाले हुए, त्यों ही वर-कन्याका दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थिर हो गया । इसी प्रकार जब गुरु और शिष्य दोनोंने उभय-सम्मतिसे 'सह नाववतु' पढ़ा कि गुरु-चेला बन गये ! परंतु शरण्य और शरणागतके 'प्रपत्ति' रूप सम्बन्धमें उभयपक्षकी सहमति अपेक्षित नहीं । जब किसी विपन्न आतुरको आत्म-त्राणका अन्य कुछ उपाय न सूझा और मरने लगा, तब वह एकमात्र अमुकको अपना रक्षक मानकर 'तवास्मि, शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर शरणमें आ पड़ा ! आतुरको इतनी फुरसत कहाँ कि पहले शरण्यको टेलीफोनपर पूछकर या प्रार्थना-पत्रका फार्म भरकर शरणमें आनेकी स्वीकृति ले । ऐसी दशामें प्रपत्ति ही एकमात्र ऐसा सम्बन्ध है, जिसे शरण्यसे बिना पूछे ही शरणागत अकेला स्थापित कर लेता है । तथास्तु; अतः भगवान्‌के चुप रहनेका अब कोई कारण नहीं रहा और भगवान्‌ने उपदेश आरम्भ कर दिया ।

पाठक खूब ध्यान दें कि जो भगवान् उपर्युक्त श्लोककी वाक्य-रचनाके अनुसार अर्जुनके बार-बार 'पृच्छामि', 'ब्रूहि' और 'शाधि' कहनेपर भी टस-से-मस न हुए, वे ही शरणागतवत्सल भगवान् 'प्रपन्नम्' शब्द सुनते ही सब उपनिषदोंके अमृतमय दुग्धको भर-भर कटोरे अपने हाथों अर्जुनको पिलानेके लिये कटिबद्ध हो गये और तबतक शान्त न हुए, जबतक स्वयं अर्जुनने 'करिष्ये वचनं तव' (१८ । ७३) नहीं कहा । इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भगवद्गीताका वास्तविक उपक्रम—आरम्भ 'प्रपत्ति' से होता है ।

उपसंहार

भगवान्‌ने गीतामें सांख्य, कर्म, उपासना, ज्ञान आदि सभी योगोंका विशद निरूपण किया; परंतु अठारहवें अध्यायके ६६ वें श्लोकमें उपसंहार करते हुए 'प्रपत्तियोग'से प्रारम्भ किये हुए अपने तत्त्वोपदेशका पर्यवसान भी 'प्रपत्तियोग' में ही किया । भगवान् बोले—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

अर्थात् (हे अर्जुन !) सब धर्मोंको छोड़कर (सर्वोपरि प्रायश्चित्तभूत धर्म) मेरी अनन्य शरणमें चला आ ! मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताका उपसंहार भी 'प्रपत्ति' में ही हुआ है ।

अनुवृत्ति

गीताके बीच-बीचमें तो पदे-पदे भक्ति-प्रपत्ति-शरणागति-की ही अनुवृत्तिका उल्लेख विद्यमान है । यथा—

(क) ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । (४ । ११)

(ख) मद्भक्ता यान्ति मामपि । (७ । २३)

(ग) मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य ......तेऽपि यान्ति परां गतिम् । (९ । ३२)

(घ) यो मद्भक्तः स मे प्रियः । (१२ । १४-१६)

(ङ) तमेव शरणं गच्छ ....स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् । (१८ । ६२)

(च) मामेकं शरणं व्रज । (१८ । ६६)

(छ) भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः । (१८ । ६८)

(क) जो जिस रीतिसे मेरी शरणमें आता है, मैं भी उसको उसी भावसे ग्रहण करता हूँ ।

(ख) मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं ।

(ग) हे पार्थ ! शूद्रादि भी मेरी शरणमें आकर परम गतिको पा जाते हैं ।

(घ) जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है ।

(ङ) उस भगवान्‌की शरणमें चला जा; उससे तुम्हें मोक्षपदकी प्राप्ति हो जायगी ।

(च) एकमात्र मेरी शरणमें चला आ ।

(छ) मुझमें उत्कृष्ट भक्ति करके निस्सन्देह मुझे प्राप्त हो जायगा ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें 'प्रपत्ति'-बोधक शताधिक प्रमाण विद्यमान हैं ।

प्रपत्तिका वैशिष्ट्य

इसके अतिरिक्त एक और भी रहस्य मननीय है कि गीतामें जहाँ अन्यान्य विषयोंका निरूपण भगवान्‌ने 'प्रहसन्निव भारत' के अनुसार हँसते-हँसते किया है, वहाँ शरणागतिका निरूपण उपस्थित होनेपर उसे न केवल हास्य-विनोदसे बचकर बड़ी गम्भीरतापूर्वक ही कहा है, अपितु अर्जुनको डाँट-डपटकर भी शरणमें आनेको बाध्य किया है और अप्रपन्नोंको उग्र भाषामें कोसा भी है। जैसे लोकके वृद्धजन अपने पुत्रादिको साधारण बातें तो साधारण शब्दोंमें बतला देते हैं, परंतु अवश्यकरणीय बातको बड़ी गम्भीरताके साथ सचेत और सावधान करते हुए आदेशरूपमें कहा करते हैं, ठीक उसी प्रकार गीतामें सांख्य, कर्म, ध्यान और ज्ञानयोग आदि विषयोंका निरूपण तो साधारण शब्दोंमें उपनिबद्ध है, परंतु 'प्रपत्तियोग' का वर्णन असाधारण चेतावनीपूर्ण सचोट शब्दोंमें अङ्कित है, जिससे यही विषय भगवान्‌का हार्द प्रतीत होता है। हम पाठकोंके विचारार्थ यहाँ एक-आध उदाहरण अङ्कित करते हैं। यथा—

(क) न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(७। १५)

(ख) अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥
(१८। ५८)

अर्थात् (क) जो मेरी शरणमें नहीं आते, वे पापी हैं, मूढ हैं, नराधम हैं, आसुरभावसम्पन्न हैं, उनके ज्ञानको मायाने हर लिया है।

(ख) यदि अहंकारवश तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा—गिर जायगा।

उपर्युक्त पहले पद्यमें 'न मां प्रपद्यन्ते' इतना तो मूल वाक्य है, शेष पाँच उग्र वचन हैं। अत अप्रपन्नोंको पापी, मूढ, नराधम और मायावश नष्टज्ञान कहनेपर भी भगवान्‌को संतोष न हुआ, तब आवेशमें आकर उन्हें 'आसुरं भावमाश्रिताः' तक कह डाला, जिसका सीधा-सीधा अर्थ यह होता है कि 'मेरी शरणमें न आनेवाले आसुरी स्वभाव हैं।' दूसरे पद्यमें तो आवेशका स्वर इतना ऊँचा हो गया कि भगवान्‌ने अपनी बात अनसुनी कर देनेपर अर्जुनको सम्भावित अकल्याणकी चेतावनीमात्र देना ही पर्याप्त नहीं समझा अपितु विनष्ट हो जानेका धमकीपूर्ण शाप सहन करनेको उद्यत रहनेके लिये भी आतङ्कित कर दिया।

इससे सिद्ध है कि सर्वशास्त्रमयी गीताका फलितार्थ एकमात्र 'प्रपत्तियोग' है। इसी कारण गीताके मुख्य तात्पर्यात्मक एवं हृदयभूत इस मार्गमें अकारणकरुण करुणावरुणालय श्रीमन्नारायण समस्त जीवोंको अर्जुनके व्याजसे परिनिष्ठित करना चाहते हैं।

मुक्तिका चरम साधन एकमात्र 'प्रपत्ति' है। शास्त्रान्तरमें इसी तत्त्वको अन्यान्य नाम देकर मोक्षका हेतु बताया गया है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' आदि वेद-वाक्योंमें 'ज्ञान' शब्दका तात्पर्य 'अस्मात्पश्वादयमर्थो बोद्धव्यः' के अनुसार शक्तिग्रहपूर्वक 'स्थाणुरयम्, पुरुषोऽयम्' जान लेनामात्र नहीं है; अपितु 'जीव सर्वथा और सर्वदा भगवदाश्रित हुए बिना सर्वविध उपद्रवोंसे अत्यन्त निवृत्ति नहीं पा सकता'—यह तत्त्व हृदयंगम कर लेना ही वास्तवमें मोक्षका अव्यभिचरित साधन है। इसी प्रकार मोक्षदायिनी भक्तिका तात्पर्य भी 'भजनं भक्तिः' के अनुसार श्रवण-कीर्तन मात्र नहीं, अपितु उक्त आरम्भिक श्रेणियोंको लाँघते-लाँघते अन्तिम कक्षा 'आत्मनिवेदन' में आरूढ हो जाना ही मुक्तिका साक्षात् साधन है। इसलिये ज्ञानकी पराकाष्ठा, भक्तिकी चरम दशा, आत्मनिवेदन, अथवा शरणागति—ये सब 'प्रपत्ति' के ही अभिन्न नामान्तर हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रवादोंका समन्वयात्मक सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ है, अतएव इसमें सब वादोंका यथावत् निरूपण करते हुए भी श्रीमन्नारायण भगवान्‌ने 'प्रपत्तियोग' का सर्वोपरित्व सुस्थिर किया है, जो उपक्रम, उपसंहार तथा अनुवृत्ति आदि प्रमाणोंद्वारा सुसिद्ध है।

भगवान्‌का निज गृह

वाल्मीकिजी कहते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
(रामचरित० अयोध्या०)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्ति

(लेखक—श्रीपाण्डुरङ्ग अथावले शास्त्रीजी)

श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे यह प्रश्न पूछते हैं कि 'जो अनन्य-प्रेमी भक्तजन निरन्तर आपके भजन और ध्यानमें लगे हुए आपके सगुणरूपकी उपासना करते हैं और जो ज्ञानीजन आपके अविनाशी सच्चिदानन्द निर्गुण निराकार तत्त्वकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमें उत्तम योगवेत्ता कौन है ?'

वास्तवमें यह प्रश्न भगवान् श्रीकृष्णको अत्यन्त कठिन परिस्थितिमें रख देता है। यदि कोई व्यक्ति मातासे यह पूछे कि उसका प्रेम उसके पाँच वर्षके बालकपर अधिक है या पचीस वर्षके युवा पुत्रपर ? उस समय माताकी जो स्थिति होगी, वैसी ही स्थिति भगवान्‌की यहाँपर हुई है; क्योंकि माताकी दृष्टि दोनोंपर समान ही है। किंतु प्रत्यक्ष सत्य इसके विपरीत है। माता पाँच वर्षके बालकके सभी काम स्वयं करती है और पचीस वर्षके युवक पुत्रको अपने काम अपने हाथोंसे ही करने पड़ते हैं। इसलिये भगवान् इन दोनों प्रकारके भक्तोंका वर्णन करते समय अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। २—४)

उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान् स्पष्टरूपसे कहते हैं कि 'दोनों प्रकारके भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं—दोनों ही मेरे हैं और मैं दोनोंका हूँ। किंतु जहाँ साधनाका प्रश्न आता है, वहाँ दोनोंमें अन्तर है। यद्यपि सगुणोपासक और निर्गुणोपासक दोनोंका लक्ष्य, दोनोंका साध्य एक ही है, फिर भी साधनाकी दृष्टिसे सगुणोपासना सीधी, सरल और सुखद है तथा निर्गुणोपासना टेढ़ी, कठिन और दुःखद है। इस भूमिकाका स्पष्टीकरण करते हुए ही भगवान् कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२। ५)

अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, निराकार ब्रह्मस्वरूप परमात्माके निर्गुण भावकी प्रतीति बुद्धिगम्य और अव्यक्त होनेके कारण इन्द्रियोंद्वारा उसकी अनुभूति नहीं होती। इसी कारण निर्गुणकी उपासना क्लेशमय होती है। किंतु दोनों प्रकारके स्वरूपोंमें जो परमेश्वर अचिन्त्य, सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी हमारे ही समान हमसे बातचीत करेगा, हमारे ऊपर ममत्व रखेगा, जिसे हम अपना कह सकेंगे, जो हमारे सुख-दुःखोंको सुन और समझ सकेगा और हमारे अपराधोंको क्षमा कर देगा और जिसे हम अपना और जो हमें अपना कह सकेगा और जिससे ऐसा प्रत्यक्ष सम्बन्ध बाँधा जा सकेगा, जो पिताके समान हमारी रक्षा करेगा, जो हमारा भाई, पति, पोषणकर्ता, स्वामी, साक्षी, विश्रान्ति-स्थान, आधार और सखा है और जो माँके समान हमें अपने छोटे बालककी भाँति सँभालेगा—ऐसा जो सत्यसंकल्प, सकलैश्वर्य-सम्पन्न, दयासागर, भक्तवत्सल, परम पावन, परमोदार, परम कारुणिक, परम पूज्य, सर्वसुन्दर, सकलगुणनिधान, सगुण और प्रेममय परमेश्वर है, उसका स्वीकार मनुष्य भक्ति करनेके लिये सहज ही कर लेगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि सगुण भक्तिका साधनमार्ग राजमार्ग है और निर्गुणोपासनाका मार्ग ऊबड़-खाबड़, पत्थरों, काँटों और झाड़ियोंसे संकुल वनपथ है। इस सगुण भक्तिमार्गका रहस्योद्घाटन भगवान् गीताके नवें अध्यायके आरम्भमें करते हैं—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। १-२)

अर्थात् सगुणोपासना, राजयोग या भक्तिमार्ग ज्ञान-विज्ञानसे संयुक्त, परम पवित्र, प्रत्यक्ष, धर्मयुक्त और सुखकर है। किंतु यह बात समझमें आनी बहुत कठिन है। इसीलिये भगवान्‌ने इसे 'राजविद्या राजगुह्यम्' कहा है।

सर ए. डी. एडिंग्टन लिखते हैं—

"In history religious mysticism has often been associated with extravagances that cannot be approved.........

"A point that must be insisted on is that religion or contact with spiritual power, if it has any general importance, must be a commonplace matter of daily life and it should be treated as such in any discussion."

("The Nature of the physical World" by Sir A. D. Eddington)

अर्थात् भक्ति-मार्ग अतिशयोक्तिपूर्ण है, यह कहते हुए भी उसकी सर्वसाधारणके लिये दैनन्दिन जीवनमें महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है—यह एडिंग्टन-जैसे विद्वानोंको भी स्वीकार करना पड़ा है।

जिस प्रकार ज्ञान-मार्गका मुख्य आधार शक्ति और बुद्धि हैं, उसी प्रकार भक्ति-मार्गका मुख्य आधार श्रद्धा और विश्वास हैं। जगत्‌में ऐश्वरी सत्ताकी प्रतीतिके लिये ग्रन्थोंके अध्ययन, अभ्यास, विद्वत्ता, अधिकार इत्यादिकी आवश्यकता नहीं है। मान लीजिये एक जङ्गली मनुष्य किसी जङ्गलमें सो गया है और वह जब उठता है, तब अपने चारों ओर पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, पर्वत, नदी इत्यादिको देखता है और विचार करता है कि 'ये सब मैंने तो तैयार किये नहीं और मैं कर भी नहीं सकता। फिर, ऐसी कोई वरिष्ठ सत्ता होनी ही चाहिये, जिसने यह चित्र-विचित्र और आश्चर्यमय जगत् निर्माण किया है।' इसी प्रकार यदि थोड़ा और विचार किया जाय तो सहज ही यह समझमें आ जायगा कि इस बाह्य जगत्‌की प्रतीतिका कारण मेरे अंदर ही है अर्थात् वह मेरे पास ही है; क्योंकि मैं हूँ और मेरा अस्तित्व है, तभी मेरे लिये बाह्य जगत् और उसके दृश्योंका अस्तित्व है। जगत्‌में सुगन्ध है, इसकी प्रतीति घ्राणेन्द्रियद्वारा होती है; नाकके बिना चमेली, जूही, मोगरा, गुलाब आदिकी सुगन्ध निरर्थक है। इसी प्रकार रसोंकी प्रतीति जिह्वासे, सुन्दरताकी प्रतीति नेत्रोंसे होती है।

अब प्रश्न यह है कि यह बाह्य दृश्य जगत् अचिन्त्य प्रभु-सत्ताद्वारा क्यों निर्मित हुआ ? इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि प्राणिमात्रको ऐश्वरी सत्ताकी प्रतीति हो, ईश्वरपर श्रद्धा और विश्वास हो—इसके लिये ही यह समस्त जगत् निर्माण किया गया है। परंतु यह उत्तर बौद्धिक है। इससे भी अधिक हृदयग्राही उत्तर यह है कि यह समस्त विश्व मेरे ईश्वरने मेरे लिये ही निर्माण किया है। इस उत्तरसे विश्वम्भर, विश्व और मेरे बीचका जो व्यवधान है, जो पर्दा है, वह हट जाता है और मेरा एवं प्रभुका सम्बन्ध अत्यन्त निकटका अर्थात् प्रिय और प्रियतमका स्थापित हो जाता है। विश्वरूप-दर्शनके पश्चात् अर्जुन गीतामें यही बात कहते हैं—

> पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
> प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥
> (११।४४)

'पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करता है—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं।'

यूरोपके प्रसिद्ध वैज्ञानिक रेकैजेक (Recejec) ने इस प्रेममय सम्बन्धकी आन्तर एवं बाह्य अनुभूति इन शब्दोंमें व्यक्त की है—

"I live, yet not I, but God in me."

अर्थात् मैं जीवित हूँ। पर मुझमें मेरा 'अहम्' नहीं है, मुझमें मेरा ईश्वर ही ओत-प्रोत है।

"Mere perceiving of Reality would not do, but participating in It, possessing and being possessed by It."

अर्थात् केवल सत्यका अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं है, (केवल ऐश्वरी सत्ताका ज्ञान ही सब कुछ नहीं है) किंतु भीतर-बाहर उसीसे ओत-प्रोत हो जाना ही सच्ची भक्ति है। यदि एक शब्दमें कहें तो—'गोपीवृत्ति'। प्रभास-क्षेत्रमें गोपियोंने भगवान्‌के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपका वर्णन करते हुए जो भक्तिका रहस्योद्घाटन किया है, वह अत्यन्त हृदयग्राही है—

> आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
> योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
> संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
> गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥
> (श्रीमद्भा० १०।८२।४९)

'हे पद्मनाभ ! तुम्हारे चरणारविन्द अगाध ज्ञानी योगेश्वरोंद्वारा हृदयोंमें चिन्तनीय बतलाये गये हैं। संसारकूपमें गिरे हुए हम जीवोंके अवलम्बस्वरूप वे चरण गृहस्थोंकी दशामें फँसी हुई हम सबके हृदयोंमें भी सदा प्रकट रहें।'

इसी प्रकारकी अनुभूतिका वर्णन कविवर भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजीने किया है—

> पिया प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरन को अब हेरिए का ।
> सुख छाँड़ि के संगम को तुम्हरे इन तुच्छन को अब टेरिए का ॥

हरिचंदजू हीरन को बेवहार के कैंचिन को लै पेलिए का।
जिन आँखिनमें तुव रूप बस्यौ, उन आँखिन सौं अब देखिए का॥

अतएव हमारे उस ईश्वरको देखनेके लिये प्रेमका चश्मा लगाना पड़ेगा। इसीके लिये स्वामी विवेकानन्दने अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंसके सामने यों आत्मनिवेदन किया था—

कब दिन हबे से प्रेम संचार।
हये पूर्णकाम, बलिबो हरिनाम, नयने बहिबे अश्रुधार॥
कबे हबे आमार शुद्ध प्राण मन, कबे जाबो आमि प्रेमेर वृन्दावन।
संसार बंधन हइबे मोचन, ज्ञानाञ्जन जाबे लोचन आँधार॥
कबे परशमणि करे परशन, लौहमय देह हइबे काञ्चन।
हरिमय विश्व करिबो दर्शन, लुटाइबो भक्तिपथे अनिवार॥
हाय! कब जाबे आमार धर्म कर्म, कबे जाबे जाति-कुलेर मर्म।
कबे जाबे भय भावना भ्रम, परिहरि अभिमान लोकाचार॥
माखि सर्व अंगे भक्त पद धूलि, काँधे लये चिर वैराग्येर झूलि।
पिब प्रेम वारि दुइ हात तुलि, अञ्जलि अञ्जलि प्रेम यमुनार॥
प्रेम पागल हये हाँसिबो काँदिबो, सच्चिदानंद सागरे भासिबो।
आपनि मातिए, सकले मातायो, हरिपदे नित्य करिबो विहार॥

(श्रीरामकृष्ण परमहंस कथामृत (बँगला) पहला भाग)

'इस प्रेमका संचार कब होगा?

'जब पूर्णकाम होकर, हरिनामकी रट लगाऊँगा और आँखोंसे अश्रुधारा बहेगी! मेरे प्राण-मन कब शुद्ध होंगे, कब मैं प्रेमके वृन्दावन जाऊँगा? (कब) संसारका बन्धन टूटेगा, और ज्ञानाञ्जनके प्रभावसे आँखोंका अन्धकार दूर होगा? कब प्रेमरूपी पारस-मणिका स्पर्श करके मेरा लौहमय देह काञ्चन हो जायगा? (कब) विश्वको हरिमय देखूँगा, भक्तिपथमें बेबस होकर लोटूँगा। हाय! मेरे धर्म-कर्म कब छूटेंगे, कब जाति-कुलका अभिमान दूर होगा? कब भय-चिन्ता-भ्रम जायँगे? (कब) लोकाचारके अभिमानको छोड़कर, सारे अङ्गमें भक्तकी चरण-धूलि लपेटकर, कंधेपर स्थायी वैराग्यकी झोली लेकर प्रेम-यमुनाका प्रेम-सलिल दोनों हाथोंमें लेकर अञ्जलि भर-भरकर पीऊँगा? (कब) प्रेममें पागल होकर हँसूँगा, रोऊँगा, सच्चिदानन्द-सागरमें डूबूँ-उतराऊँगा, स्वयं मतवाला होकर सबको मतवाला बनाऊँगा और नित्य श्रीहरि-चरणोंमें विहार करूँगा?'

उक्त प्रकारसे प्रभुके साथ प्रेमका सम्बन्ध स्थापित हो जानेके पश्चात् प्रत्येक देश, काल और परिस्थितिमें, प्रत्येक व्यवहारमें प्रभु-स्मरण होता रहेगा। इस प्रकारके प्रेमकी प्रतीति, उसमें श्रद्धा और विश्वास तथा दृढ़ताका नाम ही भक्ति है। इस प्रकारके प्रेम-सम्बन्धको जानने-समझनेके लिये किसी प्रकारके अधिकारविशेष, विद्वत्ता, तर्क या अनुमानकी आवश्यकता नहीं है। जिस प्रभुशक्तिने जगत्के लिये हवा-पानी और सीखनेके लिये ज्ञान (संवेदन-शक्ति) की निःशुल्क व्यवस्था की है, उसको जानना और समझना कितना सीधा और सरल है।

ऐश्वरी सत्ताको अपना लेनेपर यह सहज ही समझमें आ जाता है कि रात-दिन प्रभु मुझे सँभालते हैं, जगाते हैं, सुलाते हैं, खाया हुआ पचाते हैं, मेरे शरीरमें रहकर मेरी रक्षा करते हैं। उन्हींकी सामर्थ्यसे मेरी जीवन-नौका चलती है। मेरी प्रत्येक कृति उन्हींकी सत्तासे सम्पन्न होती है। अतएव इन्द्रियाँ भी मेरी नहीं और उनके व्यापार भी मेरे नहीं। इसलिये प्रत्येक कर्म प्रभुको अर्पण करना—यही मेरा काम है। मेरी धारणा है कि गीताके निम्न श्लोकमें यही प्रतिपादन किया गया है—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९। २७)

इसी भक्तिभावको एक ईसाई संतने यों व्यक्त किया है—

Oh to be nothing, nothing!
Only to lie at his feet
A broken and empty vessel,
For the master's use made meet,
Empty that he may fill me,
As forth to his services I go—
Broken so that more freely
His life through mine may flow.

गीतामें अर्जुनकी भूमिका एक संशयात्माकी भूमिका है। गीताके प्रथम अध्यायमें अर्जुन बुद्धिवादद्वारा अपनी कर्तव्य-च्युतिको छिपानेका प्रयत्न करते हैं। इस बुद्धिवादी संशयका उत्तर भगवान् गीताके सातवें अध्यायतक बुद्धिवादद्वारा ही देते हैं। इसके फलस्वरूप अर्जुनको बौद्धिक शान्ति प्राप्त होती है। वे जगत् और व्यवहारका योग्य दृष्टिकोण प्राप्त होनेके पश्चात् आठवें अध्यायके आरम्भमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत्के रहस्योंको जाननेकी इच्छासे यह प्रश्न पूछते हैं—

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥
(गीता ८। १-२)

अर्जुनके उक्त प्रश्नोंका उत्तर भगवान् गीताके आठवें और नवें अध्यायोंमें विस्तारपूर्वक देते हैं । इससे अर्जुनकी सूक्ष्मजगत्-सम्बन्धी शङ्काओंका समाधान हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्णके तात्त्विक स्वरूपको जान लेनेपर कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
(गीता १० । १२)

किंतु परब्रह्मके उक्त स्वरूपको जान लेने और समझ लेनेके पश्चात् स्वभावतः अर्जुनके मनमें उसके प्रत्यक्ष दर्शनकी इच्छा जागती है और ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपदर्शनके पश्चात् उसकी समझमें आता है कि यह स्वरूप इतना महान् है कि इसकी उपासना या भक्ति करना असम्भव है । अतएव वह फिर भगवान्‌से सौम्यस्वरूप कृष्णवपु धारण करनेकी प्रार्थना करता है ।

इस प्रकार ग्यारहवें अध्यायतक अर्जुनके सभी संशयोंका उच्छेद हो जाता है और वह निःसंशय हो जाता है। तथापि भगवान् उससे अपने उपदेशोंके अनुसार जो कार्य कराना चाहते थे, उसे करनेकी उत्कण्ठा अर्जुनमें नहीं दिखायी देती । बुद्धिवादका यह वैगुण्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है । संशय-शमनके पश्चात् कृतिशीलता अथवा प्रभु-कार्य करनेकी उत्कट अभिलाषाका निर्माण करनेके लिये ही भगवान्‌को बारहवें अध्यायमें फिरसे भक्तिका रहस्य विस्तारपूर्वक अर्जुनको समझानेकी आवश्यकता हुई; क्योंकि केवल ज्ञान-द्वारा निःसंशय हुआ जीव पङ्गु एवं स्थिर (Static) हो जाता है । उसे फिरसे कृतिशील बनानेके लिये श्रद्धाकी प्रेरक शक्ति (Dynamic force of faith) की आवश्यकता होती है; इसी प्रेरक-शक्तिका नाम 'भक्ति' है ।

अर्जुनकी इस स्थितिका मुख्य कारण यह है कि भगवान्‌ने गीतामें दूसरे अध्यायसे आठवें अध्यायतक जिस बुद्धियोग (कर्मयोग) का तर्कशुद्ध मार्गदर्शन किया, वह अभीष्ट-फलदायी है—यह बात अर्जुनकी समझमें आ गयी, किंतु प्रत्यक्ष कर्म करते हुए उसके फलमें निरपेक्षता और अहंकार-शून्यताका जो उपदेश श्रीकृष्णने दिया, वह उसकी समझमें उतना नहीं उतरा । प्रत्यक्ष कर्म करते हुए फल-निरपेक्ष और अहंकार-शून्य रहना बहुत कठिन है । ऐसा मैं कर सकूँगा, यह विश्वास अर्जुनको नहीं था । अतएव कृतिकालीन अहंकर्तृत्व और कर्मफलके त्यागसे भी सरल—फलतः सभी कृतियाँ ईश्वरार्पण करनेका एक अन्य पर्याय अर्जुनके सामने रखकर भगवान्‌ने भक्तिका एक नया संदेश और मार्ग प्रतिष्ठापित किया ।

गीतामें जो ज्ञानयोग और भक्तियोगका समन्वय कर्मयोगमें किया गया है, उसके दो पक्ष हैं—एक आन्तर भक्ति और दूसरी बहिर्भक्ति । आन्तर भक्तिद्वारा व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास और बहिर्भक्तिद्वारा व्यक्तिगत विकासको समष्टिके विकासमें जोड़ना होता है । इन दोनों प्रकारकी भक्तिके समन्वयका नाम ही पराभक्ति या कल्पना भक्ति है। आन्तर भक्तिमें सगुणोपासनाद्वारा चित्तशुद्धि एवं चित्तैकाग्रता तथा ध्यानद्वारा पूर्णताका अनुभव प्राप्त करनेका रहस्य गीतामें समझाया गया है । साथ-ही-साथ जो ईश्वर मेरा पालन-कर्ता और पिता है, उसका यह जगत् है; इसलिये इस जगत्‌को सुधारनेका प्रयत्न करना मेरा पवित्र कर्तव्य है—यह समझकर अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन-द्वारा प्रभुके ज्ञानमय और प्रेममय स्वरूपकी भक्ति करनेका मार्गदर्शन जगत्‌को देनेके कार्यमें योगदान करना—यही बहिर्भक्ति है । विश्वम्भर और विश्वरूप परमेश्वर दोनों-की उपासना एक साथ चलनी चाहिये । जो लोग ऐसा नहीं करते और केवल खाना-पीना और मौज करना ही जीवनका लक्ष्य मानते हैं, उनके लिये भगवान् कहते हैं—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥
(गीता ९ । १२)

अर्थात् ऐसे वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञानवाले अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी एवं मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं ।

आज इस जगत्‌में जड़वाद चारों ओर नग्न नृत्य कर रहा है । मानव-जीवनमें सदाचार, नैतिकता, शालीनता, सुसंस्कारिता, पूज्योंके प्रति आदरभाव और ईश्वरप्रेमका नितान्त अभाव हो गया है । इस जड़वादके विरुद्ध जो भगवद्भक्त प्रभुकार्य करनेके लिये अपना समस्त जीवन अर्पित करते हैं, उनको आश्वासन देते हुए भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

अर्थात् ऐसे प्रभुकार्यमें सतत संलग्न भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं चलाता हूँ । जो भक्त यों नहीं कर सकते, किंतु यथाशक्ति, यथोचित एवं यथासमय प्रभुकार्य करनेके लिये

तैयार रहते हैं, उन्हें भी भगवान् आश्वासन देते हुए कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

किंतु यदि कोई यह कहे कि 'मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, मुझसे प्रभु-कार्य कैसे हो सकेगा, अथवा मैं दुराचारी हूँ, मैं क्या करूँ?' उन्हें भी भगवान् आश्वासन देते हुए कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इसी प्रकार जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि उच्च वर्णोंमें नहीं हैं, उनको भी भगवान् आश्वासन देते हुए कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

और अन्तमें सभीको कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गीता ९। ३४)

अतएव आबाल-वृद्ध-नर-नारी सभी प्रभुकी आन्तर एवं बाह्य भक्तिद्वारा व्यक्तिगत और वैश्विक विकासमें अपना योगदान करते रहें—यही श्रीमद्भगवद्गीताके भक्तियोगका सार-तत्त्व है।

याचना

देव! दया कर तनिक देख लो, और नहीं कुछ मुझे चाहिये।
पद-पद्मोंकी भक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये॥
काम-क्रोध औ लोभ-मोहमें, पीस रहा संसार।
काल कराल व्याल-सम पीछे, दुखका पारावार॥
सहनेकी कुछ शक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये। पद०॥ १॥
दौड़ा चारो ओर जगतमें, लेकर सुखकी चाह।
अन्धकारमय भवाटवीमें, मिली न कोई राह॥
राह-प्रदर्शक व्यक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये॥ पद०॥ २॥
कालिन्दीके कलित कूलपर, हरित कदँबकी छाहँ।
वंशीधरकी वंशी बजती, दे राधा गलबाहँ॥
युगल-चरण-अनुरक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये।
पद-पद्मोंकी भक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये॥

—शिवनाथ दुबे

नारद-पञ्चरात्रमें भगवच्चिन्तन

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव, बी० ए०)

पाञ्चरात्र-शास्त्र पापनाशक, पुण्यप्रद और पवित्र भोग-मोक्षप्रदायक है। वह भगवत्तत्त्वका परिज्ञान कराता है। जयाख्यसंहितामें कहा गया है—

अज्ञाते भगवत्तत्त्वे दुर्लभा परमा गतिः।

(जयाख्यसंहिता १ । ३८)

'जबतक भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं हो जाता, परम गति—अविकल मुक्ति दुर्लभ ही है।' विपर्यार्णवमें निमग्न प्राणियोंके समुद्धरणपर पाञ्चरात्र-शास्त्रमें अमित प्रकाश डाला गया है। पाञ्चरात्र-शास्त्रका वर्णन चतुर्वेदसमन्वित महोपनिषद् कहकर किया गया है। महाभारतके शान्तिपर्वमें भगवान् व्यासका कथन है—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।

जिस प्रकार अमृत पी लेनेपर किसी अन्य वस्तुमें स्पृहा नहीं रह जाती, उसी प्रकार पाञ्चरात्रका ज्ञान हो जानेपर संतोंकी स्पृहा किसी दूसरेमें नहीं रहती—

यथा निपीय पीयूषं न स्पृहा चान्यवस्तुषु।
पञ्चरात्रमभिज्ञाय नान्येषु च स्पृहा सताम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १ । १ । ८२)

श्रीशिवने नारदसे कहा कि तीनों लोकोंमें इस पाञ्चरात्रज्ञानकी प्राप्ति बहुत कठिन है। यह प्रकृतिसे परे है, सबका इष्ट है और सब इसकी वाञ्छा करते हैं; कारणोंका कारण तथा कर्मके मूलका नाशक, अनन्तबीजरूप और अज्ञानान्धकारके नाशके लिये दीपक-सदृश है—

प्रकृतेः परमिष्टं च सर्वेषामभिवाञ्छितम्।
स्वेच्छामयं परं ब्रह्म पञ्चरात्राभिधं स्मृतम्॥
कारणं कारणानां च कर्ममूलनिकृन्तनम्।
अनन्तबीजरूपं च स्वाज्ञानध्वान्तदीपकम्॥

(नारद-पञ्चरात्र २ । १ । २-३)

पञ्चरात्ररूप दीपकके प्रकाशमें ही भगवत्तत्त्वका परिज्ञान होता है—पाञ्चरात्र-शास्त्र ऐसा प्रतिपादन करता है। नारद-पञ्चरात्र ज्ञानामृत है। 'रात्र' ज्ञानवाचक है। तत्त्व, मुक्ति, भक्ति, योग और विषय—उसके अङ्ग हैं। पञ्चरात्र सात प्रकारके कहे गये हैं—ब्राह्म, शैव, कौमार, वासिष्ठ, कापिल, गौतमीय तथा नारदीय। नारदने शेष छः पञ्चरात्र, वेद, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र आदिका मन्थन करके ज्ञानामृत-रूप नारदीय पञ्चरात्र प्रस्तुत किया। यह समस्त वेदोंका सार है। नारद-पञ्चरात्रमें ही व्यासजीकी शुकदेवके प्रति उक्ति है—

षट् पञ्चरात्रं वेदांश्च पुराणानि च सर्वशः।
इतिहासं धर्मशास्त्रं शास्त्रं च विविधोपजम्॥
दृष्ट्वा सर्वं समालोच्य ज्ञानं सम्प्राप्य शंकरात्।
ज्ञानामृतं पञ्चरात्रं चकार नारदो मुनिः॥
सारभूतं च सर्वेषां वेदानां परमाद्भुतम्।
नारदीयं पञ्चरात्रं पुराणेषु सुदुर्लभम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १ । १ । ४८)

नारद-पञ्चरात्र प्राचीनतम वैष्णव-संहिताओंमें एक है। इसमें श्रीकृष्ण और उनकी प्राणप्रियतमा श्रीराधाकी उपासना-पद्धतिपर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है; जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, इहलोक और परलोकका समन्वय किया गया है, एवं इन विचारोंके द्वारा भगवान्‌की [illegible] और संकेत किया गया है। इसमें धर्म, अर्थ, कामका भी विवेचन किया गया है तथा वैराग्यभावना ही जीवका ध्येय है—इसपर विशेष जोर दिया गया है। श्रीकृष्णकी भक्ति और प्रेमकी इसमें अच्छी तरह आलोचना की गयी है।

नारद-पञ्चरात्रमें वर्णित भगवदुपासनासम्बन्धी ज्ञानके मूलस्रोत श्रीकृष्ण ही हैं। नारद-पञ्चरात्रमें व्यासकी शुकदेवके प्रति उक्ति है कि प्राचीन कालमें गोलोकमें [illegible] भगवती विरजाके तटपर पवित्र वटवृक्षके नीचे श्रीराधाके समक्ष श्रीकृष्णने ब्रह्माको नारदपञ्चरात्र सुनाया। ब्रह्माने इसे श्रवणकर भगवती गङ्गाके तटपर शिवको [illegible]। शिवने नारदको सुनाया और नारदने [illegible] पुष्कर-तीर्थमें मेरे समक्ष इसकी पुनरावृत्ति की—

ज्ञानाधिकमिदं शुद्धं परं ज्ञानामृतं शुभम्।
पुरा कृष्णो हि गोलोके [illegible] च पर्वणि॥
सुपुण्ये विरजातीरे वटमूले मनोहरे।
पुरतो राधिकायाश्च ब्रह्माणं कमलोद्भवम्॥
तमुवाच महामन्त्रं [illegible] मुने।
पञ्चरात्रमिदं पुण्यं ब्रह्मा च कृपया [illegible]॥
प्रणम्य [illegible] प्रददौ [illegible]।
सकल्या तं [illegible] परमादरम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १ । १ । [illegible])

इन उद्धरणसे यह बात प्रमाणित हो गयी कि नारद-पञ्चरात्र श्रीकृष्णद्वारा प्रदत्त होनेसे परम दिव्य तथा परम पवित्र भक्तिशास्त्र है, जिसका मूलविषय भगवच्चिन्तन है। यह वेदरूपी दधिसिन्धुका नवनीत है, ज्ञानसिन्धुका अमृत है। नारद-पञ्चरात्रकी प्रणयन-भूमिपर नारदकी स्वीकृति है—

वेदेभ्यो दधिसिन्धुभ्यश्चतुर्भ्यः सुमनोहरम्।
तज्ज्ञानमन्थदण्डेन संनिर्मथ्य नवं नवम्॥
नवनीतं समुद्धृत्य नत्वा शम्भोः पदाम्बुजम्।
विधिपुत्रो नारदोऽहं पञ्चरात्रं समारभे॥
(नारदपञ्चरात्र १।१।१०-११)

श्रीभगवान्के लीलाविस्तारके लिये शङ्करकी आज्ञासे नारदने पञ्चरात्रशास्त्र नारायणांश व्यासदेवको प्रदान किया। शङ्करने नारदको सावधान किया था—

अतः परं न दातव्यं यस्मै कस्मै च नारद।
विना नारायणांशं तं व्यासदेवं सुपुण्यदम्॥
(नारद-पञ्चरात्र १।१।१६)

नारद-पञ्चरात्रमें श्रीकृष्ण और श्रीराधा-विषयक सरस भक्ति-साधना तथा उनसे सम्बद्ध उपकरणोंका ही प्रचुरतासे चिन्तन किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि भक्ति अथवा उपासनाके द्वारा भगवान्‌की सेवा ही परम गति—मुक्ति है। सेवा अथवा भगवान्‌की पूजा इस पञ्चरात्र-के प्रकाशमें स्मरण, नामकीर्तन, वन्दन, चरण-सेवा, अर्चन और आत्मनिवेदनद्वारा सम्पन्न होती है। श्रीमद्भागवतपुराणमें इनके अतिरिक्त श्रवण, दास्य और सख्यका भी निर्देश किया गया है। भक्तिकी बड़ी महिमा गायी है नारदीय पञ्चरात्रमें शिवने। उनकी नारदके प्रति उक्ति है कि श्रीकृष्णविषयक भक्तिकी सोलहवीं कलाकी भी समता मुक्ति नहीं कर सकती—

सा च श्रीकृष्णभक्तेश्च कलां नार्हति षोडशीम्।
श्रीकृष्णभक्तसङ्गेन भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
(नारद-पञ्चरात्र २।२।२)

भक्तके सङ्गसे ही नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है। अभक्तोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये; उनके साथ संलाप, उनके शरीरका स्पर्श और उनके साथ भोजन करनेसे पापका भागी होना पड़ता है—

आलेषाभक्तसंसर्गाद् दुष्टान् सर्पाद् यथा नरः।
आलापाद् गात्रसंस्पर्शाच्छयनात् सहभोजनात्॥
(नारद-पञ्चरात्र २।२।६)

नारद-पञ्चरात्र भागवत-माधुर्यका निरूपण करनेवाला परम पवित्र वाङ्मय है। परम ब्रह्मकी स्वीकृति वासुदेवके रूपमें हुई है। नारद-पञ्चरात्रमें ही नहीं, जयाख्यसंहिता आदिमें भी ब्रह्म और वासुदेवकी अभिन्नताका बोध कराया गया है—

यत् सर्वव्यापकं देवं परमं ब्रह्म शाश्वतम्।
चित्सामान्यं जगत्यस्मिन् परमानन्दलक्षणम्॥
वासुदेवादभिन्नं तु वह्न्यर्केन्दुशतप्रभम्।
स वासुदेवो भगवांस्तद्धर्मा परमेश्वरः॥
(जयाख्यसंहिता ४।२-३)

परम ब्रह्म स्वसंवेद्य, अनुपम, सर्वक्रियाविनिर्मुक्त, सर्वाश्रय, परम गति और परमानन्दमय चित्रित किया गया है नारद-पञ्चरात्रमें। परम उपास्यरूपमें श्रीकृष्ण और श्रीराधाविषयक भक्तिका इसमें निरूपण है। श्रीकृष्ण निरीह, अति निर्लिप्त, निर्गुण परमात्मा हैं; उन्हींका ध्यान करना चाहिये, ऐसा नारद-पञ्चरात्रका मत है—

ध्यायेत् तं परमं ब्रह्म परमात्मानमीश्वरम्।
निरीहमतिनिर्लिप्तं निर्गुणं प्रकृतेः परम्॥
(नारद-पञ्चरात्र १।१।४)

समस्त वेद श्रीकृष्णका स्तवन करते हैं, पर उनका अन्त नहीं जानते, वे भक्तप्रिय, भक्तप्रभु और भक्तपर अनुग्रह करनेके लिये विग्रहधारी हैं। वे श्रीश, श्रीनिवास और राधिकेश्वर हैं; सबकी श्रीवृद्धि करते हैं—

स्तुवन्ति वेदा यं शश्वन्नान्तं जानन्ति यस्य ते।
तं स्तौमि परमानन्दं सानन्दं नन्दनन्दनम्॥
भक्तप्रियं च भक्तेशं भक्तानुग्रहविग्रहम्।
श्रीदं श्रीशं श्रीनिवासं श्रीकृष्णं राधिकेश्वरम्॥
(नारद-पञ्चरात्र १।१।७-८)

श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णकी प्राणाधिक प्रियतमा हैं, प्राणेश्वरी हैं, अभिन्न अङ्ग हैं। उनका चिन्तन भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन है; उनकी उपासना अथवा भक्ति श्रीकृष्ण-की ही उपासना अथवा भक्ति है। श्रीकृष्णकी अभिन्न-हृदया होनेके नाते, भगवान्‌की आह्लादिनी भागवती शक्ति होनेके नाते उनके स्वरूप, चिन्तन और ध्यानका नारद-पञ्चरात्रमें अत्यन्त पुनीत वर्णन मिलता है। वेद, पुराण, इतिहास और वेदाङ्गमें श्रीराधाका आख्यान सुदुर्लभ है।

नारद-भक्ति-सूत्रके अनुसार भक्तिका स्वरूप

[भक्तिपर देवर्षि नारदजीके ८४ सूत्र बड़े महत्त्वके हैं। यहाँ उनके सूत्रोंका भावार्थ दिया जाता है।]

देवर्षि नारदजीने भक्तिकी व्याख्या आरम्भ करके पहले भक्तिका रूप बताया कि 'वह भक्ति भगवान्‌के प्रति परम प्रेमरूपा है और अमृतस्वरूपा है। उस परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा भक्तिको प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध (सफल-जीवन) हो जाता है, अमर हो जाता है (जन्म-मृत्युको लाँघ जाता है) और तृप्त हो जाता है (उसके सारे अभाव मिट जाते हैं, कामना-वासनाएँ सदाके लिये शान्त हो जाती हैं)। उस भक्तिको प्राप्त करनेके बाद मनुष्यको न किसी भी वस्तुकी इच्छा रहती है न वह शोक करता है; न वह द्वेष करता है न किसी वस्तुमें भी आसक्त होता है और न उसे (विषयमय जगत्‌में) उत्साह ही रह जाता है। उस प्रेमरूपा भक्तिको पाकर मनुष्य (प्रेमसे) उन्मत्त हो जाता है, शान्त हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।' (सूत्र १ से ६)

इसके पश्चात् नारदजी प्रेमरूपा भक्तिको कामनाशून्य तथा निरोधरूपा बतलाते हुए कहते हैं कि 'वह कामनायुक्त नहीं है; क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है।

'निरोध कहते हैं—लौकिक-वैदिक समस्त व्यापारोंका प्रभुमें न्यास कर देनेको, और उस प्रियतम भगवान्‌में अनन्यता एवं उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनताको।

'अपने प्रियतम भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरे समस्त आश्रयोंके त्यागका नाम अनन्यता है और लौकिक तथा वैदिक कर्मोंमें भगवान्‌के अनुकूल (उनको सुख देनेवाले) कर्म करना ही प्रतिकूल विषयमें उदासीनता है।

'(परंतु विधि-निषेधसे अतीत अलौकिक प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिका मनमें) दृढ़ निश्चय करनेके बाद भी (जबतक प्रेमोन्मत्तताकी दशामें कर्मका ज्ञान छूट न जाय तबतक) शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये। यों न करनेपर यानी मनमाना आचरण करनेपर पतित होनेकी आशङ्का रहती है। लौकिक कर्मोंको भी (बाह्यज्ञान रहनेतक विधिपूर्वक) करना चाहिये; पर भोजनादि कार्य तो, जबतक शरीर रहेगा, तबतक होते ही रहेंगे।' (७ से १४)

तदनन्तर नारदजी भक्तिके लक्षणोंके सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंका मत बतलाते हुए उदाहरणसहित अपना मत बतलाते हैं। वे कहते हैं—

'अब नाना मतोंके अनुसार उस भक्तिके लक्षण कहते हैं। पराशरनन्दन श्रीवेदव्यासजीके मतानुसार भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना भक्ति है, श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्‌की कथा आदिमें अनुराग होना भक्ति है; श्रीशाण्डिल्य ऋषिके मतसे आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना भक्ति है, परंतु नारदके मतसे अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का तनिक-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल हो जाना ही भक्ति है। और यही ठीक है।

'ऐसी भक्ति व्रजगोपियोंकी है। (परम प्रेममयी गोपियोंमें) इस अवस्थामें भी माहात्म्य-ज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं है (अर्थात् वे श्रीकृष्णको भगवान् नहीं जानती हों, यह बात नहीं है)। उससे (माहात्म्यज्ञानसे) शून्य प्रेम तो जारोंके प्रेमके समान होता है; उस (कामजनित) प्रेममें प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है (वहाँ तो अपने इन्द्रिय-सुखकी मलिन कामना है)।' (सूत्र १५ से २४)

अब श्रीनारदजी उस प्रेमरूपा भक्तिकी महिमा बतलाते हुए उसीको वरण करनेकी शिक्षा देते हैं—

'वह प्रेमरूपा भक्ति कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है; क्योंकि वह फलरूपा है (उसका कोई अन्य फल नहीं है, वह स्वयं ही फल है)। ईश्वरका भी (लीलामें) अभिमानसे द्वेष है और दैन्यसे प्रेम है। किन्हीं आचार्योंका मत है कि उस प्रेमरूपा भक्तिका साधन ज्ञान ही है; दूसरे आचार्योंका मत है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर एक दूसरेके आश्रित हैं।

पूर्वकथित भक्तिकी फलरूपताको समझानेके लिये देवर्षि कहते हैं कि राजगृह और भोजनादिमें ऐसा ही देखा जाता है। (वहाँ केवल सुनने-जाननेसे काम नहीं चलता)। न तो जान लेनेमात्रसे राजाकी प्रसन्नता होगी और न भूख ही मिटेगी। अतएव (संसारके बन्धनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालोंको भक्तिका ही वरण करना चाहिये।' (सूत्र २५ से ३३)

इसके पश्चात् उस प्रेमरूपा भक्तिके साधन और सत्सङ्गकी महिमाका वर्णन करते हैं—

'आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं । वह (भक्ति) विषयत्याग तथा सङ्गत्यागसे मिलती है, अखण्ड भजनसे तथा लोकसमाजमें भी (केवल) भगवद्गुण-श्रवण एवं कीर्तनसे मिलती है, परन्तु (प्रेमभक्तिका) मुख्य साधन है—(भगवत्प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाका लेशमात्र । किंतु महापुरुषोंका सङ्ग कठिनाईसे प्राप्त होता है, अगम्य है (प्राप्त होनेपर भी उन्हें पहचानना कठिन है), (परंतु न पहचाननेपर भी महापुरुषोंका सङ्ग) अमोघ है (उससे लाभ होगा ही) । (महापुरुषोंका) सङ्ग भी उस (भगवान्) की कृपासे ही मिलता है; क्योंकि भगवान्में और उनके भक्तमें भेद नहीं होता । (अतएव) उस (महापुरुष-सङ्ग) की ही चेष्टा करो, उसीके लिये प्रयत्न करो ।' (सूत्र ३४ से ४२) ।

तदनन्तर भक्तिकी प्राप्तिमें कुसंगतिकी बड़ी बाधा बतलाते हुए नारदजी कहते हैं—

'दुस्सङ्गका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये; क्योंकि वह (दुस्सङ्ग) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और सर्वनाशका कारण होता है । ये (काम-क्रोधादि दोष) पहले तरङ्गकी तरह (बहुत हल्के रूपमें) आते हैं (और दुस्सङ्गसे विशाल) समुद्रका आकार धारण कर लेते हैं ।' (सूत्र ४३ से ४५)

अब मायासे तरकर अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त करनेका उपाय बतलाते हैं—

प्रश्न करते हैं—'मायासे कौन तरता है, कौन तरता है ?' इसका उत्तर वे स्वयं देते हैं—'जो समस्त सङ्गोंका त्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है, जो ममतारहित होता है । जो (विषयासक्त लोगोंसे अलग) एकान्त स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है तथा जो (सांसारिक) योग-क्षेमका त्याग कर देता है । जो कर्मफलका त्याग करता है, जो (भगवद्विरोधी) कर्मोंका भी भलीभाँति त्याग कर देता है और तब सब कुछ त्यागकर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है । (प्रेमकी तन्मयतामें) जो वेदोंका भी त्याग कर देता है, वह केवल (अखण्ड) अविच्छिन्न (असीम) प्रेम प्राप्त करता है । वह तरता है, वही तरता है, वह लोकोंको तार देता है (वह तरन-तारन बन जाता है) ।' (सूत्र ४६ से ५०)

अब प्रेमस्वरूपा भक्ति तथा गौणी भक्तिका स्वरूप बतलाते हैं—

'प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—गूँगेके स्वादकी तरह (वह कहा नहीं जा सकता) । किसी बिरले पात्रमें ऐसा प्रेम प्रकट भी हो जाता है । यह प्रेम गुणरहित है (गुणकी अपेक्षा नहीं रखता), कामनारहित (निष्काम) है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है (इसका तार कभी टूटता नहीं), सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है (इसका जल्दी पता नहीं चलता) और अनुभवरूप (स्वसंवेद्य) है । इस प्रेमको प्राप्त करके प्रेमी इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है (वह अपनी मन-बुद्धि इन्द्रियोंसे केवल प्रेमका ही अनुभव करता हुआ प्रेममय हो जाता है) ।

'गौणी भक्ति (सत्त्व-रज-तमरूप) गुणोंके भेदसे या आर्त आदि (आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी) के भेदसे तीन प्रकारकी होती है । इनमें उत्तर-उत्तरकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व उल्लिखित भक्ति अधिक कल्याणकारिणी (श्रेष्ठ) होती है ।' (सूत्र ५१ से ५७)

तदनन्तर भक्तिकी सुलभता तथा महत्ता बतलाते हुए, भक्तको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका उपदेश करते हैं—

'(भगवत्-प्राप्तिके) अन्य सब (साधनों) की अपेक्षा भक्ति सुलभ है, क्योंकि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है । भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है । (शान्ति और परमानन्दकी ही लोगोंको चरम कामना होती है और ये दोनों इस प्रेमभक्तिके स्वरूप ही हैं) ।

'(भक्त को) लोकहानि (लौकिक हानि) की चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह (भक्त) अपनेको तथा लौकिक-वैदिक (सब प्रकारके) कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर चुका होता है । परन्तु जबतक भक्तिमें सिद्धि न मिले (प्रेमकी उच्चतम स्थिति प्राप्त न हो जाय), तबतक लोक-व्यवहार (लौकिक व्यवहार) का (सर्वथा) त्याग नहीं करना चाहिये । परंतु फल त्यागकर उस भक्तिका साधन करना चाहिये । स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका चरित्र (कभी) नहीं सुनना चाहिये । अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिये । सब आचार भगवान्के अर्पण कर चुकनेपर (भी) यदि काम, क्रोध, अभिमानादि (स्वभावतः) बने रहें तो उन्हें (उनका प्रयोग) भी भगवान्के प्रति ही

करना चाहिये। तीन रूपोंका भङ्ग करके नित्य दास्यभक्तिसे या नित्य कान्ताभक्तिसे प्रेम ही करना चाहिये—प्रेम ही करना चाहिये।' (सूत्र ५८ से ६६)

अब श्रीनारदजी प्रेमी भक्तोंकी महिमाका बखान करते हैं—

'एकान्त (अनन्य) भक्त ही मुख्य (श्रेष्ठ) हैं। ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च, अश्रुयुक्त नेत्रोंसे उपलक्षित होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको ही नहीं, समूची पृथ्वीको पवित्र कर देते हैं; वे तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं; क्योंकि वे (भगवान्‌से) तन्मय होते हैं। (ऐसे भक्तोंका आविर्भाव देखकर) पितरलोग प्रमुदित हो उठते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथ (धन्य, सुरक्षित) हो जाती है। उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया आदिके कारण कोई भेद नहीं होता; क्योंकि (वे सब भक्त) उन (भगवान्) के ही होते हैं।' (सूत्र ६७ से ७३)

इसके बाद भक्तिके विघ्न तथा प्रधान सहायक साधनोंका वर्णन करते हैं—

'(भक्तको)वाद-विवाद (के पचड़े) में नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि वाद-विवादमें बढ़नेको जगह है और वह अनियत है (उससे किसी निर्णयपर भी नहीं पहुँचा जा सकता)।

'(भक्तिके साधकको) भक्तिशास्त्रोंका मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये जिनसे भक्ति तद्‌द्रुद होती है। जब सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदिका पूर्ण अभाव हो जायगा, (तब मैं भक्ति करूँगा) ऐसे कालकी बाट देखते हुए आधा क्षण भी (भजनके बिना) व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि सदाचारोंका भलीभाँति पालन करना चाहिये। सदा-सर्वदा सर्वभावसे निश्चिन्त होकर (केवल) भगवान्‌का भजन ही करना चाहिये।' (सूत्र ७४ से ७९)

अन्तमें देवर्षि नारदजी प्रेमस्वरूपा भक्तिका फल और उसकी सर्वश्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं—

'वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) गाये जानेपर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव करा देते हैं। तीनों कालोंमें सत्य भगवान्‌की भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है। यह प्रेमस्वरूपा भक्ति एक होकर भी (१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयतासक्ति और (११) परमविरहासक्ति—इस प्रकार ग्यारह प्रकारकी होती है।

'कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु नामक ऋषि, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनूमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोगोंकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न करके (सभी) एकमतसे यही कहते हैं।

'जो इस नारदोक्त शिवानुशासनमें विश्वास और श्रद्धा करते हैं, वे परम प्रियतम (भगवान्) को (परम प्रियतमरूपसे) प्राप्त करते हैं, परमप्रियतमको ही प्राप्त करते हैं।*' (सूत्र ८० से ८४)।

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय सब भय-शोकादिका नाशक है

ब्रह्माजी कहते हैं—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

(श्रीमद्भा० ३।९।६)

'जबतक पुरुष आपके अभयप्रद चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता, तभीतक उसे धन, घर और बन्धुजनोंके कारण प्राप्त होनेवाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं और तभीतक उसे मैं-मेरेपनका दुराग्रह रहता है, जो दुःखका एकमात्र कारण है।'

---

* इन सूत्रोंकी विशद व्याख्या पढ़नी हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'प्रेमदर्शन' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिये।

भक्तोंकी आराध्या भगवती दुर्गा

शक्तिवादमें भक्तिका स्थान

(लेखक—आचार्य श्रीजीव न्यायतीर्थ एम० ए०)

शक्ति—विश्वजननी—ब्रह्ममयी हैं। वे मधुर वात्सल्य-रसकी अमिय खान हैं। उनका अनुग्रह प्राप्त करके जीव कृतार्थ हो जाता है। वे स्नेहमयी जननी हैं—साधक उनका बालक संतान है। माँ यशोदाके लिये शिशु श्रीकृष्णकी तरह, विश्वजननीके लिये साधक संतान स्नेह-रससे आप्लुत हो उठता है, माँ-माँ पुकारकर रोता हुआ आकुल हो जाता है, केवल मातृदर्शनके लिये प्राणोंमें कातरताका अनुभव करता है। इसी भावसे शक्तिवादमें भी भक्तिमार्गका पता लगता है।

श्रुतिने कहा है—पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। 'पाण्डित्यका अभिमान त्यागकर बालकभावसे रहे।' इस प्रकार शिशुभावमें स्थित होना शक्तिवादका प्रधान साधनमार्ग है। जननीका वात्सल्य जैसे शिशुकी ओर धावित होता है, वैसे ही शिशुका अनुराग और अनन्य प्रेम भी मातृदर्शनके लिये स्फुरित होता है। शिशु माँको छोड़कर और कुछ नहीं जानता, शिशु रो उठता है माँके न दीखनेपर और जो कुछ चाहता है, सब माँसे ही। शिशुकी चाहकी सीमा नहीं है, पर वह अपना सारा अभाव बतलाता है माँको ही। इसीसे सप्तशतीके अर्गला-स्तोत्रमें हम लिखा हुआ पाते हैं—

देहि सौभाग्यमारोग्यं देहि मे परमं सुखम्।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि॥

(अर्गलास्तोत्र १२)

'तुम सौभाग्य दो, आरोग्य दो, परम सुख दो, रूप दो, जय दो, यश दो और शत्रुका नाश करो।' विश्वमें रहनेके लिये जो कुछ भी चाहिये, सभी उस विश्वजननीसे ही चाहता है—संतान। शक्तिवादका यह एक विचित्र मार्ग है।

भक्तिमार्गके साधकके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(३। २९। १३)

'भक्त भगवत्सेवाके सिवा और कुछ भी नहीं चाहता। भगवान्‌के लोकमें स्थिति, उनके समान ऐश्वर्य, समीप निवास, समरूपता—यहाँतक कि भगवान्‌के साथ एकत्व-प्राप्तिरूप मुक्ति देनेपर भी वह स्वीकार नहीं करता।'

और शक्तिवादमें केवल यह प्रार्थना है—माँ! तुम मुझको रूप दो, जय दो, यश दो, मेरे शत्रुका नाश करो।

साधनपथमें ऐसा विपरीत भाव दीखनेपर भी [illegible] साधककी गति समानभावमें पर्यवसित होती है। इसका कारण है वे तीन एषणाएँ या वासनाएँ, जो [illegible] रूपमें जन्म-जन्मान्तरसे साथ चली आ रही हैं। वे तीन हैं लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा अर्थात् मान, अर्थ और संतानकी कामना—मनुष्यके [illegible] हैं। शिशु, युवक, वृद्ध, नर और नारी—सभी इन तीनों वासनाओंकी पोटलियाँ [illegible] यतनसे हृदयमें छिपाये रहते हैं। साधक साधनामें [illegible] उस पोटलीको—उस कामनापूर्ण चित्तको [illegible] रखने जायगा? चिन्मयी जननीकी दृष्टिके बाहर कौन-सा स्थान है, जहाँ इस हृदय-मन्दिरको रखा जा सकता [illegible] जगत्में सकाम साधकोंकी संख्या ही अधिक है। निष्काम अधिकारी कितने हैं? सकाम उपासक जब माँकी आराधना करेगा, तब अपनी कामनाको छिपाकर कैसे [illegible]? जिसने अन्तरके गुप्त स्थानमें घर बना रखा है, उसको शरीरके या पूजा-मन्दिरके बाहर कैसे [illegible] जा सकता है? माँके सामने ही संतान अपने हृदयके [illegible] निवेदन करके कृतार्थ होता है। [illegible] ज्ञानभावके [illegible] प्रार्थना करनेका अधिकार रखनेवाले कितने हैं? [illegible] ज्ञान या भक्ति माँगना क्या कपट नहीं है? जो [illegible] संसारके अभावोंसे प्रताड़ित होकर दिन-रात कामनाके [illegible] मूढ़ हो रहे हैं, उनका मोहग्रस्त मलिन चित्त भक्तिका [illegible] कैसे बनेगा—उसमें भक्ति कैसे टिकेगी? [illegible] भोग-लिप्सा भूखी राक्षसीकी भाँति साधकके चित्तमें [illegible] बैठी है, यह बात वह साधक [illegible] दुर्गमहरणकारिणी माँके सिवा और किससे [illegible]।

जगत्‌के धनी-मानियोंके द्वारपर [illegible] की कामना कौन पूर्ण कर सकता है? [illegible] होना दूर रहा, अनेक धनियोंके द्वारपर [illegible] पीटनेपर भी किसीकी कामना पूरी नहीं होती। [illegible] माँगना भर रह जाता है। इसलिये [illegible] द्वारोंको त्यागकर विश्वकी [illegible] द्वारपर ही अपने चित्तकी [illegible] करता है। माँ ब्रह्माण्डभाण्डोदरी [illegible] है—उनके [illegible] विभव, समस्त ऐश्वर्य [illegible]

है) करोड़ों-करोड़ों वर्षोतक करोड़ों-करोड़ों संतान उस ऐश्वर्यका भोग करते रहें, तब भी उसमें कमी नहीं आ सकती । उनके ऐश्वर्यका भंडार अटूट है । साधककी कामनारूपिणी मधुमक्खी विश्वमाताके मधु-कलशमें पड़कर स्वयं ही मर जायगी । शाक्त साधक इस विपरीत मार्गसे ही सिद्धि प्राप्त करते हैं । कामना अभावकी प्रेरणासे जागती है और पूर्णताकी महिमासे वह आप ही नष्ट हो जाती है । जो संतान यह कह सकता है कि 'माँ ! मुझे जो कुछ चाहिये, सब तुम्हीं दो—मैं अन्य किसीके दरवाजेपर जाकर खड़ा नहीं होऊँगा', वही तो मातृभक्त संयमी संतान है । बहुत-से अक्षम, अधम क्षुद्रोंके दरवाजोंपर न भटककर यदि कोई मातृपदप्रान्तका आश्रय लेता है तो क्या वह संतान भी भक्तके रूपमें धन्य नहीं होगा ?

साधनाके अधिकारी दो प्रकारके होते हैं—सकाम और निष्काम । जन्म-जन्मान्तरकी साधनाके फलस्वरूप यदि कोई निष्कामभावसे शक्ति-पूजा करता है तो उसके लिये 'रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि' का तात्पर्य दूसरा होगा । जो ज्ञातव्य (जानने योग्य) है, उसीको मनुष्य जानना चाहता है । परमात्मा ही परम और चरम ज्ञातव्य है, ऐसा बहुत-से उपनिषदोंके द्वारा निरूपण किया गया है । परंतु वह ज्ञातव्य वस्तु अपने-आप नहीं मिलती, माताकी कृपासे ही प्राप्त होती है; इसीलिये उससे 'देहि' कहकर प्रार्थना की जाती है । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।' 'वह परमात्मा जिसको स्वेच्छासे वरण करता है, वही उसे पाता है । वह उसीके सामने अपने स्वरूपको प्रकट करता है ।' इस अनुग्रहके बिना मनुष्य उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता । वह पहले उपास्यरूपसे अप्रकट रहता है, फिर दशावश साधकका सौभाग्योदय होनेपर वह स्वयं ही प्रकट होकर भक्तकी मनोवाञ्छा पूर्ण करता है । यही 'रूप' की प्राप्ति है ।

'जयं देहि'—संसार-जय-कारी ग्रन्थोंका ज्ञान दो । निष्काम साधक संसारका जय करना ही चाहता है ।

> संसारजयिनं ग्रन्थं जयनामानमीरयेत् ।
> अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितं तथा ॥
> कार्ष्णं वेदं पञ्चमं च यन्महाभारतं विदुः ।
> तथैव विष्णुधर्माश्च शिवधर्माश्च शाश्वताः ॥
> जयेति नाम तेषां च प्रवदन्ति मनीषिणः ।

'जिन ग्रन्थोंकी सहायतासे संसार-जय किया जा सकता है, उनका नाम 'जय' है । अठारह पुराण, रामायण, कृष्ण-द्वैपायनरचित पञ्चम वेद महाभारत, विष्णुधर्मोत्तर, शिवधर्मोत्तर आदि ग्रन्थोंको 'जय' कहा गया है ।'

'यशो देहि' इन शब्दोंद्वारा 'सह नौ यशः' (तैत्तिरीय उ० १ । ३ । १)—इस श्रुतिसम्मत यशकी प्रार्थना की गयी है । उपनिषद्-सम्बन्धी ज्ञानसे जो यश मिलता है, यहाँ उसीकी चाह की गयी है । वह 'यश' देवताओंके द्वारा भी प्रशंसित है ।

'द्विषो जहि'—जीवके अन्तःशत्रु हैं काम-क्रोध-लोभादि षड्रिपु । इन्हीं शत्रुओंके विनाशके लिये यह प्रार्थना है । इन रिपुओंका मूल है—राग-द्वेष । जबतक चित्तमें राग-द्वेष रहेंगे, तबतक चित्त मलिन रहेगा । उस मलिन चित्तमें मातृमूर्ति प्रतिबिम्बित नहीं होगी । महाभारतके भीष्मपर्वमें कथा आती है—भगवान् श्रीकृष्णने जब अर्जुनको दुर्गास्तोत्र पाठ करनेका आदेश दिया, तब अर्जुनने रथसे उतरकर जिस स्तोत्रका पाठ किया था, उसमें श्रीदुर्गाको स्वयं परमात्म-स्वरूपिणी कहा गया है—

> संध्या प्रभावती चैव सावित्री जननी तथा ।
> तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्यविवर्धिनी ॥
> (२३ । १५-१६)

संध्या—सृष्टिप्रलयकर्त्री, प्रभावती—चन्द्रसूर्यप्रभायुक्ता-होरात्ररूपा, सावित्री—सूर्यस्य प्रकाशदानशक्तिस्तद्रूपा, जननी—मातृवत् पालयित्री, तुष्टिः—संतोषः, पुष्टिः—उपचयः, धृतिः—धैर्यम्, दीप्तिः—ज्योतिः, यया कान्त्या चन्द्रादित्यौ वर्द्धेते, येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः इति श्रुतेर्ब्रह्मरूपैव ।

(नीलकण्ठटीका)

इस ब्रह्मरूपा दुर्गाकी कृपा प्राप्त करनेके लिये भगवान्ने पहले कहा—'शुचिर्भूत्वा महाबाहो !' तुम शुचि होकर दुर्गापाठ करो । चित्तमें शुचिता आये बिना देवीके दर्शन नहीं हो सकते । इसीलिये राग-द्वेष—अन्तःशत्रु कामक्रोधादिके मूलको अवश्य दूर करना है । इसीसे 'द्विषो जहि'—शत्रुनाशकी उपयोगिता निष्काम अधिकारीके लिये भी है । अतएव सकाम और निष्काम दोनों अधिकारी ही साधनामें प्रवृत्त होनेपर माताकी कृपा प्राप्त करते हैं ।

इस मातृभावसे उपासनाकी सूचना ऋग्वेदमें मिलती है । ऋग्वेदमें हम देखते हैं कि जैसे अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र, सूर्य आदि देवोंके लिये यज्ञका विधान है, वैसे ही सरस्वती, उषा, भारती, इडा, पृथिवी, नदी, वाक् आदि देवियोंकी भी यज्ञमें

द्वारा आराधना होती है। इनमें पृथिवीका बार-बार माताके रूपमें ध्यान किया गया है। 'पिता माता च भुवनानि रक्षतः'—द्यौ और पृथिवी पिता और माताके रूपसे इस विश्वकी रक्षा करते हैं। जलाभिमानिनी देवियोंके लिये कहा गया है कि 'तुम सब जननीकी भाँति स्नेहमयी हो, तुम्हारा रस (वात्सल्य-प्रेम) अति सुखकर है, हमलोगोंको वह सुख प्रदान करो।'

(ऋक्० १०। ९)

जगत्‌में जो कुछ भी शक्तिका विकास देखा जाता है, वह सभी उस महाशक्ति—ब्रह्ममयीसे ही प्रसरित हुआ है और हो रहा है। देवीसूक्त (ऋ० १०। १२५) के 'मया सो अन्नमत्ति'—इत्यादि मन्त्रोंमें यह बात कही गयी है कि "मैं (शक्ति) जीवको भोजनशक्ति, दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति और प्राणशक्ति प्रदान करती हूँ। फिर मैं ही वायुकी भाँति प्रवाहित होकर जगत्-निर्माण-कारिणी, भुवन-गगन-व्यापिनी महाशक्ति हूँ। जीव-शरीरमें जितनी श्वेत-नीलादि वर्णोंकी विचित्रता है, यह भी मुझ महाशक्तिकी ही योजना है।' अथर्ववेद (११ का० ८ सू० १७ म०) में कहा गया है—

> सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती।
> ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्॥

सर्वे इन्द्रादयो देवा उपाशिक्षन्, समीपे शक्ता भवितुमैच्छन्। वधूः सती परमेश्वरेण कृतोद्वाहा भगवती आद्या परचिद्रूपिणी शक्तिः तद् देवैः कृतम् अजानाद्, ज्ञातवती। या एषा विश्वस्य जगतः ईशा ईशानी नियन्त्री मायाशक्तिः × × × सा पारमेश्वरी शक्तिः अस्मिन् पाट्कौशिके शरीरे गौरपीतनीलादिवर्णम् आभरत् आहरत् उत्पादयद् इत्यर्थः।

'इन्द्र आदि देवता शरीरमें रहनेकी इच्छा करते हैं—इस बातको भगवती आद्या चिद्रूपा शक्तिने महेश्वरकी वधू होकर जान लिया था। ये पारमेश्वरी शक्ति समस्त जगत्‌की नियन्त्री हैं। इसीसे इन्होंने पाट्कौशिक मनुष्य-शरीरमें गौर-नील-पीतादि वर्णोंकी रचना की।' मनुष्य-शरीरमें ज्ञानेन्द्रियाँ विषय-प्रकाशिका हैं और प्रकाश है देवताका स्वरूप; इसीलिये इन्द्रियोंको देवाधिष्ठित कहा जाता है। शरीरके श्यामवर्ण या ब्राह्मणादि वर्ण भी उस परमेश्वरीकी सृष्टि हैं, यह वेदमें प्रतिपादित हुआ है।

भारतीय सभ्यताका मूल उद्गम है—वेद। यह बात सर्वमान्य होनेपर भी बहुत-से लोगोंका मत है कि वेदमें कुछ मन्त्र प्राचीन हैं, कुछ अर्वाचीन हैं और ब्राह्मण तथा उप-निषद्-भाग तो और भी आधुनिक हैं। इस विषयमें भारतके आस्तिक सम्प्रदायका मत दूसरा है। उनके मतमें मन्त्र-ब्राह्मण और उपनिषद्-भागके काल-निर्धारणका कोई उपाय नहीं है। प्रत्येक मन्त्र [illegible] किसी यज्ञमें उच्चारित होनेके लिये किसी ऋषिके हृदयमें प्रतिभात हुआ था। इसलिये प्रत्येक मन्त्रका विनियोग जानना पड़ता है, प्रत्येक ऋषि और छन्दका उल्लेख करना पड़ता है, तब उस मन्त्रके योगसे हवनादि कार्य सम्पन्न होते हैं।

आधुनिक कविताकी भाँति वेदके मन्त्र कल्पनाप्रधान भाव-विलासमात्र नहीं हैं। प्रत्येक मन्त्रका अनुष्ठानके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये मीमांसा शास्त्रकी घोषणा है—आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्। (१।२।१।१) 'अर्थात् वेदका प्रयोजन है—कर्मानुष्ठान।'

इस कर्मको समझनेके लिये ब्राह्मण-भागको छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। किस यज्ञमें कौन-से मन्त्रका विनियोग होगा—यह ब्राह्मण-भागसे ही जाना जा सकता है। अन्य किसी भी कल्पनासे या युक्ति-तर्कका [illegible] करनेपर भी संशयका नाश नहीं हो सकता। कोई [illegible] कुशल व्यक्ति यदि मनमाने ढंगसे विनियोग करने भी लगता [illegible] उसे दूसरा क्यों मानेगा? अतः प्रमाण देना पड़ेगा और [illegible] प्रमाण ही है—ब्राह्मण-भाग। यज्ञके साथ मन्त्रका जो [illegible] है, उसे साधारण बुद्धिका आदमी कैसे समझेगा? समझनेका कोई उपाय ही न रह जाता, यदि मन्त्रके साथ ही [illegible] भाग भी ऋषियोंके हृदयमें उसी समय स्फुरित न होता। इसीलिये वेदार्थका प्रकाश करनेवाले [illegible] कहा है—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। [illegible] दोनों भागोंका संयुक्त नाम ही वेद है।' [illegible] परिशिष्ट दो भागोंमें विभक्त है—आरण्यक और उपनिषद्। ब्राह्मण-सन्दर्भमें मन्त्रोंके विनियोग, उनके गूढ़ [illegible] तत्त्वपर प्रकाश डाला गया है। इसमें [illegible] है। जब मनुष्यकी मेधाका ह्रास होने लगा और [illegible] मनुष्यके जीवन [illegible] उद्देश्य [illegible] बदलने लगा, तब भगवान् कृष्णद्वैपायनने [illegible] विभाग करके मन्त्र और ब्राह्मण भागको [illegible] दिया। इसीलिये वे वेदव्यासके नामसे प्रसिद्ध हुए।

वेदमन्त्रोंका [illegible] कौमिक विकास नहीं हुआ है। [illegible]

आश्चन है; अतएव कर्म-विधि, प्रयोगकी पद्धति और रहस्य-वाद—इन सबका साथ-ही-साथ प्रकाश और प्रचार हो गया था। मनुष्य सदासे ही तत्त्व-जिज्ञासु रहा है। वेद-वर्णित यज्ञोंमें जिन सब देवताओंकी पूजा होती है, उन देवताओं-का स्वरूप जाननेके लिये यजमान और पुरोहित दोनोंके ही मनमें कौतूहल होना अत्यन्त स्वाभाविक था; क्योंकि इन सब याग-यज्ञोंमें प्रचुर धनके व्यय तथा प्रयासकी आवश्यकता होती थी। एक-एक यज्ञमें कोई-कोई अपना सर्वस्व ही दक्षिणा-रूपमें दे डालते थे, कोई सोनेके खुर एवं चाँदीके सींगोंवाली हजार गायोंका दान कर देता था, कोई सहस्र स्वर्णमुद्राओंका दान करता, तो कोई खुले हाथों लाखों स्वर्णमुद्राएँ वितरण करता। इतना विराट् त्याग एक महान् आदर्शका बोध हुए बिना नहीं किया जा सकता था। मनुष्य सदा ही मनुष्य है। आजका मनुष्य करोड़ों-करोड़ों रुपये आणविक शक्तिके लिये व्यय कर रहा है—एक विराट् ऐहिक अभ्युदयकी आशासे। उस समयका मनुष्य क्या इतना निर्बोध था कि बिना ही कारण, कुछ भी अनुसन्धान किये बिना करोड़ों-करोड़ों स्वर्ण-मुद्राएँ उड़ा देता? ऐसा कभी नहीं हुआ। उन दिनों भी एक महान् आदर्श था। वह आदर्श था—उपनिषद्वाणी।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।

(बृहदारण्यक० ३।८।१०)

'हे गार्गि! जो इस ब्रह्मको न जानकर इस जगत्में बहुत वर्षोंतक होम, यज्ञ या तपस्या करता है, उसका फल अन्त-वाला होता है; एवं जो अक्षरब्रह्मको बिना जाने इस जगत्-से प्रयाण करता है, वह दीन होता है और जो उसको जानकर इस जगत्से प्रस्थान करता है, वह ब्राह्मण (ब्रह्मविद्) होता है।' ब्रह्मविद् ब्रह्म ही हो जाता है, यह भी उपनिषद्की चरम वाणी है। इस दुर्लभ अमृतत्वको पानेकी उमंगमें, इस शाश्वत परम निःश्रेयसको प्राप्त करनेकी आशासे प्राचीन भारतवासी यज्ञमें दीक्षित होकर सर्वस्व अर्पण करके यज्ञा-नुष्ठान करते थे और यज्ञके फलको पूर्णरूपसे जानकर ही धनी यजमान लोग यज्ञ करनेके लिये उत्साहित होते थे। वेदमन्त्रोंमें जगह-जगह सुख, अर्थ, स्वर्ग और शत्रुनाशकी प्रार्थना है—यह सत्य है; परंतु वह आनुषङ्गिक है। चरम फल तो है—विराट् सम्पत्ति, अमृतत्वलाभ—एक शाश्वती शान्ति। इस प्रलोभनके हुए बिना मनुष्य सर्वस्वदानके लिये कभी तैयार नहीं होता। यदि मनुष्यको यह अच्छी तरह समझमें आ जाय कि घरका संचित निश्चित सारा धन तो नष्ट हो जायगा और अनिश्चित काल्पनिक ऐहिक अर्थ या सुखकी आशासे दरिद्र होकर पता नहीं कितने कालतक बैठे बाट देखनी पड़ेगी, तो क्या किसीकी ऐसे काममें प्रवृत्ति होगी? इसीसे देखा जाता है कि मन्त्र, मन्त्रका विनियोग, जिस उद्देश्यसे यज्ञानुष्ठान किया जाता है, उसका तत्त्व, और मानवकी चरम गति—इन सब विषयोंका ज्ञान एक ही साथ स्फुरित होनेपर ही मनुष्य उस उपदेशको शिरोधार्यकर जीवनको उस मार्गपर चलानेमें प्रवृत्त होता है। जिस बुद्धिशक्तिको लेकर मनुष्य जगत्में आता है, उसने प्राचीन कालमें मनुष्यको जैसे चलाया है, अब भी वह वैसे ही मार्ग-प्रदर्शन कर रही है। केवल आदर्शमें परिवर्तन हुआ है। उस समय ब्रह्मविज्ञानके लिये मनुष्य सर्वस्वका त्याग करता था, आज द्रव्य-विज्ञान या जड-विज्ञानके लिये मनुष्य सब कुछ लुटा देनेको तैयार है। प्राच्यपथके पथिकोंने विश्वको कल्याणमय भावरूपमें स्थापित किया था, पाश्चात्य-पथके अभियानकारी लोग आज ध्वंसकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। लक्षणके द्वारा इसका अनुमान होता है।

जो जगत्का सृजन, पालन और संहार करता है, वही ब्रह्म है, यह बात वेद-पुराण-इतिहास—सबमें कही गयी है। वह ब्रह्म पुरुषस्वरूप है या नारीस्वरूप, अथवा वह दोनोंका शक्तिस्वरूप है—सदासे ही यह विचार चला आता है। उपनिषद्में कहा गया है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

(श्वेताश्वतर० ४।३)

'तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो अथवा कुमारी हो।'

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

(श्वेताश्वतर० १।३)

'ब्रह्मवादी ऋषियोंने ध्यानयोगके द्वारा उसको स्वगुणोंसे आच्छन्न देवशक्तिके रूपमें उपलब्ध किया था।'

केनोपनिषद्में कहा गया है कि वह शक्ति 'बहुशोभमाना उमा हैमवती'के रूपमें आविर्भूत हुई थी।

इस शक्तिका स्वरूप सप्तशतीके आरम्भमें स्पष्टरूपसे दिखलाया गया है—

यच्च किंचित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥
(१ । ८२, ८३)

'चित् और अचित्'—चेतन और जड—जो कुछ भी है, उनमें सदा शक्तिरूपसे परमेश्वरको उपलब्ध करना—यही भक्तियोग है ।

जहाँ-जहाँ नेत्र पड़े, तहाँ-तहाँ कृष्ण स्फुरे ।
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीमद्भागवत (११ । १४ । २७) में भगवान्‌ने कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥

'विषयोंका चिन्तन करनेसे चित्त विषयोंमें आसक्त होता है और बार-बार मेरा (भगवान्‌का) चिन्तन करनेसे चित्त मुझमें ही विलीन हो जाता है ।'

सप्तशतीमें देखा जाता है कि जगज्जननी परमेश्वरी विष्णुमाया चेतना-बुद्धि-निद्रा-क्षुधा-छाया-शक्ति-तृष्णा-शान्ति-जाति-लज्जा-श्रद्धा-कान्ति-लक्ष्मी-वृत्ति-स्मृति-दया-तुष्टि-मातृ-भ्रान्ति आदिके रूपमें जीव-जगत्‌में अभिव्यक्त सभी भावोंमें व्याप्त हैं । और उन सबकी केवल 'नमो नमः' कहकर आराधना की गयी है । ऋग्वेदमें कहा गया है—

नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे ॥
(म० ६ सू० ५१ म० ८)

'नमस्कार ही सर्वश्रेष्ठ है, अतएव मैं नमस्कार करता हूँ । नमस्कार ही स्वर्ग और पृथिवीको धारण किये हुए है । इसलिये मैं देवगणको नमस्कार करता हूँ । देवगण नमस्कारके वशमें हैं । मैं नमस्कारके द्वारा कृतपापका प्रायश्चित्त करता हूँ ।'

नमस्कारकी महिमा वेदसिद्ध है—इसलिये नमस्कारके द्वारा ही सप्तशतीमें जगदीश्वरीकी आराधना की गयी है ।

इस नमस्कारके द्वारा ही प्रसन्नता या शरणागति प्रदर्शित की गयी है । सप्तशतीमें ऋषि उपदेश करते हैं—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम् ।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥
(सप्तशती १३ । ४-५)

'महाराज सुरथ ! तुम उस देवीके शरणागत हो जाओ । प्रसन्न होनेपर वे ही मनुष्यको पार्थिव भोग, स्वर्ग तथा मोक्ष भी देती हैं ।' राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य नदी-तटपर देवीकी मृण्मयी मूर्ति बनाकर पुष्प, धूप और होमके द्वारा पूजा करने लगे । वे दोनों कभी स्वल्पाहार और कभी पूर्ण निराहार रहकर मनको भगवतीमें निविष्ट करके तपस्यामें लग गये ।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने कहा है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
(३ । २९ । ११)

'मेरे गुण सुननेमात्रसे मुझ सर्वान्तर्यामीकी ओर समुद्रकी ओर बहती हुई गङ्गाकी धाराकी भाँति मनका जो अविच्छिन्न प्रवाह बहने लगता है—वही भक्ति है ।'

इस अविच्छिन्न मनोगतिका स्वरूप है—

प्रातरारभ्य सायाह्नं सायाह्नात् प्रातरन्ततः ।
यत् करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम् ॥

'प्रातःकालसे आरम्भ करके सायंकालपर्यन्त और सायंकालसे आरम्भ करके प्रभातपर्यन्त मैं जो कुछ भी करता हूँ, हे जगज्जननी ! सब तुम्हारा पूजन ही है ।'

शिशुका माताके प्रति हृदयका जो आकर्षण है, शाक्तवादमें उसीको भक्ति कहते हैं । ऋग्वेदमें श्रद्धादेवीका उल्लेख है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
(१० । १५१ । १)

'श्रद्धासे ही अग्नि प्रज्वलित होती है और श्रद्धाके द्वारा ही यज्ञमें आहुति दी जाती है ।'

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥
(दुर्गासप्तशती ५ । ५०)

श्रद्धा भक्तिरूपिणी न होनेपर भी शाक्तवादमें मातृश्रद्धारूपिणी होकर भक्तिका आकार धारण कर लेती है ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
(गीता १२ । २)

'परम श्रद्धाके साथ मुझमें मनोनिवेश करके मुझमें नित्य रत होकर जो मेरी उपासना करते हैं, वे ही मेरी मान्यताके अनुसार युक्ततम हैं ।' अतः भक्तिवादमें भी श्रद्धा उपेक्षणीय नहीं है ।

सुरथ और समाधिकी उपासनामें गीताके इसी भावकी छाया देखनेमें आती है ।

(मूककविकृत) 'देवी-पञ्चशती' ग्रन्थमें कामाक्षीदेवीके कटाक्ष, मन्दस्मित, चरण, मुखाब्ज आदिका अपूर्व भक्तिमूलक वर्णन पढ़ते ही हृदय भक्तिभावसे भर जाता है और मानो मनि परानुरक्तिके मधुर उच्छ्वासका आस्वादन किया जा सकता है ।

भाव-भक्तिकी भूमिकाएँ

(लेखक—स्वामीजी श्रीसनातनदेवजी)

'भगवान्‌से कुछ चाहना कर्म है और स्वयं भगवान्‌को चाहना उपासना है'—ये शब्द हैं एक वन्दनीय महापुरुषके। परंतु थोड़ा विचार करें तो स्वयं उन्हें न चाहकर यदि हम उनसे किसी वस्तु या अवस्था-विशेषकी कामना करते हैं तो उनके प्रति हमारा सच्चा भगवद्भाव भी कैसे कहा जा सकता है ? क्या भगवान्‌से बढ़कर भी कोई वस्तु या अवस्था हो सकती है, जिसकी हम उनसे कामना करें ? अतः सच पूछा जाय तो जबतक हमें किसी भी प्रकारकी कामना है, तबतक हमने प्रभुको पहचाना ही नहीं। इसीसे सकाम कर्मका प्रतिपादन करनेवाला मीमांसा-दर्शन निरीश्वरवादी है। उसकी दृष्टिमें स्वर्ग ही सबसे बड़ा सुख है और इन्द्र ही सबसे बड़ा प्रभु। सकामकर्मी या सकाम उपासकका उपास्य कोई भी हो, वह देवताकोटिमें ही आ सकता है; उसे भगवान् नहीं कह सकते। एक वेतनभोगी भृत्यका अपने स्वामीसे जैसे वेतनके लिये ही सम्बन्ध होता है, वेतन न मिलनेपर उस सम्बन्धके टूटनेमें देरी नहीं लगती, उसी प्रकार सकाम पुरुषका अपने उपास्यसे मुख्य सम्बन्ध नहीं होता। वह तो केवल कामनापूर्तिके लिये ही उसकी सेवा-पूजा करता है। अतः उसके लिये तो उपास्य केवल कामप्रद देवमात्र है, वह उसका परमाराध्य प्रियतम नहीं हो सकता।

इनसे भी निम्नकोटिके वे लोग हैं, जो कुछ पानेके लिये नहीं प्रत्युत अनिष्टकी आशङ्कासे केवल भयसे प्रेरित होकर ही देवोपासना करते हैं। सकाम पुरुषोंकी उपासना लोभप्रयुक्त होती है तो इनकी भयप्रयुक्त। इनको तो अपने उपास्यमें देवबुद्धि भी नहीं कही जा सकती। इनका उपास्य कोई भी हो, इनके भावानुसार तो वह भूत-प्रेतादिकी कोटिमें ही गिना जा सकता है। इनकी उपासनामें प्रीतिकी तो गन्ध भी नहीं होती। कारागारमें बंद हुआ एक बंदी जिस प्रकार केवल बंदीगृहके अधिकारियोंके भयसे ही अपना काम-काज करता है, उसकी न तो अपने काममें ही रुचि होती है और न अपने प्रभुओंमें प्रीति ही, उसी प्रकार ये लोग भी अपने उपास्यकी प्रसन्नताके लिये अथवा किसी कामना-पूर्तिके उद्देश्यसे उपासनामें प्रवृत्त नहीं होते, प्रत्युत उपास्यके कोपसे बचनेके लिये तथा अनिष्ट-निवृत्तिके उद्देश्यसे ही उपास्यकी प्रकृतिके अनुरूप कर्म-कलाप किया करते हैं। देवोपासकोंकी उपासनामें शास्त्र-विधिकी प्रधानता होती है और प्रेतोपासकोंकी पूजामें उनके उपास्यकी अभिरुचिकी।

भगवान्‌के भक्त इन दोनों प्रकारके उपासकोंसे भिन्न होते हैं। उन्हें न तो अपने उपास्यसे किसी प्रकारका भय होता है और न किसी वस्तु या अवस्थाका लोभ। वे तो प्रभुको अपना परम आत्मीय और सर्वस्व समझते हैं। फिर वे उनसे क्यों डरें और क्या चाहें ? शिशुके बच्चेको क्या अपने पितासे कभी भय होता है ? तथा चक्रवर्ती सम्राट्‌का युवराज क्या कभी किसी तुच्छ वस्तुकी कामना कर सकता है ? भगवान् उसके अपने हैं और सब कुछ उन्हींका है; अतः उनका होकर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे वह पाना चाहेगा। उसका प्रभुसे केवल प्रीतिका सम्बन्ध होता है। ऐसा सम्बन्ध किसीका किसीके भी साथ हो, वह भगवत्सम्बन्धके सदृश ही है। इसीसे सतीका पतिके प्रति, शिष्यका गुरुके प्रति और पुत्रका पिताके प्रति यदि विशुद्ध निष्काम प्रेम हो तो वह भगवत्प्रेमके समान ही प्रभुकी प्राप्तिका साधन हो जाता है। शास्त्रोंमें ऐसे अनेकों प्रमाण पाये जाते हैं। ऐसा प्रेमी अपने प्रेमास्पदकी प्रीतिके सिवा और कुछ नहीं चाहता।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें तो भगवान्‌ने आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्त बताये हैं और उन चारोंको ही उदार कहा है—'उदाराः सर्व एवैते' (७ । १८)। फिर आप सकाम और अर्थार्थी व्यक्तियोंको इतने निम्नकोटिके कैसे बतलाते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌ने जिन चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है, उनमें जिज्ञासु और ज्ञानी तो वे ही लोग हैं जो केवल भगवत्तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले अथवा भगवत्तत्त्वमें परिनिष्ठित हैं; तथा आर्त्त और अर्थार्थी भी वे ही महाभाग हैं, जो स्वभावतः प्रभुके प्रेमी ही हैं, केवल परिस्थितिविशेषके कारण ही उन्हें आर्त्ति-निवारण अथवा अर्थप्राप्तिके लिये उनसे प्रार्थना करनी पड़ी है। आर्त्ति-निवारण अथवा अर्थप्राप्ति उनकी भक्तिके प्रयोजक नहीं हैं। अबोध बालकका अपनी माँमें स्वाभाविक

ही अपनत्व होता है, उसका कारण किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं होता; तथापि यदि उसे किसी प्रकारके भयकी आशङ्का होती है तो वह माँकी गोदमें ही शरण लेता है और किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है तो माँसे ही उसकी याचना करता है। इसी प्रकार जिन भक्तोंका प्रभुसे सहज सम्बन्ध हो जाता है, वे आपत्ति पड़नेपर उन्हींको पुकारते हैं और किसी वस्तुकी आवश्यकता पड़नेपर उसे उन्हींसे माँगते हैं। यही उनका आर्त्तत्व और अर्थार्थित्व है। इनके सिवा वे लोग भी इन्हीं कोटियोंमें गिने जा सकते हैं, जिनकी उपासनाका आरम्भ तो आर्तिनाश अथवा अर्थप्राप्तिकी कामनासे हुआ था, परंतु पीछे ये निमित्त तो गौण हो गये और भगवत्प्रेम प्रधान हो गया। उन्हें भी भूतपूर्व गतिसे आर्त्त और अर्थार्थी भक्त कह सकते हैं। परंतु किसी भी प्रकार वे लोग भक्तकोटिमें नहीं गिने जा सकते, जिनका श्रीभगवान्‌के साथ केवल स्वार्थसाधनके लिये ही सम्बन्ध है।

अतः यह निश्चय हुआ कि भक्तिका बीज भगवत्सम्बन्ध है। जबतक सम्बन्ध या अपनत्व नहीं होता, तबतक किसीसे भी अनुराग नहीं हो सकता। पुत्र, कलत्र, गृह और सम्पत्तिमें भी अपनत्वके कारण ही आसक्ति होती है। इसीसे दूसरेके सुन्दर और सद्गुणसम्पन्न बालककी अपेक्षा भी अपना कुरूप और गुणहीन बालक अधिक प्रिय जान पड़ता है। इस प्रकार जब लौकिक तुच्छ व्यक्तियोंके प्रति अपनत्व होनेपर भी जीव प्रीतिके पाशमें बँध जाता है, तब अनन्त-अचिन्त्य-गुण-गण-निलय, सकल-सौन्दर्य-सार परमानन्द-चिन्मूर्ति श्रीहरिसे अपनत्व होनेपर उनमें प्रीतिका प्रादुर्भाव क्यों न होगा? अतः भक्तिकी उपलब्धिके लिये सबसे पहली शर्त यह है कि सभी वस्तु और व्यक्तियोंसे सम्बन्ध छोड़कर एकमात्र प्रभुसे ही नाता जोड़ा जाय। प्रभु तो 'एकमेवाद्वितीयम्' हैं। उनके राज्यमें उनके सिवा और कोई नहीं है। अतः वे अनन्यताके द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। जबतक जीवका पुत्र, मित्र, कलत्र आदिसे सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रभुसे नाता नहीं जोड़ सकता। तनिक सोचिये तो सही—क्या ऐसा भी कोई व्यक्ति या पदार्थ हो सकता है, जो प्रभुका न हो। यदि सब कुछ उन जगदीश्वरका ही है तो आप अपना किसे कह सकते हैं? सब उन्हींके हैं, इसलिये आप भी उन्हींके हैं, और वे सबके हैं, इसलिये वे ही आपके भी हैं। इस प्रकार आपके साथ सीधा सम्बन्ध तो केवल उन्हींका है। अतः आपका अपनत्व केवल उन्हींमें होना चाहिये। और सबकी तो आप उन्हींके नाते सेवा कर सकते हैं—जिस प्रकार एक पतिपरायणा नारीका अपनत्व तो केवल पतिमें ही होता है, हाँ, पतिदेवके सम्बन्धी होनेके कारण वह सास-ससुर आदिकी सेवा भी करती है। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भक्त केवल सम्बन्धको ही छोड़ता है, सम्बन्धियोंको नहीं। यदि सम्बन्धियोंको छोड़ देगा तो सेवा किसकी करेगा? सम्बन्धियोंका त्याग तो तभी होता है, जब वे भगवत्सम्बन्ध या भगवत्सेवामें बाधक होते हैं।

इस प्रकार सब सम्बन्धोंको छोड़कर जब भक्त केवल भगवान्‌में ही अपनत्व करता है, तब स्वभावसे ही उनमें उसका अनुराग बढ़ने लगता है। अनुरागकी वृद्धिके साथ चिन्तनका बढ़ना भी स्वाभाविक है। जबतक भगवान्‌से सम्बन्ध नहीं होता, तबतक तो भजन-चिन्तन करना पड़ता है, परंतु सम्बन्ध हो जानेपर प्रीतिके उन्मेषके साथ उनका चिन्तन भी स्वाभाविक हो जाता है तथा भगवदनुराग बढ़नेसे अन्य वस्तु और व्यक्तियोंके प्रति उसके मनमें वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। भक्तिशास्त्रोंमें भगवत्प्रेमकी इस प्रारम्भिक अवस्थाका नाम ही शान्तभाव है। इस अवस्थामें सम्बन्धका कोई प्रकारविशेष नहीं होता, प्रसङ्गानुसार सभी प्रकारके भावानुभावोंका उन्मेष होता रहता है। इसीसे इसे प्रेमकी प्रारम्भिक अवस्था कहा गया है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिये कि शान्तभावमें प्रतिष्ठित भक्त अन्य भक्तोंकी अपेक्षा निम्नकोटिका होता है। भावकी गम्भीरता होनेपर इस भावमें भी भक्तको प्रेमकी ऊँची-से ऊँची भूमिका प्राप्त हो सकती है। भगवान् शुक और अवधूतशिरोमणि सनकादि इसी कोटिके भक्त हैं।

जहाँ सम्बन्ध होता है, वहाँ उसके अनुरूप परस्पर प्रेमका आदान-प्रदान होने लगता है। इसीसे प्रेमियोंकी रुचि और योग्यताके अनुसार उस सम्बन्धके अनेक भेद हो जाते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो एक ही प्रेमास्पदमें दो प्रेमियोंका भी सर्वांशमें समानभाव नहीं होता। तो भी व्यवहार और विवेचनके सौकर्यकी दृष्टिसे उन सम्पूर्ण भेदोंको कुछ नियत संख्यामें विभक्त कर दिया गया है। भक्तिशास्त्रोंमें ऐसे चार भेद बताये गये हैं। उनके नाम हैं—सेव्य-सेवकभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव और मधुरभाव। इनके साथ उपर्युक्त शान्तभावको भी सम्मिलित करके कुल पाँच भावोंकी गणना की जाती है।

सेव्य-सेवकभावमें भगवान्‌के ऐश्वर्य और माहात्म्यपर

भक्तकी पूर्ण दृष्टि रहती है। परंतु ममताजनित सम्बन्ध हो जानेके कारण उसमें माधुर्यका पुट भी अवश्य रहता है। अतः हृदयमें पूर्ण अनुराग रहनेपर भी उसके शील-संकोचमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आती। इस भूमिकामें प्रभुकी आज्ञाका अनुवर्तन उसका प्रधान कर्तव्य रहता है। उसमें औचित्य-अनौचित्य देखनेका वह अपना अधिकार नहीं मानता। इसलिये कई बार अपने प्रभुकी आज्ञासे उसे वह काम भी करना पड़ता है, जिसे वह स्वयं नहीं करना चाहता। श्रीभरतलालजी, लक्ष्मणजी और हनुमान्‌जी इसी कोटिके भक्त हैं। जो अपनी बुद्धि और रुचिको एक ओर रखकर प्रतिक्षण अपने प्रभुकी ही भावभङ्गीका अनुसरण करनेके लिये तत्पर रह सकते हैं, वे ही इस भावके अधिकारी हैं।

किंतु जिनकी दृष्टि ऐश्वर्य और माहात्म्यसे विशेष आकर्षित न होकर प्यारेकी सुख-सुविधापर ही अधिक रहती है, वे सख्यभावके अधिकारी होते हैं। इनमें शील-संकोचकी शिथिलता रहती है; क्योंकि बराबरीका नाता ठहरा। इसलिये अपने नित्यसखाकी आज्ञा या भावभङ्गीके अनुसरणकी ओर इनका विशेष ध्यान नहीं होता। इन्हें यदि ऐसा जान पड़े कि आज्ञा न माननेसे उसे अधिक सुख मिलेगा तो ये उसका उल्लङ्घन करनेमें कोई संकोच नहीं करेंगे। परंतु आज्ञाका उल्लङ्घन करनेपर भी ये ऐसा काम करनेका साहस नहीं कर सकते, जो उस प्रिय सखाके मनके विरुद्ध हो। व्रजके ग्वाल-बाल, अर्जुन और सुग्रीवादि इसी कोटिके भक्त हैं।

वात्सल्यभावमें ममता और स्नेहकी अत्यन्त गाढ़ता रहती है। यहाँ ऐश्वर्य और भी लुप्त हो जाता है। प्यारा अपना लाड़ला लाल जान पड़ता है। लल्लनको लाड़ लड़ाना—यही भक्तका मुख्य कर्तव्य रह जाता है। यहाँ बराबरीका नाता नहीं प्रत्युत अपनेमें गुरुत्वका भान होता है। सखा तो प्यारेके मनके विरुद्ध आचरण नहीं कर सकता, परंतु माता-पिताको यदि आवश्यक जान पड़े तो पुत्रके मनकी उपेक्षा करनेमें भी संकोच नहीं होता। अपने लल्लनके हितके लिये वे उसे झिड़क भी सकते हैं और कभी-कभी ताड़ना भी कर बैठते हैं और लालजी झिड़क एवं ताड़ना सहकर भी अपने उस बड़भागी भक्तके संरक्षण-सुखको त्याग नहीं सकते। ऐसी यह प्रीतिकी अटपटी रीति है। यहाँ शासक शास्य हो जाता है। श्रीनन्द-यशोदा और दशरथ-कौसल्या आदिका यही भाव है।

अब कुछ मधुरभावके विषयमें भी विचार करें। यहाँ जैसी प्रीतिकी प्रगाढ़ता और पारस्परिक अभिन्नता होती है, वैसी पूर्वोक्त किसी भावमें नहीं होती। अन्य भावोंमें संकोचका यत्किंचित् आवरण रहता ही है, किंतु यहाँ संकोचके लिये कोई स्थान नहीं है। माँ अपने शिशुके सुखके लिये स्वयं तो उसके मनके विरुद्ध आचरण कर सकती है, परंतु उससे वैसा करा नहीं सकती; तथापि प्रियतमा तो प्यारेसे वह भी करा लेती है, जो वे करना न चाहें और इस विवशतामें भी प्रियतमको एक अद्भुत रसकी अनुभूति होगी। अतः मधुरभाव सभी भावोंमें सिरमौर है। यहाँ भक्त भगवान्‌का भोग्य हो जाता है। यही आत्मसमर्पणकी पूर्णता है। श्रीगोपीजन इसी भावसे भगवान्‌को भजती हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें भक्तिके पाँचों भावोंका विवेचन हुआ। भावदृष्टिसे इनमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है तथा प्रत्येक भावमें अपनेसे पूर्ववर्ती भावोंका समावेश भी हो जाता है। शान्तभावमें विरक्ति, सेव्य-सेवक-भावमें अनुवृत्ति, सख्यभावमें प्रीति और वात्सल्यमें स्नेहकी प्रधानता होती है। मधुरभावमें इन सभी रसोंका समावेश हो जाता है। इनके अतिरिक्त प्रियतमको सुमधुर रति प्रदान करनेकी विशेषता रहती है। इसी प्रकार अन्य भावोंमें भी उनसे पूर्ववर्ती भाव अन्तर्भुक्त रहते हैं। इस प्रकार भावोंमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष होनेपर भी भक्तोंमें वैसा तारतम्य नहीं समझना चाहिये। भक्त तो अपनी-अपनी प्रकृति और रुचिके अनुसार ही किसी भावको स्वीकार करते हैं और उसीमें परिनिष्ठित होकर भगवत्प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची भूमिका प्राप्त कर लेते हैं। ऊपर हमने विभिन्न भावोंके जिन भक्तोंका उल्लेख किया है, उनमें किसे छोटा या बड़ा कहा जाय! भक्तिका उत्कर्ष भावके प्रकारकी दृष्टिसे नहीं, प्रत्युत भावकी परिणतिकी दृष्टिसे होता है। जिस जीवमें उसके स्वीकृत भावकी जितनी उत्कृष्ट परिणति हुई है, वह उतना ही उच्च-कोटिका भक्त है—लोकमें जैसे कोयलेकी अपेक्षा सुवर्ण अधिक मूल्यवान् है; परंतु ऐसा नियम नहीं है कि कोई भी कोयलेका व्यापारी किसी भी सुवर्णके व्यापारीसे अधिक धनाढ्य नहीं हो सकता। अतः भगवद्-रसिकोंको किसी विशेष भावका आग्रह न रखकर अपनी प्रकृतिके अनुरूप भावमें दीक्षित हो उसीमें तद्रूप होनेका प्रयत्न करना चाहिये।

ऊपर हमने कहा है कि सतीका पतिके प्रति, शिष्यका

गुरुके प्रति और पुत्रका पिताके प्रति यदि विशुद्ध निष्काम प्रेम हो तो वह भगवत्प्रेमके समान ही प्रभुप्राप्तिका साधन हो जाता है। परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि वहाँ पति आदिमें भगवद्बुद्धि करनेकी बात कही गयी है और यहाँ भगवान्‌में स्वामि-सखा आदि बुद्धि करनेकी बात है। वह प्रतीकोपासना है और यह भगवत्सम्बन्ध है। अतः वह भगवत्प्राप्तिका परम्परा-साधन है और यह साक्षात् साधन। इसीसे उसे साक्षात् भगवत्प्रेम न कहकर भगवत्प्रेमके समान कहा गया है।

यह भावभक्ति पहले तो की जाती है और पीछे स्वाभाविक हो जाती है। जबतक की जाती है, तबतक कृतिकी प्रधानता होती है, प्रीतिकी नहीं। ऊपर जिन नित्यसिद्ध भगवत्पार्षदोंका उदाहरणरूपसे उल्लेख किया गया है, उनमें यह भावभक्ति स्वतः सिद्ध है। भक्ति-शास्त्रोंमें उनकी भक्तिको रागात्मिका कहा गया है। दूसरे लोग अपने-अपने भावानुसार उन्हींका अनुसरण करके अपने भावमें परिनिष्ठित होते हैं। अतः उनकी भक्ति रागानुगा कहलाती है। रागानुगा भक्ति भगवत्प्राप्तिका साधन है और रागात्मिका प्रीतिरूपा है। प्रभुकृपासे रागानुगा ही रागात्मिका हो जाती है। अतः प्रीति ही साधन है और प्रीति ही साध्य है—

साधन सिद्धि राम पद नेहू।

यहाँतक हमने जीवलोकके भावभेदोंका वर्णन किया; किंतु प्रीति तो प्रभुका स्वभाव है—स्वभाव ही नहीं, साक्षात् स्वरूप है। उनका दिव्य चिन्मय मङ्गलविग्रह प्रीतिके तत्त्वोंसे ही गठित है। उस प्रीतिकी मधुरिमाका आस्वादन किये बिना उनसे भी नहीं रहा जाता। अतः उसका आस्वादन करनेके लिये वे अपने ही स्वरूपभूत चिन्मय धाममें स्वयं ही प्रिया और प्रियतमके रूपमें विराजमान हैं। प्रिया और प्रियतममें उपास्य-उपासकका भेद नहीं है। वे दोनों ही दोनोंके आराध्य हैं—'एक सरूप सदा है नाम। आनँद की ल्हादिनि स्यामा अल्हादिनि कै आनँद स्याम॥' प्रियाजूका प्रियतमके प्रति और प्रियतमका प्रियाजूके प्रति जो अद्भुत अलौकिक भाव है, उसका इस लोकमें कहीं आभास भी मिलना कठिन है। वह तो उनकी अपनी ही सम्पत्ति है। वहाँ क्षण-क्षणमें दोनोंके हृदयमें जो अद्भुत भाववैचित्र्य होते हैं, वे तत्काल ही मूर्तिमान् हो जाते हैं। प्रिया-प्रियतम नित्य संयुक्त रहते हुए भी प्रीति-रसकी अचिन्त्य महिमासे परस्पर विरहका अनुभव करते हैं—

मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिले ना।

उस विरह-व्यथामें प्रियाजी प्रियतमका चिन्तन करते-करते तद्रूप हो जाती हैं और अपनेको प्रियतम समझकर अपने ही लिये व्याकुल होने लगती हैं। इसी प्रकार प्रियतम प्रियाजीके वियोगमें अपनेको प्रियारूपमें देखकर अपना ही चिन्तन करने लगते हैं। ऐसी परिणति क्षण-क्षणमें होती रहती है। इसी प्रकारके अनन्त अलौकिक भावानुभाव प्रिया-प्रियतमके अन्तस्तलमें स्थित रसार्णवको आन्दोलित करते रहते हैं। भक्ति-शास्त्रोंमें श्रीराधाके भावको महाभाव या राधा-भाव कहा गया है। इसके मोदन एवं मादन—ये दो मुख्य भेद हैं। युगल सरकारका यह अनादि अनन्त रास-विलास निरन्तर चल रहा है। इस लोकमें किन्हीं विरले महानुभावोंमें ही किसी क्षणके लिये इस अलौकिक भावकी स्फूर्ति होती है।

ये तो हुई भावराज्यकी बातें। तथापि भावोंका विवेचन करते हुए किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने ज्ञानी भक्तोंको शान्तभावके अन्तर्गत माना है। इससे अनेकों साधकोंको यह भ्रम हो सकता है कि तत्त्वनिष्ठ महानुभाव शान्तभावके उपासक हैं। परंतु स्मरण रहे, भाव और विचार ये दो अलग-अलग मार्ग हैं। विचारक किसी भी भाव, विश्वास या स्वीकृतिका आश्रय नहीं लेता। वह तो अपनी जानकारीके आधारपर असत्‌का त्याग करके सत्यकी खोज करता है—अनात्माका बाध करके आत्मानुसंधान करता है। इस प्रकार विवेचन करते हुए असंदिग्धरूपसे जिस सत्यकी उसे उपलब्धि होती है, जिसका किसी प्रकार निषेध नहीं किया जा सकता, उसीको वह अपने आत्मरूपसे अनुभव करता है। यह सत्य ही उसका विश्रामस्थान है। उसका इससे नित्य अभेद है। इस दृष्टिमें परिनिष्ठित रहना ही उसका आत्मप्रेम है। इसे आत्मरति, आत्ममिथुन और आत्मक्रीडा आदि नामोंसे भी कहा जाता है। यद्यपि तत्त्व-निष्ठोंके ज्ञानमें किसी प्रकारका भेद या तारतम्य नहीं होता—सभीकी तत्त्वदृष्टि एक ही होती है, तथापि निष्ठामें अवश्य तारतम्य रहता है। इसीसे योगवासिष्ठादिमें ज्ञानकी सात भूमिकाएँ बतायी गयी हैं। उनके नाम हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा। इनमें पहली तीन जिज्ञासुकी साधनावस्थाएँ हैं। ये क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूपा हैं। सत्त्वापत्ति साक्षात्काररूपा है और अन्तिम तीन जीवन्मुक्तिरूपा हैं। उनमें तत्त्वनिष्ठाका उत्तरोत्तर परिपाक होता है। चतुर्थ भूमिकामें स्थित ज्ञानीको

ब्रह्मवित् कहते हैं और आगेकी भूमिकाओंमें आरूढ होनेपर वह क्रमशः ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् एवं ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है। अतः ज्ञानीको उपर्युक्त किसी भावके अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता। ऊपर श्रीशुक और सनकादिको जो शान्तभावके भक्तरूपसे कहा है, उसका कारण यह है कि वे नित्यसिद्ध महापुरुष तो ज्ञानी भी हैं और भक्त भी। अतः भक्तदृष्टिसे इन्हें शान्तभावके अन्तर्गत गिना जा सकता है।

इस प्रकार भक्तोंके भावभेदके समान यद्यपि ज्ञानियोंमें भी भूमिका-भेद माना गया है, तथापि इन दोनोंमें किसी प्रकारका साम्य नहीं है। ज्ञान प्रशान्त महोदधि (Pacific Ocean) के समान है, जिसमें किसी प्रकारकी हलचल नहीं है; और प्रेम अतलान्तक महासागर (Atlantic Ocean) की तरह है, जो निरन्तर भाँति-भाँतिकी भावानुभावरूप ऊर्मिमालाओंसे उद्वेलित रहता है। ज्ञानकी भूमिकाओंमें उत्तरोत्तर प्रपञ्चकी प्रतीति गलती जाती है। वे निवृत्तिरूपा हैं। निस्सन्देह उनमें स्वरूपभूत विलक्षण आनन्दका भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है; परंतु उससे प्रधानतः चित्तकी प्रशान्तवाहिता और गम्भीरता ही बढ़ती है। उपरतिका उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही उसका स्वरूप है। अतः उसका मुख्य उद्देश्य है—शरीरके रहते व्यावहारिक बन्धनोंसे मुक्ति प्रदान कर देना। इस प्रकार व्यवहारसे मुक्त करके भी वह उस तत्त्वनिष्ठको किसीके साथ बाँधता नहीं। यहाँतक कि उस स्वरूपभूत आनन्दका भी विद्वान्को बन्धन नहीं होता। परंतु भाव तो भक्तको प्रेमपाशमें बाँधनेवाले हैं। वे उसे भगवान्के प्रेममें बाँधकर ही भव-बन्धनसे मुक्त करते हैं। भावोंमें जो पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका उत्कर्ष माना गया है, उसका कारण भी उत्तरोत्तरका पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा अधिक बन्धनकारक होना ही है। परंतु यह बन्धन है निखिलरसामृतमूर्ति, सौन्दर्यसार श्रीहरिके साथ। इसमें जो अद्भुत मधुरिमा है, विलक्षण मादकता है, उससे मुग्ध हुए भक्त-भ्रमर मुक्तिकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। प्रभु उन्हें मुक्ति देना चाहते हैं, तो भी वे उसका तिरस्कार कर देते हैं—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

इस तरह यद्यपि भक्त और ज्ञानीके साधन सर्वथा भिन्न हैं, तथापि दोनोंको जिसकी प्राप्ति होती है, वह साध्य एक ही है। उस साध्यके आस्वादनमें भी भेद है, परंतु वस्तुमें भेद नहीं है। भक्तकी दृष्टिमें वह तत्त्व चिन्मय है; क्योंकि प्रभुके नाम, धाम, लीला और रूप तत्त्वतः उनसे अभिन्न हैं तथा ज्ञानीकी दृष्टिमें वह चिन्मात्र है; क्योंकि वह उसे सकल सन्निवेशसे शून्य देखता है। भक्तके लिये सृष्टि प्रभुका लीला-विलास है और ज्ञानी इसे मायामात्र देखता है। भक्त प्रभुको ही अपने सत्य संकल्पसे प्रपञ्च-रूपमें भासमान देखता है और ज्ञानी इसका निरास करके केवल तत्त्वपर ही दृष्टि रखता है। तथापि सृष्टिका भास हो अथवा निरास, मूलभूत तत्त्व तो एक ही है। वह एक ही तत्त्व भक्तकी दृष्टिमें सगुण है और ज्ञानीकी दृष्टिमें निर्गुण। इसका भी एक विशेष कारण है। भक्तका आरम्भसे ही भगवान्से सीधा सम्बन्ध होता है और गुणमय प्रपञ्च उन्हींका लीला-विलास होनेके कारण तत्त्वतः उनसे अभिन्न है। अतः भक्तके लिये भगवान् सगुण हैं और ज्ञानी गुणमय प्रपञ्चका बाध करके उनमें प्रतिष्ठित होता है, इसलिये उसके लिये वे निर्गुण हैं। परंतु वे स्वतः न सगुण हैं न निर्गुण। सगुणता निर्गुणता तो उनमें इन्हींके द्वारा आरोपित है। वे स्वतः क्या हैं, यह तो वे ही जानें।

प्रेमी भक्तोंका सङ्ग वाञ्छनीय

प्रह्लादजी कहते हैं—

> मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु सङ्गो यदि स्याद् भगवत्प्रियेषु नः।
> यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान् सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः॥
>
> (श्रीमद्भा० ५। १८। १०)

'प्रभो! घर, स्त्री, पुत्र, धन और भाई-बन्धुओंमें हमारी आसक्ति न हो; यदि हो तो केवल भगवान्के प्रेमी भक्तोंमें ही। जो संयमी पुरुष केवल शरीरनिर्वाहके योग्य अन्नादिसे संतुष्ट रहता है, उसे जितना शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है, उतना शीघ्र इन्द्रियलोलुप पुरुषको नहीं होती।'

भक्ति-विवेचन

(लेखक—पं० श्रीअखिलानन्दजी शर्मा, कविरत्न)

सेवार्थक 'भज' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता है। वह सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य, अनिर्वचनीय, स्वानुभववेद्य, सर्वाङ्गीण-रसास्वादाङ्कुर-कन्दली, परमानन्दाङ्कुर-महाह्लादसीमा, कपिल आदि अनेक महर्षियोंसे सवेद्य, प्रकृति-पुरुष-जन्य-जगदवस्थिति-निदानरूपा, सद्-असद्-विलक्षण मायाद्वारा कल्पित प्रपञ्च-कल्पनासे अकल्पित, चमत्कारकी चरम सीमाके मध्यारूढ है। श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंमें वह नौ प्रकारकी बतलायी गयी है। इसका विवरण श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें विस्तारपूर्वक किया है।

अब यहाँ भक्ति-लक्षण-निरूपण-प्रसङ्गमें, प्रयोजनवश, पूर्वाचार्योंद्वारा प्रदर्शित कुछ लक्षण उपस्थित किये जा रहे हैं। जैसे 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (२)—'वह भक्ति ईश्वरमें सर्वोत्तम अनुराग ही है'—यह शाण्डिल्य ऋषिका मत है।

पूज्येष्वनुरागो भक्तिः 'पूज्य जनोंमें अनुराग ही भक्ति है'—यह देवीभागवतका मत है (स्कन्ध ७, अध्याय ३७)। 'सभी उपाधियोंसे मुक्त होकर तत्परतापूर्वक इन्द्रियोंसे भगवान् हृषीकेशकी निर्मल सेवा ही भक्ति है' यह नारदपञ्चरात्रका मत है।

'अन्याभिलाषाशून्य ज्ञानकर्मादिसे अनावृत अनुकूल-भावसे श्रीकृष्णकी परिचर्या ही श्रेष्ठ भक्ति है'—यह श्रीरूप-गोस्वामिपादका मत है।

अब इनमें प्रथम शाण्डिल्य ऋषिके मतकी विवेचना की जाती है। उनके अनुसार परमेश्वरमें जो सर्वोत्कृष्ट अनुराग है, वही भक्ति-पद-वाच्य है। इस लक्षणमें दूसरी परिभाषा भी गतार्थ हो जाती है; क्योंकि वहाँ भी अनुरागकी बात कही गयी है और सर्वार्थप्रद होनेके कारण वहाँ भी सर्वात्मना भगवान् ही पूज्य हैं।

गरुडपुराणमें कहा गया है—

> 'भज' इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।
> तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी॥
> (अ० २२१)

"'भज' धातुका 'सेवा' अर्थमें प्रयोग होता है, इसलिये बुद्धिमानोंने सेवाको ही भक्तिका प्रधान साधन कहा है।" इस प्रमाणसे साधनप्रधान सेवा ही 'भक्ति' पदके द्वारा निर्दिष्ट हुई है। साधन-बाहुल्यका भाव है—भगवान्के अनुकूल उन-उन सामग्रियोंका सम्पादन। उसे सर्वात्मभावसे सम्पादन करना अशक्य है। इसीलिये राजर्षि भर्तृहरिने कहा है—

> सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

'सेवाधर्म बड़ा ही कठिन तथा योगियोंके लिये भी असाध्य है।'

भला, जिसका रहस्य योगियोंको भी ज्ञात न हो सके, उस सेवाधर्मको इन्द्रियलोलुप पामरजन कैसे जान सकते हैं—इस बातका उस धर्मके रहस्यज्ञोंको ही विचार करना चाहिये।

पर-अपरके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। 'यस्य देवे परा भक्तिः' आदि श्रुति-प्रमाण-सिद्ध परा भक्ति ही ज्ञान-पद-वाच्य है। इसीलिये—

> भक्तेस्तु या परा काष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम्।

'भक्तिकी जो पराकाष्ठा है, वही ज्ञान कही गयी है।' यह देवीभागवतमें हिमालयके प्रति भगवतीका वाक्य है (दे० भा० ७। ३७)। इससे पराभक्ति तथा ज्ञानकी एक-रूपता सिद्ध होती है। वहीं यह भी कहा गया है—

> परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः।
> स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥
> इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता।
> यस्यां देव्यतिरिक्तं तु न किंचिदपि भाव्यते॥
> इत्थं जाता परा भक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः।
> तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत्॥
> (७। ३७)

इन पद्योंके अनुसार परा बुद्धिका आश्रय लेकर सर्वत्र स्थित शक्तिको शक्ति तथा शक्तिमान्की एकताके कारण सर्वत्र अभेद बुद्धिसे देखनेवाला पुरुष चिन्मात्र भगवतीके स्वरूपमें प्रत्यक्ष ही विलीन हो जाता है। यह लयकारिणी वृत्ति ही पराभक्ति है। इसी अर्थको मनमें रखकर भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें ये वचन कहे हैं—

> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
> (६। ३०)

इन्हीं सब लक्षणोंको उपजीव्योपजीवकभावसे लेकर

प्राचीन आचार्योंने उन-उन ग्रन्थोंमें भक्ति-रहस्यका प्रदर्शन किया है।

अपरा-भक्तिके देवीभागवतमें बहुत-से भेद दिखलाये गये हैं। विहित और अविहित भेदसे वह पहले दो प्रकारकी है। शास्त्रानुमता भक्ति तो विहित है और स्वेच्छानुमता भक्ति अविहित है। विहिता भक्ति सामीप्य, सायुज्य आदि मुक्ति-फल प्रदान करनेवाली होती है। इसीलिये वह व्यासादि महर्षियोंको अभिमत है। पुराणोंमें महर्षियोंद्वारा उसके अनुसरणकी बात भी मिलती है। भक्तोंको उसीका अनुवर्तन करना चाहिये।

इस तरह भक्तिके लक्षणोंकी विवेचना करके अब भक्तोंके विषयमें भी कुछ विचार किया जाता है। उत्तम, मध्यम तथा अधम-भेदसे भक्तोंके भी तीन प्रकार हैं—जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(११। २। ४५)

'जो सभी प्राणियोंमें अपना तथा भगवान्‌का भाव देखता है तथा प्राणियोंको अपनेमें तथा भगवान्‌में देखता है, वही भागवतोंमें श्रेष्ठ है।' इस श्लोकमें पराभक्तिके अनुवर्ती साधकके लिये सबको भगवद्रूप देखनेकी बात कही गयी है।

मध्यम भक्तका लक्षण बतलाते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥
(११। २। ४६)

'जिसकी भगवान्‌में प्रीति, भगवद्भक्तोंसे मैत्री तथा अज्ञानियोंपर कृपा एवं शत्रुओंके प्रति उपेक्षाकी बुद्धि हो, वह मध्यम कोटिका भक्त है।' योगदर्शनमें भी 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा'का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसी बात भेद-बुद्धिके कारण ही होती है। जो प्रतिमामें ही श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की पूजा करता है, परंतु भगवद्भक्तों तथा अन्य प्राणियोंका जो आदर नहीं करता, वह साधारण भक्त कहा गया है—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥
(११। २। ४७)

केवल प्रतिमाकी पूजा करनेवालोंमें यह बात प्रत्यक्ष होती है, इसका हमलोग रात-दिन अनुभव करते हैं। आज प्रत्येक मन्दिरमें ऐसे ही पुजारियोंका बाहुल्य है, यह बात सहृदयोंसे छिपी नहीं है।

यहाँतक भक्ति तथा भक्तोंके भेद बताये गये। अब वैदिक विभागको लेकर इस विषयका विवेचन किया जाता है। निरुक्त, दैवतकाण्डमें कहा गया है—

माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥ (७। ११४)

इसी यास्क-मतकी व्याख्या करते हुए प्राचीन महर्षियोंने मन्त्रोंमें उन-उन देवताओंके चिह्नोंको देखते हुए एक ही परमात्माका अनेक रूप तथा नामोंसे निरूपण किया है। जैसे—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(३२। १)

इस यजुर्वेदके मन्त्रमें अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र आदि नामोंसे एक ब्रह्मका ही निर्देश किया गया है। इसे ही इन्द्र, मित्र, अग्नि तथा वरुण भी कहा गया है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद १। १६४। ४६)

इस मन्त्रमें एक ही ब्रह्म अनेक नामोंसे निर्दिष्ट हुआ है। अतएव श्रीशङ्कराचार्यने अपने दर्शनमें एकात्मवादका अनुसरण किया है।

वेदोंमें भगवद्भक्ति तथा भगवत्प्राप्ति दोनों ही भगवत्कृपा-मूलक बतलायी गयी हैं।

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।'

यह श्रुति भगवत्प्राप्तिको साधन-सुलभ नहीं बतलाती। अतः इस मार्गमें भगवदनुग्रह ही सब कुछ है।

भक्तके लिये सर्वत्र भगवद्भावकी बड़ी आवश्यकता एवं महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है। सगुण-निर्गुणरूपसे सर्वत्र विद्यमान भगवान्‌को एकदेशस्थित मानकर केवल प्रतिमामें उनकी अर्चा करनेवालेके लिये कहा गया है कि उसकी पूजा भस्ममें आहुति छोड़नेके समान निरर्थक है। भगवान् श्रीकपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मान[illegible]।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव [illegible]
(श्रीमद्भा० [illegible]

वहीं आगे चलकर कहा [illegible]
जीवरूपसे प्रविष्ट भगवान्‌का [illegible]

ही-मन प्रणाम करना चाहिये; द्वेष तो किसीके साथ करना ही नहीं चाहिये—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥
(श्रीमद्भा० ३। २९। ३४)

गीतामें भी भगवान्ने जहाँ भक्तोंके लक्षण कहे हैं, वहाँ सर्वप्रथम इस बातकी आवश्यकता बतायी है कि भक्तका किसी भी प्राणीके प्रति द्वेष तो होना ही नहीं चाहिये, वरं उसे सबका मित्र तथा दीन-दुखियोंके प्रति करुणावान् होना चाहिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
(गीता १२। १३)

भागवत तो यहाँतक कहती है कि भक्तको सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखते हुए कुत्ते, चाण्डाल, गाय-बैल तथा गदहेतकको भगवान् समझकर प्रणाम करना चाहिये, केवल मनसे नहीं; दण्डवत् पृथ्वीपर गिरकर—

प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्।
(११। २९। १६)

वेदमें भी इसी भावकी पुष्टि करते हुए कहा गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥
(यजुर्वेद ४०। ६)

'इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तममें देखता है और सर्वान्तर्यामी परमप्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है, वह फिर कभी किसीसे घृणा या द्वेष नहीं कर सकता।'

इस प्रकार सबके हृदयमें विराजमान भगवान्को सर्वत्र देखनेवाले भक्तका चिन्मात्र ब्रह्ममें लय हो जाता है—यही गीताका भी मर्म है। इस प्रकार हमने भक्तिके लक्षण एवं स्वरूपपर संक्षेपतः अपने विचार 'कल्याण'के पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किये हैं। विस्तार-भयसे अधिक न लिखकर यहीं अपना वक्तव्य समाप्त करते हैं।

भगवान् भक्तके पराधीन हैं

स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३—६८)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। अपनी इच्छासे मानो कुछ भी नहीं कर सकता। मेरे सीधे-सादे सरल भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे। ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। इसलिये अपने साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाशरहित लक्ष्मीको ही। जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका संकल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ! जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेमबन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। मेरे अनन्यप्रेमी भक्त सेवासे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है। दुर्वासाजी! मैं आपसे और क्या कहूँ, मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।'

'हरि-भक्तोंका जय-जयकार !'

(रचयिता—श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु')

(१)

गर्वीली रम्भाके नूपुर जब करते सुमधुर झंकार।
भस्म मनोभवको करती तब किसकी प्रलयंकर हुंकार ?
उसकी, ईश-भक्तिका जिसके ऊपर है पावन अधिकार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(२)

पर-उपकार, निरन्तर करुणा, मैत्रीके पावन भंडार।
पापी, पतित, पराजितसे भी करते ही जाते हैं प्यार।
निज प्राणोंके हत्यारेका वे करते सम्यक् सत्कार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(३)

सत्यशीलता और विनयके वे होते अनुपम आगार।
अर्द्धयामिनीमें भी मिलते शरणागतसे भुजा पसार।
सदा सुदृढ़ पकड़े रहते हैं वे निज नौकाकी पतवार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(४)

विष्णु समझकर अभ्यागतका वे करते अतुलित सत्कार।
दुखी पड़ोसीको निज उरका अर्पित करते निश्छल प्यार।
'जियो, जिलाओ'के होते हैं वे जाज्वल्यमान अवतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(५)

रजनीकी सुख-सजी सेजका लिया उन्होंने कब आधार ?
उनकी चरण-धूलि चन्दन है, पूजनीय वे सभी प्रकार।
मेरे मतमें तो होते हैं वे ईश्वरके ही अवतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(६)

जब कि किसी दुर्बल भाईकी जर्जर नौकाकी पतवार।
छुट जाती उसके हाथोंसे भँवर-बीच बिल्कुल मझधार।
तब वे उसे सहारा देकर ले जाते निश्चय उस पार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(७)

'सत्यं शिवं सुन्दरम्'के वे पग-पगपर पावन अवतार।
अचल केन्द्र अध्यात्म-शक्तिके, अमर साधनाके भंडार।
उनकी चरण-रेणुका कण-कण ही वास्तवमें है हरि-द्वार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(८)
गाते ही रहते हैं प्रतिपल उनकी उर-तन्त्रीके तार—
'भुवन चतुर्दश तीन लोकका सब भौतिक वैभव निस्सार।
ईश-भजन है, ईश-भजन है, ईश-भजन है जगमें सार।'
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(९)
कौन बली, जो उनके उरमें करे निराशाका संचार ?
आशाके अजस्र आराधक, भूप भगीरथके अवतार।
सदाकाल सत्साथी उनके वे अखिलेश्वर करुणागार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१०)
थक जाते हैं शेष-शारदा, और मान लेते हैं हार।
किंतु न मिलता उन्हें लेश भी भक्तोंकी महिमाका पार।
उनके स्वागतद्वारा पुलकित होता ईश्वरका भी द्वार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(११)
नव-निर्माण प्राण हैं उनके जीवन है सुखका संचार।
जन-मन-गण-अधिनायक होते वे भूके बाँके सरदार।
धर्म-युद्धमें उनके रिपुगण करते दारुण हाहाकार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१२)
जननी जन्मभूमि कर उठती जब उनके सम्मुख चीत्कार।
तब वे शान्त नहीं रह पाते करनेको उसका उद्धार।
रख देते हैं भूतल-ऊपर हँसते-हँसते सीस उतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१३)
शोषण या साम्राज्यवादकी दानवीय दूषित दीवार।
उनके नयनोंमें शोणितकी जब करती अविरल बौछार।
क्रांति और विप्लवके बनते तब वे मूर्तिमान अवतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१४)
हँसते-हँसते उन्हें मृत्युका आलिङ्गन तो है स्वीकार।
अनाचार, अन्याय, अमङ्गलका न उन्हें रुचता व्यवहार।
वे कहते हैं—'परार्थजनके लिये निषिद्ध मुक्तिका द्वार।'
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१५)
सुरा-पान करते हैं दानव, देवोंका अमृतसे प्यार।
दुग्ध-पान है महि-मण्डलपर मानव-जीवनका आधार।
किंतु हलाहलके प्यालेका वे करते शत-शत सत्कार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

मानसके अनुसार भक्ति-रसमें ध्यान-प्रकार*

(लेखक—मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी, वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न)

श्रितलक्षितसुकूलं सर्वदा सर्वकूलं
खलदलप्रतिकूलं दीनभक्तानुकूलम् ।
रचितसरयुकूलं प्रोल्लसत्सद्दुकूलं
परिहृतजनशूलं नौमि तत्पादमूलम् ॥

संसारके सभी प्राणी जिस अद्वैत अखण्ड आनन्दावाप्तिके सदा इच्छुक रहा करते हैं, वह एकमात्र श्रीहरिके चरणोंमें ही है, अन्यत्र नहीं—ऐसा सत्-शास्त्रोंपर विचार करनेवाले सभीका निर्भ्रान्त सिद्धान्त है; और उस अखण्डानन्त दिव्यानन्दकी प्राप्ति एकमात्र श्रीहरि-कृपासे ही सम्भव है, अन्य उपाय-कदम्बोंसे नहीं—अर्थात् वह क्रियासाध्य नहीं, अपितु कृपासाध्य है; इसलिये प्रत्येक सुखार्थीको श्रीभगवत्-कृपा अपेक्षित है। श्रीभगवत्कृपा कैसे प्राप्त हो, इसे श्रीभगवत्कृपा-प्राप्त अनुभवी दिव्यात्माओंने बताया है। वह यह है कि श्रीहरिमें भाव करनेसे ही भावाधीन श्रीहरि कृपा करते हैं—

भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन ।

श्रीहरिमें भाव करनेके अनेक प्रकार हैं—जैसे वात्सल्य-भाव, सख्यभाव, मधुरभाव और दास्यभाव आदि। श्रीहरिमें हमारा भाव हो, ऐसी प्रबल कामना प्रत्येक विवेकशील प्राणीको करनी चाहिये; क्योंकि भाव ही भजन है, जो भगवान्‌की तरह ही सत्य है—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना । सत हरि भजन जगत सब सपना ॥
निज अनुभव अब कहउँ खगेसा । बिनु हरि भजन न मिटहिं कलेसा ॥

विनिश्चितं वदामि ते न चान्यथा वचांसि मे ।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥

मुमुक्षु मानव भगवान्‌को किस भावनासे भजे, इसका निर्णय भगवान् स्वयं करते हैं—

मोहिं तोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै । (विनयपत्रिका)

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते । (गीता)

मुमुक्षा होनेपर जिस जीवको भगवान् जिस भावनासे स्वीकार करना चाहते हैं, उसके हृदयमें वैसा ही भावोद्रेक उत्पन्न करके—दास, सखा, पिता-माता, पुत्र-पुत्री एवं कान्तादि बननेके लिये प्रेरणा करके उसकी पूर्तिमें सहायता-का संयोग लगा देते हैं; साथ ही अपने राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि जिस रूपमें उसका उचित अधिकार समझते हैं, उसी रूपमें उसकी चित्तवृत्तिको आकर्षित करते हैं।

भगवान्‌के श्रीविग्रहमें एवं दिव्यानन्दावाप्तिमें किसी प्रकारका भेद नहीं रहता, परंतु भावानुरूप भगवान्‌के ध्यान-प्रकारमें थोड़ा-सा भेद होना स्वाभाविक ही है। किस भावनावाला भावुक अपने आराध्यका ध्यान कैसे करता है—इसका स्पष्टीकरण उदाहरणोंद्वारा श्रीरामचरितमानसमें किया गया है, जिसका दिग्दर्शनमात्र इस लघु लेखमें किया जाता है।

कोई भी उपासक—प्रेमी अपने प्रेमास्पदका चिन्तन करता है, उस समय उसके हृदयकी जैसी कुछ भावना होती है, प्रेमास्पदका वैसा ही विग्रह हृदय-नेत्रोंके सामने आ जाता है; तब उसी हार्दभावनानुरूप प्रेमास्पदके अङ्गोंपर प्रेमीकी स्थूल दृष्टि पड़ती है। परम प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रति वात्सल्य, सख्य, शृङ्गार और दास्य—इन चार रसोंसे आविष्ट भक्तोंका ध्यान भी पृथक्-पृथक् होता है—जैसे माता-पिताकी दृष्टि संतानके मुखमण्डल-पर प्रथम पड़ा करती है—यह नैसर्गिक नियम है, जो किसीको सिखाना नहीं पड़ता और मुखसे उतरकर वह सर्वाङ्गपर ठहर जाती है। एतदर्थ इस वात्सल्य-रसासक्तिके लिये मुख-मण्डलसे आरम्भ करके पदप्रान्ततकका ध्यान विहित किया गया है।

भृत्य जब स्वामीके सामने होता है, तब भृत्यकी दृष्टि स्वाभाविक ही स्वामीके पदप्रान्तका प्रक्षालन करती हुई मुखमण्डल तक पहुँचती है। अतएव दास्य-रसासक्त रसिकोंके लिये चरणसे लेकर मुखमण्डलतकके ध्यानका विधान किया गया है। वात्सल्य और दास्य दोनों रसके रसिकोंके ध्यानमें प्रेमास्पद श्रीहरिके सर्वाङ्गका ध्यान आवश्यक माना गया है। अन्तर दोनोंमें यह है कि वात्सल्यभावाविष्ट प्रेमीके प्रेमास्पदका ध्यान प्रथम मुखसे शुरू होता है, अन्तमें पदप्रान्तपर दृष्टि जाती है और दास्य-रसासक्त भावुकका ध्यान पदप्रान्तसे आरम्भ होकर मुखमण्डलपर विराम पाता है। इसी तरह प्रेमी सखाकी दृष्टि प्रियतम सखाके कटि-प्रदेशसे समुत्थित होकर शीश तक जाती है और

* लेखककी अप्रकाशित पुस्तक 'मानस-रसावली'के एक अध्यायका संक्षेप।

शृङ्गाररसाप्लुत नायिकाकी दृष्टि प्रियतमके शिरोमण्डलसे होती हुई कटिप्रदेशतक ही सीमित रहती है। सख्य और शृङ्गार रसके रसिकोंके ध्यानमें यही अन्तर है कि सख्यरसात्मक ध्यान कटिसे उठकर शिरस्त्राणतक जाता है और शृङ्गाररसात्मक ध्यान सिरसे प्रारम्भ होकर कटि-प्रदेशपर्यन्त आता है। चारों रसोंके ध्यानका प्रमाण मानसके तत्तत्स्थानोंपर दिया गया श्रीरामजीके नख-शिख-शृङ्गारका वर्णन है। कुछ उदाहरण देखिये—

(१)

महर्षि विश्वामित्रजीका भाव श्रीरामजीके प्रति वात्सल्य-मय था; इसीलिये उनकी दृष्टि श्रीरामजीके मुख-मण्डलसे रुककर पद-प्रान्तके पास आजानु (घुटनोंके नीचेतक) लम्बित बाहुके करपल्लवोंमें धारण किये हुए धनुर्-बाणतक गयी, जिसका वर्णन श्रीगोस्वामीजीने अनव-काशके कारण संक्षेपमें किया है। महर्षि श्रीविश्वामित्रजी-की अतित्वरा ही कविके अनवकाशका हेतु है। वर्णन इस प्रकार है—

पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन ।
कृपा सिन्धु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन ॥
अरुण नयन उर बाहु बिसाला । नील जलद तनु स्याम तमाला ॥
कटि पट पीत कसें बर भाथा । रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा ॥

(२)

श्रीदशरथाजिरमें विचरते हुए श्रीरामजीको देखनेके लिये काकभुशुण्डिजीके पास पाँच वर्षका लंबा अवकाश है, इसलिये वे बड़े आनन्दसे शान्तिपूर्वक भगवच्चरणतलसे मुखमण्डलतक बारंबार अवलोकन करते रहते हैं। देखिये—

नृप मन्दिर सुन्दर सब भाँती।(उत्तर० दो० ७५ की दूसरी चौपाई)से
किलकनि चितवनि भावति मोही। (उत्तर० ७६ की आठवीं चौपाई)तक

श्रीकाकभुशुण्डिजीका भाव तो दास्य-रसान्वित है ही, यह उनके—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।

—इस कथनसे ही स्पष्ट है और श्रीभुशुण्डिजीको भी विश्वास है कि श्रीरामजी मुझे अपना दास जानते एवं मानते हैं। इसीसे वे कहते हैं—

निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन्ह ।

और 'ज्ञानी भक्तशिरोमणि' सकल पक्षियोंके राजा त्रिभुवनपति-वाहन श्रीगरुड़जी भी यही कहते हैं—

रघुनायक के तुम प्रिय दासा ।

(३)

इसी तरह स्वयं श्रीशंकरजीका ही—

रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ ।

—यह उद्गार कह रहा है कि आपका भाव भी कौसल्यानन्द-वर्द्धन आनन्दकन्द श्रीरघुचन्द्रजीके प्रति दास्य-समन्वित ही है। श्रीशिवजीको कोई जल्दी नहीं है, इसीसे वे शान्तिपूर्वक आनन्दके साथ बार-बार राम-रूपको निहारते हैं—

राम रूप नख सिख सुभग बारहिं बार निहारि ।
पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि ॥

—और अवसर पाकर अर्थात् जब अपने इष्ट रूपका वर्णन करना था, तब अपने नित्य वन्दनीय—

बंदौं बाल रूप सोइ रामू ।

—का नख-शिख वर्णन शंकरजीने विस्तारसे गाकर किया है—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ॥
अरुण चरण पङ्कज नख ज्योती । (बा० दो० १९८ चौ० १) से
तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी ॥ (बा० दो० २०० चौ० २) तक

अन्तिम पंक्तिका 'भवानी' सम्बोधन स्पष्ट कर रहा है कि यह नख-शिख-वर्णन श्रीशंकरजी कर रहे हैं। श्रीशंकरजी ध्यानके नेत्रोंसे पीत झीनी झँगुलियाके नीचे भी दिव्य मङ्गल-विग्रह श्रीभगवान्‌के वक्षःस्थलपर 'विप्र-चरणाङ्क' देख रहे थे; परंतु श्रीभुशुण्डिजी तो राजप्राङ्गणमें—

विचरत अजिर जननि सुखदाई ।

—के रूप-रसका पान प्रत्यक्ष चर्मचक्षु-पुटोंसे कर रहे थे। इसलिये उन्हें—

उर आयत भ्राजत बिबिधि बाल बिभूषन चीर ।

—के बीच उस आनन्द-कन्दके वक्षःस्थलपर सुशोभित 'विप्र-पद-लाञ्छन' का साक्षात्कार नहीं होता था। इसीसे श्रीभुशुण्डिजीने उस समय उस विप्रपादाङ्ककी चर्चा नहीं की।

(४)

श्रीस्वायम्भुव मनु-दम्पतिको पहले जबतक श्रीसीता-रामजीका साक्षात्कार नहीं हुआ था, तबतक श्रीहरिमें दास्य-भाव ही था। तभी तो—

प्रभु सर्बग्य दास निज जानी । गति अनन्य तापस नृप रानी ॥

परंतु जब युगल-सरकार श्रीसीताराम-रूप दिव्य दम्पतिका साक्षात्कार हुआ, तब युगलकिशोरको देखते ही एक

मन्वन्तर (दो सौ पचासी युगसे अधिक) राज्य करके तप करनेवाले वृद्ध मनुके हृदयमें ऐसी अवस्थामें जो समुचित था, उसी वात्सल्यका उद्रेक हो आया; तभी तो उनकी प्रथम मुखपर ही दृष्टि गयी; तब क्रमशः सर्वाङ्गपरसे फिसलती हुई दृष्टि चरणोंपर विरामको प्राप्त हो गयी—

सरद मयंक बदन छबि सींवा। (बा० दो० १४६ चौ० १) से
पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। (बा० दो० १४८ चौ० ?) तक

स्मरण रहे कि मानसमें अनेक स्थानोंपर भगवन्नख-शिखका वर्णन है, परंतु इस मनु-प्रकरणकी नख-शिख-वर्णनशैलीमें अन्य स्थलोंसे थोड़ा अन्तर है और उस अन्तरने इसमें एक अनूठी छटा ला दी है। उस अन्तरका कारण लेखककी 'मानस-रत्न-मञ्जूषा' पुस्तकके 'छवि-समुद्रके रत्न' शीर्षक निबन्धमें किया गया है।

मनुके हृदयमें वात्सल्यभावने अड्डा तो जमा ही लिया, परंतु उन्हें अटल विश्वास नहीं हो रहा था कि जगज्जनक प्रभु मुझे पिता कहेंगे। इसीसे महादानीके अभय-वचन सुन अविश्वस्त मनमें धैर्य धरकर बोले—

नाथ कहौं सतिभाव ······ चाहौं तुमहिं समान सुत ··

और इसके बाद भी प्रणाम करके माँगा कि—

सुत बिषयक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ।

तब प्रभुने भी उन्हें पिता(तात)कहकर सम्बोधित किया—

सईँ करि बास बिसाम तात गए कछु काल पुनि।
पुनि पुनि अस कहि कृपा निधाना। अंतर्धान भए भगवाना॥

भगवान्‌ने उन्हें जब तात (पिता) कहकर सम्बोधित किया, तब मनुजीका वात्सल्य विश्वास करने योग्य हो गया। इसीसे उन्होंने प्रभुके अन्तर्हित होते समय उन्हें प्रणाम नहीं किया। लङ्कामें भी ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादिकोंको प्रणाम-स्तवन करते देखकर भी उन्हें प्रणाम नहीं किया; वर प्रभुने ही उनकी वात्सल्यप्रवणता देखकर स्वयं प्रणाम किया—

अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा। आसिरबाद पिता तब दीन्हा॥

और जब श्रीरामजीने प्रथम प्रेमका अनुमान करके दृढ़ ज्ञान दे दिया, तब उलटे प्रभुको ही बार-बार प्रणाम करने लगे; क्योंकि अब पितृत्व-वात्सल्य छूट गया। अतः—

बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गए सुरधामा॥

(५)

महारानी श्रीसीताजी श्रृङ्गार-रसकी अधिष्ठात्री देवी हैं और श्रीरामाभिन्न श्रीरामका अपर विग्रह होते हुए भी लीलार्थ अवतरित हैं। आपसे ही श्रृङ्गारका परमोत्कर्ष है, तो भी आपने प्रत्यक्षमें कवि-कल्पित श्रृङ्गार-रसकी उच्छृङ्खल नायिकाओंकी तरह कहीं भी किसीके सामने हाव-भाव न दिखलाकर अपनी पतिपरायणताको दास्य-भावनाके रूपमें व्यक्त किया है। इसीलिये प्रथम दर्शनमें 'नख सिख देखि राम कै सोभा' (बा० का० २३३ । ४) से लेकर लङ्का-विजयके बाद सम-द्वीपाधीश्वरी होनेपर भी वे अपने प्रियतमके चरणोंमें ही रति रखती हैं—

यद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवाबिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ॥

इसीसे विवाहके अवसरपर भी आपने विवाह-मण्डपमें शुभदृष्टिके समय भी दास्यरसाविष्ट भावुकोंकी तरह ही श्रीरामरूपको पदप्रान्तसे आरम्भकर शिरोदेशतक देखा—

पुनि पुनि रामहि चितव सिय··········।
सायक सुख पद कमल सुहाए॥ (बालकाण्ड दोहा ३२६)
से लेकर
सोहत मौर मनोहर माथे। मंगलमय मुकुता मनि गाथे॥
(दोहा ३२७ चौ० ८) तक।

श्रीरामजीने तो श्रीस्वामिनीजूको श्रृङ्गारिक रूपमें ही ग्रहण किया है; इसीलिये श्रीजूकी ओरसे कोहबरमें, वनगमनके समय, वनमें और लङ्का आदि अनेक स्थलोंपर मर्यादित श्रृङ्गार प्रकट हुआ है, यद्यपि श्रीजीने अपनी श्रृङ्गारिक भावनाको सर्वत्र गोप्य ही रखा है। स्मरण रखना चाहिये कि श्रृङ्गार-भावना गोप्य रखने—केवल हृदयमें अनुभव करनेकी निधि है, प्रदर्शन करने-करानेकी वस्तु नहीं—

कीन्हेहु प्रगट न कारन तेही॥ ··उर अनुभवति न कहि सक सोऊ॥

जिस जनकपुरके लिये 'श्रृङ्गारो जनकगृहे रघुवरान्० ।' कहा गया है, वहाँ यदि श्रृङ्गार प्रकट हुआ तो समुचित स्थान होनेसे किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं।

(६)

जनकजीके धनुर्मखाङ्गणमें जनकपुरके सभी लोग एकत्र हैं और जनकपुरमें श्रृङ्गार-भाव प्रधान होनेसे वहाँके वक्ताओंने मुखसे लेकर कटितकका ही वर्णन किया है—

सरद चंद निंदक मुख नीके। (बा० का० २४३ । २)
कटि तूनीर पीत पट बाँधे। (बा० का० २४४ । १)

और यहाँ दास्य-रस गौण होनेसे आधी ही चौपाईमें कहा गया—

नख सिख मंजु महाछबि छाए ।

(७)

श्रीजनकजीकी पुष्पवाटिका तो शृङ्गार-रसकी खानि ही है। इसलिये शृङ्गार-रसप्रधाना श्रीजूकी अन्तरङ्गा सखियोंने श्रीरामरूपको देखकर उसका वर्णन शिरोदेशसे लेकर कटि-पर्यन्त ही किया है—

मोरपंख सिर सोहत नीके । (बा० का० २३३ । २)
केहरि कटि पट पीत धर० ॥ (दोहेके अन्ततक)

(८)

श्रीशंकरजीका तो अपना दास्यभाव ही है, इसीसे जनकपुरमें भी नखसे लेकर शिखतक देखा—

राम रूप नख सिख सुभग बारहिं बार निहारि ।
पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि ॥

स्मरण रहे—यहाँ 'पुलक गात लोचन सजल' केवल पुरारि शंकरजीके ही हैं, उमा—सतीके नहीं। यहाँपर 'उमासमेत' तो पुरारिका विशेषण है; क्योंकि सती-त्यागके पूर्व शिवजी जब अपने असली रूप—पञ्चमुख, मुण्डमाली कैलासपति-शरीरसे कहीं जाते थे, तब उमा—सती साथ ही रहती थीं। इसीसे 'उमासमेत' कहा। और इसके पूर्व जो—

सिव ब्रह्मादिक बिबुध बरूथा । चढ़े बिमाननि नाना जूथा ॥

—कहा है, वहाँ इन विबुध-बरूथोंमें शिव और विष्णुके अतिरिक्त किसी देवताके साथ उसकी पत्नी नहीं है। देव स्त्रियोंका समाज अलग है; परंतु रमा—लक्ष्मी और उमा—सती निज-निज पतियोंके साथ हैं; इसीलिये 'उमासमेत पुरारि' कहा गया है।

(९)

मिथिला-नगर-दर्शनमें उन षोडशवर्षीय अवधेश-बालक श्रीराम-लक्ष्मणजीके नगरमें प्रवेश करते ही नगरद्वारपर ही मैथिलीय बालकवृन्द मिले। समवयस्क बालकोंमें चञ्चलता होना स्वाभाविक ही है। अतएव मैथिल बालकोंका प्रभुके प्रति सख्यभाव होनेसे उनकी दृष्टि सरकारके कटिप्रदेशसे उठकर शिर-प्रदेशतक गयी—

पीत बसन कटि परिकर भाथा। ... ... मस्तक सुमित बरू ॥
(बालकाण्ड २१९)

परंतु मानसके भाषान्तरकार कवि पूज्य श्रीगोस्वामीजी तो दास्य-रसान्वित हृदयवाले ही ठहरे। इसीसे तुरत ही—

नख सिख सुन्दर बन्धु दोउ सोभा सकल सुदेस ।

—कह दिया। अतः जहाँ कहीं भी मानसमें ध्यान करानेके लिये जैसा भी श्रीरामजीके नख-शिखका वर्णन है, वहाँ-वहाँ वह सहेतुक है; उपर्युक्त नियमानुसार पूर्वापर प्रकरण देखकर तदनुकूल उसका भाव समझ लेना चाहिये कि यह भक्तिके किस रसके रसिक महानुभावका ध्यान है।

लक्ष्मणजीकी अनन्य प्रीति

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं । लागि अगम अपनी कदराईं ॥
नर बर धीर धरम धुर धारी । निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला । मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ॥

(अयोध्याकाण्ड)

मानसमें भक्ति

(लेखक—पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

'कल्याण'के विद्वान् सम्पादकने 'कल्याण' के 'भक्ति-अङ्क' के लिये 'मानसमें भक्ति'-सम्बन्धी एक लेख लिखनेको मुझे आज्ञा दी। मैं मानसका स्वाध्यायी जरूर हूँ, आस्तिक भी हूँ और अपने देवी-देवताओं और धर्मग्रन्थोंका अन्धश्रद्धालु भी हूँ; पर मानसमें महात्मा तुलसीदासने भक्तिका जो निरूपण किया है, उस भक्तिकी मिठासका अनुभव मुझे बिल्कुल नहीं है। यह बात मैंने सम्पादकजीको लिख भेजी और प्रार्थना की कि 'मुझे क्षमा करें। मैं जो कुछ लिखूँगा, वह मेरा न होगा, तुलसीदासजीकी चोरी होगी या उनसे उधार लेकर ही लिखूँगा। अभी तो युधिष्ठिर महाराजकी व्याख्याके अनुसार मेरी गिनती मूर्खोंमें ही की जायगी।' युधिष्ठिर महाराजने 'महाभारत' में मूर्ख और पण्डितकी व्याख्या इस प्रकार की है—

> पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
> सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥

अर्थात् पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले और शास्त्रका मनन-चिन्तन करनेवाले—ये सब व्यसनी और मूर्ख हैं; पण्डित तो वही है, जो क्रियावान् है।

फिर भी सम्पादक महोदयने मुझे क्षमा नहीं किया और मानसकी भक्तिपर कुछ-न-कुछ लिख देनेका ही आदेश दिया। इसीसे यह अनधिकार चेष्टा मैं कर रहा हूँ।

मैं तुलसीदासजीको हिंदू-जातिकी रक्षा करनेवाला एक क्रान्तिकारी नेता मानता हूँ। ब्रह्मज्ञानी ऋषि-मुनियों और परम प्रतापी चक्रवर्ती सम्राटों तथा तत्त्वदर्शी विद्वानों और कवियोंसे उद्दीप्त हिंदू-जातिकी रक्षा करनेके लिये मानो उन्होंने अवतार लिया था। कविता तो अपनी बातोंको सरस और हृदयग्राही बनानेके लिये उनका एक साधनमात्र थी।

तुलसीदासजीके जमानेमें मुसल्मानी शासनसे हिंदू-जाति और हिंदू-धर्मपर आघात-पर-आघात पड़ रहे थे और अपने धर्मग्रन्थोंमें अपनी रक्षाकी शक्ति रखते हुए भी वह उससे अनभिज्ञ थी और भीतर-ही-भीतर छिन्न-भिन्न हो रही थी। तुलसीदासजीने उसके नष्ट-भ्रष्ट होनेका कारण खोज लिया और एक वीर पुरुषकी तरह वे उसकी रक्षाके लिये छाती ठोंककर खड़े हो गये। मानस उन्हींके उद्देश्यका एक लिखित रूप है।

मुसल्मानी धर्म इस देशमें बाहरसे आया। वह भारती- संस्कृतिसे मेल नहीं खाता था, पर उसमें अशिक्षित जनता- लिये जबर्दस्त प्रलोभन था। मुसल्मानी मजहबमें एक ही खुद था, जो बहिश्तमें दरबार लगाकर रहता था और व शासकोंकी तरह मुसल्मानी धर्म न माननेवालोंको दण्ड देता थ और माननेवालोंके अपराध भी क्षमा कर देता था। उन- मुकाबलेमें हिंदुओंमें सैकड़ों देवता थे, जिनमें प्रत्येक मुँह माँगा वर देनेवाले, परम स्वतन्त्र और महान् शक्तिशाली थे प्रत्येक हिंदू-धर्मानुयायी किसी-न-किसी देवताका उपास था। मुसल्मानोंकी एक ही पुस्तक थी, जिसमें लिखी हुई बातों मानना ही मुख्य धर्म था, जब कि हिंदुओंके पास कम-से कम चार ग्रन्थ—वेद थे। हजरत मुहम्मद ही एकमात्र खुदा- आज्ञावाहक थे। मुसल्मानोंमें विचार-स्वातन्त्र्य बिल्कुल नह था। इसके सिवा मुसल्मानोंके सामाजिक जीवनके नियम भी ऐसे थे, जिनसे उनका संगठन प्रतिसप्ताह और प्रतिवष नये सिरेसे ताजा और पुष्ट होता रहता था। वे सप्ताहमें एक दिन जुमा—शुक्रवारको मस्जिदमें एकत्र होते और साथ बैठकर नमाज पढ़ते और सामाजिक एकताको पुनर्गठित क लेते थे। वहीं एकान्तमें वे 'हिंदुओंके साथ किस प्रका मोर्चा लिया जाय' इस विषयपर निर्भयताके साथ खुलक बातें करते और आगेका कार्यक्रम निर्धारित करते थे। वर्षमें एक दिन मीलों दूरके मुसल्मान ईदगाहमें एकत्र होते, आपस में गले मिलते और अपना सामाजिक बल बढ़ानेकी तरकीबें सोचते और घर लौटकर उसीके अनुसार बर्ताव करते थे उनके-जैसा संगठन हिंदुओंमें नहीं था। हिंदुओंमें ही नहीं, ईसाई, यहूदी, पारसी, चीनी आदि किसी जातिमें भी, जिनके पास ईश्वरीय धर्मग्रन्थ पाये जाते हैं, समाजको संगठित बन रखनेकी ऐसी युक्ति नहीं पायी जाती। उनके मुकाबलेमें हिंदुओंमें जप, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना आदि भी—एकान्तमें अलग बैठकर करनेके नियम प्रचलित हैं। इस अभावसे हिंदुओंकी वे जातियाँ, जो उच्च वर्गवालोंसे प्रताड़ित थीं, स्वभावतः हिंदू-समाजसे और हिंदूधर्मसे विरक्त हो रही थीं। उनकी मानसिक स्थिति भी डाँवाडोल थी, धर्मग्रन्थ भी कोई एक नहीं था। विचार-स्वातन्त्र्य इतना खुला हुआ था कि चार्वाक, जो वेद और ईश्वरको नहीं मानता, उसका दर्शन भी शिक्षाका एक विषय बना दिया गया था। पान

हजार वर्ष पहले भी विचारोंकी यह विभिन्नता समाजमें व्याप्त थी। महाराज युधिष्ठिरने अपने समयकी इस दशाका चित्रण इन शब्दोंमें किया है—

> तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
> नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
> धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
> महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
> (महा० ३ । ३१३ । ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है। श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। एक ही ऋषि नहीं हैं कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ है; अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।'

महाजनका भी कोई निश्चित पंथ नहीं था। सबका चुनाव अलग-अलग था।

पाँच हजार वर्ष पहले जिस जातिमें ऐसा मतान्तर घर किये हुए था और वह पाँच हजार वर्षोंतक लगातार बढ़ता ही रहा था, वह जाति एक धर्म और बलवर्द्धक सामाजिक नियमोंसे सुसंगठित मुसलमान जातिका मुकाबला कैसे कर सकती थी? हिंदुओंमें तो भगवान्की शरणमें आकर भी एक साथ बैठकर जप, तप, ध्यान, पूजन और भजन करनेका नियम नहीं था। लड़ाईकी तो बात ही क्या, वर्षभरमें भी कोई एक निश्चित दिन नहीं था, जब कि हिंदूलोग मित्र और भाई-भाईकी तरह साथ बैठकर अपने समाजकी दशापर विचार करते और इसपर भी तर्क-वितर्क करते कि नये आये हुए धर्म और उसके माननेवाले विधर्मी शासकोंसे अपनी जाति और धर्मकी रक्षा कैसे की जाय। तुलसीदासजीने हिंदू-जातिकी इस कमजोरीको पहचान लिया और उन्होंने उसके दुर्गुणोंको दूर करनेके लिये प्रयोग शुरू किया। वह प्रयोग ही 'मानस' है। उन दिनों हिंदुओंमें, खासकर सतों और वेदान्तियोंमें, निर्गुण ब्रह्मकी चर्चा जोरोंपर थी; किंतु उन मतोंके माननेवालोंके लिये परलोकमें सांसारिक सुखोंकी वे सुविधाएँ नहीं थीं, जो मुसलमानी धर्ममें थीं। उनका स्वर्ग तो एक नगर-सा बसा हुआ था, जिसमें हूर और गिलमेंतक मिलते थे। इससे निर्गुण ब्रह्मकी व्याख्या न समझ सकनेवालोंको मुसलमानी स्वर्ग ज्यादा सुलभ और स्पृहणीय लगने लगा था। विचार-स्वातन्त्र्य तो इतना बढ़ गया था कि शैव और वैष्णव एक दूसरेका सिर फोड़ना भी अपने धर्मका अङ्ग समझने लगे थे।

अथर्ववेदके 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' वचनसे तो शैव और वैष्णव दोनों अभिन्न थे, पर उसका अनुसरण कोई नहीं करता था। ऊपरसे विधर्मी शासकोंका उत्पात तो साँस ही नहीं लेने देता था। इसका दिग्दर्शन तुलसीदासजीने 'बालकाण्ड' में इस प्रकार किया है—

> देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी॥
> करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥
> जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
> जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
> सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
> नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥
> जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
> आपुन उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥
> अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
> तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥
> बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
> हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥

एक ओर हिंदू-जातिपर ऊपरसे यह मार-पर-मार पड़ रही थी, दूसरी ओर सामाजिक विशृङ्खलता ऐसी फैल रही थी कि हिंदू-जाति बिना पतवारकी नाव हो रही थी। तुलसीदासके समकालीन हिंदू-समाजकी जो दशा थी, उसका भी वर्णन उत्तरकाण्डमें इस प्रकार किया गया है—

> कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
> दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥
> भए लोग सब मोहबस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
> सुनु हरिजान ग्यान निधि कहउँ कछुक कलि धर्म॥
> बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
> द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
> मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
> मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
> सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
> जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥
> निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
> जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
> असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
> तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
> जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
> मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

वर्णित है, उसका पाठ महात्मा गाँधीको पितामहसे विरासतमें मिला था और सचमुच उसी रथपर बैठकर महात्मा गाँधीने विजय प्राप्त की थी।

महात्मा तुलसीदासको क्या यह भी मालूम था कि सुराज या स्वराज्यका जो सचालन करेंगे, वे हिंदू-धर्मग्रन्थोंका सहारा नहीं लेंगे और धर्म-निरपेक्ष राज्य चलायेंगे ! उन्होंने उनके लिये रामके मुखसे हनुमान्‌जीको अपने अनन्य भक्तका स्वरूप इस तरह कहलाया है—

> सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
> मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

अर्थात् ईश्वरको नहीं मानते हो, तो यह चराचर जगत् ही ईश्वरका रूप है, इसीके सेवक बनो। तुलसीदासजीने मानसभरमें रामका कोई एक निश्चित रूप निर्धारित नहीं किया। बल्कि उनके समयमें जितने मत, सम्प्रदाय और उपासनाके अन्य केन्द्र थे, रामको सबसे सम्बद्ध बताया है। शिव रामके भक्त थे और राम शिवके भक्त थे। इस तरह वैष्णव और शैव—दो बड़े सम्प्रदायोंका कलह शान्त हुआ।

कागभुशुण्डि कौवा थे, जो पक्षियोंमें चाण्डाल गिना जाता है; उसे ऊँचे आसनपर बैठाकर उसके मुखसे राम-कथा कहलायी, जिसे पक्षियोंके राजा गरुड़ने आसनसे नीचे बैठकर सुना। इस तरह गुणको जाति-पाँतिसे ऊँचा दिखलाया और उच्चवर्गका मार्ग-प्रदर्शन किया।

तुलसीदासजीने रामको आदर्श पुरुष और महाराज दशरथके परिवारको आदर्श परिवारका रूप दिया है तथा महाराज दशरथके परिवारके स्त्री-पुरुषोंके स्वभावोंका चित्रण उसी प्रकार किया है, जिस प्रकारके स्वभाववाले पात्र उस समयके हिंदू-परिवारोंमें थे। इससे पात्रोंको अपने गुण-दोषोंका तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।

सारा मानस भक्तिके प्रसङ्गोंसे भरा है। तुलसीदासजीने व्यक्तिगत चरित्रकी शुद्धिको ही रामकी भक्तिमें प्रमुख स्थान दिया है। जैसे—

> जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
> सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
> भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
> भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
> प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
> एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
> श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
> संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
> गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
> मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
> काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥
> बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
> तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥
>
> (अरण्यकाण्ड)

इस तरह एक-एक व्यक्तिका जीवन भक्तिमय होकर शुद्ध हो जायगा तो उससे बना समाज सुदृढ़ और उन्नतिशील बन जायगा।

तुलसीदासजीने हिंदुओंको एक साथ मिलने-जुलने, बैठने-उठने और विचार-विनिमयके लिये कई केन्द्र स्थापित किये; जैसे—कीर्तन, रामलीला, तीर्थ-माहात्म्य, गङ्गाजीका 'दरस परस मज्जन अरु पाना', राम-कथाका श्रवण आदि। तुलसीदासजी अपने वर्तमान कालको देखते हुए अपने प्रयोगकी रक्षामें भी जागरूक थे। उन्होंने कलियुगमें हिंदूजातिकी दुर्दशाका चित्रण तो किया, पर अपने किसी ग्रन्थमें 'हिंदू' शब्द नहीं आने दिया; क्योंकि सम्भव था कि 'हिंदू' शब्दसे मुसलमान शासकोंके कान खड़े हो जाते और वे मानसको ही निर्मूल करनेमें लग जाते।

मानस हिंदूजाति और हिंदूधर्मकी रक्षा और उन्नतिके लिये तुलसीदासका एक प्रयोग है, जो गत तीन सौ वर्षोंसे निरन्तर चल रहा है और वह तबतक चलता रहेगा, जबतक देशमें रामराज्य नहीं कायम हो जायगा।

भगवत्कृपा

तुलसीदासजी कहते हैं—

> मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥
> राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥
>
> (बालकाण्ड)

श्रीरामचरितमानसमें भक्ति-निरूपण

([illegible] शास्त्री [illegible] रामायणी, मानस-तत्त्वान्वेषी)

[illegible] 'श्रीरामचरितमानस' भक्ति-[illegible] है । क्योंकि इसमें [illegible] और निष्कामभावसे [illegible] रघुबर भगति प्रेम परमिति सी' (उत्तर० ३० । १४) कथन कर गये हैं । 'परमिति' [illegible] यह स्पष्ट विदित होता है कि श्रीरामकी [illegible] प्रेमका प्रतिपादक ऐसा अन्य दूसरा नहीं है ।

मानसमें 'भक्ति-तत्त्व' का विविध-विधानपूर्वक निरूपण किया गया है । यथा—

[illegible] बिरहित बिरागा । [illegible] ॥

([illegible] ३६ । १६)

[illegible] 'भगति' के आगे 'निज' प्रत्यय जोड़नेसे भक्ति-[illegible] है । इसका अर्थ 'सेवा' है । आत्मकल्याण चाहनेवालोंके लिये भक्तिका विधान किया गया है । यथा—

[illegible] आसा ॥

यह भक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) अभेद-भक्ति और दूसरी (२) भेद-भक्ति । अभेद-भक्तिको ही ज्ञान कहते हैं । यथा—

[illegible] हरि श्रुति [illegible] । [illegible] परम प्रबीना ॥

... ...

[illegible] नहिं भेदा । बारि बीचि इव गावहिं बेदा ॥

—इत्यादि

इस प्रकार भजन (भक्ति) करनेवालोंको परम सिद्धि-की प्राप्ति होती है तथा वह भगवत्स्वरूपमें लीन हो जाता है । इसीको 'निर्वाण-मुक्ति' कहते हैं ।

भेद-भक्तिमें सेवक-सेव्य-भाव प्रधान (मूल) रूपसे रहता है । इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले भक्तजन आयी हुई मुक्ति-को भी ग्रहण नहीं करते । उनका साधन और सिद्धि दोनों ही [illegible] होता है ।

यथा—

[illegible] हरि [illegible] । [illegible] मुनि निरादरि भगति [illegible] ॥

[illegible] । [illegible] भेदभगति बर लेहू ॥

[illegible] । [illegible] राम भगति [illegible] देहीं ॥

[illegible] ॥ अस्तु

इसीलिये कहा गया है—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥

प्रयोजन तथा अधिकारीके भेदसे भक्तिके अनेक विधान हैं । विषाद-नाशके लिये निषादराजके प्रति श्रीलक्ष्मणजी-द्वारा ज्ञान वैराग्य एवं भक्तियुक्त वाणी कही गयी है । (२।८९–९३।१) भगवत्कृपा-सम्पादनके लिये स्वयं भगवान् श्रीरामद्वारा लक्ष्मणजीके प्रति 'भक्ति-योग' का कथन किया गया है (३ । १३ । ५–१६ । १) । तथा स्थान स्थानपर जन्म फल-प्राप्तिके लिये, सर्वसाधारणके लिये, श्रीशबरीजीके प्रति नवधा भक्ति तथा भागवत-कथित नवधा-भक्ति (श्रवनादिक नवभक्ति दृढाहीं) वर्णाश्रमधर्माधिकारियोंके लिये कथन की गयी है । यथा—भगति के साधन कहउँ बखानी ॥

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती । निज निज करम निरत श्रुति रीती ॥

एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा । तब मम धरम उपज अनुरागा ॥

साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है, वैधी और रागानुगा । शास्त्रोपदेश-श्रवणद्वारा जो मनुष्यका भगवच्चरणोंमें अनुराग होता है, उसे वैधी भक्ति कहते हैं । यथा—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं । रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥

तथा स्वाभाविक अनुरागसे भजनमें प्रवृत्ति होनेपर उसे रागानुगा कहते हैं । यथा—

मन ते सकल बासना भागी । केवल राम चरन लय लागी ॥

ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा आर्त—चारों प्रकारके भक्तोंके लिये गौणी (वैधी) भक्तिका विधान है । यथा—

ज्ञानीके लिये—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी । बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥

ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा । अकथ अनामय नाम न रूपा ॥

जिज्ञासुके लिये—

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ ॥

अर्थार्थीके लिये—

साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥

आर्तके लिये—

जपहिं नामु जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥

इसके अलावा

अविरल भक्ति, यथा—अबिरल भगति बिरति सतसंगा ॥

अविरल प्रेम-भक्ति, यथा—अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई ॥

अनूपा भक्ति, यथा—पंथ कहत निज भगति अनूपा ।

भगति तात अनुपम सुख मूला । राम भगति निरुपम निरुपाधी ॥

दृढ़ राम-भक्ति, यथा—राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग ॥

परम भक्ति, यथा—कीन्हेसि परम भगति बर मागी ॥

अनपायिनी भक्ति, यथा—अनपायिनी भगति प्रभु दीन्ही ॥

निर्भरा भक्ति, यथा—भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे ।

भाव-भक्ति, यथा—भाव भगति आनंद अघाने ॥

अखण्ड भक्ति, यथा—मति अकुंठ हरि भगति अखंडा ॥

विशुद्ध अविरल भक्ति, यथा—अबिरल भक्ति बिसुद्ध तव ।

सब सुख खानि भक्ति, यथा—सब सुख खानि भगति तैं मागी ।

चिन्तामणि भक्ति, यथा—राम भगति चिंतामनि सुंदर ।

फलरूपा भक्ति, यथा—सब कर फल हरि भगति सुहाई ।

संजीवनी भक्ति, यथा—रघुपति भगति सजीवनि मूरी ।

—आदि अनेक भक्तिके विधानोंका 'मानस' में यथास्थान निरूपण हुआ है। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंमें संसारसे उत्पन्न दुःखके हरणरूप फलमें तो कोई भेद नहीं है, समानता है। यथा—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥

कारण, भक्तिके लिये एक स्थानपर कहा है—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।

राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास ॥

सो यह नाम-जपसे बढ़नेवाली भक्ति है। वर्षा कभी होती है, कभी नहीं होती और कभी स्वल्पाधिक भी होती है। इसी प्रकार नाम-जप भी कभी होता है, कभी विच्छिन्न हो जाता है। पुनः चित्तवृत्तिकी अखण्डताके लिये दूसरे स्थानपर 'राम भगति जहँ सुरसरि धारा' कहा गया है। भक्तिका प्रवाह अविच्छिन्न होना चाहिये, इसलिये 'धारा' कहा गया। राम-भक्तिको गङ्गा कहनेका भाव यह है कि जिस भाँति गङ्गाजी पापोंका हरण करती हैं, उसी तरह भक्ति भी अभ्यन्तर-मल दूर करती है। यथा—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई ॥

गङ्गा और भक्ति दोनोंकी उत्पत्ति हरि-चरणोंसे हुई है। भक्ति भी गङ्गाजीकी तरह भगवच्चरणोंके ध्यानसे उत्पन्न होकर सबको पवित्र करती है। तथा दोनों ही भगवान् शंकरजीको प्रिय हैं। गङ्गा अविरल बहती है और इसमें पवित्रता (निष्कामता) का गुण है। तथा संतुष्टता और अखण्डता भी इसमें हैं। यह भी नाम-जपरूपी वर्षाकी धारासे ही पुष्ट होती है।

एक काम-पूरा भक्ति है, उसे जहाँ-तहाँ कामधेनु और कल्पवृक्षसम कहा गया है। एक प्रकाशिका भक्ति है, जिसे 'राका' रजनी भगति तव' तथा 'राम भगति चिंतामनि सुंदर' कहा गया है। 'राका-रजनी' शारदीय पौर्णमासीकी रात्रि है। इसमें रात्रिके दुःख-दोष कुछ भी नहीं होते। प्रत्युत शीतल होनेसे दिनकी अपेक्षा भी यह अधिक सुखदायिनी होती है। इस रात्रिमें भी भगवन्नामका परम-प्रकाश है। यथा—

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।

अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम ॥

दूसरी भक्ति 'चिन्तामणि' है, जो 'परम प्रकास रूप दिन राती' है। ज्ञान-दीपसे जो वस्तु-दर्शन होता है, वही वस्तु-दर्शन 'मणि'से भी होता है। यह द्विविध है—एक तो नामोच्चारणरूपा और दूसरी अखण्डस्मरणरूपा है। पर यह भक्ति खोजनेसे मिलती है। यथा—

भाव सहित खोजइ जो प्रानी । पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥

यह साधनजन्य नहीं, स्वतःसिद्ध है। सत्सङ्गमें, सत्-शास्त्रमें अन्वेषण (अनुसंधान) करनेसे मिलती है। यहाँ मर्मज्ञका साथ होना आवश्यक है तथा सुबुद्धिकी भी अपेक्षा रहती है। 'ज्ञान-दीपक' को बुझाकर इस 'मणि' की प्राप्ति नहीं होगी, किंतु ज्ञानको नेत्र बनाकर उसकी प्राप्ति करनी होगी। यथा—

पावन पर्बत बेद पुराना । राम कथा रुचिराकर नाना ॥

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी । ग्यान बिराग नयन उरगारी ॥

भाव सहित खोजइ जो प्रानी । पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥

देहाभिमानको मिटाने, दरिद्रताको दूर करनेके लिये यह सम्पत्तिरूपा है। इसमें कामादि षड्विकार और अज्ञानकी विनाशिका शक्ति है। अतः दोनों (ज्ञान और भक्ति) में 'भव-संभव खेद-हरण' रूपफलमें तो कोई अन्तर नहीं है। किंतु भक्ति और ज्ञानमें वस्तुसाम्यकी दृष्टिसे बहुत बड़ा भेद है। (१) भक्तिके स्वरूप, (२) साधन, (३) फल और (४) अधिकारोंमें विलक्षणता है। सर्वत्र 'निज प्रभु मय देखहिं जगत'

'भक्ति' तथा सर्वत्र आत्मदृष्टि रखना—'देख ब्रह्म समान सब माहीं' 'ज्ञान' का स्वरूप है। (२) राम-गुण-ग्रामसे भरी हुई रामकथाका श्रवण करना 'भक्ति' का साधन है; तथा 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा' (तत्त्वमसि) और 'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा' (अहं ब्रह्मास्मि) आदि महावाक्य 'ज्ञान' के साधन हैं। (३) राम-प्रेमकी प्राप्ति 'भक्ति' का फल है और अज्ञानकी निवृत्ति 'ज्ञान' का फल है। (४) भक्तिमें प्राणिमात्रका अधिकार है और ज्ञानमें साधन-चतुष्टय-सम्पन्न द्विजमात्रका ही अधिकार है।

ज्ञान और भक्ति दोनोंका एक ही व्यक्ति एक साथ अनुष्ठान भी नहीं कर सकता। भक्त तो भगवच्चिन्तनमें सर्वदा मग्न रहता है और ज्ञानी (जिज्ञासु) विचारमें। ज्ञानीको 'दृष्ट' एवं 'आनुश्रविक'—सभी प्रकारके विषयोंसे वैराग्य होता है, वह दृश्यादृश्य सभी सृष्टिको मिथ्या समझता है। ऐसी दशामें उसका भगवान्‌के भी नाम-रूपादिमें कैसे प्रेम हो सकता है। बिना इनमें अनुराग हुए वह इनका (भगवान्‌का) चिन्तन (स्मरण) भी कैसे कर सकता है।

ज्ञान-मार्ग तो तलवारकी धारपर चलनेके समान बड़ा कठिन है। यथा—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।
(कठ० १। ३। १४)

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥

इस मार्गमें पतन होते देर नहीं लगती। इधर भक्तिमार्ग बड़ा सुगम पथ है। यथा—सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी। इस प्रकार सूक्ष्मरीतिपर ध्यान देनेसे ज्ञान और भक्तिमें बड़ा अन्तर प्रतीत होता है। ज्ञानी तो अपने पुरुषार्थ (शक्ति) से काम लेता है और भक्त भगवान्‌के चरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पणकर निर्भय हो जाता है तथा निश्चिन्त रहता है। भक्तकी पूरी जिम्मेदारी भगवान्‌पर आ जाती है। फलतः ज्ञानीको बड़े विकट प्रत्यूहों (विघ्नों) का सामना करना पड़ता है। यथा—

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भक्तिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥

पर भक्तको भगवदनुग्रहके कारण किसी प्रकारके विघ्न बाधा नहीं पहुँचाते। यथा—

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥

भक्तको तो साधनकालसे ही आनन्द-ही-आनन्द है। यथा—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥
सुनि मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥

जदपि प्रथम दुख पावै रोवै बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥

भक्ति केवल भाव ही नहीं है, किंतु सर्वोपरि प्रधान 'रस'-स्वरूप है। यथा—

'हरि पद रति रस बेद बखाना।' 'ग्यान बिराग भक्ति रस सानी।' 'सुनि रघुबीर भगति रस सानी।'

श्रुतिमें कहा है—

रसो वै सः। रसꣲ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।
(तैत्तिरीय० २। ७। १)

श्रीभरद्वाजजीके मतानुसार भक्ति-भावको रसरूपमें परिणत करके पहले-पहल श्रीभरतजीने दिखलाया है। यथा—

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥

जो किसी कामनाकी सिद्धिके लिये भक्ति (प्रेम) करते हैं, उनको इस 'रस' की प्राप्ति नहीं होती। उनके लिये तो भक्ति भावमात्र है। किंतु निष्काम भक्ति करनेवाले सर्वदा इसी (भक्ति-रस) में निमग्न रहा करते हैं। यथा—

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥

वे इस रसका पूर्ण आस्वादन करते रहते हैं, कभी भी इस रससे पृथक् होना नहीं चाहते—यहाँतक कि साक्षात् भगवत्प्राप्ति हो जानेके बाद भी भगवान्‌से यही प्रार्थना करते रहते हैं—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

भगवान् परम स्वतन्त्र हैं; यथा—'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।' 'सदा स्वतंत्र राम भगवाना'। पर भक्ति उनको भी वशमें कर लेती है। यथा—'निर्वान दायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी' तथा 'रघुपति भगत भगति बस अहहीं' अतः इस भक्तिकी महिमाका पूर्ण कथन कौन कर

सकता है। यथा—'भक्ति की महिमा घनी' 'राम भगति महिमा अति भारी'। अस्तु,

इस राम-भक्तिकी प्राप्तिके लिये भक्तको 'शंकर-भजन', भगवत्स्तोत्रपाठ तथा श्रीराम-गुण-गाथा (रामचरितमानस)-का श्रवण-मनन, पारायण करते रहना आवश्यक है; यथा—

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥
होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥

पठन्ति ये स्तवं इदं। नरादरेण ते पदं॥
व्रजन्ति नात्र संशयं। त्वदीय भक्ति संयुता॥
(अत्रिकृत स्तुति)

रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥

यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति कृपाँ भगति सोइ पावा॥
सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥
बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुंदर तरनी॥
बिमल कथा हरि पद दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥
अस बिचारि जो कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जो यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥

भक्तिकी शक्ति

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए० बार-एट-लॉ, विद्या-वारिधि)

हँसते-हँसते मीराने कर लिया गरलका पान।
चकित हुआ राणा, जब पाया विषको सुधा समान॥ १॥
अनल हुआ शीतल जल-सा, छूकर प्रह्लादका पैर।
सरस स्नेहसे हुआ पराजित दैत्यराजका वैर॥ २॥
भरी सभामें लाज रही, जब बढ़ा द्रौपदी चीर।
दहल उठा दुःशासनका दिल, विस्मित सारे वीर॥ ३॥
ग्राह-ग्रसित गजराज पुकारा त्राहि-त्राहि घनश्याम।
सब संकट कट गया पलकमें, निर्बलके बल राम॥ ४॥
दुर्वासाका दर्प दलन कर, अंबरीषका त्राण।
माधवने जगको जतलाया भक्ति धर्मका प्राण॥ ५॥
परमेश्वरमें परम प्रेम है परा भक्तिका सार।
भक्त-जनोंपर भीड़ पड़े तब लेते हरि अवतार॥ ६॥
भव्य भक्ति यह प्राप्त उसे, जो निर्मम निरहंकार।
चित निर्मल, निस्पृह, निश्छल है, पावन प्रेमागार॥ ७॥
करती भक्ति मनोरथ पूरण, हरती कठिन कुजोग।
भरती मनमें शान्ति-सुधाको, हरती सब भव-रोग॥ ८॥
सत्वर सिद्धि भोगता साधक, जिसकी भक्ति अनन्य।
योग-क्षेम उसके सध जाते, जीवन होता धन्य॥ ९॥
भक्ति सिखाती—अखिल विश्व है प्रभु-लीलाका धाम।
मनमें राम, नाम मुखमें हो, करसे हो शुभ काम॥१०॥
ईश्वरार्पण करके तन-मनसे कीजे सब कर्म।
दीजे छोड़ फलाशा हरिपर, यही भक्तिका मर्म॥११॥
भक्ति-भवानी दूर भगाती जन-मनके संताप।
हृदय-पटलसे धो देती वह जन्म-जन्मके पाप॥१२॥
है श्रद्धा-विश्वास-रूपिणी, भक्ति शक्तिका रूप।
उसके चमत्कारकी गाथा जगमें 'जुगल' अनूप॥१३॥

रामायण और भक्ति

(लेखक—श्रीशम्भुशरणजी दीक्षित)

१. प्रवेश

आजके इस भौतिकवादी युगमें भी संसारके समस्त व्यापारोंमें निरन्तर एक गति वर्तमान है, जो मानवके, समाजके, राष्ट्रके एवं विश्वके पारस्परिक सम्बन्धोंमें एक तादात्म्य बनाये हुए है। यह गति है अनुरागकी। रागवृत्तिसे सभी मनोवृत्तियाँ आवृत हैं, उसमें उनका समावेश है। हम जिसे अपना प्रिय मानते हैं, उसमें तो रागकी भावना प्रकटरूपसे होती ही है; पर जिससे हमारा विरोध होता है अथवा जिसके प्रति हम घृणा रखते हैं, उसके प्रति भी हमारे अन्तरमें यह राग ही अप्रकटरूपसे निहित होता है। रागवश जब हम किसीसे कुछ आशा करते हैं या व्यवहार-विशेषकी अपेक्षा करते हैं और जब उसके द्वारा अपनी आशाओंको फलीभूत न होते अथवा उसे विपरीत आचरण करते देखते हैं, तभी तो हमारी विरोधभावना एवं घृणा मूर्तरूप ले लेती है। यही राग, जब अपना लौकिक रूप त्यागकर पारलौकिक हो जाता है, ईश्वरोन्मुख हो जाता है और लग जाता है उस सत्-चित्-आनन्दमय परब्रह्ममें, तब इस रागको 'भक्ति'की संज्ञा प्रदान की जाती है।

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्य० २)

इस भक्तिके मुख्य दो स्वरूप हैं—१. सगुण भक्ति, जिसके अर्वाचीन प्रमुख उपासकोंमें संत तुलसीदासजी, सूरदासजी आदि हैं और २. निर्गुण भक्ति, जिसके मुख्य आराधक हैं—संत कबीर, जायसी आदि। मनुष्यकी प्रकृति, कर्म एवं स्वभावानुसार पुनः इस भक्तिके तीन भेद हैं—तामसी, राजसी एवं सात्त्विकी। प्रस्तुत लेखमें जिस 'भक्ति'पर विचार किया जा रहा है, वह है सात्त्विकी भक्ति। इसमें सब प्रकारसे केवल भगवान्को ही परम आश्रय माना जाता है एवं समस्त कार्य सर्वतोभावेन भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्को ही अर्पित करके किये जाते हैं। इस सात्त्विकी भक्तिके भिन्न-भिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतानुसार अनेक प्रभेद किये हैं। कतिपय मनीषियोंने इनके निम्नलिखित नामोंसे छः भेद किये हैं—साधन, साध्य, ज्ञानकर्ममिश्रा, प्रेमा, रागानुगा एवं रागात्मिका। भक्तिमार्गके प्रमुख आचार्य महर्षि शाण्डिल्यने दस उपभेदोंकी व्याख्या की है—सम्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, इतर-विचिकित्सा, महिमख्याति, तदर्थप्राणस्थान, तदीयता, सर्वतद्भाव और अप्रतिकूलता। भगवान् श्रीहरिके अनन्योपासक परमभक्त महर्षि नारदजीने ग्यारह उपभेदोंको मान्यता दी है। किंतु इनका ज्ञान या तो जन-जनतक पहुँच नहीं सका अथवा लोग उसे भूल गये। श्रीमद्भागवतपुराणमें इसके नौ भेदोंका ही वर्णन किया गया है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

२. भक्तिके प्रकार

आज जनसाधारणमें भक्तिके प्रचलित भेद नौ ही हैं। इसका प्रमुख कारण कदाचित् कविकुल-शिरोमणि भक्त-चूडामणि महात्मा तुलसीदासजीका रामचरितमानस है, जिसका प्रवेश अमीरसे गरीब, महलसे झोंपड़ीतक प्रत्येक हिंदूके घरमें है और जिसके अंश निपट गँवार अनपढ़ ग्रामवासीको भी कण्ठाग्र हैं। तुलसीदासजीने भी रामायणमें नौ भेदोंका ही वर्णन किया है।

रावणके चौर्य-कर्मके पश्चात् भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजी-सहित सीताजीकी खोजमें वन-वन भटकते एक दिन परम भक्तिमती भीलनी शबरीके आश्रमपर पहुँचते हैं। उसे भगवान्की वन्दनाको शब्द नहीं मिलते। वह अपनेको नीच, अधम, मतिमन्द, गँवारी एवं अघरूप बतलाती है। किंतु भगवान्का प्रण है सेवकका हित-साधन, उसके अभिमानसे विरोध एवं दैन्यसे प्रेम। भक्तके अनुरूप शबरीके दैन्यको देखकर भगवान् श्रीराम प्रसन्न हो गये और बोले—'मैं जाति-पाँति, पुरुष-स्त्री, ऊँच-नीच, धर्म-बड़ाई आदि कुछ नहीं मानता। मेरे निकट तो केवल भक्तिका ही एक नाता मान्य है।' इतना कहकर वे अपनी भक्तिके नौ स्वरूपोंका वर्णन करने लगे—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

—और अन्तमें बताया कि यदि कोई स्त्री-पुरुष, चर-अचर इनमेंसे एक भी भक्ति धारण करता है तो हे भामिनि ! वह मुझे अतिशय प्रिय है ।

भक्तिका सही स्वरूप समझनेके लिये 'अतिशय प्रिय' भी समझ लेना आवश्यक है । महात्मा तुलसीदासजीने इनके लक्षण भी रामायणमें गिनाये हैं । भगवान् श्रीराम विभीषणसे कहते हैं—

सुनु लंकेस सकल गुन तोरें । तातें तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें ॥

भगवान्ने कौन-से गुणोंका अधिष्ठान विभीषणमें बताया । वे बतलाते हैं कि चराचरद्रोही होनेपर भी जो व्यक्ति—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तन धन भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥

× × × ×

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम ।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम ॥

इन गुणोंको धारण करनेवाला ही भगवान् श्रीरामका अतिशय प्रेमी हो सकता है । रामायणमें और भी ऐसे भक्त हैं—कपिपति, नील, रीछपति, अंगद, नल, हनुमान् । रामजी लङ्कासे वानरोंको विदा करके पुष्पकविमानद्वारा अयोध्याके लिये प्रस्थान करनेको तैयार हैं; किंतु ये भक्त—

कहि न सकहिं कछु प्रेमबस भरि भरि लोचन बारि ।
सन्मुख चितवहिं राम तन नयन निमेष निवारि ॥

—मगन हो रहे हैं रामप्रेममें, उनकी वाणी अवरुद्ध हो गयी है—भगवान् श्रीराम, अपने इष्टके वियोगकी भावनासे और अपलक नेत्रोंसे अविरल अश्रुपात हो रहा है । तब भगवान् रामने—

अतिसय प्रीति देखि रघुराई । लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई ॥

—और अयोध्या पहुँचनेपर गुरु वशिष्ठजीसे मिलनेपर कहा है—

मम हित लागि जन्म इन्ह हारे । भरतहु तें मोहि अधिक पिआरे ॥

तो क्या भरतजी अतिशय प्रियकी श्रेणीमें नहीं आते ?

जब भगवान्की प्राप्ति, उनके अबाध सान्निध्यकी प्राप्तिके हेतु नौमेंसे एक भक्तिके लिये ही उपर्युक्त गुणोंका धारण अनिवार्य है, तब जिन्हें नवों भक्तियाँ सुलभ हों, उनके गुणोंकी क्या गिनती और उन-जैसा भाग्यवान् कौन हो सकता है ? रामायणमें भरतजी ही ऐसे हैं, जिनमें नौ प्रकारकी सभी भक्तियोंका समावेश है ।

श्रवण

नाहिन तात उरिन मैं तोही । अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ॥
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा । कह हनुमान सुमति अवगाहा ॥

कीर्तन

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग ।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग ॥

स्मरण

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती । रटहु निरंतर गुन गन पाँती ॥
भरत तहाँ जहँ रघुबर बैदेही । मन मिलि तनु सुख मिटि न्हु केही ॥

पादसेवन-अर्चन

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति ॥

आत्मनिवेदन

अब कृपाल जस आयसु होई । करौं सीस धरि सादर सोई ॥

दास्य, सख्य एवं वन्दनके उदाहरणोंसे तो अयोध्याकाण्ड भरा पड़ा है । फिर भी क्या वे 'अतिशय प्रिय' नहीं हो सकते ? नहीं ! क्योंकि वे तो—'अतिशय प्रिय' से भी कहीं अधिक उच्च एवं श्रेष्ठ हैं । प्रिय पात्र कभी भी अपने इष्टके बराबर नहीं होता । किसीके प्रेमका पात्र होना ही अपने-को उससे छोटा स्वीकार करना है । अतः ऊपरके पदोंमें जिनको 'अतिशय प्रिय' माना है, वे सभी भगवान् श्रीरामसे कहीं छोटे हैं । किंतु भरत ! भरत तो भगवान् श्रीरामसे छोटे नहीं, बराबरीकी भी कौन कहे, वे तो उनसे भी श्रेष्ठ हैं ! प्रमाण—'भरतहि जानु राम परछाहीं' । किंतु परछाईं तो व्यक्ति-से श्रेष्ठ नहीं होती ! देवगण कहते हैं—

जौं न होत जग जनम भरत को । सकल धरम धुर धरनि धरत को ॥

कुछ श्रेष्ठता तो बतायी गयी, पर अब भी भगवान् श्री-रामके समकक्षसे दूर ही हैं । विदेहराज महाराज जनक कहते हैं—

भरत अमित महिमा सुनु रानी । जानहिं रामु न सकहिं बखानी ॥

हाँ, अब तो भरतजी रामजीके बराबर आते-से दिखायी देते हैं । श्रीरामजीका भरतकी महिमा जानना उनकी श्रेष्ठता-का द्योतक होनेपर भी उसका वर्णन न कर सकना भरतजीकी महानताका ही परिचायक है । और लीजिये—माता कौसल्याने एवं उनके मुखसे महाराज दशरथको सुनिये—'कहहु भरत भरत कुल टीका ।' रामको यह पद कभी नहीं मिला ! एक समयमें एक ही तो कुलका दीपक होता है । भरत रामसे ऊपर पहुँच गये । जितना-जितना निकटतर सम्बन्धी होता गया उतना-

उतना भरतजीमें श्रेष्ठतर बतलाता गया। जो अधिक निकट होता है, वही तो अधिक सही भी जानता है। उससे भूल नहीं होती। भगवान् राम भी तो अपने श्रीमुखसे ही भरतको अपनेसे ऊँचा मान लेते हैं—साधारण कथनद्वारा नहीं, भगवान् शंकरको साक्षी करके—

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥

भूमिकी रक्षाका भार तो स्वयं लेकर ही अवतीर्ण हुए थे, किंतु आज उसका श्रेय भरतजीको देना ही पड़ा। यदि कोई तर्क करे कि 'ये सभी सम्बन्धी थे, सम्भव है भरतजीकी मनोदशाका विचार करके उनके उद्विग्न चित्तकी शान्तिके निमित्त उनकी कुछ अधिक प्रशंसा कर दी हो' तो एक वनवासी उदासी तापसके मुँहसे सुनिये। प्रयागराजमें मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजी कहते हैं—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

सुरगुरु बृहस्पति भी इसकी पुष्टि करते हैं—'जासु जप राम रामु जप जेही।' भरतजी रामसे बढ़ गये, बढ़ते ही चले गये, उस राज्यको त्यागकर—जिसके लिये 'जो पितु देइ सो पावइ टीका', 'करेहु राजु त तुम्हहि न दोषू' आदि वाक्य ऋषियों और महर्षियोंने कहे हैं, एवं श्रीरामके वियोगजनित जलनकी शान्तिके लिये श्रीरघुवीरकी चरण-रज-प्राप्तिके हेतु अपने शरीरको वनपथमें डालकर तथा उस राहपर गज-रथोंको त्यागकर जिसपर श्रीराम 'पयादेहि पायँ सिधाए' और यह आकाङ्क्षा लेकर कि 'सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।' ये हैं नवधा भक्तिके धारण करनेवाले धन्यातिधन्य श्रीभरतलालजी!

जिस भक्तिका इतना प्रभाव है कि उसके नौ भेदोंमेंसे किसी

३. साधन

एककी धारणासे भगवत्-प्राप्ति हो जाती है, जीवनका चरम फल परम तत्त्व प्राप्त हो जाता है, उसकी प्राप्तिके कुछ साधन भी बताये गये हैं। सहज ही तो यह सम्भव नहीं। रामायणमें भक्तिप्राप्तिके साधन बड़े सरल ढंगसे महात्मा तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामके मुखारविन्दसे ही कहलाये हैं। लक्ष्मणजीके पूछनेपर संक्षेपमें वे कहते हैं—

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

सरल एवं सहज होनेपर भी साधना बिना चित्तकी शुद्धिके नहीं हो सकती; चित्तकी शुद्धि होती है मनकी चञ्चलता दूर करनेसे, मनकी चञ्चलता दूर होती है निरन्तरके अभ्याससे, वैराग्यसे; समस्त रागोंसे उपरति प्राप्त होती है धर्ममें दृढ़ आस्थासे, और वह आती है शास्त्रोंमें विहित अपने कर्तव्यका नित्य-नियमपूर्वक पालन करनेसे। इसके बिना इन्द्रियाँ अपने-अपने ऐहिक सुखका मोह नहीं त्याग सकतीं। मोहके साथ भगवत्-प्रेममें निष्ठाको स्थान कहाँ। निष्ठारहित भक्तिमें स्थिरता नहीं। यह साधना कहने-सुननेमें सुगम होनेपर भी किसी उग्र तपसे कम नहीं। इसके सम्बन्धमें पुनः श्रीरामजी कहते हैं—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

यह है वह साधन, जिसके द्वारा किसीको भगवद्भक्ति प्राप्त होती है। और जो इन साधनोंको अपनाकर काम, मद, दम्भ आदिसे रहित हो जाता है, भगवान् कहते हैं—'तात निरंतर बस मैं ताकें।' इन साधनोंको अङ्गीकृत कर लेनेपर साधकके मन एवं शरीरकी दशा क्या हो जाती है, उसके लक्षण भी बता दिये गये हैं, जिससे उसकी पहिचान एवं साथ ही जाँच हो सके और कोई अपनेको धोखेसे बचा सके कि किसी वेदने उसे वास्तवमें अपनाया है अथवा केवल वह उनका बाह्यरूप ही लेकर बैठ गया है। मुझे ब्राह्मणोंसे प्रेम है, अपने आनुश्रविक कर्मके प्रति लगन है, भगवान्की लीलामें रति भी है, संतोंके प्रति आदरभाव है और करता भी हूँ भगवान्के गुणोंका गान; किंतु क्या मेरी साधना पूरी है? क्या भगवान्का गुणानुवाद करते समय मेरा शरीर रोमाञ्चित हो उठता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और बहने लगती है नेत्रोंसे पावनकारी, मनोमलहारी, निर्मल जलकी अजस्र एवं अविरल धारा? क्या उस समय हमारा हृदय विगलित होकर बाहर आ जाता है और समद्रष्टा होकर चारों ओर सीतारामकी जोड़ी ही देखता है? क्या हमारे शरीरजनित विकार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर निश्शेष हो गये हैं? यदि नहीं तो सब कुछ दम्भ है। कितना पूर्ण है साधनोंका वर्णन और उसकी प्राप्तिके लक्षण। यह है तुलसीके रामचरितमानसमें वर्णित भक्ति।

साधनसम्पन्न होनेपर भी क्या सभी व्यक्तियोंको भक्ति

४. भक्ति अर्जित है या प्रदत्त?

प्राप्त हो जाती है? महात्मा तुलसीदासजीने काकभुशुण्डिके प्रसङ्गमें जगत्-जननी माता पार्वतीद्वारा भगवान् शंकरसे कहलवाया है—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्म पर प्रानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

देखना यह है कि ऐसी श्रेष्ठतम भक्ति क्या साधक साधनाके द्वारा स्वयं प्राप्त कर लेता है, अथवा भगवान् श्रीराम अपनी ओरसे उसे भक्ति प्रदान करते हैं? भक्त साधनाके द्वारा, तपस्याके द्वारा अपनेको इस योग्य बनानेका प्रयास करता है कि वह भगवान् श्रीरामकी भक्ति पा सके। वह बन सका या नहीं, इसका निर्णय स्वयं भगवान् करते हैं एवं उसकी साधनाके अनुरूप, तदर्थ अर्जित उसके अधिकारके अनुसार, भक्ति प्रदान करते हैं; पर साधारणतः अपनी ओरसे नहीं। साधनपर, भक्तिपर, छोड़ देते हैं, जिसमें भक्तकी परीक्षा स्वतः हो जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि वह इसका पात्र हुआ या नहीं। और तब, केवल तब, जब वह स्वयं याचना करता है, अपनी भक्तिका वरदान देते हैं।

काकभुशुण्डिजीपर भगवान् श्रीराम प्रसन्न हो गये और—

> काकभसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
> अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥

ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

—कितनी सरलता, प्रसन्नताके साथ वर देनेको तैयार! वरदानमें वस्तुएँ भी कैसी! एक-से-एक महान्, सभी एक साथ—ऋद्धि, सिद्धि और मोक्ष भी। पर क्या इनमें अपनी भक्तिका भी समावेश किया? कें"""हूँ"""! उसका तो संकेत भी नहीं दिया। सरलताके साथ, यही भगवान् श्रीरामके चरित्रकी गूढ़ता है। पर भुशुण्डिजी कच्चे खिलाड़ी न थे। अनेक जन्मोंकी निरन्तर साधनाके बाद तो यह अवसर आया। अतः उनके भटकने, मायासे भ्रमित होनेकी आशङ्का कहाँ थी। वे तत्काल—

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥

यह सोचकर भगवान्को उनके ही शब्दोंमें बाँधते हुए भुशुण्डिजी कहते हैं—

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥

तो—

> अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
> जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
> भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपा सिंधु सुखधाम।
> सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

भगवान्ने भुशुण्डिजीकी चतुराई जान ली और उन्हें 'तथास्तु' कहना पड़ा। वे प्रसन्न होकर बोले—

सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न मागसि अस बरदाना॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥

सुग्रीवसे मित्रता हो गयी। भगवान् श्रीराम उसके शत्रुका नाश करने एवं उसे राज्य और स्त्री दिलानेका वचन देते हैं, किंतु भक्तिका जिक्र यहाँ भी नहीं करते। पर वह भक्त क्या जो भगवान् श्रीरामकी बान न जानता हो, जिसने उनका विरद न सुना हो। भगवान् शंकरजी कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

अतः सुग्रीव भक्ति ही नहीं माँगते वर घोर शत्रुके प्रति वैर-भावको भूलकर उसे भी परम हितकारी मानते हुए कहते हैं—

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

हनुमान्जी जब माता सीताका कुशल-समाचार लेकर लङ्कासे वापस आये, तब उन्होंने भी 'सुखदायिनी दुर्लभ भक्ति' का ही वरदान माँगा था। विभीषणने भी 'निज मनभावनि निज भगति' ही श्रीरामजीसे माँगी थी।

रामायणमें केवल दो पात्र ही ऐसे मिलते हैं, जिन्हें भगवान्ने बिना माँगे अपनी ओरसे ही भक्तिका वरदान प्रदान किया। एक हैं भक्तराज केवट, जिन्हें प्रभुका सकोच देख 'पिय हियकी जाननिहारि' सियने मुदित मनसे मणि-मुँदरी उतारकर उतराई दी, किंतु—

> बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।
> बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥

एवं दूसरे हैं—ऋषिवर अगस्त्यमुनिके शिष्य भक्तश्रेष्ठ श्रीसुतीक्ष्ण मुनि। भगवान् श्रीराम उनसे कहते हैं—

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥

पर ये भक्तराज औरोंसे भिन्न थे। अनुपम थे, परम चतुर भी थे। वरका सारा भार भगवान्पर ही छोड़कर बोले—

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

भगवान् असमंजसमें पड़ गये। सोचने लगे—'क्या दूँ? इसने तो अपनी समस्त कामनाएँ मुझको ही अर्पित कर दीं। माँगनेवालेको तो इच्छित वस्तु देकर वरदान पूरा कर दिया जाता है। याचक भी प्रसन्न हो जाता है और दाताको भी संतोष मिलता है। पर यहाँ तो भिन्न अवस्था है; इन्हें कौन-सी वस्तु दूँ, जिससे भक्तराज सुतीक्ष्णको सुख पहुँचे?' सोचते-सोचते अन्तमें इस निर्णयपर पहुँचे कि 'जो कुछ नहीं माँगता, जो परम संतोषी है, उसे ऐसी वस्तु दी जाय, जो सबसे अधिक मूल्यवान् हो, सर्वश्रेष्ठ हो और जो सबको सुलभ न हो तथा जिसके पानेपर कुछ भी पाना शेष न रहे।' ऐसी वस्तु है भक्ति—'अबिरल भक्ति'। बस, फिर क्या था, निर्णयपर पहुँचते ही तो दे दी। पर ये भक्त तो असाधारण थे और भगवान् श्रीरामकी उस बातसे परिचित थे, जो उन्होंने स्वयं अपने श्रीमुखसे नारदजीसे कही थी—

........................। बालक सुत सम दास अमानी ॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी ॥

अतः उन्होंने भक्तिका वरदान स्वीकार कर लिया और बोले—

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा ॥
अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥

भगवान् भक्तद्वारा ठगे गये। पहले तो भक्तने भगवान्से ही भक्ति प्राप्त की और फिर उन्हें अपने हृदयमें अधिष्ठित कर लिया। यह है भक्तिकी महिमा!

उपर्युक्त दृष्टान्तसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपनी भक्तिका वरदान भगवान् श्रीराम अपनी ओरसे केवल उन्हीं भक्तोंको देते हैं, जो उनसे अन्य कुछ भी याचना नहीं करते, अपेक्षा नहीं रखते।

भगवत्प्राप्तिके अन्य साधन और उनसे भक्तिकी श्रेष्ठता

भगवत्-प्राप्तिके अन्य साधन भी हैं। ज्ञानके द्वारा, निर्गुण ब्रह्मकी आराधनाद्वारा भी वे अप्राप्य नहीं; किंतु ज्ञान-मार्ग, निर्गुण-पथ बहुत कठिन है। रूप-विशेषका ज्ञान हुए बिना किसका ध्यान और किसका आराधन? बिना आराधन अथवा लोकाचारसे अभिन्न होते हुए भी अलौकिक पुरुषके सहारेके बिना इस संसारके दुर्गम वनोंमें पग-पगपर पथभ्रष्ट होनेका डर! निरन्तर सावधान रहते हुए भी उसके अनेकों खड्डोंमेंसे किसीमें भी फिसलनेका भय! जीव और ईश्वरके भेदका विस्तृत वर्णन करते हुए भुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं कि 'ज्ञान-मार्गके द्वारा वैराग्यकी प्राप्ति अत्यन्त कष्ट-साध्य है और अन्तमें यदि विज्ञानरूपिणी बुद्धि प्राप्त भी हो जाय तो ईश्वरके समझनेके प्रयासमें माया अनेक विघ्न उपस्थित करती है—सुख, सम्पत्ति, ऐश्वर्यका लोभ दिखाती है और अनेक छलनाओंके द्वारा उस ज्ञान-बुद्धिको भ्रमित करनेका प्रयत्न करती है। यदि कहीं वह असफल होती है तो विषय-भोगके लोभी इन्द्रियोंके देवता निरन्तर ऐहिक सुख-प्राप्तिके अवसरकी ताकमें रहते हैं और बुद्धिको धोखा दे पथ-भ्रष्ट कर ज्ञानकी समस्त साधनाको नष्ट कर देते हैं। जीव फिर संसारी हो जाता है, भगवान्से दूर हट जाता है। इसलिये वे कहते हैं—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा ॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई ॥
× × × × ×
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादरि भगति लुभाने ॥

इसके विपरीत भक्तिका मार्ग बड़ा सरल एवं सुगम है। भगवान् श्रीराम स्वयं अयोध्यावासियोंसे कहते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा ॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई ॥

फिर स्वयं ही उसके पानेके सुगम उपाय भी बतला देते हैं—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई ॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥
मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ॥

आगे चलकर भुशुण्डिजी पुनः कहते हैं—

सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद ॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा ॥
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥
श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी ॥

अन्तमें महात्मा तुलसीदासजीने एक बार फिर ज्ञान और भक्तिमें कुछ भी भेद न बताकर दोनोंको 'भव सम्भव

प्रेमी भक्त सुतीक्ष्ण मुनिपर कृपा
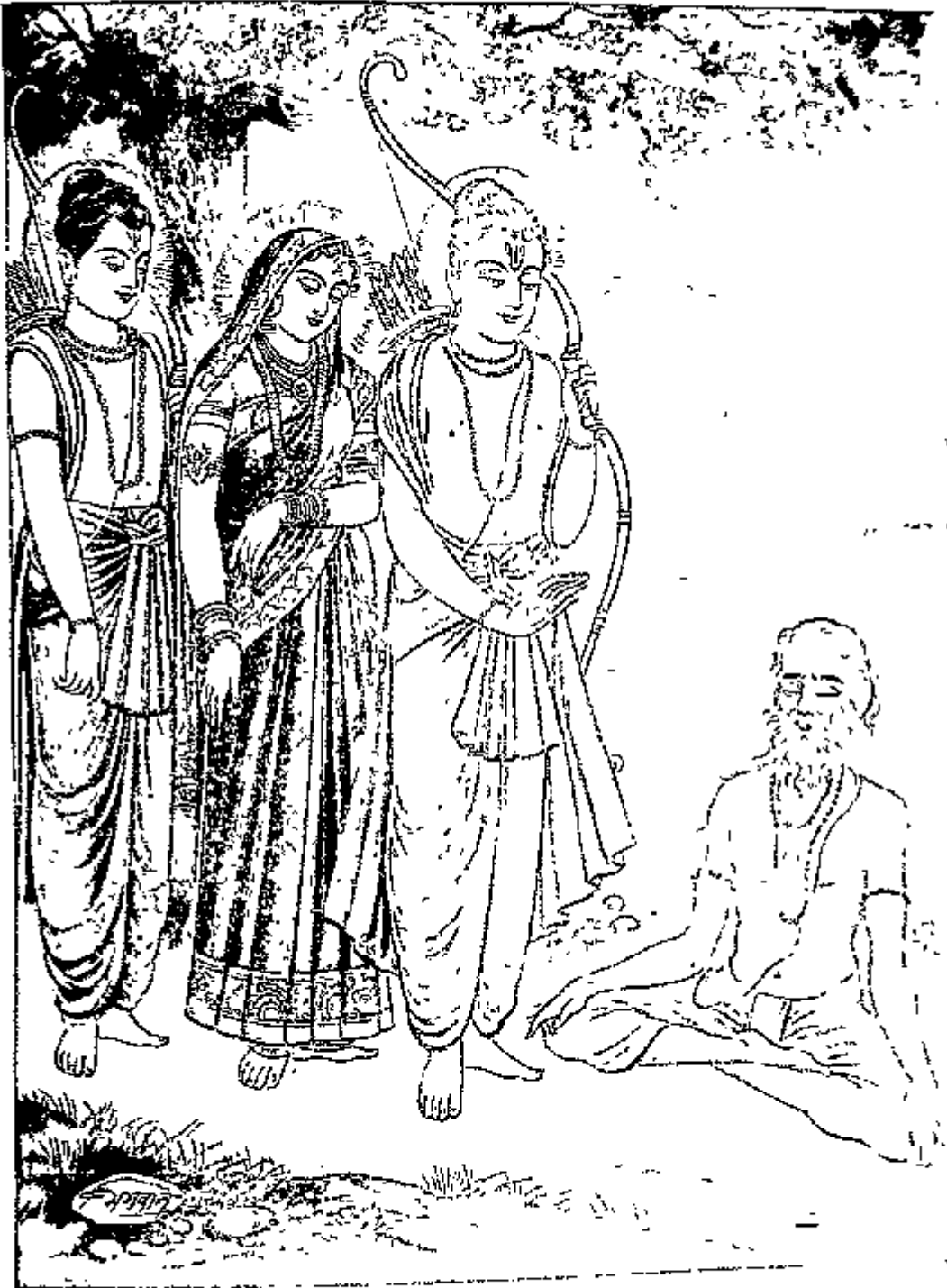
१२— मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निज जन मन भाए॥
(रामचरित० ३ । १ । ८)

माता सुमित्राका रामके लिये लोकोत्तर त्याग

११— 'तात, जाहु कपि सँग !' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।

(गीतावली लङ्का० १३)

खेदा' का हरण करनेवाला बताते हुए भी ज्ञानको पुरुष और भक्तिको स्त्रीकी उपमा देकर तथा मायारूपिणी नर्तकीसे ज्ञानरूपी पुरुषका मोहित होना सम्भव बताकर 'भक्ति' की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। स्वयं भगवान् श्रीराम भी लक्ष्मण-जीसे कहते हैं—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

इस प्रकार रामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामकी भक्ति-की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित की गयी है। किंतु गम्भीर विचार करनेपर यह श्रेष्ठता या

६. उपसंहार

कनिष्ठता वास्तविक नहीं, तात्त्विक नहीं है—'ग्यानहि भगतिहि नहि कछु भेदा।' तथ्य तो यही है दोनों ही भगवत्प्राप्तिके पृथक्-पृथक् दो साधन होते हुए भी उनमें गहरा पारस्परिक सम्बन्ध है। ज्ञानके बिना निरी भक्ति भक्ति न रहकर पशुवत् जड़तामात्र रह जाती है। उसमें अपने सदसद्-व्यवहारको विवेकपर कसने एवं अपने इष्टके सम्यक् रूपको समझनेका अवसर नहीं रह जाता। इष्टके सम्यक् ज्ञानके बिना भक्तिमें स्थिरता नहीं आ सकती। इसी प्रकार भक्तिके बिना ज्ञान भी निरा शैतानका ज्ञान होता है। उसमें व्यर्थ ही कुवर्कनाओंका सृजन होता है और बुद्धि (ज्ञान) में सात्त्विकता नहीं आती। आजके युगमें अणुबम, परमाणुबम आदिकी रचना इसी भक्तिशून्य ज्ञानके ही फलस्वरूप है। जहाँ निर्मल ज्ञान होगा, वहाँ भक्ति अवश्य होगी। महर्षि लोमश निर्गुणपंथी थे, ज्ञानमार्गी थे, भगवान्‌को अज, अद्वैत, अनाम, अनीह, अरूप, निर्विकार सर्वभूतमय एवं अनुभवगम्य मानते थे। इसीका उपदेश उन्होंने काकभुशुण्डिजीको दिया; किंतु सगुणोपासक होनेसे जब भुशुण्डिजीने निर्गुण मतका खण्डन करके सगुणका आरोपण किया, तब मुनिवर अप्रसन्न हो गये। काकशरीर प्राप्त-करनेका कठोर शाप दे दिया। किंतु इसपर भी जब श्रीभुशुण्डिजी महाराज रंचमात्र विचलित न हुए और न उनमें भय अथवा दीनता ही आयी; वर इसके विपरीत काकरूप हो जब वे मुनिश्रेष्ठको प्रणामकर सहर्ष चल दिये, तब मुनिवरने उनकी इस शान्तिमत्ता को देखकर स्वयं अत्यन्त दुखी होकर उन्हें बुलाया, राम-मन्त्रका उपदेश दिया और राम-कथाका वर्णन किया। निर्गुणपंथी, ज्ञानमार्गी होनेसे उनमें भक्तिका अभाव नहीं था। इसी प्रकार जहाँ अविरल भक्ति होगी, वहाँ ज्ञान पीछे नहीं रह सकता। हनुमान्‌जीने भगवान्‌से अविरल भक्तिका ही तो वरदान पाया था। तो क्या वे ज्ञानी नहीं? वे ज्ञानी ही नहीं, 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' भी हैं। अतः भक्ति एवं ज्ञान दोनों एक दूसरेसे भिन्न नहीं हैं और अन्तिम एक ध्येयके ही साधन हैं। अन्तर है केवल साधनाका। ज्ञानमें अपेक्षित है एकाग्रता, मनन, चिन्तन एवं तदर्थ समय आदि। दूसरेमें कोई ऐसी वस्तु वाञ्छनीय नहीं। भक्तिकी साधना चलते फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते— हर समय हो सकती है। आजके युगमें जब भौतिकवाद बहुत बढ़ गया है एवं जीवन अत्यन्त संघर्षमय हो गया है, मानवको अपनी रोटी-रोजीकी लड़ाईसे ही फुरसत नहीं, अपने आर्षग्रन्थों तथा उनमें प्रतिपादित गम्भीर विषयोंके अनुशीलनकी उसे फुरसत नहीं। आज उनके अध्ययनके लिये उसके पास समयका अभाव है। फलस्वरूप तदनुकूल कर्मों तथा आचारोंको वह भूल चुका है। ज्ञानके द्वारा आत्मचिन्तनकी ओर मानवकी रुचि ले जानेवाले मनीषी भी सुलभ नहीं। तब भक्ति ही, भगवान्‌का भजन-स्मरण ही एक ऐसा सरल साधन है, जो उन्हें अध्यात्म की राहपर, भगवत्प्राप्तिके मार्गपर आगे बढ़ा सकता है। इसमें अध्ययन, मनन, चिन्तन, आनुषंगिक कर्म आदि किसीका भी बन्धन नहीं। कालकी गतिके अनुसार इस युगमें भक्तिकी यही उपादेयता, श्रेष्ठता है। गोस्वामीजीने कहा है—

श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।

विषय-चर्चा सुननेवाले मन्दभागी

श्रीकपिलजी कहते हैं—

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्। हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥

(श्रीमद्भा० ३। ३२। १९)

'हाय! विष्ठा-भोजी कूकर-शूकर आदि जीवोंके विष्ठा चाहनेके समान जो मनुष्य भगवत्कथामृतको छोड़कर निन्दित विषय-वार्ताओंको सुनते हैं, वे तो अवश्य ही विधाताके मारे हुए हैं, उनका भाग्य बड़ा ही मन्द है।'

श्रीरामचरितमानसमें विशुद्ध भक्ति

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी शर्मा छाणी)

इस संसारका प्रत्येक प्राणी जब भी अपने जीवनका मर्म ढूँढ़ता है, तब उसे उस मर्ममें उस प्राणीकी किसी प्रधान वस्तुका गूढ़तम रहस्य छिपा मिलता है। जब कोई अन्य प्राणी उस भ्रमित प्राणीकी मनोदशापर विचार करता है, तब वह कुछ चाहता है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। अब प्रश्न यह होता है कि वह क्या चाहता है। सुखकी कामना उसके हृदयमें है, यही बात विचारसे ज्ञात होती है।

यह सुख उसे कहाँ मिलेगा? संसारकी क्षुब्ध वस्तुओंमें, जिनमें यह रात और दिन मग्न रहता है? कदापि नहीं!

हमारे प्रातःस्मरणीय कवि-कुल-तिलक गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने इसका मर्म मानव-जातिके लिये स्पष्ट कर दिया है—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

भगवान् श्रीरामकी भक्तिके बिना प्राणीको सुख नहीं मिलने का। इतना ही नहीं, उनका तो दृढ़ विश्वास है कि भले ही—

कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥

अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥

हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥

इन गहन विचारोंको साकाररूपमें प्राणीको दिखलानेके हेतु, श्रीरामचरितमानसमें भक्तिके कितने महान् सुन्दर उदाहरण हमारे समक्ष रखे गये हैं। भगवान्‌के अनन्य भक्त जटायुजीकी अविरल भक्ति कितनी महान् है! भक्तिमें भावुकताका आसन श्रेष्ठ है। परम भक्त जटायुजीकी भावना अपने भगवान्‌में पूर्णरूपसे थी। रावणने उनकी दशा अत्यन्त करुण कर दी थी; परंतु उनकी आस्था प्रभु अवधविहारीमें इतनी थी कि प्रभुके दर्शन किये बिना उनके प्राण पयान नहीं कर सके।

आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

भगवान्‌ने अपने भक्तकी आशाको पवित्र बनाये रखा! भगवद्-दर्शनोंके लिये लालायित जटायुके करुण नेत्र भगवान्‌के मुखारविन्दको देखते ही उसपर लग गये। वे अपने प्रभुसे अपना मनोभाव न छिपा सके—

दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना॥

कितनी महान् थीं उनकी भावनाएँ! प्रभुके दर्शन पाते ही भक्तकी मनःकामनापर मानो अमृत-वर्षा हो गयी।

माता श्रीजानकीजीको कितने दारुण कष्ट थे उस स्वर्णमयी लङ्कामें! वहाँ आराम एवं शान्तिके साधन उपलब्ध थे, किंतु उस स्वर्णदुर्गकी ओटमें निशाचरी मायाका शासन था। माता जानकीको अनेकों कष्ट थे। परंतु उनके पवित्र हृदयमें भगवान्‌की परम भक्तिका नित्य प्रखर प्रकाश था। पवनसुत माताकी दशाको निहारकर व्यथित थे—

कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी॥

माता जानकीके हृदयमें पवित्र भक्ति थी। उन्हें क्या चिन्ता होती उस निशाचरी शासनकी। भगवद्भक्तिका चिन्तन ही समस्त भवरोगको सुखरूपमें परिवर्तित कर देता है। भगवान्‌की भक्तिमें श्रद्धा, विश्वास, विवेक एवं एकाग्रताकी परमावश्यकता है। पवनकुमारसे राघवेन्द्र श्रीरामने जब सीताजीकी दशाके विषयमें पूछा, तब भी उनके मुखारविन्दसे उनकी अनन्य भक्तिका ही वर्णन हो पाया। तनिक निहारिये—

निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन।

एवं भगवान्‌के सम्मुख भी उनकी भक्तिको वे न भूल सके—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।

लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

उनके हृदयमें भी—रामके पवित्र पदका ही ध्यान था, जो श्रीजटायुके हृदयमें था—

सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा।

कितनी विशुद्ध भक्ति थी माता जानकीजीके पवित्र हृदयमें! उनका समग्र दुःख उस भक्तिके अमृत-सागरमें डूब जाता था। ऐसी भक्ति जिसके हृदयमें समा जाय, क्या दुर्लभ है उस प्राणीके लिये—

बसइ भगति मनि जेहि उर माहीं। खल कामादि निकट नहिं जाहीं॥

जब ऐसी भगवान्‌की भक्ति प्राणीके हृदयमें स्थिर हो जाती है, तब भगवान् भक्तकी सारी कामनाओंको शान्त कर देते हैं। पवित्र हृदयसे ही पवित्र भक्तिका मार्ग आलोकित होगा। भगवान्‌ने केवटकी भक्तिसे संतुष्ट होकर उसे—

बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ।

भगवान्‌की लीला भी बड़ी विचित्र है। जब वे अपनी भक्तिरूपी मणिका प्रकाश भक्तके हृदयमें विकीर्ण कर देते हैं, तब क्या होता है—इसे गोस्वामीजीके शब्दोंमें ही सुनिये—

राम भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥
राम भगति चिन्तामनि सुंदर।..........................॥

ऐसी भक्तिकी विजय-दुन्दुभि तो सारे विश्वमें गूँज जाती है और उस प्राणीको भवसागरसे भगवत्-तरणि स्वयं पार उतार देती है। यथा—

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥

कितना गूढ़तम प्रकाश है उस भक्तिमें ! [illegible] प्रत्येक प्राणी उससे अपना जीवन सहजमें ही सरस बना सकता है। भक्तोंको अपने प्रभुकी भक्तिमें ही सारी सुन्दरी समष्टि दीखती है। धन्य हैं वे भक्त, जो भगवद्भक्तिके बिना अपना जीवन नीरस समझते हैं।

बोलो भक्त एवं भगवान्‌की जय !

कृष्ण-भक्ति

(वेदान्ती स्वामी श्रीरँगीलीशरणदेवाचार्य साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, मीमांसाशास्त्री)

धन्य धन्य मूर्धन्य नर, कृष्न चरन दृढ़ राग।
ऋद्धि सिद्धि सम्पत्ति सुख भुक्ति मुक्ति कर त्याग॥ १॥
चित्त वित्त चंचल-चपल, जानैं अथिर जहान।
कृष्न चरन में लगतहीं, पावै पद निर्वान॥ २॥
साधक साधन मान तज भज प्रभु पद सब सार।
कृष्न-सरनसे हो तुरत मायासे निस्तार॥ ३॥
नित्य धाम, वृंदा विपिन, धन्य धाम मूर्धन्य।
राधा कृष्न स्वरूप सुख जानैं रसिक अनन्य॥ ४॥
सुख विलास वृंदा विपिन गुरु सेवा संजोग।
कृपा कृपालय कृष्न की पावैं बिरले लोग॥ ५॥
मनमोहन घनस्याम को नेक न लीनो नाम।
धाम दाम धन धाम में खूब भए बदनाम॥ ६॥
मन मलीन संकित सदा सुर नर मुनि जो होय।
महामोह महिमा अहो वस्तु स्वरूप न जोय॥ ७॥
श्रद्धा अरु विस्वास बिनु भक्ति भाव नहिं होय।
नेत्र विकल जिमि जीव कौं वस्तु न दीखै कोय॥ ८॥
यह संसार असार रस बारंबार विचार।
दीनबंधु श्रीकृष्न हैं सुधासिंधु सुख सार॥ ९॥
सम्मुख रुख में सुख सदा दुख्ख बहिर्मुख होय।
कृष्न विमुख या जीव कौं नहिं कदापि सुख होय॥ १०॥
कुटिल काम कीटाणुकी कटुता कठिन कठोर।
करुना कन श्रीकृष्न के कष्ट नए कर घोर॥ ११॥
नर पामर मरते फिरैं जटिल काल के जाल।
प्रान भ्रान तब पावहीं होंय कृपालु कृपाल॥ १२॥
तत्सुखमें संतत सुखी स्वारथ सून्य सुनीति।
प्रियपद प्रीति प्रतीति ही यहै प्रेम की रीति॥ १३॥

श्रीरामचरितमानसमें जड और चेतनकी भक्ति

(लेखक—श्रीकपिलेश्वरजी त्रिवेदी)

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने 'सीता-राममय' जानकर संसारके समस्त जड तथा चेतन जीवोंके चरण-कमलोंकी दोनों हाथ जोड़कर वन्दना की है तथा श्रीरामचरितमानसमें जहाँ चेतनकी भक्ति प्रदर्शित की है, वहीं जड़ोंकी भक्तिपर भी उत्तम प्रकाश डाला है। संसारके किसी भी कविने जड़ोंके प्रेमका उतना अच्छा उल्लेख नहीं किया, जितना कविता-कानन-केसरी श्रीमत्तुलसीदासने अपने श्रीरामचरितमानसमें किया है। उन्होंने जड तथा चेतनमें भक्तिका कारण सत्सङ्ग लिखा है, जैसा कि श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजीसे उपदेश करते हुए कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

इसी बातपर अधिक बल देते हुए गोस्वामीजीने बालकाण्डके प्रारम्भमें कहा है—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
(२। २-४)

'जलमें रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले नाना प्रकारके जड-चेतन जितने जीव इस जगत्में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी यत्नसे बुद्धि, कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई पायी है, सो सब सत्संगका ही प्रभाव समझना चाहिये। वेदोंमें और लोकमें इनकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। सत्सङ्गके बिना विवेक नहीं होता और श्रीरामजीकी कृपाके बिना वह सत्सङ्ग सहजमें मिलता नहीं।'

अब प्रश्न उठता है कि 'जलमें रहनेवाले किन जीवधारियोंने अथवा किस जडने उत्तम गति प्राप्त की। इसका उत्तर यह है कि जिस समय श्रीराघवेन्द्र-सरकार लङ्कापुरीमें प्रवेश करनेके लिये समुद्रमें पुल बाँधकर सारी सेनासहित लङ्कापुरीको जा रहे थे, उस समय समुद्रके जितने जीवधारी थे, वे प्रभुकी अलौकिक शोभाको देखनेके लिये सेतुके किनारे-पर लग गये। इसका वर्णन मानसकारने बड़ी उत्तमतासे किया है—

मकर नक्र नाना झष ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला॥
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह कें डर तेपि डेराहीं॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे॥
तिन्ह कीं ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरि रूप निहारी॥

सारे जलके जीव प्रभुके दर्शन करके कृतार्थ हो गये। यह केवल प्रभुकी अहैतुकी कृपाका प्रभाव था, जिसने जलमें रहनेवाले जीवोंको भी अपना लिया।

अब जलमें रहनेवाला जड कौन है, जिसने अपनी भक्ति प्रदर्शित की हो? वह है मैनाक पर्वत, जो समुद्रमें छिपा बैठा था। समुद्रके कहनेसे श्रीरामचन्द्रजीके प्रिय दूत श्रीहनुमंतलालजीको विश्राम देनेके लिये उसने अपनेको प्रकट कर दिया और अपनेको धन्य माना।

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी॥
हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

हनुमान्‌जीका स्पर्श प्राप्त होना ही मैनाकका परम बड़भागी होना था; क्योंकि—

जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु संगति पाइए।
जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइए॥
(विनयपत्रिका)

पृथ्वीपर रहनेवाले चेतन-संज्ञामें आनेवाले मनुष्यादि तो भक्तिके प्रभावको भलीभाँति जानते हैं, उनके विषयमें विस्तारसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उसके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा—

करि प्रेम निरंतर नेम लिएँ। पद पंकज सेवत सुद्ध हिएँ॥
सम मानि निरादर आदरही। सब संत सुखी बिचरंति मही॥
(रामचरितमानस)

पृथ्वीपरके जड-सनातें सम्बोधित होनेवाले वृक्षों और पर्वतोंकी भक्तिका वर्णन रामायणमें बड़ी उत्तमतासे किया गया है। यथा—

कामद भे गिरि राम प्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा॥

अथवा—

सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥

आज रामके सेवार्थ ऋतु और कुऋतुका विचार त्यागकर वृक्ष फलोंसे लद गये। वे जीवधारियोंकी तरह अपनी सेवाएँ देने लगे। यह भक्ति किस जीवधारीसे कम है। मेरे विचारसे तो यह श्रीसीतारामजीकी ही कृपा थी, जिसके कारण वे गिरि और वृक्ष अपनी सेवाएँ देने लगे। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

> बिनु ही ऋतु तरुबर फरत, सिला द्रवति जल जोर।
> राम लखन सिय करि कृपा, जब चितवत जेहि ओर॥
> (दोहावली १७२)

आकाशमें विचरनेवालोंमें गरुड, काकभुशुण्डि तथा जटायु आदिकी भक्तिका वर्णन श्रीरामचरितमानसमें आता है। काकभुशुण्डि भगवान् श्रीरामके परम भक्त थे। उनकी भक्ति 'बालक रूप राम कर ध्याना' थी। इसी कारण भगवान्‌की बाल-लीलाओंको देखनेके लिये वे भगवान् श्रीरामके जन्मसे पाँच वर्षतक श्रीअवधमें ही निवास करते थे। इसके विषयमें स्वयं भुशुण्डिजीने कहा है—

> लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
> जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ॥

ये काकभुशुण्डिजी भगवान्‌की कथाके परम प्रेमी थे, नित्य भगवान्‌की कथा कहते थे—

> राम चरित बिचित्र बिधि नाना। प्रेमसहित कर सादर गाना॥

इसी कथाका गान सुनकर श्रीशिवजी भी मराल पक्षी बनकर कथा सुनने गये थे। इसकी चर्चा करते हुए शिवजी कहते हैं—

> तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
> सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास॥

इसी राम-कथाके द्वारा गरुडका, जो परम ज्ञानी थे, भुशुण्डिजीने मोह दूर किया।

जटायुका सीताजीकी रक्षाके लिये रावणके साथ जो युद्ध हुआ, उसमें जटायुने अद्भुत पराक्रम दिखलाया और रावणको व्याकुल कर दिया; परन्तु शस्त्रहीन जटायु कहाँतक लड़ता! रावणने तलवारसे उसके पंख काट डाले। तब जटायु बलरहित होकर भूमिपर गिर पड़ा। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जब लक्ष्मणके सहित सीताजीकी खोज करने निकले, उस समय उन्होंने—

> आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

भगवान्‌को देखकर गीधने अपनेको परम धन्य माना और भगवान्‌को सीताजीका सब समाचार बतलाकर भगवान्‌के सम्मुख ही वह परम धामको चला गया। भगवान्‌ने उसका संस्कार स्वयं अपने हाथोंसे किया—

> गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥
> सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

जिस प्रभुकी प्रीति आकाशमें विचरनेवाले पक्षियोंपर ऐसी थी, उस प्रभुकी कृपालुताका वर्णन कौन कर सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि वह जड कौन है, जो आकाशमें ही रहता है और भगवान्‌की भक्तिमें मग्न है। वह 'बादल' या 'जलद' है, जो संसारको जीवन दान देता है, चातककी प्यास शान्त करता है तथा जिसकी गर्जना सुनकर कृषक, मोर, दादुर प्रसन्न हो जाते हैं। ये ही जलद जब कभी भरतलाल-सरीखे भक्तको पा जाते हैं, तब धूपसे उनकी रक्षा करने लगते हैं, जैसा कि महाकवि तुलसीदासने रामायणमें कहा है—

> किए जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
> तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥

'हरये नमः' कहते ही पापोंसे मुक्ति

सूतजी कहते हैं—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्। हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।४६)

'जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'हरये नमः', वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

कलियुगका महान् साधन—भगवन्नाम

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

विशालविश्वस्य विधानबीजं परं वरेण्यं विधिविष्णुशर्वैः ।
वसुन्धरावारिविमानवह्निवायुस्वरूपं प्रणवं विवन्दे ॥
नमस्तुभ्यं भगवते विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
आत्मारामाय रामाय सीतारामाय वेधसे ॥

बालक-वृद्ध, युवक-युवती, ब्राह्मण-चाण्डाल, पापी-पुण्यवान्, पण्डित-मूर्ख प्रत्येकसे यदि स्वतन्त्ररूपेण पृथक्-पृथक् पूछा जाय कि 'आप क्या चाहते हैं ?' तो सभी एक ही उत्तर देंगे । पण्डित जो बोलेगा, मूर्ख भी वही कहेगा । पापी जो उत्तर देगा, पुण्यवान् भी वही उत्तर देगा । अखिल जीव-समुदाय क्या चाहता है ? किसके पीछे कल्प-कल्पान्तर, युग-युगान्तर, जन्म-जन्मान्तर उन्मत्तकी भाँति भटक रहा है ? वह परम वस्तु क्या है, जिसके लिये सभी आकुल हैं ? आनन्द ! आनन्द क्यों चाहिये ?

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

(तैत्ति० उप० ३ । ६ । १)

आनन्दसे ही ये भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दमें जीते हैं, अन्तमें प्रयाण करके आनन्दमें ही लीन हो जाते हैं । जबतक वह परमानन्द नहीं प्राप्त होता, तबतक आवागमनकी निवृत्ति नहीं होती । जानमें, अनजानमें सभी लोग उस खोये हुए आनन्दकी खोज कर रहे हैं । सब इसी टोहमें हैं कि वह आनन्द किस प्रकार मिल सकता है । जिस दारुण समयमें हमने जन्म ग्रहण किया है, उसमें आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसका उपाय क्या है ?

एक बार कुछ मुनियोंके मनमें यह प्रश्न उपस्थित हुआ—'किस कालमें थोड़ा भी धर्म अधिक फल प्रदान करता है ?' वे लोग इस बातकी स्वयं मीमांसा न कर सकनेके कारण भगवान् वेदव्यासके आश्रममें जा उपस्थित हुए । उस समय व्यासजी स्नान कर रहे थे । मुनिलोग उनकी प्रतीक्षा करने लगे । व्यासजीने 'कलि धन्य है !' कहकर डुबकी लगायी, 'धन्य शूद्र !' कहकर दूसरी डुबकी लगायी, पश्चात् 'धन्या नारी !' कहकर तीसरी डुबकी लगायी और पानीसे निकलकर मुनियोंके पास आये । मुनियोंने उनका अभिवादन किया । व्यासजीकी अनुमतिके अनुसार सबने आसन ग्रहण किया । आसनपर बैठे व्यासजीने उनसे पूछा—'कहिये, आपका आगमन किस प्रयोजनसे हुआ ?' तब उन्होंने कहा, 'आप यह बतलाइये कि 'कलि धन्य !' 'धन्य शूद्र !' 'धन्या नारी' कहकर आपने डुबकी क्यों लगायी ?' इसका उत्तर देते हुए व्यासजी बोले—

यत् कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ ॥

(विष्णुपुराण ६ । २ । १५)

'सत्ययुगमें दस वर्षतक यम, दान और तप करनेपर जो फल होता है, त्रेतामें वही एक वर्ष करनेपर जो फल होता है तथा द्वापरमें एक मास यज्ञ-दान और तपका जो फल होता है, वही फल कलियुगमें एक अहोरात्रमें प्राप्त हो जाता है ।'

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

(विष्णुपुराण ६ । २ । १७)

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भा० १२ । ३ । ५२)

'सत्ययुगमें ध्यानके द्वारा, त्रेतायुगमें यज्ञके द्वारा, द्वापरमें पूजार्चनाके द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलियुगमें वही केवल हरिकीर्तनके द्वारा प्राप्त होता है ।' वह फल सबके द्वारा अभीप्सित परमानन्द है ! उस परमानन्दमय श्रीभगवान्को प्राप्त करनेका उपाय कलियुगमें केवल नाम-सकीर्तन है ।

मुनिलोग बोले—"आपने 'धन्य शूद्र !' क्यों कहा ?" व्यासजीने उत्तर दिया—"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका वेद-विहित कर्मोंमें अधिकार है । वे लोग कलियुगमें वैदिक कर्मोंका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेमें समर्थ न हुए तो प्रत्यवायके भागी होंगे । परंतु शूद्रके लिये किसी वेद-विहित कर्मका अधिकार न होनेके कारण, वह केवल उपर्युक्त तीन वर्णोंकी सेवा करके ही उत्तम गतिको पा लेगा । इसी कारण मैंने 'धन्य शूद्र' कहा ।"

मुनियोंने फिर पूछा—आपने 'धन्या नारी !' क्यों कहा ? व्यासजीने उत्तर दिया कि 'द्विज सदा वेद-विहित कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करके जो फल प्राप्त करते हैं, वही फल स्त्री पतिकी सेवाके द्वारा सहज ही प्राप्त करनेमें समर्थ होती है ।'

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञः—स्त्रीके लिये पृथक् यज्ञ, दान, तप नहीं है । नारी केवल पातिव्रत्यका अवलम्बन करके धन्य होती है । सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा—सतियोंके पादपद्मकी धूलिसे पृथ्वी तत्काल पवित्र हो जाती है । पातिव्रत्य—पति-परायणताका व्रत अन्य देशोंमें, अन्य

जातियोंमें नहीं पाया जाता। अध्यात्म-राज्यके मुकुटमणि वेद-शासित भारतका वैशिष्ट्य है—पति-नारायण-मत; सतीत्व अथवा पातिव्रत्य। इसी सतीत्वके बलसे सावित्री मृत्युके उस पारसे मृत स्वामीको वापस ले आयी थी। पतिव्रता शाण्डिलीके पतिको माण्डव्य मुनिका यह शाप होनेपर कि 'सूर्योदय होते ही तुम्हारा देहान्त हो जायगा' शाण्डिलीने कह दिया कि 'यदि ऐसी बात है तो अब सूर्योदय होगा ही नहीं।' पतिव्रताकी बातका उल्लङ्घन करके सूर्य उदित न हो सके। नारी पति-भक्तिके बलसे असाध्यको भी साध्य कर दिखाती है। उस महाशक्ति जातिकी वह शक्ति आज भी अक्षुण्ण है। तो गया क्या है? गया है पति-नारायण-मत! यदि फिर भारतमें यह पति-नारायण-मत लौट आये तो महाशक्ति जातिकी समस्त शक्ति उद्बुद्ध हो उठेगी। सती नारीमें जन्म-जन्मान्तरकी स्मृति अविलुप्त रहती है। वह असम्भवको सम्भव कर दिखानेमें समर्थ होती है।

पश्चात् व्यासजीने मुनियोंसे पूछा—'आपलोग यहाँ किस उद्देश्यसे आये हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'हम जिस उद्देश्यसे यहाँ आये थे, आपने प्रसङ्गवश वही बतला दिया।' इतना कहकर मुनिलोग अपने-अपने स्थानको चले गये।

कलियुगका साधन है नाम-सङ्कीर्तन। केवल पुराणोंमें ही यह बात कही गयी हो, ऐसी बात नहीं है। कलिसंतरणो-पनिषद्में भी नामजपका उल्लेख मिलता है।

द्वापरके अन्तमें एक दिन नारद मुनि ब्रह्माजीके पास गये और बोले—'पृथ्वीका पर्यटन करते हुए किस प्रकार कलिसे उत्तीर्ण हो सकूँगा?' इसका उत्तर देते हुए ब्रह्माजी बोले—'केवल भगवान् आदिपुरुष नारायणका नामोच्चारण करके संसारसे उत्तीर्ण हो जाओगे।' नारदजीने पूछा—'वह नाम क्या है?' प्रजापति बोले—

> हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
> हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
> इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्।
> नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥
>
> (कलिस० उप०)

'ये सोलह नाम कलिके पापोंका नाश करनेवाले हैं, इनकी अपेक्षा श्रेष्ठ उपाय सम्पूर्ण वेदोंमें कहीं नहीं दीखता।'

मेघके हट जानेके बाद जैसे रवि-रश्मिका प्रकाश होता है, उसी प्रकार सोलह नामोंके द्वारा सोलह कलाओंके* हट जानेपर 'प्रकाशते परं ब्रह्म'—परब्रह्मका प्रकाश होता है।

नारदजीने पूछा, 'कोऽस्य विधिरिति?'—इसकी विधि क्या है? ब्रह्माजी बोले, 'नास्य विधिरिति'—इसकी कोई विधि नहीं है।

सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन् ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति। यदास्य षोडशीकस्य सार्द्ध-त्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति। तरति वीरहत्याम्। स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। पितृदेवमनुष्याणामपकारात् पूतो भवति। सर्वधर्मपरित्यागपापात् सद्यः शुचितामाप्नुयात्। सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत्। (कलिसं० उप०)

'सर्वदा शुचि-अशुचि—किसी भी अवस्थामें उच्चारण करनेसे ब्राह्मण सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यको प्राप्त होता है। इसका साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्याके पापसे उत्तीर्ण हो जाता है। वीरहत्यासे मुक्ति पा जाता है। स्वर्णकी चोरीके पापसे पवित्र हो जाता है। पितर-देव-मनुष्योंके अपकारसे पवित्र हो जाता है। सर्वधर्मोंके परित्यागके पापसे तत्काल शुचिता प्राप्त करता है। सद्यः मुक्त हो जाता है। सद्यः मुक्त हो जाता है।'

कलि-संतरणोपनिषद्में वेद-विहित कर्मोंसे वञ्चित कलिके ब्राह्मणोंके लिये भगवान् हिरण्यगर्भने इस नाम-मन्त्रका उप-देश नारदजीको दिया।

उपनिषदुक्त धर्ममें द्विजातिमात्रका अधिकार होते हुए भी भगवान् प्रजापतिने इसमें स्पष्टरूपसे कहा है कि यह मन्त्र केवल ब्राह्मणके लिये है। यह बात 'ब्राह्मण' शब्दके प्रयोगके द्वारा स्पष्ट हो जाती है। यह मन्त्र सभी वर्णोंके द्वारा गाये जाने और जप किये जाने योग्य है, यह कहनेसे 'ब्राह्मण' पदकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

आर्योंके समस्त नाम वेदमूलक हैं, राम-कृष्ण आदि नाम भी वेदमें उपदिष्ट हुए हैं, यदि ऐसा कहें तो ठीक न होगा। महाभारत, रामायण, तन्त्र, अष्टादश महापुराण आदिमें अविकलरूपसे बहुत-से उपनिषद्-मन्त्र कथित हुए हैं; परंतु उनका पुराणादिमें कथन होनेके कारण स्मृतियोंमें परिगणित होकर वे शूद्रोंके भी ग्रहणयोग्य हो जाते हैं। परंतु—

> हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
> हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—यह मन्त्र ठीक इसी प्रकारसे किसी तन्त्र या पुराण ग्रन्थमें उक्त न होनेके कारण इस मन्त्रका एकमात्र अधिकारी

---

* षोडश कलाएँ—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, क्षिति, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तपस्या, मन्त्र, कर्म, सारे लोक और नाम।

ब्राह्मण है—यह विद्वान्‌लोग कहा करते हैं।* राधातन्त्रमें यह मन्त्र भगवती त्रिपुरदेवीके द्वारा भगवान् वासुदेवके प्रति इस प्रकारसे कहा गया है—

> हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
> हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

भगवतीने कर्ण-शुद्धिके लिये इस मन्त्रका उपदेश किया है। कर्ण शुद्ध हुए बिना अनाहत नाद सुनायी नहीं पड़ता। अनाहत नाद प्राप्त हुए बिना महाविद्याकी उपासनाका अधिकार नहीं प्राप्त होता। इस भावसे अर्थात् कर्ण-शुद्धिके लिये मन्त्रका उपदेश होनेके कारण आचाण्डाल सभी इस मन्त्रके अधिकारी हो गये हैं और इसमें मन्त्रकी सारी शक्ति निहित है।

योगसार-तन्त्रमें भगवान् शंकरने देह-शुद्धिके लिये भगवती पार्वतीको यही मन्त्र बतलाया है। ब्रह्माण्डपुराणके राधा-हृदयमें भी यह मन्त्र—

> हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
> हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इसी प्रकार कथित हुआ है।

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारों युगोंके चार तारक ब्रह्मरूप नाम हैं। जैसे—

सत्ययुगमें—

> नारायणपरा वेदा नारायणपराक्षरा।
> नारायणपरा मुक्तिर्नारायणपरा गतिः॥

त्रेतायुगमें—

> राम नारायणानन्त मुकुन्द मधुसूदन।
> कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुण्ठ वामन॥

द्वापरयुगमें—

> हरे मुरारे मधुकैटभारे
> गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे।
> यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो
> निराश्रयं मां जगदीश रक्ष॥

कलियुगमें—

> हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
> हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

केवल वैष्णव ही नहीं, शाक्त, शैव, गाणपत्य—सभी इस मन्त्रको अपने-अपने इष्टदेवताका नाममन्त्र समझ सकते हैं। राधातन्त्रमें त्रिपुरा देवी इस मन्त्रका अर्थ कहती हैं—

> हकारस्तु सुतश्रेष्ठ शिवः साक्षात् न संशयः।
> रेफस्तु त्रिपुरा देवी दशमूर्तिमयी सदा॥
> एकारं च सर्गं विद्यात् साक्षाद्योनिं तपोधन।

"हे पुत्रश्रेष्ठ! 'ह' का अर्थ है साक्षात् शिव, रेफ त्रिपुरादेवी हैं, एकार कारणरूपिणी हैं। 'हरे' का अर्थ है शिव-शक्ति। 'हृ' धातुके आगे 'इ' प्रत्यय लगानेसे 'हरि' शब्द निष्पन्न होता है। 'हृ' धातुका अर्थ है हरण करना। महाजनोंका कहना है कि जो पाप-हरण करता है, वही हरि है। इसी प्रकार जो ताप, चिन्ता, क्लेश, पुनर्जन्म, भूभार आदि हरण करते हैं, वे ही हरि हैं। इस कारण 'हरि' नामसे वैष्णव विष्णुको, शाक्त शक्तिको, शैव शिवको, सौर सूर्यको, गाणपत्य गणपतिको समझ सकते हैं। जो संसारको हर लेते हैं, वे हरि नारायण हैं; जो अज्ञानको हर लेते हैं, वे हरि शिव हैं; दुर्गतिको हरण करनेवाली हरि दुर्गा हैं; जो तम-अन्धकारको हरण करते हैं, वे हरि सूर्य हैं; और जो विघ्न-हरण करते हैं, वे हरि गणपति हैं। इस प्रकार 'हरे' यह पद पञ्चोपासकोंके अपने-अपने इष्टदेवताके सम्बोधनका पद है।

भक्तानां पापादिदोषान् कृषति निवारयतीति कृष्णः—जो भक्तोंके पापादि दोषोंका निवारण करता है,

---

* यह मन्त्र वैदिक उपनिषद्‌में होनेसे तथा इसमें 'ब्राह्मण' शब्द आ जानेसे कुछ महानुभावोंका जो यह मत है कि यह केवल ब्राह्मणोंके लिये ही है, सो उचित है, परंतु एक बहुत उच्च लक्ष्यके महात्माने बताया था कि भगवान्‌के राम-कृष्ण आदि सभी नाम वेदमूलक होनेसे सभी मन्त्र हैं और जहाँ मन्त्र-बुद्धि है, वहाँ अधिकारानुसार विधि-निषेध आवश्यक है, परंतु उन्हीं नामोंका यदि केवल नाम-बुद्धिसे जप-कीर्तन किया जाय तो फिर न किसी विधि-निषेधकी आवश्यकता है और न वह किसी भी वर्ण-जातिके लिये वर्ज्य ही होता है। अतएव 'हरे', 'राम', 'कृष्ण'—इन तीन पदोंकी आवृत्तिरूप सोलह नामोंका जप-कीर्तन नाम बुद्धिसे 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' इसी रूपमें सभी वर्णों एवं जातियोंके सभी नर-नारी कर सकते हैं। इसलिये जहाँ, जिस प्रान्त या सम्प्रदायमें इसका जिस रूपमें जप या कीर्तन होता हो, उसमें परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'नाम' बुद्धिसे जप-कीर्तन करनेमें कोई भी आपत्ति नहीं है।

—सम्पादक

वह 'कृष्ण' है। तेषां दुर्लभानपि पुरुषार्थान् आकर्षयति प्रापयति इति वा कृष्णः—उनके प्रति दुर्लभ पुरुषार्थोंका प्रापक होनेके कारण वह 'कृष्ण' कहलाता है। कर्षति आत्मनि सर्वलोकान् इति कृष्णः, प्रलये इति शेषः—प्रलयकालमें सारे लोकोंको जो आत्मामें आकर्षण करता है, वह 'कृष्ण' है। कर्षति शत्रून् इति वा कृष्णः—जो शत्रुओंका कर्षण (संहार) करता है, वह 'कृष्ण' है। मनुष्योंका पाप-कर्षण करनेके कारण भी वह 'कृष्ण' कहलाता है।

> कृषिरुच परमानन्दे णश्च तद्दास्यकर्मणि।
> तयोर्दाता हि यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः॥

'कृषि' शब्दका अर्थ है परमानन्द; 'ण'का अर्थ है उनका दास्य। जो इन दोनोंका दाता है, वह 'कृष्ण' है।''

इस प्रकार 'कृष्ण' शब्दके द्वारा शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य आदि सभी अपने-अपने देवताको समझ सकते हैं।

'रम्' धातु क्रीडार्थक है, उससे 'राम' शब्द सिद्ध होता है। रमन्ते लोका अत्र इति रामः—सब लोग इनमें रमण करते हैं, अतएव इनका नाम राम है। रमयति लोकान् इति वा रामः—सब लोगोंको आनन्द प्रदान करते हैं, अतएव इनका नाम 'राम' है। रमयति मोदयति सर्वान् इति रामः—सबको आनन्दित करते रहते हैं, इसलिये वे 'राम' कहलाते हैं। समस्त भूतोंको जन्म, स्थिति और नाशके द्वारा क्रीडा कराते हैं, इसलिये वे 'राम' हैं। इस प्रकार 'राम' शब्दके द्वारा भी शाक्त शक्तिको, शैव शिवको, सौर सूर्यको, गाणपत्य गणेशको समझ सकते हैं। पञ्चोपासकोंके अपने-अपने इष्टदेवताका नाम राम है। इसीलिये यह महामन्त्र पञ्चोपासकोंके लिये गान करने योग्य, जपने योग्य है।

इस महामन्त्रके प्रथम प्रचारक श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु हैं। उन्होंने इसका प्रचार सभी वर्णोंके लोगोंके लिये किया है।

पूज्यपाद श्रीगुरुदेव श्री १०८ श्रीमद्‌दाशरथिदेव योगेश्वर अन्तर्लोकसे अनुमोदन प्राप्त करके इसके प्रचारमें प्रवृत्त हुए थे। महामन्त्रकी बात तो अलग रहे, श्रीभगवन्नामकी अपूर्व महिमा श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

> श्रद्धया हेलया नाम रटन्ति मम जन्तवः।
> तेषां नाम सदा पार्थ वर्तते हृदये मम॥

'हे अर्जुन! श्रद्धासे अथवा अवज्ञासे भी जो लोग मेरा नाम रटते हैं, उनका नाम सदा मेरे हृदयमें बसा रहता है।'

हेलासे अर्थात् अभक्तिपूर्वक नाम लेनेपर कैसे कार्य हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए महाजन लोग कहते हैं कि वस्तु-शक्ति कभी श्रद्धा-अश्रद्धाकी अपेक्षा नहीं करती। नाइट्रिक एसिड् अश्रद्धापूर्वक भी शरीरपर गिरानेसे शरीरको जला देता है, घृणापूर्वक आगमें हाथ डालनेसे भी हाथ जल जाता है। अश्रद्धापूर्वक विष खानेसे जब मृत्यु अनिवार्य है, तब श्रीभगवान्‌का नाम भी किसी प्रकारसे ग्रहण करनेपर मनुष्य कृतार्थ होगा ही। जितने भी नाम उच्चारण करोगे या श्रवण करोगे, वे सारे नाम रक्तमें, मांसमें, अस्थिमें, मेदमें, मज्जामें मिल जायँगे और शरीर नाममय हो जायगा।

एक दिन श्रीवृन्दावनधाममें यमुनामें श्रीप्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी स्नान करनेके लिये उतरे। पैरमें कुछ लगा। देखते हैं कि एक मनुष्यका हाथ है! उसपर लिखा है—

> हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
> हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

जिस महापुरुषकी वह हड्डी थी, उसने इतना नाम लिया था कि हड्डीमें वह लिख गया था।

महाराष्ट्र देशमें चोखामेला नामक एक महार (हरिजन) निरन्तर 'विट्ठल, विट्ठल' जप किया करते थे। श्रीभगवान् उनके आकुल आह्वानसे स्थिर न रह सके। उन्होंने आकर भक्तको दर्शन दिया तथा उसके कार्यमें सहायता करने लगे। वह राज मिस्त्रीका काम जानता था। एक दिन चार-पाँच राज मिस्त्रियोंके साथ वह एक ऊँची दीवार तैयार कर रहा था। वह दीवार दैवयोगसे गिर पड़ी। दीवारसे दबकर चोखामेला और दूसरे राजमिस्त्री मर गये। उन दिनों पण्ढरपुरमें भक्तप्रवर भक्त नामदेवजी रहते थे। वे चोखामेलाके दीवारसे दबकर मरनेकी बात सुनकर वहाँ जा पहुँचे और जैसे ही मलबेकी ईंटें हटानी शुरू कीं तो देखते क्या हैं कि राजमिस्त्री लोगोंका मांस सड़ गया है, केवल कङ्काल बचे हुए हैं। कौन-सा कङ्काल चोखामेलाका है—यह निश्चय न कर सकनेके कारण वे एक-एक कङ्कालके पास कान लगाकर सुनने लगे। एक कङ्कालसे सुस्पष्ट 'विट्ठल-विट्ठल' नाम सुनायी पड़ा। यह कङ्काल चोखामेलाका है, यह निश्चय करके उन्होंने उसे वहाँ समाधि दे दी। नामने कङ्कालतकपर अधिकार कर लिया था, कङ्काल भी 'विट्ठल' नामका उच्चारण कर रहा था। जनाबाईके उपले 'कृष्ण' नामका उच्चारण करते थे, कौन महाराष्ट्रवासी इस बातको नहीं जानता।

नाम-संकीर्तन कलियुगका एकमात्र साधन है, यह सभी शास्त्र एक स्वरसे घोषणा कर रहे हैं—

> हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
> (बृहन्नार० पु० १।४१।१५)

'हरिका नाम, हरिका नाम, केवल हरिका नाम—कलियुगमें हरिनामके सिवा अन्य कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

केवल नाम-संकीर्तनके द्वारा मनुष्य किस प्रकार कृतार्थ हो सकता है, अब इसपर विचार करें।

शब्दसे जगत्‌की सृष्टि होती है, यह वेदने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। श्रुतिमें शब्दको 'प्राण स्पन्दन' नाम दिया गया है। सब कुछ शब्दसे उत्पन्न है। वही शब्द-ब्रह्म मानव-शरीरके अन्तर्गत मूलाधारमें परा, नाभिमें पश्यन्ती, हृदयमें मध्यमा और मुखमें वैखरीरूपसे क्रीडा करता है। संसारकी रचनाका मूल सूत्र है—बहु स्यां प्रजायेयेति। 'मैं बहुत बनूँगा, प्रकृष्ट रूपमें पैदा होऊँगा।' बहिर्मुखी गति होनेपर वैखरी वाक् संसारकी रचना करती है। जन्म-जन्मान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ जीव जब बहिर्मुखताकी ज्वालासे व्याकुल होकर केन्द्रकी ओर लौटना चाहता है, तब उसको शास्त्र वाक्‌का अवलम्बन करके ही केन्द्रमें लौट आनेका निर्देश करते हैं। वैखरी वाक्‌के द्वारा नाम-संकीर्तन करते-करते जब जिह्वा और कण्ठ कृतार्थ हो जाते हैं, तब वाक् मध्यमामें अर्थात् हृदयमें उपस्थित होती है। उस समय शरीरमें कम्प, रोमाञ्च तथा देहावेश होता है, अर्थात् शरीर मानो बड़ा प्रतीत होता है; शरीर दाहिने-बायें, आगे-पीछे कम्पायमान होता है; सिर मेरुदण्डके भीतर सन्-सन् करता है, तथा ऐसे ही और भी बहुत-से लक्षण प्रकट होते हैं; क्रमशः ज्योति और नाद आकर उपस्थित होते हैं। अलौकिक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका आविर्भाव होनेपर लौकिक रूप-रस आदिके प्रति उपेक्षा हो जाती है। भीतर लाल, नीले, पीले, श्वेत आदि अत्युज्ज्वल आलोकके प्रकाशसे साधक आनन्दसागरमें डूब जाता है। कोटि-कोटि प्रकारकी ज्योति है तथा अरबों-खरबों प्रकारके नाद हैं। इन सबका निर्णय करनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है। मेघ-गर्जन, समुद्र-कल्लोल-ध्वनि, भ्रमर-ध्वनि-मधुकर गुञ्जन, वेणु-वीणा-तम्बूरा-नाद तथा मृदङ्ग-करताल आदिके अनेकों नाद हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती। 'जय नूपुरनाद, 'अनाहत' नाद, 'सोऽहम्' नाद, 'ॐ नाद' साधक अनुभव करता है। जब अविराम 'सोऽहम्' नाद चलने लगता है, तब उस नादको रोकनेकी सामर्थ्य साधकमें नहीं रहती। अन्ततोगत्वा वह 'ॐ' नादमें डूब जाता है।

जब नाद और ज्योतिका आविर्भाव होता है, तब साधकमें भगवत्-दर्शनकी तीव्र आकाङ्क्षा पैदा होती है और वह सर्वत्यागी हो जाता है। अनन्यभावसे भक्तके द्वारा श्रीभगवान्‌का चिन्तन होते रहनेपर फिर भगवान्‌से रहा नहीं जाता। वे भक्तको उसके प्रार्थित रूपमें दर्शन देते हैं, वर देते हैं। इष्ट-अङ्गमें मनका लय हो जाता है, तब वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जबतक जीवित रहता है, सुषुम्णामें नादमग्न होकर ॐकार-क्रीडा करता रहता है। वह जगत्-कल्याणका व्रत लेकर आनन्दसे प्रारब्ध-क्षय करके परमानन्दधाममें उपस्थित होता है। वह जल-स्थल-आकाश, मनुष्य-पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग—जो कुछ देखता है, सर्वत्र ही उसे भगवत्स्फूर्ति होती रहती है। 'जहाँ नेत्र जाय, तहाँ कृष्णमय दीखे।' उसके लिये जगत् वासुदेवमय हो जाता है।

मन्त्रयोगी, हठयोगी, लययोगी, पातञ्जलयोगी, वैष्णव, शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य—सबकी काम्य वस्तु है ज्योति एवं नाद। नादको छोड़कर शान्ति-लाभ करनेका दूसरा पथ नहीं है। सभी अन्तमें नादको प्राप्त होते हैं। समस्त साधनोंका अन्त नादमें—अनाहत ध्वनिकी प्राप्तिमें है। अनाहत ध्वनि प्राप्त करनेके लिये साधकलोग सब कुछ त्याग-कर आहार-विहारका संयम करते हैं और साधन-पथमें अग्रसर होते हैं। साधन-पथकी समस्त विघ्न-बाधाओंका अति-क्रमण करके वे नादकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं।

नाम-संकीर्तनकारीको और कुछ नहीं करना पड़ता, केवल नाम-संकीर्तन करते-करते स्वयं नाद आकर उसके सामने उपस्थित होता है और साधकको आलोकमें, पुलकमें, आनन्दमें डुबा देता है, भगवद्दर्शन करा देता है। इसीलिये शास्त्र उच्चस्वरसे कहते हैं—

> कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
> द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
> (श्रीमद्भा० १२।३।५२)

> करते रहो नाम-संकीर्तन, नित्य निरंतर बिना विराम।
> देंगे दर्शन निश्चय ही प्रत्यक्ष तुम्हें प्रभु सीताराम॥

कलिमें कल्याणका मार्ग है—नाम-संकीर्तन। नाम लो, नाम लो, नाम लो। जय नाम, जय नाम, जय-जय नाम।

भगवन्नाम-महिमा

(लेखक—हरिदास गङ्गाशरणजी शर्मा 'शील' एम० ए०)

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

आज विश्वमें दोनों ओर अन्धकार है। बाहरके घोर अन्धकारमें संसारके नेता एवं राजनीतिके कर्णधार शान्तिको टटोलकर प्राप्त करना चाहते हैं एवं भीतरके अन्धकारमें वे शाश्वत सुखका अन्वेषण कर रहे हैं, किंतु सफलता उनको किसी ओरसे प्राप्त नहीं होती। फिर इसका उपाय क्या है? प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने उपरिलिखित दोहेमें कितना सुन्दर उपाय बताया है कि 'यदि तुम भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश चाहते हो तो राम-नामरूपी मणिको इस शरीरके जिह्वारूपी द्वारपर रख लो।'

सचमुच रामनामकी ऐसी ही महिमा है। उस दिन जब राक्षसराज हिरण्यकशिपुने भक्तप्रवर प्रह्लादको धधकती हुई अग्निमें फेंक दिया और भगवत्कृपासे उसका बाल भी बाँका न हुआ, तब हिरण्यकशिपुको महान् आश्चर्य हुआ। उसको आश्चर्यनिमग्न देखकर प्रह्लादने कहा था—

रामनाम जपतां कुतो भयं
सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसंनिधौ
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

''पिताजी! रामनामका जप करनेवालोंको भय कहाँ; क्योंकि रामनाम सब प्रकारके तापोंको शमन करनेके लिये एकमात्र औषध है। फिर, पिताजी! 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्?' देखिये न, मेरे शरीरके सामीप्यमें आकर आज अग्नि भी जलके समान शीतल हो रही है।''

आज जब कि चारों ओर नाना प्रकारके भयंकर एवं घातक रोगोंसे आक्रान्त होकर जनता पीड़ित हो रही है, विश्व-भरमें हाहाकार मचा हुआ है, क्यों न इस 'सर्वतापशमनैक-भेषजम्' का प्रयोग किया जाय। संसारका कोई इंजेक्शन, कोई ओषधि, कोई रसायन इस दिव्य रसायनके सम्मुख नहीं ठहर सकती। कहा भी है—

इदं शरीरं शतसंधिजर्जरं
पतत्यवश्यं परिणामि पेशलम्।
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ दुर्मते
निरामयं कृष्णरसायनं पिब॥

विश्वके संतों, महात्माओं एवं पीर-पैगम्बरोंने डंकेकी चोट यही उद्घोष किया है—निरामय कृष्णरसायन पिय 'परमात्माके नामरूपी रसायनको पीओ।' क्योंकि इसके पीनेसे कोई रोग नहीं रहता।

यथार्थतः कोई भी कष्ट, रोग, ताप एवं शोकादि तभी आक्रमण करते हैं जब पूर्वजन्म अथवा इस जन्मके पापोंका फल उदय होता है। यदि किसी युक्तिविशेषसे पापोंका नाश हो जाय तो जीवको कष्ट ही क्यों हो, दुःख क्यों भोगना पड़े। श्रीमद्भागवतमें इसका बड़ा सुन्दर उपाय बताया गया है—

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० २।४।१५)

'हमारा उन सुन्दर यशवाले भगवान्‌को बार-बार प्रणाम है, जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन लोकके पापोंको तत्क्षण नष्ट कर देता है।'

इस श्लोकमें 'विधुनोति' क्रिया एकवचनान्त है अर्थात् उपरिलिखित किसी भी एक कार्यके करनेसे समस्त पापोंका शीघ्र ही क्षय हो जाता है। तब क्यों न इन उपायोंको काममें लाया जाय। इनमें भी सबमें सरल है—भगवन्नाम-कीर्तन एवं नामस्मरण। जब नाम-कीर्तनसे लोगोंके पापोंका क्षय हो जायगा, तब उनके दण्डस्वरूप दुःख क्यों भोगने पड़ेंगे? कितना सरल उपाय है दुःखसे बचनेका! पर हाय! यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम फिर भी भगवन्नाम नहीं लेते। शास्त्रोंने कहा है कि—

अनन्त वैकुण्ठ मुकुन्द कृष्ण
गोविन्द दामोदर माधवेति।
वक्तुं समर्थोऽपि न वक्ति कश्चि-
दहो जनानां व्यसनाभिमुख्यम्॥

भगवन्नाममें सबसे विलक्षण बात यह है कि भगवान्‌ने अपनी समस्त शक्तिका निक्षेप अपने नाममें कर दिया है। स्वयं भगवान् जो काम नाम कर सकता है, वह राम भी नहीं कर सकते। इसका निर्णय गोस्वामीजीने रामचरितमानस, बालकाण्डमें नाम-महिमा-प्रसङ्गमें किया है। देखिये कितना सुन्दर यह उक्ति है

भक्तोंके रामनामकीर्तनसम्बन्धी ये उद्धरण यहाँ नहीं दिये जाते। पर इतना कहे बिना भी नहीं रहा जाता—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

मानसके अमर प्रणेता गोस्वामी तुलसीदासजीने तो मानसके अन्तमें अपने अनुभवकी घोषणा इस प्रकार की है—

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

इतना ही नहीं, जब उनसे पूछा गया कि 'मानव-जीवनका लक्ष्य क्या है? उद्देश्य क्या है? फल क्या है?' तो उन्होंने निश्छलभावसे कहा कि हम औरोंकी बात तो नहीं कहते, पर हमारे विचारसे तो—

सिय राम सरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जलु है।
श्रुति राम कथा मुख राम को नामु हिएँ पुनि रामहि को थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को बलु है।
सब की न कहै तुलसी के मतें इतनो जग जीवन को फलु है॥
(कवितावली उत्तर० ३७)

यों तो सभी संतों एवं भक्तोंने नामके रसका पान किया है और अपने अनुभव बताये हैं, पर इस घोर कलिकालमें श्रीकृष्ण-नामरूपी चिन्तामणिके सबसे बड़े पारखी श्रीचैतन्य-महाप्रभु हुए हैं। उन्होंने एक दिन कातरस्वरमें पुकारकर कहा था—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥
(श्रीचैतन्य शिक्षाष्टक २)

'हे प्रभो! आपने अपने नाममें अपनी समस्त शक्ति निहित कर दी है और आपकी दयालुता इतनी है कि अपने नामका स्मरण करनेके लिये कोई समय भी नियत नहीं किया है। आपकी मुझपर इतनी असीम कृपा है, पर मेरा यह दुर्भाग्य कि अभी तक आपके नाममें मुझे अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ।'

श्रीभगवान्‌के पादारविन्दकी निरन्तर स्मरण करनेका एक अद्भुत प्रभाव यह होता है कि वह अमङ्गलोंका नाश करता तथा शान्तिका विस्तार करता है, अन्तःकरणको पवित्र करता एवं ज्ञान-विज्ञान तथा वैराग्यसे युक्त भगवद्भक्ति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतमें इसी आशयका निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(भागवत १२।१२।५४)

यों तो भगवन्नाम कैसे भी लिया जाय कल्याणकारक है—

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

पर श्रीभगवान् उसी प्रेमीको अपने हृदयमें उच्चपद प्रदान करते हैं, जिसकी यह दशा हो—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

ऐसा भक्त स्वयं ही पावन नहीं बनता, अपितु वह तो विश्वभरको पवित्र कर देता है—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(श्रीमद्भागवत ११।१४।२४)

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'जिस भक्तकी वाणी (नाम-कीर्तन करते-करते) गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त नाम-स्मरणसे द्रवित हो जाता है, जो भावावेशमें क्षण-क्षणमें रोता है और कभी-कभी हँसता भी है एवं लज्जा छोड़कर उच्चस्वरसे मेरा नाम-संकीर्तन करता है तथा नृत्य भी करता है, ऐसा मेरा भक्त समस्त विश्वको पवित्र कर देता है।'

वेद, उपनिषद्, पुराण एवं रामायण तथा महाभारतमें भगवन्नामकी महिमा भरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त संत कबीरसे लेकर महात्मा गाँधीतक—सभी संत, भक्त एवं महात्माओंने अपने अनुभवके आधारपर यही लिखा है—

केसव केसव कूकिये, ना कूकिये असार।
बार बार की कूक से, कबहुँ तो सुनैं पुकार॥

संत कबीरने तो भगवन्नामकी महिमामें यहाँतक लिख दिया कि प्रभुका नामस्मरण करनेसे मेरा—

मन ऐसा निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पाछे पाछे हरि फिरैं, कहत कबीर कबीर॥

अतः मानवमात्रका यह परम कर्तव्य हो जाता है कि नामजप, नामस्मरण अथवा नामकीर्तनके सहारे—किसी भी प्रकार निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करे। इसीसे विश्वकल्याण हो सकता है।

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। (श्वेताश्व० उप० ६।१५)

श्रीभगवन्नामकी अपार महिमा

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

भक्तिके दो प्रधान अङ्ग हैं—नाम-कीर्तन और गुण-कीर्तन । इसीलिये संतोंकी महिमाका वर्णन करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

गावहिं सुनहिं सदा मम लीला । हेतु रहित परहित रत सीला ॥
(अरण्य का०)

सिमिरत नाम मम नाम परायन । सांति बिरति बिनती मुदितायन ॥
(उत्तर का०)

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह ।
ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ॥
(उत्तर का०)

भगवान्‌में जैसा-जैसा गुण है अथवा भगवान् जैसी-जैसी लीला करते हैं, उसीके अनुरूप उनका नाम पड़ जाता है । उनका प्रत्येक नाम उनकी लीला और गुणोंका द्योतक है—जैसे 'माखनचोर', 'श्यामसुन्दर' आदि । इसी कारण भगवान्‌के गुण-कीर्तन तथा नाम-कीर्तनमें कुछ भी भेद नहीं है तथा दोनोंका फल भी एक ही है । तभी तो श्रीरामचरितमानसमें दोनोंके फलमें एकता यों दिखायी गयी है—

नाम	गुण अथवा लीला
१. आखर मधुर मनोहर दोऊ ।	१. परम मनोहर चरित अपारा ।
२. लोक लाहु परलोक निबाहू ।	२. प्रिय पालक परलोक लोक के ।
३. स्वाद तोष सम सुगति सुधा के ।	३. सोइ बसुधा तल सुधा तरंगिनि ।
४. एहि महँ रघुपति नाम उदारा ।	४. सोइ संवाद उदार जेहि बिधि भा ।
५. राम नाम को कलपतरु ।	५. अभिमत दानि देवतरु बर से ।
६. जासु नाम भव भेषज ।	६. भव भेषज रघुनाथ जसु ।
७. राम नाम मनि दीप धरु ।	७. राम कथा चिंतामनि चारू ।
८. कलिजुग केवल नाम अधारा ।	८. कलिजुग केवल हरिगुन गाहा ।
९. नाम सकल कलि कलुष निकंदन ।	९. राम कथा कलि कलुष बिभंजनि ।
१०. नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ।	१०. जग मंगल गुन ग्राम राम के ।
११. करतल होहिं पदारथ चारी ।	११. जो दायक फल चारि ।
१२. तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं ।	१२. अघ कि रहहिं हरि चरित बखानें ।
१३. महामंत्र जोइ जपत महेसू ।	१३. मंत्र महामनि बिषय ब्याल के ।
१४. हित परलोक लोक पितु माता ।	१४. प्रिय पालक परलोक लोक के ।

श्रीमद्गोस्वामीजीके उपर्युक्त वचनोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान्‌के नाम-कीर्तन तथा गुण (लीला)-कीर्तनमें कुछ भी भेद नहीं है । दोनोंकी महिमा तथा फल एक ही है । सत्य तो यह है कि भगवान्‌का प्रत्येक नाम उनकी लीलाओंका ही समास-रूप है अथवा यों कहिये कि उनके प्रत्येक नामकी व्याख्या ही उनकी लीला है । इसलिये जहाँ-जहाँ भगवन्नामकी जो महिमा बतायी जाय, वही उनकी लीलाओंके लिये भी समझनी चाहिये ।

भगवन्नामकी महिमाका वर्णन जब स्वयं भगवान् भी नहीं कर सकते, तब फिर इस दीन लेखककी लेखनीमें क्या शक्ति है जो कुछ भी लिख सके । स्वयं श्रीमद्गोस्वामीजी लिखते हैं—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥

फिर भी ऋषि-मुनि-प्रणीत धर्मग्रन्थोंमें जो नाम-महिमाका वर्णन है, वही संक्षेपमें 'स्वान्तःसुखाय' तथा 'निज गिरा पावन करन कारन' यहाँ लिखा जाता है—

श्रीशंकरजी पार्वतीजीसे कहते हैं—

सन्नामकीर्तनं भूयस्तापत्रयविनाशनम् ।
सर्वेषामेव पापानां प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ॥
नातः परतरं पुण्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
नामसंकीर्तनादेव तारकं ब्रह्म दृश्यते ॥

अर्थात् श्रीभगवन्नाम-कीर्तनसे आध्यात्मिक (काम, क्रोध, भय, वैर, दाह आदिसे उत्पन्न मानस दुःख), आधिदैविक (वायु, वर्षा, बिजली, अग्नि आदिसे उत्पन्न दुःख) और आधिभौतिक (मनुष्य, राक्षस, पशु, पक्षी आदिसे उत्पन्न दुःख)—इन तीनों तापोंका समूल नाश हो जाता है और सब प्रकारके पापोंका प्रायश्चित्त होता है । श्रीभगवन्नाम-कीर्तनके समान पुण्य तीनों लोकोंमें और कोई भी नहीं है । इस नाम-कीर्तनमात्रसे ही मनुष्य साक्षात् भगवान्‌के दर्शन प्राप्त कर सकता है ।

इतना महान् होनेपर भी यह सुगम इतना है कि इस भगवन्नामका ग्रहण पुरुष-नारी, ब्राह्मण-शूद्र—सभी कर सकते हैं और परम पदको प्राप्त कर सकते हैं—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः ।
यत्र तत्रानुकुर्वन्ति विष्णोर्नामानुकीर्तनम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तास्तेऽपि यान्ति सनातनम् ॥

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

इस नामकीर्तनमें कोई देशकाल तथा शौचाशौचका नियम भी नहीं है—जहाँ-तहाँ जिस किसी भी अवस्थामें कीर्तन किया जा सकता है—

न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः।
परं संकीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते॥

इस भगवन्नाम-कीर्तनमें विशेषता यह है कि दुष्टचित्तसे अथवा भय, शोक, आश्चर्य, हँसी-मजाक अथवा संकेतके बहाने उच्चारण कर लेनेसे भी परमपदकी प्राप्ति हो जाती है—

आश्चर्ये वा भये शोके क्षते वा मम नाम यः।
व्याजेन वा स्मरेद् यस्तु स याति परमां गतिम्॥
सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
राम नाम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं॥

इतना ही नहीं, यह नाम-संकीर्तन तो खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते—हर समय किया जानेयोग्य है, इसके लिये कहीं प्रतिबन्ध नहीं।

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् वापि पिबन् भुञ्जञ्जपंस्तथा।
कृष्ण कृष्णेति संकीर्त्य मुच्यते पापकञ्चुकात्॥
कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मीभवन्ति सद्यस्तु महापातककोटयः॥

जिस भाग्यवान् पुरुषकी जिह्वापर सदा भगवन्नाम विराजमान है, उसके लिये गङ्गा-यमुना आदि तीर्थ कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। ऋग्वेद-यजुर्वेदादि चारों वेद उसने पढ लिये, अश्वमेधादि सभी यज्ञ उसने कर डाले—

न गङ्गा न गया सेतुर्न काशी न च पुष्करम्।
जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्नरमेधैः सदक्षिणैः।
यजितं तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥

येन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं
तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृत-
मनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥

यदि कोई चाण्डाल भी हो तो भगवन्नामका उच्चारण करके श्रेष्ठ तथा कृतकृत्य हो जाता है—उसके लिये यज्ञ-तप आदि कुछ भी करना बाकी नहीं रह जाता।

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भागवत ३। ३३। ६-७)

नीच जाति श्वपचौ भलो जपै निरंतर राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥
तुलसी जाके बदन ते धोखेहु निकसत राम।
ताके पग की पगतरी मेरे तन को चाम॥

कहाँतक लिखा जाय। भगवन्नामकी महिमा अपार है। जो कोई इस भगवन्नाम-महिमाको केवल अर्थवाद मान बैठते हैं, वे नराधम हैं और नरकके भागी होते हैं—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः।
स पापिष्ठो मनुष्याणां नरके पतति स्फुटम्॥

कल्याणकामी पुरुषोंको चाहिये कि श्रीभगवन्नामकी महिमापर दृढ विश्वास करके उसका निरन्तर जप करें। यह भवसागर उनके लिये गोखुर बन जायगा। स्वयं नाम जपना चाहिये और दूसरोंसे जपवाना चाहिये। तभी तो श्रीशंकरजी पार्वतीजीसे कहते हैं—

तस्माल्लोकोद्धारणार्थं हरिनाम प्रकाशयेत्।
सर्वत्र मुच्यते लोको महापापात् कलौ युगे॥

'लोगोंके उद्धारके लिये सर्वत्र श्रीभगवन्नामका प्रकाश करना चाहिये। कलियुगमें जीव एकमात्र श्रीहरिनामसे ही सारे महापापोंसे छुटकारा पा सकेंगे।'

तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी॥

भगवान् सबको सद्बुद्धि प्रदान करें।

कलियुगका परम साधन भगवन्नाम

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी साधक)

> कबिरा यह जग कुछ नहीं खिन खारा खिन मीठ।
> काल जो बैठा मेड़िया काल मसानें दीठ॥

उपर्युक्त दोहेमें महात्मा कबीरदासजी भक्त-मण्डलीको उपदेश देते हुए कहते हैं कि यह संसार कुछ भी तो नहीं है, भ्रममात्र ही इसकी सत्ता है; यह कभी खारा तो कभी मीठा हो जाता है, अर्थात् यह प्रत्येक अवस्थामें परिवर्तनशील है। इसमें कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है—उदाहरणार्थ आज जो मेड़िया—ऊँचे वैभवका स्वामी बना बैठा है, कलको वही मरघटमें पहुँचकर—

> हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केश जरै ज्यों घास।
> सब जग जलता देखकर, भए कबीर उदास॥

—की स्थितिमें परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' का सिद्धान्त अटल है। इस अटल सिद्धान्तके अनुसार संसारकी सारहीनता, परिवर्तनशीलता एवं नश्वरतापर विचार करके ही हमारे वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों, संतों, महर्षों, विद्वानों एवं कविवरोंने मानव-जीवनका एक ही लक्ष्य निश्चित किया है—भगवत्प्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष (नाम-भेद है, स्वरूप-भेद नहीं)। जो मनुष्य उपर्युक्त लक्ष्यकी सिद्धिके लिये साधन नहीं करता, मनुष्य होकर भी जो आत्मोद्धारका प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है। असत्‌में आस्था रखनेके कारण वह अपनेको नष्ट करता है।

> लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
> तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
> यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
> स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥
>
> (विवेकचूडामणि १ । ४)

उपर्युक्त शास्त्र-वचनके अनुसार मनुष्यका परम पुरुषार्थ इसीमें है कि वह इस अनन्त एवं अपार संसार-सागरमें डूबते हुए अपने निजत्व (आत्मा) की रक्षा करे। यदि पुरुष होकर भी यह संसार-सागर पार न किया तो सब कुछ व्यर्थ ही खो दिया समझना चाहिये।

अतः मनुष्यको चाहिये कि इसी जीवनमें ब्रह्म (आत्म-तत्त्व) को जान ले; अन्यथा बड़ी भारी हानि होगी। श्रुतिका वचन है—

> इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
>
> (केन उप० २ । ५)

भाव यह है कि इसी जन्ममें ब्रह्म (आत्मा) को जान लिया, तब तो कल्याण है; अन्यथा बड़ी भारी हानि है। अब यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'श्रुति और शास्त्रने जिस आत्म-तत्त्वको जाननेका आदेश दिया है, उसको जाननेका क्या उपाय है ?'

इस प्रश्नका उत्तर तो हमें सद्गुरुकी कृपाद्वारा ही प्राप्त हो सकता है; क्योंकि—

> बिनु गुरु होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग बिनु।

यह विचारकर भक्त-साधक गुरुके पास जाकर अपार संसार-सागरसे पार होनेका उपाय पूछता है—

> अपारसंसारसमुद्रमध्ये
> सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति ?
> गुरो कृपालो कृपया वदैतद्—
>
> (प्रश्नोत्तर मणिरत्नमाला)

अर्थात् हे कृपालु गुरुदेव ! कृपया बतलाइये कि अपार संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए मेरे लिये सहारा क्या है ?

इसपर गुरुदेव सरल और संक्षिप्त उत्तर देते हुए कहते हैं—

> विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका॥

अर्थात् विश्वपति परमात्माके चरण-कमल ही इस अपार सागरसे पार उतरनेके लिये विशाल जहाज हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजने अर्जुनको 'परमेश्वरकी शरण ही शान्ति प्रदान करनेवाली है' इत्यादि उपदेश दिया है—

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
> तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
>
> (१८ । ६२)

इस उत्तरसे स्पष्टतया यह निश्चय हो गया कि भगवान्‌की शरणमें पहुँचे बिना हमारी बाधाओंका शमन नहीं हो सकता और शरणागतका पालन करनेवाला भगवान् श्रीहरिके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

तुलसी कोसल पाल सो को सरनागत पाल।
भज्यो बिभीषन बंधु भय भंज्यो दारिद काल॥
(दोहावली १६०)

तुलसीदासजी कहते हैं—कोसलपति श्रीरामजीके समान शरणागतकी पालना करनेवाला दूसरा कौन है? अर्थात् कोई नहीं। विभीषणने भाई रावणके भयसे श्रीरामका भजन किया था, परंतु भगवान्‌ने उसे लङ्काका राज्य देकर उसके दरिद्रतारूपी अकालका नाश कर दिया।[1] अतः भगवान्‌की शरणमें पहुँचना, उनका अनन्य आश्रय लेना, उनके प्रेमको प्राप्त करना तथा उनके पावन नामोंको जपना ही मनुष्यका प्रमुख ध्येय है।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

× × ×

सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू।

× × ×

स्वारथ परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

× × ×

पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम॥

अबतक भगवत्प्राप्तिके शास्त्रानुमोदित साधन ज्ञान, कर्म एवं भक्ति—ये तीन ही प्रमुख रूपमें स्वीकार किये जाते रहे हैं।

इन तीनों साधनोंमें ज्ञानका साधन तो अत्यन्त क्लिष्ट एवं दुस्साध्य है—

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक॥

और भी—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥

ज्ञान-मार्गके अनन्तर कर्म-मार्गका विधान है। कर्मका पंथ ज्ञानपंथकी अपेक्षा सरल होते हुए भी प्रकार-भेदसे अति कठिन है। उसमें भी कर्म, अकर्म तथा विकर्मके स्वरूपको पहचानना पड़ता है; क्योंकि कर्मकी गति अति गहन है। पुनः सकाम कर्म, निष्काम कर्म, ब्रह्मार्पण कर्म, फलेच्छात्यागयुक्त कर्म आदि कर्मके अनेक भेद हैं, जिनके कारण कर्म-विधानका निश्चय ही नहीं हो पाता कि शास्त्रानुसार निर्दिष्ट कर्मको जीवनके व्यवहारमें किस प्रकार उतारें।

तीसरा साधन भक्तिका है। यह साधन ज्ञान तथा कर्म दोनों मार्गोंकी अपेक्षा सरल तथा सुगम है। इसके द्वारा मनुष्यकी अविद्या शीघ्र नष्ट हो जाती है और तब वह अविद्या-नाशके फलस्वरूप अपने आत्माका उद्धार अनायास ही करनेमें समर्थ होता है।

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥

× × ×

असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

इस प्रकार भगवान्‌की भक्तिका यह तीसरा साधन सकल अविद्याका नाशक, सुखदायक एवं सुगम है।

ज्ञानद्वारा जो मोक्ष प्राप्त होता है, उसका आधार भी भक्ति ही है। यथा—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

भक्तिका साधन अन्य साधनोंकी अपेक्षा सुगम एवं सराहनीय है अवश्य, किंतु इसके भी सकाम भक्ति, निष्काम भक्ति आदि कई भेद हैं। इन भेदोंके आधारपर ही भक्तों, साधकों एवं साधनोंमें भी भेद एवं पृथक्ता है। पुनः भक्तिके साधनमें भी गुरुभक्ति, साधुसंगति, भगवत्कृपा, विषयत्याग तथा ईश्वरमें श्रद्धा एवं विश्वास आदि पालनीय नियमोंकी अनिवार्यता है; ये नियम साम्प्रदायिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे सरल होते हुए भी साधनकी दृष्टिसे कठिन हैं, विशेषकर कलियुगमें, जहाँ—

दंभ सहित कलि धरम सब, छल समेत ब्यवहार।
स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार॥
असुभ भेष भूषन धरें, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस, करहिं बिप्र गुर घात॥
श्रुति संमत हरि भक्ति पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥
सकल धरम बिपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ।
पुन्य पराय पहार बन दुरे पुरान सुग्रंथ॥

—आदि कठिनताएँ भरी पड़ी हैं। इन कठिनाइयोंसे भरे कठिन कलिकालमें केवल दो ही आधार हैं—

कलि पाखंड प्रचार प्रबल पाप पाँवर पतित।
तुलसी उभय अधार रामनाम सुरसरि सलिल॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि कलियुगमें केवल पाखण्डका ही प्रचार है, संसारसे पाप बहुत प्रबल हो गया, सब ओर पामर और पतित ही नजर आते हैं। ऐसी स्थितिमें दो ही आधार हैं—(१) श्रीराम-नाम और (२) श्रीगङ्गाजीका पवित्र जल। श्रीराम-नाम और गङ्गा-जलको आधार माननेवाला पथ भी भक्ति-मार्ग ही है, किंतु साधन-सुविधाके विचारसे भक्त-परम्पराने इस साधनको भक्तिसे स्वतन्त्र 'नाम-साधन'के रूपमें स्वीकार किया है। इस साधनमें भगवान्ने अपनी अपेक्षा भी अपने नामकी महत्ता विशेष बतलायी है। नाम-साधनके विषयमें भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने इस प्रकार लिखा है—

> नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
> जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

> चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
> बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥
> ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें॥
> कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
> नाम काम तरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
> राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
> नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

नाम-साधनके विषयमें गोस्वामीजीने जो कुछ ऊपर कहा है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कलियुगमें ज्ञान, कर्म, भक्ति—ये तीनों ही साधन सुलभ नहीं हैं; केवल राम-नामका ही अवलम्ब है। बिना राम-नामके परमार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती—

> राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
> बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥
> (दोहावली २०)

'जो लोग राम-नामके बिना परमार्थ (मोक्ष) की आशा करते हैं, वे वर्षामें बूँदको पकड़कर आकाशमें चढ़ना चाहते हैं अर्थात् असम्भवको सम्भव करना चाहते हैं।' पर ऐसा तो हो नहीं सकता—

> बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
> बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

'जलके मथनेपर भले ही घी उत्पन्न हो जाय और रेतके पेरनेसे चाहे तेल निकल आये; परंतु श्रीहरिके भजन बिना भवसागरसे पार नहीं हुआ जा सकता' यह सिद्धान्त अटल है।'

इस सिद्धान्तके अनुसार 'नाम-मार्ग' में एक और विलक्षणता है। वह है नामकी व्यापकता। ज्ञान, कर्म, भक्ति—ये तीनों मार्ग अपने-अपने क्षेत्रमें सीमित हैं, अर्थात् इन तीनों मार्गोंसे प्राप्त होनेवाले फल पृथक्-पृथक् हैं; किंतु 'नाम' के विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता।

नामका सम्बन्ध ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनोंसे है। नाम-मार्गमें निर्गुणपन्थी (ब्रह्मवादी), सगुणपन्थी (अवतारवादी) और कर्मपंथी (याज्ञिक)—ये तीनों एक साथ ही ग्रहण किये जा सकते हैं। 'नाम-मार्गी' तुलसीदासजीने तीनों पंथोंकी समुच्चयात्मक उपासनाकी व्यवस्था भी कर दी है। यथा—

> हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
> मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥
> (दोहावली ७)

भाव यह है कि नाम-मार्गीकी उपासना-पद्धतिमें हृदयमें निर्गुण ब्रह्मका ध्यान, नेत्रोंमें स्वरूपकी झाँकी तथा जीभसे राम-नामका जप—यह ऐसा है मानो स्वर्णकी डिबियामें मनोहर रत्न सुशोभित हो। परंतु तीनोंका समुच्चय स्वीकार भी गुसाईंजीने यहाँ नामको रत्न तथा निर्गुण ध्यान एवं सगुणकी झाँकीको सोनेकी डिबिया बताकर साधकके लिये नामकी ही विशेषता दिखायी है।

नाम-मार्गकी व्यापकतामें जहाँ एक ओर इस प्रकारकी समुच्चयात्मक व्यवस्था है, वहाँ दूसरी ओर पूर्ण स्वतन्त्रता भी है। इस स्वतन्त्रतामें जिस प्रकार खेतमें उल्टा-सीधा कैसा भी बीज क्यों न डाला जाय, वह उचित अवसर पाकर फल देगा ही, उसी प्रकार रामका नाम उल्टा-सीधा—कैसे भी लिया जाय, अवश्य ही फलदायक होगा।

> जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर 'नाम-महिमा' का यत्किंचित् आभास अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अस्तु;

इस प्रसङ्गमें 'नाम' और 'नामी' की तरतमता भी विचार कर लेना अनुपयुक्त नहीं जान पड़ेगा। 'अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध' की भाँति ही 'नाम-नामी-सम्बन्ध'की कल्पना भी की जाती है। जिस प्रकार अङ्गाङ्गि-सम्बन्धके अनुसार वृक्ष स्वयं तो अङ्गी है और उसकी शाखाएँ अङ्ग हैं, इसी प्रकार भगवान् स्वयं तो नामी हैं और राम, कृष्ण, गोविन्द आदि भगवान्के नाम हैं। परंतु जहाँ 'अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध' में अङ्गी (वृक्ष) की उपादेयता एवं महत्ता 'अङ्ग' (शाखाओं) की अपेक्षा अधिक है, वहाँ 'नाम-नामी-सम्बन्ध'में 'नाम' की अपेक्षा 'नामी' का महत्त्व उतना नहीं है।

सम्बन्धकी समता दोनोंमें समानरूपसे होनेपर भी धर्म, व्यवहार एवं प्रयोगके नाते दोनोंमें महदन्तर है। एकमें शाखाओं (अङ्ग) की अपेक्षा वृक्ष (अङ्गी) का अधिक महत्त्व है; किंतु दूसरे प्रकारके सम्बन्धमें स्वयं भगवान् (अङ्गी) की अपेक्षा उनके नाम (अङ्ग) की विशेष महत्ता है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने नाम-नामीका सम्बन्ध मानते हुए भी नामी (भगवान्) की अपेक्षा उनके नाम (राम) की विशेष महिमाका इस प्रकार गान किया है—

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥
× × ×
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥
× × ×
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें॥
× × ×
राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥
भंजेउ राम आपु भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू॥
दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥
(रामचरित० बाल०)

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥
(दोहावली ३२)

इतना ही नहीं, इसके आगे भी 'नाम-माहात्म्य'-विषयक अन्य बहुत-सी चौपाइयाँ रामचरितमानसमें यथाक्रम एवं यथास्थान प्राप्त होंगी, जिन्हें पढ़कर हम 'नाम-महिमा' का कुछ आभास प्राप्त कर सकते हैं। वैसे नामकी महिमा अपार है—न तो कोई उसका पार पा सकता है न उसकी बड़ाई ही गा सकता है।

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

जब नामकी महिमाका गान स्वयं नामी (राम) भी नहीं कर सकते, तब हम साधारण जीव नामकी महिमा कैसे गा सकते हैं। वास्तवमें हमें नामकी महिमा गानी भी नहीं है, हमें तो वास्तवमें नामका जप करना है; क्योंकि संसारमें सुखपूर्वक जीवन-यापन करनेके लिये नामका ही आश्रय एवं विश्वास है—

भरोसो नाम कौ भारी।
प्रेम सौं जिन नाम लीन्हौं, भए अधिकारी॥
ग्राह जब गजराज घेरयौ, बल गयौ हारी।
हारि कै जब टेरि दीन्ही, पहुँचे गिरिधारी॥
सुदामा दारिद्र भंजी, कूबरी तारी।
द्रौपदी को चीर बाढयो, दुसासन गारी॥
बिभीषन कौं लंक दीन्ही, रावनहिं मारी।
दास ध्रुव कौं अटल पद दियौ, राम दरबारी॥
सत्य भक्तहिं तारिबे कौं लीला बिस्तारी।
बेर मेरि क्यों ढील कीन्ही, सूर बलिहारी॥

जिस प्रकार भगवान् स्वयं भक्तिके वशीभूत होकर—

जात पाँत पूछ नहिं कोई। हरि का भजै सो हरि का होई॥

—के अनुसार ऊँच-नीचका विचार न करके उन्हें सद्गति प्रदान कर देते हैं, उसी प्रकार भगवान्का नाम जपनेसे नीच जातिके व्यक्ति भी सत्कारके पात्र बन गये। यथा—

राम नाम सुमिरत सुजस भाजन भए कुजाति।
कुतरुक सुरपुर राजमग लहत भुवन बिख्याति॥
(दोहावली १६)

जब नीच जातिके व्यक्ति, व्याध, खग, मृग, पशु-पक्षियोंतकका उद्धार नाम-जपसे हो जाता है, तब हम तो मनुष्यरूपमें साधन-पथके पंथी हैं। हमें तो और भी उत्साह एवं आशाके साथ नाम-जप करते रहना चाहिये। राम-नामके प्रतापसे ही हमें लौकिक एवं पारमार्थिक प्रकाश प्राप्त हो सकता है। कहा भी है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

और भी—

तुलसी जो सदा सुख चाहिय तौ रसनाँ निसि बासर राम रटौ॥

जिस मनुष्यने नामकी महिमाको समझ लिया है, जो 'नाम' की सत्यतामें विश्वास करता है, जो नित्यप्रति

राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, गोविन्द-गोविन्द आदि रटता रहता है, वह समस्त पुण्यों, तीर्थों एवं यज्ञोंके फलको प्राप्त कर लेता है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

भक्त प्रह्लादजी कहते हैं—

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कलौ वक्ष्यति प्रत्यहम्।
नित्यं यज्ञायुतं पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम्॥
(स्कन्द० द्वारका-मा० ३८। ४५)

यावन्ति भुवि तीर्थानि जम्बूद्वीपे तु सर्वदा।
तानि तीर्थानि तत्रैव विष्णोर्नामसहस्रकम्॥
(पद्म० उत्तर० ७२। ९)

'जहाँ विष्णुभगवान्‌के सहस्रनामका पाठ होता है, वहीं पृथ्वीपर जम्बूद्वीपके समस्त तीर्थ निवास करते हैं।'

और भी—

सर्वेषामेव यज्ञानां लक्षाणि च व्रतानि च।
तीर्थस्नानानि सर्वाणि तपांस्यनशनानि च॥
वेदपाठसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवः शतम्।
कृष्णनामजपस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(ब्रह्मवैवर्त)

'लाखों यज्ञ, समस्त व्रत, सम्पूर्ण तीर्थोंका स्नान, अनशनादि तप, सहस्रों वेद-पाठ, पृथ्वीकी सौ परिक्रमाएँ—ये सब कृष्ण-नाम-जपकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।'

अतः—

प्रीति प्रतीति सुरीति सों राम राम जपु राम।
तुलसी तेरो है भलो आदि मध्य परिनाम॥
(दोहावली ३१)

तुलसीदासजी कहते हैं कि 'तुम प्रेम, विश्वास और विधिके साथ राम-राम-राम जपो। इससे तुम्हारा आदि, मध्य और अन्त—तीनों ही कालोंमें कल्याण है।' बस, इतना ही—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(नारदमहापुराण, पूर्व० ४१। ११५)

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥
(स्कन्द० वैष्णव० मार्ग० २६)

"जो 'हे कृष्ण ! हे कृष्ण !! हे कृष्ण !!!' ऐसा कहकर मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है, उसे जिस प्रकार कमल जलको भेदकर ऊपर निकल आता है, उसी प्रकार मैं नरकसे निकाल लाता हूँ।"

राम भरोसो राम बल राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल माँगत तुलसीदास॥
(दोहावली ३८)

× × ×

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

श्रीहरिको संतुष्ट करनेवाले व्रत

देवर्षि नारद कहते हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता। एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥
एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्। इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्। अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते॥
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्। नाशौचं कीर्तने तस्य सदाशुद्धिविधायिनः॥
(पद्म० पा० ८४। ४६—४९)

'श्रीहरिको संतुष्ट करनेके लिये किये जानेवाले 'मानसव्रत' हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और कपट-हीनता। 'कायिक व्रत' हैं—एक समय भोजन, रात्रिमें भोजन, पूरा उपवास और बिना माँगे प्राप्त हुआ भोजन करना। 'वाचिक व्रत' हैं—स्वाध्याय, भगवान्‌का कीर्तन, सत्य-भाषण और चुगली आदिका त्याग। भगवान्‌के नामोंका सदा सर्वत्र कीर्तन करना चाहिये इनमें अशुद्धिकी बाधा नहीं है; क्योंकि नाम स्वयं ही शुद्धि करते हैं।'

प्रार्थनाका प्रयोजन

(लेखक—प्रो० फीरोज कावसजी दावर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

प्रार्थना आत्माके लिये उतनी ही स्वाभाविक होनी चाहिये, जितनी शरीरके लिये भूख और प्यास। निर्दिष्ट धार्मिक शब्द-समूहोंको मन्त्रवत् गुनगुना देनेका नाम प्रार्थना नहीं है। यह तो उस क्रियाका केवल बाह्य और व्यावहारिक आचरण है, जिसे करनेके लिये प्रकृतिका अनुरोध है और जो ससीमको असीमके साथ उसके सम्बन्धकी याद दिलाती है। यह क्रिया अवश्य ही क्षणिक होती है; क्योंकि प्रार्थनाकी समाप्तिपर हम फिर अपने पार्थिव प्रयोजनोंसे युक्त हो जाते हैं। किंतु एकाग्र ध्यान ही जिसका सार है, ऐसी सच्ची भक्तिके सीमित क्षणोंमें परमानन्दस्वरूपकी जो झलक प्राप्त होती है, वह अपने सांसारिक कर्तव्योंके आचरण-के लिये हमें नवीन उत्साहसे भर देती है।

कुब्धलयता और विभक्त उद्देश्यवाले आधुनिक जीवनके इस विलक्षण रोगमें प्रार्थना ही आत्माको आवश्यक शान्ति प्रदान करती है। जीवनके पापोंसे हम मलिन और दूषित हो रहे हैं। प्रार्थना ही जीवको वह मानसिक पवित्रता प्रदान करती है, जो दुष्कर्मजनित वैरूप्य तथा सदाचारके सौन्दर्यके भेदको परखती है। आकर्षणों तथा प्रलोभनोंसे घिरे रहनेके कारण हम दुर्बल हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें प्रार्थना ही हमें शक्ति और बल प्रदान करके इस योग्य बनाती है कि भगवान्‌के सिपाहियोंकी भाँति जीवनकी लड़ाईमें हम शैतान-की सेनासे लोहा लेकर आगे बढ़ सकें। जीवनके संशय, कठिनाइयों एवं भयसे हम तंग आ रहे हैं। ऐसी दशामें भगवान् ही हमारी चरम गति हैं और अपनी रक्षाके लिये उड़कर उनके पास जानेके लिये प्रार्थना ही हमारे पंख हैं। एक त्रिभुजमें आधारसे शिखरतककी प्रलम्ब रेखा ही सबसे छोटी होती है; इसी प्रकार कर्म और ज्ञान भगवान्-को प्राप्त करनेके लिये उत्तम मार्ग हैं अवश्य, किंतु परमात्माके पास नित्य पहुँचनेका तथा धरतीपर हमारे अपने निवासकाल-के लिये आवश्यक शान्ति, पवित्रता एवं शक्ति प्राप्त करनेका सबसे समीपका मार्ग है भक्ति।

मान लीजिये हम लोग दिनमें पाँच बार प्रार्थना करते हैं। प्रातःकालकी हमारी पहली प्रार्थना भगवान्‌के सामने ऐसी प्रतिज्ञाके रूपमें होनी चाहिये कि दिनभर हम विचार, वाणी और व्यवहारमें पवित्र रहेंगे। दूसरी प्रार्थना लेखा-जोखा करनेवालेकी भाँति होनी चाहिये, जो उसके पूर्व बीते हुए घंटोंमें हमारा आचरण कैसा हुआ है इसकी जाँच करे। यदि हमने अपने वचनका पालन किया है तो अगली प्रार्थना हमारे आत्माको शक्ति एवं उल्लास प्रदान करनेवाली होगी; किंतु यदि हम अपने मार्गमें फिसल गये हैं तो हमारी तीसरी प्रार्थना हृदयको मथ डालने-वाले पश्चात्तापसे भरी होगी और उसमें भरा होगा जीवनके रपटीले मार्गमें दुबारा भूल न करनेका निश्चय। रात्रिकी अन्तिम प्रार्थना हमको इस योग्य बनानेवाली होनी चाहिये कि हम दिनभरके अपने व्यापारोंका लेखा-जोखा कर सकें, भगवान्‌के प्रति उनके अनुग्रहोंके लिये कृतज्ञता प्रकाशित कर सकें। प्रलोभनोंका वीरतापूर्वक सामना करनेपर संतोष एवं अपनी भूलोंके लिये अनुताप प्रकट कर सकें तथा जीवनके संघर्षमें हमें अधिक सदाचारी एवं धैर्यवान् बनानेके लिये सर्वशक्तिमान्‌से याचना कर सकें। यहाँ जिस प्रार्थनाकी चर्चा की गयी है, वह सामान्य सद्गुणोंसे युक्त साधारण स्तरके काम-काजी मनुष्यके लिये है, न कि उन योगियोंके लिये, जिनका जीवन स्वयं एक दीर्घ प्रार्थना है, परमात्माके साथ अविच्छिन्न मिलन है। योगीकी तो स्थिति ही निराली है; वह ऐसा व्यक्ति है, जो कदाचित् अपने पूर्वजन्मोंमें अर्जित पुण्योंके फलस्वरूप भगवान्‌के द्वारपर पहुँच चुका है, जो अनन्तमें सदाके लिये विलीन हो जानेको तड़प रहा है और जो जलसे बाहर आ पड़ी मछलीकी भाँति सांसारिक पचड़ोंमें पड़कर बड़ी बेचैनीका अनुभव करता है।

यद्यपि प्रार्थनाका वाच्यार्थ है अनुनय और 'बंदगी' का अभिधेयार्थ है सेवा, तथापि प्रार्थना केवल अनुनय-विनय और सेवात्मक ही समाप्त नहीं हो जाती। भक्तकी प्रार्थना किसी प्रकारका अनुग्रह पानेके लिये नहीं, वरं स्वयं परमात्माके लिये होती है; भक्तकी सेवाका पर्यवसान कालमें नहीं, अनन्त भगवान्‌में होता है। यह सम्भव है कि कभी-कभी भगवान् प्रार्थनाओंको स्वीकार कर लेते हैं। किंतु भक्तिके सोपानमें स्वार्थ-कामनावाली प्रार्थनाएँ सबसे निम्न कोटिकी होती हैं। वे ऊटपटाँग भी होती हैं; क्योंकि जिनमें युद्ध ठना हुआ है, ऐसे दो राष्ट्रोंकी अपनी-अपनी सफलताके

लिये की गयी स्वार्थमयी प्रार्थनाको भगवान् स्पष्ट ही पूरी नहीं कर सकते। यदि एक व्यक्ति और वर्षाके लिये और उसका पड़ोसी खुली धूपके लिये प्रार्थना करता है तो भगवान् दोनोंको एक साथ नहीं प्रसन्न कर सकते। स्वार्थपूर्ण प्रार्थनाओंका भक्तकी हृदयाभिलाषाके अनुसार कभी उत्तर नहीं मिल सकता, चाहे वे कितनी भी उचित क्यों न हों। यदि किसी नगरके वैद्यगण धन एवं समृद्धिके लिये प्रार्थना करें तो उनकी न्यायसंगत, किंतु स्वार्थपूर्ण प्रार्थनाको पूरा करनेमें उन थोड़े-से व्यक्तियोंके लाभके लिये लाखोंको मृत्यु और विपत्तिके गालमें ले जानेवाली किसी महामारीको भेजना पड़ सकता है। अतएव सच्चे कर्मके समान प्रार्थना भी निष्काम होनी चाहिये।

भक्त जब अपनेको भक्तिके अन्तिम स्तरतक विनम्र और दीन बना लेता है, तब भी उसकी प्रार्थना याचनाका रूप नहीं लेती। प्रार्थना भगवान्के साथ सौदा भी नहीं है। अपनी निरन्तरकी प्रार्थना-पूजा तथा यज्ञादिके बदले भक्त भगवान्से किसी अनुग्रह-विशेषका दावा नहीं कर सकता। भगवान्से सौदा करना भक्तके लिये धृष्टता है; क्योंकि ससीम और असीम समान धरातलपर स्थित नहीं हैं। भक्तको घुटना टेके, सिर झुकाये तथा सम्मानकी मुद्रामें रहना चाहिये। वह न तो मोल-तोल कर सकता है, न विरोध कर सकता है और न आदेश कर सकता है। इसके अतिरिक्त अनुग्रहके लिये उसे भगवान्को तंग करनेकी भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् पहलेसे ही जानते रहते हैं कि भक्त क्या चाहता है तथा भविष्यमें क्या चाहेगा। धर्मरत व्यक्तिके लिये यह स्वाभाविक ही है कि कठिन परिस्थितियोंमें या जब उसका एकलौता पुत्र जन्म-मरणके झूलेमें झूल रहा हो, तब वह भगवान्से विपत्तिसे उबारनेके लिये प्रार्थना करे। किंतु उसकी प्रार्थना कितनी भी न्यायोचित एवं स्वाभाविक हो, वह है तो स्वार्थप्रेरित ही और फिर अनावश्यक भी है; क्योंकि भगवान् रेंगकर चलनेवाले कीड़ेकी भी आवश्यकताको जानते हैं तथा धार्मिक भक्तकी भी।

भगवान्के मङ्गल-विधानको सर्वथा स्वीकार कर लेना, भगवदिच्छाके साथ अपनी इच्छाको एकरूप कर देना ही सच्ची प्रार्थना है। 'तेरी इच्छा पूरी हो' यही प्रार्थनाका सर्वश्रेष्ठ रूप है; क्योंकि इसमें विनय, सम्मान और स्वार्थहीनताका पुट रहता ही है। पारसीधर्मकी प्रार्थना भी इसी प्रकारकी है—'इशोम्र अहुरामज्द' (बुद्धिमान् प्रभु प्रसन्न हों!) इस्लामधर्म भी कजा (प्रारब्ध) तथा तस्लीम (समर्पण) को प्रधानता देकर हमारी अन्तिम गतिको निर्मित करनेवाले भगवान्की इच्छाका निर्विरोध अनुवर्तन करनेकी स्मृति भक्तको दिलाता है। हिंदुओंकी प्रार्थनाका भी मूल-तत्त्व है—उन भगवान्के प्रति शरणागति अथवा 'प्रपत्ति', जिनसे ऊपर कोई अन्य सत्ता नहीं है और जो ज्ञान एवं सत्यके भण्डार हैं। इस प्रकारकी प्रार्थना, जो कि भागवत-धर्ममें लक्षित होती है, ऐकान्तिकी (अनन्य) भक्ति कहलाती है। किंतु यह पूछा जा सकता है कि आत्मनिर्भरताके इस ऊँचे स्तरपर पहुँच जानेपर मानवीय पुरुषार्थके लिये, जागतिक कर्तव्योंको करनेके लिये कोई प्रेरणा बच रहेगी क्या? शङ्का उचित है, किंतु उसका समाधान यह है कि भगवदनुगत भक्त पृथ्वीपर लोकहितके कर्मोंको उसी प्रकार करता रह सकता है, जैसे घड़ी टिक-टिक करती रहती है; वर उसके कर्म और भी अच्छे होंगे; क्योंकि अनन्तकी इच्छाका निरन्तर अनुगमन एवं उनसे सतत सम्पर्क भक्तके कामोंमें शक्ति, पवित्रता तथा शान्तिका संचार करके उनको भगवत्संस्पर्शके द्वारा पवित्र कर देगा।

यह कहा जाता है कि भलाईका पुरस्कार होना चाहिये नित्य बढ़ते हुए भले कर्मोंके करनेकी विकसित शक्ति। यदि कभी स्वार्थपूर्ण प्रार्थना करनी ही हो तो भक्तको अधिक गम्भीर सद्गुण, शुभाचरणके लिये और अधिक व्यापक क्षेत्र तथा उन्मुक्त एवं स्वार्थहीन उदारताके लिये अत्यधिक शक्ति प्राप्त करनेके निमित्त करनी चाहिये। स्वार्थपूर्ण प्रार्थनाकी स्वार्थपरताको यह भाव मिटा देगा। और जब अहंता एकदम क्षीण हो जाती है, तभी हृदय भगवान्का घर बनता है। अनाचार एवं मूढ़ताके द्वारसे आया हुआ वैभव तथा शक्ति आत्माको नीचे पटक देते हैं, उसे पापपङ्कमें घसीट ले जाते हैं। सच्ची प्रार्थनामें एक पैसा भी खर्च नहीं होता। वह बिना चिन्ता या क्लेशके सुलभ है और आत्माको सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त कर देती है। वह उसे ऊपर उठाती है ताकि वह जीवनके अन्तिम ध्येय, मानव-जीवनके सर्वस्वसे (भगवान्से) सम्पर्क प्राप्त कर सके।

सामूहिक प्रार्थनाकी आवश्यकता और भारतका उत्थान

(लेखक—श्रीभगवत् धर्मनाथ सहाय, बी०ए०, बी० एल्०)

प्रार्थना अनेक प्रकारकी होती है। पर उसके दो मुख्य प्रकार हैं—एक व्यक्तिगत प्रार्थना और दूसरी सामूहिक प्रार्थना; अथवा एक भगवान्‌से कुछ माँगनेकी प्रार्थना और दूसरी भगवान्‌से केवल भगवान्‌के लिये, भगवत्प्रेमके लिये प्रार्थना। इस अन्तिम श्रेणीकी प्रार्थनामें न माँगना है न जाचना है; बल्कि अनेक भावोंद्वारा प्रभुको अपनाना है, उनके पुनीत चरणोंमें अपने शरीर, मन और आत्माको समर्पित करना है। बस, उन्हींमें रमण करना, उन्हींमें अनुरक्त रहना, उन्हींके प्रेमका रसास्वादन करना, अपने समस्त जीवन-व्यापारको उन्हींमें केन्द्रित कर रखना, कभी पूजा-पाठ, स्तुति-गान करना, कभी धन्यवाद देते हुए कृतज्ञतापूर्वक नाम-स्मरण करना, कभी हरि-नाम-यश-संकीर्तन करना, कभी हृदयका सरल सच्चा निष्कपट उद्गार उनके सामने रखना, कभी केवल अश्रुओंद्वारा ही उनको रिझाना, समस्त चराचर जगत्‌को उन्हींका व्यक्त रूप समझकर उसकी सेवा करना—यही इस प्रार्थनाका क्रम है। इसीको आराधना भी कहते हैं और इसीका दूसरा नाम उपासना है। प्रार्थना चाहे व्यक्तिगत हो चाहे सामूहिक, चाहे किसी लौकिक वस्तु या सुखकी प्राप्तिके लिये हो चाहे 'निष्केवल प्रेम'के लिये, भगवान्‌का अनुसंधान परम आवश्यक है। भगवान्‌का अनुसंधान जितना ही प्रबल होगा, हमारी प्रार्थना उतनी ही बलवती होगी। मनुष्यमात्रके लिये व्यक्तिगत प्रार्थना उतनी ही आवश्यक है जितनी किसी देश, समाज और राष्ट्रके लिये सामूहिक प्रार्थना। बल्कि सामूहिक प्रार्थनामें सम्मिलित होनेके पूर्व सबके लिये व्यक्तिगत प्रार्थना करना आवश्यक है; क्योंकि इससे सामूहिक प्रार्थनामें बल मिलता है और शक्ति उत्पन्न होती है।

व्यक्तिगत प्रार्थनामें हम केवल अपनी श्रद्धा, प्रेम, भक्ति और प्रपत्तिके बलपर भगवान्‌का अनुसंधान करते हैं। किंतु सामूहिक प्रार्थनामें एकके अतिरिक्त अनेकोंके बल और अनुभवका लाभ हमें प्राप्त होता है, जिससे सामूहिक शक्ति प्राप्त होती है और भक्ति-भाव—प्रेमभावका एक अनोखा उल्लास उमड़ पड़ता है, जो जन-समुदायके हितचिन्तन, एकीकरण और संगठनमें जादूका-सा काम करता है। व्यक्तिगत प्रार्थना निर्जन एकान्त स्थानकी चीज है। इसमें तल्लीनता, एकाग्रता और शान्तिकी आवश्यकता है। जबतक मन स्थिर नहीं, चित्त इधर-उधर जानेसे रुकता नहीं, भगवान्‌का ध्यान हृदयमें जमता नहीं, सच्चा भाव भगवान्‌के प्रति होता नहीं, आतुरता और विह्वलता नहीं, सच्चा और साफ दिल नहीं, आर्त्त और दुःखी चित्त नहीं, प्रणयपूर्वक भगवान्‌का अनुसंधान नहीं, सच्ची श्रद्धा, प्रेम और लगन नहीं, तबतक हमारी प्रार्थनामें बल नहीं आता और व्यक्तिगत प्रार्थना बिना इनके पूरी फलदायक नहीं होती। निरन्तर एकान्त स्थान प्रियतम प्रभुमें दिल लगानेके लिये, अपने हृदयका भाव उनसे प्रकट करनेके लिये बहुत आवश्यक है। अकेलेमें लज्जा-संकोचको स्थान नहीं। दिल खोलकर प्रियतम प्रभुसे बातें की जा सकती हैं, अपनी दीनता, तन्मयता, आत्मनिवेदनका परिचय भली-भाँति अधिक स्वतन्त्रता और प्रेमके साथ दिया जा सकता है, जो जनसमूहके सामने सम्भव नहीं।

> प्रिय सन कौन दुराव, परदा काहू भाँतिसे।
> जानत भाव कुभाव, सबके उर अंतर बसत॥

यदि चित्त, मानस, हृदय, वचन, कर्म प्रियतम प्रभुसे इस प्रकार जा मिले हों, निकम्मा सोच-विचार, फिक्र अथवा निष्फल मनन या अमनन न हो और मनमें सिवा प्रभुके और किसी वस्तुके रहनेकी जगह न हो तथा यदि प्रार्थना सरलता और आर्त्ततापूर्वक दिल खोलकर की जाय तो कोई ऐसा कार्य नहीं जो सिद्ध न हो सके। ऐसी व्यक्तिगत प्रार्थना अपने लिये भी की जा सकती है और दूसरेके लिये भी। अपनी अपेक्षा दूसरेके लिये प्रार्थना करना और भी अच्छा है और ऐसी प्रार्थना बहुत जल्द सुनी जाती है; क्योंकि उसमें स्वार्थका लेशमात्र भी नहीं होता। दूसरोंको दुःखी देखकर दुःखी होना, उनका कल्याण चाहना, उनके लौकिक-पारलौकिक सुखके लिये, उनको समुन्नत, पवित्र, सदाचारी बनानेके लिये, भगवान्‌के प्रति उनका अनुराग बढ़ानेके लिये प्रभुसे विनय करना अतिशय उपकारी और उपयोगी है और ऐसी प्रार्थनाका उत्तर शीघ्र मिलता है। श्रद्धावान्‌का ही भाव भगवान्‌को वशमें कर सकता है—'सँवलिया भावके भूखे'।

> भाव वस्य भगवान, सुख निधान करुना भवन।

दूसरोंके लिये प्रार्थना करनेवालेपर भगवान्‌की कृपा विशेष होती है और उसकी सब कामनाओंकी पूर्ति बिना माँगे ही होती है।

यह अनुभवसिद्ध और सिद्धान्तसिद्ध है कि मनुष्य जो कुछ भी सोचता है, उसके वे भाव नष्ट नहीं होते, अव्यक्तरूपसे आकाशमण्डलमें व्याप्त हो जाते हैं और वे ही व्यक्तरूपसे वाणीद्वारा उच्चरित होते हैं एवं क्रियाओंद्वारा कार्यरूपमें मूर्तिमान् होकर प्रकट होते हैं। यदि ऐसे शुद्ध सात्त्विक कल्याणकारी भाव सात्त्विक, सदाचारी, पुण्यवान् व्यक्ति तथा बहुसंख्यक महापुरुषों, व्यक्तियों और समुदायके शुद्ध अन्तःकरणसे उठते हैं तो उनके वे भाव और भी प्रबल और शक्तिशालीरूपसे वायुमण्डलमें व्याप्त हो जाते हैं। ऐसे भावोंके सम्मिश्रणसे एक प्रबल विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे जगत्का उपकार तथा कल्याण होता है। अल्पसंस्कारी जीव भी ऐसे वातावरणके प्रभावसे प्रभावित हो उठते हैं, वायुमण्डलसे उन भावोंको खींच लेते हैं और सुख, शान्ति और आनन्दका अनुभव करते हैं। महापुरुष और जीवन्मुक्त महात्मा ऐसे कल्याणकारी विचारोंको अपनी व्यक्तिगत प्रार्थनाद्वारा जगत्के उपकारार्थ छोड़ते रहते हैं, जिससे समाज एवं देशका ही नहीं बल्कि विश्वभरका कल्याण होता है। यही कारण है कि एकान्तवासी महात्मा दूर रहते हुए भी अपनी शुभकामनाओं, हितचिन्तन तथा शुभविचारोंद्वारा समाज, देश, राष्ट्र और विश्वभरका कल्याण करते हैं। हमारे महापुरुषोंकी जो व्यक्तिगत प्रार्थनाएँ होती थीं, वे सामूहिक कल्याण, हितचिन्तन, परोपकारके भावसे ही प्रेरित रहती थीं। हमारे धर्म-ग्रन्थोंमें ऐसी अनेक प्रार्थनाएँ मिलती हैं, जो प्राणिमात्रको स्वच्छ—निर्मल बनानेकी शुभ आकाङ्क्षा, सम्पूर्ण समाजको सुखी बनानेकी इच्छासे की गयी हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सुखमवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सब प्राणी कल्याणका दर्शन करें, दुःखका भाग किसीको न मिले, सब प्राणी सङ्कटोंसे तर जायँ, सब कल्याणका दर्शन करें, सब सुख प्राप्त करें, सब सर्वत्र आनन्द मनायें।'

बहु देयं च नोऽस्तु अतिथींश्च लभेमहि।
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कंचन॥
(शुक्ल यजुर्वेद)

'हमारे पास देनेके लिये प्रचुर सामग्री हो, हम सदा बहुत-से अतिथियोंकी सेवाका अवसर पाते रहें, हमारे पास माँगनेवाले आयें—किंतु हम कहीं न माँगें।'

हमारे सर्वप्रधान गायत्री-मन्त्रमें सद्बुद्धि और सत्प्रेरणाके लिये जो प्रार्थना की गयी है, उसमें भी हम सामूहिक दृष्टि ही रखते हैं—हम सभीकी सद्बुद्धि और सत्प्रेरणाके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं, न केवल अपने लिये। इस प्रकारकी जनहितकारी व्यक्तिगत प्रार्थनाद्वारा दूषित मनुष्योंकी मनोवृत्तियाँ सहजमें बदली जा सकती हैं, उनको धर्मवान्, भक्तिमान् और चरित्रवान् बनाया जा सकता है, जो अन्य दूसरे साधनोंसे सहजमें सम्भव नहीं। और यदि व्यक्तिगत प्रार्थनाके साथ-साथ सामूहिक प्रार्थना भी चलती रहे तो वह और भी आश्चर्यजनक और अद्भुत चमत्कार दिखलाती है।

जब दो-चार भक्त या जनसमूह किसी देव-मन्दिर, प्रार्थना-भवन या किसी अन्य निर्दिष्ट स्थानपर सम्मिलित होकर एक मण्डली बनाकर एक साथ स्तुतिगान करते हैं या भक्तिभावसे उस दीनदयालु प्रभुका नाम-यशोगान, वन्दना, बंदगी—प्रार्थना करते हैं, तब इसे सामूहिक या सामुदायिक प्रार्थना कहते हैं। ऐसी सामूहिक प्रार्थनाकी शक्ति विलक्षण होती है। सामूहिक प्रार्थनामें सामूहिक तत्त्व निर्दिष्ट रहते हैं। इसमें केवल भक्तिभावका प्रादुर्भाव ही नहीं होता बल्कि सामूहिक तत्त्व, सामूहिक शक्ति, सामूहिक जीवन, सामूहिक सम्बन्ध और सामूहिक भावकी प्रबल तरङ्गें अपने-आप विकसित और तरङ्गित होने लगती हैं, जो सारे वायुमण्डलको इन भावोंसे ओत-प्रोत कर देती हैं। ऐसे शुद्ध वातावरणके प्रभावसे भेदभाव, दुर्वासनाओंके भाव और नास्तिकताके भाव जड़मूलसे नष्ट हो जाया करते हैं और उनके स्थानमें समभाव, भ्रातृभाव, प्रेमभाव, एकताके भाव और आस्तिकताके भावका उदय होता है, जिसके द्वारा जन-समाजका एकमन हो जाना, एकरूपता लाभ करना, एक मार्गानुगामी बन जाना, [illegible] करना एक स्वाभाविक बात हो जाती है। सम्मिलितरूपसे प्रार्थना करनेकी प्रथा सभी धर्मों और समाजोंमें प्रचलित है। हमारे यहाँ देवमन्दिरोंमें हर समय भोग-आरतीके उपलक्ष्य ऐसी सामुदायिक प्रार्थनाका नियम है। मुसल्मान और ईसाई भाई अपनी-अपनी प्रार्थनाके समयपर और खासकर शुक्रवार और रविवारको एकत्र होकर मस्जिद और गिरजेमें अपने इष्टदेवकी बंदगी किया करते हैं। ऐसी सामुदायिक प्रार्थनासे बहुत लाभ होता है, एकको दूसरेसे मदद मिलती है, आपसमें प्रेम होता है, किसीके प्रति द्वेषभाव नहीं रहता, मन, वचन, कर्मसे दूसरोंको सहारा पहुँचानेकी आदत पड़ जाती है। द्वेष, अहङ्कार और अभिमानका नाश होता है। वैर-विरोध जाता रहता है और सबके हृदयमें शान्ति, सबका

कल्याण करनेकी भावना उत्पन्न होती है। इसमें अपनी, समाजकी और राष्ट्रकी—तीनोंकी उन्नति होती है और सात्त्विकता बढ़ती है। सामूहिक प्रार्थनामें एक और विशेषता यह है कि प्रार्थनाके समय भगवान्‌की स्वयं उपस्थितिका अनुभव जीव करता है। भगवान्‌के श्रीमुखका वचन है—

> नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
> मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥
> (पद्म० उ० ९४। २३)

'नारद! मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता और न योगियोंके हृदयमें मेरा वास है। मेरे भक्तजन जहाँ मिलकर मेरा गान करते हैं, वहीं मैं निवास करता हूँ।'

मिलकर समुदायमें एक साथ भगवान्‌का नाम-गुण-यश-कीर्तन करनेसे, उनका गुणगान करनेसे, स्तुति-प्रार्थना करनेसे भगवान्‌में प्रेम उत्पन्न होता है, सुननेवालोंकी भी भगवान्‌की ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसे समारोहमें एक-दो प्रमुख भावनावाले व्यक्तियोंकी उपस्थिति आवश्यक होती है, जिसके प्रभावसे सारी मण्डली प्रभावित हो जाती है और भगवत्-प्रेमकी उत्ताल तरङ्गें अपने-आप उमँडने लग जाती हैं। सब भावमें डूब जाते हैं, एकको दूसरेके भावोंसे मदद मिलती है, केवल प्रार्थनामें सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियोंकी ही सहायता प्राप्त नहीं होती बल्कि भूतकालके अनेक साधु-संतों और जीवन्मुक्त महात्माओंकी सहायता मिलती है। ऐसे पवित्र स्थलपर निस्संदेह दिव्य आत्माओंका प्रेम-जीवन उतरता है और पूर्ण प्रेमभक्ति और शान्तिका स्रोत प्रवाहित होने लगता है। सारे देवता, पितर, गन्धर्व, तीर्थ, ऋषि-महर्षि, सिद्ध वहाँ आ विराजते हैं, आनन्दित होते हैं और हर्ष तथा शान्तिसे भरा हुआ आशीर्वाद दे जाते हैं। सामुदायिक प्रार्थनाकी प्रथाको हम आज भूल बैठे हैं और इसीसे हमलोगोंमें मेल, जातीय संगठन, पारस्परिक सद्भाव, प्रेम और समताका अभाव है। हमलोगोंको इन गुणोंको अपनाना चाहिये। एक ही निर्दिष्ट समयपर सबको मिलकर हर रोज या हफ्तेमें कम-से-कम एक बार किसी नियत स्थानपर समष्टिरूपसे कीर्तन करना, भगवान्‌का नाम-यश-गान करना, गुणानुवाद गाना, धन्यवाद देना अवश्य चाहिये। कुछ दिनोंसे श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज, श्रीशुकदेवजी महाराज, श्रीस्वामी शरणानन्दजी तथा अन्य दूसरे-दूसरे महात्मा और धर्मसंघ, प्रार्थना-समिति इत्यादि अनेक संस्थाएँ सामूहिक प्रार्थनाके महत्त्व और उपयोगिताको समझाते हुए देशके कोने-कोनेमें इसका प्रचार कर रहे हैं। यह बहुत ही

सराहनीय और देशके लिये बहुत हितकर और
कार्य है।

किसी देशको समुन्नत, सुसम्पन्न, सुखमय
तथा शक्तिशाली बनानेके लिये आवश्यक है
जनताका नैतिक स्तर बहुत ऊँचा हो, सबकी
एक हो जायँ, सब एक ही पथका अनुसरण
जायँ, सब दुःख-क्लेश, विघ्न-बाधा, वैर-विरो
संघशक्ति उत्पन्न करें। और यह तभी सम्भव
एक ही सूत्रमें बँध जायँ, ईश्वर और धर्मका डर
अपने-अपने धर्मके अनुकूल ही आचरण करें, कि
प्रति दुर्भावना न रखें और सम्मिलितरूपसे ह
कीर्तन और प्रार्थना किया करें। सभी विरोधी ध
सूत्रमें बाँध रखनेकी क्षमता केवल हरिनाम-यश
रखता है; क्योंकि इसमें कोई मतभेद नहीं है।
सरकार धर्मनिरपेक्ष राज्य होनेके कारण धर्मसे
रहती है और यहाँकी जनता, कर्मचारी, नेता औ
विदेशी शिक्षा एवं सभ्यताके प्रभावसे ईश्वर औ
उन्नतिमें बाधक समझते हैं, बल्कि कुछ अज्ञानव
मूर्खता और पाखण्ड कहते हैं। इसी कारण
वातावरणके प्रभावसे यहाँ धर्मका ह्रास, असत्य,
पक्षपात, चोरी, चोरबाजारी, रिश्वत, बेईमानीका
है। जो लोग अहिंसा, त्याग, बलिदान, निष्का
परोपकारके पथपर अग्रसर थे, आज वे भी अ
स्वार्थपरायण, अधिकारलिप्सु और धर्मभ्रष्ट हुए
रहे हैं। यश, मान-प्रतिष्ठा, ठाट-बाट, ध
उपार्जनके फेरमें धर्म, नीति, मर्यादा त्यागकर मि
हार कर रहे हैं। न ईश्वरका डर है न ध
राजदण्डका न लोकलाजका। इसका मूल कारण
है—ईश्वर और धर्ममें अविश्वास; और इससे बचने
एक ही उपाय है—महात्मा गाँधीके पथका अनुसर
राम-नाममें विश्वास और सामूहिक कीर्तन और सामूहि
जन-समाजको सचमुच शुद्ध, सात्त्विक, सदाचारी,
शक्तिमान्, निःस्वार्थी, सच्चा भक्त और सच्चा
बनाना हो तो हमें सामूहिक कीर्तन, सामूहिक
शरण लेनी होगी। इससे बुद्धि निर्मल होगी औ
बुद्धिसे हमारे व्यावहारिक कार्य भी शुद्ध, सात्त्विक,
हितकर और सुखप्रद होंगे। यदि आप चाहते
देशकी काया पलट जाय, देश सब प्रकारसे सु

भगवन्नामकी महिमा

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥ (श्रीमद्भा० ६ । ३ । २०)

सम्पन्न रहे, अत्याचार-अनाचार, दुराचार-दुष्टाचार, पापाचार-भ्रष्टाचार—सब नष्ट हो जायँ, नैतिकताका विकास हो और यहाँके सम्पूर्ण निवासी सुखमय, आनन्दमय, शान्तिमय जीवन-यापन करें तो हमें चाहिये कि महात्माजीकी प्रार्थनाके बाहरी क्रियात्मक कार्यके साथ-साथ उसके वास्तविक स्वरूपको भी ग्रहण करें—हम सदा-सर्वदा भगवान्‌के सांनिध्यका अनुभव करते हुए सब व्यावहारिक कार्य उन्हींके निमित्त, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी प्रेरणासे करें। हमारे विचार, हमारी इच्छाएँ, हमारी सब क्रियाएँ भगवत्-सेवाका रूप धारण कर लें अर्थात् जीवनके समस्त व्यापार प्रार्थनामय हो जायँ। खेदकी बात है कि आज हमलोग महात्माजीके आदेशको भूल बैठे हैं, उनके आदेशानुसार, कथनानुसार नहीं चल रहे हैं। यही कारण है कि देशमें सर्वत्र असंतोष फैला हुआ है और देशका अधःपतन दिन-पर-दिन होता जा रहा है। महात्माजी प्रार्थनाकी आवश्यकता, उपयोगिता और महत्त्वको भली प्रकार जानते थे और यह समझते थे कि राज्यमद, अधिकारमदके कारण धर्मबुद्धिका लोप और नैतिकताका विनाश होना बहुत सम्भव है। अतएव उन्होंने अपने अनुयायियोंके लिये सम्मिलित प्रार्थनाका कठोर नियम बना रखा था। स्वयं भी नित्य नियमित रूपसे प्रार्थना करते थे, सामूहिक प्रार्थनामें सम्मिलित होते थे और सबको प्रार्थनाके पाशमें बाँध रखना चाहते थे, जिससे सबके हृदयमें ईश्वर-निष्ठा, नाम-निष्ठा और धर्मनिष्ठा जम जाय, जो सब प्रकारकी शक्तिका उद्गमस्थान और सफलताकी कुंजी है। उनका विश्वास था कि हृदयसे की जानेवाली प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती, अपनेको अवश्य स्वच्छ बनाती है, आसुरी वृत्तिको दैवीमें परिवर्तित कर देती है और सुख-शान्ति प्रदान करती है। केवल इस एक बातको सिद्ध कर लेनेसे सब अभीष्ट सिद्ध और सब तरहकी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। प्रार्थनापर उनका विचार उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

'मैं स्वयं अपने और अपने कुछ साथियोंके अनुभवसे कहता हूँ कि जिसे प्रार्थना हृदयगत है, वह कई दिनोंतक बिना खाये रह सकता है पर प्रार्थना बिना नहीं रह सकता। इस जगत्‌में हम सेवा करनेके लिये पैदा किये गये हैं, सेवाके ही काम करना चाहते हैं। यदि हम जागरूक रहेंगे तो हमारे काम दैवी होंगे, राक्षसी नहीं। मनुष्यका धर्म राक्षसी बनना नहीं है, दैवी बनना है। परंतु प्रार्थनाहीन मनुष्यके काम आसुरी होंगे, उसका व्यवहार अशुद्ध होगा, अप्रामाणिक होगा। एकका व्यवहार अपनेको और सबको सुखी बनानेवाला होगा, दूसरेका अपनेको और जगत्‌को दुःखी बनानेवाला। परलोककी बात तो जाने दें, इस लोकके लिये भी प्रार्थना सुख और शान्ति देनेवाला साधन है। अतएव यदि हमें मनुष्य बनना है तो हमें चाहिये कि हम जीवनको प्रार्थनाद्वारा रसमय और सार्थक बना डालें। इसलिये मैं आपको यह सलाह दूँगा कि आप प्रार्थनासे भूतकी तरह चिपटे रहें। यह न पूछिये कि प्रार्थना किस तरहसे की जाय। केवल राम-नाम बोलकर भी प्रार्थना की जा सकती है। प्रार्थनाकी रीति चाहे जो हो, मतलब भगवान्‌का ध्यान करनेसे है।'

राम-नामकी महिमाके विषयमें उनका अनुभव इस प्रकार है—

'मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं संसारमें व्यभिचारी होनेसे बचा हूँ तो राम-नामकी बदौलत। जब-जब मुझपर विकट प्रसङ्ग आये हैं, मैंने राम-नाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटोंसे राम-नामने मेरी रक्षा की है। ... करोड़ों हृदयोंका अनुसंधान करने और उनमें ऐक्यभाव पैदा करनेके लिये एक साथ राम-नामकी धुन जैसा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है।'

यदि हम महात्माजीके सच्चे अनुयायी और सच्चे भक्त हैं और चाहते हैं कि इस देशकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे, इसके नैतिक अधःपतनका अन्त हो जाय, इसमें वास्तविक रामराज्यकी स्थापना हो, कोई भी दुःखी न रहे, सब स्नेहपूर्वक एक दूसरेके हित और सुखवर्धनमें निरत रहें, देश सब प्रकारसे सुखी एवं समृद्धिशाली बने, संसारमें विश्वशान्ति, विश्वप्रेम और विश्व-बन्धुत्वकी स्थापना हो तो हमें चाहिये कि हम महात्माजीके पदचिह्नोंका अनुसरण करें, उनके आदेशोंका पालन करें, राम-नाममें पूरी श्रद्धा, प्रेम और भक्ति उत्पन्न करें और सामूहिक प्रार्थना और सामूहिक हरिकीर्तनकी प्रथा प्रचलित कर जन-समाजमें नवजीवन, नवीन शक्ति और नये उत्साहका संचार करें। कलियुगमें सम्मिलित प्रार्थना और सम्मिलित हरिकीर्तनका बहुत माहात्म्य है—'संघे शक्तिः कलौ युगे।' इस युगमें भगवत्प्राप्ति तथा सब प्रकारकी इच्छाओंकी पूर्तिका इससे कोई सुगम और सरल साधन भी नहीं है। अन्य युगोंमें जो फल घोर तपस्या,

योग-समाधि आदिसे प्राप्त होते हैं, वे कलियुगमें केवल भगवन्नामकीर्तनसे ही प्राप्त हो जाते हैं—

> तत्फलं नास्ति तपसा न योगेन न समाधिना ।
> तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात् ॥
>
> कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
> जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ॥
>
> कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना । एक अधार राम गुन गाना ॥
> राम नाम कलि अभिमत दाता । हित परलोक लोक पितु माता ॥
>
> हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

अतएव सबके लिये उचित है कि नित्य-निरन्तर श्रीहरि-नाम-यश-संकीर्तन और प्रार्थनाका सतत स्वयं अभ्यास करें और नित्य-नियमितरूपसे जगह-जगह एक ही निर्दिष्ट समयपर सब मिलकर समष्टिरूपसे सामूहिक हरि-संकीर्तन और सामूहिक प्रार्थनाकी सुमधुर और पवित्र ध्वनियोंसे सारे आकाशमण्डलको प्रतिध्वनित कर दें और इस सर्वोत्तम प्रथाका प्रचार और प्रसार ऐसे भाव और चावके साथ करें कि यह हमारे वैयक्तिक, सामाजिक, सामूहिक और राष्ट्रिय जीवनका एक अनिवार्य अङ्ग बन जाय ।

प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी गुप्त, एम्० ए०, एल्० टी०)

आजकल प्रार्थनाको बहुत-से लोग गलत समझ रहे हैं । विशेषकर बीसवीं शताब्दीके युवकोंकी सुशिक्षित दृष्टिमें प्रार्थना एक ढकोसला, एक विडम्बना, खाने-कमाने, ठगने-ठगानेका एक धंधा है । कुछ अन्य लोग समझते हैं कि प्रार्थना करके हम बच्चोंकी तरह मीठी-मीठी बातोंसे परमेश्वरको फुसलाना चाहते हैं । यह भी ठीक नहीं । सच्ची बात तो यह है कि प्रार्थना मनका मोदक नहीं है । जो व्यक्ति बिना परिश्रमके मुफ्तका माल उड़ानेकी फिक्रमें रहते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वर किसीके गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने या भीख माँगनेकी ओर ध्यान नहीं देता । सच्ची आन्तरिक प्रार्थना श्रद्धा, शरणागति तथा आत्मसमर्पणका रूपान्तर है । महात्मा तुकाराम, महाप्रभु चैतन्य, स्वामी रामदास, मीराँबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि भक्त-संतों एवं महात्माओंकी प्रार्थनाएँ जगत्प्रसिद्ध हैं ।

अंग्रेज कवि टेनीसनने भी कहा है कि बिना प्रार्थना मनुष्यका जीवन पशु-पक्षियों-जैसा निर्बोध है । प्रार्थना-जैसी महाशक्तिसे काम न लेकर और अपनी थोथी शानमें रहकर सचमुच हम बड़ी मूर्खता करते हैं । वास्तवमें प्रार्थना तो परमेश्वरसे वार्तालाप करनेकी एक आध्यात्मिक प्रणाली है । जिस महाशक्तिसे यह अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न है तथा लालित-पालित हो रहा है, उससे सम्बन्ध स्थापित करनेका सरल एवं सच्चा मार्ग हमारी आन्तरिक प्रार्थना ही है । भक्त परमानन्दस्वरूप परमात्मासे प्रार्थनाके सुकोमल तारोंद्वारा ही सम्बन्ध जोड़ता है ।

प्रार्थना केवल प्रार्थना-मन्दिरतक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि कहीं भी और किसी भी समय की जा सकती है । वह जितनी ही सरल, सच्ची और आन्तरिक होगी, भगवान्‌के हृदयको उतना ही द्रवित कर सकेगी । जिसने प्रार्थनाके रहस्यको समझ लिया है, वह बिना प्रार्थनाके रह ही नहीं सकता । एक तत्त्वदर्शीका कथन है कि 'प्रार्थना मनुष्यके मनकी समस्त विशृङ्खलित एवं अनेक दिशाओंमें भटकनेवाली वृत्तियोंको एक केन्द्रपर एकाग्र करनेवाले मानसिक व्यायामका नाम है ।' विकृत मन प्रार्थनासे सुसंचालित होकर आत्मिक आनन्द प्राप्त करता है । इससे समस्त कष्ट और व्याधियाँ दूर होती हैं और मनमें ईश्वरीय शक्तिका आभास सञ्चरित होता है ।

अब हमें देखना है कि प्रार्थनाकी इस अद्भुत शक्तिका मनोवैज्ञानिक आधार तथा रहस्य क्या है । मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि प्रार्थना अव्यक्त मनसे उठी हुई एक चेतना है । मनुष्यके चेतन मनसे परे उसका गुप्त अथवा अचेतन मन भी है । यह अज्ञात चेतना परम लीलामयी है । उसमें एक-से-एक आश्चर्यजनक सामर्थ्योंका भण्डार है ।

हमारी एकाग्र मनसे की हुई प्रार्थना ध्यानको चेतन मनकी ओरसे गुप्त मनकी ओर आकर्षित कर देती है । बुद्धि, सद्भाव, आन्तरिक सामर्थ्य तथा आन्तरिक शक्तिका केन्द्र यही गुप्त मन है । गुप्त मनके सम्मुख चेतन मनकी कोई गणना नहीं हो सकती । यह सदैव दिन-रात निर्विघ्न रूपसे कार्य करता रहता है, किंतु रात्रिमें निद्राके समय गुप्त मनका कार्य और भी तीव्र गतिसे सम्पन्न होता है ।

तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो अनन्त शक्ति मनुष्यके इसी गुह्य मनमें है। निर्बल-से-निर्बल मनुष्यकी शक्तिका भी वास्तविक केन्द्र गुह्य मन ही है। शक्ति, प्रवाह, प्रेरणा, बल उसीमें भरा है। वही शान्ति, सुख और आनन्दका संचालक है। वही हमारा रक्षक या भक्षक है। प्रत्येक चेतन भावना इस अचेतन मनमें पदार्पणकर हमारे व्यक्तित्वकी एक स्थायी वृत्ति बनकर उसे प्रभावित करती रहती है। इस प्रकार वह मनुष्यके मानसिक एवं शारीरिक संगठन-कार्यमें समुचित भाग लेती है। यदि वह स्वास्थ्य, शक्ति, बल, सामर्थ्य, बुद्धि तथा अन्य किसी उत्कृष्ट भावसे सम्बन्धित हुई, तब तो हमें अंदरसे एक प्रकारका उत्कर्ष तथा साहस मिलता है और यदि इसके विपरीत भावनाएँ हुईं तो उनका प्रभाव भी निराशाजनक और हानिकारक ही होता है।

प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक आधार गुह्य मन ही है। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे प्रार्थना एक प्रकारका 'आत्म-संकेत' अथवा 'आत्म-सूचना' ही है। जीवनमें संकेत तथा सूचनाएँ हमें परिचालित करती हैं। उदाहरणार्थ, आप खिन्नमन होकर मार्गमें चले जा रहे हैं कि अकस्मात् किसी प्रफुल्लवदन मित्रसे आपकी भेंट हुई। उसकी मुस्कान तथा उसके उत्साह-वर्द्धक वचन आपपर बलप्रद औषधका कार्य करते हैं और आपकी निराशा विलीन हो जाती है। यह संकेत अथवा सूचनाका प्रभाव है। ऐसे ही एक विशेष प्रकारकी सूचनाएँ आपकी प्रार्थनाएँ भी हैं। आपकी अपनी ही भावनाएँ, अपने ही मुखसे उद्बोधित शब्दसमूह अचेतन अर्थात् गुह्य मनमें पहुँचकर मानसिक स्तरका एक भाग बन जाते हैं। जिन विचारोंका प्रभाव जितना ही शीघ्र गुह्य मनपर पहुँचाया जा सकता है, उतनी ही शीघ्र प्रार्थना फलवती होती है। प्रार्थना करते समय प्रकट मनकी अवस्था अचल एवं कुछ निष्क्रिय-सी होकर मन्द पड़ जाती है। अतः उस समय एकाग्रता होनेसे सूचनाओंका प्रवाह सीधा गुह्य मनमें प्रवेश कर जाता है। हमारे अन्तरकी अचेतन वृत्तियाँ उन सूचनाओंको ग्रहण कर लेती हैं, विरोधी भावनाएँ नहीं उठतीं। प्रार्थनाकी अवस्थामें शरीर ढीला पड़ जाता है और जितनी ही हमारी तन्मयता एवं विश्वास होता है, उतनी ही अधिक हमें अन्तरकी प्रवृत्तियोंतक पहुँचने तथा अपनी इष्ट भावनाके बीजारोपण-में सुगमता होती है। जितनी बार मनको शिथिलकर, नेत्र मूँदकर, सब विरोधी विचारोंको हटाकर हम प्रार्थनापर चित्तको एकाग्र करेंगे, उतनी ही बार परमात्माके प्रति प्रेम तथा संसर्गसे रोम-रोममें पवित्रताका संचार होगा। ऐसे ही दुःखी रोगी स्वास्थ्यकी प्रार्थना करके रोगमुक्त तथा स्वस्थ हो सकता है।

शब्दोंको रटनेसे तोतेकी तरह दुहरा जाना प्रार्थना नहीं। यह तो एक प्रकारका अभिनय है। प्रार्थना तो पूर्ण विश्वाससे सिञ्चित होनी चाहिये। विश्वास चमत्कार है। आपकी प्रार्थनाके शब्दोंमें जितनी श्रद्धा होगी, वह अन्तःकरणसे जितनी संयुक्त होगी, विरोधी भावनाओंकी जितनी उसमें कमी होगी, विश्वाससे वह जितनी सराबोर होगी, शक्तिमान् परमात्म सत्तासे उतना ही उसका तादात्म्य स्थापित हो सकेगा। अन्तरसे प्रेरित सच्ची प्रार्थना एक 'स्वसंकेत' अर्थात् (Auto-suggestion) की ऐसी पद्धति है, जिसमें हम स्वयं अपने गुह्य मनसे अपनी ही शक्तिका समन्वय कर पोषण देते हैं। ध्यान रहे कि हमारी प्रार्थना भावनामयी हो। इसीमें हमारा परम कल्याण है। हमें प्रार्थनामें कहना चाहिये—"हे परमेश्वर! आप तेजःपुञ्ज हैं, आप बुद्धिके भण्डार हैं, शक्तिके अथाह उदधि हैं। हमें भी तेजसे परिपूरित कीजिये, हमारे अंदर बुद्धि उँडेल दीजिये, शक्तिसे हमारा अङ्ग-अङ्ग भर दीजिये—तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। गद्गद स्वरसे कहिये—'अब देर न करो, दयामय! जीवन अल्प है। अपनी दिव्य ज्योतिसे इस अँधेरेमें नित्य प्रकाश फैला दो। हमें मनुष्यत्वके नाते अपने मन्दिरमें ले चलो और सदाके लिये वहीं स्नेहका दान देकर निहाल कर दो।'" इसी प्रकार प्रार्थनाके अन्य सुन्दर रूप हो सकते हैं। परंतु सावधान! प्रार्थनामें कोई निकृष्ट शब्द न रहे। निकृष्ट शब्द घातक शत्रु है। हमारी प्रार्थना जितनी सुन्दर श्रद्धा तथा विश्वाससे युक्त होगी, उतना ही सुन्दरतम कार्य करनेमें वह समर्थ होगी। इसी मनोवैज्ञानिक आधारपर गायत्रीमन्त्रको 'सर्वसिद्धियोंका दाता' तथा 'सर्वोत्तम गुरु मन्त्र' कहा गया है। देखिये इस आदर्श प्रार्थनाको—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

कितनी सुन्दर व भाव-गम्भीरतासे भरपूर है यह प्रार्थना! इसका अर्थ है कि 'हम उस सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, प्राणस्वरूप परमात्माको धारण करते हैं, जो हमारी बुद्धिको (सन्मार्गकी ओर) प्रेरणा देता है।'

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरमें आस्थावादी प्रार्थनाका आध्यात्मिक प्रयोग वास्तवमें अमृतोपम औषधि है। अतः हममेंसे प्रत्येकका कर्तव्य है कि विशुद्ध हृदयसे महान् प्रभुके अनन्त उपकारोंका आभार मानकर अपने तथा प्राणिमात्रके जीवनमें आनन्द तथा सुख-वृद्धिके लिये प्रार्थना करें। इस निर्मल विशुद्ध उपासनासे परमात्माका दिव्य स्पर्श हमारे आत्माको होगा। साथ ही समस्त मनस्ताप और क्लेश भस्मीभूत होंगे और नवजीवन, नवीन बल, परम शान्ति और सुखका प्रादुर्भाव होगा। यही प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक रहस्य है।

प्रार्थना—पूर्णताकी भावना

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

'प्रार्थना' शब्दका अर्थ माना जाता है—माँगना, याचना करना। प्रार्थना मानव-जीवनका एक सहज, स्वाभाविक और आवश्यक अङ्ग है। जबसे मनुष्य संसारमें आया, तभीसे वह प्रार्थना करता आया है। मनुष्य मेधावी होकर भी परिस्थिति-वश और प्रकृतिवश जीवनके व्यवहार-व्यापारकी समस्याओंको सुलझानेमें यदा-कदा अपनेको असमर्थ और अल्पज्ञ पाता है। तब वह अपनेसे बड़ी सत्ताके प्रति श्रद्धावनत होकर उनका हल ढूँढ़ता है, उसका हृदय किसी अपार अज्ञात सत्ताको पुकार उठता है; वही उसकी प्रार्थना है। मनुष्यके मन और हृदयके विकासके अनुसार उसकी प्रार्थनाका रूप बदलता है। प्रार्थनाका कोई निश्चित सूत्र नहीं है। सबकी प्रार्थना अपनी अलग विशेषता रखती है—किसीका बाह्य रूप प्रकट होता है, कोई अन्तर्मनमें ही प्रार्थना करते हैं। अपने-अपने निर्दिष्ट मतोंके अनुसार प्रायः सभी धार्मिक संस्थाएँ और परम्पराएँ प्रार्थना प्रधान हैं। प्रार्थना सीखनी नहीं पड़ती, उसके मन्त्र रटने नहीं पड़ते, वह कोई क्लिष्ट साधना नहीं है। प्रार्थना मनुष्यहृदयकी सहज स्वाभाविक भक्ति है, जो बालक भी करता है और उसका उत्तर पाता है।

आजकल विज्ञ साधकोंमें, विशेषकर पश्चिममें प्रार्थनाका रूप 'धन्यवाद' होकर बहुत व्यापकरूपमें चामत्कारिक ढंगसे सफल हो रहा है। कहा जाता है कि परमात्मा हमसे भिन्न नहीं है और हम दीन-हीन आश्रित नहीं हैं कि हमें परमात्मा-से कुछ माँगना, याचना करना, गिड़गिड़ाना पड़े। परमात्माने हमें सब शक्तियाँ दी हैं, संसार दिया है, हमें दिव्य जन्म दिया है, हम उसको स्वीकार करें, हम इन सबके लिये अपनेको धन्य मानें और ऐसे दिव्य सुन्दर आयोजनके लिये परमात्मा-को धन्यवाद दें।

हिंदू योग-साधना और नवधा भक्ति करते हैं, वैसे ही अन्यान्य धर्म भी प्रार्थना-प्रधान हैं। आजकल विश्व ईसाई-समाजमें प्रार्थनाका विशेष विकास हो रहा है और इस मनोनियमसे लोगोंको रोगनाश, दुःख-दर्द-निवारण आदि गम्भीर समस्याओंमें यदा-कदा तात्कालिक सफलताएँ मिलती हैं। योरप-अमेरिकामें दिन-रात, निःस्वार्थभावसे दूसरे लोगोंके दुःख-दर्द-दारिद्र्यके निवारण-हेतु प्रार्थना अर्थात् पूर्णता और धन्यवादकी भावना प्रेरित करनेवालोंकी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ हैं, जहाँ दुःख-दर्द-दारिद्र्यग्रस्त लोगोंके पत्र, तार, टेलीफोन और वायरलेससे संवाद आते हैं और उनके लिये प्रार्थनाएँ की जाती हैं। लाभ होनेपर अथवा पूर्व ही लोग उन्हें श्रद्धानुसार कुछ रकम भेज देते हैं। मासके अन्तमें इस प्रकार जमा हुई रकम-को लोग आपसमें बाँट लेते हैं। उनका धंधा एकमात्र दूसरोंके लिये प्रार्थना करना होता है। कितने ही लोग स्वतन्त्ररूपसे ऐसा करते हैं और इस प्रकार आत्मकल्याण एवं परोपकारमें लगे रहते हैं।

'यूनिटी'* नामकी ऐसी एक संस्था ली समिट, मिसूरी, संयुक्तराज्य अमेरिकामें है। इसका आरम्भ फिल्मोर-दम्पतिसे हुआ। अगस्त १८५४ में चार्ल्स फिल्मोरने अमेरिकामें जन्म लिया था। लड़कपनमें बरफपर खेल खेलनेमें उनको ऐसी बुरी चोट आयी कि उनका एक पाँव छोटा हो गया। यह उनके लिये एक बाधा थी। फिर भी जीवनमें अनेक प्रकारके काम साहसके साथ करते हुए अध्यात्ममें उनकी रुचि बढ़ती गयी। रोगी होनेपर इन दम्पतिने अनेक उपचार कराकर, हारकर परमात्माकी शरण ली। प्रार्थनाकी नवीन भावना उनके अंदर जागी। उससे उन्हें आशातीत लाभ हुआ और प्रेरणा पाकर उन्हों-ने पड़ोसियोंके सहयोगसे एक प्रार्थनामण्डल स्थापित किया। लोगों-को लाभ होनेके साथ उसका इतना विकास हुआ कि अब लगभग

* Unity, Lee's Summit, Missouri, U. S. A.

सत्तर वर्ष हो गये यह संस्था एक नगरके रूपमें है और इसमें कई सौ मनुष्य कार्य करते हैं। दो साप्ताहिक एवं छः मासिक पत्र निकलते हैं। दर्जनों आध्यात्मिक पुस्तकें भी वहाँसे निकली हैं, कई विभाग हैं। अध्यात्मक्षेत्र-विभाग देशमें, संसारमें केन्द्र-स्थापना और सञ्चालन करता है। कई सौ केन्द्र हैं। हजारों प्रचारक हैं। डाकद्वारा भी शिक्षा दी जाती है। हजारों शिष्य हैं। इनके पत्रोंके लाखों ग्राहक हैं। कई ट्रक भरकर रोज इनके यहाँसे दूर-दूर डाक जाती है। प्रत्येक पत्र प्रार्थनापूर्वक लिखा जाता है और डाकमें डाला जाता है। संस्थाका हरेक व्यक्ति हरेक काम शुभभावनाकी प्रार्थनापूर्वक करता है। इनका अपना रेडियो स्टेशन है, जहाँसे समय-समयपर सामूहिकरूपसे नित्य प्रार्थना एवं प्रवचनके कार्यक्रम प्रसारित होते हैं।

मार्च आफ फेथ, विंग्स आफ हीलिंग, सोल क्लिनिक* आदि अन्य अनेक प्रार्थना करनेवाली संस्थाएँ और प्रकाशन हैं, जिनके भी कार्यक्रम कई सौ रेडियो स्टेशनोंद्वारा प्रसारित किये जाते हैं।

लोगोंको प्रार्थनाद्वारा जो लाभ या सफलता मिलती है, वह सब पत्रोंके रूपमें उन साप्ताहिक अथवा मासिक पत्रोंमें प्रकाशित होता है। प्रतिमास इन पत्रोंमें हमें दंग कर देनेवाले समाचार पढ़नेको मिलते हैं कि खुले दिलसे प्रार्थना करनेवाले लोग प्रार्थनासे कितना और कैसा चामत्कारिक और तात्कालिक लाभ उठाते हैं। सारा संसार एक चमत्कार और रहस्य है। सारा विश्व भावनामात्र है; क्योंकि हमारा व्यवहार और व्यापार सब हमारे ही मन, बुद्धि और आत्मविकासके प्रतिबिम्ब हैं।

इन सफल एवं सिद्ध प्रार्थना करनेवालोंका कथन है कि अपने परमात्मा (परम आत्मा) से, अपने प्रति ईमानदारी और खुले दिलसे निस्संकोच अपना दुःख-दर्द-दारिद्र्य प्रकट करो अथवा खुले दिलसे धन्यवादपूर्वक संसारके वैभवको स्वीकार करो—जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, उसके लिये परमात्माको धन्यवाद दो। दुःख-दर्द-दारिद्र्य वास्तवमें हमारी भ्रान्त कल्पना, असत्य भावनाके ही प्रतिबिम्ब हैं और ये सब ऐन्द्रियिक भ्रमजाल और अस्थायी हैं। सत्य परमतत्त्व सनातन और मन-बुद्धि-इन्द्रियातीत है। उस सत्यमें स्थिर हो जाओ तो सब दुःख-दर्द-दारिद्र्य वैसे ही भाग जायगा जैसे सूर्यके उदय होते ही अन्धकार भाग जाता है। अन्धकार, अज्ञान वास्तवमें कुछ नहीं। सूर्य चौबीसों घंटे प्रकाशमान है। दिन-रात तो पृथ्वीके फिरनेसे हमारी बाह्यदृष्टि एवं स्थूल दृष्टिमें भासमान होते हैं। तुम परमात्माके पुत्र, उसके उत्तराधिकारी हो। [illegible] वैभव तुम्हारा है, उसे स्वीकार करो। तुम परमात्माके समान पूर्ण हो। इस पूर्णताको भावनापूर्वक स्वीकार करके अपनी पूर्णताको [illegible] करो। दीन-हीन भावनासे दीनता-हीनता प्राप्त होती है। श्रेय-भावना धारणकर श्रेय प्राप्त करो।

बहुत वर्षोंकी बात है। आयर्लैंडके ब्रिस्टल नगरमें, [illegible] मुलरने अपनी ऐसी पूर्णताकी श्रद्धा भावनासे एक अनाथालय स्थापित किया था। बढ़ते-बढ़ते कई सौ लड़के उस अनाथालयमें हो गये थे। वे कभी किसीसे याचना नहीं करते थे, न समाचार-पत्रोंमें 'चन्दे'की अपील छपाते थे। केवल [illegible] प्रार्थनाके बलपर वे अनाथालय चलाते थे। वे पूर्णताकी भावनामें सदा लीन रहते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि भोजनका समय हो गया किंतु भोजनकी व्यवस्था नहीं हो सकी। प्रबन्धकने [illegible] कह दिया कि आज इस समय खानेको कुछ भी नहीं है। मुलर महोदय कुछ भी विचलित न हुए। कई बार कहकर प्रबन्धक-ने चिढ़कर अन्तमें कहा—'भोजनका समय हो गया; कहिये, क्या घंटी बजा दूँ?' मुलर साहबने उत्तर दिया—'भोजनका समय हो गया हो तो घंटी बजा दो।'

घंटी बजा दी गयी। सब लड़के भोजनालयमें आ गये। इतनेमें ही बढ़िया तैयार खाद्य-सामग्रीसे भरी एक 'वैगन' अनाथालयके दरवाजेपर आ लगी। बढ़िया [illegible] बच्चोंको परोसा गया। पता चला कि किसी धनिकने अपने यहाँ एक बृहत् भोजका आयोजन किया था, किंतु कुछ कारणसे वह भोज स्थगित कर देना पड़ा। [illegible] न जाय, इसका विचार करनेपर उसे मुलर साहबके अनाथालयका स्मरण हुआ और अन्तःप्रेरणासे उसने इस [illegible] सामग्री उनके अनाथालयको भेज दी।

इसी प्रकार एक दूसरी सत्य घटना [illegible] थी। अमेरिकामें एक परिवार अपनी मोटरमें [illegible] मार्गसे यात्रा कर रहा था। इतनेमें उनकी मोटर [illegible] गया। सुनसान जगह थी, बस्ती बहुत दूर थी और मोटरके अतिरिक्त टायर भी न था। ऐसे समय प्रार्थना, पूर्णताकी भावना ही एकमात्र उपाय सिद्ध हुई। एक बच्चेकी [illegible] प्रबलता थी। उसने कहा—'परमात्मा ही हमें यहाँ [illegible]'

* March of Faith, Wings of Healing, Soul Clinic.

भेजेगा। परमात्माके भंडारमें सब कुछ, सब जगह, सबके लिये, सदा सर्वदा मौजूद और प्राप्य है।" यह भावना दृढ़ता और श्रद्धापूर्वक दुहरायी गयी।

आधा घंटा ऐसी बीते तो आप उपलमें उम्मीद करेंगे कि कोई अन्य मोटरवाला राहगीर इधरसे निकलेगा और परमात्मा-द्वारा सद्योगसे हमें उनसे टायर मिल जायगा। परंतु वास्तवमें ऐसी उम्मीद इन्होंने नहीं की। कुछ समय बाद सचमुच एक 'टायर' सड़कपरसे दूरसे लुढ़कता हुआ आकर इनकी मोटरके पास पड़ गया। इस टायरके मालिककी इन्होंने प्रतीक्षा भी की, किंतु अन्तमें इन्होंने उसका उपयोग कर लिया। यह सवाद उस परिवारके एक व्यक्तिने उक्त प्रकाशक संस्था-को भेजा और वह 'The Tyre God sent.' शीर्षकसे साप्ताहिक पत्रमें छपा था।

पूर्णताकी भावनाकी प्रार्थनासे कतिपय मरणासन्न लोग जी उठे हैं और जीते रहे हैं। मेरे जीवनमें भी कुछ घटनाएँ घटी हैं। लगभग पच्चीस वर्ष हुए होंगे, मैं अपने घरसे पाँच सौ मील दूर था। भाईका तार मिला, 'पिताजी बहुत बीमार हैं, फौरन आओ।' तार पाकर मेरे मनमें जानेका किंचित् विचार तो हुआ, किंतु मैंने तय किया कि मरना तो सबको है, मैं जाकर बचा थोड़े ही लूँगा। अस्तु, जो परमात्मा करे, वही ठीक! मैंने ऐसा ही प्रार्थना भावना-मय तार दे दिया और मैं एक मासतक निश्चिन्त रहा। कोई खबर भी न मिली। एक मास बाद मैं गया तो देखा पिताजी भजन गा रहे हैं। लोगोंने बताया कि मरनेकी तैयारीमें पिताजीको जमीनपर लिटा दिया गया था। उसी समय तार गया-आया। वे जी उठे और तीन वर्षतक रहे।

दूसरी घटना, एक हरवाहा जंगलमें हल चला रहा था। उसपर बिजली गिरी, सुबहसे वह पानी-कीचड़में ही मुर्देकी तरह अचेत पड़ा रहा। दोपहरको पता चलनेपर लोग खाटपर उसे गाँव ले आये तीन मील। पश्चात् एक मील चलकर मेरे पास लाये इलाजके लिये। लगभग तीन सौकी भीड़ थी। व्यक्तिको मैंने अच्छी तरह देखा। नाड़ी, हृदयगति—कुछ नहीं! कीचड़-पानीसे लथपथ, गीला, आठ घंटेसे निरा मुर्दा! अविचल भावसे उस समय मैंने जो किया, उसके फलस्वरूप आध घंटेमें उसकी आँखें खोलनेसे खुल सकीं और पुतलियाँ गतिमान् दिखायी दीं, फिर स्पन्दन भी। मैंने प्रयत्नसे उसका मुँह भी खोला। मूकवत् अस्पष्ट आवाज, फिर वाणी। उठाया-बैठाया, चलाया-फिराया, दौड़ाया और वह जो चार कंधोंपर आया था, पैदल गया। बात यह है—

हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ।

परम आत्माकी सूक्ष्म शक्तिका हम इच्छानुसार आह्वान कर सकते हैं, परंतु इच्छानुसार उससे काम नहीं ले सकते; वरं उसकी ही नीतिपर हमें आश्रित रहना होगा। इसीलिये अब प्रार्थनामें परमात्मासे अपनी इष्टपूर्तिके निमित्त नहीं कहा जाता कि हे परमात्मा! मेरे लिये ऐसा कर, मुझे अमुक वस्तु भेज, मेरे बच्चेको रोगमुक्त कर दे। वरं अब स्वीकारात्मक पूर्णताकी भावनासे प्रार्थना की जाती है। यथा—

1. I place myself and all my affairs lovingly in the hands of Father. That which is for my highest good, shall come to me.

2. God is love, and His love, radiating through me, gives me increased understanding. In the feeling of God's great love, I am radiant with health. Quickened into a new feeling of God as love, I am a magnet for riches of every kind

3. There is nothing to fear. God, Omnipotent good, is the only presence and power.

My guidance is from God, the Source of all wisdom.

१. मैं अपना जीवन और व्यवहार प्रेमपूर्वक परमात्माको समर्पण करता हूँ। मेरे लिये जो उत्तम है, वही होगा।

२. परमात्मा प्रेमस्वरूप है, उसका प्रेम मुझमें प्रकाशित होता है और मुझे निर्देश देता है। इस प्रेममें तल्लीन होकर मैं भरपूर स्वस्थ हूँ और सब प्रकारके वैभवका आकर्षण करता हूँ।

३. भयका कोई कारण नहीं। परमात्मा सर्वशुभ और सर्वेश्वर है। वही मेरा ज्ञानदाता और मार्गदर्शक है।

'यूनिटी' के संस्थापक चार्ल्स फिल्मोरने कहा है, 'दिव्य विधानके अनुसार जो व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास और व्यवहार करता है, उसके लिये सब कुछ सम्भव है।'

आधुनिक वैज्ञानिक डॉ० अलेक्सिस केरलने कहा है, 'प्रार्थनासे विचित्र क्रियाएँ सूक्ष्माकाशमें होने लगती हैं, जिन

चमत्कार हो जाते हैं। चमत्कार लानेके लिये एकमात्र उपाय 'प्रार्थना' है।'*

यह चमत्कार कोई मनुष्य स्वयं नहीं करता, किंतु दिव्य विधानके आध्यात्मिक नियमोंके अभ्यास एवं प्रयोगसे होता है, जैसे तालेमें ठीक कुंजी डालकर घुमानेसे ताला खुल जाता है। तालेको यों ही खटखटाते रहनेसे या उसमें गलत कुंजी डालकर गलत ढंगसे घुमानेसे ताला नहीं खुलता। प्रार्थना भी जीवनकी सब विकट परिस्थितियों एवं समस्याओंको सुलझानेके लिये, सबके लिये सहज सुलभ सस्ती साधना है, जो अपने-आप प्रेरित होती है।

डॉ० फ्रैंक लूबकने एक पुस्तक लिखी है, जिसमें उन्होंने बताया है कि 'प्रार्थना दुनियाँकी सबसे बड़ी शक्ति है, जो सभी मनुष्योंको सुलभ है।' एक अन्य आध्यात्मिक अभ्यासी लेखक इम्मट फाक्सने लिखा है—'परम आत्माके लिये कुछ भी कठिन नहीं है, वह प्रतिक्षण चमत्कार करता है।' डॉ० एमिली केडीने लिखा है—

"There is something about the mental act of thanksgiving that seems to carry the human mind far beyond the region of doubt into the clear atmosphere of faith and trust, where all things are possible."

अर्थात् प्रार्थनाकी मानसिक क्रियासे, धन्यवादकी भावनासे ऐसा कुछ होता है कि मनुष्यके भीतरसे मानव-मन [illegible] भूमिकामें आ जाता है, जहाँ सब कुछ सम्भव है।

पेनसिल्वेनिया (अमेरिका) का एक संवाद छपा है—

एक युवकके हृदयका आपरेशन अस्पतालमें हुआ। आपरेशनके पहले उसके माता-पिता सशङ्कित थे, किंतु युवकने हिम्मत बाँध ली थी। उसे परमात्मापर पूर्ण श्रद्धा थी। आपरेशनके बाद कई दिनोंतक वह प्रायः अचेत रहा। कुशल डाक्टरोंने कहा कि उसके मस्तिष्कमें चाकुका ऐसा प्रभाव हो गया है कि होश आनेकी आशा नहीं दिखती और होश आया भी तो वह किसीको पहचानने या बातचीत करने योग्य भी न होगा। उसका जीवन, मस्तिष्कको [illegible], अन्धकार होगा। उसके एक हितैषीने यह समाचार सुना तो वे तुरन्त बिना किसीको कुछ प्रकट किये उस युवकके लिये प्रार्थना करने लगे। कई दिनोंतक कुछ न हुआ। किंतु उसका हृदय बराबर काम कर रहा था। एक दिन उसकी माँने उसे पुकारा, कोई उत्तर न मिला। सब लोग निराश थे। फिर सम्बोधन किया, तो उत्तर मिला। वह माँको पहचान गया। वह स्वयं हिल डुल नहीं सकता था, मानो शरीर-को लकवा-सा मार गया था। कुछ दिनों बाद वह सिर हिलाने लगा, फिर पाँव और फिर हाथ भी। डाक्टरोंने इसे चमत्कार कहा है। तबसे वह स्वस्थ होकर सब प्रकारके खेल-कूद करता रहा है और उसका मस्तिष्क ठीक है।

मायाके द्वारा किनकी बुद्धि ठगी गयी है ?

श्रीध्रुवजी कहते हैं—

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्यमिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥
(श्रीमद्भा० ४।९।९)

'प्रभो! इन शवतुल्य शरीरोंके द्वारा भोगा जानेवाला, इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे उत्पन्न सुख तो मनुष्यों-को नरकमें भी मिल सकता है। जो लोग इस विषय-सुखके लिये लालायित रहते हैं और जो जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा देनेवाले कल्पतरुस्वरूप आपकी उपासना भगवत्प्राप्तिके सिवा किसी अन्य उद्देश्यसे करते हैं, उनकी बुद्धि अवश्य ही आपकी मायाके द्वारा ठगी गयी है।'

* Dr Alexis Carrel: The only condition indispensable to the occurrence of the phenomena is Prayer. Prayer may set in motion a strange phenomenon, the miracle.

प्रार्थनाका स्वरूप

(लेखक—श्रीमदनबिहारीजी श्रीवास्तव)

प्रार्थना जीवनका एक मुख्य अङ्ग है । उसका वास्तविक रूप क्या होना चाहिये, यही इस लघु प्रयत्नका उद्देश्य है ।

साधारणतः हमारी प्रार्थनाएँ व्यक्तिगत कष्ट-निवारणके हेतु ही हुआ करती हैं । भगवान्से हम किसी-न-किसी रूपमें अपने दुःखोंसे छुटकारा पानेकी याचना करते हैं । उनके समक्ष अपनी कठिनाइयोंकी सूची पेश करते है और रोकर, गिड़गिड़ाकर, बिलखकर आर्तभावसे उनका निराकरण चाहते हैं । इस याचनामें दो बातें विचारणीय हैं—

एक यह कि या तो प्रार्थीके कष्टोंपर नियन्ताका ध्यान बिना प्रार्थनाके आकर्षित नहीं हो सकता । और—

दूसरी यह कि सर्वेश्वरका ध्यान उन कष्टोंपर होते हुए भी बिना प्रार्थनाके वे उसे हटाना नहीं चाहते या हटा नहीं सकते ।

यदि हम पहली बात मानें तो सर्वज्ञमें अल्पज्ञताका दोष आता है और दूसरी बात माननेसे करुणासागरमें—जिसकी अहैतुकी कृपाका यशोगान पूर्णरूपेण वेद, पुराण, ऋषि और सिद्ध भी नहीं कर सकते और जिसका सर्वसमर्थ होना साधारण गुण है—क्रूरता या असमर्थताका दोष आता है, जो सर्वथा निर्मूल ही नहीं, बल्कि ईश्वरकी निन्दा करना और उसके प्रति अविश्वास प्रदर्शन करना है ।

क्या परमात्मा हमारे दुःखोंको नहीं जानते या जानकर भी बिना अर्जी हटाना नहीं चाहते या नहीं हटा सकते ?

नहीं, वे सर्वज्ञ सब जानते हैं और यह भी जानते हैं कि जिसको हम प्रत्यक्ष कष्ट और दुःख समझते हैं, उसका वास्तविक रूप क्या है । हम अपनी अल्पज्ञताके कारण—अपनी सीमित बुद्धिसे जिसे दुःख समझते हैं, वह शायद हमारे कल्याणका निश्चित सोपान हो । जब माता किसी चतुर जर्राहसे अपने छोटे बच्चेके घावको, जो और किसी तरह अच्छा नहीं हो सकता, यह आदेश देते हुए कि 'देखना घावका कोई अंश छूट न जाय और मवाद रह न जाय' चिरवा देती है, तब क्या बच्चा अपनी माता और जर्राहपर कुपित नहीं होता और ऐसी-वैसी नहीं सुनाता ? पर माताकी-सी बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति क्या इसे क्रूरता समझता है ? नहीं, नहीं, चीरनेमें, इस चीरनेकी तकलीफमें भी उसे मङ्गल-कामना ही दीखती है । हम औरोंकी बात क्या कहें, जब भक्तशिरोमणि श्रीभरत-लालजी भगवान् श्रीरामचन्द्रके वियोगसे विह्वल हो उन्हें वनसे अयोध्या लौटा लाने गये थे, तब वहाँ भरतजीने भगवान्के न लौटनेपर यह हठ किया कि 'यदि आप नहीं लौटते तो या तो मैं भी वनमें रहकर आपकी सेवा ही करूँगा, या फिर शरीर त्याग दूँगा ।' इस उलझनमें भगवान्ने देखा कि अब भेद खोलना ही होगा और भरतको महान् विधानका दिग्दर्शन कराना ही होगा । भगवान्के संकेत करनेपर गुरु वसिष्ठने भरतको एकान्तमें समझाया और कहा कि 'भगवान् रावणको मारनेके लिये अवतरित हुए हैं, सीता योगमाया हैं, लक्ष्मण शेष हैं; इसलिये भगवान् निस्संदेह वनको ही जायँगे ।' * तब भरतकी आँखें खुलीं और वियोगकी असह्य वेदनाको भूलकर वे भगवान्की चरण-पादुका लेकर लौट गये ।

तात्पर्य यह कि भगवान्का एक विधान है और वह है 'मङ्गलमय'; जो कार्य उस विधानमें हो रहे हैं, वे सर्वदा-सर्वथा सबके कल्याणके लिये ही हैं । सम्भव है उस विधानका रहस्य हमें न ज्ञात हो और वह हमें अमङ्गलसूचक प्रतीत हो; परंतु ज्यों ही हमें उस विधानके मङ्गलमय होनेका ज्ञान या कम-से-कम विश्वास भी हो जायगा, त्यों ही फिर हमारी प्रार्थना यह नहीं होगी कि हमारे कष्ट दूर हों, बल्कि हम कहेंगे कि 'भगवन् ! आपका

---

* एकान्ते भरतं प्राह वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः ।
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यात् सुनिश्चितम् ॥
रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा ।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः ॥
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा ॥
रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः ।
कैकेय्या वरदानादि यद्यन्निष्ठुरभाषणम् ॥
सर्वं देवकृतं नो चेदेवं सा भाषयेत् कथम् ।
तस्मात् त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने ॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० ९।४२—४६)

विधान पूरा हो। जो आपकी मर्जी है, उसीमें हम प्रसन्न हैं और वही हो। हम 'राजी ब रजा' होंगे और हमारा भाव यह होगा कि 'सरे तस्लीम खम है, जो मिजाजे यारमें आवे।' व्यक्तिगत कठिनाइयोंका निराकरण चाहनेके बदले हम आत्म-समर्पण कर देंगे और जिस तरह भगवान्‌से 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' (गीता १८। ६६) इत्यादि सुननेके बाद अन्तमें अर्जुनने 'करिष्ये वचनं तव' (गीता १८। ७३) कहा था, उसी तरह उनके विधानमें हम भी मङ्गलका अनुभव करेंगे और उस विधानमें 'निमित्तमात्र' होना अपना सौभाग्य समझेंगे।

यह हुई उनकी बात, जो विश्वासमें बहुत ऊँचे हैं। जब-तक हम इतने ऊँचे स्तरपर नहीं पहुँच जाते, तबतक कम-से-कम व्यवहारमें इतना तो अवश्य कर सकते हैं कि यदि माँगना ही है—और प्रार्थनाका व्यवहारमें अर्थ याचना या माँगना ही तो है—तो लोकहितकी ही याचना करें। इस दृष्टिसे यह प्रार्थना—

> सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

—बहुत सुन्दर है। किसी दशामें भी अपनी व्यक्तिगत किसी बातके लिये प्रार्थनाका न होना ही सर्वश्रेष्ठ है। इस निबन्धमें निष्क्रियताका प्रतिपादन नहीं है, सब निष्काम कर्म तो करते ही रहना होगा।

तात्पर्य यह कि प्रार्थनाका वास्तविक रूप है—

(१) भगवान्‌के मङ्गलमय विधानमें आत्मसमर्पण—प्रथम श्रेणीकी प्रार्थना।

(२) केवल लोकहितकी कामना—द्वितीय श्रेणीकी प्रार्थना।

प्रार्थना—एक अपरिमित शक्ति

(लेखक—श्रीप्रतापराय भट्ट बी०एस-सी०, राष्ट्रभाषारत्न)

ईश्वरकी प्रार्थना प्रत्येक देशमें और प्रत्येक धर्ममें किसी-न-किसी रूपमें की जाती है। व्यक्तिगत रूपमें अथवा सामूहिक रूपमें, घरोंमें, मन्दिरोंमें, संस्थाओंमें अथवा आश्रमोंमें प्रार्थना होती है—यह हम देखते हैं। इन प्रार्थनाओंको देखकर हमारे मनमें स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सच्ची प्रार्थना क्या है, उसका उद्देश्य क्या है, उसका महत्त्व क्या है तथा प्रार्थना करनेसे हमको क्या लाभ होता है।

प्रार्थना संतोंके, भक्तोंके और महात्माओंके जीवनकी समृद्धि है, शान्ति है, बल है। वे अपने जीवनकी प्रत्येक घड़ी और प्रत्येक पलमें प्रार्थनाके अगम्य प्रभाव और अपरिमित शक्तिका अनुभव करते हैं। प्रार्थनाके निर्मल और शान्त जलमें निमज्जन करनेवालोंको जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसके सामने संसारका कोई सुख अथवा स्वर्गके विलास-वैभवका कोई आनन्द कोई बिसात ही नहीं रखता।

सच्ची प्रार्थना केवल ईश्वरकी पूजा या बाह्य उपासना-मात्र नहीं है, बल्कि प्रार्थनामें लीन हुए मनुष्यके भीतरसे सहज ही निःसृत होनेवाला तथा परमेश्वरके अगाध शक्ति-सागरमें विलीन होनेवाला एक अदृश्य आत्मशक्तिका स्रोत है। अखिल ब्रह्माण्डके स्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, सर्वोद्धारक परम पिता, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'-स्वरूप, सर्वव्यापी होकर भी अदृश्य रहनेवाले परमात्माके साथ एकतान होनेका मानवीय प्रयास ही प्रार्थना है। प्रार्थनाका अन्तिम ध्येय और फल, परमात्माके साथ आत्माका ऐक्य-सम्पादन है। वाणी और विचारसे अतीत महान् प्रभुके साथ आत्माका यह तादात्म्य भी वर्णनातीत है, निगूढ है।

हृदयकी गहराईसे अनन्य प्रेम और श्रद्धापूर्वक की गयी प्रार्थना मनुष्यके तन और मनपर अद्भुत प्रभाव डालती है। प्रार्थनाके द्वारा मनुष्यमें जो बुद्धिकी निर्मलता और प्रसन्नता, जो नैतिक बल, जो आत्मश्रद्धा, जो आध्यात्मिक शक्ति और आत्मविकास तथा जीवनको उद्विग्न और विषम बनानेवाले जटिल सांसारिक प्रश्नोंको सुलझानेकी पारदर्शी दृष्टि और ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसकी तुलनामें इस जगत्‌में दूसरी कोई ऐसी शक्ति या साधन नहीं है, जो मनुष्यके जीवनपर इतना चामत्कारिक प्रभाव डाल सके।

यदि हम सच्चे दिलसे, एक निष्ठासे, नियमपूर्वक प्रार्थना करनेकी आदत डाल लें तो थोड़े ही समयमें हमको अपने जीवनमें चामत्कारिक परिवर्तन दिखायी देने लगेंगे! अपने प्रत्येक कार्यमें तथा व्यवहारमें इसके प्रभावकी गहरी छाप पड़ी हुई जान पड़ेगी। जिस मनुष्यका आन्तरिक जीवन इस प्रकारकी विशुद्ध हृदयसे की गयी प्रार्थनासे ज्योतिर्मय बन गया है, उसकी मुख-मुद्रा देखने ही योग्य होती है। वह कितना शान्त, समदर्शी और कितने अनोखे सात्त्विक तेजसे देदीप्यमान

दिखलायी देता है। उसके स्वभाव और व्यवहारमें कितना सौजन्य और कितना सौम्यभाव निखर उठता है। उसका हृदय कितना निर्दोष और बालकके समान सरल है! सच पूछिये तो उनके अन्तःकरणकी गहराईमें ईश्वरके प्रति ऐसा अटल विश्वास तथा प्रेमकी एक ऐसी ज्योति चमकती रहती है कि उसके पवित्र प्रकाशमें अपनेको वह भलीभाँति देख सकता है। अपने दोष, अपने अंदरकी स्वार्थ-वृत्ति, तुच्छ अभिमान या क्षुद्र वासनाओंको वह निहारता है। उसको अपनी अल्पताका, नैतिक उत्तरदायित्वका, बौद्धिक लघुताका और सांसारिक लोभ और आसक्तियोंकी असारताका ठीक-ठीक भान होता जाता है। इस प्रकार वह अधिकाधिक सत्त्वशील होकर प्रभुके समीप पहुँचता जाता है।

प्रार्थना सचमुच ही एक महान् अगम्य बल है। अंग्रेज महाकवि टेनीसन कहता है—

" More things are wrought by prayer than this world dreams of."

'जगत् जिसकी कल्पना कर सकता है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक महान् कार्य प्रार्थनाके द्वारा सिद्ध हो सकते हैं।'

एक नहीं, अनेक बार मैंने देखा और अनुभव किया है कि अच्छे-अच्छे वैद्यों और डाक्टरोंकी सारी चिकित्सा व्यर्थ हो जानेके बाद, बिना किसी खास उपचारके केवल ईश्वरमें परम निष्ठा और अचल श्रद्धायुक्त प्रार्थनाद्वारा बड़े विषम और असाध्य रोगके रोगी आश्चर्यजनक रीतिसे रोगमुक्त हो जाते हैं। महान् भक्तों और संतोंके जीवनमें हम ऐसी अनेक घटनाओं और प्रसङ्गोंके विषयमें सुनते और पढ़ते हैं कि जिनका सामान्य रीतिसे होना सम्भव नहीं है तथा जिनको हम प्रकृति-विरुद्ध कह सकते हैं। इस प्रकारकी घटनाओंको हम अपनी भाषामें भक्तोंका, संतोंका या भगवान्‌का 'चमत्कार' कहते हैं। परंतु यह वस्तुतः एक महापुरुषके अन्तःकरणकी सच्ची प्रार्थनाद्वारा प्राप्त हुई अपरिमित शक्तिका ही परिणाम है; क्योंकि प्रकृतिके कथित अटल नियमोंका उल्लङ्घन करनेकी सामर्थ्य इस संसारमें यदि किसीमें है तो वह ईश्वरकी प्रार्थनामें ही है! मनुष्य जो प्रार्थनाके द्वारा अपने जीवनमें भी एक अगम्य ईश्वरीय शक्तिके सतत और स्थिर संचारका अनुभव करता है, यह भी क्या एक चमत्कार नहीं है!

अपने राष्ट्रपिता पूज्य महात्माजीके जीवनको देखिये। उनके मनमें प्रार्थनाका महत्त्व सबसे अधिक था। सच्चे अन्तःकरणकी ईश्वर-प्रार्थना उनके जीवनमें ओतप्रोत हो गयी थी। वे निस्संकोच कहते थे कि 'मेरे सामने आनेवाले राष्ट्रिय, सामाजिक अथवा राजनीतिक विकट प्रश्नोंकी गुत्थीका सुलझाव मुझे अपनी बुद्धिकी अपेक्षा अधिक स्पष्टता और शीघ्रतासे प्रार्थनाके द्वारा विशुद्ध अन्तःकरणसे मिल जाता है।' वे प्रार्थनाको एक अक्षय और असीम शक्ति समझते थे। सत्य और अहिंसाके तत्त्वका सच्चा दर्शन उनको प्रार्थनामें ही मिलता था।

कुछ लोग समझते हैं कि अमुक शब्द, अमुक भजन अथवा अमुक पदको किसी विशेष रीतिसे बोलने या गानेपर ही 'प्रार्थना' कहेंगे। दूसरे लोग कहते हैं कि प्रार्थना तो निर्बल और दुखी मनुष्यको आश्वासन देनेका साधनमात्र है। बहुतोंका मत है कि लक्ष्मी, अधिकार, यश, संतान-प्राप्ति या ऐसी ही किसी सांसारिक एषणाकी सिद्धिके लिये ईश्वरसे नम्रतापूर्वक याचना करना ही प्रार्थना है। यदि इनमेंसे किसी भी अर्थमें हम प्रार्थनाको लेते हैं तो हमारा प्रार्थनाका मूल्याङ्कन बहुत ही अपूर्ण और निम्न कोटिका है। हम प्रार्थनाका माप अपने स्वार्थके छोटे गजसे करते हैं। यह बात तो वैसी ही है, जैसे कोई अपने घरकी टंकीके बराबर विश्वका कल्याण करनेवाली मेघवृष्टिका मूल्याङ्कन करे। ठीकतौरपर विचार करें तो मनुष्यकी सर्वोच्च शक्तियोंका श्रीपरमात्मशक्तिके साथ तादात्म्य ही मानव-जीवनके उत्कर्षकी चरम सीमा है। इस अन्तिम ध्येयपर पहुँचनेके लिये जो क्रियाशील प्रवृत्ति है, वही हमारी प्रार्थना है। देह, चित्त और आत्माके पूर्ण समन्वयात्मक ऐक्यसे उत्पन्न अपूर्व आनन्द, शान्ति और अपार बलका अनुभव हमको प्रार्थनामें ही मिलता है।

प्रार्थनासे भले ही हम अपनी शारीरिक व्याधिकी पीड़ाको दूर न कर सकें, अपने मृत स्वजनको जीवित न कर सकें और कोई ऐसे चमत्कार न दिखा सकें, जैसे कि महान् संतोंके जीवनमें सुननेमें आते हैं—तथापि प्रार्थना एक ऐसी शक्तिका तेजपूर्ण केन्द्र है, जिससे सतत निकलनेवाला आत्मशक्तिका सौम्य प्रकाश रोगग्रस्त तनमें और शोकसंतप्त मनमें चन्द्रके प्रकाशके समान एक प्रकारकी अपूर्व शान्ति और शीतलताका संचार करता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि प्रार्थनामें इतना अधिक बल कहाँसे आता है? विज्ञान इस विषयमें मौन है; क्योंकि सूक्ष्मतम वैज्ञानिक अनुसंधान और आविष्कार भी आजतक ईश्वरके गहन स्वरूपतक नहीं पहुँच सके हैं। प्रार्थनामें एक

साधारण बात तो यह है कि अल्पशक्ति मानव इसके द्वारा अपने मन और आत्माको अनन्तशक्ति, सत्य-ज्ञानस्वरूप परमात्माके साथ जोड़ता है, जोड़नेका प्रयास करता है। इससे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की विराट् शक्तिका छोटा-सा अंश तो उसमें उतरता ही है। इस दिव्य चैतन्य अंशसे युक्त मनुष्य इस प्रकार प्रार्थनाके द्वारा बहुत बलवान्, उन्नत और चैतन्यवान् बन जाता है।

अस्तु, इतना तो स्पष्ट है कि सांसारिक वासनाओं और आसक्तियोंकी चरितार्थताके लिये की गयी प्रार्थना हमको कभी सच्चा बल नहीं प्रदान कर सकती। सच्ची प्रार्थनामें परमात्मासे कुछ माँगा नहीं जाता, बल्कि सच्ची प्रार्थना उसके-जैसा बनने, और अन्तमें उसके साथ एकरूप होनेके लिये ही होती है। प्रार्थनाके द्वारा हमको ईश्वरके सानिध्यका तथा अपने ईश्वरमय होनेका अनुभव करना है। गद्गद कण्ठसे तथा स्नेहार्द्र हृदयसे क्षणभरके लिये भी की गयी प्रार्थना भक्तका कल्याण करनेमें पर्याप्त है। सचमुच, किसी स्त्री या पुरुषकी सच्चे अन्तःकरणसे की गयी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती।

'अकालो नास्ति धर्मस्य' के अनुसार धर्मकार्य किसी भी समय हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रार्थना भी किसी स्थानमें और किसी समय हो सकती है। इसके लिये किसी निश्चित स्थान या किसी निश्चित समयका बन्धन नहीं है। मन्दिरमें, घरके एकान्त कोनेमें, दूकानमें, आफिसमें, स्कूलमें—जहाँ चाहे, जिस समय चाहें, प्रार्थना कर सकते हैं।

मनुष्यत्वके निर्माण तथा योग्य विकासके लिये प्रार्थना मनुष्यके दैनिक व्यवसायमें ओतप्रोत हो जानी चाहिये। प्रातःकाल थोड़ा-सा समय प्रार्थनामें लगाना और शेष समयमें अधर्म और असत्यका आचरण करते रहना—इसका कोई अर्थ नहीं है। यदि सच्ची प्रार्थना जीवनका मार्ग है तो सच्चा धर्ममय जीवन भी एक प्रकारसे प्रार्थनामय ही बनता है।

सुन्दर लालित्यमय आलंकारिक भाषामें ही प्रार्थना हो सकती है—यह भी एक भ्रम है, असत् सिद्धान्त है। यह तो एक बाह्य आडम्बर है। प्रभुके प्रति प्रेमसे सिक्त अन्तःकरणमेंसे प्रभुसे मिलनेके लिये जो शब्द, जो भाव अपने-आप उमड़कर बाहर आते हैं, वही सच्ची प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना चाहे जिस भाषामें हो, चाहे जिन शब्दोंमें हो, वह भगवान्‌को सदा स्वीकार होती है। तुलसी, सूर, मीरा या नरसीके सर्वोत्कृष्ट पद या भजन प्रभु-प्रार्थनाके लिये किसी खास भाषामें नहीं बनाये गये हैं। परंतु भक्तहृदयकी गहराईमेंसे नैसर्गिक रीतिसे निकले प्रेमस्रोत ही इन भावपूर्ण पदों या उद्गारोंके द्वारा बाहर व्यक्त हुए हैं।

धर्म, प्रार्थना और ईश्वरीय सत्ताकी ओरसे आज मानव उदासीन है। इस उदासीनताके कारण ही जगत् आज विनाशके द्वारपर खड़ा है। मनुष्यके आत्मविकासके लिये जिस अध्यात्मशक्ति, जिस ईश्वरीय श्रद्धा, जिस दिव्य बलकी आवश्यकता है, उसकी हमलोग—मानव-जाति, उपेक्षा कर रहे हैं। फलस्वरूप जगत् घोर निराशा, अन्धकार, अशान्ति, वैर-विद्वेष और हिंसाके जालमें जा फँसा है। यदि जगत्‌को इस दावानलमेंसे बाहर निकलना है, त्राण पाना है तो जगत्‌के प्रत्येक मनुष्यको अपने व्यक्तिगत जीवनमें आत्माकी ऊर्ध्व उन्नतिके लिये एकनिष्ठासे प्रभु-प्रार्थना करनेकी आदत डालनी पड़ेगी, जिससे उपेक्षित एवं अवनत मानव-आत्मा प्रार्थनाके अगम्य बलके प्रभावसे पुनः विशेष उन्नत हो जाय और मानव-जगत् फिर अनन्त सुखी हो जाय और सच्ची शान्ति प्राप्त करे। इस दृष्टिसे मनुष्यों और राष्ट्रोंके जीवनमें—पहलेकी अपेक्षा आज प्रार्थना बहुत ही महत्त्वकी वस्तु तथा अनिवार्य बन गयी है।

ब्रह्माजीकी कामना

ब्रह्माजी कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३०)

'इसलिये भगवन्! मुझे इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा किसी पशु-पक्षी आदिके जन्ममें भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासोंमेंसे कोई एक होऊँ और फिर आपके चरण-कमलोंकी सेवा करूँ।'

प्रार्थनासे मनोऽभिलाषकी पूर्ति

(लेखिका—संन्यासिनी मङ्गलरूपा)

आदमी जब किसी भँवरमें फँस जाता है और डूबने लगता है और कहीं भी उसे सहारा नहीं दीखता, उस समय वह चीखता है—भगवान्‌के सामने, जिसे दूसरे शब्दोंमें प्रार्थना कहते हैं । प्रार्थना दुखियोंका सहारा है, निर्बलोंका बल है; निर्धनका धन, अनाथोंका नाथ, दीनका बन्धु—सब कुछ प्रार्थना ही है । प्रार्थनामें बहुत ताकत है । प्रार्थना गर्म लोहेको ठंडा और पत्थरको मोम कर देती है । वह तूफानको रोक देती है, डूबती नैयाको किनारे लगा देती है । संसारी लोग भी प्रार्थनासे नरम हो जाते हैं, फिर परमात्मा तो अत्यन्त कोमल हैं, वे प्रेमी और दयालु हैं तथा सर्वशक्तिमान् हैं; उनसे की गयी प्रार्थना कभी खाली नहीं जाती । प्रार्थनासे आत्मशक्ति बढ़ती है और समस्त कामनाएँ पूरी होती हैं । इसके विषयमें प्राचीन उदाहरण तो अनेक हैं, मैं तो अपनी प्रार्थनाओंका वर्णन करूँगी । जैसे द्रौपदीके चीर बढ़ानेके लिये प्रभु दौड़ पड़े थे, उसी प्रकार मेरी भी पुकार सुनकर उन्होंने कई बार सहायता की; जैसे प्रह्लादकी अनेक दुःखोंसे परमात्माने रक्षा की थी, ठीक उसी प्रकार मेरी भी अनेक बार रक्षा की है । कहीं पानीसे, कहीं आगसे, कहीं बिजलीसे, कहीं कोठेपरसे गिरनेसे और कहीं ढोंगी साधु-संतोंसे और शत्रुओंसे मेरी रक्षा की है । मेरे जीवनका अनुभव है कि प्रार्थना करते ही न जाने उनकी शक्ति कहाँसे आ टपकती है । मेरा जन्म ईश्वर-प्रार्थना करनेसे हुआ था । जन्मसे ही भगवान्‌का नाम कानोंमें पड़ा था और उनकी महिमा सुनती रही थी । एक बार मनमें आया कि अपनी गुड़ियोंमें जान डलवा दूँ प्रार्थना करके परंतु मेरा प्रयत्न व्यर्थ गया । फिर मेरी आँखोंमें सफेद फूली और ढेंढर पड़ गये । चार महीने मुझे कुछ भी दिखायी नहीं दिया । पिताजीने कहा था कि मेरा बोलना और चलना भी ईश्वर-कृपासे ही हुआ था । पूरा बोल नहीं सकती थी, टाँगें चलती नहीं थीं । आँखें भी उसकी कृपासे फिरसे मिली हैं । मेरा प्रयत्न और डाक्टरोंका परिश्रम व्यर्थ जाता था । ईश्वर सर्वशक्तिमान् है । मैंने अपना इष्ट श्रीकृष्णजीको चुन लिया और उनकी पूजा करने लगी । बाँहपर उनका नाम छपा लिया । एक दिन वे रात्रिके समय स्वप्नमें हँसते हुए दिखायी दिये । गीताप्रेसकी गीतापर जो चित्र है, ठीक उसी प्रकारकी आकृति थी । मैंने लगन लगायी, उधर भगवान्‌ने मेरे संसारको जड़से उखाड़कर फेंक दिया । जो भी चित्र आते गये, उन्हें वे मिटाते गये, कहीं मुझे रुकने नहीं दिया । जब-जब धर्म-संकट पड़े, तब-तब धर्मकी रक्षा की, प्रलोभनोंसे बचाया, भयसे बचाया, घने जंगलोंमें रक्षा की । जब-जब मेरे हृदयसे चीख निकली, उसी क्षण उसी समय मुझे सहायता मिलती रही है और मेरे धर्मकी रक्षा होती रही है । मेरे जीवनकी दर्द और पीड़ाभरी लंबी-लंबी गाथाएँ हैं । उनका वर्णन पूरी तरह मैं भी नहीं कर सकती । धोखा देनेवालोंकी बुरी नीयत समझनेकी शक्ति युवतियोंमें नहीं होती, परंतु भगवान् उनकी हर समय रक्षा करते हैं । जो हृदयसे बचना चाहती है, जो अपनी आत्माको बेचना नहीं चाहती, जो हँसती हुई मृत्युको गले लगा सकती है, उसकी रक्षा भगवान् अवश्य ही करते हैं । मैंने प्रार्थना की थी कि किसीकी मुँहताज न होकर अपनी कमाईसे चारों धामकी यात्रा करूँ; वह भी पूरी हुई । फिर मैंने प्रार्थना की कि कुछ न करके तेरा भजन करूँ; वह भी पूरी हो गयी । उनकी कृपासे ही परीक्षाओंमें पास होती रही । फिर एक बार कुछ वर्ष हुए एक स्थानमें जा फँसी । वहाँ हरि-भजन तो छूट गया, सारे दिन परदोष-दर्शन होता था और घृणा-क्रोध आता रहता था । भगवान्‌ने अपनी अहैतुकी कृपासे अपने सच्चे भक्तोंद्वारा सहायता देकर निकाल लिया । अब तो मेरा दृढ़ विश्वास-सा हो गया है कि कोई प्रार्थना करे अथवा न करे, परमात्मा जीवका कल्याण ही करता रहता है । जो कुछ भी वह करता है, उसमें हमारी भलाई ही भरी रहती है । भग्न-हृदयोंके लिये संसार सूना है । उनका जीवन यदि प्रभु-प्रार्थनामय हो जाता है तो प्रभु उन्हें अपना लेते हैं, उनके सभी बन्धन नष्ट करके परमपद देते हैं । उनसे प्रार्थना करो, क्योंकि उनके अपनानेके लिये हजारों हाथ हैं और सुननेके लिये हजारों कान, देखनेके लिये हजारों नेत्र और दौड़कर रक्षा करनेके लिये हजारों पैर हैं । मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि प्रार्थनासे मनोऽभिलाषकी पूर्ति ही नहीं, मुक्ति भी मिल जाती है ।

प्रार्थना

(रचयिता—कविवर श्रीसुमित्रानन्दनजी पंत)

नमन तुम्हें करता मन !
हे जगके जीवनके जीवन,
ध्यान मौन प्रति उर स्पन्दनमें
स्मरण तुम्हें करता मन !

अश्रु-सजल अब मेरा आनन,
तुहिन तरल वारिजके लोचन,
यह मानस स्थिति, स्तुति से पावन,
करता तुम्हें समर्पण !

तुम अन्तरके पथसे आओ,
चिर श्रद्धाके रथसे आओ,
जीवन-अरुणोदय सँग लाओ
नव प्रभात, युग नूतन !

बहे रुधिर में स्वर्गिक पावक,
स्वप्न पंख लोचन हों अपलक,
रँग दे श्री शोभा का धावक
जीवनके पग प्रतिक्षण !

आज व्यक्तिके उतरो भीतर,
निखिल विश्वमें विचरो बाहर,
कर्म वचन मन जगके उठकर
बनें युक्त आराधन !

श्रीसीता-रामजीकी अष्टयाम-पूजा

(लेखक—न्याय-वेदान्ताचार्य, मीमांसाशास्त्री स्वामीजी श्री १०८ श्रीरामपदार्थदासजी वेदान्ती)

अनन्तब्रह्माण्डाधीश्वर, वाचामगोचर, इन्द्रियोंके अविषय, प्रत्येक परमाणुमें व्याप्त, बुद्धिसे परे, श्रुतिप्रतिपाद्य जो ईश्वर है, जिसके विषयमें श्रुति कहती है 'न तत्र वाग् गच्छति नो मनो न विद्मः'—(केन १ । ३) इत्यादि, उस परमैश्वर्यसम्पन्न निरवयव ब्रह्मका पूजन—पाद्य-अर्घ्य-आचमनीय-स्नानादि विधान कैसे बन सकता है ? अतः यह मानना पड़ता है कि अचिन्त्य-शक्तिमान् जो ब्रह्म है, वह निरवयव होते हुए भी सावयव, निष्क्रिय होते हुए भी क्रियावान्, अजन्मा होते हुए भी जायमान होता है। वह अपने भक्तोंके लिये ही रूपवान् बनता है—उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना।

'कृपू सामर्थ्ये' इस धातुसे 'कल्पना' शब्द बनता है। वह ईश्वर अव्यक्त होनेपर भी भक्तोंके लिये व्यक्त हो जाता है। प्रकृतिसे परे होते हुए भी प्राकृत मनुष्यके सदृश उस ईश्वरका नर-नाट्य देखा जाता है; क्योंकि वह अनन्त ब्रह्माण्डोंको अपने उदरमें रखे हुए फिर उन्हीं ब्रह्माण्डोंमें आकर विविध विचित्र लीलाएँ भी करता रहता है।

उन्हीं सरस लीलाओंके अनुभव करनेवाले भक्तजन सतत उसी अचिन्त्य ब्रह्मके पूजनमें एवं लीलाओंके अनुसंधानमें अपने जीवनको अर्पण करके प्रेमोन्मादमें उन्मत्त हो आनन्दानुभव करते रहते हैं।

ऐसे सगुणोपासक अनेक प्रकारसे प्रभुकी उपासना करते हैं; कोई तो (अर्चादि दिव्य विग्रहोंका) बाह्य पूजन करते रहते हैं और कोई अन्य प्रेमीजन मानसिक [illegible] में निरत रहते हैं। वे प्रेमी आचार्योंके मार्ग [illegible] दिव्य स्वरूपका दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृङ्गार आदि भावोंसे अनुसंधान करके उसी स्वरूपसे नित्य मधुर लीलाओंका परिशीलन करते हुए आन्तरिक दृष्टिसे इस प्रकार [illegible] करते हैं—

'दिव्य अवधधाम' साकेतके मध्यमें [illegible] श्रीप्रिया-प्रियतम प्रभु श्रीसीता-रामजीका जो [illegible] दिव्य भवन है, उसीमें आठ कुञ्जोंसहित शयन-कुञ्ज* भी है।

* शयन-कुञ्जके चारों ओर दिव्य [illegible] अपनी भावनासे भावुकजन किया करते हैं। [illegible] कुञ्जोंके [illegible] इस प्रकार हैं—मध्यमें शयन-कुञ्ज, चारों [illegible]-कुञ्ज, सर्वतोभद्र-कुञ्ज, [illegible]-कुञ्ज, शृङ्गार-कुञ्ज, [illegible]-कुञ्ज, [illegible]-कुञ्ज, सभा-कुञ्ज तथा [illegible]-कुञ्ज हैं। विशेष [illegible] इस भावनाको [illegible] द्वारा [illegible]।

प्रेमी भक्त मनःकान्त अनेक माङ्गलिक वस्तुओंको लेकर शयन-कुञ्जमें भगवान्‌की शयन-झाँकीका इस प्रकार अनुसंधान करता है कि मणियोंसे मण्डित दिव्य पर्यङ्कपर श्रीसीता-रामजी शयन कर रहे हैं। नेत्र बंद हैं। मुखारविन्दपर मन्द मुस्कान-से मुख शोभायमान है। केश विलुलित हो रहे हैं। श्वास-पवन एवं दिव्य अङ्गोंकी सुगन्धसे वह कुञ्ज व्याप्त है। उस समय उत्थापनके लिये प्रेमी भक्त प्रेमोन्मादमें भरकर भैरवी राग-में जगानेके गीत गाने लगता है। जब प्रिया-प्रियतम जागकर मुस्कराते हुए उठकर बैठ जाते हैं, तब वह स्वर्णकी झारीमें लाये हुए दिव्य जलद्वारा मुख-कमल एवं कर-कमलका प्रक्षालन कराता है। दिव्य वस्त्रोंको धारण कराके वल्लभ-कुञ्जमें श्रीप्रिया-प्रियतमजूको लाता है। उस कुञ्जमें सुन्दर दन्तधावन (केसर, कर्पूर, इलायची आदि सुगन्धित द्रव्योंसे बनी कूची-द्वारा) कराता है। तब माखन-मिश्री भोग लगाकर मङ्गल-आरती करता है। उसके बाद सर्वतोष-कुञ्जमें आकर प्रिया-प्रियतम सभी भक्तोंको दर्शन देते हैं। सेवा करनेवाला भक्त उनपर चँवर डुलाता है। इसके पश्चात् वहाँसे स्नान-कुञ्जमें प्रभु पधारते हैं। फुलेल आदिसे अभ्यङ्ग एवं उबटनकी सेवा करके विविध प्रकारकी स्नानोचित सामग्रीसे वह प्रभुको स्नान कराता है (उस कुञ्जमें सामयिक अनेक जल-यन्त्र तथा प्रफुल्लित कमलोंसे युक्त पुष्करिणियाँ बनी हुई हैं)।

वहाँसे प्रभु शृङ्गार-कुञ्जमें पधारते हैं। सेवा करनेवाला भक्त उस कुञ्जमें दिव्य वस्त्राभूषणोंसे प्रभुका शृङ्गार करता है। पुनः दो दिव्य आसन बिछाकर उनपर श्रीसीता-रामजीको विराजितकर पूजाकी सामग्री तथा भक्तमालकी पुस्तक पाठ करनेको रखता है। पश्चात् भोजन-कुञ्जमें आकर विविध प्रकारके षड्‌रसयुक्त भोजन कराकर प्रभुकी सेवा करता है। पश्चात् ताम्बूलादिद्वारा उनकी सेवा करता है। तब मध्याह्नके समय विश्राम-कुञ्जमें पुष्पशय्या सजाकर और उस-पर प्रभुको शयन कराके चरण-सेवा करता है (उस कुञ्जमें चौपड़ आदि विनोदकी सामग्री रहती है)। मध्याह्नोत्तर भक्तके द्वारा जगाये जाकर भगवान् विनोदार्थ सरयू-तट, प्रमोदवन इत्यादि विहार-स्थलोंपर पधारते हैं। भक्त अपने भावानुरूप रूपसे उन लीलाओंमें सम्मिलित होता है। फिर सायंकाल प्रभु लौटकर सभा-कुञ्जमें पधारते हैं। यहाँपर कविजन विरदावली सुनाते हैं। गायक यशोगान करते हैं। देव-नाग-गन्धर्व-कन्याएँ आकर सम्मुख रास करती हैं। उसके बाद शयनका समय होने-पर ब्यारू-कुञ्जमें ब्यारू करके प्रभु शयन-कुञ्जमें पधारते हैं। जबतक प्रभु नहीं सो जाते, तबतक भक्त चरण-सेवा करता रहता है।

इस प्रकार अष्टयाम-सेवा मानसिक रूपसे अपने-अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट भावनाके अनुसार की जाती है। वास्तविक रूपमें यह मानसी सेवा यौगिक प्रक्रिया है। चञ्चल मनवालों-के लिये यह दुर्गम है। जबतक भक्त अपनी मनोवृत्तियोंको अन्यान्य विषयोंसे खींचकर उस परम सेव्य सच्चिदानन्दमें नहीं लगायेगा, तबतक इस रसका आस्वादन उसे नहीं प्राप्त हो सकता। वास्तवमें इस साम्प्रदायिक गुप्त रहस्यको पूर्णतया लिखनेमें संकोच होता है। अतः यहाँपर संक्षेपमें दिग्दर्शनमात्र कराया गया है।

श्रीराम-नाम-महिमा

संकरके बंदन पै वृत्रासुर जीत पाई,
वृत्र पै विचित्र विजै बासव ने पाई है।
बासव पै जीत जिय भाई बीसबाहु पाई,
बीसबाहु पै जै बहुबाहु की सुहाई है॥
पाई जै सहसबाहुजू पै भृगुनाह पुनि,
भृगुनाहजू पै जीत पाई रघुराई है।
राम रघुराईहू पै पाई राम नाम जीत,
राम नाम अभय अजीत सुखदाई है॥ १॥

श्रीसीता-रामजीकी अष्टयाम-पूजा-पद्धति

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

भक्ति-विमर्श

सभी जीव परमात्माके अंश हैं। यथा—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

तथा—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(रामचरित० उत्तर० ११६)

'अंशभागौ तु वण्टके' (अमरकोष)

अर्थात् अंशका अर्थ भाग (हिस्सा) होता है। अंश अपने अंशीके लिये होता है। अर्थात् जो जिसका भाग होता है, वह उसीके लिये होता है और उसी (अंशी) का भोग्य रहता है। उसी प्रकार अंशभूत जीव अपने अंशी ईश्वरका भोग्य है। अतः इसे अन्तर्बाह्य इन्द्रियोंसे ईश्वरकी भक्ति ही करनी चाहिये, यही इसका स्वरूपप्रयुक्त धर्म है। श्रीमद्भागवत (१० । ८७ । २०) में भी श्रुतियोंने अंशभूत जीवका धर्म ईश्वरभक्ति ही कहा है। श्रीनारद-पञ्चरात्रमें भी ऐसा ही कहा गया है—

दासभूतः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च॥
स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि।
आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर॥

श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषण बसत।

(विनय-पत्रिका ५८)

उपर्युक्त विचारसे जीवका स्वरूपप्रयुक्त धर्म हरि-भक्ति ही है। इसके विरुद्ध (राम-विमुख) होकर यह कभी सुखी नहीं रह सकता। यथा—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(रामचरित० उत्तर० १२२)

यह प्रसङ्ग श्रीरामचरितमानसके अन्तमें सिद्धान्तरूपसे कहा गया है। इसे नौ असम्भव दृष्टान्तोंसे पुष्ट किया गया है। नौ गिनतीकी सीमा है। इस प्रकार मानो असम्भव दृष्टान्तोंसे राम-विमुखका सुख न पाना पुष्ट किया गया है। अतः राम-भक्तिसे ही जीव सुखी हो सकता है।

भय-दर्शन

इतना ही नहीं कि राम विमुखवाले जीवको सुख नहीं मिलता; प्रत्युत उसकी बड़ी दुर्दशा होती है; यथा—

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि पद बिमुख लह्यो न काहुँ सुख, सठ यह समुझ सबेरो॥
बिछुरे ससि रबि मन नैननि तें पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत श्रमित निसि दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥

(विनय-पत्रिका ८७)

अर्थात् जैसे ईश्वरके अंशभूत चन्द्र और सूर्य अपने अंशी ईश्वरके मन और नेत्रसे पृथक् (बिछुड़) होकर आकाशमें दिन-रात भ्रमण करनेका एवं राहुसे ग्रास होनेका दुःख पाते रहते हैं, वैसे ही अंशभूत जीव अपने अंशी ईश्वरसे विमुख हो दिन-रात सुखशून्य जगत्‌रूपी आकाशमें चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमणका एवं बार-बार जन्म मरणका दुःख भोगता रहता है। पुनः पृथिवीका अंशभूत ढेला कितना ही आकाशकी ओर फेंका जाय, पर वह अपने अंशी पृथिवीपर ही स्थिरता पाता है। समुद्रका अंशभूत जल मेघद्वारा चाहे जहाँ बरसाया जाय, वह स्थिरता तभी पाता है जब नदियोंद्वारा समुद्रमें पहुँचाया जाता है। ऐसे ही जीव भी अपने ईश्वरको प्राप्त करके ही अचल स्थिति पा सकता है।

प्राकृतिक अपशकुनोंके द्वारा भी परम दयालु भगवान् हमें इसी बातकी मानो चेतावनी देते हैं। यथा—

जनमत बाहिरहि होत [illegible]।
[illegible]

अर्थात् गर्भमें बालकको ज्ञान बना रहता है। जन्म होते ही वह ज्ञान नहीं रह जाता, जन्मते ही [illegible] हो जाता है। यथा—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी॥
(रामचरित० किष्किन्धा० १३)

इसी समय मायिक जगत्‌की भयानकता अपशकुनोंद्वारा देखी जाती है। बालक जन्मते ही छींकता है, फिर रोता है और रोते हुए 'कहाँ, कहाँ' ऐसी ध्वनि भी व्यक्त करता है। छींकना, रोना और 'कहाँ जाते हो' ऐसा कहकर यात्रामें टोकना—ये तीनों यात्रामें भारी अपशकुन हैं। इनमें एक अपशकुनका भी दुष्परिणाम मृत्यु कहा जाता है। यहाँ तो तीन अपशकुन एक साथ हुए हैं—'तीन तिकट महा विकट' इस कहावतके अनुसार ये बहुत ही भयंकर हैं, इस जगत्-यात्रामें इसे बार-बार जन्म-मरणका भय देनेवाले हैं। यथा—

अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।
(विनय-पत्रिका १२१)

अपशकुनसे बचनेके लिये लोग यात्रामें आगे न चलकर अपने घर ही लौट आते हैं। वैसे ही इस जीवको इन भयंकर अपशकुनोंसे डरकर जहाँसे यह आया है, उस अपने अंशी ईश्वरकी ही ओर लौट पड़ना अर्थात् उसकी भक्ति करते हुए उसीकी प्राप्ति करना चाहिये। तभी यह इस मृत्युमय संसार-भ्रमणसे बच सकता है।

कर्तव्य

भक्तिसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है। यथा—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५४)

यह भक्ति एक तो श्रवण आदि बाह्य इन्द्रियोंसे की जाती है। इसे 'श्रवणं कीर्तनं……' आदि नवधा भक्ति कहते हैं। दूसरी अन्तःकरणसे मानसिक सेवारूपमें की जाती है। इसे ही 'मानसिक अष्टयाम-पूजा' कहा जाता है। यह अत्यन्त उपयोगी है। यथा—

बाहिज पूजा जो करै, मन भटकै चहु ओर।
चित अष्टक बिनु को लहै सिय बल्लभ निज ठौर॥
(रसिक अलीजी)

यह सेवा मनसे की जाती है। इसमें हरिध्यानसे पवित्र होता हुआ मन क्रमशः शान्त होता है। गीता ६। ३५ में चञ्चल और दुर्निग्रह मनको वशमें करनेके लिये भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्य—दो उपाय कहे हैं। वे दोनों अत्यन्त उत्तम रीतिसे इस सेवामें आते हैं। इसमें मनको अन्य विषयोंसे खींचकर भगवान्‌की सेवामें लगाना पड़ता है। आठों यामोंमें सेवाके विविध प्रकारके आनन्दोंसे लुभाया हुआ मन प्रफुल्लित रहता है, अन्यत्र जाता ही नहीं। यदि जाता भी है तो तुरंत उसे सेवामें ही खींच लाना पड़ता है; अन्यथा सेवाके नियत कार्य नियत समयपर हो नहीं सकते। गीता ३। ५ में कहा गया है कि कोई क्षणभर भी बिना कुछ किये नहीं रह सकता; तदनुसार मनके लिये यह सर्वोत्तम धंधा है।

यह अष्टयाम-सेवा श्रीअयोध्या एवं श्रीवृन्दावनके ऐकान्तिक संतोंमें प्रचलित है। इसमें प्रथम पञ्च-संस्कारात्मक दीक्षा-विधान होता है। फिर किसी रसकी उपासनाके अनुसार आचार्यसे नियत सम्बन्ध प्राप्त किया जाता है। यह सेवा सख्य, दास्य एवं वात्सल्य रसोंमें भी होती है; पर यह विशेषकर शृङ्गार-रसमें प्रचलित है। इसमें श्रीसीता-रामजीके दिव्य सच्चिदानन्दविग्रहके समान किशोर अवस्थाके भीतर ही नियत अवस्था एवं रूपकी स्थिति आचार्यद्वारा प्राप्त रहती है। उसी दिव्यरूपसे नित्य तुरीयावस्थामें ही इस सेवाकी भावना की जाती है। अतः सेवामें लगनेवाले सङ्कल्पित महल एवं विविध पदार्थ तथा परिकर—सब चिन्मय ही रहते हैं। इस प्रकार हृदयके सभी संकल्प चिन्मय रूपमें श्री-सीता-रामजीकी सेवामें लगते हुए समाप्त होते जाते हैं। यह मानसिक सेवा आयुपर्यन्त की जानी चाहिये। यथा—

स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते।
(छान्दोग्य० ८। १५। १)

नित्यचर्या

इस अष्टयाम-सेवामें आचार्यद्वारा नित्य त्रिपाद्विभूतिकी अयोध्या एवं वहाँके श्रीकनकभवन और फिर उसके अङ्गभूत अष्टकुञ्जों, द्वादश वनों तथा विविधक्रीडोपयोगी महलोंके चित्र (नकशे) प्राप्त किये जाते हैं। फिर आचार्यसे ही सेवाविधि भी सीखी जाती है और सेवाओंके नियत स्थलोंपर उत्तम विधानसे सेवाएँ की जाती हैं। प्रत्येक स्थलको जानेके मार्ग भी नियत रहते हैं।

प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें अपने नियत विश्राम-कुञ्जमें उठकर अपने परिकरोंके साथ स्नान-शृङ्गार आदि करके रसाचार्य एवं आचार्यके नियत कुञ्जोंपर जा उनकी पूजा की जाती है। फिर उनके साथ-साथ सभी सेवाएँ की जाती हैं। क्रमिक सेवाओंका एक पद उद्धृत किया जाता है—

सो दिन आइहै कब फेरि ।
नित बिलास बिलोकिहौं पिय सग प्रकृति निबेरि ॥
अलि सहित जगाय सिय पिय साज मंगल जेरि ।
आरती करि भोगवलभ देखिहौं हग देरि ॥
विविध विधि मजन साजि सिंगार आरति फेरि ।
पितुहि पिय सिय मातु मिलि सँग छवि कलेऊ हेरि ॥
ललव चौपड खेल दंपति छवि सुभोजन फेरि ।
सैन भवन पलोठि पग छवि ललव केरि सुबेरि ॥
उठि जगाय सुकुंज केलि अनेक हिएँ चितेरि ।
साजि साज सिंगार दाऊ बुलाइ फेरा फेरि ॥
पितु सभा पिय जाय सिय बैठकहिं सह सौहेरि ।
वाटिका लखि चंग संग महाय सरि पुलिनेरि ॥
सजि सिंगार सिंगारि आरति निरखि छवि रासेरि ।
मिलि मिलक मंडलाकृति नटत दंपति घेरि ॥
रंग महल कराय ब्यारू करव सँग सब चेरि ।
सयन छवि लखि सेइ पग दंपति सहसि हग भेरि ॥
सेइ पग गुरुजन सुकुंजन आइ कुंज निवेरि ।
लेटिहौं हिय राखि दंपति 'मंजु' विहरनि ढेरि ॥

—यह पद मेरे शृङ्गार-रसके 'मञ्जु रसाष्टयाम' ग्रन्थका अन्तिम पद है । इसमें सखीरूपसे यह प्रार्थना की गयी है कि 'जैसे मैं अभी आठो यामोंकी सेवा करती हूँ, वैसे ही नित्य अवधमें पहुँचकर कब करूँगी ?' इन सेवाओंका विस्तार गुरुओंसे सीखना चाहिये, यहाँ विस्तारभयसे नाम-मात्र कहा गया है ।

शङ्का—ऊपर कहा गया कि यह भावना तुरीयावस्थासे की जाती है । वह अवस्था श्रीरामचरितमानस (उत्तर० ११७) में वर्णित ज्ञान-साधनकी छठी भूमिकामें बहुत साधनोंके पश्चात् प्राप्त होती है, यहाँ उसका कुछ साधन नहीं कहा गया । साधक कैसे वह अवस्था पायेगा ?

समाधान—जैसे उस ज्ञानमें कर्मयोग एवं योग-साधन सहायक हैं, वैसे भक्ति अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखती । यथा—

सो सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥
(श्रीरामचरित० अरण्य० १५)

इस भक्तिमें नवधामें कर्मयोगका और प्रेमलक्षणामें ज्ञानका तात्पर्य आ जाता है । पराभक्ति तो स्वयं फलस्वरूपा है । यह मानसिक अष्टयाम-भावना यद्यपि पराभक्तिमें ही है, तथापि इसके साधनकालमें दोनों कर्मोंमें [illegible] हो जाता है, तब इसकी शुद्ध स्थिति होती है ।

(क) जैसे खर-दूषण और त्रिशिरा एवं उनकी [illegible] सहस्र सेनाओंके भट परस्पर एक दूसरेको [illegible] लड़ मरे और मुक्त हो गये, वैसे इस साधकके [illegible] सम्बन्धी क्रोध, लोभ और काम एवं [illegible] एकादश इन्द्रियाँ तथा तीन अन्तःकरण—इन चौदहोंके [illegible] सहस्र संकल्प चिन्मयरूप हो [illegible] होते हुए [illegible] लगकर समाप्त हो जाते हैं । कहा भी है—

खर है क्रोध, लोभ है दूषन, काम त्रिसिर [illegible] ।
कामै क्रोध लोभ निसि [illegible] ॥
([illegible])

(ख) इस मानसिक पूजामें जब [illegible] बंद हो जाता है, तब [illegible] संकल्पोंकी शान्ति इसमें इस प्रकार होती है । [illegible] पूजाकी सामग्री जब गोवर्धन-पूजामें लगी, तब इन्द्रने क्रोध करके घनघोर वर्षा की । भगवान्ने गोवर्धन [illegible] इन्द्रका गर्व चूर्ण किया, वह शान्त होकर [illegible] वैसे यहाँ भक्ति गोवर्धन है, क्योंकि यह इन्द्रियोंको नित्य सुख दे बढ़ाती है, तृप्त करती है । [illegible] तृप्त होते हैं । अतएव विषय एवं तत्सम्बन्धी [illegible] इन्द्रिय-देवोंकी पूजन-सामग्री है । उन्हीं [illegible] रूपमें यह अब भगवान्में लगाता है । यहाँ भगवान्ने गोवर्धन-धारण किया है, वैसे ही यहाँ भक्तकी [illegible] श्रद्धाको भगवान् धारण करते हैं (गीता ७ । २१-२२ देखिये) । इन्द्रकी सारी वर्षा भगवान्ने गोवर्धनपर ले ली । इसी प्रकार इसके इन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी [illegible] चिन्मयरूपसे भक्तिमें लगकर समाप्त होते हैं । [illegible] हो गया, वैसे इसकी भी सूक्ष्म शरीर-सम्बन्धी वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं ।

(ग) जैसे श्रीकृष्णके परिकर [illegible] को मोहवश ब्रह्माने स्वनिर्मित [illegible] था । [illegible] हरण करके क्षणभरके लिये वे अपने लोकको चले गये । उतने कालमें यहाँका एक वर्ष बीत गया । [illegible] निर्मित भगवान्के परिकरों और बछड़ोंमें [illegible] देखा, तब उनका मोह दूर हुआ । वैसे ही इस [illegible] सम्बन्धी संकल्पोंके प्रति भी बुद्धिमें देखना [illegible]

है कि ये संकल्प तो प्राकृत बुद्धिके ही हैं, चिन्मय कैसे ?' तब भगवान् इसे विवेक देते हैं कि जैसे सुषुप्ति-अवस्थामें जब बुद्धिका लय रहता है, तब भी जीवको ज्ञान रहता है कि मैं सुखसे सोया था। यह सुखानुसंधाता ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानधर्मी जीवात्मा है—

स्वस्मै स्वेनैवावभासत्वं प्रत्यक्त्वम्।

अर्थात् प्रत्यक्‌संज्ञक जीवात्मा (बुद्धि बिना) स्वयं अपनेको जानता है। इस अवस्थामें यह स्वयं प्रज्ञाका काम करता है, इसीसे 'प्राज्ञ' कहाता है। अतः इसके संकल्प स्वरूपसे ही हैं और चिन्मय हैं, इस ज्ञानसे इसकी उक्त बाधा निवृत्त हो जाती है। फिर स्थायी तुरीयावस्थासे ही भावना हुआ करती है।

श्रीराधा-कृष्णकी अष्टकालीन स्मरणीय सेवा

साधकगण श्रीव्रजधाममें अपनी अवस्थितिका चिन्तन करते हुए अपने-अपने गुरुस्वरूप मञ्जरीके अनुगत होकर, एक परम सुन्दरी गोपकिशोरीरूपिणी अपनी-अपनी सिद्ध मञ्जरी-देहकी भावना करते हुए, श्रीललितादि सखीरूपा तथा श्रीरूप-मञ्जरी आदि मञ्जरीरूपा नित्यसिद्धा व्रजकिशोरियों-की आज्ञाके अनुसार परम प्रेमपूर्वक मानसमें दिवा-निशि श्रीराधा-गोविन्दकी सेवा करें।

निशान्तकालीन सेवा

१. निशाका अन्त (ब्राह्ममुहूर्तका* आरम्भ) होनेपर श्रीवृन्दादेवीके आदेशसे क्रमशः शुक, सारिका, मयूर, कोकिल आदि पक्षियोंके कलरव करनेपर श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी नींद टूटनेपर उठना।

२. श्रीराधा और श्रीकृष्णके परस्पर एक दूसरेके श्रीअङ्गमें चित्र-निर्माण करनेके समय दोनोंके हाथोंमें तूलिका और विलेपनके योग्य सुगन्धि-द्रव्य अर्पण करना।

३. श्रीराधा-कृष्ण-युगलके पारस्परिक श्रीअङ्गोंमें शृङ्गार करनेके समय दोनोंके हाथोंमें मोतियोंका हार, माला आदि अर्पण करना।

४. मङ्गल-आरती करना।

५. कुञ्जसे श्रीवृन्दावनेश्वरीके घर लौटते समय ताम्बूल और जलपात्र लेकर उनके पीछे-पीछे चलना।

६. जल्दी चलनेके कारण टूटे हुए हार आदि तथा बिखरे हुए मोती आदिको आँचलमें बाँधना।

७. चर्वित ताम्बूल आदिको सखियोंमें बाँटना।

८. घर (यावट ग्राम) पहुँचकर श्रीराधिकाका अपने मन्दिरमें शयन करना।

* सूर्योदयसे पूर्व ६ घड़ी (दो घंटे, २४ मिनट) का समय 'ब्राह्ममुहूर्त' कहलाता है।

प्रातः*कालीन सेवा

१. रात्रि बीतनेपर (अर्थात् प्रातःकाल होनेपर) श्रीराधारानीके द्वारा छोड़े हुए वस्त्रोंको धोकर तथा अलंकार, ताम्बूल-पात्र और भोजन-पान आदिके पात्रोंको माँज-धोकर साफ करना।

२. चन्दन घिसना और उत्तम रीतिसे केसर पीसना।

३. घरवालोंकी बोली सुनकर सशङ्कित-सी हुई श्री-वृन्दावनेश्वरीका जगकर उठ बैठना।

४. श्रीमतीको मुख धोनेके लिये सुवासित जल और दाँतन आदि समर्पण करना।

५. उबटन अर्थात् शरीर स्वच्छ करनेके लिये सुगन्धि-द्रव्य तथा चतुस्सम अर्थात् चन्दन, अगर, केसर और कुंकुमका मिश्रण, नेत्रोंमें आँजनेके लिये अञ्जन और अङ्गराग आदि प्रस्तुत करना।

६. श्रीराधारानीके श्रीअङ्गोंमें अत्युत्कृष्ट सुगन्धित तैल लगाना।

७. तत्पश्चात् सुगन्धित उबटनद्वारा उनके श्रीअङ्गका मार्जन करते हुए स्वच्छ करना।

८. आँवला और कल्क (सुगन्धित खली) आदिके द्वारा श्रीमतीके केशोंका संस्कार करना।

९. ग्रीष्मकालमें ठंडे जल और शीतकालमें किंचित् उष्ण जलसे श्रीराधारानीको स्नान कराना।

१०. स्नानके पश्चात् सूक्ष्म वस्त्रके द्वारा उनके श्रीअङ्ग और केशोंका जल पोंछना।

११. श्रीवृन्दावनेश्वरीके श्रीअङ्गमें श्रीकृष्णके अनुरागको

* सूर्योदयके उपरान्त छः दण्डतक प्रातःकाल या सङ्गवकाल रहता है।

बढ़ानेवाला स्वर्णखचित (जरीका) सुमनोहर नीला वस्त्र पहनाना।

१२. अगुरु-धूमके द्वारा श्रीमतीकी केश-राशिको सुखाना और सुगन्धित करना।

१३. श्रीमतीका शृङ्गार* करना।

१४. उनके श्रीचरणोंको महावरसे रँगना।

१५. सूर्यकी पूजाके लिये सामग्री तैयार करना।

१६. भूलसे श्रीवृन्दावनेश्वरीके द्वारा कुञ्जमें छोड़े हुए मोतियोंके हार आदि उनके आज्ञानुसार वहाँसे लाना।

१७. पाकके लिये श्रीमतीके नन्दीश्वर (नन्दगाँव) जाते समय ताम्बूल तथा जलपात्र आदि लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करना।

१८. श्रीवृन्दावनेश्वरीके पाक तैयार करते समय उनके कथनानुसार कार्य करना।

१९. सखाओंसहित श्रीकृष्णको भोजनादि करते देखते रहना।

२०. पाक तैयार करने और परोसनेके कार्यसे थकी हुई श्रीवृन्दावनेश्वरीकी पखे आदिके द्वारा हवा करके सेवा करना।

२१. श्रीकृष्णका प्रसाद आरोगनेके समय भी श्रीराधारानीकी उसी प्रकार पखेकी हवा आदिके द्वारा सेवा करना।

२२. गुलाब आदि पुष्पोंके द्वारा सुगन्धित शीतल जल समर्पण करना।

२३. कुल्ला करनेके लिये सुगन्धित जलसे पूर्ण आचमनीय-पात्र आदि समर्पण करना।

२४. इलायची-कपूर आदिसे संस्कृत ताम्बूल समर्पण करना।

२५. बदले हुए पीताम्बर आदि सुबलके द्वारा श्रीकृष्णको लौटाना।

* श्रीराधाके निम्नाङ्कित सोलह शृङ्गार गिनाये गये हैं—(१) स्नान, (२) नाकमें बुलाक धारण करना, (३) नीली साड़ी धारण करना, (४) कमरमें करधनी बाँधना, (५) वेणी गूँथना, (६) कानोंमें कर्णफूल धारण करना, (७) अङ्गोंमें चन्दनादिका लेप करना, (८) बालोंमें फूल खोंसना, (९) गलेमें फूलोंका हार धारण करना, (१०) हाथमें कमल धारण करना, (११) मुखमें पान चबाना, (१२) ठोढ़ीमें काली बेंदी लगाना, (१३) नेत्रोंमें काजल आँजना, (१४) अङ्गोंको पत्रावलीसे चित्रित करना, (१५) चरणोंमें महावर देना और (१६) ललाटमें तिलक लगाना।

पूर्वाह्न*कालीन सेवा

१. बाल-भोग (कलेऊ) आरोग करके [illegible] के लिये वन जाते समय श्रीराधाजी [illegible] श्रीकृष्णके पीछे पीछे जाकर [illegible] ताम्बूल और जलपात्र आदि लेकर पीछे पीछे [illegible]।

२. श्रीराधा-गोविन्दके [illegible] पहुँचाकर उनको [illegible] करना।

३. सूर्य-पूजाके बहाने ([illegible] दर्शनके बहाने) श्रीराधाकृष्णको श्रीकृष्णसे मिलन [illegible] हेतु श्रीमतीको अभिसार [illegible] और [illegible] ताम्बूल और जल-पात्र आदि लेकर [illegible] पीछे पीछे गमन करना।

मध्याह्न†कालीन सेवा

१. श्रीकुण्ड अर्थात् राधाकुण्डपर [illegible] और कृष्ण के मिलनका दर्शन करना।

२. कुञ्जमें विचित्र पुष्प मन्दिर आदिका निर्माण करना और कुञ्जको साफ करना।

३. पुष्पशय्याकी रचना करना।

४. श्रीयुगलके श्रीचरणोंको धोना।

५. अपने केशोंके द्वारा उनके श्रीचरणोंका [illegible]।

६. चँवर डुलाना।

७. पुष्पोंसे पेय मधु बनाना।

८. मधुपूर्ण पात्र श्रीराधाकृष्णके [illegible]।

९. इलायची, लौंग, कपूर आदिके द्वारा [illegible] ताम्बूल अर्पण करना।

१०. श्रीयुगल-चर्वित [illegible] ताम्बूल [illegible] करना।

११. श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी [illegible] करके कुञ्जसे बाहर चले जाना।

१२. श्रीयुगलका [illegible] दर्शन करना।

१३. कस्तूरी-कुङ्कुम आदिसे [illegible] श्रीअङ्गके सौरभसे [illegible] करना।

१४. नूपुर और [illegible] आदिकी [illegible] करना।

* सायंकालके [illegible] है।

† पूर्वाह्नके [illegible] निर्दिष्ट है।

१५. श्रीयुगलके श्रीचरण-कमलोंमें ध्वजा, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्नोंके दर्शन करना।

१६. श्रीयुगलके विहारके पश्चात् कुञ्जके भीतर पुनः प्रवेश करना।

१७. श्रीयुगलके पैर सहलाना और हवा करना।

१८. सुगन्धि पुष्प आदिसे वासित शीतल जल प्रदान करना।

१९. विलासवश श्रीराधा-रानीके श्रीअङ्गोंके लुप्त चित्रों-का पुनः निर्माण करना और तिलक-रचना करना।

२०. श्रीमतीके श्रीअङ्गोंमें चतुस्समके गन्धका अनुलेपन करना।

२१. टूटे हुए मोतियोंके हारको गूँथना।

२२. पुष्प-चयन करना।

२३. वैजयन्ती माला तथा हार एवं गजरे आदि गूँथना।

२४. हास-परिहास-रत श्रीयुगलके श्रीहस्तकमलोंमें मोतियोंका हार तथा पुष्पोंकी माला आदि प्रदान करना।

२५. हार-माला आदि पहनाना।

२६. सोनेकी कंघीके द्वारा श्रीमतीके केशोंको सँवारना।

२७. श्रीमतीकी वेणी बाँधना।

२८. उनके नयनोंमें काजल लगाना।

२९. उनके अधरोंको सुरक्षित करना।

३०. चिबुकमें कस्तूरीके द्वारा बिन्दु बनाना।

३१. अनङ्ग-गुटिका, बीड़ु-विलास आदि प्रदान करना।

३२. मधुर फलोंका संग्रह करना।

३३. फलोंको बनाकर भोग लगानेके लिये प्रदान करना।

३४. किसी एक स्थानमें रसोई बनाना।

३५. श्रीयुगलके पारस्परिक रहस्यालापका श्रवण करना।

३६. श्रीयुगलके वन-विहार, वसन्त-लीला, झूलन-लीला, जल विहार, पाश-क्रीडा आदि अपूर्व लीलाओंके दर्शन करना।

३७. श्रीयुगलके वन-विहारके समय श्रीमतीकी वीणा आदि लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करना।

३८. अपने केशोंके द्वारा श्रीयुगलके श्रीपादपद्मोंकी रजको झाड़ना-पोंछना।

३९. होली-लीलामें पिचकारियोंको सुगन्धित तरल पदार्थोंसे भरकर श्रीराधिका और सखियोंके हाथोंमें प्रदान करना।

४०. झूलन-लीलामें गान करते हुए झूलेमें झोटा देना, झुलाना।

४१. जल-विहारके समय वस्त्र और अलंकार आदि लेकर श्रीकुण्डके तीरपर रखना।

४२. पाश-क्रीडामें विजयप्राप्त श्रीराधिकाजीकी आज्ञासे श्रीकृष्णके द्वारा दावपर रखी मुरली आदि सखियों (या मुरली आदि) को बाँधकर यत्नपूर्वक लाकर उनके साथ हास-विनोद करना।

४३. सूर्य-पूजा करनेके लिये राधाकुण्डसे श्रीमतीके जाते समय उनके पीछे-पीछे जाना।

४४. सूर्य-पूजामें तदनुकूल कार्योंको करना।

४५. सूर्य-पूजाके पश्चात् श्रीमतीके पीछे-पीछे चलकर घर लौटना।

अपराह्ण*-कालीन सेवा

१. श्रीराधिकाजीके रसोई बनाते समय उनके अनुकूल कार्य करना।

२. श्रीराधारानीके स्नान करनेके लिये जाते समय उनके वस्त्राभूषण आदि लेकर उनके पीछे-पीछे जाना।

३. स्नानके पश्चात् उनका शृङ्गार आदि करना।

४. सखियोंसे घिरी हुई श्रीवृन्दावनेश्वरीके पीछे-पीछे अटारीपर चढ़कर वनसे लौटते हुए सखाओंसे घिरे श्रीकृष्णके दर्शन करके परमानन्द-उपभोग करना।

५. छतके ऊपरसे श्रीराधिकाजीके उतरनेके समय सखियोंके साथ उनके पीछे-पीछे उतरना।

सायंकालीन† सेवा

१. श्रीमतीका तुलसीके हाथ व्रजेन्द्र श्रीनन्दजीके घर भोज्य-सामग्री भेजना। श्रीकृष्णको पानकी गुल्ली और पुष्पोंकी माला अर्पण करना तथा संकेत-कुंजका निर्देश करना। तुलसीके नन्दालय जाते समय उसके साथ जाना।

२. नन्दालयसे श्रीकृष्णका प्रसाद आदि ले आना।

---

* सूर्यास्तके पूर्व छः दण्डके कालको अपराह्ण-काल कहा जाता है।

† सूर्यास्तके उपरान्त छः दण्डका काल सायंकालके नामसे व्यवहृत होता है।

३. वह प्रसाद श्रीराधिका और सखियोंको परोसना ।

४. सुगन्धित धूपके सौरभसे उनकी नासिकाको आनन्द देना ।

५. गुलाब आदिसे सुगन्धित शीतल जल प्रदान करना ।

६. कुल्ला आदि करनेके लिये सुवासित जलसे पूर्ण आचमन-पात्र प्रदान करना ।

७. इलायची-लौंग-कपूर आदिसे सुवासित ताम्बूल अर्पण करना ।

८. तत्पश्चात् प्राणेश्वरीका अधरामृत-सेवन अर्थात् उनका बचा प्रसाद भोजन करना ।

प्रदोष*कालीन सेवा

१. सन्ध्याकालमें वृन्दावनेश्वरीका वस्त्रालंकारादिसे समयोचित श्रृङ्गार करना अर्थात् कृष्ण-पक्षमें नील वस्त्र आदि और शुक्ल पक्षमें शुभ्र वस्त्रादि तथा अलंकार धारण कराना एवं गन्धानुलेपन करना ।

२. अनन्तर सखियोंके साथ श्रीमतीको अभिसार कराना तथा उनके पीछे-पीछे गमन करना ।

निशा†कालीन सेवा

१. निकुञ्जमें श्रीराधा-कृष्णका मिलनदर्शन करना ।

२. रासमें नृत्य आदिकी माधुरीके दर्शन करना ।

३. वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिकाजीके नूपुरकी मधुर ध्वनि और श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनिकी माधुरीको श्रवण करना ।

४. श्रीयुगलकी गीत-माधुरीका श्रवण करना तथा नृत्यादिके दर्शन करना ।

५. श्रीकृष्णकी वंशीको चुप कराना ।

६. श्रीराधिकाकी वीणा-वादन-माधुरीका [illegible] करना ।

७. नृत्य, गीत और वाद्यके द्वारा [illegible] श्रीराधा-कृष्णके आनन्दका विधान करना ।

८. सुवासित ताम्बूल, सुगन्धित [illegible], [illegible], सुवासित शीतल जल और [illegible] द्वारा श्रीराधा-कृष्णकी सेवा करना ।

९. श्रीकृष्णका मिष्टान्न तथा फलादि भोजन [illegible] दर्शन करना ।

१०. सखियोंके साथ वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिका[illegible] श्रीकृष्णके प्रसादका भोजन करते हुए दर्शन करना ।

११. उनका अधरामृत (अवशेष भोजन) ग्रहण करना ।

१२. सखियोंके साथ-साथ श्रीराधा-कृष्ण [illegible] दर्शन करना तथा उनके ताम्बूल-सेवन और [illegible] माधुरीके दर्शन करते हुए आनन्द-लाभ करना ।

१३. सुकोमल शय्यापर श्रीयुगलको शयन कराना ।

१४. सखियोंके साथ [illegible] श्रीयुगल-लीला-दर्शन करना ।

१५. परिश्रान्त श्रीयुगलकी व्यजनादिद्वारा सेवा करना और उनके सो जानेपर सखियोंका अपनी-अपनी [illegible] सोना । स्वयं भी वहीं सो जाना ।

निम्नलिखित दिनोंमें श्रीकृष्णकी [illegible] और श्रीमतीकी सूर्यपूजा बंद रहती है—

१. श्रीजन्माष्टमीके दिन और उसके बाद दो दिनतक ।

२. श्रीराधाष्टमीके दिन और उसके बाद दो दिनतक ।

३. माघकी शुक्ला पञ्चमी अर्थात् [illegible] फाल्गुनी पूर्णिमा अर्थात् दोलपूर्णिमातक [illegible] दिनोंतक ।

श्रीहरिकी पूजाके आठ पुष्प

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः । तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च ॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानं ज्ञानं विशेषतः । सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः ॥
एतैरेवाष्टभिः पुष्पैस्तुष्यते चार्चितो हरिः । पुष्पान्तराणि सन्त्येव बाह्यानि मनुजोत्तम ॥

'अहिंसा, इन्द्रियसंयम, जीवदया, क्षमा, मनका संयम, ध्यान, ज्ञान और सत्य—इन आठ पुष्पोंसे पूजित होनेपर श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं । दूसरे पुष्प तो बाहरी उपचार हैं ।'

---

* सूर्यास्तके उपरान्त छः दण्डके कालको प्रदोष कहते हैं ।

† प्रदोषके उपरान्त बारह दण्डके कालको निशाकाल कहा जाता है ।

वल्लभ-सम्प्रदायमें अष्टयाम-सेवा-भावना

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

वल्लभ-सम्प्रदायके पुष्टिभक्ति-सन्निधिमें अवगाहन करनेका अवसर भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रह तथा कृपासे किसी विरलेको मिलता है। पुष्टिसेवा-भावना अत्यन्त निगूढ और महत्त्वपूर्ण है। इसमें समस्त कर्म पूर्ण समर्पणके साथ यशोदोत्सङ्ग-लालित वात्सल्य-साम्राज्यके महामहिम अधिपति पूर्णपुरुषोत्तम लीलाविहारी भगवान् श्रीनन्दनन्दनको प्रसन्न करने और सुख देनेके लिये किये जाते हैं। वल्लभ-सम्प्रदायमें अष्टयाम-सेवा-भावनाकी मूलभूमि भगवदाश्रय है, बिना इसके सेवा-भावना सिद्ध ही नहीं होती। जबतक सेवकमें साधनकी अपेक्षा है, तबतक अन्याश्रय है। भगवान्‌का अनुग्रह होनेपर भाव अङ्कुरित होता है और इसके बाद स्वरूप भगवान्‌का आश्रय अपने-आप ही मिल जाता है। श्रीमदाचार्यचरण महाप्रभु वल्लभका वचन है—

> तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
> भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्॥
>
> (पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेद १९)

निस्सन्देह पुष्टिमार्गीय जीव सबसे भिन्न हैं और यह सृष्टि केवल भगवद्रूपकी सेवाके लिये ही हुई है। पुष्टि-मार्गमें भाव ही साधन है, भाव ही फल है। पुष्टिमार्गीय अष्टयाम-सेवा-भावनामें भगवदाश्रयपूर्वक भावका ही पोषण है। आचार्यचरणकी वाणी है—

> चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
> ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥
>
> (सिद्धान्त-मुक्तावली २)

'चित्तको भगवान्‌में जोड़ देना ही सेवा है, इसकी सिद्धि प्रभुके चरणमें तन-धन—सर्वस्वका समर्पण करनेसे होती है; इससे संसारके दुःखकी निवृत्ति होती है और ब्रह्मका बोध हो जाता है।' प्रभुचरण हरिरायजीकी उक्ति है—

> श्रीकृष्णः सर्वदा स्मर्यः सर्वलीलासमन्वितः।
>
> (शिक्षापत्र ११। ३)

श्रीकृष्णका स्मरण होनेसे चित्त उनकी सेवामें सहज प्रवृत्त हो जाता है। भगवान्‌की सेवा फल, भोग और मोक्षकी प्राप्तिके लिये नहीं करनी चाहिये—ऐसा पुष्टि-मार्गीय सेवा-भावनाका स्वरूप है। महाप्रभु वल्लभाचार्यका कथन है कि सर्वभावसे प्रत्येक समय सदा-सर्वत्र श्रीकृष्ण ही सेव्य हैं, यही सबसे बड़ा धर्म है। उनका यही कथन अष्टयाम-सेवा-भावनाकी आधारशिला है—

> सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
> स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥
>
> (चतुःश्लोकी १)

सदा श्रीकृष्णके ही चरणोंका स्मरण करना चाहिये, भजन करना चाहिये—इसीकी परिपुष्टिके लिये वल्लभ-सम्प्रदायके आचार्यचरणोंने अष्टयाम-सेवा-भावनाका विधान किया है। अष्टयाम-सेवा-भावनाका आशय है—भगवान्‌के लीला-चिन्तनमें निरन्तर मनका लगे रहना।

पुष्टिमार्गमें सेवाके साधन और फलमें अन्तर नहीं माना गया है। दोनों एकरूप हैं। अष्टयाम-सेवा आठ यामों (पहरों) में विभक्त है। प्रातःकालसे शयन-समयतक इसके—मङ्गला, शृङ्गार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या-आरती और शयन—आठ रूप हैं। श्रीगुसाईंजी विठ्ठलनाथ-जी महाराजने अष्टयाम-सेवा-भावनाको विशेष रूपसे प्राणान्वित किया। उन्होंने अपने अष्टछापके भक्त कवियोंको इन आठ प्रकारकी झाँकियोंमें कीर्तनकी सेवा प्रदान की थी। विठ्ठल-नाथजीके जीवनकालमें अष्टयाम-सेवा-भावनाका स्वारस्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उन्होंने आठों दर्शनोंके लिये क्रमशः परमानन्ददास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, कुम्भनदास, सूरदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और कृष्णदासको कीर्तन-सेवा प्रदान की थी। अष्टयाम-सेवा-भावनाका निरूपण प्रभु-चरण हरिरायजीने भी अपने साहस्री-भावना या सेवा-भावना ग्रन्थमें किया है।

मंगलाकी झाँकीमें पहले श्रीकृष्णको जगाया जाता है, उसके बाद मङ्गल-भोग रखा जाता है, फिर आरती की जाती है। यशोदा-परिसेवित श्रीकृष्णके मङ्गल-दर्शनका इस प्रकार निरूपण किया गया है—

> जनन्युत्सङ्गसंलग्नः प्रदर्शितमुखाम्बुजः।
> यशोदाचुम्बितमुखो नन्दाद्युत्सङ्गलालितः॥
> स्वकाङ्क्षितभक्तगोपालसंगीतगुणसागरः।
> भक्तश्रीवृन्दावनरसकटाक्षपरिपूरितः॥
>
> (साहस्री-भावना ५-६)

मध्याह्ने निजवत्सस्निग्धगोपीजनावृता ।
सम्मार्जयद्भूपात्रपक्वान्नव्यञ्जनादिकम् ॥
× × × ×
तावत् सकलसद्वस्तु सुवर्णरजतादिजे ।
पात्रे प्रत्येकमथवा निधाय न मिलेद् यथा ॥
(सादरी-भावना २२७—२९, २३४)

यशोदा गोपीको सावधान करती हैं कि सब सामग्री अच्छी तरह रख दी गयी है न, मिल न जाय एक दूसरेमें; माताके स्तनसे दूध झर रहा है, उनका कण्ठ गद्गद है, नयनोंमें प्रेमाश्रु हैं। गोपी राजभोग नन्दनन्दनके समक्ष उपस्थित करती है, प्रभु लीलापूर्वक कालिन्दीके तटपर बैठकर भोजन कर रहे हैं—

जमुना-तट भोजन करत गोपाल ।
विविध भाँति दे पठयौ जसुमति व्यंजन बहुत रसाल ॥
ग्वाल मंडली मध्य बिराजत हँसत हँसावत ग्वाल ।
कमलनयन मुसकाय मंद हँस करत परस्पर ख्याल ॥
× × × ×
'नन्ददास' तहँ यह सुख निरखत अँखिया होत निहाल ॥
(कीर्तनसंग्रह ३रा भाग)

(५)

राजभोगके बाद प्रभु मध्याह्नमें शयन करनेके लिये कुञ्जमें प्रवेश करते हैं। छः घड़ी दिन शेष रहनेपर प्रभुको जगाया जाता है। यह उत्थापन-दर्शन है।

तदावशिष्टे दिवसे पश्चात् षड्घटिकात्मके ।
समागत्य सखीवृन्दः कपाटान्तिकमास्थितः ॥
प्राबोधयद् व्रजपतिं तथालीलानिरूपणैः ।
राधिकाकान्त जातोऽयं समयस्त्वत्प्रबोधने ॥
गोपाः सगोधना गन्तुं व्रजं पश्यन्ति ते पथम् ।
स्वामिनीदर्शनानन्द स्वामिनीसहसंस्थिते ॥
× × × ×
गोवर्धने समागत्य पुलिन्दीभिः कृतोद्यमः ।
कन्दादिकं समीकृत्य तथा वन्यफलानि च ॥
× × × ×
समानीय स्वयं मन्नपदवीं तव पश्यति ।
पूरणीयस्ततस्तस्य भवतैव मनोरथः ॥
(सादरीभावना ४९९—५०१, ५०६, ५०९)

"जब छः घड़ी दिन शेष रहता है, तब सखियाँ कुञ्जभवनके दरवाजेके सामने आकर खड़ी हो जाती हैं और प्रभुकी लीलाओंका वर्णन करके व्रजपतिको जगाती हैं। वे कहती हैं—'राधिका-कान्त! आपके जागनेका समय हो गया है। गायोंके साथ गोपाल व्रजमें जानेके लिये आपकी बाट देख रहे हैं। हे स्वामिनीके दर्शनसे आनन्दका अनुभव करनेवाले, हे स्वामिनीके साथ ही स्थित रहनेवाले श्यामसुन्दर! × × × × गोवर्धनपर पुलिन्दियोंके साथ सखियाँ कन्द आदि तथा वनके विविध फलोंको लिये आपकी बाट देख रही हैं; आप पधारकर उनका मनोरथ पूर्ण करें।'"

(६)

सखियोंके यों कहनेपर लीलाविहारी मदनमोहन शय्यासे उठते हैं। गिरिराजपर पधारकर कन्द-मूल-फलादि आरोगते हैं। यह भोग-दर्शन है।

फलानि फलरूपेण फलरूपयुतः फलम् ।
हरिदासस्य फलदः फलादः सोऽभवत् प्रभुः ॥
(सादरी-भावना ५२५)

श्रीबालकृष्णकी यह झाँकी अद्भुत है। प्रभु वन-प्रान्तसे घर आनेके लिये उत्सुक हैं।

छबीले लाल की यह बानिक बरनत बरनि न जाई ।
देखत तन मन कर न्यौछावर, आनँद उर न समाई ॥
कंद मूल फल आगें धरि कें रहो हैं सकल सिर नाई ।
'गोविंद' प्रभु पिय सों रति माना पठई रसिक बिनाई ॥
(कीर्तनसंग्रह ३रा भाग)

भोग आरोगनेके बाद बाट जोहनेवाली माँकी आकुलता-का चिन्तनकर हरि गोप-धेनु-समन्वित संध्याकालमें घरकी ओर चल पड़ते हैं।

(७)

सातवीं सेवाभावनामें संध्या-आरती है। श्रीकृष्ण मन्द-मन्द वेणु बजाते हुए वनसे गाय चराकर लौट रहे हैं, माता यशोदा पुत्र-दर्शन-लालसासे आकुल होकर उनका पथ देख रही हैं। गोधूलि-वेलामें गोपाल-लालकी छवि परम रमणीय है। व्रज-गोपाङ्गनाएँ प्रभुका वदनारविन्द निहारती हैं, वेणु-वादन सुनती हैं और रस-सागरमें निमग्न हो जाती हैं; यशोदाके हृदयमें वात्सल्य-सागर उमड़ पड़ता है। प्रभु उनके इस भावसे मुग्ध हो रहे हैं; यशोदाजी उनकी आरती उतारती हैं।

बालमालोक्य मुदिता जातहर्षा हरिप्रदः ।
सर्वाङ्गस्वेदरोमाञ्चकम्पस्तम्भा सखीयुता ॥
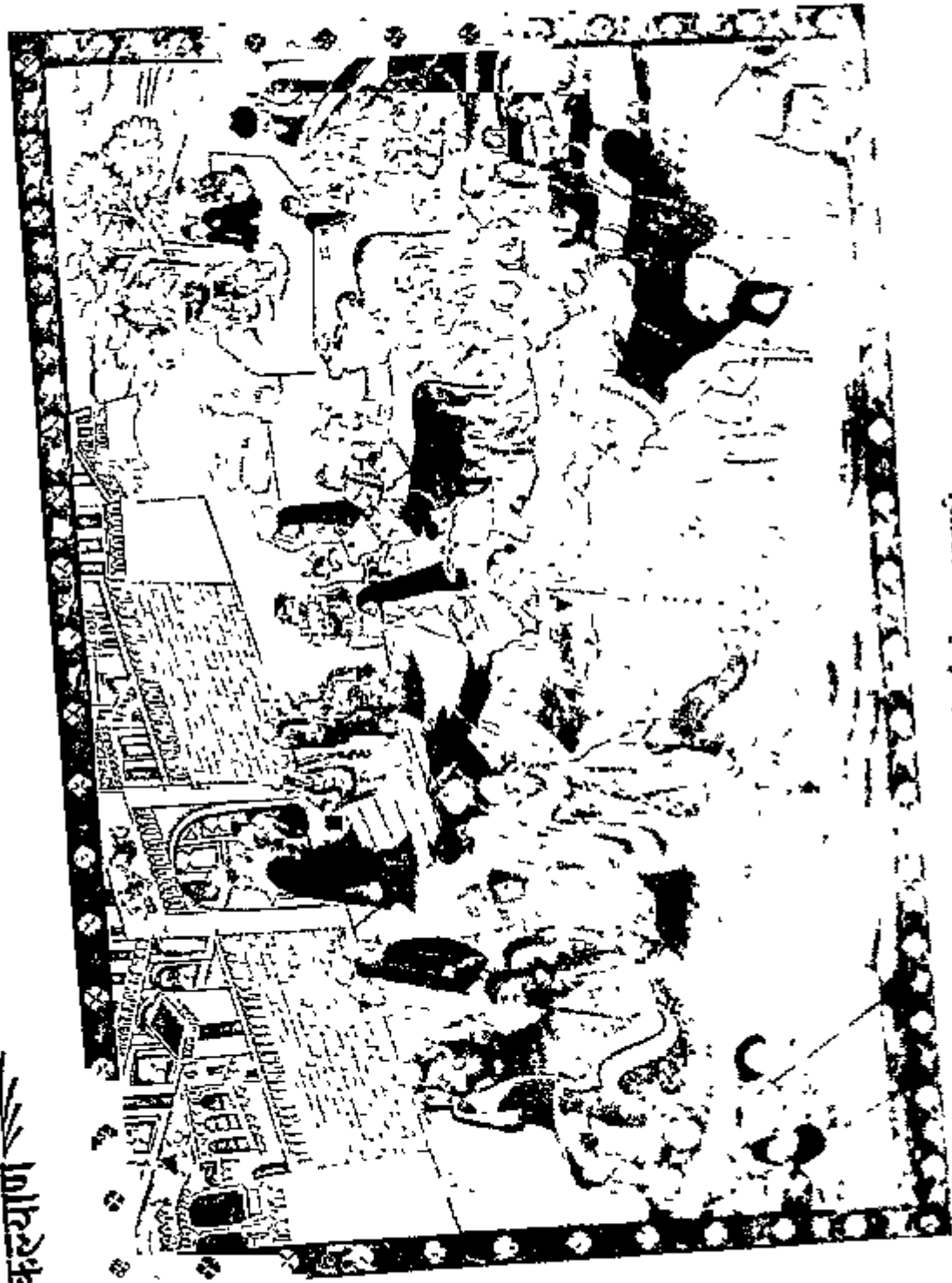
जनमे नंदके गृह बनवारी

उच्चारितवती सूनोरुपर्यारात्रिकं शुभम्।
कर्पूरैणमदस्वाज्यचिनमदुर्वर्तिकायुतम्॥

(साहली-भावना ७७३-७७८)

'यशोदा मैया सब सखियोंके साथ अपने बालगोपालको देखकर मुदित तथा हर्षित होती हैं। उनके सर्वाङ्गमें स्वेद, रोमाञ्च, कम्प और स्तम्भ दीख पड़ते हैं। वे कपूर, घी एवं कस्तूरीसे सुगन्धित वर्तिकायुक्त आरती अपने पुत्रपर वार रही हैं।'

लटकत चलत जुवति सुखदानी।
संध्या समै लखा गऊ में सोभित तनु गोरज लपटानी॥
मोर मुकुट गुंजा पियरो पट मुख मुरली गुंजत मृदु बानी।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधारी आप मन ते कै आरति वारत नँदरानी॥

(कीर्तनसंग्रह ३रा भाग)

(८)

सन्ध्या-आरतीके बाद शयन-भावनाका क्रम चलता है। यशोदा अपने लालको शयन-भोग आरोगनेके लिये बुलाती हैं, आरोगनेकी प्रार्थना करती हैं। वे कहती हैं—'हे पुत्र! मैंने अनेक प्रकारकी सरस सामग्री सिद्ध की है। सोनेके कटोरेमें नवनीत और मिश्री भी प्रस्तुत हैं।' प्रभु भोजन करते हैं। प्रभु इसके बाद दुग्ध-धवल शय्यापर शयन करनेके लिये विराजमान होते हैं। माता यशोदा उनकी पीठपर हाथ फेरकर सो जानेके लिये अनुरोध करती हैं और उनकी लीलाओंका गान करती हैं—

उपविश्य स्वयं शय्यासमीपे सुतवत्सला।
धृतपुत्रकरागायचिद्रागमनसिद्धये॥

(साहली-भावना १०३८)

माँ अपने लालको निद्रित जानकर उनके पास सखीको बैठाकर अपने घरमें चली जाती हैं। सखियोंका समूह दर्शन करके निवेदन करता है कि [illegible] रही हैं, शय्या आदि [illegible] श्रीस्वामिनीकी विरहावस्थाका वर्णन सुनकर [illegible] शय्या त्यागकर तुरंत मन्द-मन्द गतिसे [illegible]—

कोटिकन्दर्पलावण्यो [illegible]।
मन्दीप्रदर्शितपथः [illegible]॥

([illegible])

'करोड़ों कामदेवोंके लावण्यवाले [illegible] श्यामसुन्दर सखियोंके बताये मार्गसे धीरे-धीरे [illegible]।' यों धीरे-धीरे मुरली बजाते वे [illegible] प्रवेश करते हैं। यही दिव्य झाँकी है—

[illegible] ठाढ़े कुंज भवन।
लटपटि पाग छुटी अलकावलि, [illegible]॥
कहा कहौं अँग-अँग की सोभा, [illegible]।
'गोविंद' प्रभु की यह छबि निरखत [illegible]॥

([illegible])

भगवान् श्रीकृष्णके नित्य आश्रयसे ही [illegible] प्रचलित आठ पहरकी सेवा-भावनाका [illegible] है। श्रीकृष्णकी सेवा ही [illegible] धर्म है—

तस्माद् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥

([illegible])

श्रीकृष्णके आश्रयसे—[illegible] ही [illegible] भावना सिद्ध होती है। इसके द्वारा [illegible] नवघनश्यामशरीर [illegible] निरन्तर अनुराग बढ़ता है, भगवान् [illegible] मिलता है।

भगवान्‌की दयालुता

उद्धवजी कहते हैं—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० [illegible])

'पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था; उसको भी भगवान्‌ने वह परमगति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें।'

श्रीकृष्ण-भक्ति-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीब्रजचन्द्रजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने अपने भक्ति-तत्त्वका निरूपण विशेषरूपमें गीताके सातवें अध्यायसे प्रारम्भ किया है। उसका पहला पद है—

'मय्यासक्तमनाः'

हमारे देशके उत्कृष्ट साधक संत महात्मा गाँधीजी जिस गीताको 'अनासक्ति योग' के नामसे पुकारते हैं, वही गीता हमें यहाँ आसक्तिका उपदेश कर रही है और कहती है—'मनको मुझ भगवान्‌में आसक्त करो तो मुझे सम्पूर्ण जान लोगे और चित्तके सभी संदेह नष्ट हो जायँगे; पर यहींपर यह भी सूचित किया गया है—

'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (७ । ३)

'मेरे तत्त्वको या तत्त्वतः मुझको कोई एक ही जानता है।' अन्तिम (अष्टादश) अध्यायमें कहा गया है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् । (१८ । ५५)

'मुझमें मन आसक्त करके जब भक्त तत्त्वतः मेरा ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब उसे मेरे धाममें प्रवेश मिलता है।' शुद्ध (परा) भक्तिका प्रारम्भ यहींसे होता है। उस शुद्ध भक्तिका तत्त्व-वर्णन करना क्या किसी भी विषयी, पामर प्राणीके लिये सम्भव है? फिर भी जो यह लेख लिखनेकी प्रेरणा मिली, इसे मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। इसी बहाने श्रीकृष्ण-नामके स्मरण, उच्चारण, लेखन और कीर्तनका पुण्य तो प्राप्त होगा ही और धीरे-धीरे कृपा करके वे ही अपनी शुद्ध परा-भक्तिका तत्त्व अनुभव करा देंगे—ऐसा विश्वास है।

आइये, पहले हम उन्हीं परम पुरुषके मूलस्वरूपका चिन्तन करें, जिनकी नित्य भक्तिका तत्त्व हमें समझना है।

भगवान्‌ने कहा है—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (५ । २९) अर्थात् मैं सभी प्राणियोंका मित्र हूँ।

ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपकी ओर आकृष्ट न हो। वे अपनी रूप-माधुरीसे सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको सर्वदा आकृष्ट कर रहे हैं और हमें निमन्त्रण दे रहे हैं कि 'शीघ्र ही मुझसे आकर मिलें।' महाराष्ट्रके एक परम संतकी वाणी है—

> वाट पाहे उभा, भेटीची आवडी ।
> कृपालु तांतडी उतावीळ ॥

'प्रभु खड़े-खड़े बाट देख रहे हैं, उनको जीवोंसे मिलनेकी बहुत उतावली है। वे परम दयालु हैं—उनकी रुचि ही यह है कि समस्त प्राणी शीघ्रतासे आकर उनसे मिल लें।'

ऐसी बात होनेपर भी हम उनके चरणोंमें क्यों नहीं पहुँचते?—विषयोंमें क्यों लिपटे हुए हैं? इसका मूल कारण यही है कि हमें उनके मूलस्वरूप और अद्भुत रूप-माधुरीका ज्ञान नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

> जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
> प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई।

'जाने बिना प्रतीति नहीं, प्रतीतिके बिना प्रीति नहीं और प्रीतिके बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती। तब आइये, हम उन भगवान्‌को जाननेका प्रयत्न करें, जिससे उनमें विश्वास हो, विश्वाससे प्रेम हो और प्रेमसे दृढ़ भक्तिका प्रादुर्भाव हो, जो हमारे जीवनका अन्तिम लक्ष्य और शाश्वत ध्येय है।

भगवान्‌को जाननेके पहले हमें अपने स्वरूपका ज्ञान करना पड़ेगा; क्योंकि भगवान्‌को जाननेवाला कौन है? जिसे अपने स्वरूपका विपरीत ज्ञान है, वह भगवान्‌को कैसे जान सकता है। और अपने स्वरूपका सम्यग्-ज्ञान भी अत्यन्त कठिन है। क्योंकि—

> आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
> माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
> आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
> श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥
> (गीता २ । २९)

अपने आत्मस्वरूपको गुरुके वचनोंसे सुनकर भी कोई नहीं जानता—ऐसा भगवान् कहते हैं। फिर भगवान्‌को जानना तो और भी कठिन है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

मां तु वेद न कश्चन ।

'मुझे तो कोई नहीं जानता।' ऐसी हालतमें भक्ति-तत्त्वका और उसमें भी श्रीकृष्ण-भक्ति-तत्त्वका, जो समस्त आकर्षणोंका केन्द्र-बिन्दु है, वर्णन कैसे हो?

बात यह है कि भक्ति-तत्त्व 'वर्णनका विषय नहीं है'—यही उसका वर्णन है। 'यह ज्ञानका विषय नहीं'—यही उसका ज्ञान है; यह तो श्रद्धा, विश्वास, रुचि और प्रेमका विषय है। बुद्धिका काम है वस्तुका विभक्तीकरण और हृदयका काम है भक्तीकरण। बुद्धिका काम है अलग-अलग करके जानना और भक्तिका काम है लगकर मानना या गुरु-वचनोंको मानकर लगना।

भक्ति-तत्त्व स्वीकारपर चलता है और बुद्धि-तत्त्व अस्वीकारपर। जबतक हम किसीको अपना नहीं बनाते—

स्वीकरण या वरण नहीं करते, तबतक भक्ति कैसे होगी ? आस्तिकताका अर्थ ही यह है कि मान लें कि 'है' और फिर उसमें लग जायँ तो उसकी प्राप्ति हो जायगी। भक्ति-तत्त्वमें मानकर जाना जाता है और बुद्धि-तत्त्वमें जानकर माना जाता है।

भारतीय संस्कृतिमें वधूका स्वभाव वरको जानकर मानना नहीं है। माता-पिताके द्वारा सुनकर उसे मानकर बादमें जाना जाता है, फिर पाकर भक्ति की जाती है। अन्य स्थानोंपर इस विषयमें विकृति पायी जाती है—उसे संस्कृति कहते लज्जा आती है। माता-पितापर विश्वास नहीं, पहले जानकर फिर वर मानते हैं और इसीलिये तलाककी बारी आती है; क्योंकि उनके जाननेमें विज्ञान तो होता है, पर सम्यग्ज्ञान न होनेसे उसे अज्ञान ही कहना चाहिये। विविधताओंका ज्ञान विज्ञान है, समत्वका ज्ञान सम्यग्-ज्ञान है; उन विविधताओंमें समत्वका ज्ञान नहीं है तो वह अज्ञान ही है। भगवान् कहते हैं—समोऽहं सर्वभूतेषु 'मैं सब भूतोंमें सम हूँ।'

तात्पर्य यह है कि हमें भक्ति-तत्त्वका [illegible] आस्तिकताके आधारपर [illegible] मान लो कि श्रीकृष्ण परम सुन्दर हैं। [illegible] किये हैं। शास्त्र भी हमारे कल्याणके लिये ही [illegible] हैं। अतः लग जाओ—

'मन्मना भव।'

निश्चय ही—

'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि।'

और फिर—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

'मुझे तत्त्वतः जानकर मेरे भावमें प्रवेश पा लेता है।' यही नित्य-दिव्य-लीलामयी भक्ति [illegible], जिसके [illegible] भोक्ता भगवान् हैं—

'भर्ता भोक्ता महेश्वरः'

हम नित्य सेवक (भोग्य) और भगवान् नित्य भोक्ता (सेव्य)। आनन्द-ही-आनन्द !

पत्थरकी मूर्ति और भगवान्

(लेखक—श्रीकिरणदत्तजी माथुर, बी० ए०, साहित्य-विशारद)

जब देव-मन्दिरोंकी शङ्ख-ध्वनि अपनी सुमधुरतासे चित्तको शान्ति प्रदान करती थी, वह अपने कानोंमें उँगलियाँ डाल लेता था। भगवद्विग्रहके सम्मुख ध्यानावस्थित भक्तोंको ढोंगी और मूर्ख कहा करता था वह। नास्तिक नहीं था वह, ईश्वरपर उसे विश्वास था; पर भगवद्विग्रहकी सेवा-अर्चना करनेवालोंका वह कट्टर विरोधी था। उसे यह कहा करता था कि कहीं एक पत्थरकी मूरतके आगे हँसने, गिड़गिड़ाने और रोने-धोनेसे कुछ होता-जाता है। बीसवीं सदीके इस नवयुवक रुद्रदत्तके लिये यह बात कोई अद्भुत नहीं, स्वाभाविक ही थी। जिस वातावरणमें वह पला था, वह बुद्धिवादी था, श्रद्धायुक्त नहीं। तर्कको ही ज्ञानकी वास्तविक कसौटी समझना इस वातावरणकी विशेषता है। परंतु यदि कोई उसे समझानेका प्रयत्न करता तो वह कुतर्क करने लगता और बड़े-बड़े महात्माओंका, जो बीहड़ वनोंमें रहकर केवल ईश्वर-चिन्तन करते हैं और किसी पत्थरकी मूरतसे कोई सरोकार नहीं रखते, उदाहरण देकर अपने पक्षका समर्थन किया करता था।

× × ×

'रुद्र भैया! रुद्र भैया!' पुकारा किसीने।

प्रभातका समय था। भगवान् मरीचिमाली अपनी स्वर्णिम किरणोंसे जगत्‌के जीवनको अनुप्राणित कर रहे थे। [illegible] सुरीली और मीठी तानोंमें जीवनका एक नया संदेश [illegible] रहा था। ऐसे समयमें एक युवकने 'रुद्रदत्त'के [illegible] कपाटको खटखटाया। उसने किवाड़ खोलकर देखा तो अपने सम्मुख 'हरिदास' को खड़े पाया।

'हरिदास' भी रुद्रका अभिन्नहृदय मित्र था। वह यह भी जानता है, कोई-न-कोई नया संदेश [illegible] है—यह जानता था इसे। इसके पूर्व कि वह कोई [illegible] करे—'एक अवधूत आये हैं, गङ्गा-किनारे ठहरे हैं [illegible] उन्होंने। चलोगे दर्शनको? सुना है बड़े [illegible] श्रद्धा और तर्क तो उसमें है ही नहीं [illegible] सोचमें पड़ गया रुद्रदत्त। भला, वह [illegible] छोड़नेवाला था। कई दिनोंसे [illegible] हरिदासको चिढ़ाने लगेगा। उसकी [illegible] हरिदासको भगवद्विग्रहके सम्मुख [illegible] था, यह उसकी निरी मूर्खता ही थी। [illegible]

इमिद [illegible]

पर [illegible]

—उनके मस्तिष्कमें चक्कर लगा रहे थे।

× × ×

अवधूतजीने अपना डेरा बड़े सुन्दर स्थानपर लगाया था। चारों ओर सुन्दर और सघन वृक्षोंकी दीवार-सी चली गयी थी। भगवती भागीरथीका कल-कल नाद वहाँसे स्पष्ट सुनायी पड़ रहा था। रुद्रकी इच्छा थी अवधूतजीसे एकान्तमें मिलनेकी; परंतु दर्शकोंकी भीड़ इतनी अधिक थी कि उस समय बात करना तो दूर रहा, दर्शन करना ही बड़ा कठिन था। अतः दोनों मित्रोंको दूर ही एक वृक्षके पास टिकना पड़ा। दोनों अपने-अपने विचारोंमें लीन थे। कोई परस्पर बातचीत नहीं कर रहा था। दोनों मौन साधे खड़े थे।

रुद्र सोच रहा था—'हरि कितना भोला है। व्यर्थके प्रपञ्चमें कितना शीघ्र फँस जाता है यह। कहता है—"गुरुने मुझे एक भगवान्‌की मूरत दी है और कहा है इसकी प्रेम-भावसे पूजा किया कर, भगवान् तुझपर रीझ पड़ेंगे।" निरा मूर्ख कहींका। भला, पत्थर-वत्थरकी पूजा करनेसे भी कोई दर्शन होता है? क्या जगत्-नियन्ताने इसी हेतु मानवको बुद्धि दी है कि इसका बिना प्रयोग किये—बिना तर्ककी कसौटीपर कसे, वह जो सुने उसे मानता चला जाय?' वह सोच रहा था कि आज हरिदासकी आँखें खुल जायँगी।

इधर हरिदास भी विचारशून्य नहीं था। उसे अपने मित्रके विचारोंपर क्रोध नहीं, दया आती थी। उस श्रद्धामय युवकका मुखमण्डल एक शान्त-स्निग्धभावसे जगमगा रहा था। अपने गुरु-वचनोंमें पूर्ण आस्था है उसे, ऐसा लक्षित होता था उसकी सूरतसे।

लगभग एक घड़ीतक उन्हें उसी वृक्षके तले बैठे रहना पड़ा, तब कहीं अवधूतपादके दर्शन उन्हें हो सके। अवधूतपाद वास्तवमें बड़े प्रतिभाशाली थे। उनका गौर वर्ण और उन्नत ललाट एक अलौकिक तेजसे प्रकाशित था। आँखोंमें एक शान्ति-सी विराजमान थी। उन्होंने सकेतसे इन दोनोंको बैठनेके लिये कहा। दोनों मित्र धीरे-से बैठ गये।

'तो जिज्ञासा है तुम्हारे हृदयमें?' अवधूतपादने प्रश्न किया। भला, आजके नवयुवक जिज्ञासाके अतिरिक्त और क्या करने आवेंगे—जानते थे अवधूतपाद।

'हाँ स्वामीजी! जिज्ञासा है और हम दोनों मित्रोंमें विवाद भी'—रुद्रने जरा आश्वस्त होकर कहा।

'तो कह डालो अपना असमंजस। निवारण करनेका प्रयत्न करूँगा।'

'स्वामीजी! हरि कहता है कि मूर्तिपूजासे साक्षात् ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है; क्या यह सच है? मेरी समझमें तो यह भ्रममें है। भला, कहीं उस अव्यक्त-अलौकिक परमात्माकी मूरत गढ़कर पूजनेसे वह प्राप्त हो सकता है।'

'तो फिर तुम्हारे विचारसे कैसे उसकी प्राप्ति हो सकती है?'

'ध्यानसे—चिन्तनसे।'

'बहुत ठीक! तुम समझते तो दोनों ही ठीक हो। पर क्या तुम बतलाओगे कि उस अव्यक्त-अलौकिक परमात्माका ध्यान कैसे करोगे?'

'अपने चित्तको एकाग्र करके'—रुद्रने कहा।

'चित्त काहेमें एकाग्र करोगे?'

'शून्यमें।'

'क्या शून्य ही परमात्माका स्वरूप है?'

'शून्य तो नहीं है, परंतु अव्यक्त-परमात्माका ध्यान उसीमें करनेसे उसकी प्राप्ति होगी।'

'बस, यहीं भ्रममें हो, भैया'—साधुने दयार्द्र होकर कहा।

तुम्हारी ये मायालिप्त आँखें भला, शून्यमें ठहर सकेंगी—और केवल शून्यमें, जो वास्तवमें परमात्माका स्वरूप भी नहीं है? अपने चित्तको एकाग्र करना शून्यका चिन्तन करना नहीं, अपनी चञ्चल इन्द्रियोंको मायाजनित वस्तुओंसे हटानेका अभ्यास करना है और इस अभ्यासकी पूर्णावस्थाका अर्थ यह भी नहीं है कि भगवत्प्राप्ति हो गयी। ऐसा अभ्यास करनेसे तो हृदय शुद्ध होता है, जिससे शुद्ध अन्तःकरणमें परमात्माका आविर्भाव हो सके। इससे तो तुम्हारे मित्रजीका विश्वास अधिक ठीक है।'

'पत्थर-पूजा करनेसे ईश्वर मिले यह तो और भी बेढब बात है, स्वामीजी! मेरा मन तो इसे माननेको तैयार नहीं।' प्रतिवाद किया रुद्रने।

'यह तो विश्वास करनेकी बात है, भैया! विश्वास करके देखो, इसका फल तुम्हें प्रकट दिखायी देगा।'

'जो वस्तु बुद्धि और तर्कसंगत न हो, उसे मेरा मन माननेको तैयार नहीं, स्वामीजी!'

'तो तुम्हें तर्क ही चाहिये?'—अवधूतपादने कहा।

'हाँ, स्वामीजी!'—जरा सकुचित होते हुए कहा रुद्रने।

'तुमने गणित पढ़ी है ?'

'पढ़ी है ।'

'तब तुम शीघ्र समझ जाओगे । तुमने पढ़ा होगा, जब 'मूलधन' का पता नहीं होता, तब हम उसे निकालनेके लिये क्या किया करते हैं—बता सकते हो ?'

'कुछ मान लेते हैं, स्वामीजी ! जैसे—माना कि मूलधन सौ है ।'

'बहुत ठीक ।'

'तब क्या करते हो ?'

'माने हुए धनके प्रयोगसे वास्तविक मूलधनकी प्राप्ति हो जाती है ।'

'अब तक नहीं मिलता तुम [illegible]

'भगवत्-विग्रहकी [illegible] परमात्माको प्राप्त करनेके लिये [illegible] विग्रहको परमात्मा [illegible] प्रकार भगवत्प्राप्ति कर लेता है [illegible] विद्यार्थी वास्तविक मूलधनको ।'

अवधूतके उत्तर [illegible] आज उसके नेत्र [illegible] तत्त्व दर्शन हो गया था । [illegible] चरणोंमें !

हरिदास भी [illegible] हँसी [illegible] रहा था ।

पूजाके विविध उपचार

(संकलनकर्ता—पं० श्रीभैरवजी गोस्वामी [illegible], साहित्य-विशारद)

'उपचार' शब्दका अर्थ और महत्त्व

वह साधन, जिसके द्वारा साधक अपने विमल अन्तःकरणसे भक्ति-भावपूर्वक आराधना [illegible] प्राप्त करता है, उपचार कहलाता है ।

श्रुतियों और तन्त्रोंमें औपचारिक अर्चनका अत्यधिक महत्त्व है । प्रत्येक उपचारके लिये [illegible] मन्त्र निर्धारित हैं । विधिहीन और अमन्त्रक पूजन शास्त्र-सम्मत नहीं है । पूरे विधि-विधानसे [illegible] आराधनासे ही देवगण प्रसन्न होकर साधकको ईप्सित फल प्रदान करते हैं ।

उपचार कितने और कौन-कौन-से हैं ?

प्रचलित एवं प्रधान उपचारोंकी तालिका निम्नाङ्कित है—

मेरुतन्त्रके अनुसार पुरुषसूक्तकी १६ ऋचाओंसे उपर्युक्त १६ उपचारोंद्वारा श्रीविष्णुभगवान्‌के पूजनका विधान है।

अप्रचलित एवं गौण उपचारोंकी तालिका नीचे दी जाती है—

प्रचलित पूजोपचार केवल ५ और १६ हैं; किंतु तन्त्रोंमें १२, १८, ३८, ६४ और १०८ उपचारोंका भी उल्लेख है। साधकको चाहिये कि वह उदार हृदय एवं मुक्तहस्तसे अपने इष्टदेवकी आराधना करे। समन्त्रक एवं विधिपूर्वक अर्चनसे ही साधकको अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त होती है।

सत्यम्। शिवम्॥ सुन्दरम्॥।

महर्षि शाण्डिल्य और भक्तितन्त्र

(लेखक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी)

भक्ति-महिमा

ऋषियोंने महर्षि शाण्डिल्यसे पूछा—'भगवन् ! किसी देश या कालकी अपेक्षा न रखनेवाला, अर्थात् सब जगह और सब समयमें काम देनेवाला ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा मनुष्य सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है ?' महर्षि शाण्डिल्यने उत्तर दिया—

> क्षेममात्यन्तिकं विप्रा हरेर्भजनमेव हि ।
> देशकालानपेक्षाग्र्यं साधनाभावमच्युत ॥
> (शा० सं० १ । ९)

'हे विप्रो ! मनुष्य-जीवनमें सबसे बढ़कर कल्याणकारक भगवद्भजन है । किसी देश या कालकी इसमें अपेक्षा नहीं है और न इसके लिये साधन जुटाने पड़ते हैं ।'

> हरिर्देहभृतामात्मा सिद्धः कण्ठमणेरिव ।
> कः प्रयासो भवेत् तस्य प्रीणने करुणानिधेः ॥
> (शा० सं० १ । १०)

'श्रीहरि देहधारी जीवोंके आत्मा ही है और कण्ठमें स्थित मणिके समान सदा प्राप्त हैं । उन करुणानिधि प्रभुको प्रसन्न करनेमें विशेष प्रयास भी नहीं करना पड़ता ।'

> धर्मार्थकाममोक्षार्थै रेष एवाभिसाध्यते ।
> यथैव सरितः सर्वाः पर्यासक्ताः सरित्पतिम् ॥
> (शा० सं० १ । ११)

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि केवल प्रभुकी आराधनासे ही हो जाती है । जिस प्रकार सारी नदियाँ समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार चारों पुरुषार्थोंका पर्यवसान श्रीहरिकी आराधनामें ही होता है ।'

> क्रियमाणेऽपि यत्रास्ति परमानन्दसम्भृतिः ।
> को न सेवेत तं धर्मं मतिमान् भक्तिलक्षणम् ॥
> (शा० सं० १ । १७)

'जिसका साधन करते समय भी परमानन्दकी प्राप्ति होती रहती है, उस भक्तिरूप धर्मका सेवन कौन बुद्धिमान् पुरुष नहीं करेगा ?'

> भक्तिः श्रीकृष्णदेवस्य सर्वाधीनामनुत्तमा ।
> एषा वै चेतसः शुद्धिर्यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥
> (शा० सं० १ । १९)

'भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंसे भी बढ़कर है । इससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर जीवको शान्ति मिलती है, यह निर्णय हो जाता है ।'

> येन केन प्रकारेण कृष्णस्य भजनं हितम् ।
> तेन सम्मुच्यते जीवो यदानन्दमयो हरिः ॥
> (शा० सं० [illegible])

'नाम-स्मरण, मन्त्रजप, पूजा, ध्यान, स्तोत्र पाठ आदि जिस किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्णका भजन कल्याणकारक होता है । इससे जीव संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है; क्योंकि प्रभु श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं । तब भला, प्रभुका सान्निध्य हो जानेपर जीवको भव-व्याधि कैसे सता सकती है ।'

आचार (सनातन)

> ये यत्र देवा भूदेवा ये धर्माः शास्त्रसम्मताः ।
> ते सर्वथानुसर्तव्या इत्याह भगवानजः ॥
> (शा० सं० [illegible])

'भगवान् ब्रह्माजीकी आज्ञा है कि जिस स्थानमें जो देवता हों, जो ब्राह्मण हों, जो शास्त्र-सम्मत धर्म हों, वहाँ उनको तदनुसार ही बर्तना चाहिये ।'

> तीर्थे देवे तथा क्षेत्रे ग्रामे देशे च पत्तने ।
> या यथा वर्तते रीतिस्तां सर्वां परिपालयेत् ॥
> (शा० सं० [illegible])

'तीर्थस्थानमें, देवताके विग्रहमें, पवित्र क्षेत्रमें, गाँवमें, देशविशेषमें तथा नगरमें जैसी रीति चली आ रही हो, उसका उसी प्रकार पालन करना चाहिये ।'

> तत्र पूज्यमहद्भ्योऽपि [illegible] [illegible] ।
> सततैवानुवर्तव्यो दृष्टपथ [illegible] ॥
> ([illegible])

'जहाँ पूज्य-महापुरुषोंकी भी जैसी मर्यादाएँ [illegible] चली आ रही हों, उनका [illegible] चाहिये । जो उस पद्धतिको दूषित करता है, [illegible] हो जाता है ।'

> [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
> मात्रा संवर्तितं [illegible] [illegible] [illegible] ॥

तदीयाराधनं चर्या नवधा द्विजसत्तम ।
सज्जन्मना विद्ययापि तपसा हरिसेवया ॥
सन्मन्त्रेण नृणां शुद्धिः पञ्चधा परिकीर्तिता ।
नवधा भक्तियोगेन तस्यैवोद्धरणं स्मृतम् ॥

(शा० सं० ३ । २०–२२)

'श्रीकृष्णकी अर्चा, मन्त्र-जप, स्तुति, हवन, ध्यान, नाम-संकीर्तन, सेवा, शङ्ख-चक्रादि उनके चिह्नोंका धारण, उनकी आराधना—यह नवधा भक्ति है। मनुष्योंकी शुद्धि पाँच प्रकारसे होती है—सत्कुलमें जन्म लेनेसे, विद्याध्ययनसे, तपस्यासे, हरि-सेवासे तथा सन्मन्त्रसे; और नवधा भक्तिका योग होनेसे उनका उद्धार हो जाता है।'

भक्तियोगकी शिक्षा स्वयं श्रीविष्णुभगवान्‌ने ब्रह्माजीको सृष्टिके आदिमें दी तथा तारक महामन्त्रका जप करनेका आदेश दिया।

भक्ति-विकास—उद्भव और प्रसार

तारकं मे महामन्त्रं जप त्वं येन वाञ्छिता ।
भक्तिः सृष्टिश्च भो ब्रह्मन् समृद्धा सम्भविष्यति ॥

(शा० सं० ४ । २९)

'हे ब्रह्मन्! तुम मेरे तारक महामन्त्र (राम-नाम) का जप करो, जिससे मनोवाञ्छित भक्ति प्राप्त होगी तथा समृद्ध (प्रचुर) सृष्टि उत्पन्न होगी।' इससे ज्ञात होता है कि भक्तिका उद्भव पहले-पहल ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें सृष्टिरचनासे पूर्व ही हुआ था। उसके बाद—

उपासितो वसिष्ठेन कदाचित् प्रपितामहः ।
प्राप्य प्राह महायोगं भक्तियोगं यथायथम् ॥
वसिष्ठोऽपि कृपाविष्टः शक्तये भक्तितो जगौ ।
पराशराय सन्मन्त्रं कुरुक्षेत्रे असौ स च ॥
पराशरो जजापैनं भक्त्याऽऽचारेण सादरम् ।
जातोऽसौ परमाचार्यो मुकुन्दे भक्तिमान् मुनिः ॥
मुकुन्दभजनात् तस्य पुत्रो व्यासो महामुनिः ।
यतो धर्मो यतो ज्ञानं यतो भक्तिः प्रवर्तते ॥

(शा० सं० ४ । ३४–३७)

'वसिष्ठजीने ब्रह्माजीकी उपासना करके भक्तिरूपी महा-योगको यथार्थरूपमें प्राप्त किया और वसिष्ठजीने कृपापूर्वक अपने भक्तिमान् पुत्र शक्ति ऋषिको भगवद्भक्तिका उपदेश किया। उन्होंने यह मन्त्र कुरुक्षेत्रमें अपने पुत्र पराशर मुनिको प्रदान किया। पराशर मुनिने आचारपूर्वक आदरभावसे तथा भक्तियुक्त होकर उस मन्त्रका जप किया, जिसके फलस्वरूप वे श्रीभगवान्‌के भक्त एवं भक्तिके परम आचार्य हुए। मुकुन्दके भजनके प्रतापसे उन्हें महामुनि व्यास-जैसा पुत्र प्राप्त हुआ, जिसने संसारमें धर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रवर्तन किया।' तत्पश्चात्—

पाराशर्यात् प्रवृत्ताभूद् भक्तेः सरणिरुत्तमा ।
ज्ञानवैराग्यसम्पूर्णा वेदवेदान्तसम्मता ॥
अग्राहि तां समाराध्य मधुनामा प्रभञ्जनः ।
मधुविद्येति सा प्रोक्ता दधीचिर्यामुवाच ह ॥
सा विद्या परमा लोके बहुधासीत् प्रभञ्जनात् ।
यस्यां मन्त्रविभागोऽपि देशिकानां पृथक् पृथक् ॥
कर्णाटके द्राविडे च आन्ध्रे सौराष्ट्र उत्कले ।
शूरसेने माथुरेऽपि प्राधान्यात्प्रथिता तु सा ॥

(शा० सं० ४ । ३८–४१)

'व्यासजीने ज्ञान-वैराग्यसे परिपूर्ण और वेद-वेदान्तसम्मत भक्तिके श्रेष्ठ मार्गका प्रवर्तन किया। व्यासजीकी सम्यक्‌रूपसे आराधना करके उस भक्तिको मधुनामक प्रभञ्जनने प्राप्त किया, इसलिये उसको मधुविद्या भी कहते हैं, जिसे दधीचिने प्रकट किया था। वह परम श्रेष्ठ विद्या प्रभञ्जनसे संसारमें विविध प्रकारसे प्रचलित हुई। आचार्योंने उसके पृथक्-पृथक् मन्त्र-विभाग किये और प्रधानतः उसका कर्णाटक, द्रविड़, आन्ध्र, सौराष्ट्र, उत्कल, शूरसेन और मथुरा आदि देशोंमें प्रचार हुआ।'

ब्रह्माद्या भगवद्भक्ता जीवा दासा निसर्गतः ।
उपकुर्वन्ति शुश्रूषयाऽऽश्रयान्मुरवैरिणः ॥

(शा० सं० ४ । ४४)

'ब्रह्मा आदि सारे जीव निसर्गतः भगवान्‌के भक्त और सेवक हैं; ये श्रीकृष्णके शरणापन्न होकर संसार-बन्धनसे मुक्त करनेके लिये लोगोंकी सहायता करते हैं।'

प्राचीन कालमें श्वेतद्वीपमें क्षीरशायी श्रीविष्णुभगवान्‌की ब्रह्मा आदि देवताओं तथा सारे तपस्वी मुनियोंने अत्यन्त भक्ति-पूर्वक सम्यक् आराधना करके चारों वेदों, सारे उपनिषदों तथा योग-सांख्य आदि सारे शास्त्रोंके सारभूत, श्रीहरिके परम रहस्यस्वरूप पञ्चरात्र-शास्त्रको प्राप्त किया था। उसी शास्त्र-को पुनः विष्णुभगवान्‌की आराधना करके नारदजीने प्राप्त किया, जिसके कारण वह लोकमें नारद-पञ्चरात्र शास्त्रके नामसे प्रसिद्ध है। जैसे—

अधुना तु महाभागो नारदो देवसम्मतः ।
आराध्य तं महाविष्णुं लेभे शास्त्रं पुनश्च तत् ॥

(शा० सं० ४ । ५१)

पञ्चरात्र

पञ्चरात्ररहस्याख्यं यन्मे योगं सुदुर्लभम् ।
प्राप्यैतं नारदाद् देवि मामिष्ट्वा मामुपागताः ॥
मत्परा नान्यशरणा जपन्तो मे महामनुम् ।
समायाताः पदं मेऽद्य उपकृत्य परानपि ॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना वेदवेदान्ततत्पराः ।
जितेन्द्रिया जितात्मानः सांख्ययोगेन संयुताः ॥
सांख्यं योगस्तथा शैवं वेदारण्ये च पञ्चकम् ।
प्रोच्यन्ते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात् ॥
पञ्चानामीप्सितो योऽर्थः स यत्र स्वयमाप्यते ।
परमानन्दसेतेन प्राप्नोति परमात्मनः ॥
प्रमाणपञ्चकैः पूर्णं पञ्चकार्थोपदेशनम् ।
प्रपञ्चातीतसद्धर्मं पञ्चरात्रमुदाहृतम् ॥
(शा० सू० ४ । ७२—७७)

अर्थात् हे देवि ! पञ्चरात्र नामक जो रहस्यात्मक मेरा दुर्लभ योग है, उसे नारदसे प्राप्त करके मेरी पूजा करके मुझको प्राप्त, मेरे परायण, एकमात्र मेरी शरणमें आये हुए मेरे महामन्त्रका जप करके मेरे पदको प्राप्त हुए हैं तथा दूसरोंका उपकार करके ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, वेद-वेदान्तमें तत्पर, जितेन्द्रिय, मनोजयी और सांख्ययोगसे युक्त हुए हैं। हे प्रिये ! सांख्य, योग, शैवसिद्धान्त, वेद और आरण्यक—ये पाँच रात्रि कहलाते हैं; क्योंकि ये आत्मानन्द प्रदान करनेवाले हैं। इन पाँचोंका ईप्सित अर्थ जहाँ स्वयं प्राप्त होता है, उससे परमात्माके परमानन्दकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और ऐतिह्य—इन पाँचों प्रमाणोंसे पूर्ण, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति—इन पाँचों पुरुषार्थोंका उपदेश करनेवाला, प्रपञ्चातीत सद्धर्म (भागवत-धर्म) का प्रकाशक पञ्चरात्र कहलाता है।

त्रिपुरारि-सम्प्रदाय

एक बार शंकरजी गोकुलमण्डलमें गये। वहाँ उन्होंने अति रमणीक वृन्दावनके सच्चिदानन्दमय मन्दिरमें कोटि-कोटि कामदेवोंको लज्जित करनेवाले त्रिभङ्गललित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको देखा। वे व्रजाङ्गनाओंसे परिवेष्टित, आनन्दसुधासे मुनियों और मुनियोंके द्वारा सेवित, अनुपम रूप-लावण्यसे युक्त, वंशी अधरोंपर धारण किये सुशोभित हो रहे थे। प्रणाम करके शंकरजीने जगत्‌का उद्धार करनेवाले सम्प्रदायकी प्राप्तिके लिये श्रीकृष्णको साम-गानके द्वारा प्रसन्न किया। भगवान्‌ने प्रकट होकर शिव [illegible] मार्गका उपदेश किया, जो [illegible] के नामसे विख्यात है। इसका उल्लेख [illegible] भक्तिरहस्यके पाँचवें [illegible] किया है। [illegible] नारदजी दीक्षित हुए और इन्होंने [illegible] दीक्षित किया। [illegible] उन्होंने कौण्डिन्य और गर्गमुनिको दीक्षित किया।

इस सम्प्रदायमें देवता, असुर, मानव [illegible] समस्त जीवोंका अधिकार है; परंतु [illegible] भेदसे भक्ति तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, [illegible] और तामसी।

सात्त्विकी भक्ति

वर्णाश्रमधर्मेण [illegible] ।
वैराग्येण गुरोर्लब्धा भक्तिः [illegible] ॥
विशुद्धचेतसः पुंसो [illegible] ।
चेतनाचेतनानां [illegible] ।
सर्वत्र भगवद्भावः [illegible] ।
सात्त्विकाचरणाद्भूमौ भक्तं सात्त्विकं [illegible] ॥
([illegible])

वर्णाश्रम धर्मका पालन करते हुए [illegible], वैराग्ययुक्त जीवनसे गुरुसे प्राप्त [illegible] सात्त्विकी भक्ति है। विशुद्ध [illegible] अनुग्रह प्राप्त कर नित्यप्रति [illegible] रहता है, वह सात्त्विकी तथा शुद्ध भक्ति है। [illegible] चेतनमें भगवद्भाव रखते हुए [illegible] पूर्ति करते हुए सात्त्विक [illegible] है, उसको सात्त्विक भक्त कहते हैं।

शमो दमस्तपः शौचं [illegible] ।
दया ज्ञानं क्षमा [illegible] ॥
([illegible])

सात्त्विक भक्तके [illegible] लिये यह उसकी प्रकृति [illegible] स्वभावतः होते हैं।

राजसी भक्ति

यशेऽर्थिनः [illegible] ।
विभिन्नबुद्धयो [illegible] ॥

देशजातिकुलानां च अभिमानेन संयुताः ।
स्वधर्मेण हरेरर्चां कुर्वन्तो राजसा मताः ॥
(शा० सं० ६ । १०-११)

'जो बुद्धिमान् पुरुष यज्ञ और दानादि पुण्यकर्मोंको करते हैं, अपने वर्णाश्रमोचित कर्ममें भगवान्‌को भजते हैं, वे विच्छिन्न (छिपी हुई) वृत्तिवाले भक्त राजस भक्त कहलाते हैं । सारांश, जो देश, जाति तथा कुलका अभिमान रखते हुए स्वधर्मद्वारा भगवान्‌की अर्चा करते हैं, वे राजस भक्त हैं ।'

दया दानं तपः शौर्यं स्वाहंकारः क्षमान्वितः ।
उन्माद उद्यमादीनि राजसानां स्वभावतः ॥
(शा० सं० ६ । १४)

'राजस भक्तोंमें दया, दान, तप, शौर्य, आत्माहंकार, क्षमा, उन्माद, उद्यम आदि गुण स्वभावतः होते हैं ।'

तामसी भक्ति

मूढात्मानोऽतिविक्षिप्तचेतसो दृढनिश्चयात् ।
यथोपदेशं कुर्वाणा भजनं तामसास्तु ते ॥
संरम्भेण निजार्थेन अविविक्ताग्रहेण वा ।
शास्त्रैकदेशमाश्रित्य भजनं तामसं स्मृतम् ॥
(शा० सं० ६ । १२-१३)

'जो मूढ एवं अति विक्षिप्तचित्त पुरुष दृढनिश्चय करके उपदेशानुसार भजन करता है, वह तामस कहलाता है । इसी प्रकार विवेकशून्य होकर अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये जोशमें आकर या आग्रहपूर्वक शास्त्रके एक अङ्गविशेषका आश्रय लेकर जो भजन किया जाता है, वह तामस भजन है ।'

मौढ्यमाग्रहवादपवादाद्यं कार्येष्वनुद्यमः ।
मोहो द्रोहो वृथेच्छा तामसानां स्वभावतः ॥

'तामस भक्तोंमें मूढता, हठ, दृढताका अभाव, अपने कार्योंमें उद्यमका अभाव, मोह, द्रोह और व्यर्थकी कामनाएँ स्वभावतः होती हैं ।'

गुरुलक्षण

वेदवेदान्तसच्छास्त्रैर्विज्ञाय भगवद्गतिम् ।
स्थित्वा निजाश्रमाचारे सात्त्विके कर्मणि स्थितः ॥
निवृत्तिमार्गनिरतः सर्वेषामुपकारकृत् ।
सरलोऽनलसो दक्षो मैत्रः कारुणिकोऽशठः ॥
शान्तो दान्तः शुचिर्धीरो महतां पादसेवकः ।
भगवद्भक्तसङ्गेन जातश्रद्धो दृढोऽच्युते ॥
कुलीनं भगवद्भक्तं वेदवेदान्ततत्परम् ।
श्रीभागवतशास्त्रज्ञं शान्तं दान्तं सदा शुचिम् ॥
जितचित्तेन्द्रियं दिव्यं सर्वदोषविवर्जितम् ।
परम्पराप्राप्तविद्यमेवम्भूतं गुरुं भजेत् ॥
(शा० सं० ६ । ६९—७०)

'जो वेद-वेदान्त आदि सत्-शास्त्रोंके द्वारा भगवान्‌के स्वरूपको जानकर अपने आश्रमके आचारका पालन करता हुआ सात्त्विक कर्मोंमें स्थित है, जो निवृत्तिमार्गपर चलता हुआ भी सबका उपकार करता है, जो सरल, आलस्यरहित, दक्ष, मित्रभावसे युक्त, करुणाशाली, शठतासे हीन, मन और इन्द्रियोंका दमन करनेवाला, शुचि, धीर, महात्माओंका चरणसेवी, भगवद्भक्तके सङ्गसे श्रीकृष्णमें दृढ श्रद्धावान् है, ऐसे कुलीन, भगवद्भक्त, वेद-वेदान्तके अध्ययनमें तत्पर, श्रीभागवतशास्त्रके ज्ञाता, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, शान्त, सब दोषोंसे रहित, दान्त, सदा बाहर-भीतर पवित्र रहनेवाले तथा परम्परासे मन्त्रप्राप्त किये हुए दिव्य गुणवाले पुरुषको गुरु बनावे ।'

सगुण और निर्गुण भक्ति

यावद् भेदाभिमानो हि कार्यबुद्धिश्च सेवने ।
तावत्तु सगुणा भक्तिः कर्तॄणां विद्धि तत्त्वतः ॥
यद्विधोऽस्या भवेत् कर्ता सा प्रोक्ता तद्विधा बुधैः ।
भूम्याः सम्पर्कतो वारि मधुरं विरसं यथा ॥
(शा० सं० ६ । ७७-७८)

'जबतक भेदाभिमान है, अर्थात् मैं भगवान्‌से पृथक् हूँ—यह अभिमान मौजूद है और भगवत्सेवामें कार्यबुद्धि है, अर्थात् मैं भगवान्‌के सेवा-कार्यमें लगा हूँ—इस प्रकारकी धारणा बनी हुई है, तबतक उन भक्त साधकोंकी भक्तिको तत्त्वतः सगुण ही जानना चाहिये । सगुण भक्तिका साधक सत्त्व-रज-तम—जिस गुणकी प्रधानता रखकर साधना करता है, उसकी भक्तिको तदनुसार पण्डितलोग सात्त्विकी, राजसी और तामसी कहते हैं—ठीक उसी प्रकार, जैसे वर्षाका जल विभिन्न प्रकारकी भूमिके सम्पर्कसे मधुर, फीका आदि विभिन्न रसवाला हो जाता है ।'

यदाऽऽत्मरूपिणी सैव अहंप्रत्ययसाक्षिणी ।
संशयेन समुत्कीर्णा सदा निर्गुणतां गता ॥
विषया नावभासन्ते देहधर्मास्तथैन्द्रियाः ।
प्रक्षीणवृत्तिर्भक्तेशा असौ निर्गुणतां गतः ॥
(शा० सं० ६ । ७९-८०)

'वही भक्ति जब आत्मरूपिणी हो जाती है, अहं-प्रत्ययकी साक्षिणी बनती है, निस्संशयात्मिका होती है, तब निर्गुण कहलाती है । इसमें भगवान्‌के साथ भक्तकी अनन्य वृत्ति हो जाती है । देहके धर्म तथा इन्द्रियोंके विषयोंका

जन्माङ्गसे भक्ति-विचार

(लेखक—पं० श्रीकल्याणजी शास्त्री एम्० ए०, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न)

जिसको वैद्य या डाक्टर रोग कहते हैं, उसे ज्योतिषी रोग कहते हैं; उसे ही ओझा लोग भूतबाधा बतलाते हैं और भगवान्‌के भक्त उसीको पूर्वजन्मकृत भवबाधा मानते हैं। ये लोग तो यहाँ समझते हैं कि बिना उसकी मर्जीके पत्ता नहीं हिलता। जो कुछ भी हो, ज्योतिषी होनेके नाते प्रस्तुत प्रसङ्गमें 'जन्माङ्गसे भक्ति-विचार' के रहस्यको उपस्थित कर रहा हूँ।

फलित ज्योतिषमें जन्माङ्गके आधारपर जीवकी प्रत्येक अवस्थाकी दैनिक स्थिति ही नहीं, अपितु क्षण-क्षणकी गति-विधिका विचार भलीभाँति किया गया है। मनुष्यकी जन्म-कुण्डलीके कारकांश लग्न, गुरुअधिष्ठित राशि, पञ्चम तथा नवम भाव एवं उनके स्वामियोंसे भक्तिका विचार किया जाता है।
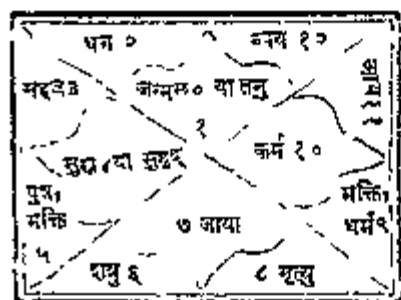
भक्तिकी जानकारीके लिये ग्रहस्थिति, ग्रहोंका बलाबल तथा सहयोगी ग्रहोंमें मित्र-शत्रुका विचार भी करना चाहिये। ग्रहोंकी दशा-अन्तर्दशाके अतिरिक्त दृष्टिबल आदिका भी विचार कर लेना चाहिये।

भक्ति और धर्मके विचारके लिये आचार्योंने नवम और पञ्चम—दो भावों (स्थानों) को नियत कर दिया है। यहाँ ग्रहोंकी जानकारीके लिये, ग्रहोंकी स्थितिके अनुसार मानवकी कुण्डलीमें भक्तिके तत्त्वका विचार किया जाता है।

१. जिसका पञ्चम भाव सूर्यसे युक्त अथवा दृष्ट हो, वह भगवान् सूर्य और शंकरका भक्त होता है—सुते सूर्ययुतदृष्टे शिवशंकरभक्तः। (जातकतत्त्व ११। २७) ऐसा जातक यदि हिंदू-धर्मावलम्बी हुआ तो शिवका अनन्य भक्त होता है। और यदि नवम भावमें मित्रके क्षेत्र (राशि) में हों तो जातक गुरुजनभक्त और धार्मिक होता है। देवताओंमें दृढ़ भक्ति रखता है। ऐसे जातकको प्रथम और दशम वर्षोंमें तीर्थ-यात्राका योग होता है। यदि सूर्य उच्च या स्वगेही हो तो जातक ईश्वरमें, देवताओंमें और गुरुमें दृढ़ भक्ति रखता है। इसके विपरीत यदि सूर्य नीच राशिमें स्थित होकर नवम भावमें हों तो जातक धर्ममें अभिरुचि नहीं रखता।

२. यदि जातककी जन्मकुण्डलीमें बुध, गुरु और दशमेश—ये तीनों ग्रह पूर्ण बलवान् हों तो वह यज्ञादि शुभ कृत्योंका अनुष्ठान करता है—ज्ञेज्यकर्मपाः सबला यज्ञकर्ता। वह पुराण आदिके श्रवण-मननमें अपना समय बिताता है। सत्कर्म और तीर्थाटनमें उसका समय विशेषरूपसे लगता है। ऐसा जातक देव-प्रतिमा और ब्राह्मणोंमें श्रद्धा रखता है और मन्दिर, तालाब आदि स्थानोंका निर्माता भी होता है।

३. जिस जातकके पञ्चम भावमें मङ्गल रहते अथवा उसे देखते हैं तो वह भैरव अथवा कार्तिकेयका अनन्य भक्त होता है—सुते भौमसम्बन्धे स्कन्दभैरवभक्तः। ऐसे जातकपर ब्राह्मणोंकी विशेष कृपा रहती है।

४. यदि जातकके नवम भावमें बुध ग्रह हों तो जातक दृढ भक्त और भगवत्-प्रेमी होता है। यदि बुध शुभ ग्रहोंके साथ हों तो जातक भगवान्‌का अनन्य भक्त सिद्ध होता है।

५. जिस जातकके कारकांश लग्नमें बुध, शनि गये हों तो उसके लिये भगवान्‌की अनन्य भक्तिकी प्राप्तिमें संदेह ही नहीं रह जाता—अंशे ज्ञार्कजौ विष्णुभक्तः। ऐसा जातक महान् धर्मात्मा, यज्ञ-अनुष्ठानका कर्ता होता है। नवम भावमें चन्द्रमा, मङ्गल एवं बृहस्पतिके सहावस्थानसे भी ऐसा ही योग बनता है—देवाराधनतत्परो नवमगैश्चन्द्रा-रवागीश्वरैः। ऐसा जातक व्रत-अनुष्ठानके आचरणमें अपना शरीर सुखा डालता है। वह तपस्वी, मनस्वी एवं परमार्थी होता है। ऐसा जातक ईश्वरका अनन्य भक्त होकर संसारका भी कल्याण करता है। उसके हाथोंसे कई मन्दिरोंका निर्माण होता है। यदि जातक हिंदूधर्मके अन्तर्गत उत्पन्न होता है तो सनातनधर्मकी रक्षामें अपना जीवन ही समर्पित कर देता है। वह ब्रह्मज्ञानी और अत्यन्त उदार चित्तका होता है।

६. शुक्र यदि जातकके नवम भावमें स्थित हों तो जातक किसी भी पदपर रहकर देवताओंकी पूजामें निरत रह-कर गुरु-भक्तिका परिचय देता है। ऐसा जातक अपनी

कमाईका अधिक-से-अधिक भाग यज्ञादि कार्यों एवं धर्मशाला, मन्दिर आदिके निर्माणमें व्यय करता है। ऐसा जातक अपने हाथसे अधिक धन पैदा करता है और सत्कार्यमें व्यय करता है। यदि शुक्र ग्रह शुभ ग्रहोंके साथ या मित्र ग्रहोंके साथ नवम भावमें स्थित हों तो जातक भगवान्‌का अनन्य भक्त होता है।

७. कारकांश लग्नमें केतु और चन्द्रमा गये हों तो वह गौरी-महाकाली आदि महाशक्तियोंकी उपासना करता है, शक्ति-भक्त होता है। कारकांश लग्नमें केतु और शुक्र गये हों तो महालक्ष्मी तथा दस महाविद्याओंका भक्त होता है। पञ्चमभाव गुरुसे युक्त अथवा दृष्ट हो तो शारदा (सरस्वती) का भक्त होता है। पञ्चमभाव शुक्रसे युक्त या दृष्ट हो तो चामुण्डाकी आराधना करता है—

अंशे केतुचन्द्रौ गौरीभक्तः। अंशे शिखिशुक्रौ लक्ष्मीभक्तः। सुते गुरुसम्बन्धे शारदाभक्तः। सुते शुक्रसम्बन्धे चामुण्डाभक्तः।

(सत्यतत्त्व ११ । २८-३१)

नवें भावमें बृहस्पति हों, नवमाधिपति ९ वें हों और वह शुभग्रहसे दृष्ट हों तो जातक गुरुका भक्त होता है—

गुरौ वर्गायसंयुक्ते भर्वांशाधिपतौ तथा।
शुभग्रहेक्षिते वापि गुरुभक्तियुतो भवेत् ॥

(जातकपारिजात १४ । ९३)

८. जातकके नवम भावमें यदि नीचका शनि अन्य पाप-ग्रहोंके साथ बैठा हो तथा पञ्चम-नवमपर किसी शुभ-ग्रहकी दृष्टि न हो तो जातक जिस धर्ममें पैदा होता है, उसका खण्डन करता है। यदि शनि उच्च राशिमें स्थित हो तो जातक स्वर्गसे आया हुआ या स्वर्ग जानेवाला होता है। यदि शनि स्वक्षेत्रगत हो तो जातक भगवान् शिवका अनन्य भक्त होता है। यदि शनि स्वक्षेत्री होकर नवमस्थ हो तो जातक 'महाशिवयाग' कराता है। ऐसा जातक उनतीसवें वर्षमें गोशाला या घाटका निर्माण कराता है।

९. यदि जातकके नवम भावमें अन्य पापग्रहोंके साथ राहु स्थित हों तो जातक भक्ति-धर्म-कर्मविहीन होता है। ऐसे जातकको ईश्वर, गुरु, पिता आदिमें विश्वास और श्रद्धा नहीं रहती।

१०. यदि जातकके नवम भावमें अकेला केतु हो, उसपर किसी शुभग्रहकी दृष्टि न हो और पञ्चममें भी कोई शुभग्रह न हो तो जातक म्लेच्छधर्मका अनुयायी होता है। ऐसा जातक हिंसामें अधिक रुचि रखता है।

११. बुध यदि जातकके पञ्चम भावमें [illegible] उसे देखते हों तो वह सभी देवताओंका भक्त होता है — सुत ज्ञसम्बन्धे सर्वदेवभक्तः ([illegible] ११ । ३६)।

१२. राहु यदि जातकके पञ्चम भावमें स्थित हो, — उसे देखते हों तो वह पर [illegible] प्रेतात्मनी आदिकी भक्ति करता है—पश्चांदरवाहिज्ञे प्रेतात्मन्याः स सेवकः। ([illegible] ११ । ५१)

यदि पञ्चम और नवम दोनों भावोंके अधिपतियोंका परस्पर सम्बन्ध दृढ हो तो वह जातक निश्चय ही महान् साधक और अनन्य भक्त होता है।

प्रव्रज्या (संन्यास)-विचार

१. दशम स्थान कर्मस्थान माना जाता है। इस स्थानसे जातकके प्रव्रज्या या वैराग्यका विचार किया जाता है। यदि पञ्चमेश, नवमेश, दशमेशका सम्बन्ध दृढ हो तो ऐसे जातक महान् भक्त और विरक्त होता है। यदि पञ्चम स्थानमें पुरुषग्रह बैठा हो या उसपर पुरुषग्रहकी दृष्टि हो तो जातक पुरुष-देवकी भक्ति करता है। भक्ति या प्रव्रज्याके विचारमें शनिका पञ्चम और नवम भावसे सम्बन्ध यदि दृढ हो तो जातक परिव्राजक होकर भी धर्मशास्त्रोंका [illegible] खण्डन करता है। किसी आचार्यने ऐसा लिखा है—

नवमस्थाने सौरौ यदि स्थिता सर्वदर्शनविद्वान् ।
नरनाथयोगजातो नृपोऽपि दीक्षान्वितो भवति ॥

(बृहज्जा० १५ । १५ की महीधरकी टीकामें उद्धृत)

शनिके नवमस्थ होनेपर जातक सभी दर्शनोंका विद्वान् होकर एक विशेष मत स्थापित करता है। यदि वह राजा भी हो तो राज्य त्यागकर संन्यासकी दीक्षा ग्रहण करता है। ब्रह्मलीन श्रीरामकृष्ण परमहंसजीकी जन्मकुण्डली देखनेसे अवगत होता है कि पञ्चमेश बुध शनिके क्षेत्रमें स्थित है। लग्नेश शनि बुधके क्षेत्रमें [illegible] है। शनिकी पूर्ण दृष्टि पञ्चम स्थानमें है। पञ्चमेश, दशमेश, पञ्चम और दशम स्थानोंसे पूर्ण सम्बद्ध है। इन्हीं कारणोंसे [illegible] श्रीरामकृष्णजी इतने श्रेष्ठ साधक हुए।

२. यदि जन्मके समय चारसे अधिक ग्रह एक ही स्थानमें स्थित हों तो वह जातक प्रव्रज्या-योग [illegible] होता है। उत्तम ग्रहोंके योगसे वह जातक भगवान्‌का अनन्य भक्त होता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि [illegible] अधिक ग्रहोंके योगमात्रसे जातक संन्यासी होता नहीं [illegible]

इसका निर्धारण करनेके लिये ग्रहोंका बल भी आवश्यक है। उसमें [illegible] निम्नलिखित स्थितियोंपर विचार करना चाहिये।

(क) चार या चारसे अधिक ग्रहोंका एक स्थान (भाव) में एकत्रित होना।

(ख) इन ग्रहोंमें कोई भी एक दशमाधिपति हो, कोई लग्नेश हो या कोई नवमेश हो।

(ग) बली ग्रह अस्त न हों।

(घ) कोई भी ग्रह बली अवश्य हो।

(ङ) आपसी युद्ध (ग्रहयुद्ध) में कोई भी ग्रह पराजित न हुआ हो।

यदि मङ्गल ग्रह बली हो तो उस त्यागीका वस्त्र लाल होता है। अर्थात् वह संन्यासी होता है। यदि सूर्य बली हो तो जातक पर्वत या नदीके तीरपर रहकर सूर्य, गणेश या शक्तिकी उपासना करता है।

सूर्याराधनतत्परा गणपतेर्भक्ता उपासाश्च ये।
सैमारवतमिरुतामधिपतिस्तेषां सदा भास्करः ॥

(सारावली २० । ३०)

किसीका यह भी मत है कि ऐसा जातक परमात्माकी भक्तिमें ही लीन रहता है।

यदि चन्द्रमा बली हो तो ऐसा जातक शिवका सिद्ध भक्त होता है। यदि मङ्गल बली हो तो जातक बौद्धधर्मका अनुयायी होता है, किंतु जितेन्द्रिय होकर अपना संन्यस्त जीवन व्यतीत करता है। बुधके बली होनेपर जातक किसीके मतसे विष्णुभगवान्‌का भक्त होता है, किसीके मतसे तान्त्रिक संन्यासी होता है। बृहस्पतिके बली होनेपर जातक सिद्ध एवं विद्वान् भक्त होकर यज्ञादि अनुष्ठानका कर्ता होता है। शुक्रके बली होनेपर जातक भगवान् विष्णुका अनन्य भक्त होकर अनन्त एवं अपूर्व ऐश्वर्यका भोग करता है। शनिके बली होनेपर जातक दिगम्बर रहकर पाखण्ड-व्रतका आचरण करनेवाला होता है।

विरक्ति-योग

मानव जीवनमें विरक्तिका होना सबसे सुखद और मङ्गलदायक योग होता है। मानव चाहे किसी भी जातिका हो, किसी भी धर्मको माननेवाला हो, किसी भी आश्रममें हो, यदि उसमें सचमुच विरक्तिकी भावना उत्पन्न हो गयी तो उसका कल्याण निश्चित है। आसक्तिके प्रपञ्चमें तो वह दर-दरकी खाक छानता नजर आता है।

फलित ज्योतिषके आचार्योंने विरक्ति उत्पन्न होनेमें जिन योगोंका जो विवेचन किया है, उसका कुछ अंश सबके सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है। पूर्वमें लिखा जा चुका है कि एक स्थानपर चार या चारसे अधिक ग्रह यदि एकत्र हो जायँ तो वह मानव सांसारिक प्रपञ्चोंसे छुटकारा पाकर भगवान्‌की भक्ति या किसी भी देवी-देवताकी उपासनामें लग जाता है। विरक्तिके लिये भी उपर्युक्त कथन लागू हो सकता है। किंतु ग्रन्थान्तरोंके अवलोकनसे यह भी अवगत होता है कि एक स्थानमें चारसे अधिक ग्रह यदि न रहें तो भी वह मानव विरक्त या संन्यासी हो सकता है। विरक्तिमें 'मन' ही प्रधान कारण है। मनपर चन्द्रमाका अधिकार माना गया है। अतः चन्द्रमा और शनिके सम्बन्धसे मानव 'त्यागी' बनता है। यदि विरक्तिदाता ग्रह सूर्यके साथ अस्त हो तो वह मानव गृहस्थ रहकर भी ईश्वरकी उपासनामें लीन रहता है। यदि विरक्तिकारक ग्रह आपसी युद्ध (ग्रहयुद्ध) में हारा तो मानव विरक्तिकी भावना करता ही रह जाता है। मानवके विरक्त और भगवद्भक्त होनेमें मतान्तरसे निम्न ग्रहयोग कारण हो सकते हैं—

१. यदि लग्नाधिपतिपर अन्य ग्रहकी दृष्टि न हो और उसकी दृष्टि शनिपर हो तो वह जातक विरक्त होता है।

२. यदि शनिपर किसी ग्रहकी दृष्टि न हो और शनिकी दृष्टि लग्नाधिपतिपर पड़ती हो तो जातक निश्चितरूपसे विरक्त हो जाता है।

३. यदि शनिकी दृष्टि निर्बल लग्नपर पड़ती हो तो वह जातक (यदि मानव है तो) अवश्य विरक्त बन जाता है।

४. यदि चन्द्रमा किसी राशिमें स्थित होकर मङ्गल या शनिके द्रेष्काणमें सिद्ध हो और उस चन्द्रमापर अन्य किसी ग्रहकी दृष्टि न हो, केवल शनिकी दृष्टि सिद्ध हो, तो वह जातक निश्चित विरक्त होता है।

५. यदि नवमेश बली होकर नवम अथवा पञ्चम भावमें हो और उसपर बृहस्पति तथा शुक्रकी दृष्टि पड़ती हो और बृहस्पति तथा शुक्र उसके साथ हों तो जातक सिद्ध भक्त और संन्यासी होता है।

६. चन्द्रमा यदि जातकके नवम स्थानमें हो और किसी भी ग्रहसे दृष्ट न हो तो वह जातक प्रख्यात विरक्त या संन्यासी होता है। यह योग स्वामी श्रीविवेकानन्दजीकी कुण्डलीमें है।

७. यदि शनि या लग्नाधिपतिकी दृष्टि चन्द्रराशिपर पड़ती हो तो जातक महान् संन्यासी और भगवान् शङ्कर-

का भक्त होता है। आदिगुरु शंकराचार्यके जन्माङ्गमें यह योग पड़ा है।

८. मङ्गलकी राशिमें यदि चन्द्रमा हों या चन्द्रमा और मङ्गल एक साथ हों, या चन्द्रमा शनिके द्रेष्काणमें हों और चन्द्रमापर शनिकी दृष्टि पड़ती हो तो वह जातक सन्यासी और भगवद्भक्त होता है।

९. क्षीण चन्द्रमा जिस राशिमें हों, उस राशिका स्वामी यदि केन्द्रस्थित बलवान् शनिको देखता हो तो जातक भाग्यहीन विरक्त होता है।

१०. लग्नाधिपति यदि बलहीन हो और उसपर शुक्र और चन्द्रमाकी दृष्टि पड़ती हो तथा कोई उच्चग्रह चन्द्रमाको देखता हो तो जातक दरिद्र विरक्त होता है।

११. लग्नाधिपतिपर यदि कई ग्रहोंकी दृष्टि हो और वे दृष्टि डालनेवाले ग्रह किसी एक राशिमें हों तो जातक निश्चित त्यागी होता है।

१२. यदि कर्मेश अन्य चार ग्रहोंके साथ हो तो वह जातक इस जीवनसे छुटकारा पानेपर सदाके लिये 'मुक्त' हो जाता है।

१३. नवम स्थानमें यदि शनि स्थित हों और शनिपर किसी भी ग्रहकी दृष्टि न हो तो वह जातक निश्चितरूपसे महान् विरक्त और भक्त होता है।

१४. यदि लग्नका स्वामी बृहस्पति, मङ्गल अथवा शनि हों तथा उस लग्नाधिपतिपर शनिकी दृष्टि हो एवं गुरु नवमस्थ हों तो जातक सन्यास ग्रहण करके किसी प्रमुख तीर्थमें जीवन व्यतीत करता है।

१५. जातककी जन्म-राशि यदि निर्बल हो और उसपर बली शनिकी दृष्टि हो तो जातक निश्चित सन्यासी होता है।

१६. जन्मकालीन चन्द्रमा जिस राशिपर हों, उसके पतिपर यदि किसी ग्रहकी दृष्टि न हो तथा जन्मराशिके अधिपतिकी दृष्टि शनिपर पड़ती हो तो वह जातक अवश्य सन्यासी होता है।

१७. यदि दशम भावमें तीन बली ग्रह हों और सभी उच्च या स्वगेही या शुभवर्गके हों तो जातक उत्तम भक्त और विरक्त होता है। यदि दशमेश बली न हो तथा दशमेश सप्तमस्थ हो तो जातक सन्यास ग्रहण करनेपर दुराचारी होता है।

१८. शुभ ग्रहोंके नवांशमें [illegible] प्रदान करनेवाले ग्रहों [illegible] दृष्टि [illegible] परमोच्च [illegible] तो वह जातक [illegible] और भगवद्भक्त हो जाता है। आदिगुरु [illegible] कुण्डलीमें ऐसा ही योग है।

अध्यात्मयोग

भारतीय आचार्योंने जन्माङ्गसे [illegible] मानवके धार्मिक जीवनका भी चिन्तन किया है। [illegible] योगका सम्बन्ध कर्मसे होता है। [illegible] होता है। मानवके जीवनमें [illegible] ग्रहोंसे सम्बन्धित कई परिस्थितियाँ [illegible] जिस प्रकारसे ग्रहोंकी स्थितिके अनुसार [illegible] है—

१. यदि दशमेश उच्च [illegible] होकर शुभग्रह हो तो जातक [illegible]

२. यदि सप्तम [illegible] लग्न [illegible] या मङ्गल बैठा हो तो [illegible] है। ऐसा योग [illegible]

३. यदि दशमेश [illegible] बृहस्पति और शुक्र [illegible] स्नानादि कर्ममें [illegible]

४. दशमाधिपति यदि शुभ [illegible] हो शुभ ग्रहोंसे [illegible] हो तो जातक [illegible] योग महात्मा गांधीकी कुण्डलीमें [illegible]

५. दशमेश यदि [illegible] उत्तम वर्गका हो तथा [illegible] विरत और [illegible] होता है।

६. यदि नवमेश [illegible] बृहस्पति या शुक्रकी दृष्टि [illegible] हो तो जातक [illegible] करता है।

७. चन्द्रमा [illegible] बृहस्पति या शुक्रकी दृष्टि [illegible] होता है [illegible]

८. यदि [illegible] दशमाधिपतिपर [illegible] रूपसे अध्यात्म-दर्शनमें [illegible] है।

योग-साधना-योग

जन्माङ्गसे भक्ति, धर्म तथा अध्यात्म-कर्मके अतिरिक्त जन्मपत्री योग-साधन विषयक भी विचार किया जा सकता है। 'योग' शब्दसे ज्ञानयोगी, कर्मयोगी और भक्तियोगीका अर्थ निकलता है। ग्रहोंकी परिस्थिति और उनका विचार करके फलका ज्ञान लगाना चाहिये।

१. यदि समस्त ग्रह शनि और मङ्गलकी सीमाके अन्तर्गत हों तो जातक योगी होता है।

२. लग्न यदि मकर राशिका हो तथा समस्त ग्रह मङ्गल एवं सूर्यकी सीमाके अन्तर्गत हों तो जातक महात्मा होता है।

३. समस्त ग्रह यदि जन्माङ्कके चन्द्रमा और बृहस्पतिकी सीमाके अन्तर्गत हों तो जातक दीर्घजीवी योगी होता है। यह स्थिति श्रीजवाहरलाल नेहरूकी कुण्डलीमें भी प्राप्त है।

४. यदि जातकका जन्म मेषके अन्तिम नवांशका हो, लग्नस्थ बृहस्पति अथवा शुक्र हों, चन्द्रमा द्वितीय स्थानमें हों तथा मङ्गल धनराशिके पञ्चम नवांशके हो तो जातक सिद्ध महात्मा होता है।

५. यदि लग्न कर्क हो और जन्म धनके नवांशमें हो तथा केन्द्रस्थ तीन या चार ग्रह हों तो जातक 'ब्रह्मज्ञानी' होता है।

६. यदि कर्क लग्न हो, बृहस्पति उसमें स्थित हों तथा शनि सिंहराशिगत हों एवं चन्द्रमा वृषराशिमें हों, शुक्र मिथुनराशिमें हों तथा सूर्य और बुध स्थिरराशिगत हों तो जातक महान् योगी होता है।

७. कर्कसे लेकर धनतक छः राशियोंमें समस्त ग्रह स्थित हों तथा उपर्युक्त राशियोंमें कोई भी शून्य राशि न हो तो जातक सिद्ध योगी होता है।

८. शनि, गुरु एक साथ होकर नवमस्थ या दशमस्थ हों और एक ही नवांशमें स्थित हों तो जातक निश्चितरूपसे योगी होता है।

९. यदि जन्मलग्न धनराशिकी हो, बृहस्पति लग्नस्थ हों, लग्न मेषके नवांशकी हो, शुक्र सप्तममें हों और चन्द्रमा कन्याराशिगत हों तो जातक परमपद प्राप्त करता है।

इस प्रकार जन्माङ्गसे भक्ति, कर्म, योग, अध्यात्मज्ञानका विचार फलित ज्योतिषमें विस्तारके साथ किया गया है।

श्रीशुकदेवजीकी भक्ति-परीक्षा

[रम्भा-श्रीशुक-संवाद]

(लेखक—पुरोहित श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री)

नन्दन, पद्म आदिमें बिखरी हुई संसारभरकी समस्त रमणीयताको एकत्रित करके ब्रह्मदेवने जिसका निर्माण किया था, जन्म-मरणसे छुटकारा पानेके लिये काम-क्रोध-मद-मोहसे पराङ्मुख मुनियोंके तत्त्वज्ञानको जो अपनी नेत्ररूपी अञ्जलियोंसे मानो पान कर चुकी थी, तपाये हुए सुवर्णकी भाँति जिसके शरीरकी कान्ति सूक्ष्म वस्त्रोंको चीरती हुई मानो फूटी पड़ती थी, जिसके समस्त अङ्गोंमें सुगन्धपूर्ण अङ्गराग महक रहा था और जो प्रवालके समान रक्तवर्ण ओष्ठ-युगलके मध्य अपने ईषद् हास्यसे चन्द्रमाको भी लज्जित करती थी, वह स्वर्गलोककी ललामभूता अप्सराश्रेष्ठ रम्भा अनेक दिव्य आभूषणोंसे भूषित एवं सोलहों शृङ्गारसे सजी हुई, भालके नक्षत्र-समूहके समान नख-मणि-मण्डलसे समन्वित अलक्तकरञ्जित चरणोंद्वारा नूपुरके मञ्जुल रागमें अपने कोकिल-कण्ठका मधुर-मिश्रण करती हुई आज सहसा भूमण्डलपर उतर आयी है। जिनका अन्तःकरण सनत्कुमारकी भाँति समस्त विद्याओंके अध्ययनसे निर्मल हो गया था, जो तेजमें दूसरे अग्निदेवके समान प्रतीत होते थे, सतत योगाभ्यास तथा ब्रह्मध्यानके द्वारा जिनके काम-क्रोधादि अन्तःशत्रु प्रशमित हो चुके थे एवं तीव्र भक्तियोगके द्वारा श्रीभगवच्चरणारविन्दमें अर्पित होनेके कारण जिनका मन सुस्थिर हो चुका था, ऐसे युवक तपस्वी श्रीशुकदेवजीको अज्ञान, अन्धकार, माया और पतनके गम्भीर गर्तकी ओर आकृष्ट करनेके लिये सहसा उपस्थित होकर उसने शून्य तपोवनमें प्रवेश करके तपस्वियोंके मनमें कुतूहल उत्पन्न कर दिया।

अनन्यसाधारण स्वरूप और अनुपम लावण्य, श्यामा अवस्था और सुरीला कण्ठस्वर, एकान्त स्थान और कामोद्दीपक हाव-भाव, मस्तीभरा आलाप और नयनाभिराम पदविन्यास। रम्भाका अङ्ग-अङ्ग अनङ्गका संचार कर रहा था। वह अपने मदिरापानसे रञ्जित नेत्रोंद्वारा कामदेवके अमोघ बाणभूत कटाक्षोंका मुनिवरपर सतत सविलास प्रक्षेप कर रही थी।

फिर भी तपोधन मुनिकुमारको वह आकर्षित न कर

सकी । उनकी परमात्ममयी बुद्धिमें तरुणी स्त्रीकी कोई कल्पना ही नहीं रह गयी थी । वे अपनी मधुर वाणीद्वारा भ्रमभक्तिका रम्भाको उपदेश करने लगे—

> अचिन्त्यरूपी भगवान्निरञ्जनो
>
> विश्वम्भरो ज्योतिमयस्त्रिधाम्ना ।
>
> न भावितो येन हृदि क्षणं वा
>
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'हे देवि ! मन तथा वाणीके परे अखिल विश्वका रञ्जन और पालन-पोषण करनेवाले, ज्ञानरूपी प्रकाशसे युक्त सच्चिदानन्द ब्रह्मका जिसने भक्तियुक्त हृदयसे ध्यान नहीं किया, उस मनुष्यका जीवन व्यर्थ चला गया । अतः काम-क्रोधादिसे बचकर सदा ब्रह्मका ही चिन्तन करना चाहिये, मानव-जीवनका यही सार है ।'

'नारीषु रम्भा !' रम्भा भी कोई साधारण स्त्री नहीं थी, जो इतनेपर ही निराश हो जाती । शुकदेवजीसे भी मधुर और आकर्षक स्वरमें उसने भी अपनी विषयभोगमयी बुद्धिसे भोगोंमें ही मनुष्य-जीवनकी सार्थकताकी घोषणा की । वह बोली—

'तुम भूलते हो युवक ! सुन्दर देह, मोहक स्वरूप और नवीन तरुणाईका ही समन्वय पाकर नहीं, अपितु संसारकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी तरुणीको एकान्तमें अनुरक्त देखकर भी तुम इस प्रकारकी निस्सार बातें करते हो !

> पीनस्तनी चन्दनचर्चिताङ्गी
>
> विलोलनेत्रा तरुणी सुशीला ।
>
> नालिङ्गिता प्रेमभरेण येन
>
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'उन्नत वक्षःस्थलयुक्त शरीरपर चन्दनका लेप होनेसे जिसका सम्पूर्ण शरीर सुगन्धित हो रहा हो और जिसके विशाल नेत्रोंमें खञ्जनके सदृश चञ्चलता एवं कमलके तुल्य सुन्दरता हो, ऐसी सुशीला युवतीका जिसने गाढ़ प्रेमालिङ्गन नहीं किया, मैं सत्य कहती हूँ, संसारमें उसका जीवन तो व्यर्थ ही गया ।'

'यहाँ तो बन्धन है देवि ! मोक्ष कहाँ ? यम-नियमादि आठ अङ्गोंवाले योगके द्वारा जिसका मन निर्मल और इन्द्रियाँ वशमें हो चुकी हैं तथा ईश्वरकी अविचलित अनन्यभक्तिके कारण शुभाशुभ—दोनों ही प्रकारके कर्मोंसे जिसकी आसक्ति नष्ट हो चुकी है, मुक्तिका अधिकारी तो वही मनुष्य हो सकता है । अतः—

> चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जहस्तः
>
> पीताम्बरः कौस्तुभमालया [illegible] ।
>
> ध्याने धृतो येन न माधवो हरि-
>
> र्वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'जिसके चारों भुजाओंमें शङ्ख, [illegible] सुशोभित हैं तथा वक्षःस्थलपर जिनके [illegible] वनमाला विभूषित हो रही है, ऐसे पीताम्बरधारी [illegible] श्रीविष्णुके ध्यानमें जिसने समाधि नहीं लगायी, [illegible] जीवन तो उसीका व्यर्थ गया ।'

भक्तोंका [illegible] और [illegible] समर्थन तो अज्ञान है । सुनो तरुण ! [illegible] इन्द्रिय-सुख ही स्वर्ग है और देहका नाश ही मुक्ति । [illegible]—

> मदातुरा पूर्णशशाङ्कवक्त्रा
>
> बिम्बाधरा [illegible] नारी ।
>
> नालिङ्गिता येन हृदे सुपीना
>
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'जिसका मुखमण्डल [illegible] सुखदायक हो एवं जिसके [illegible] अमृतकी आकृष्टा [illegible] बालाको जिसने दोनों हाथोंसे [illegible] लगाया, उसका जीवन तो व्यर्थ ही गया ।'

नहीं ! निश्छल भक्तिके द्वारा शुद्ध [illegible] निराकार सगुणस्वरूप ब्रह्मकी [illegible] 'मोक्ष' है और वह इस नश्वर [illegible] तोड़े बिना असम्भव है । उनमें भी [illegible] लोभ तो मनुष्यके महान् शत्रु हैं । [illegible] नील कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाले [illegible] नारायणके, जिनके आभूषण [illegible] हो रहे हैं, चरण-कमलोंमें जिसने [illegible] करके इस आवागमनके [illegible] यह मनुष्यदेह धारण करना व्यर्थ ही है—

> नारायणं [illegible]
>
> केयूरहारैः [illegible] ।
>
> [illegible] स्तुतो येन सुपूजितो नहि
>
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

इतनेपर भी [illegible] भाव और भी स्पष्ट करके [illegible]

[illegible] । [illegible]—[illegible] आभूषण वेशयुक्त नव-[illegible] तथा कर्पूरसे सुवासित मुखका जिसने [illegible] लेकर पूर्णरूपसे स्वयं नहीं [illegible] भला फल ही क्या पाया। [illegible] पुरुषार्थका [illegible] है, उसकी इस प्रकार [illegible] बहिष्कार है। जिस कल्पित [illegible] सुख [illegible] हो गये हो, उसे अन्तरिक्षमें खोजना [illegible] नहीं तो और क्या है! अरे यह रूप तो तुम्हारे [illegible]की दीन याचना कर रहा है। उसे स्वीकार [illegible], मुनिवर!'

[illegible] होकर रम्भाने मुनिके समक्ष पृथ्वीपर अपना माथा झुका दिया।

'[illegible]का अर्थ स्त्री-सहवास नहीं है, देवि! काम पुरुषार्थ है, यदि उसका माध्यम 'धर्म' और लक्ष्य 'भगवत्सायुज्य' हो। अन्यथा विपरीत कर्म मनुष्यके अभ्युदय तथा निःश्रेयस् दोनोंपर पानी फेर देते हैं और जिसे तुम कल्पित कहती हो, उसीके भयसे तो वायु बहती है, सूर्य तपते हैं, मेघ बरसते हैं और अग्नि जलाते हैं। मनुष्यका चरम लक्ष्य उन्हीं देवाधिदेव भगवान्की प्राप्ति है तथा उस लक्ष्यकी सिद्धिके लिये जगत्में हरि-भक्तिके सिवा अन्य कोई कल्याणमय पंथ ही नहीं है।'

श्रीवत्सलक्ष्मीकुलहृद्यदेह-
न्यासर्पवज्रध्वजधरः परात्मा।
ना सेवितो येन क्षणं मुकुन्दो
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

अब तो रम्भाका रङ्ग फीका पड़ गया और उसकी चञ्चलता चपत हो गयी। भक्तकी अहैतुकी भक्तिके समक्ष ज्ञान-वैराग्य और भक्तियुक्त भक्तकी उदासीन दृष्टिके समक्ष तथा जिनके हृदयमें श्रीवत्स और लक्ष्मीका निवास है, ऐसे नयनाभिराम विशुद्ध रूप-सौन्दर्यके दीवाने शुककी भक्तिके समक्ष वासनामें ओत-प्रोत स्वार्थभरे रूपने सर्वथा हार मानकर घुटने टेक दिये। रम्भाने व्याकुल होकर निर्लज्जभावसे तथा साहसका सञ्चय करके एक बार और शुकदेवजीको विचलित करनेका प्रयास किया। वह अपने उन्नत स्तनोंपरसे वस्त्रको नीचे खसकाती मुनिपर उनका प्रहार करती हुई-सी बोली—

ताम्बूलरागा कुसुमप्रकीर्णा
सुगन्धितैलेन सुवासिताया।
नासर्दितौ यूढ़ा कुचौ निशायां
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

परंतु तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले भक्त-शिरोमणिको इसपर भी जल-कमलवत् लेशमात्र भी विकारका स्पर्श न हुआ। उनके तो नेत्र बंद हो गये। सच्चिदानन्दघन-स्वरूपकी अमृतवाणी उन्हें न जाने किस लोकमें ले गयी—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। २७, २९)

उनका मुखमण्डल अनन्त तेजसे विभूषित हो उठा। वे अपने तेजसे साक्षात् सूर्यकी भाँति प्रज्वलित हो उठे। नाच-नाचकर गद्गद वाणीसे वे श्रीभगवद्-भक्तिकी महिमाका पुनः-पुनः गान कर उठे—

विश्वम्भरो ज्ञानमयः परेशो
जगन्मयोऽनन्तगुणप्रकाशः।
आराध्य यैनैव हृतो न योगी
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

परंतु रम्भा तो न जाने कबकी नौ दो ग्यारह हो चुकी थी।

आत्माराम मुनि भी भगवान्की अहैतुकी भक्ति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १। ७। १०)

'जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

भक्तिका विवेचन

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य, शास्त्री, [illegible])

जिस दशामें जीवके मन, वाणी और शरीर भगवन्मय हो जायँ, मनसे प्रभुका सतत स्मरण हो, वाणीसे निरन्तर उनके गुणोंका गान हो, शरीरसे अनवरत उनकी सपर्या हो, उसीका नाम भजन है। देहकी क्रियाओंका उद्देश्य जब केवल भगवत्प्रीति हो और जब केवल भगवान् ही मनोवृत्तियोंके केन्द्र हों, तब वह अवस्था भक्ति कहलाती है। भजन और भक्ति पर्याय हैं एवं इस भक्तिकी परम्परा वेदोंके समयसे ही चली आ रही है। ऋग्वेदके—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे। (१। १५६। ३)

—इस वचनमें भजनका स्पष्ट निर्देश है। उपनिषत्-साहित्यमें भक्तिको 'उपासना' भी कहा गया है। स्वयं 'उपनिषत्' शब्दका अर्थ भी उपासना है। देवर्षि नारदने परमात्माके प्रति परम प्रेमको भक्ति माना है और महर्षि शाण्डिल्यने ईश्वरके प्रति परम अनुरागको भक्ति बताया है। बादरायणने अपने सूत्रमें इसे 'संराधन' कहा है और पतञ्जलिने 'प्रणिधान'। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि भगवद्‌गुणोंके सुननेमात्रसे, समुद्रमें गङ्गाजलके समान, सर्वान्तर्यामी भगवान्‌में मनके निरन्तर प्रवाहित होनेको 'निर्गुण भक्ति' कहते हैं। नारद-पाञ्चरात्रका वचन है कि इन्द्रियोंसे श्रीभगवान्‌की वह सेवा भक्ति कहलाती है, जो समस्त उपाधियोंसे रहित हो और परमात्मपरक होनेके कारण निर्मल हो।

अद्वैत-सम्प्रदायमें उपासनाका अर्थ है—सगुण ब्रह्ममें मन लगाना। चित्तकी एकाग्रता ही इसका परम प्रयोजन कहा गया है और सत्यलोककी प्राप्ति इसका अवान्तर फल है। भक्तिरसायनमें मधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है कि साधन करते-करते कठिनताको छोड़कर पिघले हुए चित्तकी सर्वेश्वर भगवान्‌में धारा-प्रवाहके समान निरन्तर वृत्ति भक्ति कहलाती है।

भक्तिका लक्षण करते हुए [illegible] है कि प्रेमपूर्वक अनुध्यान—चिन्तन—ही [illegible] कहलाता है। वे कहते हैं कि ध्यान और [illegible] जो परब्रह्म परमात्मा है, वह अत्यन्त प्रिय है [illegible] उसी प्रियताके कारण प्रियतमका ध्यान और [illegible] भी अत्यन्त प्रिय होता है। [illegible] वाला ध्यान या सतत स्मरण ही भक्ति है।

आचार्य निम्बार्ककी सम्मतिमें प्रेम [illegible] ही [illegible] लक्षण है और यह दो प्रकारकी है—एक तो [illegible] और दूसरी साध्य-भक्ति। [illegible] दूसरा नाम है 'अपरा' और साध्य-भक्तिका दूसरा नाम है '[illegible]'। [illegible] मतमें भगवत्सेवाके तीन प्रकार हैं। प्रथम है [illegible] अर्थात् दाहिने कंधेपर सुदर्शनका और बायें [illegible] का चिह्न धारण करना। दूसरा है [illegible] पुत्रादिके नाम ऐसे रखना, जिनसे [illegible] भगवान्‌की स्मृति हो। तीसरा प्रकार है [illegible] और मानसिक भजन। आचार्य वल्लभ भक्तिको दो [illegible] की मानते हैं—मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति। [illegible] पोषण अर्थात् अनुग्रहसे जिस भक्तिका उदय [illegible] पुष्टि-भक्ति कहते हैं, जिसमें जीवका [illegible]

श्रीरूपगोस्वामीके अनुसार श्रीकृष्णकी [illegible] को भक्ति कहते हैं, जिसमें अन्य किसी पदार्थकी [illegible] न हो, ज्ञान (अपनेको अभिन्न रूपसे [illegible]) [illegible] (स्मृत्युक्त नित्य-नैमित्तिक आदि) का [illegible] किंतु ऐसी प्रवृत्ति हो जो [illegible]

इस प्रकार विविध सम्प्रदायोंमें [illegible] लिये कामधेनु है और [illegible]।

भगवान्‌का प्राकट्य प्रेमसे

भगवान् शिव कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

([illegible])

भगवान्‌का प्यारा भक्त

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

भगवत्की अहैतुकी कृपासे श्रीभगवद्गीताके विषयमें दो अङ्कोंमें अपने विचार कल्याणके सम्बन्धी पाठकोंके समक्ष रखनेका अवसर मुझे पहले मिला था। कुछ मित्रोंको मेरे विचार पसन्द आये एवं उन्होंने पुनः समय-समयपर मुझे अपने विचार प्रकट करनेकी प्रेरणा दी; अतः उन मित्रोंकी भावनाका आदर करके इस लेखमें दो श्लोकोंपर अपने विचार प्रकट कर रहा हूँ। आशा है कि गीता-स्वाध्यायी सज्जनगण मेरे विचारोंका तुलनात्मक अध्ययन करके अपने विचारोंसे मिलान करनेकी कृपा करेंगे और मेरी त्रुटियोंका सुधार करनेके लिये मुझे उचित परामर्श देंगे।

भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तके लक्षण श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १२ के १३ से १९ तक, सात श्लोकोंमें बताये हैं। इनमेंसे प्रथम दो श्लोकोंके आधारपर इस लेखमें अपने विचार पाठकोंके समक्ष रख रहा हूँ। श्लोक इस प्रकार हैं—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
> संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
>
> (गीता १२। १३-१४)

अर्थात् जो समस्त प्राणियोंमें द्वेषरहित है, सबका मित्र है, करुणाभावसे सम्पन्न है, ममतारहित और अहङ्काररहित है, जिसके लिये सुख और दुःख समान हैं, जो क्षमाशील है एवं निरन्तर संतुष्ट रहता है, जिसका चित्त वशमें है, जो दृढ-निश्चयी है तथा मन और बुद्धिको जिसने मेरे अर्पण कर रखा है ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है।

इस प्रकार भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तके बारह लक्षण इन दो श्लोकोंमें बतलाये हैं। इन्हें पढकर साधकको विचार करना चाहिये कि 'इन लक्षणोंको अपनानेके लिये अर्थात् अपने जीवनमें उतारनेके लिये मुझे क्या करना चाहिये? मैं किस प्रकार प्रभुका प्यारा भक्त बन सकता हूँ?'

इनमें पहला लक्षण है—समस्त प्राणियोंमें द्वेष-भावसे रहित होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि किसी भी प्राणीको बुरा मानना, उसके दोषोंको देखना, उनका वर्णन करना अथवा उनको सुनना और उसकी समालोचना करना एवं किसीका अनिष्ट चिन्तन करना या चाहना अथवा किसीकी उन्नतिमें रुकावट डालना किसीको किसी प्रकारकी हानि पहुँचाना, किसीको अपना वैरी मानना या अपने दुःखमें हेतु मानना आदि सभी द्वेष-भावके अन्तर्गत हैं। इनके रहते हुए साधक समस्त प्राणियोंके प्रति द्वेष-भावसे रहित नहीं हो सकता; अतः भगवान्‌का प्यारा भक्त बननेकी इच्छा रखनेवाले साधकको चाहिये कि वह किसीमें भी द्वेष-भाव न करे; किसीसे भी द्वेष करना भगवान्‌से ही द्वेष करना है। सब भगवान्‌के हैं, या सबमें भगवान् हैं अथवा सभी भगवान् हैं—तीनों मान्यताओंमेंसे किसी एकका भी अनुसरण करनेवाला किसी भी परिस्थितिमें किसी भी प्राणीके साथ कैसे द्वेष कर सकता है, कैसे किसीको बुरा, वैरी, दुःखका हेतु अथवा नीच समझ सकता है, कैसे किसीका अहित कर सकता या चाह सकता है।

साधकको सोचना चाहिये कि 'मेरे मनमें यदि किसीके प्रति द्वेष-भाव है, मैं किसीको अपना प्रतिद्वन्द्वी मानता हूँ, किसीका भी किसी अंशमें बुरा चाहता हूँ या करता हूँ तो यह मुझमें बडा भारी दोष है, प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिमें बडा भारी रोडा है। इसका मुझे शीघ्रातिशीघ्र त्याग करना है; क्योंकि इसके रहते हुए मैं प्रभुका प्रिय भक्त नहीं बन सकता।'

दूसरा लक्षण है—सबके प्रति मित्रभाव। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि द्वेषभावका नाश होनेपर ही मित्रभावकी प्राप्ति हो सकती है। जबतक किसी भी प्राणीके प्रति मनुष्यका द्वेष-भाव है, वह उसे बुरा समझता है तथा उसके दोष देखता है, तबतक उसके प्रति मित्रभावकी स्थापना कैसे हो सकती है। मित्र कैसा होना चाहिये, इस विषयमें भगवान् श्रीराम अपने सखा सुग्रीवसे कहते हैं—

> जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
> निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
> कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
> बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
>
> —इत्यादि

जब साधककी समस्त क्रियाएँ सर्वहितकारी भावसे पूर्ण होती हैं, तभी वह समस्त प्राणियोंका मित्र कहा जा सकता है। अतः साधकको सर्वहितकारी भावसे भावित होकर ही प्रत्येक कर्मका आरम्भ करना चाहिये। ऐसी कोई भी क्रिया

किसी भी परिस्थितिमें उसके द्वारा नहीं होनी चाहिये, जिससे किसी भी प्राणीका किसी भी अंशमें कुछ भी अहित होता हो।

किसीसे कुछ चाहना—किसी भी प्रकारसे अपने सुख-साधनकी इच्छा या कामना करना मित्रतामें कलङ्क है। कामनायुक्त मित्रता तो आसक्तिकी जननी है; क्योंकि उसका बीज आसक्ति है। इसके रहते हुए राग-द्वेषका नाश नहीं होता। राग-द्वेषके रहते हुए साधक प्रभुका प्यारा भक्त नहीं कहा जा सकता। अतः साधकको चाहिये कि किसीसे भी अपने लिये कुछ भी न चाहे एवं किसी प्रकारकी आशा भी न रखे।

तीसरा लक्षण है—करुणाभावसे सम्पन्न होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि जबतक मनुष्य द्वेष-भावसे रहित और मित्रभावसे भरपूर नहीं हो जाता, तबतक उसमें सच्चा करुणाभाव जाग्रत् नहीं होता। ममता और आसक्तिसे युक्त जो करुणा देखनेमें आती है, वह वह करुणाभाव नहीं है, जो भगवान्‌के प्यारे भक्तोंमें होता है। भक्तका करुणा-भाव सर्वथा राग-द्वेष-शून्य और आत्मभावसे पूर्ण होता है, उसमें भेदभाव नहीं रहता। भक्त परके दुःखसे दुखी होता है, अपने दुःखसे नहीं। अतः वह करुणा खिन्नताका रूप धारण नहीं कर सकती, अपितु प्रेम-रसको जाग्रत् एवं विकसित करती है। साधारण मनुष्योंकी करुणा सीमित भावको लेकर होती है। उसमें किसीके प्रति रागका और किसीके प्रति द्वेषका भाव रहता है। उसमें क्षोभ, खिन्नता और उद्वेगका मिश्रण रहता है; किंतु प्रभुके प्यारे भक्तकी करुणा सर्वहित-कारी भावसे परिपूर्ण, सर्वथा निर्मल और परमप्रेमसे भरी हुई होती है।

चौथा लक्षण है—ममतासे रहित होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि किसी भी व्यक्ति या पदार्थको अपना मानना, उससे किसी भी प्रकारके भोगकी—सुखकी इच्छा करना या आशा करना ही ममता है। यहाँ इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि भगवान्‌के नाते सबको समान-भावसे अपना मानना ममता नहीं है, वह तो ममताका समूल नाश करनेवाली परम निर्मल आत्मीयता है। अर्थात् विशुद्ध समता है।

वास्तवमें कोई भी व्यक्ति या पदार्थ किसीकी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। आस्तिकके लिये समस्त विश्व प्रभुका है, भौतिकवादीके लिये सब कुछ प्राकृत है और ज्ञानीकी दृष्टिमें सब मायामात्र है। अतः इनको अपना मानना अर्थात् किसी वस्तु या व्यक्तिसे सीमित अपनत्व स्वीकार करना ही ममतारूप विकार है। इसके रहते हुए मनुष्य [illegible] और द्वेषभावसे रहित नहीं हो सकता। [illegible] और करुणाकी स्थिति भी नहीं हो सकती। अतः भक्तके लिये ममताका त्याग परम आवश्यक है।

पाँचवाँ लक्षण है—अहंकारसे रहित होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धसे जो अपनेमें सीमित व्यक्तित्वकी स्वीकृति है, यही अहंकार है। इसीका विस्तार वर्ण, आश्रम, जाति, गोत्र, नाम, देश, प्रान्त, ग्राम, मोहल्ले आदिका अभिमान है, जिसके कारण मनुष्य 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं अमुक सम्प्रदायका हूँ, मैं हिंदू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं यूरोपियन हूँ, मैं जापानी हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं राम हूँ, मैं श्याम हूँ, मैं अग्रवाल हूँ, मैं माहेश्वरी हूँ, मैं ओसवाल हूँ, मैं पारीक हूँ, मैं दायमा हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं मारवाड़ी हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं कलकत्तेका हूँ' इत्यादि अनेक भावोंको अपनेमें स्वीकार करता है और उस स्वीकृतिको लेकर नाना प्रकारके भेद उत्पन्न कर लेता है। फलतः उसे कोई तो अपना और कोई पराया प्रतीत होने लगता है, जिससे उसका राग-द्वेष बना रहता है। अतः साधकको इस [illegible] सर्वथा त्याग करना होगा। इसका त्याग करनेके लिये अपनेमें विशुद्ध [illegible] स्थापना करना भी एक प्रकारका साधन है—जैसे यह मानना कि मैं भगवान्‌का दास हूँ, सेवक हूँ, भक्त हूँ इत्यादि।

सीमित अहंभावसे रहित हुए बिना मनुष्य [illegible] नहीं होता एवं भोक्तापनका भाव नहीं मिटता और इसके रहते हुए राग-द्वेष और काम-क्रोध आदि विकारोंका सर्वथा नाश नहीं हो सकता; फलतः वह [illegible] मित्र और [illegible] करुणाभावसम्पन्न भी नहीं बन सकता। इस दृष्टिसे भगवान्‌का प्यारा भक्त बननेके लिये अहंकाररहित होना भी परम आवश्यक है।

यह अहंकार ही सारे [illegible] करता है, जिससे [illegible] होकर मनुष्य [illegible] प्रकारके [illegible] स्वीकार कर लेता है [illegible]। अतः साधकको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

[illegible] लक्षण है—सुख-दुःखमें सम होना । इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि [illegible] व्यक्तिभावका नाश होने-पर ही मनुष्य सुख-दुःखमें सर्वथा सम रह सकता है । इस समताको प्राप्त करनेके लिये साधकको चाहिये कि वह प्रत्येक परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करे और प्रत्येक परिस्थितिमें प्रभुकी कृपाका दर्शन करता हुआ उनके प्रेममें निमग्न होता रहे, अथवा उसे प्राकृत विधान मानकर राग-द्वेषसे रहित हो जाय या सब कुछ मायाका खेल है, यह मानकर सर्वथा असङ्ग हो जाय । उपर्युक्त तीनों ही मान्यताओंमें अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोंकी एकता हो जाती है, द्वन्द्व नहीं रहता, भेद नहीं रहता; तब सुख और दुःखमें सम हो जाना स्वाभाविक हो जाता है ।

सातवाँ लक्षण है—क्षमाशील होना । इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि जबतक मनुष्य सुख और दुःख-को समान नहीं मानता, तबतक वह पूर्णतया क्षमाशील नहीं हो सकता । जो हमको किसी भी प्रकारका दुःख देनेमें निमित्त बनता है, जो अपराधी है, उसे अपराधका बुरा फल न भोगना पड़े—इस भावका नाम क्षमा है । अर्थात् उसके प्रति मनमें ऐसा भाव उत्पन्न हो कि वास्तवमें इसका कोई अपराध ही नहीं है, यह तो मेरे प्यारे प्रभुकी ही प्रेरणासे इस घटनामें निमित्त बना है, प्रभुने कृपा करके ही मेरे हितके लिये मेरे साधनको दृढ करनेके लिये यह परिस्थिति प्रदान की है—इस भावका नाम क्षमा है । सुखकी चाह और दुःखका भय रहते हुए इस प्रकारकी क्षमा स्वाभाविक नहीं हो सकती और उसके बिना साधक क्षमाशील नहीं हो सकता ।

क्षमाशील साधक स्वभावसे ही वैरभावसे रहित, सबका मित्र एवं करुणाभावसे सम्पन्न होता है; अतः पूर्वोक्त सभी गुण उसमें आ जाते हैं । इस दृष्टिसे क्षमाशील होना भी साधकके लिये परम आवश्यक है ।

आठवाँ लक्षण है—निरन्तर सन्तुष्ट रहना । इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि जो सर्वथा चाहरहित हो जाता है, जिसके मनमें किसी भी प्रकारकी कोई कामना नहीं रहती तथा इसी कारण जो सुख-दुःखमें सम हो जाता है, जिसके राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं, जिसमें ममता और अभिमान-का नाश हो जाता है, वही निरन्तर संतुष्ट रह सकता है । भगवान्‌के प्यारे भक्तके मनमें किसी प्रकारकी खिन्नता लेशमात्र भी नहीं रहती; क्योंकि किसी प्रकारकी चाहका पूर्ण न होना ही खिन्नता या असंतोषका कारण है । भगवद्भक्त

किसीसे कुछ चाहता ही नहीं, तब उसमें

कैसे हो ? वह तो सदैव अपने प्यारे

हुआ उनके प्रेममें निमग्न रहता है ।

प्रभुको प्यारा लगे, इसमें कहना ही क्या

चाहिये कि सर्वथा निष्काम होकर सदैव प्रभुके प्रेम-

रहे; यही वास्तविक संतोष है ।

नवाँ लक्षण है—योगयुक्त होना । इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि यहाँ एकमात्र प्रभुसे ही सम्बन्ध जोड़ लेना अर्थात् जगत्‌के समस्त सम्बन्धोंकी शृङ्खलाको तोड़कर एकमात्र प्रभुको ही अपना मान लेना और अपने-को सर्वथा उनके समर्पण करके उनका हो रहना ही योगयुक्त होना है; क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग तो 'यतात्मा' पदमें कहा गया है और समतारूप योग 'सम-दुःख-सुखः'में आ गया है ।

उपर्युक्त भावसे योगयुक्त हो जानेपर प्रभुकी मधुर स्मृति अपने-आप होने लगती है, उसमें व्यवधान नहीं पड़ता और न किसी प्रकारका श्रम ही करना पड़ता है । अतः साधकका जीवन निरन्तर सरस रहता है ।

दसवाँ लक्षण है—चित्तका वशमें होना । इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि चित्त शुद्ध होनेपर अपने-आप वशमें हो जाता है, जिसके होते ही पराधीनता समूल नष्ट हो जाती है । उसके पहले जो मनुष्यकी यह दशा रहती है कि वह जिस कामको करना उचित समझता है, उसके करनेकी सामर्थ्य और सामग्री रहते हुए भी उसे कर नहीं पाता और जिसको करना उचित नहीं समझता, उसे छोड़ नहीं पाता अर्थात् अपने ही विवेकका स्वयं अनादर करता रहता है, विवेकके अनुरूप जीवन नहीं बना सकता—यही पराधीनता है । चित्तके शुद्ध और वशमें हो जानेपर यह पराधीनता नहीं रहती, विवेक और जीवनकी एकता हो जाती है ।

ग्यारहवाँ लक्षण है—निश्चयका दृढ होना । इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि यहाँ विकल्परहित अचल प्रभु-विश्वासको ही दृढ निश्चयके नामसे कहा गया है । जब-तक मनुष्यमें अनेक विश्वास विद्यमान रहते हैं, विभिन्न व्यक्तियों और वस्तुओंपर वह विश्वास करता रहता है—अर्थात् उनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके उनसे सुख मिलनेकी आशा रखता है, उनमें अपने-परायेकी कल्पना करके उनसे विभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तबतक उसका प्रभु-विश्वास अचल और विकल्परहित नहीं हो पाता,

उसमें किसी-न-किसी प्रकारका आंशिक संदेह छिपा रहता है। इस कारण साधक प्रभुका अनन्य-प्रेमी भक्त नहीं हो सकता। अतः साधकको चाहिये कि अपने प्रियतम प्रभुमें और उनकी प्राप्तिके साधनमें कभी किसी भी प्रकारका किंचिन्मात्र भी संदेह या विकल्प नहीं करे; तभी उसका निश्चय दृढ़ अर्थात् अचल हो सकता है और वह भगवान्‌का प्यारा भक्त हो सकता है।

ग्यारहवाँ लक्षण है—मन और बुद्धिको प्रभुके समर्पण कर देना। यह अन्तिम लक्षण है; इसके हो जानेपर साधकमें पूर्वोक्त सभी लक्षणोंका समावेश हो जाता है; क्योंकि जब साधकका मन भगवान्‌का हो जाता है, तब वह सर्वथा विशुद्ध और निर्मल हो जाता है, उसमें किसी भी प्रकारका विकार नहीं रह सकता; उसके द्वारा जो कुछ काम होता है, वह भगवान्‌का ही काम होता है। फिर साधककी अपनी कोई मान्यता या कामना नहीं रहती, वह सर्वथा बेमनका हो जाता है। अर्थात् ऐसी कोई भी वस्तु या परिस्थिति उसके लिये शेष नहीं रहती, जिसकी आवश्यकता उस भक्तको अपने लिये प्रतीत हो। इसी प्रकार जब साधककी बुद्धि भगवान्‌की बुद्धि हो जाती है, तब उसमें किसी भी प्रकारकी जिज्ञासा शेष नहीं रहती, उसकी समस्त जिज्ञासाएँ सदाके लिये पूर्ण हो जाती हैं। जबतक मनुष्यमें कुछ भी जानने या समझनेकी इच्छा विद्यमान है, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी बुद्धि प्रभुके समर्पित हो गयी; क्योंकि जाननेकी शक्ति और जिज्ञासा—यही बुद्धिका प्रकट स्वरूप है। यह तभीतक रहती है, जबतक मनुष्य अपनेको बुद्धिमान् मानता है और बुद्धिको अपनी मानता है। अतः मन और बुद्धि दोनोंको प्रभुके समर्पण कर देना—यह अन्तिम साधन है एवं इसमें सभी साधनोंका समावेश है।

इस प्रकार इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌के प्यारे भक्तके जो बारह लक्षण बतलाये गये हैं, उन्हींकी व्याख्या अगले पाँच श्लोकोंमें है। अभिप्राय यह है कि इनमेंसे कोई भी लक्षण यदि सर्वांशमें पूर्ण हो जाय तो शेष ग्यारह भी अपने-आप ही आ जाते हैं। अतः साधक अपनी रुचि, योग्यता और विश्वासके अनुरूप किसी भी साधनको अपना ले तो उसे भगवान् अपना प्रिय भक्त माननेको तैयार हैं। इसीलिये भगवान्‌ने १५ वें श्लोकमें द्वेष-भावसे रहित होनेको प्रधानता देकर उसका सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन किया है। सोलहवें श्लोकमें कर्तापनके त्यागको अर्थात् अहंकार-शून्यताको प्रधानता देकर निष्कामता, असङ्गता, [illegible] अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके रूपमें वर्णन करते [illegible] की है। १७ वें श्लोकमें ममता [illegible] लिये हर्ष, शोक, चिन्ता, इच्छा [illegible] आदि जो ममताके कार्य हैं, उन [illegible] गयी है। इसी प्रकार १८ वें और १९ वें [illegible] वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। उनमें [illegible] शीलता, बुद्धिकी स्थिरता, ममताका [illegible] समावेश किया गया है। उपर्युक्त १३ वें और [illegible] मूलरूपसे वे सभी बातें आ गयी हैं, जिनकी [illegible] १९ वें श्लोकतक की गयी है [illegible] श्लोकोंके स्पष्टीकरणमें इन सभी श्लोकोंका भाव [illegible]

इस प्रकार यदि हमलोग इन [illegible] और प्रभुके प्यारे भक्त बननेकी [illegible] विश्वासपूर्वक प्रभुके सम्मुख हो जायँ तो [illegible] प्रिय भक्त बन सकते हैं; क्योंकि [illegible] हैं। भगवान्‌ने हमारा त्याग नहीं किया है [illegible] विमुख होकर संसारमें भटक रहे हैं [illegible] अपने नित्य साथी प्रभुसे सम्बन्ध स्वीकार करके [illegible] प्रिय भक्त बन सकते हैं।

भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तके जो लक्षण [illegible] अपनानेमें किसी भी प्रकारकी [illegible] कठिनाई नहीं है; यह हमारा [illegible] कि हम प्रभुको अपना मानकर उन्हींके [illegible] हो जायँ। सच्ची बात तो यह है कि जो [illegible] विपरीत लक्षण हैं, जो हमें [illegible] हैं तथा जिनका त्याग हमें कठिन प्रतीत हो रहा [illegible] लिये अस्वाभाविक हैं। थोड़ा विचार करनेपर [illegible] है कि [illegible] प्रकार [illegible] और [illegible] जिन-जिन कठिनाइयोंका [illegible] द्वेष या वैरके [illegible] शान्ति और आनन्द [illegible] विषयमें [illegible] है।

अतः साधकको चाहिये कि [illegible] अपनी उन्हें [illegible] उनका प्यारा भक्त बननेकी [illegible]

भक्तिके ऊपर भाष्य

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल, एम० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि, भारतभूषण, साहित्य-रत्नाकर)

भक्तिके विषयमें अनेकों विवरण, टीकाएँ, व्याख्याएँ विवेचन और भाष्य होनेपर भी सबसे उत्तम भाष्य या विवरण श्रीमद्भागवतका एकादश स्कन्ध है—यह कहें तो अतिशयोक्ति न होगी; क्योंकि उसमें सारे ही सुसंयोग एकत्रित हो गये हैं। वक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं और श्रोता भागवतोत्तम श्रीउद्धवजी हैं। प्रसङ्ग श्रीभगवान्‌के परमधाम प्रयाणका है और निमित्त है सर्वसाधारणके कल्याण या संसारसे तरनेके उपायको समझनेके लिये संदेश। श्रीमद्भागवतमें श्रीवेदव्यासकी समाधि-भाषा उपनिबद्ध हुई है। श्रीकृष्णभगवान्‌का भी समाधि-भाषामें ही संदेश है। दूसरेसे पाँचवें अध्यायतक नव-योगीश्वरोंके द्वारा प्रणव और तीन व्याहृतियोंके व्याख्यानरूप उपोद्घातसे इसका आरम्भ होता है। 'अथ' शब्दसे गायत्रीके भाष्यरूपमें छठेसे उन्तीसवें अध्यायतक स्तुतिद्वारा आरम्भ करके 'नतोऽस्मि' शब्दसे उसका उपसंहार किया गया है। यहाँ समझनेके लिये कोई उतावली नहीं है। श्रीउद्धवका प्रश्न केवल अपने लिये ही नहीं है। उनको अपने लिये कोई घबराहट नहीं है। वे तो कहते हैं कि 'तुम्हारी मायाको, दुस्तर अन्धकारको मैं तो तुम्हारे गुणानुवादके द्वारा पार कर लूँगा, परंतु लोक-कल्याणके लिये कोई सहज मार्ग बतलाओ।' श्रीभगवान् भी चौबीस गुरु करनेवाले, बुद्धिवादी अवधूत श्रीदत्तात्रेयके प्रसङ्गद्वारा विशेषरूपसे उपदेश प्रारम्भ करते हैं, यद्यपि भगवान् पहले ही परम तत्त्वका निम्नाङ्कित श्लोकमें कथन कर चुकते हैं—

> यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
> नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥
> (श्रीमद्भा० ११।७।७)

—और इसके द्वारा निर्भ्रान्त, केवल बाधबोधरूप तत्त्वको स्वीकार करके संसारके मिथ्यात्वको दिखलाते हैं; क्योंकि वास्तविक और उत्कृष्ट प्रकारकी भक्तिमें इस निश्चयकी अनिवार्य आवश्यकता है।

प्रस्तावनामें योगीश्वर श्रीहरिने भक्तोंके तीन प्रकार बतलाये हैं। इनमें सर्वोत्तम भक्त वह है जो भूतमात्रको भगवान्‌में—आत्मामें देखता है। जो ईश्वरमें प्रेम, उनके भक्तोंके साथ मैत्री, अज्ञानी लोगोंके ऊपर कृपा तथा द्वेष करनेवालोंके प्रति उपेक्षाका भाव रखता है, वह मध्यम है; और जो केवल भगवत्-मूर्तिमें सम्यक् प्रकारसे श्रद्धाद्वारा पूजा-अर्चन करता है, उसको प्राकृत भक्तकी कोटिमें रखा गया है। यह पूजा-अर्चा भी किसी ऐसी-वैसी वस्तुमें नहीं, बल्कि सर्वदा उपस्थित भगवत्-मूर्ति अग्निमें, सर्वदा गतिमान् शक्ति-धाम प्रत्यक्ष सूर्यमें, सागर, नदी इत्यादिके पुण्यदर्शनमय जल आदिमें, अतिथि-रूप भगवद्विभूति मानवमें तथा ईश्वरके निवासस्थानरूप अपने ही हृदयमें की जा सकती है। अधिक क्या, सर्वत्र विश्वमें भगवान्‌का दर्शन-पूजन हो सकता है। यही क्यों, चाहे जिस परिस्थितिमें हो उनकी पूजा की जा सकती है। दुःख आ पड़ा हो तब, अन्धकारमें मार्ग न सूझता हो तब, कोई महान् उद्देश्य सिद्ध करना हो तब, अथवा किसी भी प्राप्तव्य वस्तुकी इच्छासे शून्य, शान्त मन हो, तब भी भक्त भक्ति कर सकता है और उत्तरोत्तर उत्तम गतिको प्राप्त कर सकता है।

योगीश्वर हरिके इस ईश्वरदर्शनको मानो पुनः स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—

> सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्।
> भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे॥
> (श्रीमद्भा० ११।११।४२)

'सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौएँ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, अपना हृदय और जीवमात्र मेरी पूजाके स्थान हैं।' सूर्यमें सन्ध्या-वन्दन आदिसे, अग्निमें यज्ञ-होमसे, ब्राह्मणमें अतिथि-सत्कार आदिसे, गायमें उसकी रक्षा-पालन आदिसे, विष्णु-भक्तोंमें आदर-सत्कारसे, हृदयमें ध्यान आदिसे, वायुमें प्राणायामसे और जलमें स्नान-तर्पण आदिसे भगवान्‌की पूजा की जा सकती है। इस प्रकार भगवत्-उपासनाके अनेक मार्ग और विकल्प हैं और वे सभी चरम कल्याणके साधन हैं। वस्तुतः इन सबमें ईश्वर-बुद्धि करनी चाहिये। बड़, पीपल या तुलसीके रूपमें, शक्तिके महानिवास अणुरूपमें, अथवा प्रेमकी मूर्ति प्रिय या प्रियारूपमें ईश्वर-बुद्धि करनी चाहिये। सब ग्रन्थोंका ईश्वर समान ही है या होगा—केवल यह समझनेसे काम नहीं चलेगा। परंतु 'यह सारा ही विश्व ब्रह्म है, दूसरा कुछ है ही नहीं'—इस ज्ञानके द्वारा श्रुति-भगवती हमारी अशान्तिका निराकरण करती है।

> सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।

शिव-विष्णुकी प्रतिमाएँ होती हैं, परंतु ब्रह्मकी प्रतिमा नहीं होती; क्योंकि यह समग्र दृश्यमान् विश्व ही इसकी प्रत्यक्ष मूर्ति है।

सखाओंके मध्यमें नाचते हुए दोनों ब्रजेन्द्रकुमार
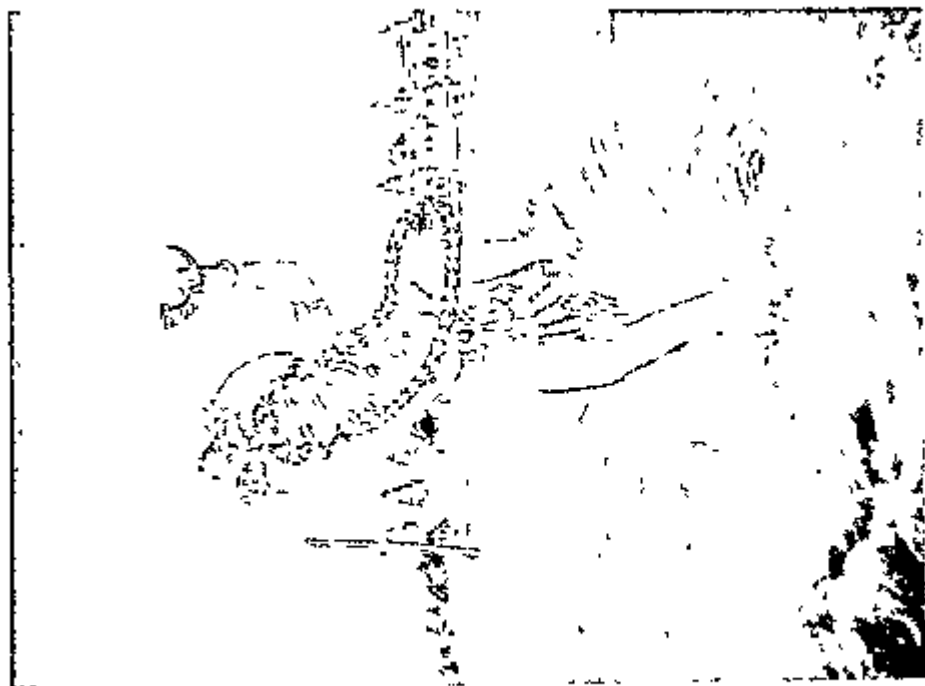
कालीदहमें कूदते हुए करुणा-वरुणालय

भक्तकी महिमा

जहाँ भक्त मेरो पग धरै, तहाँ धरूँ मैं हाथ।
३२— पाछे पाछे मैं फिरूँ, कभी न छोड़ूँ साथ॥

भक्त-पदानुगामी भगवान

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)
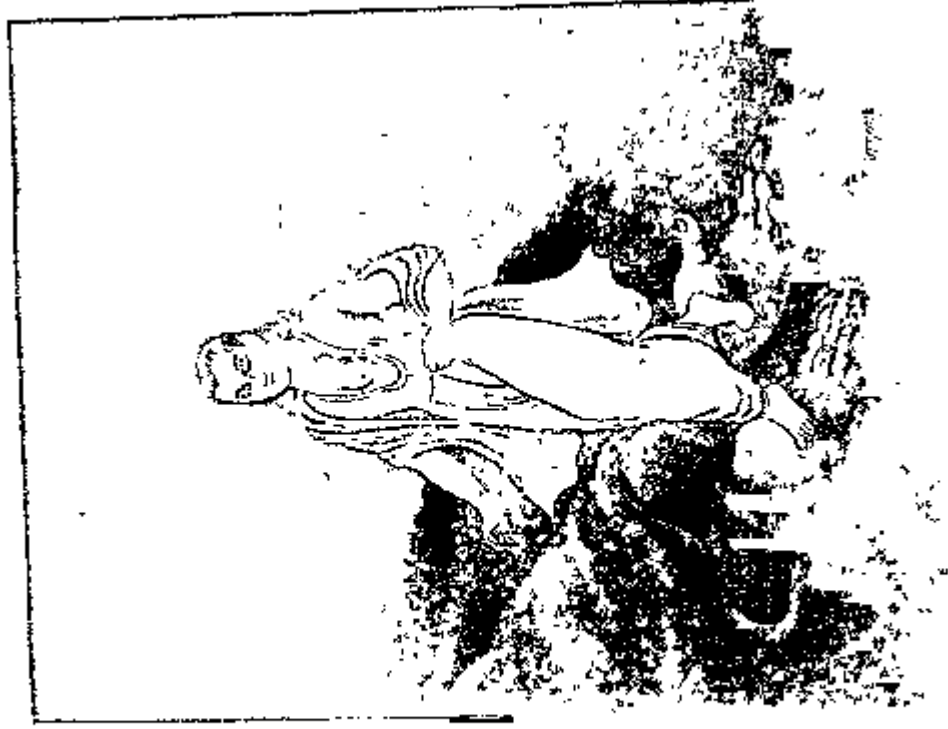
श्रीभगवत्पूजन-पद्धतिका सामान्य परिचय

अष्ट-काल

निशान्तः प्रातः पूर्वाह्णो मध्याह्नश्चापराह्णकः ।
सायं प्रदोषो नक्तं चेत्यष्टौ कालाः प्रकीर्तिताः ॥

निशान्त (सूर्योदयसे पूर्व दो घंटे चौबीस मिनटका काल), प्रातः (सूर्योदयके उपरान्त दो घंटे चौबीस मिनटतक), पूर्वाह्न (तत्पश्चात् दो घंटे चौबीस मिनट), मध्याह्न (तत्पश्चात् चार घंटे अड़तालीस मिनट), अपराह्न (तत्पश्चात् सूर्यास्ततक दो घंटे चौबीस मिनट), सायाह्न (सूर्यास्तके बाद दो घंटे चौबीस मिनट), प्रदोष (तत्पश्चात् दो घंटे चौबीस मिनट), निशा (उसके बाद चार घंटे अड़तालीस मिनट)—इन रात-दिनके आठ भागोंमें अष्टकालीन पूजा होती है। श्रीभगवत्पूजा प्रतिमामें, चित्रपटमें या मानसिक की जाती है। पूजा पूर्व या उत्तर मुँह बैठकर करनी चाहिये।

प्रातःस्नान

सूर्योदयके पश्चात् प्रायः ढाई घंटेतक प्रातःकालका समय होता है। शौचादिसे निवृत्त होकर हस्त-पादादि-शुद्धिपूर्वक दन्तधावन-करके आचमन करके प्रतिदिन यत्नपूर्वक प्रातःस्नान करे। 'श्रीहरि-भक्ति-विलास' में लिखा है कि ब्राह्म-मुहूर्तमें 'कृष्ण, कृष्ण' कीर्तन करते हुए उठे, फिर हाथ-मुँह आदि धोकर दन्तधावन करे, पश्चात् आचमन करके कपड़े बदलकर प्रातःकालीन स्मरण, कीर्तन और ध्यान करके प्रभुको जगाकर, निर्माल्य आदि उतारकर, श्रीमुख प्रक्षालन कराके, मङ्गल-आरती आदिका कार्य सम्पादन करके अरुणोदयका समय व्यतीत होनेपर प्रातःस्नानके लिये बाहर निकले तथा कृष्ण-नाम कीर्तन करते हुए जलमय तीर्थमें या उसके अभावमें विशुद्ध जलाशयमें जाकर विधिपूर्वक स्नान करे।

पुष्प-चयन-विधि

रात्रिके वस्त्र परित्याग करके पवित्र वस्त्र धारण करके अथवा प्रातःस्नान करके पुष्प-चयन करे। मध्याह्नकालमें स्नान करके पुष्प-चयन करना वर्जित है।

तुलसी-चयन-विधि

बिना स्नान किये तुलसी-चयन न करे। चयन करनेका मन्त्र—

तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया।
केशवार्थं चिनोमि त्वां वरदा भव शोभने॥
त्वदङ्गसम्भवैः पत्रैः पूजयामि यथा हरिम्।
तथा कुरु पवित्राङ्गि कलौ मलविनाशिनि॥
चयनोद्भवदुःखं ते यद्देवि हृदि वर्तते।
तत् क्षमस्व जगन्मातस्तुलसि त्वां नमाम्यहम्॥

यह मन्त्र उच्चारण करके श्रीतुलसीजीको नमस्कार करके दाहिने हाथसे धीरे धीरे तुलसीके [illegible] एक एक पत्र [illegible] द्विदलके साथ मञ्जरी चयन करे [illegible]। कीड़ोंका लगा हुआ अथवा छिन्न पत्र ग्रहण न करे। [illegible] पत्र ही अनन्त होता है। इस मन्त्रसे तुलसी चयन करके श्रीकृष्ण-पूजा करनेसे लक्ष-कोटि गुना फल प्राप्त होता है—

मन्त्रेणानेन यः कुर्याद् गृहीत्वा तुलसीदलम्।
पूजनं वासुदेवस्य लक्षकोटिगुणं भवेत्॥
([illegible])

(श्रीशिव-पूजार्थं)
बिल्वपत्र-चयन-विधि

बिल्वकी बड़ी महिमा है। लिखा है कि [illegible] द्वारा भगवान् शिवजीकी पूजा करनेसे जो फल होता है, वही बिल्वपत्रद्वारा करनेसे होता है। [illegible] बिल्व पत्र तोड़ते समय नीचे लिखे मन्त्रका उच्चारण करे—

पुण्यवृक्ष महाभाग मालूर श्रीफल प्रभो।
महेशपूजनार्थाय त्वत्पत्राणि चिनोम्यहम्॥

पत्र तोड़नेके पश्चात् नीचे लिखा मन्त्र बोलकर बिल्ववृक्षको प्रणाम करना चाहिये—

ॐ नमो बिल्वतरवे सदा शंकररूपिणे।
सफलानि ममाङ्गानि कुरुष्व [illegible]॥

बिल्वपत्र छः महीनेतक [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] इसको [illegible] चढ़ाना चाहिये।

पूजाके उपकरण

आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्।
मधुपर्काचमस्नानवसनाभरणानि च॥
गन्धः सुमनसो धूपो दीपो नैवेद्यवन्दने।
प्रयोजयेदर्चनायामुपचारांस्तु षोडश॥
([illegible])

'आसन, स्वागत, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क, पुनराचमनीय, स्नान, वसन, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और वन्दन—ये पूजाके षोडशोपचार हैं।'

पाद्यमर्घ्यं तथाचामं मधुपर्काचमस्तथा ।
गन्धादयो नैवेद्यान्ता उपचारा दशक्रमात् ॥

'पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, पुनः आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य—ये दशोपचार हैं।'

गन्धादिभिर्नैवेद्यान्तैः पूजा पञ्चोपचारिका ।
मयर्दांस्त्रिविधाः प्रोक्तास्तासामेकां समाचरेत् ॥

'गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य—ये पूजाके पञ्चोपचार हैं। यह तीन प्रकारकी पूजा कही गयी है। इनमेंसे एकका सम्यक् अनुष्ठान करना चाहिये।'

अष्टाङ्ग अर्घ्य

आपः क्षीरं कुशाग्राणि दध्यक्षततिलास्तथा ।
यवाः सिद्धार्थकाश्चैवमर्घ्योऽष्टाङ्गः प्रकीर्तितः ॥
(भविष्यपुराण)

'अर्घ्य-पात्रमें जल, दुग्ध, कुशाग्र, दधि, अक्षत, तिल, यव और श्वेत सर्षप—इन आठ द्रव्योंका निक्षेप करके व्यवहार करे।'

मधुपर्क

मधुपर्कके पात्रमें घृत, दधि और मधु—इन तीन द्रव्यों-की व्यवस्था करे। मधुके अभावमें गुड़ तथा दधिके अभावमें दुग्धका प्रयोग करे। मधुपर्कको कांस्यपात्रसे ढकनेका विधान है। जैसे—

मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं कांस्येनेति ।
(कात्यायनसूत्र)

पूजार्थ जल-ग्रहण

याज्ञवल्क्य-संहितामें लिखा है—

न नक्तोदकपुष्पाद्यैरर्चनं स्नानमर्हति ।

'रात्रिमें जो जल या पुष्पादि आहरण किया जाय, उससे श्रीहरिका स्नान-पूजन सम्पन्न न करे।' विष्णुस्मृतिमें भी लिखा है—न नक्तं गृहीतोदकेन दैवकर्म कुर्यात्। अर्थात् रात्रिकालमें संग्रहीत जलसे देवकर्म न करे।

जल-शुद्धि

पवित्र गङ्गा, यमुना, राधा-कुण्ड आदि तीर्थोंके जलके बिना अन्य जल हो तो—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु ॥

—इस मन्त्रके द्वारा जलके ऊपर अङ्कुश-मुद्रा दिखाकर तीर्थोंका आवाहन करे।

पूजोपकरण-स्थापन-प्रणाली

(१) स्नानीय जल—श्रीभगवान्‌के सामने दक्षिण ओर स्थापित करे।
(२) स्नान-पात्र और आचमन-पात्र—उसके निकट रखे।
(३) शङ्ख—अपने सामने वामभागमें आधारपर स्थापित करे।
(४) घण्टा—उसके समीप किसी आधारपर रखे।
(५) नैवेद्य और धूप—अपने वाम पार्श्वमें।
(६) तुलसी और गन्ध-पुष्पादिके पात्र—अपने दक्षिण पार्श्वमें।
(७) घृत-दीप—तुलसी आदिके समीप; परंतु तैल-दीप होनेपर अपने वाम पार्श्वमें स्थापन करे।
(८) पूजाके अन्यान्य द्रव्यादि—अपने सामने जहाँ सुविधा हो, वहाँ रखे।
(९) हस्त-प्रक्षालन-पात्र—अपने पृष्ठदेशमें रखे।

घण्टा-स्थापन-विधि

'क्लीं' बीजका उच्चारण करके अपने वामपार्श्वमें आधारके ऊपर घण्टा रखकर 'ॐ जगद्ध्वनिमन्त्रमातः स्वाहा'—यह मन्त्र पढ़कर 'एतत् पाद्यम्, इदमाचमनीयम्, एते गन्धपुष्पे, घण्टायै नमः' मन्त्र पढ़कर पाद्य आदिके द्वारा घण्टाकी पूजा करे; पश्चात् वामहस्तद्वारा घण्टा बजाते हुए बोले—

सर्ववाद्यमयी घण्टा देवदेवस्य वल्लभा ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन घण्टानादं तु कारयेत् ॥

देवताके आवाहन-कार्यमें तथा अर्घ्य, धूप, दीप, पुष्प और नैवेद्य अर्पण करते तथा स्नान कराते समय घण्टा-वादन अवश्य करना चाहिये।

दिग्बन्धन

ॐ शार्ङ्गाय सशराय हुं फट् नमः—इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए पुष्प और धानका लावा (लाज) चारों ओर छींट करके दिग्बन्धन करना पड़ता है।

विघ्न-निवारण

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥

—इस मन्त्रको पढ़कर, 'अस्त्राय फट्'—इस अस्त्रमन्त्रका उच्चारण करते हुए तीन बार वामपादकी एड़ीसे भूमिपर आघात करके विघ्न दूर करे, फिर पूजा प्रारम्भ करे।

पूजाके लिये आसन

नारद-पञ्चरात्रमें लिखा है—

वंशाद्वाद्धुर्दरिद्रत्वं पाषाणे व्याधिसम्भवम्।
धरण्यां दुःखसम्भूतिं दौर्भाग्यं दारुवासने॥
तृणासने यशोहानिं पल्लवे चित्तविभ्रमम्।
दर्भासने व्याधिनाशं कम्बलं दुःखमोचनम्॥

'बाँसके आसनपर बैठनेसे दरिद्रता, पाषाणपर रोगोत्पत्ति, पृथ्वीपर दुःख, काष्ठके आसनपर दौर्भाग्य, तृणके आसनपर यशकी हानि, पल्लवपर चित्तका विभ्रम, कुशासन-पर रोगनाश तथा कम्बलके आसनपर बैठनेपर दुःखमोचन होता है।'

आसन-शुद्धि

पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वं च धारय मां नित्यं पवित्रं कुरु चासनम्॥

—इस मन्त्रसे जल-छिड़क करके आसन-शुद्धि करे।

उपवेशन-विधि

भक्तिमार्गमें आसनका कोई विशेष नियम नहीं है। परंतु स्वस्तिकासनसे बैठना ही सर्वापेक्षा आरामप्रद होता है। पिंडली और ऊरुदेश (जाँघ) के मध्यमें दोनों पद-तलोंको स्थापित करके सीधे बैठनेका नाम स्वस्तिकासन है। दिनमें प्रायः पूर्वमुख और रात्रिमें उत्तरमुख होकर बैठना चाहिये। परंतु श्रीमूर्ति साक्षात् हो तो उसको सम्मुख लेकर बैठना चाहिये। यथा—

तत्र कृष्णार्चकः प्रायो दिवसे प्राङ्मुखो भवेत्।
उदङ्मुखो रजन्यां तु स्थिरमूर्तिश्च सम्मुखः॥

(श्रीहरि-भक्ति-विलास)

तिलक-धारण-विधि

श्रीराधाकुण्डकी रज या गोपीचन्दन आदि पवित्र मृत्तिकाद्वारा तिलक किया जाता है। ललाट आदिमें तिलक करते समय 'ॐ केशवाय नमः'—मन्त्र बोलना चाहिये।

आचमन-विधि

हाथ-पैर धोकर आसनपर बैठे, पश्चात् [illegible] तनिक जल लेकर—ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः। ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥—यह मन्त्र पढ़कर [illegible] आचमन करे। यह जल इतना होना चाहिये कि [illegible], [illegible] कण्ठतक, वैसे [illegible] तथा [illegible] मुखनासिका स्पर्श न कर सके। तत्पश्चात्—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

—यह मन्त्र पढ़कर शिखा [illegible] होता है।

पाद्यादि-अर्पणके नियम

श्रीमूर्तौ तु शिरस्यर्घ्यं दद्यात् पाद्यं च पादयोः।
मुखे चाचमनीयं त्रिर्मधुपर्कं च सत्तम॥

'श्रीविग्रहके मस्तकपर अर्घ्य तथा दोनों चरणोंमें पाद्य अर्पण करना चाहिये। आचमनीय—तीन बार—और मधुपर्क श्रीमुखमें प्रदान करने चाहिये।'

श्रीभगवत्स्नानविधि

श्रीहरि-भक्ति-विलासमें लिखा है कि प्रभुसे निवेदन करे 'भगवन्! स्नानभूमिमलङ्कुरु'—यह प्रार्थना करके 'पादुके निवेदयामि नमः' कहकर प्रभुके सामने पादुका [illegible] करे; पश्चात् [illegible] और [illegible] के अभ्यन्तर ईशान कोणमें निर्मित [illegible] स्नानार्थ ताम्रपात्रमें स्थापित करे। तदनन्तर शङ्ख [illegible] भगवान्को स्नान करावे।

स्नान-मन्त्र

इस मन्त्रसे पहले शङ्खको [illegible]—

त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे।
मानितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते॥

'हे पाञ्चजन्य! तुम पूर्वकाल सागरसे उत्पन्न हुए थे, विष्णुभगवान्ने तुम्हें हाथमें धारण किया [illegible] देवोंसे मान्य हो, तुम्हें नमस्कार!'

पञ्चामृतसे श्रीभगवदभिषेक

श्रीहरि-भक्ति-विलासमें लिखा है कि पञ्चामृतसे स्नान कराना हो तो दुग्ध, दधि, घृत, मधु और शर्करा—इन [illegible] क्रमशः शङ्खमें लेकर [illegible] स्नान कराये।

चन्दन घिसनेका नियम

घिसा चन्दन ही श्रीभगवदर्चनामें व्यवहृत होता है। दोनों हाथसे चन्दनकी लकड़ी पकड़कर तर्जनी अङ्गुलिका स्पर्श न करते हुए दक्षिण हाथकी ओरसे घुमाकर चन्दन-घर्षण करना चाहिये।

गन्ध-अर्पण-विधि

अँगूठे और कनिष्ठा अङ्गुलिके द्वारा चन्दन आदि गन्ध-द्रव्योंको अर्पण करे।

पुष्प-शुद्धि

पुष्पोंको लेकर—

ॐ पुष्पे महापुष्पे सुपुष्पे पुष्पसम्भवे।
पुष्पचयावकीर्णे च हुं फट् स्वाहा॥

—यह मन्त्र उच्चारण उनके ऊपर जल-सिञ्चन करके उसमें चन्दन तथा अन्य गन्ध-द्रव्य निक्षेप करे।

पत्र-पुष्प आदिके अर्पणकी विधि

पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं नेष्टमधोमुखम्।
दुःखदं तत् समाख्यातं यथोत्पन्नं तथार्पणम्॥

'पत्र-पुष्प अथवा फल कभी भगवान्‌को अधोमुख करके अर्पण नहीं करना चाहिये। यह भगवान्‌को प्रीतिकर नहीं होता, अपितु क्लेशदायक होता है। अतएव ये प्रकृतितः जैसे उत्पन्न होते हैं, उसी रूपमें अर्पण करे।' विहित और सुसंस्कृत वृन्तसहित पुष्पको चन्दन-लिप्त करके अङ्गुष्ठ और मध्यमा अङ्गुलिके द्वारा वृन्तकी ओर धारण करके अर्पण करना चाहिये।

तुलसी-अर्पण-विधि

तुलसीदलको भलीभाँति धोकर जलशून्य करके चन्दन लगाकर अनामिका और अङ्गुष्ठसे धारण करके, उसके पृष्ठ भागको नीचेकी ओर करके, श्रीपाद-पद्ममें एक-एक करके अर्पण करे। तुलसी-पत्र कम-से-कम तीन बार अर्पण करे। किसी-किसीके मतसे कम-से-कम आठ बार अर्पण करना चाहिये।

धूप-अर्पण-विधि

पीतल आदि धातुकी बनी हुई धूपदानीमें काठका अङ्गार रखकर 'एष धूपो नमः' कहकर अङ्गारपर जल प्रक्षेप करते हुए गुग्गुल, अगुरु, चन्दन, घृत और मधुसे बना हुआ धूप उसपर छोड़ दे। पश्चात्—

वनस्पतिरसोत्पन्नो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

—यह मन्त्र पढ़कर, 'इमं धूपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर वाम हस्तसे घंटी बजाते हुए नाम-कीर्तनके साथ प्रभुके नाभिदेशपर्यन्त धूप-पात्र उठाकर धूपार्पण करे।

दीपार्पण-विधि

दीपाधारमें गौका घृत अथवा असमर्थ होनेपर उत्कृष्ट तेलके साथ रूईकी बत्तीमें अथवा केवल कर्पूरकी बत्तीमें दीप प्रज्वलित करके दीपाधारमें तुलसीके साथ **'एष दीपो नमः'** कहकर जल प्रक्षेप करते हुए दीपोत्सर्ग करे। पश्चात्—

सुप्रकाशो महातेजाः सर्वतस्तिमिरापहः।
स बाह्याभ्यन्तरज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

—यह मन्त्रपाठ करके 'इमं दीपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' बोलकर प्रभुके श्रीपाद-पद्मसे नयन-कमलपर्यन्त उज्ज्वल आलोकित दीप घुमाकर दीपार्पण करे।

षोडशोपचार-पूजा-विधि

षोडशोपचार-पूजामें निम्नलिखित उपचार अर्पित करे—

आसन—

इदमासनं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः। श्रीकृष्ण! प्रभो इदमासनं सुखमास्यताम्॥

—यह मन्त्र पढ़कर सुमनोहर आसन अथवा उसके अभावमें पुष्प अर्पण करे।

स्वागत—निम्नलिखित मन्त्रसे स्वागत करे—

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये।
तस्य ते परमेश्वर! सुस्वागतमिदं वपुः॥

पाद्य—'एतत् पाद्यं श्रीकृष्णाय नमः' कहकर श्रीचरणका लक्ष्य करके पाद्य अर्पण करे।

अर्घ्य—'इदमर्घ्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर श्रीमस्तकपर अर्घ्य प्रदान करे।

आचमनीय—'इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर प्रभुके दक्षिण हाथकी लक्ष्य करके आचमनार्थ किंचित् जल दे।

मधुपर्क—'इदं मधुपर्कं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर श्रीमुखमें मधुपर्क अर्पण करे।

पुनराचमनीय—'इदं पुनराचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर श्रीमुखमें विशुद्ध सुगन्धित जल अर्पण करे।

स्नान—इसके बाद स्नान करावे । विधि ऊपर दी जा चुकी है ।

वसन—'इदं परिधेयवस्त्रम्, इदमुत्तरीयवस्त्रं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' यह कहकर प्रभुको मनोरम सूक्ष्म वसन और उत्तरीय वस्त्र परिधान करावे ।

भूषण—'इमानि भूषणानि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर प्रभुको स्वर्ण-रौप्यादिनिर्मित अलङ्कार धारण करावे ।

गन्ध—'इमं गन्धं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर चन्दन-अगुरु-कर्पूर-मिश्रित गन्ध लेकर श्रीअङ्गमें धीरे-धीरे परम यत्नसे लेपन करे ।

पुष्प—'इमानि पुष्पाणि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' यह कहकर श्रीचरणोंमें तीन बार पुष्पाञ्जलि प्रदान करे ।

धूप, दीप—अर्पण करनेकी विधि ऊपर दी जा चुकी है ।

नैवेद्य—तत्पश्चात् बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे घण्टा-नाद एवं जय-शब्दके साथ नैवेद्य अर्पण करना चाहिये । नैवेद्य, स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य या मिट्टीके पात्रमें अथवा कमल या पलाश-पत्रमें अर्पण करना चाहिये । नैवेद्यार्पण करते समय चक्रमुद्रा दिखलानी चाहिये । [illegible] नैवेद्यमें अर्पण करे । [illegible] अभक्ष्य पदार्थ नैवेद्यमें न रखे । नैवेद्यके [illegible] कराना चाहिये ।

तत्पश्चात् ताम्बूलादि मुखवास [illegible] धारण कराकर नीराजन करना चाहिये ।

नीराजन (आरती)—[illegible] घड़ियाल आदि नाना वाद्यों एवं जय-शब्दके [illegible] करना चाहिये । कपूर, घी आदिकी बत्तियोंसे [illegible] ; चार बार पदतल, दो बार नाभि, एक बार [illegible] सात बार सभी अङ्गोंमें नीराजन करनेकी विधि है । [illegible] साथ सजल शङ्खसे भी आरती करनी चाहिये । [illegible] भगवान्के मस्तकपर घुमाना चाहिये । तत्पश्चात् [illegible] आदिसे आरती करे । तत्पश्चात् [illegible] प्रणामादि करने चाहिये ।

वन्दना—अन्तमें अपनी दृष्टि [illegible] करके श्रीविग्रहको दण्डवत् प्रणाम करे ।

कृष्ण और गोपी

[लेखक—डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्० (ऑक्सन)]

मनुष्यके जीवनका सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि परम-तत्त्वका साक्षात्कार उसे कैसे हो और उसका स्वरूप क्या है ।

परम्परागत धारणा यह है कि इन्द्रियोंकी जहाँतक गति है, उससे ऊपर उठकर, इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध करके, योगशास्त्रोक्त धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा ही भगवान्‌का, परम तत्त्वका साक्षात्कार किया जा सकता है ।

यदि ऐसी ही बात हो, तब देखना यह है कि वह साक्षात्कार किस रूपमें होता है । उक्त दृष्टिमें इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध होनेके कारण यह स्पष्ट है कि वह साक्षात्कार ऐन्द्रिय नहीं हो सकता । अपूर्ण भाषाके सहारे उसे किसी प्रकार बुद्धिगम्य या उससे भी ऊपर उठकर स्वरूपावस्थितिके रूपमें ही कहा जा सकता है ।

एक प्रकारसे यह ठीक है । पर प्रश्न उठता है कि जब इन्द्रियाँ उस साक्षात्कारमें बाधक ही हैं, तब क्या आध्यात्मिक दृष्टिसे सृष्टिकी योजनामें इन्द्रियाँ व्यर्थ ही हैं ? क्या वे बाधक होनेके स्थानमें अध्यात्म-दर्शनमें सहायक नहीं हो सकतीं ?

एक दिन प्रातः नैत्यिक भ्रमणके लिये [illegible] समस्या विकटरूपमें मनमें उठी । निश्चय [illegible] समाधान आज ही होना चाहिये ।

नगरके बाहरकी प्राकृतिक [illegible] अनुभव किया—

> प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोडे [illegible] ।
> लालितः पालितश्चापि सदानन्दो [illegible] ॥ १ ॥
> सौन्दर्यं नित्यमश्नन्नपि तस्या माधुर्य[illegible] ।
> दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो [illegible] ॥ २ ॥
> ([illegible])

अर्थात्—

प्रकृति-माताकी गोदमें
सदा क्रीडा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्दसे रहता हूँ !
इसके सौन्दर्यसे [illegible]
अद्भुत माधुर्यको देखकर,

सदा आनन्दमें पीकर,

मैं सदा आनन्दसे रहता हूँ !

तथा—

> लोकोत्तरेण दिव्येन माधुर्येण समन्विता ।
> येयं प्रमादनी शक्तिर्लोके सर्वत्र संस्थिता ॥
> सूर्ये चन्द्रे जले वायौ प्रफुल्लकुसुमावली ।
> सैवमाविर्भवन्त्यद्य तिष्ठतान्मम मानसे ॥
>
> (रश्मिमाला ३४ । १ । ३)

अर्थात्—

लोकोत्तर दिव्य माधुर्यसे समन्वित,

जो प्रमादनी शक्ति

सृष्टिमें सर्वत्र—

सूर्यमें, चन्द्रमामें, जलमें, वायुमें,

प्रफुल्ल कुसुमावलिमें—

संस्थित है, वह आविर्भूत होकर

सर्वदा मेरे मनमें वास करे !

इसी मानसिक पृष्ठभूमिमें भगवद्गीताके निम्न वचन स्मरण हो आये—

> रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।⋯
> पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ॥
>
> (गीता ७ । ८-९)

अर्थात् जलोंमें रस, चन्द्र-सूर्यमें प्रभा, पृथिवीमें पवित्र सुगन्ध और अग्निमें प्रकाश—ये सब भगवान्के ही रूप हैं।

उस समय यही प्रतीत होने लगा कि विश्वका यावत् सौन्दर्य भगवान्का ही सौन्दर्य है। जैसे मांस-मज्जा आदिसे पूर्ण और दुर्गन्धसे पूरित इस शरीरमें जो मनोज्ञता और आकर्षण है, उसके मूलमें चेतन आत्माकी सत्ता है, उसी प्रकार इस विश्वमें तत्तत् पदार्थोंद्वारा जो दिव्य शान्ति, जीवन-प्रेरणा, अनन्तानन्त ऐश्वर्य और सौन्दर्यकी प्रतीति इन्द्रियोंद्वारा हो रही है, उसके मूलमें मूलतत्त्वस्वरूप भूतभावन भगवान्की सत्ता है।

उक्त दृष्टिसे भगवान्के स्वरूपके साक्षात्कारमें, अनुभवमें, स्पष्टतः इन्द्रियाँ साधक ही हैं, बाधक नहीं।

उक्त भ्रमणमें उद्भूत विचार उसी समय जिन पद्योंमें ग्रथित कर लिये गये थे, उन्हींको संक्षिप्त व्याख्याके साथ हम नीचे देते हैं—

> आनन्दं शाश्वतं तेजो लोकादुद्विग्नचेतसः ।
> मुमुक्षवः प्रयतन्ते यद् स्वान्ते द्रष्टुं मनीषिणः ॥ १ ॥
> तदेतदिन्द्रियैः साक्षात् परितः परमेष्ठिनम् ।
> दृष्ट्वा भक्ताः प्रसीदन्तः कीर्तयन्ति दिवानिशम् ॥ २ ॥
> कृष्णेत्याकर्षकं तत्त्वमिन्द्रियाणामतो मतम् ।
> गोप्यस्तद्वृत्तयस्तस्माद् भक्तानां परिभाषया ॥ ३ ॥

'मनीषी लोग संसारसे उद्विग्न-चित्त होकर जिस आनन्द-स्वरूप शाश्वत तेजको, इन्द्रियोंका निरोध करके, अपने मानस या अन्तःकरणमें देखनेका प्रयत्न करते हैं। सर्वत्र परमेष्ठी (परमे=ऊँची स्थितिमें स्थित, अर्थात् आपाततः उद्भूत अनुभवोंकी अपेक्षा उत्कृष्टतर अनुभवसे गम्य) उसी मूल-तत्त्वको भक्तजन साक्षात् इन्द्रियोंद्वारा देखकर (अनुभव करके) दिन-रात उसका कीर्तन करते हैं। 'इसलिये इन्द्रियोंके लिये आकर्षक होनेसे वह मूल-तत्त्व, भक्तजनोंकी परिभाषामें, 'कृष्ण' इस नामसे कहा जाता है और इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको 'गोपी' (गो=इन्द्रियोंको पालने या पुष्ट करनेवाली) कहा जाता है।'

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त दृष्टिसे इस अनन्तानन्त परम विशाल विश्वके माध्यमसे जिसका सुन्दर रूप हमें सदैव इन्द्रिय-गोचर हो रहा है और जो स्वभावतः इन्द्रियोंके लिये 'आकर्षक' है, उसी परम तत्त्वको 'कृष्ण' इस नामसे कहा जाता है।

अपनी वृत्तियोंद्वारा ही इन्द्रियोंको बाह्य दृश्योंका बोध होता है। दूसरे शब्दोंमें, इन्द्रियोंके इन्द्रियत्वको सार्थक करनेवाली या उनको पुष्टकरनेवाली[1] (उनके योग्य अनुभवोंको देनेवाली) इन्द्रिय-वृत्तियाँ ही हैं।

इन्द्रियोंका नाम 'गौ' है। इसलिये उनकी वृत्तियोंको 'गोपी' कहा जाता है। इन वृत्तियों (गोपियों)का स्वाभाविक

---

१. गवाम् इन्द्रियाणां पालनं पुष्टिर्वा तद्वृत्तिभिरेव क्रियते । पुष्पेषु भ्रमर इव विषयेषु प्रवृत्ता इन्द्रियवृत्तयस्तद्रसं गृहीत्वा तेनैवेन्द्रियाणां तृप्तिं पुष्टिं च कुर्वन्ति । अन्यथा तेषां वैयर्थ्यापत्तेः क्षीणत्वसम्भावनोत्पद्यते । अतो वृत्तय एव गोप्यः ।

'आकर्षण' (प्रवृत्ति) बाह्य जगत्‌की ओर है।[1] जैसे मधु-मक्खियाँ नाना प्रकारके पुष्पोंसे मधुको, या सूर्य-रश्मियाँ नाना प्रकारके जल-स्थानोंसे विशुद्ध जलको खींच लेती हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक उत्कर्षकी अवस्थामें इन्द्रियोंमें बाह्य जगत्‌के माध्यमसे ही परम तत्त्वस्वरूप भगवान्‌के साक्षात्कारकी योग्यता आ जाती है।[2] इन्द्रियोंद्वारा परम तत्त्वके साक्षात्कारका यही अर्थ है।

बाह्य जगत्‌में भगवान्‌की [illegible] देतीं, आध्यात्मिक उत्कर्षकी अवस्थामें ही [illegible] है। इसीलिये परम तत्त्वको 'परमेष्ठी' कहा गया है।

यह आध्यात्मिक दृष्टि जिनकी हो [illegible] उन्हींको करना चाहिये। वास्तवमें '[illegible]' शब्द भी उन्हींको परिभाषाके हैं।

भक्ति-लाभका सहज साधन

(लेखक—रामच्चीविषी प० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य)

> नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
> नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
>
> (कठ० उप० १।२।२४)

कठोपनिषद्‌के इस मन्त्रसे स्पष्ट है कि 'जो पुरुष दुराचारसे विमुख नहीं, जो विक्षिप्त है, जिसका मन एकाग्र नहीं एवं जिसे मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं, वह परमेश्वरको प्राप्त नहीं कर सकता, जबतक वह प्रज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्याका आश्रय न ले। इस वासनाप्रधान साम्प्रतिक युगमें स्वार्थासक्त अकर्मण्य मनुष्योंकी योगाभ्यासादि कृच्छ्रसाध्य कृत्योंमें प्रवृत्ति एवं सफलता असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। ऐसी परिस्थितिमें प्रभुप्राप्तिके लिये भक्ति-मार्ग अपेक्षाकृत सुगम है। भक्ति भी अन्तःकरणकी परम पुनीत भावना होनेके नाते आन्तर नियन्त्रणके हेतु किसी-न-किसी साधनकी अपेक्षा अवश्य रखती है। बहुधा देखनेमें आता है कि अनेक व्यक्तियोंकी दृढ भक्तिकी तीव्र लालसा ऐहलौकिक नश्वर भोगैश्वर्योंमें संसक्त चित्तवृत्तिद्वारा परास्त हो जाती है। वे आत्मना दृढ भक्तिकी कामना करते हुए भी वातावरणजन्य अननुकूल परिस्थितिवश सांसारिक आकर्षणोंसे आकृष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियोंके लिये भक्तिलाभार्थ एक सद्यःफलप्रद सहज साधन लिखता हूँ। श्रद्धालुजन इससे लाभ उठावें।

साधन—प्रातः-साय सूर्यके उदय एवं अस्तसे ठीक आध घंटे पूर्व नगरसे बाहर शान्त एकान्त स्थानमें जाकर शुद्ध होकर आचमन करे। पूर्व या उत्तर मुँह खड़े होकर कर्पूरके समान गौरवर्ण महासुन्दर भगवान् श्रीशंकरका ध्यान करते हुए तीन चार मानसिक प्रणाम करे और [illegible] महामन्त्रका निश्चल खड़कर [illegible] १०८ बार जप करे—

> ॐ ह्रीं देवदेव कृपासिन्धो सर्वभागिन् [illegible]।
> संसारासक्तचित्तं मां भक्तिमार्गे [illegible] ॐ॥

जपके अन्तमें [illegible] प्लुतस्वरसे उत्तरोत्तर [illegible] ध्वनिको ब्रह्माण्डतक ले जाकर [illegible] विलीन कर दे। इस प्रकार [illegible]। [illegible] साथ-साथ भगवान् श्रीशंकरका उपर्युक्त [illegible]। इस प्रकार प्रतिदिन [illegible] उपर्युक्त मन्त्रके जप एवं 'ॐ' के उच्चारण [illegible] सांसारिक तामस-राजस वृत्तियों [illegible] अभिमुख होकर प्रभुचरणोंमें [illegible]। यह अनुभवसिद्ध प्रयोग है। [illegible] कैसा ही संसारासक्त व्यक्ति क्यों न हो [illegible] चित्तवृत्ति भौतिक आकर्षणोंसे [illegible] सभी विघ्न दूर होकर [illegible] इष्ट श्रीचरणोंकी भक्तिका [illegible] आनन्दमें फूला नहीं समाता। [illegible] दामिनी दृढ भक्तिकी प्राप्ति होकर [illegible] है।

विशेष—[illegible] तिथिको छोड़कर अन्य किसी भी [illegible] प्रारम्भ करना चाहिये।

---

१. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः। (कठोपनिषद् २।१।१) [illegible]

२. अहृदयमपि यच्चर्त्तं लौकिकानामगोचरम्। [illegible]

श्रीविष्णु-भक्तिके विविध रूप

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान्‌का अन्वय और व्यतिरेक—

श्रीविष्णुभगवान् जगत्‌में अन्वित हैं और इससे व्यतिरिक्त भी हैं। जगत्‌में भगवान्‌के अन्वय (अनु + इ + अ) से तात्पर्य है जगत्‌में इनकी अन्तर्यामिताका; क्योंकि उपनिषद्‌का वचन है कि—तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। 'अनुप्राविशत्'-में निर्दिष्ट अनुप्रवेश (अनु + प्र + विश् + अ) ही अन्वय है और इसी हेतुसे यह विश्व भगवान्‌की एकपाद्-विभूति कहलाता है। ईश्वरके समग्र भावका जगत्‌में 'अनुप्रवेश' अथवा 'अन्वय' नहीं होता, अपितु अत्यन्त स्वल्पांशका—

यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता।

अतः ईश्वर जगत्‌से व्यतिरिक्त भी हैं। ईश्वरके इस व्यतिरेककी ओर श्रुतिका स्पष्ट संकेत है—

(अ) अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
(आ) त्रिपादस्यामृतं दिवि।
(इ) त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः।

ईश्वरको विश्वातिग किंवा विश्वातिक्रान्त बतानेके लिये ही उन्हें 'पर' कहा जाता है—

विश्वं व्याप्यापि यो देव एतस्मात् परतः स्थितः।
परस्मै श्रीमते तस्मै विष्णवेऽस्तु नमो नमः॥

विश्वके कर्ता, भर्ता और हर्ताके रूपमें वे क्रमशः प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण कहलाते हैं। उन्हींका धर्म-संस्थापनार्थ युग-युगमें अवतार होता है। वे ही आवाहन करनेपर मूर्तियोंमें विराजमान होकर भक्तोंकी पूजाको स्वीकार किया करते हैं।

ऐसे महामहिम विष्णुभगवान्‌की भक्ति अनादिकालसे चली आ रही है।

भक्तिमें दो न्याय

भक्ति-मार्गमें दो न्याय प्रसिद्ध हैं—एक तो मर्कट-किशोर-न्याय और दूसरा मार्जार-किशोर-न्याय। पहलेमें उपासक उपास्यदेवकी उपासनामें अपनी ओरसे इस प्रकार प्रवृत्त होता है, जिस प्रकार बँदरियाका बच्चा अपनी ओरसे अपनी माताको पकड़े रहनेमें प्रवृत्त होता है; और दूसरेमें वह इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे उदासीन रहता हुआ ही भगवान्‌को इस प्रकार सुहाता है, जिस प्रकार बिल्लीका बच्चा अपनी माताको। बँदरियाका बच्चा स्वयं माताको पकड़े रहता है और माता जहाँ जाती है, वहाँ चला जाता है; परंतु बिल्लीके बच्चेकी माता स्वयं उसे अपनी इच्छासे मुँहमें पकड़कर जहाँ चाहती है, ले जाती है। पहला स्वेच्छासे मातापर निर्भर है, तो दूसरा माताकी इच्छाके अनुसार।

उपासक अपनी समस्त भावनाओंको एकमात्र उपास्यमें केन्द्रित कर देते हैं, परमात्माको अपने सभी भावोंका आश्रय और आधार बना लेते हैं; जगदीश्वर ही उनके माता, पिता, भ्राता, मित्र, बन्धु-बान्धव, पुत्र हैं। उनकी विद्या, धन आदि समस्त कामनाएँ भी वे ही हैं—

पिता माता सुहृद् बन्धुर्भ्राता पुत्रस्त्वमेव मे।
विद्या धनं च कामश्च नान्यत् किंचित् त्वया विना॥
(महातन्त्र)

सेवामें तीन भाव

सेवामें तीन भाव हैं—(१) बड़ेकी सेवा, (२) बराबरवालेकी सेवा और (३) छोटेकी सेवा। माता, पिता गुरु, पति, स्वामी, सम्राट्‌की जो सेवा पुत्र, शिष्य, पत्नी और सेवक करते हैं—यह पहला भाव है। एक मित्र दूसरे मित्र-की जो सेवा करता है—यह दूसरा भाव है। माता-पिता जो सेवा पुत्रकी करते हैं—यह तीसरा भाव है। उपासक लोग ईश्वरकी सेवा इन तीनों भावोंसे ही करते हैं। पहले भावको 'दास्य', दूसरेको 'सख्य' और तीसरेको 'वात्सल्य' कहते हैं। पत्नीद्वारा पतिकी सेवाके भावको 'माधुर्य' नाम दिया जाता है, जिसे हम प्रथम भावका ही परिष्कृत और चूडान्त रूप मान सकते हैं।

शब्दोंका औपचारिक प्रयोग

जीव अपनेको पुत्र और ईश्वरको पिता मानकर उसकी आराधना करता है। लोकमें जिस प्रकार पितासे पुत्र उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार आराध्यसे आराधकके उत्पन्न न होनेपर भी आराध्य पिता है और आराधक पुत्र है। शब्दों-का यह औपचारिक प्रयोग है। यही बात सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें भी समझनी चाहिये। मधुर भावमें जब जीव ईश्वरको पति कहता है, तब भी 'पति' शब्दका प्रयोग

औपचारिक ही होता है; क्योंकि जीव और ईश्वरमें लौकिक पत्नी-पतिके समान शरीरसम्बन्धकी गन्धका भी अवसर नहीं है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इस न्यायके अनुसार किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं परमात्माको बालक समझकर उसका आराधन करूँ; किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं उसे मित्र कहकर पुकारूँ; और किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं उसे पति कहकर पुकारूँ। किंतु जितनी सहज सेवा ईश्वरको माता, पिता, गुरु, सम्राट् और स्वामी मानकर हो सकती है, उतनी और भावमें नहीं। दास्यभावमें तो सेवा-ही-सेवा है। इसमें उपासक कहता है—

> जन्मप्रभृति दासोऽस्मि शिष्योऽस्मि तनयोऽस्मि ते।
> त्वं च स्वामी गुरुर्माता पिता च मम माधव ॥
> (महातन्त्र)

अर्थात् हे माधव! मैं आपका दास हूँ, शिष्य हूँ और पुत्र हूँ एवं आप मेरे स्वामी, गुरु और माता-पिता हैं। यह दास्य ही, यह सेवाभाव ही, सच्चा भक्तिका भी स्वरूप है। लौकिक रीतिसे न सही, अलौकिक रीतिसे तो भगवान् विश्वके जनयिता हैं ही—

> त्वमम्बा सर्वभूतानां देवदेवो हरिः पिता। (अग्निपुराण)

संवेगकी तीव्रता

सेवाके विविध भावोंमें यह कोई निश्चित नियम नहीं है कि पहले दास्यकी साधना की जाय, फिर सख्यकी, फिर वात्सल्यकी और अन्तमें माधुर्यकी। जिस भावमें रुचि हो, वही अङ्गीकार किया जा सकता है। जिस भावमें भी संवेग तीव्र होगा, उसीसे इष्ट-लाभ हो जायगा। भगवत्प्राप्ति किसी भाव-विशेषकी सापेक्ष न होकर व्यक्तिविशेषके संवेगकी ही अपेक्षा रखती है। संवेगकी बड़ी महिमा है। इसके प्रख्यापनके लिये ही माधुर्यभावके संवेगसे भी अद्भुत भावुकोंने जार-भावकी प्रशंसा की है। व्यभिचारिणी स्त्रीके मनमें उपपतिके दर्शनकी लालसामें जो तीव्रता होती है, वही तीव्रता जब भगवद्-दर्शन-लालसामें आ जाय, तब जार-भाव होता है। इसी संवेगको ध्यानमें रखकर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरित-मानसके अन्तमें अपनी अभिलाषा इस प्रकार प्रकट की है—

> कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
> तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

सेवाके प्रकार

सेवा कई प्रकारसे होती है। उपास्यकी गुण-कथाओंका श्रवण करना, उनके नामादिका कीर्तन करना, उनके महिमादिका स्मरण करना, चरण-सेवन, अर्चन, वन्दन, उनके श्रीचरणोंमें सर्वाङ्ग समर्पण, उनकी मूर्तियोंको साष्टाङ्ग प्रणाम, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्तिके ये नौ प्रकार बड़े प्रसिद्ध हैं। इनमें एक-एक प्रकार साधकका कल्याण कर सकता है। यदि साधक एकाधिक अङ्गोंको अपनावे तो कहना ही क्या।

श्रवण

श्रीभगवान्‌के नाम, गुण और लीलाओंका सुनना 'श्रवण' कहलाता है। महाराज परीक्षित् इसके आदर्श हैं, जिन्होंने एक सप्ताहतक श्रीभगवच्चरित्रोंका श्रवण करके मुक्तिलाभ किया था। श्रवणकी फलश्रुतिमें एक वचन है—

> संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम्।
> कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः ॥

अर्थात् 'श्रीकृष्ण' इस वैष्णव मन्त्रका श्रवण करके मनुष्य भव-पाशसे छुटकारा पा जाता है। संसाररूपी सर्पके माया-मोहरूपी विषके प्रभावसे प्रभावित व्यक्तिके लिये यह रामबाण औषधका काम करता है।

कीर्तन

व्याख्यान, प्रवचन, स्तव, स्तोत्रपाठ, कथा—ये सब कीर्तनके ही विविध रूप हैं। भक्तिके इस अङ्गमें शुकदेवजी आदर्श हैं, जिनके एक सप्ताहके सत्सङ्गसे महाराज परीक्षित्की मुक्ति हो गयी। कीर्तनकी महिमामें एक उक्ति है—

> ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
> यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
> (विष्णु० ६ । २ । १७)

अर्थात् सत्ययुगमें प्रत्याहार आदि कठिन अङ्गोंवाले ध्यानके अवलम्बनसे जीवको जो सद्गति प्राप्त होती है, त्रेतामें अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि यज्ञोंद्वारा यजन करनेसे जो सद्गति प्राप्त होती है एवं द्वापरमें मधुर पत्थरके मन्दिर-निर्माण और मूर्ति-स्थापनके अनन्तर नानाविध उपचारोंद्वारा पूजा-अर्चासे जो सद्गति प्राप्त होती है, वही सद्गति कलियुगमें श्रीभगवान् केशवके नाम-गुण-कीर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है।

स्मरण

स्मरणके आदर्श प्रह्लादजी हैं, जिन्होंने स्मरणमात्रसे ही श्रीभगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया था। उनका एक वचन है—

[illegible] ... [illegible]नौमि ते ।
[illegible] नन्दनी ॥
([illegible] १११ । २८)

[illegible] महाराजमें और [illegible] श्रीभगवान्के [illegible] है ।

चरण-सेवा

[illegible] आदर्श हैं, जो नित्य निरन्तर [illegible] किया करती हैं । जिनका [illegible] प्रक्षालित होकर त्रिभुवनको पावन [illegible] देता है, उन दिव्य चरणकमलों[illegible] रहता चाहिये ।

अर्चन

अर्चनकी प्रथा परम प्राचीन है । इसका निर्देश श्रुतिमें इस प्रकार है—

महे शूराय विष्णवे चार्चत ।
(ऋग्वेद १ । १५५ । १)

अर्थात् आपलोग महान् एवं शूरवीर विष्णुभगवान्का अर्चन कीजिये । पुराणमें लिखा है—

विष्णोः समर्चनान्नित्यं सर्वपापं प्रणश्यति ।

अर्थात् भगवान् विष्णुकी पूजा करनेसे पूजकके सब पाप दूर हो जाते हैं ।

वन्दन

भक्तिके वन्दन-नामक अङ्गमें आदर्श महात्मा श्वफल्कके पुत्र अक्रूरजी हैं, जिन्होंने श्रीभगवान्के चरण-कमलोंको प्रणाम करनेकी सम्भावनामात्रसे ही अपने जीवनको सफल समझा था और जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके चरणचिह्नोंका दर्शन करके उनमें लोटने लगे थे ।

वन्दनकी महिमामें महाभारतका वचन है—

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥
(महा० शान्ति० [illegible])

अर्थात् जो भगवान् नीलवर्ण, पीताम्बरधारी, अच्युत गोविन्दको नमस्कार करते हैं, उन्हें किसी प्रकारका भय नहीं होता ।

दास्य

दास्यभावके आदर्श हैं—अञ्जनानन्दन श्रीहनुमान्जी, जिनका कथन है—

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
(वाल्मी० रा० सुन्दर० ४२ । ३४)

अर्थात् मैं उन कोसलेन्द्र श्रीरामका दास हूँ, जिनके कर्म-कलाप और लीला-चरित्र लोकाभिराम हैं । श्रुतिने भजनका निरूपण इस प्रकार किया है—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।
(ऋग्वेद १ । १५६ । ३)

अर्थात् हे विष्णो ! हम सब आपके अनुग्रहका, दया-दृष्टिका भजन करते हैं । भजनका अर्थ है सेवा—भज सेवायाम् । जो सेवा करता है, वही सेवक किंवा दास है; अतएव भक्तिमें दास्यभाव प्रधान है । अन्य सभी भावोंमें, किसी-न-किसी अंशमें, सेवाका भाव अवश्य विद्यमान रहता है; फिर दास्यभाव तो सेवा-ही-सेवा है ।

सख्य

सख्यमें अर्जुन आदर्श हैं । श्रुतिने भगवान्को मित्र, बन्धु और सखा इस प्रकार कहा है—

(अ) भवा मित्रो न शेव्यः ।
(ऋग्वेद १ । १५६ । १)

(आ) स हि बन्धुरित्था ।
(ऋग्वेद १ । १५४ । ४)

(इ) मनं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते ।
(ऋग्वेद १ । १५६ । ४)

आत्मनिवेदनमें आदर्श विरोचन-तनय महाराज बलि हैं, जिन्होंने भगवान् त्रिविक्रमके चरणोंमें अपना सर्वस्व सहर्ष समर्पण कर दिया था । इसीको प्रपत्ति और शरणागति भी कहते हैं ।

तन्मयता

तन्मयतामें गोपियाँ आदर्श हैं । श्रीकृष्ण वनमें बछड़े चराने जाते तो गोपियाँ दिनभर श्रीकृष्ण-चिन्तनमें लीन रहा करती थीं । इनकी तन्मयताकी पराकाष्ठाका दिग्दर्शन हमें तब होता है, जब श्रीकृष्णके लीलास्थलोंमें अन्तर्धान हो जानेपर गोपियाँ अपने परमाराध्यकी लीलाएँ करने लगती हैं—

लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ।
(श्रीमद्भा० १० । ३० । २४)

वात्सल्य

वात्सल्यमें यशोदाजी आदर्श हैं । नन्दजी पूर्वजन्ममें द्रोण नामक वसु थे और यशोदाजी थीं द्रोणपत्नी धरा । ब्रह्माजीके

आदेशसे श्रीभगवान् नारायणकी कृष्णरूपमें सेवा-सपर्या करनेके लिये ही द्रोण और धरा इस धराधामपर नन्द और यशोदाके रूपमें आये थे। दोनों ही परब्रह्म परमात्माका वात्सल्यभावसे आराधन करते थे—

ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने।
दम्पत्योर्नितरामासीद् गोपगोपीषु भारत॥
(श्रीमद्भा० १०।८।५१)

ध्यान

स्मरण जब अविच्छिन्न और एकतान हो जाता है, तब वह ध्यानरूपमें परिवर्तित हो जाता है। ध्यानके आदर्श हैं उत्तानपादके पुत्र ध्रुव, जिन्होंने [illegible] सदुपदेशके प्रभावसे [illegible] की थी कि उन्हें वैकुण्ठधाममें [illegible] विराजमान अपने इष्टदेवका भी ध्यान न रहा। [illegible] महिमामें पुराणका एक वचन है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥
([illegible])

अर्थात् समस्त शास्त्रोंका पर्यालोचन [illegible] बार स्थिर बुद्धिसे सोचनेपर [illegible] निरन्तर सदा-सर्वदा श्रीमन्नारायणका ध्यान करना [illegible]

श्रीसाम्बकी सूर्य-भक्ति

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

एक बार वसन्त ऋतुमें रुद्रावतार दुर्वासा मुनि तीनों लोकोंमें विचरते हुए द्वारका पहुँचे। उनके जटा-जूटयुक्त जरा-जीर्ण शरीरको देखकर श्रीकृष्ण-पुत्र साम्बने अपने रूपके अभिमानमें आकर उनकी नकल बनायी। मुनिराजसे यह अपमान नहीं देखा गया। क्रोधसे काँपते हुए वे तुरत बोल उठे—'साम्ब! हमको कुरूप और अपनेको अति रूपवान् जानकर जो तुमने हमारा अनुकरण किया है, इस अपराधमें तुम अति शीघ्र कुष्ठी हो जाओ।'

साम्ब अत्यन्त व्याकुल हुए। कुष्ठ-निवारणार्थ उन्होंने अनेक प्रकारके उपचार किये, परंतु किसीसे भी कुछ नहीं हुआ। तब अन्तमें वे अपने पूज्य पिता आनन्दकन्द श्रीकृष्ण-चन्द्रके पास गये और उनसे प्रार्थना की—'पिताजी! दुर्वासा-मुनिके शापसे मैं कुष्ठरोगसे पीड़ित हो रहा हूँ, मेरा शरीर गल रहा है, स्वर दबा जाता है, पीड़ासे प्राण निकले जाते हैं, ओषधियोंसे शान्ति नहीं मिलती; अब क्षणमात्र भी जीवित रहनेकी क्षमता नहीं है। आपकी आज्ञा पाकर अब मैं प्राण-त्याग करना चाहता हूँ। आप मेरे असह्य दुःखकी निवृत्तिके लिये मुझे प्राण-त्याग करनेकी आज्ञा दें।'

महायोगेश्वर श्रीकृष्ण क्षणमात्र शान्त रहे। फिर विचारकर बोले—'पुत्र! धैर्य धारण करो। धैर्य त्यागनेसे रोग अधिक सताता है। मैं तुम्हें सर्वोपरि उपाय बताता हूँ। अब तुम श्रद्धापूर्वक भगवान् सूर्यनारायणकी आराधना करो, जिससे तुम्हारा यह क्लेश निवृत्त हो जाय। यदि विशिष्ट देवताका आराधन विशिष्ट पुरुष करे तो अवश्य ही विशिष्ट फलकी प्राप्ति होती है।'

साम्बके सन्देह करनेपर पुनः श्रीकृष्णने कहा—'शास्त्र और अनुमानसे ही हजारों देवताओंका होना सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष देवताओंको ही यदि मानते हो तो सूर्यनारायणसे [illegible] कोई दूसरा देवता ही नहीं है। सारा जगत् इन्हींसे उत्पन्न है और इन्हींमें लीन हो जायगा। ग्रह, नक्षत्र, योग, राशि, आदित्य, वसु, रुद्र, वायु, अग्नि, अश्विनीकुमार, इन्द्र, ब्रह्मा, दिशाएँ, भूः-भुवः-स्वः आदि सब लोक, पर्वत, नदी-नद, नाग-नग, सागर-सरिताएँ एवं समस्त भूतग्रामकी उत्पत्तिके हेतु श्रीसूर्यनारायण ही हैं। वेद, पुराण, इतिहास सभीमें इनका परमात्मा-अन्तरात्मा आदि शब्दोंसे वर्णन किया गया है। इनके सम्पूर्ण गुणों और प्रभावका [illegible] भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। तुम यदि अपना [illegible] कर संसारमें सुख भोगना चाहते और [illegible] रखते हो तो विधिपूर्वक सूर्यनारायणका आराधन करो, आध्यात्मिक, आधिभौतिक दुःख तुमको [illegible]।'

पिताकी आज्ञा शिरोधार्यकर साम्ब चन्द्रभागा नदी-के तटपर स्थित प्रसिद्ध मित्रवन नामक सूर्यक्षेत्रमें गये और वहाँ उपवास करके सूर्यभगवान्‌का आराधन करने लगे। उन्होंने ऐसा घोर तप किया कि उनके शरीरमें अस्थिमात्र शेष रह गयीं। वे प्रतिदिन अत्यन्त भक्तिभावसे गद्गद होकर '[illegible] [illegible] दिव्यं चाजरमव्ययम्' इत्यादि श्लोकोंसे सूर्यनारायणकी स्तुति करते थे। इसके अतिरिक्त सब समय वे सहस्रनामसे भी सूर्यका स्तवन करते थे।

एक बार स्वप्नमें दर्शन देकर सूर्यनारायणने उनसे कहा कि

[illegible] नहीं है। [illegible] धन-धान्य, आरोग्य, संतान [illegible] रहो।'

[illegible] दृढ भक्ति, कठोर तपस्या, श्रद्धा- [illegible] प्रसन्न होकर सूर्यनारायणने उन्हें [illegible] दर्शन दिया। [illegible]—'वत्स साम्ब! तुम्हारे तपसे हम बहुत प्रसन्न हुए हैं, वर माँगो।'

[illegible] भक्तिभावमें अत्यन्त लीन हो गये थे। उन्होंने [illegible] यही वर माँगा—'भगवन्! आपके श्रीचरणोंमें मेरी दृढ भक्ति हो।'

सूर्य बोले—'यह तो होगा ही, और भी वर माँगो।'

तब लज्जित से होकर साम्बने दूसरा वर माँगा—'भगवन्! यदि आपकी इच्छा है तो मुझे यह वर दीजिये कि मेरे शरीरका यह कलङ्क निवृत्त हो जाय।'

सूर्यनारायणके 'एवमस्तु' कहते ही साम्बका दिव्यरूप और उत्तम स्वर हो गया। इसके अतिरिक्त सूर्यनारायणने प्रसन्न होकर उन्हें एक वर और भी दिया कि 'यह नगर तुम्हारे नामसे प्रसिद्ध होगा और लोकमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति स्थापित होगी। हम तुमको नित्य स्वप्नमें दर्शन देते रहेंगे। अब तुम इस चन्द्रभागा नदीके तटपर मन्दिर बनवाकर उसमें हमारी प्रतिमा स्थापित करो।'

साम्बने सूर्यके आदेशानुसार चन्द्रभागा नदीके तटपर मित्रवनमें एक विशाल मन्दिर बनवाकर उसमें विधिपूर्वक सूर्यनारायणकी मूर्ति स्थापित करायी।

भगवान् शंकरकी भक्तिका प्रत्यक्ष फल

(लेखक—पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०)

भगवान् शंकर आशुतोष हैं। वे थोड़ी ही सेवासे शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। पूजासे जितने शीघ्र भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं, इतना शीघ्र प्रसन्न होनेवाला भगवान्‌का अन्य कोई स्वरूप नहीं है। जब कभी किसी व्यक्तिको कोई संकट आता है तब वह उसे दूर करनेके लिये भगवान् शंकरकी शरण लेता है। वह किसी मन्दिरमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा करता है या रुद्राभिषेक कराता है। जो भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं, उनका संकट शीघ्र ही अवश्य टल जाता है। भगवान् शंकरकी पूजासे कितना लाभ हो सकता है उसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं अपने कुटुम्बसे ही देता हूँ।

मध्यप्रदेशके निमाड़ जिलेके बड़वाह नगरसे करीब पाँच मीलकी दूरीपर श्रीनर्मदाजीके उत्तर तटपर श्रीविमलेश्वर महादेवका प्राचीन मन्दिर है। मेरे पितामह श्रीदेवीश्वरजी दुबे इस मन्दिरसे लगभग तीन मीलकी दूरीपर रतनपुर ग्राममें निवास करते थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल अपने गाँवसे श्रीविमलेश्वर महादेवके मन्दिरके पास आकर नर्मदामें स्नान करके श्रीविमलेश्वर महादेवको नर्मदा-जल अर्पण करते थे। फिर गन्ध लगाकर बेलपत्र और फूल भी चढ़ाते थे। वे पूजाके मन्त्र नहीं जानते थे, इसलिये वे बिना मन्त्रके ही बड़ी भक्ति और श्रद्धासे नियमपूर्वक कई वर्षोंतक भगवान् शंकरकी पूजा करते रहे। उनके पास कोई जीविकाका साधन नहीं था। वे भिक्षाद्वारा अपना और अपने कुटुम्बका पालन करते थे। भगवान् शंकरकी पूजाके प्रभावसे उनको कभी भी अन्न और वस्त्रका कष्ट नहीं हुआ। उसी पूजाके प्रभावसे मेरे पिता श्रीबलरामजी दुबेको होशंगाबादमें करीब बारह वर्षोंतक नर्मदा-सेवनका अवसर मिला और अन्तमें प्रयागराजमें ही उनका स्वर्गवास हुआ। उसी पूजाके प्रभावसे मुझे भी गत तीस वर्षोंसे प्रयागराजमें गङ्गा-सेवनका सुअवसर प्राप्त हुआ है और मेरी तथा मेरे कुटुम्बकी उन्नतिका एकमात्र कारण भगवान् शंकरजीकी सेवा ही है। इसलिये मैं प्रत्येक सज्जनसे आग्रहपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि वे भगवान् शंकरकी पूजा अपनी शक्तिके अनुसार नियमपूर्वक अवश्य किया करें।

---

* [illegible]—

[illegible] मार्तण्डो भास्करो रविः। लोकप्रकाशकः श्रीमान् लोकचक्षुर्महेश्वरः ॥१॥
[illegible] कर्ता हर्ता तमिस्रहा। तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः ॥२॥
गभस्तिहस्तो ब्रह्मा च सर्वदेवनमस्कृतः ॥३॥

श्रीशिवभक्तिके विविध रूप

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्० ए०)

यह विषय अब भी विवादास्पद है कि मुख्य शैव-सम्प्रदाय कौन-कौन-से थे; क्योंकि शैवमत अत्यन्त प्राचीन है । बहुत-से विद्वानोंने शैव, नकुलीश अथवा पाशुपत, कालमुख और कापालिक सम्प्रदायोंका उल्लेख किया है । कई सम्प्रदायोंमें कुछ बीभत्स बातोंके कारण—यथा मनुष्यकी खोपड़ीमें भोजन करना, मद्यपान करना और कहीं-कहीं मुर्दा इत्यादि भक्षण करनेके कारण कुछ लोगोंने शैव-सम्प्रदायोंमें कुछ अवैदिक सम्प्रदाय भी माने हैं । पर मेरा विचार ऐसा नहीं है । मैं समझता हूँ कि सकाम उपासनाके कारण मद्य, मांस, नरबलि इत्यादिका प्रचार इसलिये हुआ कि इन चीजोंमें विशिष्ट शक्तियाँ विद्यमान हैं, जो अत्यन्त रहस्यमय हैं । इनका कुछ वर्णन मदाम नीलकृत "With Mystics and Magicians in Tibet" में मिलेगा । सिद्धियोंके फेरमें पड़े हुए सकाम उपासक अपनी विजयसे चौंधिया उठते हैं और कभी-कभी बीभत्स कृत्योंपर भी उतर आते हैं । किंतु इस प्रकारकी सिद्धि केवल भ्रममात्र है और केवल थोड़े ही समयके लिये होती है । निष्काम उपासनामें जो प्रसन्नता, हृदयका हल्कापन तथा सांसारिक विषयोंसे मुक्ति मिलती है, उसका तो कहना ही क्या । उसमें केवल भाव ही प्रधान है और उपासनामें जो कुछ कमी होती है, वह इष्टदेव स्वयं ही पूर्ण कर लेते हैं ।

शुद्ध शैव-सम्प्रदायका रूप तो वह है, जो काशीके शिवभक्तोंमें है । उसका कुछ वर्णन मैंने एक अन्य लेखमें किया है । इसमें केवल गङ्गाजल, चन्दन, सुगन्धित पुष्प, बिल्वपत्र, आकके फूल, धतूरा, कर्पूर इत्यादि ही सेवन किये जाते हैं और भगवान् शंकरपर नैवेद्यके रूपमें कच्चा दूध चढ़ाया जाता है । भक्त इसी पूजासे प्रसन्न होता है । उसे कुछ भी माँगना नहीं रहता । शुद्ध पूजा ही उसको परम आनन्द देती है ।

नकुलीश-सम्प्रदाय, जिसे पाशुपत सम्प्रदाय भी कहते हैं, भारतके पश्चिमी प्रान्तोंमें यथा राजस्थानके कुछ भागों तथा बम्बई प्रदेशमें पाया जाता है । नकुलीशका जन्मस्थान कायावरोहण-तीर्थ कहा जाता है, जो सूरतके निकट है । उनके दाहिने हाथमें मोदक-सा कुछ तथा बायें हाथमें बीजपूरक अथवा कश्मीरी नीबू दिखलाई पड़ते हैं । इस सम्प्रदायकी विशेष बातें तो अबतक अज्ञात ही हैं, पर जब इन पंक्तियोंके लेखकने बम्बईके जोगेश्वरी नामक स्थानपर जोगेश्वरी गुफाका दर्शन किया, तब भित्तिमूर्तियोंको देखनेसे वहाँ ज्ञात हुआ कि शिवजीके विविध चरित्र—यथा [illegible], पार्वती-परिणय, नन्दीक्षोभ इत्यादि दिखलाये गये हैं । इन मूर्तियोंको देखनेसे कोई अश्लील बात नहीं प्रकट होती । अब इस सम्प्रदायके लोग बहुत कम देखे जाते हैं ।

कालामुख-सम्प्रदाय मद्रास प्रदेशके अधिक भागोंमें तथा मध्यप्रदेशमें कलचुरि राजाओंके समयमें प्रचलित था । इसमें भी कपालमें भोजन इत्यादि कुछ बातें थीं, जिनका उद्देश्य केवल सकाम सिद्धि ही कहा जा सकता है । बहुत दिनों तक यह सम्प्रदाय खूब फला-फूला । इसके सुन्दर-सुन्दर मठोंके भग्नावशेष ग्वालियर तथा दोनों प्रान्तोंमें मिलते हैं । इस सम्प्रदायमें अच्छे-अच्छे साधु गुरु हो चुके हैं और [illegible] कालीन राजाओंके समयमें इसकी समृद्धि अच्छी [illegible] सीमापर थी । इस सम्प्रदायके लोग भी अब [illegible] कम मिलते हैं ।

कापालिक-सम्प्रदायका प्रचार महाराष्ट्र देशमें अधिक था और वहीं अब भी भैरवकी उपासना [illegible] पायी जाती है । काशीके महाराष्ट्र [illegible] काशीमें स्थित प्रसिद्ध कालभैरवके मन्दिरको विशेष सम्मान देते हैं । [illegible] हैं इस सम्प्रदायमें मद्यका सेवन होता है तथा [illegible] दी जाती थी । किंतु यदि [illegible] उपासनाकी ही द्योतक हैं । भैरवकी उपासना तो [illegible] रहस्यमय मानी जाती है, पर इसमें [illegible] कोई त्रुटि नहीं होती ।

इस समय अघोर-सम्प्रदायके भी [illegible] पड़ते हैं । इस उपासनामें [illegible] इसी प्रकार सेवन किये जाते हैं । [illegible] यह बड़ी कठोर उपासना है, पर [illegible] । काशीमें सुप्रसिद्ध किनाराम तथा [illegible] कथा अबतक लोग सुनते हैं ।

वीरशैव अथवा लिङ्गायत-सम्प्रदाय [illegible] छः सौ वर्ष पूर्व प्रादुर्भूत हुआ । इसके भी अनेकानेक सिद्ध

अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसकी स्तुति करते हैं और उस स्तुतिके द्वारा अपनी वाणीको पवित्र करते हैं।

सबसे पहले पुष्पदन्त कहते हैं कि 'हे प्रभो! यह विश्वका सृजन, पालन और संहार तुम्हारी ही विभूतियाँ हैं। जो लोग इस विषयमें शङ्का करते हैं, नाना प्रकारके कुतर्क उठाते हैं— जैसे, ईश्वर क्यों सृष्टि आदि करता है, कैसे करता है, क्या उसका आधार है, कौन-से उपादान हैं; इत्यादि—वे लोग निश्चय ही मन्दमति हैं, हतबुद्धि हैं, जड़मति हैं। ऐसी शङ्काएँ करके वे लोगोंको व्यामोहमें डालते हैं। तुम्हारी महिमा न जाननेके कारण ही वे ऐसी भूल करते हैं।

'हे प्रभो! तुम स्वात्माराम हो, अपने ही आत्मामें— चिदानन्दघन स्वरूपमें रमण करते हो। यह सारा विश्व तुम हो, तुम्हारी लीला है। इसलिये जगत्‌को जो सत् एवं ध्रुव कहते हैं तथा दूसरे जो उसे अध्रुव, असत् कहते हैं, उन दोनोंकी धृष्टता है, मुखरता है। यह सब तुम्हीं तो हो। यह जो कुछ है, तुम्हारा ही ऐश्वर्य है। तुम्हारे इस अनन्त ऐश्वर्यको देखकर मैं विस्मित हो रहा हूँ। मुझे स्तवन करनेमें लज्जा आ रही है।'

इसके पश्चात् पुष्पदन्त परमेश्वरकी महिमाको मन और वाणीके अगोचर बतलाकर उनके अर्वाचीन पद अर्थात् भक्तोंके अनुग्रहके लिये गृहीत वृषभ, पिनाक, पार्वती आदिसे युक्त सगुण लीलारूपका स्तवन करना प्रारम्भ करते हैं। पहले वे उनके तेजःपुञ्ज रूपकी महिमाका गान करते हैं—

> तवैश्वर्यं यत्नाद् यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
> परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।
> ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
> स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥ १० ॥

हे गिरिश! तुम्हारे तेजःपुञ्ज मूर्तिके ऐश्वर्यकी इयत्ताको जाननेके लिये ऊपरकी ओर ब्रह्मा और नीचेकी ओर श्रीहरि गये, परंतु उसकी थाह पानेमें समर्थ नहीं हुए। तब (असमर्थ) होकर दोनों ही अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक तुम्हारी स्तुति करने लगे। तब हे प्रभो! तुम साक्षात् उनके सामने उपस्थित हो गये। भला, तुम्हारी अनुवृत्ति क्या कभी निष्फल जाती है? अपना अनुवर्तन करनेवालोंको तुम साक्षात्कारतक प्रदान करते हो।

'हे त्रिपुरारि! तुम्हारी भक्तिका अद्भुत प्रभाव है। रावणने अपने सिरको कमलकी तरह तुम्हारे चरणोंपर चढ़ा दिया तो तुम द्रवित हो उठे। तुम्हारी कृपासे वह अनायास ही त्रिभुवनविजयी हो गया। त्रिलोकीमें उसका कोई शत्रु नहीं रहा।

> अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
> दशास्यो यद् बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
> शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
> स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥ ११ ॥

तथा—

> यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
> मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।
> न तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
> र्न कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥ १३ ॥

'बाणने जो त्रिभुवनको अपने अधीन करके इन्द्रके परम ऐश्वर्यको भी तिरस्कृत कर दिया था, वह, हे वरद! तुम्हारे चरणोंकी पूजा करनेवालेके लिये कोई आश्चर्यकी बात न थी। तुम्हारे सामने सिर नत करनेवाला कौन उन्नतिको प्राप्त नहीं होता?'

इस प्रकार शिवभक्तिकी महिमा वर्णन करते हुए पुष्पदन्त शिवकी करुणाका उल्लेख करते हैं। जब सिन्धु-मथनके उपरान्त कालकूट नामक महाविष निकला, तब उसकी ज्वालासे अखिल ब्रह्माण्ड संतप्त हो उठा। उससे बढ़ते हुए तापको देखकर देवता और असुर दोनों भयभीत हो उठे; ऐसा जान पड़ता था मानो अकालमें ब्रह्माण्डका नाश हो जायगा। भगवान् शिवने उनके भयसे करुणार्द्रचित्त होकर उस कालकूटको उठाकर पान कर लिया। वह विष पीनेसे शिवका कण्ठ नीला हो गया, वे नीलकण्ठ कहलाने लगे। चतुर्दश भुवनोंके भयको दूर करनेवाले शिवके कण्ठकी वह कालिमा भी शोभा देने लगी और वह स्तुतिकी वस्तु हो गयी—

> अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
> विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः।
> स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
> विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ॥ १४ ॥

जो जितेन्द्रिय हैं, संयममें रत हैं, उनका तिरस्कार करना अहितकर होता है। कामदेवके बाण जो विश्वविजयी हैं, देवता, असुर और मनुष्य—कोई भी जिनके वशसे बचकर नहीं जा सकता, ऐसा शक्तिशाली कामदेव भी तुम्हारी ओर लक्ष्य करके तत्काल भस्म हो गया। अपने इस कार्यके द्वारा हे प्रभु! जगत्‌को तुमने संयमीका तिरस्कार न करनेकी शिक्षा दी—

भक्तोंके परमाराध्य श्रीभवानी-शंकर

सिद्धि होती है—ऐसा संतोंका अनुभव है। मन, क्रम और वचनको निर्मल करके जो प्राणी भगवान्‌का भजन करते हैं, वे धन्य हैं। संत भीखा साहबने इस विषयमें कड़ी चेतावनी दी है—

प्रीति की यह रीति बखानौ।
कितना दुख सुख परै देह पर, चरन कमल कर ध्यानौ।
हो चैतन्य बिचारि तजौ भ्रम, खाँड धूरि जनि सानौ॥
जैसे चातिक स्वाति बुंद बिन, प्रान समरपन ठानौ।
'भीखा' जेहि तन राम भजन नहिं, कालरूप तेहि जानौ॥

संतोंका यही सर्वसम्मत निर्णय दीख पड़ता है कि निर्गुण, सगुण, निर्गुण-सगुण, निर्गुण-सगुण-अतीत—किसी भी रूपमें गुरुकृपारूप परमाश्रयके सहारे तथा संतोंके सम्पर्कमें स्वस्थ होकर निष्कामभावसे भगवान्‌का भजन करना ही जीवनका परम पुण्य फल है। भगवान् और भक्त—दोनोंकी ही प्रसन्नतासे भक्तिरसका आस्वादन सहज-सुलभ है।

निर्बलके बल भगवान्

(रचयिता—श्रीनन्दकिशोरजी झा, काव्यतीर्थ)

सारी शुभाशाओंसे ही होनेको निराश आशु
दुर्वासा-शाप सकल विश्वमें विख्यात है,
कृत्याकी करालताको रोके कौन धीर व्यक्ति?
निगलनेको दौड़ी दिखाती तीक्ष्ण दाँत है;
भक्ति-माँकी गोदीमें सुरक्षित श्रीअम्बरीष
देखते तमाशा, कोई भयकी न बात है,
निर्बलके बल हैं भगवान,—भक्तद्रोहीपर
होता अविलम्ब यहाँ चक्रि-चक्राघात है ॥ १ ॥

बन बैठा घातक पिता ही प्रह्लादजीका
वञ्चित हुए वे हाय! सहज पितृ-स्नेहसे,
गिरिसे गिराये गये, आगमें जलाये गये
शस्त्र-विष-हस्तीसे गये न प्राण देहसे;
भक्ति-सुधा-सागरमें डूबे कुमार अमर
जीते-जी ही जगमें वे हो गये विदेह-से,
प्रबल प्रताप दुःख-ताप अङ्ग छूता कैसे?
रस बरसाते घनश्याम स्वयं मेह-से ॥ २ ॥

ध्रुव है बनाया जाता अध्रुव स्वपदमें ही
पिता भी विमाता-तुल्य देते हैं दुतकार,
जानता न कुछ भी अजान ज्ञान-शून्य शिशु,
तो भी असह्य होता अपनोंका असत्कार;
'निर्बलके बल हैं भगवान्'—ध्यान ऐसा किये
धीर चला जाता है सुकुमार सो कुमार,
भक्तिसे ही भुक्ति-मुक्ति पाता है अभीष्ट सब,
बोल उठता है 'धन्य!' धन्य!' सारा संसार ॥ ३ ॥

राज्यकी न कामना थी, राजनीति कहनेसे
भाई सहोदरने राज्यसे दिया निकाल,
शत्रु-शिविरमें तो प्रवेश प्राण-संशय था,
वहाँके लिये थे विभीषण विषैला व्याल;
भक्तिकी असीम शक्तिसे ही वहाँ होते मान्य,
पाते तुरंत दीनबन्धुकी दया विशाल!
राक्षसकुल-सम्भव भी रावणके भ्राता वे
भक्तिकी कृपासे तत्काल होते हैं निहाल ॥ ४ ॥

दुर्बुद्धि दुष्ट-दुराचारी दुःशासन अधम
नारीपर सारी शक्ति सहसा दिखाने लगा!
वीर बली स्वामियोंका आया बल काम नहीं,
धर्मव्रत-बल भी न जाने कहाँ जाने लगा!
आज लाज गयी यहाँ! कौन हो सहाय? हाय!
वृद्धोंका समाज बोलनेमें सकुचाने लगा!
निर्बलके बल हैं भगवान्, द्रौपदीके लिये
भक्ति-माँका अञ्चल प्रत्यक्ष फहराने लगा ॥ ५ ॥

विदुर-पत्नीका अलौकिक प्रेम

भीष्मका ध्यान करते हुए भगवान्

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' (गीता ४ । ११)

उर्दू-काव्यमें भक्ति-दर्शन

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे साहित्यरत्न)

भारतमें शताब्दियोंतक मुस्लिम शासन रहनेके कारण उर्दू-भाषाका प्रचार-प्रसार अधिक हुआ । उर्दू-शायरीका बाजार गर्म होने लगा और फलतः अनेक शायर उत्पन्न हुए। किंतु उनकी शायरी इश्क, आशिक और माशूककी चर्चासे ही भरी रही । इसलिये उर्दूकी कविताने समाजमें इतना भयानक विष फैलाया, जिससे सर्वसाधारणकी तो बात ही क्या कही जाय, मुस्लिम बादशाहोंतककी महान् क्षति हुई। अवश्य ही उर्दू भाषा निखरी, बनी, सँवरी और भावाभिव्यक्तिकी उसमें अपूर्व क्षमता आ गयी । उर्दू-कवियोंका एक-एक चुना हुआ शब्द हृदयमें तीरकी भाँति चुभता और प्रभावित करता है । उनकी इसी शैलीमें कुछ शायरोंके धार्मिक विचार भी दृष्टिगत होते हैं । वे संसारकी नश्वरता, भगवत्कृपा एवं भगवत्प्रेममें दृढ़ विश्वास रखते हैं। वे भगवत्प्राप्तिमें जीवनकी सफलता एवं उसके अभावमें जीवनकी असफलता ही नहीं मानते, अपितु जिंदगीको धिक्कारते भी हैं। वे भगवान्‌की भक्तिके लिये सब कुछ स्वाहा करनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं और सम्पूर्ण सृष्टिमें भगवान्‌का निवास मानते हैं। उन्हें नीलाकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एवं अग्नि, वायु, जल—सबसे खुदाका नूर झरता दीखता है। और इसी कारण सृष्टिके प्रत्येक प्राणीके प्रति वे दया, प्रेम एवं प्राणरक्षाकी भावना रखते हैं। यह सच है कि इस्लामका प्रचार तलवारके बलपर हुआ है, इसके लिये अनेक अकथनीय जुल्म एवं अत्याचार किये गये हैं; किंतु वे विचारवान् उर्दू शायर इस अनैतिक क्रूरताके सर्वथा विपरीत विचार व्यक्त करते हैं। वे मन्दिर, मस्जिद अथवा गिरजामें ही नहीं, पृथ्वीके कण-कणमें अल्लाहकी भुवनमोहिनी मूर्तिके दर्शन करते हैं। यद्यपि इस प्रकारके शायरोंकी संख्या बहुत कम है, फिर भी उन थोड़े-से आदरणीय शायरोंके इन विचारोंने अत्यन्त व्यापक प्रभाव डाल रखा है । उनके इन विचारोंसे भगवान्‌की सर्वव्यापकता एवं मजहबका शुद्धरूप सामने आता है तथा धर्मान्ध समुदायकी असह्य एवं असभ्य कुप्रवृत्तियों तथा कदाचरणपर नियन्त्रण होता है। वे विचार समाजमें व्याप्त मजहबी विषको तो दूर करते ही हैं, विश्वमें प्रेम एवं सद्भावनाकी दृढ़ आधारशिला स्थापित करते हुए विश्व-नियन्ताकी उपासनाका सच्चा मार्ग-दर्शन कराते हैं ।

विश्व-विमोहन प्रभुकी सृष्टि कम मोहक नहीं है । यह भी अत्यन्त सुन्दर एवं चित्ताकर्षक प्रतीत होती है । यहाँ ऐसा जी लगता है कि यहाँसे जानेका मन नहीं करता; पर जिन्हें अल्लाहकी तलब है, या जो अल्लाहके मार्गपर चल चुके हैं, उन्हें यह संसार असार प्रतीत होने लगता है । देखिये, 'जौक' स्पष्ट कहते हैं—

कह रहा है आसमाँ यह सब समाँ कुछ भी नहीं ।
पीस दूँगा एक गर्दिशमें जहाँ कुछ भी नहीं ॥

'आसमान कहता है कि दुनियाकी ये बहारें और खूबसूरत नज्जारे कुछ भी नहीं हैं । मैं तो इन्हें एक ही चक्करमें पीस दूँगा ।'

और 'दबीर' का कहना है कि संसार सर्वथा नश्वर है । यहाँ कोई ऐसा घर नहीं रहा, जो बसा हो और वीरान न बन गया हो । यहाँ कोई ऐसा पुष्प नहीं, जो खिलकर मुरझा न गया हो, मिट्टीमें न मिल गया हो—

घर कौन-सा बसा कि जो वीराँ न हो गया ।
गुल कौन-सा हँसा कि परेशाँ न हो गया ॥

यही घोषणा 'इकबाल' भी करते हैं—

जिनके हंगामोंसे थे आबाद वीराने कभी ।
शहर उनके मिट गये, आबादियाँ बन हो गईं ॥

'जिनके शोरसे जंगल भी कोलाहलमय बना था, आज उनके शहर ध्वस्त हो चुके हैं और आबादियाँ मिट गयी हैं ।'

इसी कारण 'गालिब' दुनियाको सावधान करते हुए कहते हैं—

हाँ, खाइयो मत फरेबे हस्ती,
हरचंद कहें कि है, नहीं है ।

'मैं साफ बता देता हूँ, इस जीवनके धोखेमें मत आना । कोई कितना भी कहे कि है, पर विश्वास रखो, यह नहीं है ।'

'जौक' तो चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि तुम्हें तनिक भी होश है तो इस संसारसे जितना जल्दी भाग सको, दूर भाग जाओ । इस मदिरालयमें होशियारका काम नहीं है—

ऐ जौक ! गर है होश तो दुनियासे दूर भाग ।
इस मयकदेमें काम नहीं होशियारका ॥

'मीर' साहब तो मनुष्यको विचार करनेके लिये कहते

हैं। वे कहते हैं 'जरा अपनी आँख खोलकर उस क्षणपर तो दृष्टि डालो, जब तुम्हें यह पता चलेगा कि यह दुनिया भी स्वप्न थी। फिर तुम्हें कितना खेद एवं पश्चात्ताप होगा।'

टुक देख आँख खोलके उस दमकी हसरतें।
जिस दम य सूझेगी कि य आलम भी ख्वाब था॥

'ज़ौक' तो कहते हैं कि दुनियाकी सरायमें तू बैठा हुआ मुसाफिर है और यह भी जानता है कि अन्ततः तुझे यहाँसे जाना ही होगा, (ऐसी स्थितिमें सजग क्यों नहीं हो जाता?)—

दुनिया है सरा इसमें तू बैठा मुसाफिर है।
भी जानता है याँ से जाना तुझे आख़िर है॥

'बेदार' की घोषणा एवं उपदेश उन्हींके मुँहसे सुनिये—

इस हस्तिये मौहूमें[1] पै ग़फ़लतमें न खो उम्र।
'बेदार!' हो आगाह, भरोसा नहीं दमका॥

'इस क्षणिक जीवनकी दुर्लभ आयु गफलतमें मत खो। चेत जा। इस दमका भरोसा नहीं।'

'हाली' साहब अत्यन्त व्यथित मनसे मृत्युके आक्रमणके सम्बन्धमें कहते हैं, यहाँ मृत्यु-पाशसे मुक्तिका कोई मार्ग नहीं। मुझ असहाय पक्षीके लिये कहीं गिद्ध मुँह बाये हैं तो कहीं बड़ा बाज ताकमें है। फिर प्राण-रक्षा कैसे हो?

है ताकमें उक़ाब[2] तो शाहीन[3] घातमें।
हमलेसे या अजल[4] के नहीं एकदम फ़राग़[5]॥

क्या कहा जाय, संसारमें एक-से-एक शूरवीर, पराक्रमी एवं वैभवसम्पन्न पुरुष उत्पन्न हुए; कितने दरिद्र, अनाथ एवं असहाय भी यहाँ हुए। दोनोंको ही कालके कराल गालमें जाना पड़ा और खाकमें मिलकर दोनों बराबर हो गये। मृत्युने किसीका लिहाज नहीं किया—

कितने मुफ़लिस हो गये, कितने तवंगर हो गये।
ख़ाकमें जब मिल गये, दोनों बराबर हो गये॥

—ज़ौक़

आप लौकिक सम्पत्ति संग्रह करते जायँ, सम्मान-प्रतिष्ठाके लिये अहर्निश यत्नशील रहें, गुरुताकी चोटीपर जानेका प्रयत्न करते रहें, पर इनकी सीमाका संस्पर्श आप नहीं कर पायेंगे और बीचमें मृत्यु आकर आपको दबोच लेगी—

सेठजीको फ़िक्र थी एक एकके दस दस कीजिये।
मौत आ पहुँची कि हज़रत जान वापिस कीजिये॥

—अकबर

संसार-वाटिकामें वसन्तका आगमन था। मैं सोच रहा था यहाँ कहाँ नीड़ बनाया जाय और कहाँ नहीं कि वसन्त निकल गया। तात्पर्य यह कि देखते-ही-देखते समय तीरकी भाँति निकल जाता है और मनुष्य भगवान्‌को पानेकी दिशामें यत्न करनेका विचार ही करता रह जाता है। अन्ततः उसे पश्चात्ताप हाथ लगता है। इसके सर्वथा विपरीत विचारवान् चतुर पुरुष तत्काल भगवत्प्राप्तिके लिये सचेष्ट हो जाते हैं—

यह सोचते ही रहे और बहार ख़त्म हुई।
कहाँ चमनमें[1] नशेमन[2] बने, कहाँ न बने॥

—असर लखनवी

संसार नश्वर है, समय नदीकी तीव्र धाराकी भाँति भागता है; जितने समय रहना होता है, उसमें भी सुखकी अपेक्षा दसगुना दुःख रहता है। भला, ऐसे दुःखमय जगत्‌में मन लगाना कौन बुद्धिमान् चाहेगा—

शादी वो ग़ममें जहाँ एकसे दसका है फ़र्क।
ईदके दिन हँसिये तो दस दिन मोहर्रम रोइए॥

—मीर

यह देखकर 'दर्द' का मन पीड़ित हो जाता है और वे कहते हैं, हम संसारमें बहुत दिनतक हँसते रहे (हमने अल्लाहके पानेका कोई काम नहीं किया), इसलिये अब तो यही जी चाहता है कि एकान्तमें कहीं बैठकर जी भर रोऊँ—

मुद्दत तलक जहान में हँसता फिरा किए।
जी में है ख़ूब रोइये अब बैठकर कहीं॥

'ज़ौक़' तो सारे जीवनमें ही परवशताका अनुभव करते हैं। उनका कहना है मेरा कहाँ वश था? मेरी इच्छासे क्या हुआ? जिंदगी मुझे ले आयी, चले आये। मृत्यु ले चली, चले गये। मैं तो न अपनी खुशीसे आया और न अपनी खुशीसे जा ही रहा हूँ—

लाई हयात[3] आए कज़ा[4] ले चली चले।
अपनी ख़ुशी न आए न अपनी ख़ुशी चले॥

नश्वर संसारमें मृत्युको प्रतिक्षण सिरपर मँडराते देखकर हमें अभ्यास हो गया है। इस कारण हम इस चार दिनकी ज़िंदगीको कुछ समझते ही नहीं और मृत्युकी हमें कोई

१. क्षणिक जीवन। २. गिद्ध। ३. बड़ा बाज। ४. मृत्यु। ५. चैन। फुरसत।

१. वाटिका। २. नीड़। ३. जिंदगी। ४. मौत।

चिन्ता तथा भय नहीं रह गया है । जीवित रहनेमें कोई आनन्द नहीं । मृत्युसे तो वे डरें, जो ऐसे मिटनेवाले जीवनको अच्छा मानते हैं—

अजल से वे डरें जीनेको जो अच्छा समझते हैं ।
यहाँ हम चार दिनकी जिंदगी को क्या समझते हैं ॥

—अकबर

इधर 'आतिश' तो खुदाको उलाहना भी देते हैं । वे कहते हैं कि तुम्हारी इस महफिल (दुनिया) में कितने व्यक्ति आये, बैठे और चले भी गये । पर (मिटनेवाली दुनियाका रंग-ढंग और मौतकी भयानक छाया देखकर) मैं अपने रहनेके लिये स्थान ही ढूँढ़ता रह गया । मुझे कोई भी ऐसी अच्छी जगह नहीं मिली, जहाँ मैं इत्मीनानसे बैठ सकूँ अर्थात् सुख-शान्तिकी अनुभूति कर सकूँ—

आए भी लोग, बैठे भी, उठ भी खड़े हुए ।
मैं जा ही ढूँढ़ता तेरी महफ़िलमें रह गया ॥

'वली' साहब भी फरमाते हैं कि माना कि जिंदगी जुलके प्यालेके तुल्य है, पर वह स्थायी नहीं, फिर क्या लाभ—

जिंदगी जामे ऐश है लेकिन । फायदा क्या अगर मुदाम[3] नहीं ॥

'हसरत मोहानी' तो सबको मिट्टीमें मिलते, सबको मृत्यु-मुखमें प्रवेश करते देखकर खुदासे पूछते हैं कि 'क्या तुम्हारे घर जानेका यही रास्ता है ?'

देखे मिले हैं राहे फनाकी तरफ सभी ।
तेरी महल सराका यही रास्ता है क्या ?

इस मरणशील जगत्में मनुष्य-जीवन बड़े भाग्यसे मिलता है, पर मनुष्यको भी मनुष्यता प्राप्त नहीं होती । मनुष्यता प्राप्त होनी अत्यन्त कठिन है—

आदमीको भी मुयस्सर नहीं इन्सॉं होना ।

—गालिब

'हाली' का कहना है कि जानवर, आदमी, फ़रिश्ता और खुदा—ये मनुष्यके अनेकों भेद हैं ।

जानवर, आदमी, फरिश्ता, खुदा ।
आदमी की भी हैं सैकड़ों किस्में ॥

मनुष्य अपने कर्तव्योंसे मनुष्य बनता है । कुटिल एवं दुराचारी व्यक्तियोंको नर-पशु, नर-राक्षस, नराधम आदिकी संज्ञा दी जाती है । अपने पावन कर्तव्यसे वही देवपुरुष कहलाता है । 'हाली साहब' कहते हैं कि मनुष्यके हृदयमें दूसरे जीवके प्रति दया एवं प्रेम होना चाहिये । यदि थोड़ा-बहुत दर्द दूसरेके लिये मनमें न हो तो फरिश्ता फरिश्ता तो है, पर उसे 'इन्सान' नहीं कह सकते—

हो फरिश्ता भी तो नहीं इन्सॉं ।
दर्द थोड़ा बहुत न हो जिसमें ॥

दूसरे महानुभावका कथन है कि दूसरोंकी पीड़ाकी अनुभूति एवं उसपर अपने प्राण अर्पित करनेके लिये ही भगवान्ने हमें मनुष्ययोनिमें उत्पन्न किया है, अन्यथा उनकी इबादत (उपासना) करनेके लिये आसमानपर फरिश्ते कम नहीं थे—

दर्दे दिलके वास्ते पैदा किया इन्सानको ।
वर्ना ताअतके लिये कर्रोबयॉं कुछ कम न थे ॥

—ज़ौक

'हाली'ने तो यहाँतक कह दिया कि फरिश्तेसे इन्सान बनना अधिक अच्छा है, किंतु इसमें अधिक मिहनतकी जरूरत पड़ती है—

फरिश्ते से बहतर है इन्सान बनना ।
मगर इसमें पड़ती है मिहनत ज़ियादा ॥

'नसीम' ने इसका कारण बताया है । वे कहते हैं कि मनुष्य प्रेमधर्मी है । प्रेमके सामने आसमान भी झुक जाता है, पराजय स्वीकार करता है । इसी प्रेमके कारण फ़रिश्तोंने अनेक बार मनुष्यके चरणोंमें अपना सिर झुका दिया है—

इश्क के रुतबे के आगे आसमॉं भी पस्त है ।
सर झुकाया है फरिश्तोंने बशरके सामने ॥

पर आदमीमें दुर्बलताएँ भी होती हैं और इन्हीं दुर्बलताओंके कारण वह मनुष्यकी लिबासमें जानवरकी तरह घूमता है । पशुको क्रोध आया तो उसने तुरत सींग अड़ा दी; लेकिन मनुष्यको क्रोध आया तो वह चुप हो गया । अत्यन्त दम्भसे वह आपसे प्रेमपूर्वक मिलेगा और एकान्तमें ले जाकर आपके कलेजेमें छुरा भोंक देगा, आपका गला काट लेगा ! पर वह मनुष्यका धर्म नहीं । 'इन्शा' कहते हैं, मुझे हजरत इन्सानपर हँसी आती है । वे बुरे कर्म स्वयं करते हैं और शैतानपर लानत भेजते हैं—

१. मृत्यु । २. सुखका प्याला । ३. स्थायी ।

१. परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।—रामचरितमानस

क्या हँसी आती है मुझको हजरते इन्सानपर।
फेल बद तो खुद करें, लानत करें शैतानपर[1]॥

ऐसे मनुष्य भला, भगवान्‌की ओर किस प्रकार बढ़ सकेंगे। हृदयको स्वच्छकर प्रत्येक जीवके लिये मनमें करुणा एवं स्नेहकी भावना रखनी चाहिये। मनुष्यको मनुष्यके प्रति प्यार होना चाहिये। 'मीर' कहते हैं कि मनुष्य भी आपको अपने साथ बहुत दूर खींच ले गया है, अर्थात् मनुष्यके स्नेहमें भी आप रच-पच गये हैं, किंतु जरा सोचिये तो सही, कहीं इस पर्देमें भगवान् न छिपा हो[2]—

खींचा है आदमीने बहुत दूर आपको।
इस पर्देमें खयाल तो कर तू खुदा न हो॥

सच ही तो है। पृथ्वी, आकाश, अग्नि, जल, पवन—सबमें उस करुणामय भगवान्‌की ही तो झाँकी मिलती है। जल-जलमें वही सर्वेश प्रभु तो विद्यमान हैं। सर्वत्र उन्हींके तो दर्शन होते हैं। उनके सिवा निखिल सृष्टिमें और है क्या?

जगमें आके इधर उधर देखा।
तू ही आया नजर जिधर देखा॥
—दर्द

दुनियाके बगीचेका प्रत्येक पुष्प तो भगवान्‌का ही स्वरूप है। उन खिले फूलोंमें वही तो हँसता है। नहीं तो कौन उसका माली है? बगीचा ही किसका है?—

बागे आलमका हरेक गुल है खुदाकी सूरत।
बागबाँ कौन है इसका, यह चमन है किसका॥
—आसिफ

फुलवारीमें इधर-उधर भटकती हुई हवा उसे ही ढूँढ़ रही है, बुलबुल उसीके तराने गाती है। प्रत्येक रंगमें उसीकी स्निग्ध किरणें हैं और जिस फूलको भी सूँघिये, उसीकी गन्ध मिलेगी—

गुलशनमें सबा[3] को जुस्तजू[4] तेरी है।
बुलबुलकी जबाँ पर गुफ्तगू तेरी है॥
हर रंगमें जलवा[5] है तेरी कुदरतका।
जिस फूलको सूँघता हूँ बू तेरी है॥
—दबीर

'बेदार' भी खुदाकी सर्वव्यापकतापर विश्वास रखते हैं। वे कहते हैं, इधर-उधर कुछ नहीं, सर्वत्र तू ही है। वह (खुदा) तो प्रत्यक्ष है, तू ही उसके प्रकाशसे असावधान है—

कुछ न उधर[1] है न इधर, तू है।
जिस तरफ कीजिये नजर तू है॥
वह तो 'बेदार' अयाँ[2] लेकिन।
उसके जलवेसे बेखबर तू है॥

'नजीर' तो खुदाकी भक्तिमें तन्मय हैं। उन्हें भी उसके सिवा कहीं कुछ नहीं दीखता। दोजख (नरक) और जन्नत (स्वर्ग)—दोनों उनके लिये बराबर हैं; क्योंकि उन दोनों जगहोंमें उनका अल्लाह ही तो रह रहा है—

जिस सिम्त नजर कर देखे है, उस दिलबरकी फुलवारी है।
कहिं सब्जोंकी हरियाली है, कहिं फूलोंकी गुलकारी है॥
दिन-रात मगन खुश बैठे है, और आस उसीकी भारी है।
बस, आप हि वह दातार* है और आप हि वह भंडारी है॥
—नजीर

जब सब जगह वही है, तब फिर चिन्ता एवं विषादकी बात ही क्या है? जब वह स्वयं दाता है तो दूसरेसे क्या माँगें? दुनिया तो स्वयं दरिद्र है—

कोई दुनिया से क्या भला, माँगे। वह तो बेचारी आप नंगी है॥
—दया

सच तो यह है कि संसारमें कोई किसीका नहीं। कहनेके लिये कितने ही इष्ट-मित्र होते हैं, पर संकटकी स्थितिमें भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई साथी नहीं साबित होता। फिर इस झूठी मैत्रीको ठोकर मारकर भगवान्‌से क्यों न प्रेम किया जाय?—

कहने को यूँ जहाँ में हजारों हैं यार-दोस्त।
मुश्किल के वक्त एक है परवरदिगार दोस्त॥
—अमीर मीनाई

इसी कारण 'मीर' कहते हैं—

'मीर' बंदोंसे काम कब निकला। माँगना जो है खुदासे माँग॥

वह सर्वसमर्थ है, तुम्हें प्यार करता है, तुम्हारा भला चाहता है, बिना माँगे दिया करता है; फिर उसके सिवा और किसीके सामने हाथ फैलानेसे क्या फायदा? जिसका खुदाके करम (कृपा) पर विश्वास है, वह किसी मनुष्यके सामने

---

१. कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।
२. 'तुलसी' या संसार में, सबसे मिलिये धाय।
ना जानें किस वेष में, नारायण मिलि जायँ॥
३. वायु। ४. खोज। ५. प्रकाश।

१. उधर। २. प्रकट।
* जान कूँ देत अजान कूँ देत जो तोहूँ कूँ देहै।